प्रकाशक :
पंचशील प्रकाशन
फिल्म कालोनी, चौड़ा रास्ता,
जयपुर–302003

चतुर्थ संशोधित संस्करण, 1985

मूल्य : तीस रुपया मात्र

मुद्रक :
गोपाल आर्ट प्रिंटर्स,
फिल्मकालोनी, चौड़ा रास्ता,
जयपुर–302003

चतुर्थ संस्करण का आमुख

पुस्तक का चतुर्थ संस्करण प्रस्तुत करते हुए हम प्रसन्नता अनुभव करते हैं। अल्प समय में इस पुस्तक के तीन संस्करणों की समाप्ति, न केवल इसकी लोकप्रियता की द्योतक है, अपितु शिक्षक बन्धुओं और विद्यार्थियों के पूर्ण सहयोग का परिणाम भी है। निःसन्देह इससे हमारे उत्साह में वृद्धि हुई है।

तृतीय संस्करण के प्रकाशन के बाद हमें कुछ वरिष्ठ एवं प्रबुद्ध शिक्षक बन्धुओं तथा मेधावी विद्यार्थियों के मूल्यवान सुझाव प्राप्त हुए। इसके साथ ही विश्वविद्यालय ने अपने निर्धारित पाठ्यक्रम में आंशिक संशोधन भी किया। फलस्वरूप उन मूल्यवान सुझावों के आधार पर तथा संशोधित पाठ्यक्रम के अनुरूप पुस्तक की विषय सामग्री को पूर्णतः संशोधित एवं परिवर्द्धित किया गया है। नवीन पाठ्यक्रम के अनुरूप पुस्तक में एक नवीन अध्याय 'यूरोप में धर्मनिरपेक्षता' जोड़कर सम्पूर्ण पुस्तक की भाषा को अधिक सरल एवं बोधगम्य बनाने का प्रयास किया गया है ताकि विद्यार्थी विषय की मौलिकता सरलतापूर्वक समझ सकें। प्रस्तुत पुस्तक से विद्यार्थियों को कुछ भी लाभ हुआ, तो हम अपना प्रयास सफल मानेंगे।

अन्त में हम उन सभी शिक्षक बन्धुओं और विद्यार्थियों के प्रति अपना आभार प्रकट करते हैं, जिन्होंने न केवल इस पुस्तक को अपनाकर हमारे उत्साह में वृद्धि की है, अपितु समय-समय पर पुस्तक में सुधार करने हेतु अपने मूल्यवान सुझाव भी भेजे हैं। यदि भविष्य में भी, पुस्तक को और अधिक उपयोगी बनाने हेतु कोई सुझाव देंगे तो हम उनके आभारी होंगे और निश्चित रूप से उन सुझावों को अगले संस्करण में कार्यान्वित करने का प्रयास करेंगे।

डॉ. कालूराम शर्मा
डॉ. प्रकाश व्यास

रूस-तुर्की युद्ध; सेन स्टीफेनों की सन्धि; यूरोपीय राज्यों की प्रतिक्रिया; बर्लिन कांग्रेस; बर्लिन कांग्रेस के निर्णयों की समीक्षा।

9. **पूर्वी समस्या (2)** (1878–1913) 202

वर्साय सन्धि के बाद की परिस्थितियाँ; पूर्वी रूमेलिया और बल्गेरिया का एकीकरण; आर्मेनिया की समस्या; वृहद् यूनान आन्दोलन; जर्मनी का बढ़ता हुआ प्रभाव; तरुण तुर्क आंदोलन; आस्ट्रिया द्वारा बोस्निया और हर्जी गोविना पर अधिकार; प्रथम बाल्कन युद्ध; द्वितीय बाल्कन युद्ध; बाल्कन युद्धों के परिणाम।

10. **जर्मन साम्राज्य** (1871–1890) 219

जर्मनी का संघीय संविधान; जर्मनी में राजनैतिक दल; बिस्मार्क की गृह नीति; औपनिवेशिक नीति; विदेश नीति; बिस्मार्क की विदेश नीति की समीक्षा; बिस्मार्क का पतन।

11. **जर्मन साम्राज्य और विलियम द्वितीय** (1888–1914) 245

व्यवसायिक विकास; समाजवाद का विकास; जर्मन सेना का विस्तार; औपनिवेशिक विस्तार; विलियम द्वितीय की विदेश नीति; विदेश नीति की समीक्षा।

12. **फ्रांस का तृतीय गणतन्त्र तथा वैदेशिक नीति** (1870–1914) 263

फ्रांस के तृतीय गणतन्त्र की घोषणा; फ्रांस में गृह-युद्ध; राष्ट्रीय पुनर्निर्माण; गणतन्त्र की स्थापना; गणतन्त्र का अन्त करने का प्रयास; गणतन्त्र को सुदृढ़ करने का प्रयास; गणतन्त्र पर संकट; तृतीय गणतन्त्र के समक्ष कठिनाइयाँ; तृतीय गणतन्त्र की औपनिवेशिक नीति; विदेश नीति।

13. **इंगलैण्ड की विदेश नीति** (1870–1914) 288

शानदार पृथक्कता की नीति; पृथक्कता की नीति का परित्याग; आंग्ल-जर्मन सम्बन्ध; आंग्ल-जापान सन्धि; आंग्ल-फ्रांसीसी समझौता; आंग्ल-रूसी समझौता; अगादिर का संकट; बाल्कन युद्ध।

14. **रूस** (1815–1914) 301

जार अलेक्जेण्डर प्रथम; जार निकोलस प्रथम; जार अलेक्जेण्डर द्वितीय; प्रशासनिक सुधार; सुधारों की प्रतिक्रिया; जार अलेक्जेण्डर तृतीय; जार निकोलस द्वितीय–स्वेच्छाचारी शासन; जन-

असंतोष एवं सुधारों की मांग; बोल्शेविक और मेन्शेविक क्रान्ति की पृष्ठभूमि; 1905 की क्रान्ति; रूस की विदेश नीति (1815–1914)।

15. इटली (1870–1914) 330

इटली की समस्याएँ; पोप और राज्य के सम्बन्ध; इटली के राजनैतिक दल; क्रान्तिकारी संस्थाओं का दमन; आर्थिक कठिनाइयाँ; समाजवाद का प्रभाव; औपनिवेशिक नीति; विदेश नीति।

16. कूटनीतिक गतिविधियाँ 341

आस्ट्रो-जर्मन गुट; इटली का त्रिराष्ट्रीय सन्धि को छोड़ना; त्रिगुट के विरुद्ध ट्रिपल आतान्त; यूरोपीय शासकों की राजकीय यात्राएँ; युवराज की सेराजवो यात्रा।

17. प्रथम महायुद्ध (1914–1918) 350

प्रथम महायुद्ध के कारण; युद्ध का उत्तरदायित्व; महायुद्ध की घटनाएँ; महायुद्ध के परिणाम।

18. पेरिस शान्ति सम्मेलन 369

सम्मेलन के प्रतिनिधि; कठिनाइयाँ; शान्ति समझौते; वर्साय की सन्धि-सामान्य समीक्षा; सेन्ट जर्मेन की सन्धि; न्यू इटली की सन्धि; ट्रायनों की सन्धि; सेव्रे की सन्धि; लोसाने की सन्धि; नये संसार की रूपरेखा।

19. राष्ट्रसंघ 387

भूमिका; अवधारणा; राष्ट्रसंघ का जन्म; उद्देश्य; प्रमुख अंग; राष्ट्रसंघ के कार्य; अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा सम्बन्धी कार्य; राष्ट्रसंघ की असफलता के कारण; राष्ट्रसंघ का मूल्यांकन।

20. रूसी क्रान्ति और विदेश नीति (1917–1945) 408

1917 की क्रांति के कारण; मार्च की क्रांति; अस्थायी सरकार के कार्य; बोल्शेविक क्रान्ति; रूस का युद्ध से अलग होना; गृह युद्ध और विदेशी हस्तक्षेप; रूसी क्रान्ति का महत्व; सोवियत रूस की विदेश नीति; रूस की विदेश नीति का मूल्यांकन।

21. इटली में फासीवाद 429

इटली और शान्ति समझौता; आर्थिक संकट; राजनैतिक संकट; फासिस्टवाद के उत्कर्ष के कारण; मुसोलिनी का उदय;

फासिस्टवाद शासन की स्थापना; मुसोलिनी की गृहनीति; मुसोलिनी की विदेश नीति।

22. जर्मनी-नाजीवाद का उत्कर्ष 453
पृष्ठभूमि; आर्थिक संकट; प्रजातांत्रिक सरकार की विदेश नीति; नाजी दल की प्रगति; उत्कर्ष के कारण; हिटलर की गृह नीति; हिटलर की विदेश नीति; मुख्य उद्देश्य; विदेश नीति के प्रमुख कार्य।

23. अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएँ एवं गतिविधियां (1919–1939) 480
क्षतिपूर्ति की समस्या; विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी; सामूहिक सुरक्षा की समस्या; फ्रांस के सुरक्षा प्रयत्न; निःशस्त्रीकरण की समस्या; चीन-जापान विवाद-मंचूरिया पर जापानी आक्रमण; संतुष्टिकरण की नीति।

24. द्वितीय विश्वयुद्ध 505
द्वितीय विश्वयुद्ध के कारण; द्वितीय विश्वयुद्ध की गतिविधियां; शांति समझौता; द्वितीय विश्वयुद्ध के परिणाम।

25. संयुक्त राष्ट्रसंघ 522
प्रारम्भिक प्रयत्न; निर्माण का इतिहास; उद्देश्य और सिद्धान्त; संयुक्त राष्ट्रसंघ के अंग; शक्तियां और कार्य; सुरक्षा परिषद्-कार्य एवं शक्तियां; आर्थिक तथा सामाजिक परिषद्; संरक्षक परिषद्; अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय; सचिवालय; विशिष्ट समितियां; संयुक्त राष्ट्रसंघ का मूल्यांकन; राष्ट्रसंघ और संयुक्त राष्ट्रसंघ की तुलना।

26. यूरोप में धर्मनिरपेक्षता 550
धर्म निरपेक्षता का उद्भव और विकास; फ्रांस का तृतीय गणतन्त्र और धर्मनिरपेक्षता; जर्मनी में धर्म निरपेक्षता।

अध्याय 1

वियना कांग्रेस

(Vienna Congress)

फ्रांसीसी क्रान्ति के फलस्वरूप यूरोपीय राजनैतिक मंच पर महान परिवर्तन हुए। इस परिवर्तित राजनैतिक रंगमंच पर फ्रांसीसी क्रांति के पुत्र नेपोलियन प्रथम ने अत्यन्त ही मोहक अभिनय किया। उसने यूरोप की पुरानी सीमा व्यवस्था को अपनी सुविधानुसार परिवर्तित करके यूरोप के पुराने मानचित्र को ही बदल दिया। इस प्रकार 1811 ई० तक यूरोप पर सर्वत्र नेपोलियन का प्रभुत्व छा गया। किन्तु 1812 ई० के रूस अभियान की असफलता के परिणामस्वरूप उसकी शक्ति को गहरा धक्का लगा। इस स्थिति का लाभ उठाने के लिए इंगलैण्ड, रूस, आस्ट्रिया और प्रशा ने उसके विरुद्ध मुक्ति युद्ध प्रारम्भ कर दिया। 16 से 19 अक्टूबर, 1813 ई. को लाइपजिग नामक स्थान पर भयंकर युद्ध हुआ, जो इतिहास में 'सब राष्ट्रों का युद्ध' के नाम से विख्यात है। इस युद्ध में, नेपोलियन बुरी तरह परास्त हुआ तथा उसे राइन नदी के पार भाग जाना पड़ा। नेपोलियन का पतन अब भी बच सकता था। मित्र राष्ट्र (रूस, आस्ट्रिया व प्रशा) नेपोलियन को इस शर्त पर गद्दी पर बने रहने देने पर तैयार थे कि वह फ्रांस की 'प्राकृतिक सीमाओं तक रहे' अर्थात उत्तर में राइन नदी तक, उत्तर-पूर्व में आल्पस की पहाड़ियों तक तथा दक्षिण में पिरेनीज पर्वतमाला तक। किन्तु ऐसी विषम स्थिति में भी उसने मित्र राष्ट्रों के समझौते के प्रस्ताव को ठुकरा दिया। अतः नेपोलियन के पतन के नाटक का अन्तिम दृश्य प्रारम्भ हो गया। मित्र राष्ट्रों ने नेपोलियन के विरुद्ध युद्ध जारी रखा। 1 मार्च 1814 ई. को रूस, आस्ट्रिया, प्रशा व इंगलैण्ड ने शामों की संधि (Treaty of Chaumont) द्वारा नेपोलियन का पतन होने तक, पारस्परिक सहयोग करने तथा नेपोलियन से पृथक रूप से संधि न करने का वचन दिया। तत्पश्चात् मित्र राष्ट्रों की सेनाएं लगातार पेरिस की ओर बढ़ती रहीं। 30 मार्च 1814 को मित्र राष्ट्रों की सेनाओं का पेरिस पर अधिकार हो गया। 6 अप्रेल को विवश होकर नेपोलियन को फ्रांस की गद्दी छोड़नी पड़ी। उसने स्वीकार किया कि फ्रांस के राज सिंहासन पर उसका कोई अधिकार नहीं है और न ही उसके परिवार का। फिर भी उसकी शान रखने के लिये उसकी 'सम्राट' की उपाधि कायम रखी गई तथा उसे 12 लाख रुपया वार्षिक पेंशन दे दी गई। उसे यह मानने के लिये भी वाध्य कर दिया गया कि वह 'एल्बा' द्वीप में जाकर रहेगा। मित्र राष्ट्रों ने लुई

18 वें को फ्रांस का सिंहासन दिया। इस प्रकार बुर्बो वंश पुनः फ्रांस के सिंहासन पर प्रतिष्ठित हो गया।

नेपोलियन को एल्बा द्वीप में निर्वासित करने तथा लुई 18 वें को फ्रांस की गद्दी पर बैठाते समय 30 मई 1814 को विजयी राष्ट्रों ने लुई 18 वें के साथ एक सन्धि की, जो पेरिस की प्रथम सन्धि कहलाती है। इस संधि के अनुसार फ्रांस व बुर्बो वंश का अधिकार स्वीकृत किया गया तथा फ्रांस की वह सीमा निश्चित की गई जो 1 नवम्बर 1792 के दिन थी अर्थात नेपोलियन द्वारा विजित बेल्जियम, इटली, जर्मनी, हालैण्ड आदि प्रदेश उसे छोड़ने पड़े। पेरिस की संधि द्वारा महत्वपूर्ण समस्याओं का तो समाधान कर दिया गया किन्तु शेष विवादग्रस्त एवं अन्य समस्याओं का समाधान करने के लिये वियना में एक सम्मेलन करने का निश्चय किया गया। वियना को सम्मेलन का मुख्य केन्द्र बनाने के दो कारण थे। प्रथम यह कि आस्ट्रिया ने नेपोलियन के विरुद्ध संघर्ष में महत्वपूर्ण भाग लिया था और दूसरा यह कि वियना यूरोप के मध्य में स्थित तत्कालीन यूरोपीय सभ्यता का प्रमुख केन्द्र है।

सितम्बर 1814 में इतिहास प्रसिद्ध वियना कांग्रेस आरम्भ हुई जिसमें टर्की को छोड़कर यूरोप के सभी राज्यों के शासक अथवा उनके प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। किन्तु उन्होंने इतनी फूट और विवेकहीनता का परिचय दिया कि एल्बा में बैठे नेपोलियन को फ्रांस लौट कर एक बार पुनः सम्राट बनाने का अवसर मिल गया। प्रसिद्ध इतिहासकार हेजन ने लिखा है कि "वियना सम्मेलन में सम्मिलित होने वाले राजनेताओं ने भारी भूलें की तथा लूट के माल का बंटवारा करने तथा यूरोप के भावी संगठन के सम्बन्ध में वे परस्पर झगड़ने लगे। उधर बुर्बो वंश ने जिसे फ्रांस पर शासन करने के लिये पुनः प्रतिष्ठित किया गया था, विवेकहीनता का परिचय दिया। इन सभी का परिणाम यह हुआ कि नेपोलियन को अपने जीवन का सबसे अधिक दुस्साहसपूर्ण और आश्चर्यजनक कार्य करने का अवसर मिल गया।" नेपोलियन के इस कार्य से वियना कांग्रेस के कार्य में बाधा उत्पन्न हो गई।

अपने छोटे से राज्य एल्बा में मात्र दस महिने रहने के बाद नेपोलियन अपने 1300 सैनिकों के साथ बड़े ही नाटकीय ढंग से फ्रांस आ पहुंचा। लुई 18 वें के शासन से निराश और असन्तुष्ट फ्रांस की जनता ने उसका बड़े उत्साह से स्वागत किया तथा सेना भी उससे आ मिली। देखते ही देखते नेपोलियन के पास एक विशाल सेना एकत्रित हो गयी और वह उस सेना को लेकर पेरिस की ओर बढ़ा। लुई 18 वां फ्रांस छोड़ कर भाग गया। नेपोलियन एक बार पुनः फ्रांस का सम्राट बन गया। इस घटना से समस्त यूरोप में सनसनी फैल गई। वियना कांग्रेस में सम्मिलित यूरोप के शासकों ने आपसी मतभेद भुला कर एक बार फिर यूरोप की शांति भंग करने वाले नेपोलियन से निपटने का निश्चय किया। फलतः सौ दिवसीय युद्ध

(War of Hundred Days) आरम्भ हुआ। 18 जून 1815 को वाटरलू के ऐतिहासिक मैदान में निर्णायक युद्ध हुआ, जिसमें परास्त होकर नेपोलियन पेरिस की ओर लौट गया। मित्र राष्ट्रों की सेनाएं उसका पीछा करती हुई 7 जुलाई 1815 को पेरिस पहुंच गई। नेपोलियन ने अमेरीका की ओर भागना चाहा, किन्तु ब्रिटिश जहाजी बेड़ा फ्रांस के समुद्र तट पर सतर्कता से पहरा दे रहा था। अन्त में नेपोलियन ने आत्म समर्पण कर दिया। वह कैद कर लिया गया और उसे दक्षिणी अटलाण्टिक महासागर के एक छोटे से द्वीप सेन्ट हेलना में भेज दिया गया। वहां उसने 6 वर्षों तक एक कैदी का जीवन व्यतीत किया तथा अन्त में 5 मई 1821 को इसी द्वीप में इस महान विजेता की मृत्यु हो गई।

नेपोलियन के पतन के बाद यूरोप की समस्याएं—नेपोलियन के कार्यों का जिस प्रकार यूरोप के सभी राष्ट्रों पर प्रभाव पड़ा था, उसी प्रकार उसके पतन का भी उन पर गहरा प्रभाव पड़ा। वस्तुतः नेपोलियन के पतन से यूरोप में अनेक समस्याएं उत्पन्न हो गयी थीं। इन समस्याओं ने यूरोप के विजित राष्ट्रों को चिंतित कर दिया था। प्रसिद्ध विद्वान शूमैन ने लिखा है कि "वाटरलू के मैदान में जिन राष्ट्रों को विजय प्राप्त हुई थी वे क्रांति के विरुद्ध प्रतिक्रिया का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। जो व्यवस्था बर्बाद हो चुकी थी, उसको सुरक्षित रखने के लिये वे कटिबद्ध थे।" यद्यपि नेपोलियन का पतन हो चुका था, किन्तु राष्ट्रीयता की भावना लोगों में नवजीवन का संचार कर रही थी। एकतन्त्र की जगह लोकतन्त्र प्रबल हो रहा था। ये सभी प्रवृत्तियां फ्रांस की राज्य क्रांति की उपज थी। 1792 से 1815 तक फ्रांस के विरुद्ध जिन मित्र राष्ट्रों का गुट बना था, वे राष्ट्र इन प्रवृत्तियों का दमन कर पुनः एकतन्त्र की स्थापना करना चाहते थे। अतः सभी विजयी मित्र राष्ट्रों के समक्ष मुख्य प्रश्न यह था कि किन उपायों द्वारा क्रान्ति की भावना का दमन किया जा सकता है।

नेपोलियन ने अनेक पुराने राजवंशों को नष्ट कर दिया था तथा उन पर नेपोलियन के सम्बन्धी अथवा सेनापति शासन कर रहे थे। नेपोलियन के पतन के बाद समस्या यह थी कि इन विविध राज्यों में कैसी शासन व्यवस्था स्थापित की जाय। यद्यपि क्रांति की भावना को कुचलने के लिये तो सभी मित्र राष्ट्र सहमत थे, किन्तु इन राज्यों में शासन व्यवस्था स्थापित करने के सम्बन्ध में मतभेद था। ये सभी राष्ट्र साम्राज्यवादी और स्वार्थी थे तथा नेपोलियन के पतन से उत्पन्न स्थिति का लाभ उठाना चाहते थे। इसके अतिरिक्त विभिन्न राज्य सिंहासनों के सम्बन्ध में विभिन्न राजवंशों के दावों पर भी गम्भीर विचार करना था तथा यह भी निर्णय देना था कि किस दावेदार को कौनसा राज्य प्रदान किया जाय?

फ्रांस की राज्य क्रांति के फलस्वरूप फ्रांस और पश्चिमी यूरोप के अधिकांश प्रदेशों में प्राचीन चर्च व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो चुकी थी। नेपोलियन ने चर्च को पूर्ण

रूप से राज्य के अधीन कर दिया था। पोप को कैद कर उसके राज्य पर भी अपना अधिकार स्थापित कर लिया था, जिससे चर्च का प्राचीन गौरव समाप्त हो चुका था। मित्र राष्ट्रों के समक्ष चर्च की पुनर्व्यवस्था का भी प्रश्न था, ताकि चर्च पुनः अपने प्राचीन गौरव को प्राप्त कर सके।

इस सभी समस्याओं के अतिरिक्त सबसे महत्वपूर्ण समस्या यह थी कि किन उपायों से यूरोप में पुनः युद्ध की सम्भावना को टाला जा सकता है? नेपोलियन के निरन्तर युद्धों से यूरोप बर्बाद हो चुका था। युद्ध से त्रस्त राज्य अब शांति चाहते थे। मित्र राष्ट्रों का यह विचार था कि यूरोपीय राष्ट्रों के जिस गुट ने नेपोलियन को परास्त किया था, उस गुट को यदि कायम रखा जाय तो भविष्य में युद्ध की सम्भावनाओं को टाला जा सकता है।

वियना कांग्रेस—इन समस्याओं की पृष्ठभूमि में वियना कांग्रेस का यह सम्मेलन सितम्बर 1814 में प्रारम्भ हुआ। किन्तु एल्बा से नेपोलियन के पुनः फ्रांस आगमन के कारण सम्मेलन की कार्यवाही में बाधा उत्पन्न हो गयी। मित्र राष्ट्र अपने पारस्परिक मतभेद भुला कर यूरोप की शांति भंग करने वाले नेपोलियन के विरुद्ध एक हो गये। वाटरलू के युद्ध में 18 जून 1815 को नेपोलियन का अन्तिम रूप से पतन हुआ तथा दूसरी ओर युद्ध से कुछ ही दिन पूर्व 9 जून 1815 को कांग्रेस ने अपने निर्णयों पर हस्ताक्षर कर दिये। वियना कांग्रेस के इन निर्णयों से ही 19 वीं शताब्दी की यूरोपीय राज्य व्यवस्था की आधारशिला रखी गई।

वियना कांग्रेस के प्रतिनिधि—वियना सम्मेलन यूरोप के इतिहास की सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना थी, क्योंकि इतिहास में इससे पहले कभी प्रसिद्ध राजनीतिज्ञों का इतना विशाल सम्मेलन नहीं हुआ था। टर्की को छोड़कर यूरोप के अन्य सभी राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने इसमें भाग लिया था। इसके अतिरिक्त सैकड़ों की संख्या में पत्र प्रतिनिधि, वैज्ञानिक, प्राध्यापक, धर्मगुरु, कुलीन आदि सम्मिलित हुए थे। इसमें आस्ट्रिया के सम्राट, रूस के जार तथा प्रशा, डेनमार्क, बुर्टनबर्ग व बवेरिया के शासक सम्मिलित हुए। पोप का प्रतिनिधित्व कार्डिनल साल्वे, ब्रिटेन का प्रतिनिधित्व वहां के विदेशी मन्त्री केसलरे एवं ड्यूक ऑफ वेलिंगटन ने किया। फ्रांस की ओर से प्रसिद्ध कूटनीतिज्ञ तैलेरा (Talleyrand) को भेजा गया। आस्ट्रिया के प्रधान मन्त्री मेटरनिख (Metternich) को कांग्रेस का अध्यक्ष बनाया गया। यद्यपि निरन्तर युद्धों के कारण आस्ट्रिया की आर्थिक स्थिति शोचनीय थी फिर भी सम्राट फ्रांसिस तथा प्रधान मन्त्री मेटरनिख ने आमन्त्रित अतिथियों को शानदार भोज तथा नृत्य आदि के कार्य-क्रमों से आत्मविभोर कर दिया। इन अतिथियों पर आस्ट्रिया की सरकार का लगभग 8 लाख पौंड व्यय हुआ। यद्यपि सम्मेलन में भाग लेने वाले राजनीतिज्ञों की संख्या अधिक थी, फिर भी चार बड़े विजयी राज्यों अर्थात् ब्रिटेन, आस्ट्रिया, रूस तथा प्रशा को प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ तथा कुछ समय

पश्चात् फ्रांस भी बड़े राज्यों की समिति का सदस्य बन गया। इन पांचों राज्यों के प्रमुख प्रतिनिधियों एवं उनकी नीति की जानकारी प्राप्त करना समीचीन होगा।

मेटरनिख—वियना सम्मेलन में भाग लेने वाले राजनीतिज्ञों में मेटरनिख एक असाधारण व्यक्ति था। मेटरनिख का जन्म 1773 ई० में एक कुलीन परिवार में हुआ था। जब वह आस्ट्रिया के एक विश्वविद्यालय में अध्ययन कर रहा था तब फ्रांस में क्रांति आरम्भ हुई थी। फ्रांस से भागे हुए कुलीनों से क्रान्ति की कहानियां सुन सुन कर उसके हृदय में क्रान्तिकारियों के प्रति घृणा उत्पन्न हो गई थी, इसलिये वह क्रान्ति तथा नवीन प्रवृत्तियों का कट्टर शत्रु बन गया था। आट्रस्यिा के प्रधान मन्त्री के परिवार में विवाह होने से वह उन्नति की सीढ़ियाँ शीघ्रता से चढ़ता गया। धीरे-धीरे आस्ट्रिया की राजनीति में उसने इतना महत्व प्राप्त कर लिया कि आस्ट्रिया के सम्राट फ्रांसिस प्रथम (1792-1835) ने उसे 1890 ई. में आस्ट्रिया के चांसलर अर्थात् प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त किया। उस समय से 1848 ई. तक मेटरनिख न केवल आस्ट्रिया का कर्णधार ही बना रहा वरन् वह यूरोपीय राजनीतिक रंगमंच पर भी छाया रहा।

मेटरनिख में गम्भीर से गम्भीर समस्याओं को बड़ी ही सरलता से सुलझाने की अपूर्व क्षमता थी। वह क्रान्ति की भावनाओं का दमन कर प्राचीन व्यवस्था को पुनः स्थापित करने का पक्षपाती था। वह क्रान्ति को एक ऐसी भीषण बीमारी समझता था जिसका तुरन्त इलाज आवश्यक है। वह तो यहां तक कहा करता था कि शासकों को इस बात का अधिकार है कि वे अपनी प्रजा के भाग्य का फैसला करें। शासक केवल ईश्वर के प्रति उत्तरदायी है, न कि जनता के प्रति। उसकी यह भी मान्यता थी कि स्वतन्त्रता की अपेक्षा शान्ति और व्यवस्था की अधिक आवश्यकता है। यूरोप के तात्कालिक वातावरण में इन्हीं विचारों की प्रधानता थी क्योंकि वह क्रांति की प्रतिक्रिया का युग था तथा मेटरनिख इस प्रतिक्रिया का प्रमुख प्रतिनिधि था। इसीलिये उसे वियना सम्मेलन का अध्यक्ष बनाया गया जिसमें उसकी महत्वपूर्ण एवं निर्णायक भूमिका रही। उसमें आकर्षक व्यक्तित्व, कूटनीतिक अनुभव, स्वाभाविक मृदुलता, जटिल समस्याओं को सुलझाने की योग्यता तथा षड़यन्त्रकारी प्रवृत्ति का अनुपम संगम था। इसलिये वह 'वियना के भंवरों से युक्त तालाब में मछली के समान सफलता से तैरता रहा।'

मेटरनिख की नीति का मुख्य उद्देश्य आस्ट्रिया के हितों की रक्षा करना था। वह भलीभांति जानता था कि आस्ट्रिया ऐसे बेमेल राज्यों का समूह है जो किसी निश्चित सिद्धान्तों पर आधारित न होकर केवल सम्राट की केन्द्रीय निरंकुश शक्ति द्वारा नियंत्रित था। इसीलिये वह राष्ट्रवादी आन्दोलनों तथा प्रगतिशील विचारों का कट्टर विरोधी था। डी. एम. केटलबी ने ठीक ही लिखा है कि उसने "आस्ट्रिया के स्थायित्व को संतुलित यूरोपीय व्यवस्था पर आधारित करने तथा जहां तक-हो सके

यथास्थिति (*Status quo*) बनाये रखने तथा समान विचारधारा वाले शासकों का अन्तर्राष्ट्रीय गठबन्धन, द्वितीय पंक्ति के रूप में स्थापित करने का प्रयास किया।" वह क्रान्ति को एक विभीषिका मानता था। इसीलिये उसे घोर प्रतिक्रियावादी और रूढ़िवादी कहा जाता है। प्रसिद्ध विद्वान वेवस्टर ने उसके कूटनीतिक चातुर्य को स्वीकार करते हुए उसे अवसरवादी की संज्ञा दी है। वियना कांग्रेस के सभी महत्वपूर्ण निर्णय उसकी नीति से ही प्रभावित थे।

मेटरनिख जीवन भर प्रगतिशील विचारों के विरुद्ध लड़ता रहा। 40 वर्ष तक आस्ट्रिया की सेवा करने के बाद सन् 1848 ई. में उसे आस्ट्रिया छोड़कर भाग जाने के लिये विवश होना पड़ा था।

जार अलेक्जेण्डर प्रथम—रूस का सम्राट अलेक्जेण्डर प्रथम, यद्यपि प्रतिभाशाली व्यक्ति था, किन्तु वह प्रथम श्रेणी का कूटनीतिज्ञ नहीं था। नेपोलियन को पराजित करने में उसका बड़ा योगदान था, अतः वियना सम्मेलन में उसकी सम्मति लेना वांछनीय समझा जाने लगा। रूस के किसी भी सम्राट को इससे पूर्व इतना सम्मान नहीं मिला था। रूस ने प्रथम बार यूरोप का नेतृत्व किया था तथा ब्रिटेन व आस्ट्रिया उसकी बढ़ती हुई शक्ति के प्रति शंकित थे। यद्यपि जार अलेक्जेण्डर, मेटरनिख की भांति कुशल कूटनीतिज्ञ नहीं था किन्तु उसकी विशाल सैन्य शक्ति के कारण उसके सुझाव विशेष वजन रखते थे। वह कल्पनाशील, अस्थिर, अभिमानी, सरलता से प्रभावित होने वाला एवं अव्यावहारिक था। उसमें उदारवाद एवं निरंकुशता की परस्पर विरोधी विचारधाराओं का विचित्र संगम था।

कैसलरे—ब्रिटेन ने भी नेपोलियन को पराजित करने में अपनी अद्वितीय भूमिका निभायी थी तथा उसके विदेश मन्त्री कैसलरे ने युद्ध के संकटपूर्ण काल में भी नेपोलियन के विरुद्ध यूरोपीय राज्यों के गुट को बनाये रखने का महत्वपूर्ण कार्य किया था। कैसलरे एक चतुर कूटनीतिज्ञ था। उसकी नीति का मुख्य उद्देश्य यूरोप में किसी एक राष्ट्र को शक्तिशाली होने से रोकना था। कैसलरे ने वियना सम्मेलन में शक्ति संतुलन की नीति अपनायी तथा सुरक्षा एवं व्यावहारिक हितों की दृष्टि से ब्रिटेन की समुद्री शक्ति की सर्वोच्चता को अक्षुण्ण बनाये रखने का प्रयत्न किया। यद्यपि वह मेटरनिख की भांति अपने विचारों को जोरदार शब्दों में व्यक्त नहीं कर सकता था, तथापि वह अपने मित्रों को सदैव प्रभावित करता रहता था। कैसलरे ने दास व्यापार को भी समाप्त करने का प्रयत्न किया। फरवरी 1815 तक वह वियना में प्रमुख प्रतिनिधि रहा।

तैलेरां—वियना सम्मेलन में तैलेरां फ्रांस के सम्राट लुई 18 वें प्रतिनिधि के रूप में सम्मिलित हुआ था। वह नेपोलियन के शासन काल में 1799 से 1807 तक फ्रांस का विदेश मन्त्री रह चुका था। जब मार्च 1814 में मित्र राष्ट्रों की सेनाएं पेरिस में प्रविष्ट हुई तब तैलेरां ने ही नेपोलियन को गद्दीच्युत करने का प्रस्ताव

पारित कराया था। यद्यपि उसने नेपोलियन की बड़ी भक्ति व श्रद्धा से सेवा की, किन्तु उसके पतन के साथ ही उसने अपना रंग बदल लिया तथा बुर्बो वंश का कट्टर समर्थक बन गया। एक पराजित राष्ट्र का प्रतिनिधि होते हुए भी उसने सम्मेलन के निर्णयों पर, विजयी राष्ट्रों के समान ही प्रभाव डाला। सम्मेलन में आये कूटनीतिज्ञों के पारस्परिक मतभेदों से लाभ उठाकर अपने देश को युद्ध की क्षतिपूर्ण से बचा लिया। रूस व आस्ट्रिया के मतभेदों से लाभ उठा कर अपने पराजित देश को यूरोप में पुनः सम्मानपूर्ण स्थान दिलाया। यद्यपि तैलेरा वियना सम्मेलन में एक सफल कूटनीतिज्ञ सिद्ध हुआ तथा फ्रांस की खोई हुई प्रतिष्ठा को पुनः स्थापित करने में सफलता प्राप्त की परन्तु सम्मेलन की समाप्ति के पश्चात फ्रांस में उसे सम्मानित पद प्राप्त न हो सका।

इन चारों शक्तियों के अतिरिक्त प्रशा के शासक फ्रेडरिक विलियम तृतीय (1797-1840) ने भी सम्मेलन के कार्यों में महत्वपूर्ण भाग लिया। वह अपने मित्र जार अलेक्जेण्डर से पूर्णतः प्रभावित था। अतः उसने स्वतन्त्र रूप से कुछ भी करने की चेष्टा नहीं की, उसने केवल रूस की विदेश नीति का ही मूलतः अनुसरण किया। प्रशा के शासक के मुख्य प्रतिनिधि प्रिंस हार्डनवर्ग तथा उसके सहायक बरेन हम्बोल्ट ही अपने राज्य के लिये अधिक से अधिक भू-भाग प्राप्त करके जर्मनी में प्रशा की प्रधानता स्थापित करने का प्रयत्न करते रहे। फ्रेडरिक विलियम तृतीय के अतिरिक्त आस्ट्रिया के सम्राट फ्रांसिस ने भी सम्मेलन में महत्वपूर्ण भाग लिया था। उसने सभी प्रतिनिधियों के पीछे गुप्तचर लगा दिये थे ताकि उसे उनकी प्रत्येक गतिविधि की सूचना मिलती रहे।

कांग्रेस की प्रमुख समस्याएं—वियना कांग्रेस के समक्ष अनेक महत्वपूर्ण एवं गम्भीर समस्याएं थीं जिनका समाधान आवश्यक था। ये समस्याएं निम्नलिखित थीं:-

(1) फ्रांस की क्रान्ति एवं नेपोलियन के युद्धों के फलस्वरूप यूरोप का राजनैतिक मानचित्र अस्त-व्यस्त हो चुका था। अनेक छोटे-बड़े राज्यों का अस्तित्व समाप्त हो गया था और उन्हें फ्रांस के अधीन कर दिया गया था। आस्टरलिज के युद्ध के वाद ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री पिट ने कहा था, "यूरोप के मानचित्र को वन्द कर दो। अगले दस वर्ष तक इसकी आवश्यकता नहीं पड़ेगी।" अतः अब वियना कांग्रेस के समक्ष समस्या यह थी कि इन पुराने राज्यों एवं राजवंशों की पुनर्स्थापना किस प्रकार की जाय तथा उसका स्वरूप क्या हो?

(2) पेरिस की प्रथम सन्धि (30 मई 1814 ई.) द्वारा फ्रांस की सीमाओं एवं बुर्बो वंश की पुनर्स्थापना की जा चुकी थी, किन्तु फ्रांस के सम्बन्ध में एक ऐसी व्यवस्था करना आवश्यक था जिससे कि वह भविष्य में यूरोप की शांति भंग न हो कर सके।

(3) यूरोप में क्रान्ति की भावना बलवती हो रही थी। यद्यपि फ्रांस की क्रांति समाप्त हो चुकी थी, फिर भी समानता, स्वतन्त्रता एवं राष्ट्रीयता के सिद्धान्त

लगभग सारे यूरोप में फैल चुके थे। इटली, जर्मनी, आस्ट्रिया, रूस व स्पेन में जनता जनतन्त्रीय शासन व्यवस्था स्थापित करने को उत्सुक थी। अतः वियना सम्मेलन के समक्ष सबसे विकट समस्या यह थी कि इन नई प्रगतिशील प्रवृत्तियों का विरोध किस प्रकार किया जाय। सम्मेलन में भाग लेने वाले राजनीतिज्ञ घोर प्रतिक्रियावादी थे। इसलिये क्रांतिकारी एवं प्रतिक्रियावादी, परस्पर विरोधी सिद्धान्तों के संघर्ष का फैसला करना सम्मेलन की मुख्य समस्या थी।

(4) नेपोलियन के पतन के साथ ही चर्च की समस्या का पुनर्जन्म हुआ। फ्रांस तथा अन्य देशों के क्रान्तिकारी नेताओं ने चर्च की भूमि किसानों को बेच दी थी। नेपोलियन ने चर्च को एक साधारण संस्था बना दिया था तथा उसकी सम्पत्ति राज्य ने हस्तगत कर ली थी। धार्मिक अदालतें भी बन्द कर दी गई थीं। अतः प्राचीन निरंकुश शासन व्यवस्था की पुनर्स्थापना के साथ ही पोप की शक्ति की पुनर्स्थापना करने का प्रश्न भी वियना कांग्रेस के लिये समस्या बन गया था।

(5) वियना कांग्रेस को विजयी राष्ट्रों की आकांक्षाओं को पूरा करना, जर्मनी की नवीन व्यवस्था करना, पोलैण्ड की पुनर्स्थापना करना, नेपोलियन के मित्र सेक्सनी तथा हॉलैण्ड, बेल्जियम और फिनलैण्ड के भाग्य का निर्णय करना, इटली की नयी व्यवस्था करना, डेनमार्क को मित्र राष्ट्रों के विरोध का दण्ड देना तथा स्वीडन को उसकी सहायता का पुरस्कार देना भी वियना सम्मेलन के समक्ष विचारणीय प्रश्न थे।

(6) वियना सम्मेलन के समक्ष न केवल युद्ध से त्रस्त यूरोप में स्थायी शांति स्थापित करने की समस्या थी, वरन् भविष्य में युद्ध की संभावनाओं को रोकने के उपायों पर भी विचार करना था।

कांग्रेस की कार्य प्रणाली—वियना सम्मेलन की कोई निश्चित कार्य प्रणाली नहीं थी। न तो प्रस्ताव प्रस्तुत किये जाते थे और न मतदान की व्यवस्था थी। बड़ी बड़ी दावतें खाते हुए, नाच घरों में नृत्य देखते हुए अथवा मधुर संगीत लहरी का रसास्वादन करते हुए राज्यों की सीमाओं को घटाने बढ़ाने के प्रश्नों पर विचार कर निर्णय ले लिया जाता था। कोई राजनीतिक हंसी मजाक में कोई बात कहता और यदि वह दूसरों को पसन्द आ जाती तो वह स्वीकार कर ली जाती। ऐसे निर्णय करते समय जनता की इच्छा या अनिच्छा पर कोई ध्यान नहीं दिया गया। प्रारम्भ में चार बड़े राज्य अर्थात् रूस, आस्ट्रिया, प्रशा व इङ्गलैंड अपने स्वार्थों की सिद्धि हेतु अपनी इच्छानुसार सम्मेलन को संचालित करते रहे। निकोल्सन ने अपनी पुस्तक 'कांग्रेस आफ वियना' में लिखा है कि पेरिस की प्रथम सन्धि की एक गुप्त धारा द्वारा चार बड़े राज्यों ने सभी महत्वपूर्ण प्रश्नों के सम्बन्ध में निर्णय करने का अधिकार अपने लिये सुरक्षित कर लिया था, जिसकी अन्य छोटे राज्यों को जानकारी नहीं थी। किन्तु तैलेरा ने छोटे राज्यों की ओर से चार राज्यों के निर्णय लेने

के अधिकार को चुनौती दी। फलतः बड़े राज्यों को आठ राज्यों की समिति बनाने के लिये बाध्य होना पड़ा। इस समिति में रूस, आस्ट्रिया, प्रशा, ब्रिटेन, फ्रांस, स्पेन, पुर्तगाल और स्वीडन के प्रतिनिधि थे। इसके अतिरिक्त विशेष समस्याओं पर विचार करने के लिये दस उपसमितियां भी बनायी गई थीं, किन्तु कई विषयों में इन उप समितियों की अवहेलना कर दी जाती तथा बड़े राज्य अपनी इच्छानुसार कांग्रेस की अनुमति के बिना ही महत्वपूर्ण निर्णय कर लेते थे।

वस्तुतः बड़े राज्य अधिक से अधिक लूट का माल स्वयं हड़प जाना चाहते थे। जटिल कूटनीतिक कुचक्रों का जाल बिछ गया था। नैतिकता के सिद्धान्त ताक पर रख दिये गये। विचारों के आदान-प्रदान का कोई महत्व नहीं था। बड़े राज्यों की साम्राज्य लिप्सा के कारण ऐसे तीव्र मतभेद उत्पन्न हो गये थे कि कांग्रेस के भंग होने की स्थिति उत्पन्न हो गयी। मार्च 1815 में नेपोलियन की एल्बा से वापसी तथा 18 जून को वाटरलू में उसकी अन्तिम पराजय तक सम्मेलन के कार्य में व्यवधान उत्पन्न हो गया। 9 जून 1815 को कांग्रेस के अन्तिम निर्णय पर सात राज्यों ने हस्ताक्षर किये, किन्तु फ्रास के सम्बन्ध में मतभेद हो जाने के कारण पेरिस की द्वितीय संधि पर 20 नवम्बर 1815 को ही हस्ताक्षर हो सके।

कांग्रेस के आधारभूत सिद्धान्त—सम्मेलन की कोई निश्चित कार्यनीति न होने के कारण सभी राष्ट्र अपने-अपने स्वार्थों की सिद्धि में लग गये। ऐसे वातावरण में किसी निश्चित निर्णय पर पहुंचना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य था। ऐसा प्रतीत होने लगा कि सम्मेलन असफल हो जायेगा। अतः सभी राज्यों ने अपने स्वार्थों को नियन्त्रित करते हुए सम्मेलन में विचारणीय मौलिक सिद्धांतों की एकता स्वीकार की। फलस्वरूप वियना सम्मेलन में तीन मार्गदर्शक सिद्धांत स्वीकार किये गये, जो निम्नलिखित थे :—

(1) वैधता का सिद्धांत—यह तैलेरा द्वारा प्रतिपादित एवं मेटरनिख द्वारा समर्थित सिद्धान्त था। कांग्रेस के सभी सदस्य यूरोप में यथास्थिति बनाये रखना चाहते थे। अतः वैधता का सिद्धान्त स्वीकार किया गया। इसका अर्थ यह था कि जो शासक नेपोलियन द्वारा गद्दीच्युत कर दिये गये थे, उन्हें वैधता अथवा न्याय के आधार पर उनके राज्य एवं अधिकार वापस मिलने चाहिये। इसी सिद्धांत के आधार पर फ्रांस के शासक लुई 18वें को मान्यता प्राप्त हुई तथा स्पेन, नेपल्स एवं सिसली में बुर्बो वंशीय शासकों को पुनः प्रतिष्ठित किया गया। हालैण्ड पर ओरेन्ज वंश का तथा अन्य प्राचीन राज्यों पर वहाँ के पुराने राजवंशों का अधिकार पुनः स्थापित किया गया।

(2) शक्ति संतुलन का सिद्धान्त—यह सिद्धान्त ब्रिटेन के विदेश मन्त्री कैसलरे की नीति का मुख्य अंग था। इसके मूल में यह धारणा थी कि यूरोप की प्रादेशिक व्यवस्था इस प्रकार की जाय कि यूरोप का कोई भी राष्ट्र इतना शक्तिशाली

न हो जाय कि वह दूसरे राज्यों के लिये खतरा वन जाय। शक्ति संतुलन के सिद्धांत में सुरक्षा की भावना निहित थी। इस सिद्धान्त को ध्यान में रखते हुए फ्रांस के चारों ओर वेल्जियम, हालैण्ड, प्रशा तथा सार्डिनिया के शक्तिशाली राज्य स्थापित किये गये। जर्मनी का इस प्रकार पुनर्गठन किया गया कि फ्रांस अचानक शक्तिशाली राष्ट्र न वन सके। इटली में आस्ट्रिया, पोप तथा बुर्बो वंश की प्रभुता पुनः स्थापित की गई ताकि वहाँ राष्ट्रीयता की भावना को प्रोत्साहन न मिल सके। इस प्रकार यूरोप में शक्ति संतुलन स्थापित करने का प्रयास किया गया ताकि भविष्य में शांति भंग न हो सके।

(3) पुरस्कार एवं क्षतिपूर्ति का सिद्धान्त—जिन राज्यों ने नेपोलियन की शक्ति को समाप्त करने में मित्र राष्ट्रों को सहयोग दिया था वे इसके बदले में कुछ पुरस्कार की आशा करते थे तथा वे यह भी चाहते थे कि जिन राज्यों ने नेपोलियन को सहयोग दिया था उन्हें दण्डित भी किया जाय। इसी सिद्धान्त के आधार पर फ्रांस की सीमा का पुनर्निर्धारण करते समय रूस, आस्ट्रिया व प्रशा को नेपोलियन के साम्राज्य के हिस्से दिये गये।

उपर्युक्त सिद्धान्तों को ध्यान में रखते हुए कांग्रेस ने विभिन्न देशों के लिये अलग-अलग निर्णय दिये थे तथा प्रादेशिक व्यवस्थाएं की थी।

वियना कांग्रेस के निर्णय—वियना कांग्रेस ने अपने निर्णय से ऐसी प्रादेशिक व्यवस्था की जिससे कि यूरोप के मानचित्र में भारी परिवर्तन हुआ। ये प्रादेशिक व्यवस्था निम्नलिखित थी—

फ्रांस—फ्रांस के सम्बन्ध में अंतिम निर्णय पेरिस की द्वितीय संधि द्वारा किये गये। फ्रांस की क्रान्ति और नेपोलियन के काल में जितने प्रदेश फ्रांस ने अपने राज्य में मिला लिये थे, वे सभी प्रदेश उससे छीन लिये गये। फ्रांस की सीमाएं वही निर्धारित की गई जो क्रान्ति से पूर्व थी। फ्रांस की सीमा के चारों ओर शक्तिशाली राज्य स्थापित किये गये ताकि फ्रांस भविष्य में कभी यूरोप की शान्ति भंग न कर सके। फ्रांस में पुनः बुर्बो वंश की स्थापना की गई तथा लुई 18 वें को फ्राँस के शासक के रूप में मान्यता प्रदान की गई। फ्रांस को 700 मिलियन फ्रेंक क्षक्ति पूर्ति के रूप में देने को कहा गया, किन्तु तैलेरा के कूटनीतिक प्रयत्नों से फ्रांस क्षतिपूर्ति की राशि से स्पष्ट वच गया।

आस्ट्रिया—आस्ट्रिया से वेल्जियम का प्रदेश ले लिया गया और इसके वदले उसे इटली में वेनेशिया, लोम्वार्डी तथा इलीरिया के प्रदेश दिये गये। उसे डालमेशिया तथा क़ट्टोरा का वन्दरगाह भी प्राप्त हुआ। इससे इटली में आस्ट्रिया का प्रभाव वढ़ गया तथा उसके समुद्रतट भी उसे प्राप्त हो गये। इसके अतिरिक्त उसे ववेरियों से टाइरोल व साल्जवर्ग प्राप्त हुआ तथा पोलैण्ड में पूर्वी गेलेसिया प्राप्त हुआ। नवनिर्मित जर्मन संघ की राष्ट्र सभा का प्रधान भी आस्ट्रिया को वनाया

गया। किन्तु जर्मनी में आस्ट्रिया की अपेक्षा प्रशा को अधिक भू-भाग प्राप्त हुए। सम्भवतः उस समय मेटरनिख ने प्रशा के नेतृत्व में जर्मनी के एकीकरण की कल्पना ही नहीं की थी। अन्यथा प्रशा को इतना शक्तिशाली नहीं बनाया जाता। इन भू-भागों की प्राप्ति से हेप्सबर्ग (आस्ट्रिया) साम्राज्य की जनसंख्या में लगभग 40लाख की वृद्धि हो गयी। उसे दूरस्थ कम आय वाले प्रदेशों के बदले आस्ट्रिया के नजदीक के अधिक आय वाले प्रदेश मिल जाने से केन्द्रीय यूरोप में उसकी शक्ति बढ़ गई।

प्रशा—प्रशा को अनेक प्रदेश दिये गये। राइन नदी का पश्चिमी प्रदेश, जिस पर फ्रांस ने अधिकार कर लिया था, अब प्रशा को दे दिया गया। सैक्सनी के राज्य ने नेपोलियन की सहायता की थी, अतः प्रशा ने सम्पूर्ण सैक्सनी पर अपना अधिकार स्थापित करने का प्रयत्न किया, किन्तु उसे सैक्सनी का आधा भाग ही प्राप्त हो सका। इसके साथ ही उसे बर्ग की डची तथा वेस्टफेलिया की डची का भी कुछ भाग प्राप्त हुआ। पोलैण्ड व पोमेरेनिया का भी कुछ प्रदेश प्रशा को सौंपा गया। प्रशा को ये इतने उपहार इसलिये प्राप्त हुए कि उसने नेपोलियन को पराजित करने में बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की थी। इन भू-भागों के प्राप्त होने से प्रशा यूरोप के प्रथम श्रेणी के राज्यों में सम्मिलित हो गया तथा उत्तरी जर्मनी का प्रमुख राज्य बन गया। उसके जर्मन क्षेत्र की जनसंख्या में जर्मन तत्व की प्रधानता हो गयी जिससे उसके द्वारा जर्मनी का नेतृत्व करने की सम्भावनाएं बढ़ गई।

जर्मनी के अन्य राज्य—कांग्रेस के समक्ष जर्मनी के नवनिर्माण का प्रश्न बड़ा जटिल था। नेपोलियन के आक्रमणों से पूर्व जर्मनी में 300 से अधिक राज्य थे। इनमें से बहुतों को नेपोलियन ने समाप्त कर दिया था तथा कुछ महत्वपूर्ण राज्यों को संगठित करके राइन राज्य संघ का निर्माण किया था। यदि वैधता के सिद्धांत को लागू किया जाता तो उन प्राचीन राज्यों की पुनर्स्थापना करनी पड़ती, जो सम्भव नहीं था। अतः 39 राज्यों का शिथिल जर्मन संघ (German Confederation) बनाया गया। इस नवीन संघ की एक केन्द्रीय राष्ट्र सभा बनायी गई जिसका अध्यक्ष आस्ट्रिया को बनाया गया। प्रत्येक राज्य में प्रतिनिधि सभाओं की स्थापना का निश्चय किया गया। प्रत्येक राज्य को आंतरिक मामलों में पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान की गई, किन्तु राज्यों को आपस में युद्ध करने तथा बाहरी शक्तियों के विरुद्ध युद्ध करने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। जर्मन राष्ट्रवादियों को इस व्यवस्था से बड़ी निराशा हुई, क्योंकि संघ के सुदृढ़ बनाने के लिये कुछ नहीं किया गया।

इटली—इटली के विविध राज्यों को पुनः स्थापित किया गया। सार्डीनिया के साथ पीडमाउण्ट, जिनोआ तथा सेवाय को मिलाकर फ्रांस की सीमा पर एक सुदृढ़ राज्य स्थापित किया गया। जे. मुरात जो कि नेपोलियन का भूतपूर्व सेनापति था, 1819 तक नेपिल्स का शासक था। जनवरी 1814 की एक संधि द्वारा मेटरनिख ने नेपोलियन के विरुद्ध सहायता देने के बदले उसे नेपिल्स का शासक बनाये

रखने का वचन दिया था तथा रूस, प्रशा व ब्रिटेन ने भी इसकी स्वीकृति दी थी। किन्तु तैलेरा ने वैधता के सिद्धान्त के आधार पर इस व्यवस्था का विरोध किया। मुरात की अयोग्यता के कारण भी उसका पक्ष निर्बल हो गया था। अतः बुर्बो वंश के शासक फर्डीनेण्ड सप्तम् को सिसली व नेपल्स का राज्य दिया गया। पोप के प्रदेश पुनः पोप के अधीन कर दिये गये। परमा, पिआकेन्जा तथा गौस्टाला का डची नेपोलियन की महारानी मेरिया लुइसा को, जो आस्ट्रिया के सम्राट की पुत्री थी, उसके जीवन काल के लिये प्रदान किये गये। टक्सनी व मोडेना दोनों ही राज्य आस्ट्रिया के हेप्स वर्ग वंश के राजकुमारों को दे दिये गये। नेपोलियन के आक्रमणों से इटली मुख्यत: दो भागों में विभाजित हो गया था—इटली का राज्य और नेपिल्स। किन्तु अब उसे पुनः छोटे-छोटे स्वतन्त्र राज्य में विभक्त कर दिया गया। उसके सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रांत लोम्बार्डी तथा वेनेशिया पर आस्ट्रिया का अधिकार हो जाने से तथा परमा एवं मोडेना पर आस्ट्रिया के राजवंशों से सम्बन्धित शासकों का अधिकार स्थापित हो जाने से सम्पूर्ण इटली पर आस्ट्रिया की प्रधानता स्थापित हो गई। इससे इटली द्वारा आस्ट्रिया, पोप तथा बुर्बो वंश के शासकों के नियन्त्रण से मुक्त होने की आशा धूमिल पड़ गई।

हालैण्ड—उत्तर में फ्रांस पर नियन्त्रण रखने के लिए हालैण्ड को अधिक शक्तिशाली बनाया गया। इसके लिये बेल्जियम को, जो आस्ट्रिया का एक प्रांत था, हालैण्ड के साथ मिला दिया गया तथा लक्सम्बर्ग का क्षेत्र भी उसमें मिला दिया गया गया। यहां ओरेन्ज राजवंश की पुनः स्थापना की गई।

स्वीडन—स्वीडन से फिनलैण्ड का प्रदेश लेकर रूस को दे दिया गया तथा पश्चिमी पोमेरेनिया का प्रदेश प्रशा को सुपुर्द किया गया। नार्वे पहले डेनमार्क के अधीन था। किन्तु नेपोलियन की सहायता करने के दण्ड स्वरूप उससे नार्वे छीन कर स्वीडन को दे दिया गया। इस प्रकार स्वीडन व डेनमार्क दोनों को ही निर्बल बना दिया गया। फलत: उस क्षेत्र में रूस व प्रशा शक्तिशाली हो गये।

पौलैण्ड—पौलैण्ड को तीन भागों में बांट कर रूस, आस्ट्रिया व प्रशा को दे दिया गया। पौलैण्ड का मुख्य भाग रूस को सुपुर्द किया गया। नेपोलियन ने जो वारसा का राज्य बनाया था, वह भी रूस को दे दिया गया। पोसन, थार्न तथा डान्टिसग के प्रदेश प्रशा को तथा दक्षिणी गलेशिया आस्ट्रिया को दिया गया।

स्विट्जरलैण्ड—स्विट्जरलैण्ड में फ्रांस के तीन अतिरिक्त कैंटन जोड़कर 22 कैन्टनों का एक संघ बनाया गया, जिससे उसका राज्य विस्तार हुआ तथा उसकी शक्ति में वृद्धि हो गयी। उसकी तटस्थता तथा स्वतन्त्रता का उत्तरदायित्व यूरोप के बड़े राज्यों ने अपने ऊपर ले लिया।

रूस—रूस के जार ने वियना सम्मेलन में सम्पूर्ण 'डची ऑफ वारसा' की मांग की, किन्तु इस मांग को पूरा करने के लिये प्रशा को अपने पौलैण्ड का भाग

छोड़ना पड़ता। प्रशा पोलैण्ड के भाग को छोड़ने के लिये तैयार नहीं था। इसके अतिरिक्त ब्रिटेन, फ्रांस व आस्ट्रिया, रूस की शक्ति के पश्चिम में प्रसार से आशंकित थे। अतः वे भी रूस की इस मांग को स्वीकृत करने के पक्ष में नहीं थे। इस कारण सम्मेलन में इस समस्या को लेकर बड़े राज्यों में तीव्र मतभेद उत्पन्न हो गया तथा सम्मेलन के भंग होने की स्थिति उत्पन्न हो गयी। किन्तु अन्त में समझौता हो गया। पोलैण्ड में स्थित पोसेन के गेलेशिया के भाग को छोड़कर शेष डची आफ वारसा रूस के अधीन कर दिया गया। इसके अतिरिक्त फिनलैण्ड व बेसारबिया पर भी रूस को अधिकार करने दिया गया। इस व्यवस्था से रूस को काफी लाभ हुआ तथा यूरोप में उसका प्रभाव काफी बढ़ गया।

स्पेन तथा पुर्तगाल—स्पेन से ट्रिनिडाड लेकर ब्रिटेन को दे दिया गया। स्पेन में बुर्बो वंशी फर्डीनेण्ड सप्तम् का शासन पुनः स्थापित किया गया। यद्यपि पुर्तगाल ने अंग्रेजों की बड़ी सहायता की थी किन्तु उसे कुछ भी नहीं दिया गया। केवल वहां पर जॉन चतुर्थ का शासन पुनः स्थापित कर दिया गया।

ब्रिटेन—वियना सम्मेलन में सबसे अधिक लाभ ब्रिटेन को प्राप्त हुआ। उसे अनेक नवीन उपनिवेश प्राप्त हुए। फ्रांस से माल्टा, सान्टालूसिया, टोबेगो तथा मोरिशस के क्षेत्र लेकर ब्रिटेन को दिये गये। स्पेन से ट्रिनिडाड प्राप्त हुआ। इसी प्रकार हालैण्ड से लंका तथा केप ऑफ गुड होप भी ब्रिटेन को प्राप्त हुए। डेनमार्क से हेलीगोलैण्ड तथा आयोनिन द्वीप समूह का संरक्षण प्राप्त हुआ। इन सभी क्षेत्रों के मिलने से ब्रिटेन एक श्रेष्ठ औपनिवेशिक शक्ति बन गया। वियना सम्मेलन में जो द्वीप उसे मिले उससे भूमध्य सागर, एड्रियाटिक सागर तथा एल्वा के समुद्री तटों में ब्रिटेन की सामुद्रिक शक्ति सुरक्षित हो गयी।

कांग्रेस के अन्य निर्णय—प्रादेशिक व्यवस्था के साथ ही वियना सम्मेलन में कुछ अन्य महत्वपूर्ण समस्याओं के सम्बन्ध में भी निर्णय लिये गये जो निम्नलिखित थे।

(1) ब्रिटेन के मुख्य प्रतिनिधि कैसलर के प्रयत्नों से वियना सम्मेलन में दास व्यापार के विरुद्ध प्रस्ताव पास किया गया। दास व्यापार को विश्व सभ्यता और मानव अधिकारों के विरुद्ध बताते हुए इसे अनैतिक एवं अमानवीय घोषित किया गया। किन्तु कांग्रेस में दास व्यापार के विरुद्ध जो प्रस्ताव पास किया गया वह केवल कागजों में ही रहा। इस व्यापार का अन्त करने के लिये कोई सक्रिय कदम नहीं उठाया गया।

(2) यूरोप की कुछ समस्याओं को सुलझाने के लिये कांग्रेस ने अन्तर्राष्ट्रीय विधान बनाने का भी प्रयत्न किया। इस विधान में युद्ध और शान्ति के काल में व्यापार बड़ी नदियों में वाणिज्य नौका चालन के नियम तथा राज्यों में पारस्परिक सम्बन्धों के नियमों का समावेश करने का प्रयत्न किया गया।

स्थाई शान्ति की आड़ में जनता को बेवकूफ बनाया तथा हर प्रकार से अपनी स्वार्थ सिद्धि की। अतः वियना सम्मेलन में जो कुछ हुआ वह सर्वथा अनुचित और अस्वाभाविक था।

5. निर्णयों की अपूर्णता—वियना सम्मेलन ने अपने कुछ कार्यों को अपूर्ण छोड़ दिया था तथा कुछ महत्वपूर्ण समस्याओं की ओर ध्यान ही नहीं दिया। यूरोप की शांति को दीर्घकाल तक सुरक्षित रखने के लिये कैसलरे ने एक गारंटी की संधि की योजना प्रस्तावित की थी, जिसके अन्तर्गत एक स्थाई सुरक्षा परिषद की भी व्यवस्था की गई थी। इस योजना का तैलेरा ने भी समर्थन किया था। किन्तु उसी समय नेपोलियन की वापसी से संकट उत्पन्न हो गया तथा इस योजना पर पुनः कभी विचार नहीं हुआ। इस प्रकार सही दिशा में एक आवश्यक कदम विफल हो गया। इसके अतिरिक्त कांग्रेस ने पूर्वी समस्या की ओर भी ध्यान नहीं दिया, जो उस समय तक अत्यधिक महत्व अर्जित कर चुकी थी। इसी प्रकार यूनान के भविष्य और दक्षिणी अमेरिका के उपनिवेशों के भविष्य पर भी ध्यान नहीं दिया। अतः कांग्रेस के निर्णय सर्वथा अपूर्ण थे।

वियना सम्मेलन के निर्णयों में उपर्युक्त दोष होने के कारण अगली एक शताब्दी के यूरोपीय इतिहास ने वियना सम्मेलन के निर्णयों की काया पलट दी। स्वीडन व नार्वे का एकीकरण केवल दस वर्ष चला तथा हालैण्ड व बेल्जियम का एकीकरण केवल 15 वर्ष चला। इटली व जर्मनी की व्यवस्थाओं का 1870 ई. में अन्त हो गया। अन्त में प्रथम महायुद्ध ने राज्यों की सीमा को राष्ट्रीयता के आधार पर निश्चित करदी जिससे उन्हीं सिद्धान्तों की विजय हुई जिसकी वियना सम्मेलन ने उपेक्षा की थी।

वियना सम्मेलन का महत्व—यह निर्विवाद रूप से सत्य है कि वियना कांग्रेस की व्यवस्था में कई दोष थे। किन्तु उसके कार्यों का मूल्यांकन करते समय हमें उसकी कठिनाइयों एवं उसकी सीमाओं तथा दूसरी ओर उसकी उपलब्धियों को ध्यान में रखना होगा। जिन समस्याओं का उसे सामना करना पड़ा वे अत्यन्त ही जटिल थीं। इसके अतिरिक्त सम्मेलन आरम्भ होने से पूर्व कुछ राज्यों के बीच सन्धियां हो चुकी थीं, जिनका पालन करना भी आवश्यक था। बड़े राज्यों के पारस्परिक स्वार्थों के सम्बन्ध में किसी प्रकार का समझौता होना अपने आप में बड़े महत्व की बात थी।

नेपोलियन के युद्धों में लगभग 60 लाख व्यक्ति मारे गये थे तथा अपार सम्पत्ति की हानि हुई थी। युद्ध से त्रस्त यूरोप में शान्ति स्थापित करना वियना सम्मेलन की महत्वपूर्ण सफलता थी। केटलबी ने लिखा है कि, "इस सम्मेलन में राजनीति, संयम और दूरदर्शिता से काम लिया गया तथा इससे एक ऐसा आधार तैयार किया जिस पर भविष्य के यूरोप की नींव रखी गई।" इंगलैण्ड के विदेश मंत्री कैसलरे ने कांग्रेस के प्रतिनिधियों को सम्बोधित करते हुये कहा था कि वे लोग शत्र

सम्पत्ति का बंटवारा करने के लिये एकत्र नहीं हुए हैं वल्कि ऐसी व्यवस्था करने के लिये एकत्रित हुए हैं जिससे भविष्य में यूरोप में शान्ति बनी रह सके। वियना सम्मेलन के निर्णयों को प्रतिक्रियावादो कहकर इसकी आलोचना की जाती है किन्तु ग्राण्ट तथा टेम्परले ने इस आलोचना का प्रत्युत्तर देते हुए लिखा है कि, "वियना के शान्ति संस्थापकों को अत्यन्त प्रतिक्रियावादी और अनुदार कहकर उनकी आलोचना करना एक परम्परा बन गई है। यह सत्य है कि वे प्राचीन व्यवस्था का प्रतिनिधित्व करते थे और अधिकांश रूप में नवीन विचारों से अछूते थे। किन्तु वे प्राचीन शासन के निकृष्ट रूप के नहीं वल्कि उत्कृष्ट रूप के प्रतिनिधि थे तथा उनकी व्यवस्था से यूरोप अगले 40 वर्षों तक युद्धों से बचा रहा।"

इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि वियना व्यवस्था 1919 की पेरिस व्यवस्था से कहीं अधिक अच्छी व्यवस्था थी। जहां तक सम्भव हो सका समझौते के सिद्धान्त को अपनाया गया तथा किसी भी प्रकार से फ्रांस को अपमानित करने का प्रयत्न नहीं किया गया। 1919 में जर्मनी यूरोप की शांति को भंग करने के लिए उत्तरदायी ठहराया गया तथा उसे अपने प्रदेशों से, उपनिवेशों, सम्पत्ति तथा प्रभाव से वंचित कर दिया। किन्तु वियना सम्मेलन में फ्रांस के साथ इस प्रकार का व्यवहार नहीं किया गया। यूरोप के इतिहास में यह प्रथम अवसर था जबकि यूरोप के समस्त राज्यों ने एक समझौते पर हस्ताक्षर किये थे। इस सम्मेलन द्वारा यूरोप के राज्यों को यह अनुभव हुआ हो कि परस्पर बातचीत द्वारा ही किसी समस्या का समाधान खोजा जा जकता है। अपनी कठिनाइयों और सीमाओं के बावजूद कांग्रेस के निर्णयों के फलस्वरूप यूरोप के विभिन्न राज्यों के बीच सहयोग की भावना का संचार हुआ।

प्रादेशिक पुनर्व्यवस्था के क्षेत्र में उसके कुछ निर्णय महत्वपूर्ण सिद्ध हुए। जर्मनी और इटली के एकीकरण की दिशा में कांग्रेस ने कुछ कार्य अनजाने में ही कर डाले। जिनोआ और सार्डीनिया को मिला कर उसने इटली के एकीकरण का मार्ग प्रशस्त किया। इसी प्रकार जर्मनी में प्रशा को शक्तिशाली बनाकर उसे जर्मनी के एकीकरण आंदोलन का नेतृत्व करने योग्य बना दिया। प्रशा की भांति पीडमान्ट को भी शक्तिशाली बनाया गया जो आगे चलकर इटली के एकीकरण आंदोलन का नेता बना। केटलबी के शब्दों में, "उसने ऐसा आधार प्रदान किया जिस पर भविष्य के यूरोप की नींव रखी गई।"

इस बात को लेकर कि, वियना व्यवस्था का मुख्य उद्देश्य वैध सत्ता की पुनर्स्थापना, प्राचीन राजवंश के शासकों एवं राजकुमारों को उनके अधिकार दिलाना था और जनता के अधिकारों से उसका कोई सम्बन्ध नहीं था, वियना व्यवस्था की आलोचना करना न्याय संगत नहीं है। यह आलोचना उस जगह समाप्त हो जाती है जब हम व्ययस्था का सूक्ष्म अध्ययन करते हैं। पश्चिमी जर्मनी, पोलैण्ड, सैक्सनी

नार्वे, आस्ट्रियन, नीदरलैण्ड और उत्तरी इटली में इस विचारधारा का बिल्कुल परित्याग कर दिया गया था। यह तो केवल फ्रांसीसी राजवंश पर ही अधिक लागू होता है और इसका निर्माण भी फ्रांस के राजनीतिज्ञों ने अपने स्वार्थ के लिये किया था।

यूरोप में शांति स्थापित करने की दिशा में भी वियना सम्मेलन ने एक निश्चित कदम उठाया था। उसने यूरोपीय व्यवस्था (Concert of Europe) का निर्माण किया जिससे भविष्य के युद्धों को रोका जा सके। यह यूरोपीय व्यवस्था प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय संगठन था और इसी आधारशिला पर आगे चलकर राष्ट्रसंघ और संयुक्त राष्ट्रसंघ जैसी भव्य व्यवस्थाओं का निर्माण सम्भव हो सका।

यदि हम तत्कालीन परिस्थितियों का अध्ययन करें तो स्पष्ट हो जायेगा कि सम्मेलन के समक्ष अनेक जटिल समस्याएं थीं। यदि उन समस्या-जनक परिस्थितियों में जनमत को निर्णयों का आधार बनाया जाता तो यूरोप में पुनः युद्ध के बादल मंडराने लगते क्योंकि उस समय प्रवृत्तियों का केवल विकास आरम्भ हुआ था। ये प्रवृत्तियां अभी परिपक्व अवस्था में नहीं थीं। अतः अपरिपक्व प्रवृत्तियों के आधार पर निर्णय करना यूरोप की शांति भंग करना था। सन् 1815 में 'स्वतन्त्र बेल्जियम' की कल्पना करना ही दुस्साध्य था क्योंकि बेल्जियम और फ्रांस के सम्बन्धों को देखते हुए बेल्जियम का जीवित रहना असंभव दिखाई पड़ता था। इसके अतिरिक्त उस समय स्वयं बेल्जियम स्वतन्त्र राष्ट्र की स्थापना के पक्ष में नहीं था। यह तो तभी संभव हो सका जबकि यह विश्वास हो गया कि फ्रांस उसका विरोधी नहीं रहा है। यदि उस समय बेल्जियम को स्वतन्त्रता दे दी जाती तो निर्बल बेल्जियम अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा नहीं कर सकता था और शीघ्र ही यूरोप की शांति भंग होने की सम्भावना थी।

वियना व्यवस्था की इस बात को लेकर भी आलोचना की जाती है कि इसके निर्णय स्थायी नहीं रह सके। इस आलोचना का प्रत्युत्तर देते हुए हार्नेशा ने लिखा है कि "वियना सम्मेलन के प्रतिनिधि ईश्वर के अवतार नहीं थे। जितना स्थायित्व मानव शक्ति प्रदान कर सकती है, उतना ही स्थायित्व उन्होंने देने का प्रयत्न किया।" इसके अतिरिक्त इतिहास का विद्यार्थी इस तथ्य से भली-भांति परिचित है कि किसी भी सम्मेलन की व्यवस्थाएं कभी स्थायी नहीं रह सकी हैं। अतः वियना सम्मेलन के निर्णयों को स्थायी न होने का दोष लगाना न्याय संगत नहीं है। अन्त में हम प्रोफेसर फाइफ के शब्दों में कह सकते हैं कि, "दो युगों की सीमा रेखा पर स्थित वियना के निर्णय इतिहास की एक युगान्तकारी (Land mark) घटना है।"

अध्याय 2

यूरोप की संयुक्त व्यवस्था

(CONCERT OF EUROPE)

वियना सम्मेलन द्वारा स्थापित यूरोपीय व्यवस्था यूरोप के इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना है। इस व्यवस्था को 'यूरोप की संयुक्त व्यवस्था' भी कहा जाता है। यह अन्तर्राष्ट्रीय शांति की एक योजना थी तथा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की दिशा में प्रथम महत्वपूर्ण कदम था। रूस, प्रशा, आस्ट्रिया और इङ्गलैंड ने मिलकर नेपोलियन को युद्ध में परास्त किया था तथा यूरोप को फ्रांस के विध्वंसकारी युद्धों से मुक्त कराया था। अत: अब यूरोप में शांति बनाये रखने का उत्तरदायित्व भी इन्हीं राज्यों पर आ पड़ा। यूरोप की संयुक्त व्यवस्था की स्थापना इन्हीं राज्यों अर्थात् रूस, प्रशा, आस्ट्रिया और इङ्गलैंड ने परस्पर मिलकर की थी। केटलबी ने लिखा है कि, "वियना की संधियों के पालन की गारण्टी यूरोपीय शक्तियों ने मिलकर की थी, किन्तु पिछले कुछ वर्षों के अनुभव ने सभी के हृदयों में ऐसी इच्छा जाग्रत कर दी थी कि अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा के लिये कुछ और ठोस कदम उठाने चाहिये और कुछ ऐसी व्यवस्था होनी चाहिये, जिससे सबकी पारस्परिक रक्षा हो सके। इस इच्छा को पूर्ण करने की दिशा में ही यूरोप के स्वेच्छाचारी शासकों ने जो यूरोप के अधिपति थे, उस शताब्दी का सबसे अनोखा राजनीतिक प्रयोग किया। यूरोप में संयुक्त राजनीतिक व्यवस्था स्थापित करने की दिशा में यह एक व्यावहारिक कदम था।" यूरोप की यह संयुक्त राजनीतिक व्यवस्था क्या थी, इस प्रश्न पर विचार करने से पूर्व इस व्यवस्था की स्थापना के कारणों पर प्रकाश डालना समीचीन होगा।

संयुक्त व्यवस्था की स्थापना के कारण—यूरोप के शासकों द्वारा पारस्परिक रक्षा हेतु संयुक्त राजनीतिक व्यवस्था स्थापित करने के मुख्य कारण निम्न थे—

(1) वियना कांग्रेस ने नेपोलियन के युद्धों के बाद शांति स्थापित कर यूरोप में पुनः एक राजनैतिक व्यवस्था स्थापित की थी। किन्तु युद्ध की विभीषिका से मुक्त होकर भी वे युद्ध के कटु अनुभवों को नहीं भूल सके थे। वियना सम्मेलन के राजनीतिज्ञों ने यह अनुभव किया कि यदि सम्मेलन द्वारा किये गये परिवर्तनों को स्थायित्व देना है और यूरोप को भावी युद्ध की सम्भावनाओं से बचाना है तो उन्हें संगठित

रूप से रहना होगा। तात्कालिक राजनीतिज्ञों को भय था कि फ्रांस की क्रांति द्वारा उत्पन्न नवीन प्रवृत्तियों के फलस्वरूप वियना सम्मेलन द्वारा स्थापित शान्ति एवं व्यवस्था पुनः भंग न हो जाये। अतः यूरोप के सभी शासक स्थायी शान्ति की इच्छा रखते थे। यद्यपि 14 वीं शताब्दी से ही युद्धों की रोकथाम के लिए यूरोप के दार्शनिक योजनाएं प्रस्तुत करते आ रहे थे किन्तु अभी तक अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का निर्माण केवल दार्शनिकों की पुस्तकों तक ही सीमित था। किन्तु नेपोलियन के युद्धों ने उन्हें सचेत कर दिया। अब वे यूरोप को विनाश से बचाने की आवश्यकता अनुभव करने लगे। इस अनुभव के परिणामस्वरूप ही यूरोप की संयुक्त व्यवस्था की स्थापना की गई थी।

(2) वियना सम्मेलन के राजनीतिज्ञों ने देखा कि यूरोप की पुनर्व्यवस्था प्राचीन व्यवस्था के अनुरूप तो हो गई थी, किन्तु उन राज्यों में, नवीन युग के अनुरूप कई समस्याएं उत्पन्न हो गई थी, यूरोप के कुछ भागों में राष्ट्रीय जागृति से प्रभावित क्रांति-विरोधी तत्त्व, बदले की भावना से प्रेरित होकर हिंसात्मक प्रवृत्तियों का प्रदर्शन कर रहे थे। क्रांति द्वारा उत्पन्न उदारवाद की लहर बड़ी तेजी से फैल रही थी। धार्मिक क्षेत्र भी इस प्रतिक्रिया से अछूता नहीं था। सर्वत्र अव्यवस्था, अराजकता एवं विनाश के चिन्ह स्पष्ट दिखाई दे रहे थे। निरन्तर लम्बे युद्धों के कारण चारों ओर विनाश ही विनाश दिखाई दे रहा था। जनजीवन उद्योग और व्यापार अस्त व्यस्त हो गया था। बेकारी की भयंकर समस्या उठ खड़ी हुई थी तथा वस्तुओं के मूल्य बढ़ रहे थे। इस अव्यवस्थापूर्ण स्थिति के कारण यूरोपीय राज्यों के समक्ष नव निर्माण का कार्य भी था। यूरोपीय राज्यों का नव निर्माण तभी संभव था जबकि यूरोप में शान्ति को स्थायी आधार प्रदान किया जा सके और स्थायी शान्ति यूरोपीय राज्यों के परस्पर सहयोग पर ही निर्भर थी।

(3) मित्र राज्यों ने पारस्परिक सहयोग और संगठन के बल पर ही नेपोलियन जैसे प्रचण्ड शत्रु का सामना किया था और उसे पराजित करने में सफलता प्राप्त की थी। अतः यूरोप के राजनीतिज्ञों के मन में यह भावना उत्पन्न हुई कि यदि वे पारस्परिक सहयोग द्वारा नेपोलियन को परास्त करने में सफल हुए हैं, तो उसी सहयोग एवं संगठन द्वारा यूरोप में शान्ति एवं व्यवस्था स्थापित कर सकते हैं। शामों की सन्धि द्वारा रूस, प्रशा, आस्ट्रिया व इङ्गलैंड की एक महान् मित्रता (Grand Alliance) का निर्माण हुआ था तथा वे यह निश्चय कर चुके थे कि आगामी 20 वर्षों तक वे पारस्परिक सहयोग बनाये रखेंगे। यह महान् मित्रता वियना सम्मेलन तक यथावत् कार्य करती रही। उन्हें फ्रांस की ओर से अभी भी पुनः क्रान्ति की आशंका थी अतः एकीकरण की यह भावना बनाये रखने के लिये पारस्परिक सहयोग पर आधारित एक संगठन बनाने में इन राज्यों ने रुचि ली, जिसके परिणाम स्वरूप यूरोप की संयुक्त व्यवस्था का निर्माण हुआ।

(4) यूरोप के शासकों के व्यक्तिगत स्वार्थों की दृष्टि से भी पारस्परिक सहयोग की आवश्यकता थी। राष्ट्रीयता की भावना और प्रजातन्त्र के सिद्धान्तों का प्रसार बढ़ता जा रहा था। इटली, जर्मन, पोलैण्ड तथा बाल्कन राज्यों में उनका प्रभाव स्पष्ट दिखाई दे रहा था। प्रतिक्रियावादी एवं निरंकुश शासकों को इन नवीन प्रवृत्तियों के कारण भय उत्पन्न हो गया था। मेटरनिख, राष्ट्रीय एवं लोकतन्त्रीय भावनाओं का कट्टर शत्रु था तथा उन्हें राजतन्त्र का प्रबल शत्रु मानता था। यूरोप के अन्य शासक भी उसके विचारों से प्रभावित थे। इसलिये वे सभी राष्ट्रीयता और उदारवाद की भावनाओं का दमन करने के लिए पारस्परिक सहयोग चाहते थे। यूरोप की संयुक्त व्यवस्था स्थापित करके उन्होंने अपने इस उद्देश्य की पूर्ति की।

नेपोलियन के युद्धों के पश्चात् वियना सम्मेलन द्वारा स्थापित व्यवस्था को स्थायी बनाने हेतु एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की आवश्यकता थी। ब्रिटेन के विदेश मंत्री कैसलरे तथा आस्ट्रिया के प्रधान मंत्री मेटरनिख भी इस प्रकार की 'संयुक्त-व्यवस्था' स्थापित करना चाहते थे ताकि वियना समझौता तथा यूरोप की शांति को सुरक्षित रखा जा सके। दूसरी ओर रूस का जार अलेक्जेण्डर प्रथम यूरोप के राज्यों के गठबन्धन की योजना तैयार कर रहा था। अतः पारस्परिक सहयोग की भावना से प्रेरित यूरोप में इस प्रकार की व्यवस्था स्थापित करने के लिए दो योजनाएं प्रस्तुत की गई—प्रथम पवित्र मैत्री (Holy Alliance), जिसका प्रस्ताव रूस के जार अलेक्जेण्डर प्रथम ने किया था। दूसरी चतुर्राष्ट्र मैत्री (Quadruple Alliance) जिसका प्रस्ताव आस्ट्रिया के चान्सलर मेटरनिख ने किया था तथा ब्रिटेन के विदेश मन्त्री कैसलरे ने उसका समर्थन किया था। इन्हीं दोनों योजनाओं के आधार पर 'यरोप की संयुक्त व्यवस्था' का निर्माण हुआ।

पवित्र मैत्री (Holy Alliance)—यूरोप की संयुक्त व्यवस्था का प्रारम्भिक स्वरूप हमें 'पवित्र मैत्री' में देखने को मिलता है। इस योजना को बनाने का श्रेय रूस के जार अलेक्ज़ेण्डर प्रथम को प्राप्त था। रूस का जार सुन्दर योजनाएं बनाने में निपुण था, किन्तु उन्हें किसी प्रकार कार्यान्वित किया जाय, वह यह नहीं जानता था। उसके सम्बन्ध में कहा जाता था कि वह काल्पनिक जगत में विचरण करने वाला व्यक्ति था। जार अलेक्जेण्डर प्रथम के बारे में हेजन ने लिखा है, "पिछले वर्षों की घटनाओं तथा नेपोलियन के पतन का उस पर गम्भीर प्रभाव पड़ा था और वह समझने लगा था कि मानव जीवन को नियंत्रित एवं संचालित करने वाली कोई उच्च सत्ता है तथा उसके निर्णय से ही यह सब कुछ हुआ है इसलिये धर्म की ओर उसका विशेष झुकाव हो गया था। लोगों ने उसकी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की थी तथा नेपोलियन को काला फरिश्ता तथा उसके मुकाबले में उसे सफेद फरिश्ता बतलाया था और विश्व का मुक्ति दाता कह कर उसका अभिनन्दन किया था।

26 सितम्बर 1815 को रूस के जार अलेक्जेण्डर प्रथम ने पेरिस के निकट वर्टस के मैदान (Camp de Verts) में मित्र राष्ट्रों के सैनिकों की एक परेड के अवसर पर रूस, आस्ट्रिया और प्रशा के शासकों की 'पवित्र मैत्री' की घोषणा की। इस घोषणा में कहा गया कि "हम भविष्य में अपनी स्वराष्ट्र और परराष्ट्र नीति में ईसाई धर्म के उपदेशों का अनुसरण करेंगे। हम एक दूसरे को भाई समझेंगे तथा एक दूसरे को हर स्थान पर सहायता देंगे। जो शक्तियां इन पवित्र सिद्धान्तों को मानने के लिये तैयार होंगी उनको 'पवित्र संघ' में हार्दिक प्रेम से स्वीकार किया जायेगा।" इस लिखित घोषणा से सहमत होते हुए रूस, आस्ट्रिया व प्रशा ने अपना एक गुट बना लिया जिसे 'पवित्र मैत्री' अथवा 'पवित्र संघ' कहा जाता है। इसे पवित्र इसलिये कहा गया, क्योंकि इसमें ईसाई धर्म के सिद्धान्तों को राजनैतिक व्यवस्था का आधार माना गया था।

'पवित्र मैत्री' की यह योजना कोई नई नहीं थी। यूरोप में संयुक्त रूप से शान्ति स्थापित करने हेतु इससे पहले भी दो योजना बन चुकी थी। प्रथम तो प्रशा के सम्राट हेनरी चतुर्थ द्वारा निर्मित 'महान योजना' तथा दूसरी फ्रांस के विद्वान एवो द सेन्टपीयर (Abbe de Saint-Pierre) द्वारा बनाई गई 'संघ योजना'। किन्तु ये दोनों ही योजनाएं कार्यान्वित नहीं हो सकी थी। 1804 में जार अलेक्जेण्डर ने इङ्गलैण्ड के प्रधान मन्त्री पिट के समक्ष इन योजनाओं के आधार पर संयुक्त व्यवस्था की योजना रखी थी। किन्तु नेपोलियन के पतन के बाद इस योजना को उसने 'पवित्र मैत्री' का जामा पहनाया तथा उसे धर्म का रूप दे दिया था।

पवित्र मैत्री की विशेषताएं—पवित्र मैत्री की इस योजना की प्रस्तावना में कहा गया था कि पिछले 20 वर्षों की घटनाओं के आधार पर रूस, आस्ट्रिया और प्रशा के शासक इस निर्णय पर पहुंचे हैं कि यूरोप में शांति स्थापना के लिए ईसाई धर्म के महान् सिद्धान्तों के आधार पर पवित्र मैत्री की स्थापना हो। योजना की धाराओं में मुख्य रूप से निम्नलिखित बातें कही गई थीं:—

(1) यूरोप के सभी राजाओं के आपसी सम्बन्ध ईसाई धर्म के सिद्धान्त न केवल तत्कालीन निर्णयों को प्रभावित करेंगे वरन् भविष्य में भी नीति निर्धारण करने में उनका मार्गदर्शन करेंगे। यूरोप के सभी राजा परस्पर एक विशाल परिवार के सदस्यों की भांति व्यवहार करेंगे और इसी उद्देश्य से एक दूसरे की सहायता करेंगे।

(2) यूरोप के सभी राजा भ्रातृत्व के अटूट बंधन में बंधे रहेंगे तथा अपनी प्रजा व सेना से पितृवत् व्यवहार करेंगे। सभी एक ही ईसाई राष्ट्र के सदस्य के समान आचरण करते हुये धर्म, न्याय और शांति की रक्षा करेंगे।

(3) जनता ईसाई धर्म के पवित्र कर्त्तव्यों का आचरण करे और यह स्वीकार करे कि वास्तव में विश्व में परमेश्वर के अतिरिक्त और कोई सम्राट होने योग्य नहीं है। सम्पूर्ण शक्ति का वही स्वामी है जिसके आदेश सर्वोपरि हैं।

पवित्र मैत्री की स्वीकृति—पोप और टर्की के सुल्तान को छोड़कर यूरोप के लगभग सभी शासकों ने इस 'पवित्र मैत्री' के अभिलेख पर हस्ताक्षर किये। इङ्गलैण्ड के प्रिन्स रीजेन्ट ने 'पवित्र मैत्री' के सिद्धान्तों की बड़ी प्रशंसा की, किन्तु उस पर हस्ताक्षर करने में अपनी असमर्थता प्रकट की क्योंकि ब्रिटिश संविधान के अनुसार जब तक इस लेख पर किसी उत्तरदायी मन्त्री के हस्ताक्षर नहीं हो जाते जब तक उसके हस्ताक्षर अर्थहीन होंगे। प्रशा और आस्ट्रिया के शासकों ने रूस के जार को प्रसन्न करने के लिए उस पर हस्ताक्षर कर दिये। किन्तु इसका अनुमोदन और इस पर हस्ताक्षर करने के बाद भी रूस के शासक को छोड़कर, अन्य किसी ने भी, इसके सिद्धान्तों का पालन करने का प्रयत्न नहीं किया। फलतः यह पवित्र मैत्री आरम्भ से ही प्रभावहीन रही। फिर भी जब तक जार अलेक्जेण्डर प्रथम जीवित रहा तब तक यह पवित्र मैत्री नाम मात्र के लिये चलती रही, किन्तु 1825 ई. उसकी मृत्यु के साथ ही पवित्र मैत्री का यह संघ भी समाप्त हो गया।

पवित्र मैत्री की समीक्षा—पवित्र मैत्री की योजना सैद्धान्तिक दृष्टि से बड़ी उदार थी, किन्तु व्यावहारिक रूप से पवित्र संघ के सदस्यों की गृह एवं विदेशी नीति पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। पवित्र मैत्री के सदस्यों ने प्रजातन्त्रीय आन्दोलन को खूब दबाया तथा उन्होंने पवित्र मैत्री की घोषणाओं के अनुरूप कोई कार्य नहीं किया। यह घोषणा केवल आदर्श बनी रही और इस पर हस्ताक्षर करने वाले राष्ट्र ही इसकी अवहेलना करने लगे। ब्रिटेन के विदेश मन्त्री कैसलरे का कहना था कि, "इसमें व्यर्थ की बकवास के अतिरिक्त सारभूत कुछ भी नहीं था।" मेटरनिख, इसे केवल 'शब्द बाहुल्य' तथा 'बड़ी दिखने वाली निरर्थक' योजना समझता था। आस्ट्रिया के सम्राट ने तो रूस के जार से यह स्पष्ट कहा था कि, "वह इससे कुछ नहीं समझ पाया है। यदि यह योजना राजनीति से सम्बन्धित है तो वह उसके बारे में अपने चान्सलर से पूछेगा और यदि इसका कोई धार्मिक अभिप्राय है तो वह पादरी से राय लेगा।"

इस योजना की अव्यावहारिकता के सम्बन्ध में हर्नशा ने भी लिखा है कि, "इसका व्यावहारिक नीति से कोई सम्बन्ध नहीं था।" इसकी आलोचना करते हुए मोवेट ने लिखा है कि, "यह एक समझौता था किन्तु किसी भी रूप में अनुबन्ध नहीं था जिसके द्वारा किसी भी शासक को इसकी शर्त मनवाने के लिये विवश किया जा सके।" इस योजना के सम्बन्ध में यूरोप की जनता का भी यही विचार था कि शासकों ने रूस के जार के प्रति सम्मान प्रकट करने के लिये उस पर हस्ताक्षर कर दिये हैं। हेज के मतानुसार 19वीं सदी के उदारवादियों के विचार में पवित्र मैत्री प्रजातन्त्र, राष्ट्रीयता तथा सामाजिक न्याय को नष्ट करने का एक षड़यन्त्र था। वस्तुतः वियना सम्मेलन की व्यवस्थाओं को बनाये रखने तथा जनता के अधिकारों का दमन करने का यह एक हथियार था, क्योंकि इसमें कहा गया था कि राजा ईश्वर का स्वरूप है

यदि वह किसी को दण्ड देता है तो समझना चाहिये कि ईश्वर उससे रुष्ट है। लोगों के मन में यह भी सन्देह उत्पन्न हुआ कि जार अपने आपको यूरोपीय रंगमंच पर सर्वेसर्वा बनाना चाहता है। हेजन ने इसकी समीक्षा करते हुए लिखा है कि, "पवित्र मैत्री के सम्बन्ध में उसका नाम ही महत्व की चीज थी तथा सभी उदारवादियों की राय थी कि यह नाम इतना अच्छा है, किन्तु रूस, आस्ट्रिया व प्रशा के शासकों का चरित्र एवं नीति इस नाम से बिल्कुल विपरीत है।"

पवित्र मैत्री की स्थापना से यद्यपि यूरोप की तत्कालीन परिस्थिति को कोई लाभ नहीं हुआ किन्तु भविष्य में उसकी विचारधाराओं से अनेक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों को प्रेरणा प्राप्त हुई। कैटलबी ने लिखा है कि इससे 1899 के हेग सम्मेलनों की प्रेरणा प्राप्त हुई। इसी प्रकार हेज ने जहां एक ओर इसकी आलोचना की है वहां दूसरी ओर इसके तत्वों की वास्तविकता भी बतायी है। उसने लिखा है कि, "यदि पवित्र मैत्री उस समय की सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों को ठीक न कर सकी तो उसका उत्तरदायित्व जार पर नहीं डाला जा सकता, जो स्वयं अपने विचारों से शुद्ध था। वास्तव में उत्तरदायित्व उन लोगों का था जिन्होंने उस घोषणा पर हस्ताक्षर करने पर भी उसका पालन करने में निष्क्रियता दिखाई।" सीमैन ने भी इसका मूल्यांकन करते हुए लिखा है कि, "पवित्र मैत्री यूरोप की शांति बनाये रखने का महत्वपूर्ण साधन था।" सीमैन का यह कथन सत्य भी है क्योंकि जब तक यह व्यवस्था रूस, आस्ट्रिया व प्रशा को एकता के सूत्र में बांधे हुए थी तब तक यूरोप में शांति निश्चित थी। पवित्र मैत्री के कारण ही प्रशा और आस्ट्रिया क्रीमिया के युद्ध में रूस के विरुद्ध नहीं लड़े। किन्तु 1856 में तथा उसके बाद इस व्यवस्था का टूटना आरम्भ हो गया। फिर भी इस व्यवस्था की प्रेरणा समस्त यूरोप में व्याप्त रही। 1872 में ट्रापो की व्यवस्था के अनुसार 'तीन सम्राटों का संघ' (League of Three Emperors) भी गणतन्त्र को रोकने के लिये सामूहिक विरोध पर आधारित था। बिस्मार्क भी यूरोप में यथा स्थिति बनाये रखना चाहता था, जिसके लिये मेटरनिख प्रयत्न कर रहा था ताकि यूरोप को युद्धों से बचाया जा सके। इस प्रकार पवित्र मैत्री अन्तर्राष्ट्रीय कूटनीति के क्षेत्र में सदाचार की भावना तथा यूरोप में धर्म, न्याय और शांति स्थापित करने का प्रयास थी, जो अपने उद्देश्य में असफल रही क्योंकि पवित्र मैत्री की उदार भावनाओं को, मेटरनिख के तत्वावधान में बनाने वाली चतुर्राष्ट्रीय मैत्री (Quadruple Alliance) की स्वार्थी प्रवृत्तियों के साथ मिला दिया था। वस्तुतः वह व्यवस्था दोषपूर्ण होते हुये भी यूरोप में शांति का वातावरण, चाहे वह अल्प समय तक ही रहा हो, बनाये रखने में महत्वपूर्ण सहयोगी सिद्ध हुई।

चतुर्राष्ट्र मैत्री (Quadruple Alliance)—जहां नैतिकता एवं धार्मिकता को उद्घोपित करने वाली पवित्र मैत्री का निर्माण हुआ था वहां उसकी अवधि में

एक राजनैतिक गुट का जन्म हुआ जिसे चतुर्राष्ट्र मैत्री कहा जाता है। इसका प्रवर्त्तक मेटरनिख था जो रूस के जार की तरह कल्पना की दुनियां में विचरण करने वाला व्यक्ति नहीं था बल्कि उसके विचारों में व्यावहारिक कार्यक्रम था। मेटरनिख के प्रस्ताव पर 20 नवम्बर 1815 को वियना सम्मेलन के चार बड़े राज्यों—रूस, आस्ट्रिया, प्रशा और ब्रिटेन ने एक समझौते द्वारा 'चतुर्राष्ट्र मैत्री' की स्थापना की। यह मैत्री बहुत समय तक यूरोप के राजनैतिक मामलों का संचालन करती रही तथा इस चतुर्राष्ट्र मैत्री के आधार पर ही यूरोप की संयुक्त व्यवस्था का कार्य प्रारम्भ हुआ।

चतुर्राष्ट्र मैत्री के उद्देश्य—चतुर्राष्ट्र मैत्री एक ऐसा शक्तिशाली राजनैतिक संगठन था जो यूरोपीय समस्याओं का शांतिपूर्ण तरीकों से हल खोजने के लिए बनाया गया था। इस संगठन की स्थापना मुख्यतः निम्नलिखित उद्देश्यों को लेकर हुई थी।

(1) शामों तथा वियना के सिद्धान्तों पर आधारित व्यवस्था का पालन करना तथा यूरोप की राजनैतिक स्थिरता एवं शान्ति को सुरक्षित रखना।

(2) फ्रांस के साथ की गई पेरिस की द्वितीय संधि का पालन करना।

(3) यूरोप की आर्थिक एवं सामाजिक समस्याओं को हल करने के लिए शान्तिमय साधनों का प्रयोग करना।

(4) यदि किसी राज्य की आन्तरिक समस्याओं के कारण शांति भंग होने की सम्भावना हो तो अन्य राज्यों द्वारा (चतुर्राष्ट्र मैत्री पर हस्ताक्षर करने वाले) उस राज्य के आन्तरिक मामलों में, शान्ति स्थापित करने के लिये हस्तक्षेप करना।

(5) नेपोलियन तथा उसके किसी सम्बन्धी को फ्रांस का राजा बनने से रोकना।

(6) विश्व कल्याण के लिये चारों राज्यों (रूस, आस्ट्रिया, प्रशा व ब्रिटेन) के बीच स्थापित घनिष्ठ सम्बन्धों को सुदृढ़ बनाने के लिये तथा समान उद्देश्यों की पूर्ति के लिये समय-समय पर शासकों अथवा उनके मन्त्रियों के सम्मेलन आयोजित करना, जिनमें यूरोप की शांति तथा जनता की सुख समृद्धि के लिये विभिन्न उपायों के बारे में विचार विमर्श करना।

(7) क्रांति युक्त राष्ट्रीय भावनाओं का दमन करना तथा निरंकुश शासकों के अधिकारों को स्थाई बनाये रखना।

इस सन्धि के अनुसार एक ऐसी नवीन कूटनीतिज्ञ पद्धति (System of Diplomacy) की नींव रखी जा सकती थी, जिसके द्वारा बड़े राज्यों के मतभेदों के समाधान के साथ-साथ मानवता का अधिक से अधिक कल्याण किया जा सकता था। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की एक नई व्यवस्था की गई। इस व्यवस्था को 'यूरोप की संयुक्त व्यवस्था' (Concert of Europe) या कांग्रेस प्रणाली (Congressional System) के नाम से पुकारते हैं।

चतुर्थ राष्ट्र मैत्री की समीक्षा—यह व्यवस्था पवित्र मैत्री से भिन्न थी क्योंकि इसके अन्तर्गत शासकों के भ्रातृत्व के स्थान पर बड़े राज्यों, (जिनके राजदूतों की पेरिस में एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था बन गई थी, जो वियना तथा पेरिस की संधियों से संबंधित विचार विमर्श कर सके) का अधिनायकत्व स्थापित हो गया। यह व्यवस्था 'पवित्र मैत्री' की अपेक्षा अधिक व्यवहारिक थी क्योंकि इसके द्वारा वियना सम्मेलन द्वारा स्थापित प्रादेशिक व्यवस्था की अखण्डता एवं शासकों की प्रभुता को सुरक्षित बनाये रखने का प्रयास किया गया। यूरोप की चार बड़ी शक्तियों का यह संगठन लगभग 25 वर्षों तक यूरोप के राजनैतिक रंगमंच पर छाया रहा। इस व्यवस्था में यह निश्चय किया गया कि यूरोपीय समस्याओं पर विचार करने के लिये तथा उनके समाधान निकालने के लिये ये राज्य समय-समय पर सम्मेलन किया करेंगे। इस व्यवस्था से अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई। इसलिये इस चतुर्राष्ट्र मैत्री को 'सम्मेलनों द्वारा कूटनीति' (Diplomacy by Conferences) भी कहा जाता है। इस व्यवस्था ने जिस सम्मेलन प्रणाली को जन्म दिया वही आगे चल कर राष्ट्रसंघ का आधार बनी। ब्रिटेन का विदेश मन्त्री इस व्यवस्था को 'यूरोप की सुरक्षा की महत्वपूर्ण व्यवस्था' तथा 'शांति की गारन्टी' समझता था।

इस व्यवस्था में केवल यूरोप की शक्तिशाली शक्तियां ही सम्मिलित थी, अतः छोटे राज्यों ने इस व्यवस्था को अन्यायपूर्ण कहा। उनका कहना था कि इन चार शक्तिशाली राज्यों के नियन्त्रण और नेपोलियन की निरंकुशता में कोई अन्तर नहीं था। फिर भी यह संगठन विविध कठिनाइयों का सामना करते हुई प्रभावशाली ढंग से कार्य करता रहा। आगे चलकर 'कांग्रेस प्रणाली' में मेटरनिख का प्रभाव बहुत बढ़ गया, यहां तक कि उदारवाद का समर्थक जार अलेक्जेण्डर प्रथम भी उसका अनुयायी बन गया तथा प्रशा ने भी उसकी नीति का समर्थन किया। जब रूस, आस्ट्रिया और प्रशा के शासकों ने अपने प्रतिक्रियावादी सिद्धांतों के आधार पर अन्य राज्यों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करना चाहा तो ब्रिटेन की ओर से कैसलरे ने इसका विरोध किया। उसका कहना था कि चतुराष्ट्र मैत्री का निर्माण दूसरे राज्यों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने की क्षमता प्रदान नहीं करता। इसके विपरीत रूस, प्रशा तथा आस्ट्रिया के प्रतिनिधियों का कहना था कि यूरोपीय देशों में शांति बनाये रखने के लिये अशान्त वातावरण उत्पन्न करने वाले किसी भी देश की आन्तरिक घटना में हस्तक्षेप किया जा सकता है। अतः आरम्भ से ही चतुर्राष्ट्र मैत्री के सदस्यों में मतभेद उत्पन्न हो गया। जहां तक यूरोप में शान्ति बनाये रखने का प्रश्न था उसमें तो उनका कोई मतभेद नहीं था, किन्तु शान्ति बनाये रखने के उपायों में वे एक मत नहीं थे। प्रत्येक सदस्य यूरोप के आन्तरिक मामलों पर अपने ढंग से सोचता था। उदाहरणार्थ, मेटरनिख एकतंत्रीय शासन एवं जनमत की उपेक्षा आदि साधनों से शांति बनाये रखने के पक्ष में था। रूस के जार का मत था कि रूस में

तो उदारवादी विचारों को कुचला जाय किन्तु उसके अधीनस्थ देशों में ऐसे विचारों को पनपने दिया जाय ताकि उसे हस्तक्षेप करने का अवसर मिलता रहे। कैसलरे वैसे तो अनुदार दल के सिद्धान्तों का पोषक था किन्तु क्रांति के विचारों से उसकी सहानुभूति थी। इसलिये अन्य देशों में होने वाली क्रांतियों के प्रति उसने उदासीन वृत्ति धारण कर रखी थी।

चतुर्राष्ट्र मैत्री ने मतभेद की परिस्थितियों में कार्य आरम्भ किया। परिणाम स्वरूप उनके मतभेद बढ़ते ही गये। जब कभी सम्मेलनों में मतैक्य का प्रयास किया जाता तो बड़े राष्ट्रों के विचारों की भिन्नता खड़ी हो जाती और अन्त में 1825 में तो यह चतुर्राष्ट्र मैत्री सर्वथा प्रभावहीन ही हो गई। वास्तव में ब्रिटेन ने इसके साथ पूर्ण सहयोग नहीं किया। वह केवल सीमाओं को स्थाई रखने तथा नेपोलियन के किसी सम्बन्धी को फ्रांस का अधिनायक बनाने से रोकने के लिये ही तैयार था, अन्य कोई बात उसे स्वीकार नहीं थी। इस व्यवस्था में मौलिक दोष केवल यही था कि इसके द्वारा यूरोप में एकसत्तात्मक शासन का बोल-बाला हो गया जिससे प्रजातंत्रीय भावनाओं को ठेस पहुंची। यूरोप के छोटे-छोटे राज्यों का इस व्यवस्था में कोई स्थान न होने के कारण असंतोष बना रहा।

यूरोप की संयुक्त व्यवस्था की कार्य प्रणाली—इस प्रकार 'पवित्र मैत्री' तथा 'चतुर्राष्ट्र मैत्री' को मिलाकर जो व्यवस्था की गई वह यूरोप की संयुक्त व्यवस्था के नाम से विख्यात हुई। इस व्यवस्था में चतुर्राष्ट्र मैत्री के अन्तर्गत यूरोप की समस्याओं को सुलझाने के लिये 1818 ई. में एक्स-ला-शैपल, 1820 ई. में ट्रापो, 1821 ई. में लाईबेख, 1822 ई. में वेरोना में सम्मेलन हुए और 1825 ई. में सेन्टीपीटर्स—वर्ग में अन्तिम सम्मेलन हुआ। इस प्रकार लगभग दस वर्ष तक सम्मेलनों द्वारा यूरोप की समस्याओं को सुलझाने के प्रयत्न किये गये। इसलिये इस काल को 'कांग्रेस का युग' (Era of Congress) भी कहते हैं। संयुक्त व्यवस्था के समय जो सम्मेलन हुए तथा जो प्रमुख घटनाएं घटित हुई उनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

एक्स-ला-शैपल (Aix-La-Chappelle) **का सम्मेलन**—यूरोप की संयुक्त व्यवस्था के अन्तर्गत प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन अक्टूबर 1818 ई. में एक्स-ला-शैपल नामक स्थान पर हुआ। इस सम्मेलन के समक्ष कुछ छोटे यूरोपीय राज्यों से सम्बन्धित विषयों से अतिरिक्त मुख्य प्रश्न फ्रांस का था। फ्रांस ने संधि की शर्तों का पालन किया था अत: फ्रांस की संतोषजनक आंतरिक स्थिति को देखते हुए वहां से मित्र राष्ट्रों की सेनाएं हटा ली गई। फ्रांस के प्रतिनिधि ड्यू-द-रिशल (Due-de richelieu) ने अपने राज्य को समानता के आधार पर चतुर्राष्ट्र मैत्री का सदस्य बनाने की मांग की, जिसे स्वीकार कर लिया गया। इस प्रकार चतुर्राष्ट्र मैत्री अब पंच राष्ट्र संघ में परिवर्तित हो गई। इसके साथ ही एक घोषणा द्वारा जिसमें फ्रांस भी सम्मिलित था, पांचों राज्यों ने अपने घनिष्ठ सम्बन्धों को बनाये रखने तथा

सन्धियों की मान्यता के आधार पर शांति की रक्षा करने के अपने उद्देश्य की पुष्टि की।

उपर्युक्त मुख्य प्रश्न के अतिरिक्त छोटे राज्यों से सम्बन्धित विषयों पर भी विचार किया गया जिसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

(1) स्वीडन के शासक बर्नाडोट से, डेनमार्क से सम्बन्धित 'कील की संधि' की शर्तों का उल्लंघन करने का कारण पूछा गया। बर्नाडोट ने इसका प्रत्युत्तर दिया कि बड़े राष्ट्र छोटे राष्ट्रों के प्रति अन्यायपूर्ण व्यवहार कर रहे हैं।

(2) मोनेको के शासक को अपने राज्य में व्यवस्थित शासन स्थापित करने का आदेश दिया गया तथा हेस (Hesse) के शासक को सम्राट की उपाधि प्रदान करने से इन्कार कर दिया गया।

(3) बेडन के उत्तराधिकारी का प्रश्न तथा बवेरिया के सीमा सम्बन्धी विवाद पर भी विचार किया गया, किन्तु इसके विषय में अन्तिम निर्णय फ्रैंकफर्ट की संधि (20 जुलाई 1819) द्वारा हुआ।

(4) सम्मेलन में यह निश्चय किया गया कि यूरोप के अन्य राज्यों की आर्थिक स्थिति को कैसे सुधारा जाय।

(5) पारस्परिक सहयोग की भावना का प्रचार करने तथा धार्मिक प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन देने के लिए कुछ सदस्यों का एक बोर्ड गठित किया गया।

यूरोप की संयुक्त व्यवस्था को सबसे अधिक सफलता इसी सम्मेलन से प्राप्त हुई। उसकी शक्ति और प्रभाव में काफी वृद्धि हुई। मेटरनिख इस सम्मेलन की कार्यवाही से बड़ा सन्तुष्ट हुआ और उसने कहा, 'मैंने अपने जीवन में ऐसी सुन्दर छोटी बैठक नहीं देखी।' इस सम्मेलन में यह भी निर्णय लिया गया कि यदि सम्मेलन में छोटे राज्यों के मामलों पर विचार हो रहा हो तो वे छोटे राज्य भी सम्मेलन में अपना प्रतिनिधि भेज सकते हैं।

यद्यपि एक्स-ला-शैपल सम्मेलन ने अनेक महत्वपूर्ण निर्णय लिये थे, किन्तु वास्तव में इसी समय से ब्रिटेन और निरंकुश राज्यों में सैद्धांतिक मतभेद आरम्भ हो गया। हेरल्ड निकलसन ने लिखा है कि, "सभी विचारशील प्रेक्षकों की दृष्टि में यही उसके अन्त का आरम्भ था। 'एक्स-ला-शैपल' का सम्मेलन समाप्त होते ही कुछ घटनाएं ऐसी घटी जिनके कारण पंच राष्ट्रों के पारस्परिक मतभेद बढ़ने लगे तथा संयुक्त व्यवस्था के विघटन की समस्या उत्पन्न हो गयी। मुख्य विवादपूर्ण घटनाएं निम्नलिखित थीं—

(1) जर्मनी के राज्यों में क्रान्तिकारी सिद्धान्तों का प्रभाव बढ़ रहा था। 23 मार्च 1819 को प्रसिद्ध नाटककार काटजेब (Kotzebue) जो रूस का वेतन भोगी था, की कार्ल सेण्ड नामक युवक ने हत्या कर दी। इस घटना से मेटरनिख को जर्मनी में उदारवाद का दमन करने तथा अपनी प्रतिक्रियावादी नीति को कार्या-

न्वित करने का अवसर मिल गया। उसने प्रशा और जर्मनी के शासकों को 'कार्ल्सवाद के आदेश' (Carlsbad Decrees) की स्वीकृति देने के लिये तैयार कर लिया। इस आदेश के अनुसार जर्मनी में विद्यार्थी आन्दोलनों, समाचार पत्रों, विश्वविद्यालयों आदि पर अनेक प्रतिवन्ध लगा दिये गये। मेटरनिख का उद्देश्य जर्मनी में उदारवाद को रोकना तथा जर्मनी में आस्ट्रिया की प्रधानता स्थापित करना था। किन्तु जब मेटरनिख ने अन्य बड़े राज्यों से अपनी जर्मन नीति का अनुमोदन कराना चाहा तो रूस के जार ने कार्ल्सवाद की डिक्री का विरोध किया। ब्रिटेन की ओर से कैसलरे ने भी इस नीति का समर्थन करने में अपनी असमर्थता प्रकट की, क्योंकि वह दूसरे राज्यों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करना अनुचित समझता था।

(2) मित्र राज्यों में मतभेद उत्पन्न करने वाली दूसरी समस्या स्पेन के दक्षिणी अमेरिकी उपनिवेशों की थी। जब स्पेन पर नेपोलियन का अधिकार हुआ तभी इन उपनिवेशों ने अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी। नेपोलियन के पतन के बाद स्पेन के शासक फर्डीनेण्ड ने मित्र राज्यों से अपील की कि विद्रोही उपनिवेशों को पुन: स्पेन के आधिपत्य में लाने के लिये उसे सैनिक मदद दी जाय। रूस और आस्ट्रिया सैनिक सहायता देने के पक्ष में थे, किन्तु ब्रिटेन ने उसका विरोध किया क्योंकि इन उपनिवेशों में ब्रिटेन को व्यापक व्यापारिक सुविधाएं मिली हुई थी और उसे भय था कि इन उपनिवेशों पर पुन: स्पेन का अधिकार हो जाने से उससे व्यापारिक हितों को आघात पहुंचेगा। ब्रिटेन के विदेश मन्त्री कैसलरे ने इसे स्पेन का ऐसा आन्तरिक मामला वताया जिससे यूरोप की शान्ति भंग होने की कोई सम्भावना नहीं थी। मेटरनिख स्पेन की मदद करना चाहता था किन्तु ब्रिटेन के तीव्र विरोध के कारण वह कुछ नहीं कर सका। इस घटना से यह स्पष्ट हो गया कि मित्र राष्ट्रों के पारस्परिक हितों में घोर टकराव है।

(3) वियना कांग्रेस ने दास व्यापार की निन्दा की थी, किन्तु यह अनैतिक व्यापार अभी तक पूर्ववत् चल रहा था। अत: दास व्यापार का अन्त करने के लिये ब्रिटेन ने सुझाव दिया कि सभी राष्ट्रों को दूसरे के जहाज की तलाशी लेने का अधिकार होना चाहिए। किन्तु ब्रिटेन का यह प्रस्ताव अमान्य कर दिया गया। इसी प्रकार अफ्रीका के समुद्री डाकुओं से सुरक्षा हेतु रूस द्वारा प्रस्तावित तथा प्रशा द्वारा समर्थित एक सम्मिलित जहाजी वेड़े को भूमध्यसागर भेजने का प्रस्ताव ब्रिटेन ने अस्वीकार कर दिया, क्योंकि इससे ब्रिटेन की समुद्री शक्ति को भय उत्पन्न हो सकता था। इस प्रकार बड़ी शक्तियों के बीच मतभेद निरन्तर वढ़ रहे थे।

(4) मार्च 1820 में नेपिल्स के शासक फर्डीनेण्ड के विरुद्ध विद्रोह हुआ। रूस के जार ने अपनी सेना भेजकर स्पेन के शासक की मदद करने का प्रस्ताव रखा किन्तु मेटरनिख ने इस हस्तक्षेप को अनावश्यक वताकर इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। ब्रिटेन भी स्वतन्त्र राज्यों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करने का समर्थक था।

(5) स्पेन की क्रान्ति के प्रभाव से जुलाई 1820 में नेपिल्स में भी क्रान्ति हो गई और वहाँ के शासक फर्डीनेण्ड प्रथम को स्पेन संविधान को स्वीकार करना पड़ा। मेटरनिख इस क्रान्ति से चिन्तित था क्योंकि इससे इटली में आस्ट्रिया के प्रभाव को धक्का पहुंचता था। स्पेन के विद्रोह के समय मेटरनिख ने रूस को हस्तक्षेप करने से रोका था, किन्तु नेपिल्स के विद्रोह को वह दबाना चाहता था। रूस और फ्रांस यह नहीं चाहते थे कि नेपिल्स में अकेले आस्ट्रिया को हस्तक्षेप करने दिया जाय। इसी प्रकार अगस्त 1820 में पुर्तगाल में भी क्रान्ति हो गयी और वहां के शासक को स्पेन के 1812 के संविधान को स्वीकार करना पड़ा।

इस प्रकार मित्र राज्यों में दो परस्पर विरोधी सिद्धान्तों को लेकर मतभेद बढ़ता गया। मेटरनिख की मान्यता थी कि उसे यूरोपीय शान्ति को खतरा पहुंचने की संभावना होने पर दूसरे राज्यों के मामलो में हस्तक्षेप करने का अधिकार था। किन्तु ब्रिटेन इस विचार से सहमत नहीं था। इस प्रकार चतुर्राष्ट्र मैत्री की स्थापना के बाद से ही हस्तक्षेप और हस्तक्षेप के सिद्धान्तों में संघर्ष प्रारम्भ हो गया। ब्रिटेन के विरोध के बावजूद मेटरनिख, जर्मनी में जो जी में आया करता रहा, किन्तु कैसलर के विरोध ने संयुक्त व्यवस्था के विनाश का बीजारोपण कर दिया था।

ट्रापो का सम्मेलन (Conference of Troppau)—मुख्य रूप से नेपिल्स की समस्या को सुलझाने तथा विद्रोह का दमन करने की स्वीकृति प्राप्त करने के लिए संयुक्त व्यवस्था का दूसरा सम्मेलन आस्ट्रिया के ट्रापो नामक स्थान पर अक्टूबर 1820 में बुलाया गया था। इस सम्मेलन में आस्ट्रिया के सम्राट फ्रांसिस प्रथम तथा प्रधानमन्त्री मेटरनिख; रूस के जार अलेक्जेण्डर, प्रशा के युवराज एवं मन्त्री हार्डनवर्ग उपस्थित थे किन्तु फ्रांस और ब्रिटेन की ओर से कोई विशेष प्रतिनिधि इस सम्मेलन में नहीं भेजे गये। मेटरनिख ब्रिटेन और फ्रांस की उपेक्षा करके प्रशा तथा रूस से अपनी प्रतिक्रियावादी नीति के सिद्धान्तों का पूर्ण समर्थन चाहता था अत: मेटरनिख ने अपने सिद्धान्तों के आधार पर एक मसविदा (Protocol) तैयार किया जिस पर 19 नवम्बर 1820 को रूस, प्रशा व आस्ट्रिया ने हस्ताक्षर कर दिये। इस मसविदे में मुख्य रूप से दो बातें कही गई थीं—

(1) "रूस, प्रशा और आस्ट्रिया ने हस्तक्षेप के सिद्धान्त से सहमत होते हुए घोषणा की कि जनता अपने राजा को विवश करके उससे कोई अधिकार नहीं छीन सकती।"

(2) "यदि किसी राज्य में राष्ट्रीय आन्दोलन होने लगे, जिसके परिणाम स्वरूप पड़ोसी राज्य के लिये खतरा उत्पन्न हो जाय या खतरे की संभावना हो तो पड़ोसी राज्य को अपनी सेनाएं भेजकर आन्दोलन का दमन करने का अधिकार होगा। कांग्रेस को यह भी अधिकार होगा कि वियना व्यवस्था की रक्षा के लिए मित्र राष्ट्रों की सेना का उपयोग करे।" इस प्रकार मेटरनिख ने एक नये सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जिसे 'ट्रापो सिद्धान्त' कहते हैं।

उपर्युक्त मसविदे को रूस, प्रशा व आस्ट्रिया ने तो स्वीकार कर लिया था किन्तु ब्रिटेन और फ्रांस ने इसका घोर विरोध किया। बाद में फ्रांस ने कुछ आरक्षणों के साथ इसे स्वीकार कर लिया, किन्तु कैसलरे ने इसका इस आधार पर विरोध किया कि किसी भी राज्य में आन्तरिक क्रान्ति या विद्रोह के कारण सशस्त्र हस्तक्षेप करने से उसकी आन्तरिक सम्प्रभुता की उचित मान्यताएं नष्ट हो जायेगी। उसने यह भी कहा कि इस व्यवस्था से शासक और प्रजा के बीच गहरी खाई उत्पन्न हो जायेगी तथा शासकों को अपने सिंहासन की रक्षा के लिये बाहरी शक्तियों की सहायता पर निर्भर रहना पड़ेगा। इस प्रकार इस सम्मेलन में पंचराष्ट्र संघ स्पष्टत: दो गुटों में विभाजित हो गया, एक ओर रूस, प्रशा और आस्ट्रिया थे तो दूसरी ओर फ्रांस और ब्रिटेन थे। महान् शक्तियों के पारस्परिक विरोध के कारण कुछ भी निश्चय नहीं हो पाया। इन सैद्धान्तिक मतभेदों के बावजूद संयुक्त व्यवस्था अभी टूटी नहीं थी।

लाइबेख का सम्मेलन (Conference of Laibach)—इटली (नेपिल्स) की समस्या पर बिना कोई निर्णय लिये ट्रापो सम्मेलन कुछ समय के लिये स्थगित कर दिया गया तथा जनवरी 1821 में लाइबेख में पुन: उसका अधिवेशन हुआ। इस समय इटली के राज्यों में विद्रोह हो रहे थे तथा नेपिल्स के शासक फर्डीनेण्ड को वहाँ से भगा दिया था। इन्हीं विद्रोहों को दबाने के लिये लाइबेख में सम्मेलन का आयोजन किया गया जिसमें नेपिल्स के शासक फर्डीनेण्ड को भी बुलाया गया। फर्डीनेण्ड की प्रार्थना पर सम्मेलन में आस्ट्रिया को अधिकार दिया गया कि वह नेपिल्स के आन्तरिक मामले में हस्तक्षेप कर विद्रोह का दमन करे। रूस के जार ने इस कार्य के लिये सैनिक सहायता देने का आश्वासन दिया। ब्रिटेन की ओर से लार्ड स्टेवार्ट (Lord Stewart) ने इस नीति का विरोध किया, किन्तु आस्ट्रिया को इटली में अपना प्रभाव बढ़ाने का जो अवसर मिला था उसे वह खोने वाला नहीं था। मार्च 1821 में आस्ट्रिया की 800,000 सेना नेपिल्स में प्रविष्ट हुई तथा बड़ी निर्दयता से विद्रोह को कुचल कर फर्डीनेण्ड को पुन: सिंहासन पर आसीन कर दिया। इस प्रकार वहां पुन: निरंकुश एवं प्रतिक्रियावादी शासन स्थापित हो गया।

पीडमान्ट का विद्रोह—जब नेपिल्स का विद्रोह दबाया जा रहा था उसी समय 10 मार्च 1821 को पीडमान्ट में भी विद्रोह की ज्वाला धधक उठी। पीडमान्ट और इटली से आस्ट्रिया को बाहर निकालने तथा स्पेन के संविधान को लागू करने के लिये यह विद्रोह हुआ था। आरम्भ में विद्रोहियों को कुछ सफलता मिली तथा 13 मार्च 1821 को राजा विक्टर इमेनुअल प्रथम ने गद्दी त्याग दी और उसका भाई चार्ल्स फैलिक्स गद्दी पर बैठा जो स्वभाव से निरंकुश था। चार्ल्स फैलिक्स ने आस्ट्रिया की सहायता से 8 अप्रेल 1821 को क्रान्तिकारियों को पूर्णत: परास्त कर दिया।

लाइबेख के सम्मेलन में मेटरनिख के नेतृत्व में प्रतिक्रियावादी नीति का प्राधान्य रहा। यद्यपि ब्रिटेन ने इस नीति का दृढ़ता से विरोध किया किन्तु उसने

विद्रोहियों तथा क्रान्तिकारियों को किसी प्रकार की सहायता नहीं पहुंचायी। फिर भी इंगलैण्ड के विरोध के कारण महाशक्तियों में मतभेद कटुता के साथ उभर कर आया। परिणाम स्वरूप संयुक्त व्यवस्था पहले की अपेक्षा अधिक निर्बल हो गयी तथा चतुर्राष्ट्र मैत्री का विघटन अब अवश्यंभावी प्रतीत होने लगा।

वेरोना का सम्मेलन (Conference of Verona)—लाइवेख में यह निर्णय किया गया था कि कांग्रेस का अगला अधिवेशन इटली के प्रसिद्ध नगर वेरोना में होगा। अत: 1822 में संयुक्त व्यवस्था का चौथा अधिवेशन वेरोना में हुआ। इस सम्मेलन में प्रमुख रूप से तीन समस्याओं पर विचार करना था—(1) यूनान और टर्की का प्रश्न (2) स्पेन एवं उसके दक्षिणी अमेरीकी उपनिवेश (3) इटली की स्थिति। सम्मेलन आरम्भ होने से पहले 12 अगस्त 1822 को ब्रिटिश विदेश मन्त्री कैसलरे की मृत्यु हो चुकी थी तथा जार्ज केनिंग नया विदेश मन्त्री बना। सम्मेलन में ड्यूक आफ वेलिंगटन को ब्रिटेन के प्रतिनिधि के रूप में भेजा गया।

यूनान ने टर्की के विरुद्ध विद्रोह कर दिया था। रूस यूनान को टर्की के विरुद्ध सहायता देना चाहता था किन्तु आस्ट्रिया व ब्रिटेन रूस को यूनान में स्वतन्त्र रूस से कार्यवाही नहीं करने देना चाहते थे क्योंकि उन्हें भय था कि रूस यूनान को सहायता देने के बहाने भूमध्यसागर व बाल्कन प्राय:द्वीप में अपना प्रभाव बढ़ा लेगा। सम्मेलन में यूनान की समस्या पर विचार स्थगित कर दिया गया। आस्ट्रिया व ब्रिटेन के संयुक्त प्रयासों से रूस और टर्की के युद्ध की आशंका टल गई थी जिससे रूस, यूनान में हस्तक्षेप नहीं कर सका।

सम्मेलन में मुख्य रूप से स्पेन के विद्रोह के सम्बन्ध में विचार किया गया। स्पेन के शासक फर्डीनेन्ड सप्तम् ने जब विद्रोह के दमन हेतु फ्रांस से सहायता मांगी तो वह स्पेन में उसी प्रकार हस्तक्षेप करने को तैयार हो गया जैसा कि आस्ट्रिया ने इटली में किया था। ब्रिटेन ने इसका विरोध किया और कहा कि स्पेन में हस्तक्षेप करना न केवल सैद्धान्तिक दृष्टि से आपत्तिजनक है, वरन् व्यवहारिक रूप से उसे कार्यान्वित करना भी कठिन है। किन्तु रूस, आस्ट्रिया व प्रशा तो हस्तक्षेप करने के प्रवल समर्थक थे। अत: सम्मेलन में स्पेन में हस्तक्षेप करने का निश्चय किया गया तथा हस्तक्षेप करने का काम फ्रांस को सौंपा गया। ब्रिटिश प्रतिनिधि ड्यूक आफ वेलिंगटन सम्मेलन से निकल आया। 7 अप्रेल 1823 को फ्रांसिसी सेना स्पेन में प्रविष्ट हुई तथा छ: महीनों में स्पेन को रौंद डाला। फर्डीनेण्ड स्पेन का पुन: निरंकुश शासक बन गया।

वेरोना सम्मेलन संयुक्त व्यवस्था का एक प्रकार से अन्तिम सम्मेलन था। यद्यपि इसके बाद संयुक्त व्यवस्था के दो सम्मेलन हुए, किन्तु वे नाम मात्र के थे। वेरोना में रूस, प्रशा व आस्ट्रिया की नीति से क्षुब्ध होकर ब्रिटेन संयुक्त व्यवस्था से अलग हो गया और इस प्रकार संयुक्त व्यवस्था के एक महत्वपूर्ण आधार स्तम्भ के अलग हो जाने से संयुक्त व्यवस्था का अन्त निश्चित हो गया।

कांग्रेस व्यवस्था और मुनरो का सिद्धान्त—स्पेन में फर्डीनेण्ड सप्तम की सत्ता पुनः स्थापित हो जाने के बाद स्पेन के दक्षिणी अमेरिकी उपनिवेशों की समस्या सामने आई। स्पेन का शासक अन्य यूरोपीय राज्यों की सहायता से दक्षिणी अमेरीकी उपनिवेशों पर अपना पुनः आधिपत्य स्थापित करना चाहता था। फ्रांस ने इस प्रकार का प्रस्ताव कांग्रेस के समक्ष रखने का प्रयत्न किया तो ब्रिटिश विदेश मंत्री केनिंग ने इसका उग्र विरोध किया तथा घोषणा की कि स्पेनिश उपनिवेशों में स्पेन के अतिरिक्त यूरोप के किसी अन्य राज्य ने हस्तक्षेप किया तो ब्रिटेन इसका विरोध करेगा तथा आवश्यकता पड़ने पर तलवार भी उठायेगा। इधर संयुक्त राष्ट्र अमेरिका भी नहीं चाहता था कि दक्षिणी अमेरीकी उपनिवेशों पर यूरोपीय राज्य का पुनः आधिपत्य हो। अमेरिकी राष्ट्रपति जेम्स मुनरो ने 2 दिसम्बर 1823 को अमेरीकी कांग्रेस को दिये गये संदेश में दक्षिणी अमेरीकी उपनिवेशों के सम्बन्ध में अपनी नीति की घोषणा की जो 'मुनरो सिद्धान्त' के नाम से प्रसिद्ध है। इस सिद्धान्त के अनुसार "भविष्य में अमेरीकी महाद्वीपों में यूरोपीय राज्यों के उपनिवेश स्थापित नहीं किये जायेंगे। यदि कोई यूरोपीय शक्ति इन महाद्वीपों की राजनैतिक व्यवस्था में हस्तक्षेप करने अथवा नये क्षेत्रों पर अधिकार करने का प्रयत्न करेगी तो संयुक्त राज्य अमेरिका ऐसे प्रयत्न को अपने प्रति शत्रुता का व्यवहार समझेगा।" इस घोषणा से स्पेन की आशाओं पर पानी फिर गया। 1830 ई. तक स्पेनिश उपनिवेश स्वतन्त्र हो गये। इस परिस्थिति के विषय में केनिंग ने बड़ी प्रसन्नता से कहा, "मैंने पुरानी दुनिया के शक्ति संतुलन को ठीक रखने के लिये नई दुनिया का सृजन किया है।"

अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का अन्तिम प्रयास—यूरोप के हित को ध्यान में रखते हुए जार अलेक्जेण्डर ने जून 1824 में सेंटपीटर्सबर्ग में बड़े राज्यों का एक सम्मेलन आयोजित किया जिसका उद्देश्य 'सामूहिक हस्तक्षेप' द्वारा यूनान एवं टर्की की समस्या को सुलझाना था। केनिंग का दृष्टिकोण यह था कि यदि दोनों पक्ष इस सम्मेलन के निर्णय को स्वीकार करने तथा बिना शक्ति प्रयोग के शांति स्थापित की जा सके तो यह सम्मेलन मध्यस्थ के रूप में उपयोगी हो सकता है। इसीलिये ब्रिटेन ने सम्मेलन की प्रारम्भिक बैठकों में भाग लेने के लिये अपना प्रतिनिधि भेजा। इधर टर्की के सुल्तान ने बड़ी शक्तियों के हस्तक्षेप का विरोध किया और दूसरी ओर यूनानियों ने केनिंग से शिकायत की कि उन्हें 'हाथ पैर बांध कर टर्की को समर्पित किया जा रहा है।' यूनानियों ने यह भी कहा कि टर्की के समक्ष समर्पण करने की अपेक्षा वे अपने अन्तिम वीर के नष्ट होने तक संघर्ष करना उचित समझेंगे। ऐसी परिस्थितियों में ब्रिटेन ने सम्मेलन की कार्यवाही से अलग होना ही उचित समझा। इस प्रकार ब्रिटेन का संयुक्त व्यवस्था से सम्बन्ध विच्छेद हो गया। इधर रूस और आस्ट्रिया में भी मतभेद बढ़ गये। सेंटपीटर्सबर्ग की सभा टर्की के सुल्तान को एक संयुक्त प्रपत्र द्वारा दोनों पक्षों में समझौता करने हेतु मध्यस्थता का सुझाव देकर

विसर्जित हो गयी। इससे रूस के जार को यह विश्वास हो गया कि भविष्य में पूर्वी समस्या के सम्बन्ध में यूरोप का प्रत्येक देश अपनी स्वतन्त्र नीति अपनायेगा। अतः अब रूस ने भी निश्चय किया कि भविष्य में पूर्वी समस्या के सम्बन्ध में रूस भी अपनी स्वतन्त्र नीति अपनायेगा। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का अन्तिम प्रयास भी विफल हो गया तथा यूरोप की संयुक्त व्यवस्था का विघटन हो गया।

संयुक्त व्यवस्था की असफलता के कारण—नेपोलियन के दीर्घकालीन युद्धों के बाद यूरोप में शांति बनाये रखने हेतु जिस संयुक्त व्यवस्था का निर्माण किया गया वह अपने अल्प जीवन में ही समाप्त हो गई तथा यूरोप में शान्ति बनाये रखने का प्रयास विफल हो गया। इस संयुक्त व्यवस्था की असफलता के कई कारण थे, जिनमें प्रमुख निम्नलिखित हैं :—

1. परस्पर विरोधी हितों का संघर्ष—यूरोपीय संयुक्त व्यवस्था में सदस्य राष्ट्रों के अपने अपने हित निहित थे जिनमें कोई साम्यता नहीं थी। उनके राजनैतिक एवं व्यापारिक हितों में भिन्नता थी तथा उनके राजनैतिक दृष्टिकोण भी भिन्न थे। एक ओर ब्रिटेन और फ्रांस में संवैधानिक राजतन्त्र थे, तो दूसरी ओर रूस, प्रशा और आस्ट्रिया में निरंकुश राजतंत्र थे। शासन प्रणाली में सैद्धान्तिक भिन्नता के कारण किसी भी समस्या पर उनका दृष्टिकोण समान हो ही नहीं सकता था। कोई संघात्मक व्यवस्था तब तक सफल नहीं हो सकती जब तक कि उसके सदस्यों के सामान्य हित समान न हों। संयुक्त व्यवस्था के सदस्य राष्ट्रों के पारस्परिक हित एक दूसरे से भिन्न थे। थॉमसन ने लिखा है कि, "आस्ट्रिया, रूस एवं प्रशा संयुक्त व्यवस्था का प्रयोग प्रजातंत्र की बाढ़ को रोकने के लिये बांध के रूप में करना चाहते थे, किन्तु इंगलैण्ड इसे एक खुले दरवाजे के रूप में देखना चाहता था ताकि उदारता एवं राष्ट्रीयताओं की भावनाओं का आवश्यकतानुसार प्रवेश होता रहे।" इसी प्रकार पूर्वी समस्या के सम्बन्ध में रूस और आस्ट्रिया के स्वार्थों का संघर्ष हुआ तथा इन दोनों के बीच तीव्र कटुता उत्पन्न हो गयी। फाइफ ने ठीक ही कहा है कि संयुक्त व्यवस्था का निर्बल जहाज इसी चट्टान से टकराकर छिन्न-भिन्न हो गया।

2. प्रतिक्रिया का साधन—संयुक्त व्यवस्था की असफला का एक अत्यन्त ही महत्वपूर्ण कारण यह था कि मेटरनिख के नेतृत्व में वह प्रतिक्रिया का साधन बन गयी। इंगलैण्ड को छोड़कर इसके सदस्य राष्ट्र सभी प्रतिक्रियावादी थे तथा क्रान्ति के विरोधी थे। संयुक्त व्यवस्था की सभी नीतियां राष्ट्रीय भावनाओं को कुचलने के लिए बनाई गयी थीं जिससे जनता के हृदय में उनके प्रति घृणा उत्पन्न हो गयी। डेविड थॉमसन ने लिखा है कि, "इस व्यवस्था का दुर्भाग्य था कि मेटरनिख ने अप्रगतिशील उद्देश्य से उसका प्रयोग परिवर्तन को रोकने के लिये, ऐसे युग में किया जब कि प्रगतिशील विचारधाराएँ प्रतिक्रियावादी व्यवस्था के विरुद्ध अधिक प्रभावशाली होती जा रही थी। लोकतंत्र, उदारवाद और राष्ट्रीयता की प्रगतिशील

विचारधाराओं के प्रवल वेग के समक्ष निरंकुश शासकों की प्रतिक्रियावादी नीति पर आधारित व्यवस्था का टूटना स्वाभाविक ही था।" वस्तुत: राष्ट्रीय भावनाओं की अवहेलना के कारण संयुक्त व्यवस्था ने अपनी मृत्यु घंटिका स्वयं ही बजा दी थी। इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब भी प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ प्रगतिवादी शक्तियों से टकराती हैं तो प्रतिक्रियावादी शक्तियों की पराजय निश्चित हो जाती है।

3. छोटे राज्यों की अपेक्षा—संयुक्त व्यवस्था केवल पांच बड़े राज्यों—रूस, प्रशा, आस्ट्रिया, फ्रांस और ब्रिटेन का संगठन था तथा इसमें छोटे राज्यों का कोई स्थान नहीं था। बड़े राष्ट्र ही यूरोपीय समस्याओं पर, चाहे वह छोटे राज्यों से सम्बन्धित ही क्यों न हो, विचार करते थे और निर्णय देते थे। छोटे राज्य केवल दर्शक की भांति उसके कार्यों में भाग ले सकते थे। अत: वे इस व्यवस्था से बड़े क्षुब्ध और असन्तुष्ट थे। एक्स-ला-शैपल के सम्मेलन में स्वीडन के शासक ने बड़े राज्यों की तानाशाही का विरोध किया था। इसी प्रकार वेरोना सम्मेलन के पश्चात् वुर्टमवर्ग के शासक ने अपने 2 जनवरी 1823 के परिपत्र में बड़ी शक्तियों की नीति का विरोध करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में सभी प्रभुता सम्पन्न राज्यों को स्थान दिये जाने की माँग की थी। क्योंकि बड़े राज्य छोटे राज्य के आन्तरिक मामलों में मनचाहा हस्तक्षेप करते थे। यद्यपि बड़े राज्यों का हस्तक्षेप असहनीय होता था, किन्तु भय और निर्बलता के कारण छोटे राज्य कुछ भी कर सकने की स्थिति में नहीं थे। अत: छोटे राज्य अन्दर ही अन्दर बड़े राज्यों के विरोधी बनते गये तथा 1825 के बाद तो उन्होंने अपनी समस्याओं को स्वयं ही सुलझाना उचित समझा।

4. आंतरिक हस्तक्षेप की नीति—प्रोफेसर केटलबी ने ब्रिटेन की इस व्यवस्था से अलग होना, संयुक्त व्यवस्था के विघटन का एक प्रमुख कारण माना है। ट्रापो के सम्मेलन में ही ब्रिटेन ने मेटरनिख की दूसरे राज्यों में हस्तक्षेप करने की नीति का विरोध किया था। वेरोना सम्मेलन में स्पेन की समस्या के सम्बन्ध में केनिंग ने फ्रांस द्वारा प्रस्तावित मित्र राज्यों के हस्तक्षेप का विरोध किया था तथा वेलिंगटन सभा से अलग हो गया। इस प्रकार ब्रिटेन संयुक्त व्यवस्था के सम्मेलन में दूसरे राज्यों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप की नीति का सदैव विरोधी रहा, जबकि अन्य सदस्य आन्तरिक हस्तक्षेप की नीति पर डटे रहे। इस कारण संयुक्त व्यवस्था में गहरी खाई उत्पन्न हो गयी। वेरोना के पश्चात् केनिंग द्वारा स्पेन के दक्षिणी अमेरीकी उपनिवेशों की स्वतन्त्रता का समर्थन तथा मुनरो के सिद्धान्त की घोषणा से संयुक्त व्यवस्था को भारी आघात लगा। इसीलिये मेटरनिख ने केनिंग के विषय में कहा था कि, "वह क्रुद्ध विधाता द्वारा यूरोप पर प्रक्षेपित अनिष्कारी उल्का था।" जब इंगलैण्ड अपनी अहस्तक्षेप की नीति के लिए अन्य सदस्यों का समर्थन प्राप्त नहीं कर पाया तो उसके समक्ष केवल एक ही मार्ग रह गया था, संयुक्त व्यवस्था से अलग हो जाना। सेंटपीटसंबर्ग के सम्मेलन में केनिंग ने कुछ समय पश्चात् ही अलग होने का निर्णय लिया जिससे अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का अन्तिम प्रयास भी

विफल हो गया। इंगलैण्ड जैसे स्तम्भ राष्ट्र के अलग होते ही संयुक्त व्यवस्था की भव्य इमारत चरमराकर ध्वंस्त हो गयी।

5. संगठनात्मक दोष—संयुक्त व्यवस्था से संगठन में अनेक दोष विद्यमान थे। प्रोफेसर चार्ल्स वैबस्टर ने लिखा है कि, "संयुक्त व्यवस्था बहुत अंशों तक, एक विशिष्ट समय पर, विभिन्न यूरोपीय शासकों के व्यक्तिगत सम्बन्धों के आधार पर स्थापित की गई थी। उसको निश्चित् संविधान द्वारा स्थायित्व प्रदान नहीं किया जा सका।" इसीलिये उसके उद्देश्यों एवं अधिकारों के सम्बन्ध में सदैव अनिश्चितता बनी रही। इसका न तो कोई स्थायी कार्यालय था और न कर्मचारी ही थे। यह तो केवल नेपोलियन के युद्धों के बाद यूरोप में शान्ति बनाये रखने की इच्छा का परिणाम था। इसकी सबसे बड़ी निर्बलता यह थी कि इसकी सदस्यता सभी राष्ट्रों के लिए खुली नहीं थी तथा इसकी नींव किसी ठोस आधार पर नहीं रखी गयी थी। कमजोर और खोखली नींवों पर आधारित महल का निकट भविष्य में ढह जाना स्वाभाविक ही था।

इस प्रकार सदस्य राष्ट्रों के पारस्परिक हितों का संघर्ष और उनके उद्देश्यों की विभिन्नता, राष्ट्रीय भावनाओं का दमन करने की इच्छा, छोटे राज्यों की उपेक्षा, ब्रिटेन का व्यवस्था से अलग होना आदि के कारण संयुक्त व्यवस्था का पतन हो गया। वियना से वेरोना तक बड़े राज्यों का उद्देश्य यही रहा कि लोकतन्त्रीय शक्तियों का विरोध तथा दमन किया जाय। लोकतन्त्रीय भावनाओं के पीछे जनमत का प्रबल प्रवाह होता है और जो भी शक्ति इस प्रवाह को रोकने का प्रयास करती है वह स्वयं उस प्रवाह में बह जाती है तथा उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। संयुक्त व्यवस्था ने लोकतन्त्र के प्रबल प्रवाह को रोकने का प्रयास किया जिससे उसका अस्तित्व समाप्त होना स्वाभाविक ही था।

संयुक्त व्यवस्था का इतिहास में महत्व—यूरोप की संयुक्त व्यवस्था असफल रही, किन्तु इसकी असफलता के बावजूद यूरोप के इतिहास में उसका एक महत्वपूर्ण स्थान है। पांच बड़ी शक्तियों ने सामूहिक रूप से विचार-विमर्श द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को सुलझाने तथा यूरोप में शान्ति बनाये रखने का प्रथम महत्वपूर्ण प्रयोग किया। यह प्रयोग सर्वथा निरर्थक नहीं रहा। 1815 से 1844 तक इस व्यवस्था ने यूरोप में शांति और समृद्धि के अवसर प्रदान किये जिसके परिणामस्वरूप सांस्कृतिक प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। इस व्यवस्था ने पारस्परिक सहयोग की भावना के आधार पर शांति एवं सुरक्षा बनाये रखने की एक परम्परा स्थापित कर दी। आधुनिक काल के राजनीतिज्ञों ने 'राष्ट्रसंघ' तथा संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना में इसी संयुक्त व्यवस्था से प्रेरणा प्राप्त की। अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना की दिशा में संयुक्त व्यवस्था एक अत्यन्त ही महत्वपूर्ण प्रयोग सिद्ध हुआ। अतः यदि इसे विश्व संगठन का अग्रदूत कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। वस्तुतः अंतर्राष्ट्रीयता के विकास के इतिहास में यह व्यवस्था एक महत्वपूर्ण कड़ी थी। इसके

अतिरिक्त संयुक्त व्यवस्था के प्रयत्नों के फलस्वरूप 1815 से 1854 की अवधि में कोई बड़ा युद्ध नहीं हो पाया। ग्रान्ट और टेम्परले ने ठीक ही लिखा है कि, "अन्तर्राष्ट्रीय शासन के इस गम्भीर प्रथम प्रयास को महत्वहीन मानकर रद्द कर देना उचित नहीं है।" बाद में यूरोप में अनेक सम्मेलन हुए तथा उनका नेतृत्व यद्यपि बड़े राष्ट्रों के हाथ में ही रहा, किन्तु राजतन्त्र को पुनर्जीवित करने अथवा क्रान्ति की निन्दा करने अथवा दूसरे राज्यों में सशस्त्र हस्तक्षेप करने सम्बन्धी नीति की घोषणायें नहीं की गई। इन सम्मेलनों को संयुक्त व्यवस्था से प्रेरणा प्राप्त हुई थी तथा इन सम्मेलनों ने प्रतिक्रियावादी नीतियों के ध्वंस्त खंडहरों पर प्रगतिशील नीतियों का प्रासाद तैयार किया।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि क्या संयुक्त व्यवस्था ने तात्कालिक युग की मांग को पूरा किया ? जब कि सम्पूर्ण यूरोप नेपोलियन के युद्धों से त्रस्त अशान्ति के सागर में डूबा हुआ था, संयुक्त व्यवस्था ने इस अशान्त सागर में शान्ति एवं स्थिरता उत्पन्न करने में भारी योगदान दिया। यद्यपि नेपिल्स, स्पेन, पीडमान्ट आदि अन्य स्थानों पर विद्रोह हुए, किन्तु ये विद्रोह केवल स्थानीय रहे तथा इन विद्रोहों के कारण यूरोप में कोई बड़ी लड़ाई नहीं हुई। इन विद्रोहों के बावजूद यूरोप में शान्ति बनाये रखने में इस व्यवस्था ने अपूर्व योगदान दिया। इस व्यवस्था से अन्तर्राष्ट्रीय भावनाओं का विकास हुआ तथा पारस्परिक विचार-विमर्श द्वारा आपसी मतभेदों को सुलझाने की प्रक्रिया आरम्भ हुई। यद्यपि इस व्यवस्था से तात्कालिक युग की सभी आवश्यकताएं तो पूरी हो न सकी फिर भी कुछ अंशों तक इस व्यवस्था ने तात्कालिक युग की सभी मांगों को पूरा किया। इतिहास इस बात का साक्षी है कि कोई संगठन, तात्कालिक युग की सभी मांगों को पूरा नहीं कर पाया। अतः संयुक्त व्यवस्था इसका अपवाद कैसे रह सकती थी ? निसन्देह संयुक्त व्यवस्था, युद्ध से जर्जर यूरोप में शांति एवं व्यवस्था स्थापित करने में सहायक सिद्ध हुई थी।

अध्याय 3

मेटरनिख युग

(1815-1848)

(AGE OF METTERNICH)

नेपोलियन के पतन के बाद यूरोपीय राजनैतिक मंच पर आस्ट्रिया की भूमिका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रही। इसके मुख्य रूप से दो कारण थे, प्रथम तो नेपोलियन को पराजित करने में आस्ट्रिया ने महत्वपूर्ण भाग लिया था अतः यूरोप की पुनर्व्यवस्था के लिए वियना में जो सम्मेलन हुआ उसमें आस्ट्रिया को प्रथम श्रेणी के राष्ट्रों में सम्मिलित किया गया। दूसरा, वियना सम्मेलन में आस्ट्रिया के चांसलर मेटरनिख ने अपनी विलक्षण कूटनीति द्वारा यूरोपीय राष्ट्रों को अत्यधिक प्रभावित किया था। मेटरनिख 1815 से 1848 तक आस्ट्रिया का चान्सलर रहा तथा इस काल में वह यूरोप का सबसे अधिक प्रभावशाली एवं शक्ति सम्पन्न राजनीतिज्ञ रहा। इसलिये आस्ट्रिया यूरोपीय राज्यों में अग्रणी माना जाता था। इसके अतिरिक्त वियना सम्मेलन के निर्णयों के फलस्वरूप आस्ट्रिया का साम्राज्य भी अत्यधिक विस्तृत हो जाने से उसका महत्व बढ़ गया था।

आस्ट्रिया के साम्राज्य का स्वरूप—आस्ट्रिया का साम्राज्य, हंगरी और आस्ट्रिया दो राज्यों से मिलकर बना था तथा इस पर हेप्सबर्ग राजवंश का शासन था। यह साम्राज्य विभिन्न जातियों एवं नस्लों का समूह था। साम्राज्य के पश्चिमी भाग में, जो आस्ट्रिया कहलाता था, मुख्यतः जर्मन जाति के लोग रहते थे। इसलिए सम्पूर्ण साम्राज्य की भाषा जर्मन ही थी तथा साम्राज्य की विभिन्न जातियों के लोगों को बाध्य होकर इसी भाषा का प्रयोग करना पड़ता था। साम्राज्य के उत्तर में बोहिमिया का राज्य था, जहां अधिकांश स्लव जाति के लोग रहते थे। पूर्व में हंगरी का राज्य था, जहाँ मेग्यार जाति के लोग रहते थे, तथा दक्षिण में लोम्बर्डी-वेनेशिया का राज्य था जहाँ इटालियन लोग रहते थे। इसके अतिरिक्त चेक, पोल, रूमानियन आदि जातियों के लोग भी साम्राज्य के विभिन्न भागों में रहते थे। इन जातियों की भाषा, संस्कृत, रहन-सहन और धर्म में घोर भिन्नता थी।

सम्पूर्ण यूरोप में आस्ट्रिया ही एक ऐसा साम्राज्य था जहाँ फ्रांसीसी क्रान्ति द्वारा उत्पन्न नवीन प्रवृत्तियों का कोई प्रभाव नहीं पड़ा था। अभी भी हेप्सबर्ग साम्राज्य की शासन प्रणाली मध्यकालीन मान्यताओं पर आधारित थी। सामन्तवादी

व्यवस्था का बोलबाला था। साम्राज्य में विशेषाधिकार युक्त कुलीनों एवं पादरियों की तूती बोलती थी। चर्च को अत्यधिक अधिकार प्राप्त थे तथा सर्वसाधारण वर्ग का सदैव की भांति शोषण हो रहा था। शासन पूर्ण रूप से निरंकुश था तथा सम्राट ही समस्त अधिकारों एवं शक्तियों का स्रोत था। सम्राट के अधिकारों पर कोई बन्धन नहीं था जबकि जनता अधिकार विहीन थी। साम्राज्य की आर्थिक व्यवस्था कृषि पर आधारित थी फिर भी कृषकों की दशा बड़ी शोचनीय थी। शहरों में रहने वाले व्यापारी, वकील, शिक्षक आदि मध्यम वर्ग के लोग सामान्यतः साम्राज्य के समर्थक थे। फ्रांसीसी क्रान्ति के समय साम्राज्य में इतने कठोर प्रतिबन्ध लगा दिये गये थे कि वहाँ किसी भी प्रकार से क्रान्तिकारी प्रवृत्तियों का प्रचार न हो सके। साम्राज्य में गुप्तचरों एवं पुलिस चौकियों का जाल बिछा हुआ था तथा सीमाओं पर ऐसा विशेष प्रबन्ध कर दिया गया था कि कहीं से क्रान्तिकारी प्रवृत्तियों का प्रवेश न हो सके। किन्तु आस्ट्रियन साम्राज्य के इटली व जर्मन राज्यों में राष्ट्रीयता का अधिक प्रभाव था।

सम्राट फ्रांसिस प्रथम (1792–1835) कोई विशेष योग्य शासक नहीं था। यद्यपि शासन की सम्पूर्ण सत्ता उसी के हाथ में थी, फिर भी वास्तविक शासन संचालन का कार्य नौकरशाही के हाथ में था। सम्राट फ्रांसिस ने अपने शासन के प्रथम 20 वर्ष नेपोलियन के विरुद्ध संघर्ष करने में ही व्यतीत किये थे और इसीलिये इस संघर्ष ने उसे अनुदार बना दिया था। वह साम्राज्य की व्यवस्था में किसी प्रकार का सुधार करके परिवर्तन करने का घोर विरोधी था। ऐसी परिस्थितियों में सम्राट के चान्सलर मेटरनिख को साम्राज्य में सर्वेसर्वा बनने का स्वर्ण अवसर मिल गया।

मेटरनिख (1809–1848)—काउंट क्लीमेंस मेटरनिख का जन्म 15 मई 1773 को आस्ट्रिया के कोबलेन्ज (Coblenz) नगर में हुआ था। उसका पिता पवित्र रोमन सम्राट के यहाँ उच्चाधिकारी था तथा राइन नदी के किनारे पश्चिमी जर्मनी में उसके अधीन एक विशाल जागीर भी थी, जिसे नेपोलियन ने जर्मनी की पुनर्व्यवस्था के समय जब्त कर ली थी। जब फ्रांस में क्रान्ति चल रही थी उस समय वह स्ट्रासबर्ग विश्वविद्यालय में शिक्षा ग्रहण कर रहा था। आतंक एवं अत्याचारों से पीड़ित कुलीनों की करुण गाथाएँ सुनकर उसके मन में क्रान्ति के प्रति घृणा उत्पन्न हो गयी तथा इसके 14 वर्ष बाद जब नेपोलियन ने उसकी पैतृक जागीर छीन ली थी तो वह नेपोलियन तथा क्रान्ति का कट्टर शत्रु बन गया। मेटरनिख अत्यन्त ही व्यवहारकुशल एवं आकर्षक व्यक्तित्व वाला पुरुष था। आस्ट्रियन साम्राज्य के उच्च पदाधिकारी का पुत्र होने के कारण 1795 ई. में उसका विवाह आस्ट्रिया के चान्सलर प्रिंस कॉनिज (Kaunitz) की पौत्री से हो गया। इस वैवाहिक सम्बन्ध से राजनैतिक एवं सामाजिक क्षेत्र में उसकी प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई। 1801 से 1806 ई. के बीच उसे रूस, प्रशा और फ्रांस में राजदूत नियुक्त किया गया। परिणामस्वरूप

उसे यूरोप के विभिन्न शासकों एवं राजनीतिज्ञों से सम्पर्क स्थापित करने तथा उनसे परिचय बढ़ाने का अवसर मिल गया। इसके साथ ही उसे राजनयिक क्षेत्र का अनुभव प्राप्त हुआ तथा तात्कालीन यूरोप की राजनीति का भी सूक्ष्म ज्ञान हो गया। 1809 में वह आस्ट्रिया का चान्सलर (प्रधान मन्त्री) नियुक्त किया गया। नेपोलियन के विरुद्ध आस्ट्रिया की रक्षा करने में उसने अपनी राजनयिक कुशलता का परिचय दिया तथा वियना सम्मेलन उसकी महान उपलब्धि थी।

सम्राट फ्रांसिस प्रथम का उत्तराधिकारी फर्नीनेण्ड (1835–1848) अत्यन्त ही अयोग्य एवं निर्बल शासक था, अतः 1848 ई. तक मेटरनिख आस्ट्रिया का वास्तविक शासक बना रहा। उसका न केवल आस्ट्रिया के शासन पर प्रभाव था बल्कि यूरोपीय राजनीति में भी उसका अद्वितीय प्रभाव था अतः 1815 से 1848 तक के यूरोपीय इतिहास को 'मेटरनिख युग' के नाम से सम्बोधित किया जाता है।

मेटरनिख की प्रणाली—मेटरनिख के हृदय में प्राचीन परम्पराओं के प्रति श्रद्धा थी, इसलिए वह क्रान्तिकारी भावनाओं का कट्टर विरोधी था। फ्रांसीसी क्रान्ति के फलस्वरूप उत्पन्न राष्ट्रीयता एवं उदारवाद दोनों सिद्धान्तों को वह संक्रामक रोग समझता था। उसकी यह दृढ़ मान्यता थी कि यदि इन विचारों को (राष्ट्रीयता एवं उदारवाद) विकसित होने का अवसर दिया गया तो यह रोग सम्पूर्ण यूरोप में फैल जायेगा जिससे सम्पूर्ण यूरोप ही नष्ट हो जायेगा। उसे प्रजातन्त्र के विचार एक ज्वालामुखी की अग्नि की भांति दिखाई देते थे, जिसका दमन आवश्यक था। अतः यूरोप में शान्ति बनाये रखने के लिये तथा आस्ट्रिया के साम्राज्य को सुरक्षित रखने के लिए उसने प्रतिक्रियावादी अर्थात् अपरिवर्तनशील नीति को अपनाया। उसने अपने साम्राज्य में ऐसी व्यवस्था स्थापित की जिससे कि क्रान्तिजनिक विचारों का प्रवेश असम्भव हो जाय। उसने तो स्पष्ट कहा था कि, "हमारा निश्चित मत है कि यदि शासन को किसी प्रकार की मांग स्वीकार करनी पड़े तो वह राज्य के अस्तित्व के लिए घातक होगी।" इसलिए वह आस्ट्रिया और यूरोप में 'यथा स्थिति' बनाये रखना चाहता था। आस्ट्रिया का सम्राट फ्रांसिस भी उसके इन विचारों से सहमत था कि, "शासन करो, किन्तु कोई परिवर्तन मत करो।" वह आस्ट्रिया में ऐसी स्थिति उत्पन्न होने देना नहीं चाहता था जिससे कि साम्राज्य में नये विचारों का प्रादुर्भाव हो जो यथा स्थिति में परिवर्तन करने की मांग करें। इसलिये उसने निरंकुश राजतन्त्र को सदैव सुदृढ़ बनाने का प्रयत्न किया तथा किसी भी प्रकार के परिवर्तन या सुधारों का विरोध किया गया।

मेटरनिख की यह निश्चित मान्यता थी की आंतरिक एवं अन्तर्राष्ट्रीय विषयों को एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। किसी एक राज्य में जो कुछ घटित होता है वह दूसरे राज्य के लिए कुछ-न-कुछ महत्व अवश्य रखता है। इसलिए दूसरे राज्य को यह अधिकार है कि अपने हितों की रक्षा के लिए उस राज्य में हस्तक्षेप

करे। इसी सिद्धान्त के आधार पर ही उसने 'यूरोप की संयुक्त व्यवस्था' की स्थापना की तथा 'पवित्र मैत्री' का समर्थन किया। इन्हीं के माध्यम से उसने यूरोप के विभिन्न भागों में क्रान्ति का दमन करने की चेष्टा की। मेटरनिख इस तथ्य से भी भली-भांति परिचित था कि सम्पूर्ण यूरोप 'क्रान्तिकारियों' एवं 'प्रतिक्रियावादियों' में विभक्त है और क्रान्ति की अशान्तकारी प्रवृत्तियों के विरुद्ध शक्तिशाली एवं प्रतिक्रियावादी आस्ट्रियन साम्राज्य का 'बांध के रूप में' होना आवश्यक है। इसलिये मेटरनिख ने अपने सम्पूर्ण कार्यकाल में प्रतिक्रियावाद को समस्त यूरोप में प्रभावशाली बनाने का प्रयत्न किया। वह इस बात से भी भलीभांति परिचित था कि आस्ट्रिया की प्रतिक्रियावादी व्यवस्था की रक्षा तभी सम्भव है जबकि इस व्यवस्था को समस्त यूरोप में फैला दिया जाय। इसलिए मेटरनिख ने इस व्यवस्था को आस-पास के राज्यों में थोपने का प्रयत्न किया जिसमें उसे अस्थायी असफलता भी मिली। जर्मनी में उसने यह कार्य वहां की संसद एवं विभिन्न राज्यों की सरकारों द्वारा पूर्ण किया तथा इटली में प्रत्यक्ष हस्तक्षेप एवं संधियों द्वारा पूर्ण किया। इटली के शासकों को उसने यह शर्त स्वीकार करने के लिये बाध्य किया कि वे अपने राज्य में आस्ट्रिया विरोधी नीति नहीं अपनायेंगे। इस प्रकार क्रान्ति की प्रवृत्तियों को रोकने के लिये तथा यूरोप में यथास्थिति बनाये रखने के लिये उसने जिस प्रणाली का अनुसरण किया उसे 'मेटरनिख प्रणाली' कहा जाता है। अपनी प्रणाली अथवा नीति को सफल बनाने के लिये उसने शक्ति का नहीं वरन् कूटनीति का सहारा लिया था। इसलिये नेपोलियन का युग जहाँ अस्त्र-शस्त्रों का युग था वहाँ मेटरनिख का युग कूटनीति एवं मैत्री का युग था। जिस प्रकार नेपोलियन ने सम्पूर्ण यूरोप पर 15 वर्ष तक अपनी धाक जमाये रखी, उसी प्रकार मेटरनिख लगभग 40 वर्ष तक यूरोपीय राजनैतिक रंगमंच पर मोहक अभिनय करता रहा। मेटरनिख बड़ा अहंकारी व्यक्ति था जिसकी मान्यता थी कि संसार का भार उसी के कंधे पर है तथा उसका जन्म यूरोप के जर्जरित समाज का उद्धार करने के लिये हुआ है। वह बड़े ही अहंकारयुक्त शब्दों में कहा करता था, "मेरी स्थिति में यह एक विलक्षण बात है कि जहाँ भी मैं होता हूँ, सभी की आशाएँ एवं आँखें वहीं लगी रहती हैं। क्या कारण है कि केवल मैं ही सोचता हूँ जबकि अन्य व्यक्ति कुछ भी नहीं सोचते, केवल मैं ही कार्य करता हूँ जबकि अन्य लोग कुछ भी नहीं करते और केवल मैं ही लिखता हूँ क्योंकि अन्य लोग इसके योग्य नहीं हैं।" मेटरनिख की यह दृढ़ मान्यता थी कि उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके रिक्त स्थान की पूर्ति कभी नहीं की जा सकेगी।

मेटरनिख की गृहनीति—वृहत् आस्ट्रियन साम्राज्य में विभिन्न जातियों के लोग रहते थे, जिनकी भाषा, संस्कृति और धर्म परस्पर भिन्न थे। अतः मेटरनिख जानता था कि साम्राज्य का विकास राष्ट्रीय आधार पर कभी सम्भव नहीं हो सकता, क्योंकि यदि राष्ट्रीयता को प्रोत्साहन दिया गया तो साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो जायगा।

अतः ऐसे बहुजातीय साम्राज्य की अखण्डता बनाये रखते हुए शासन करना निश्चित रूप से कठिन कार्य था। इसके अतिरिक्त आस्ट्रिया के साम्राज्य की नींवें खोखली हो चुकी थीं। आस्ट्रिया के सम्राट फ्रांसिस ने एक रूसी राजनयिक से कहा था, "मेरा साम्राज्य एक दीमक लगे हुए भवन के समान है, यदि इसका एक भाग अलग किया जाता है तो उसके साथ उसका कितना भाग गिर जायेगा, यह कहना कठिन है।" अतः ऐसे साम्राज्य को सुरक्षित रखने के लिये निरंकुश एवं प्रतिक्रियावादी नीति अपनाना आवश्यक था। राष्ट्रीयता की भावनाओं को रोकने के लिए, साम्राज्य में रहने वाली विभिन्न जातियों में फूट डालकर शासन करने की प्राचीन नीति अपनाई गई। मेटरनिख की मान्यता थी कि विभिन्न जातियों को एक दूसरे के विरुद्ध भड़का कर उन पर सरकारी नियन्त्रण स्थापित किया जा सकता है। अपनी इस मान्यता के आधार पर उसने बोहिमिया में, जहाँ स्लाव जाति के लोग रहते थे, जर्मन सैनिक टुकड़ियाँ भेजीं; इटली में, जहाँ इटालियन लोग रहते थे हंगरी के मेग्योर सैनिक भेजे तथा हंगरी में जहाँ मेग्योर जाति के लोग रहते थे, इटालियन सैनिक भेजे। मेटरनिख ने अपनी शासकीय अधिकारियों की नियुक्तियाँ भी इसी सिद्धान्त व आधार पर की थीं।

मेटरनिख ने अपने साम्राज्य में पुरातन व्यवस्था को बनाये रखने के लिए यह प्रयत्न किया कि वाह्य देशों में क्रान्तिकारी एवं उदारवादी विचारों का किसी प्रकार से आस्ट्रिया में प्रवेश न हो। इसके लिये उसने समाचार पत्रों, पुस्तकों एवं नाट्यशालाओं पर कड़े प्रतिबन्ध लगाये। विश्वविद्यालय के प्रबुद्ध वर्ग से नये विचार फैलने का भय था, अतः छात्रों एवं प्राध्यापकों के व्याख्यानों पर कड़ी निगाह रखी गई। पाठ्यक्रमों में केवल ऐसी पुस्तकें निर्धारित की गई जो मध्यकालीन संस्थाओं का समर्थन करती हों। उसने ऐसे नियम बनाये जिससे कि विश्वविद्यालय के प्राध्यापकों एवं छात्रों में उदार विचारों का प्रादुर्भाव न हो सके। विद्यार्थियों के संगठन पर पाबन्दी लगा दी गई तथा शिक्षा प्राप्त करने हेतु विदेश जाने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। कोई भी पुस्तक अथवा पत्रिका विदेशों से नहीं मंगाई जा सकती थी। कोई भी व्यक्ति सरकार की अनुमति के बिना देश से बाहर नहीं जा सकता था और न ही विदेशी व्यक्ति साम्राज्य में प्रवेश कर सकता था। साम्राज्य की शिक्षण व्यवस्था प्रतिक्रियावादी धार्मिक संस्थाओं के अधीन कर दी गई।

सम्पूर्ण साम्राज्य में क्रान्ति के समर्थक लोगों का पता लगाने तथा साम्राज्य के निवासियों की गतिविधियों पर नियन्त्रण रखने के लिये गुप्तचरों का जाल बिछा दिया गया। इन गुप्तचरों द्वारा क्रांतिकारियों की गतिविधियों का पता लगता रहता था जिससे उनके विरुद्ध तुरन्त ही कठोर कार्यवाही की जा सकती थी। यदि कहीं भी थोड़ी सी उदारता या क्रान्ति की झलक दिखाई पड़ती वहाँ नियन्त्रण कठोर कर दिया जाता। राष्ट्रीय भावना का दमन करने के लिए नागरिकों को राजनैतिक

अधिकारों से वंचित रखा गया। यद्यपि साम्राज्य में एस्टेट्स (संसद) जैसी कुछ प्रतिनिधि संस्थाएँ थी, किन्तु उनमें केवल कुलीन वर्ग का ही प्रतिनिधित्व था तथा उन्हें किसी प्रकार का राजनैतिक अधिकार नहीं था।

मेटरनिख विदेशी व्यापार को प्रोत्साहित करने का भी पक्षपाती नहीं था। इसके लिये उसने भारी सीमा शुल्क लगाया जिससे आस्ट्रिया का विदेशी व्यापार बिल्कुल नगण्य सा हो गया। यद्यपि आस्ट्रिया कृषि प्रधान देश था, तथापि कृषि की पूर्ण उपेक्षा की गई। आस्ट्रिया में कर प्रणाली इतनी दूषित थी कि अधिकांश करों का भार जनता को ही वहन करना पड़ता था। इस प्रकार मेटरनिख ने साम्राज्य में पुलिस राज्य तथा निरंकुश शासन की स्थापना कर दी। उसकी यह व्यवस्था 1848 तक इतनी सफलतापूर्वक चलती रही कि 1830 की फ्रांसीसी क्रान्ति का आस्ट्रिया पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उसकी समस्त कार्यप्रणाली इस बात में निहित थी कि 'शासन को दृढ़ करो किन्तु उसमें कोई परिवर्तन मत करो।' इस प्रकार मेटरनिख ने आस्ट्रिया के पुनर्निर्माण के लिये रचनात्मक कार्यों की अवहेलना की तथा अपनी सारी शक्ति एवं बुद्धि पुरातन व्यवस्था को बनाये रखने में लगा दी।

मेटरनिख की गृहनीति का प्रभाव—मेटरनिख की अनुदार गृह नीति अन्त में आस्ट्रिया के लिये बड़ी हानिकारक सिद्ध हुई। उसकी अनुदार नीति के फलस्वरूप आस्ट्रिया नवीन विचारों से अछूता रह गया तथा साम्राज्य का जीवन सर्वथा गतिहीन एवं निष्क्रिय हो गया। उसकी नीति से देश में शान्ति अवश्य स्थापित हो गई थी किन्तु प्रशासनिक व्यवस्था अस्त व्यस्त हो गई तथा आर्थिक प्रगति ठप्प हो गई। किसानों की स्थिति दिन प्रतिदिन खराब होती गई तथा दूषित कर प्रणाली से जनता में असंतोष बढ़ता गया। परिणामस्वरूप आस्ट्रिया सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक एवं व्यापारिक क्षेत्र में यूरोप के अन्य देशों से काफी पीछे रह गया। मेटरनिख की नीति का मूल उद्देश्य, राष्ट्रीयता एवं उदारवाद के विचारों को साम्राज्य में प्रविष्ट न होने देना भी अन्त में सफल न हो सका। क्योंकि कठोर प्रतिबन्धों एवं गुप्तचरों के बावजूद नवीन विचारों की पुस्तकें एवं पत्रिकाएँ किसी न किसी तरह शिक्षित वर्ग को प्राप्त होती रहीं जिससे साम्राज्य में क्रान्तिकारी भावनाओं का प्रादुर्भाव होना स्वाभाविक ही था। इन सभी कठिनाइयों एवं अपनी नीति के परिणामों को देखकर भी मेटरनिख ने अपनी नीति के आधारभूत सिद्धान्तों में कोई परिवर्तन नहीं किया जिससे यूरोपीय रंगमंच से 'मेटरनिख युग' का पटाक्षेप हो गया।

मेटरनिख की विदेश नीति—मेटरनिख अत्यन्त ही कुशल एवं दूरदर्शी राजनीतिज्ञ था। वह न केवल आस्ट्रिया को प्रतिक्रियावादी शिकंजे में जकड़ना चाहता था बल्कि समस्त यूरोप में क्रान्ति के नवीन विचारों पर रोक लगाना चाहता था। वह आस्ट्रिया के साम्राज्य को इतना मजबूत एवं प्रभावशाली बना देना चाहता था कि भविष्य में आस्ट्रिया समस्त यूरोप का नेतृत्व करने योग्य हो जाये। इन्हीं

उद्देश्यों को ध्यान मे रखते हुए मेटरनिख ने अपनी विदेश नीति का निर्माण किया था। मेटरनिख की इस विदेशी नीति के परिणामस्वरूप ही आस्ट्रिया का साम्राज्य मध्य यूरोप में अत्यधिक शक्तिशाली वन गया था। अपनी राजनीतिक कुशलता के कारण ही वह 1815 से 1848 ई. तक यूरोपीय राजनीति का सर्वाधिक प्रभावशाली व्यक्ति बना रहा। उसकी विदेश नीति का उद्देश्य यूरोप में शान्ति बनाये रखना था तथा यूरोप की व्यवस्था को बनाये रखने के लिये वह आस्ट्रिया को आवश्यक मानता था और आस्ट्रियन साम्राज्य के स्थायित्व के लिए वह यूरोपीय राज्यों के सहयोग को भी आवश्यक मानता था। इसलिए ए. जी. पी. टेलर ने अपनी पुस्तक 'द हेप्सवर्ग मोनार्की' में लिखा है कि, "यूरोप के लिये आस्ट्रिया आवश्यक था तथा आस्ट्रिया के लिये यूरोप आवश्यक था।" इसके अतिरिक्त मेटरनिख आस्ट्रिया की प्रधानता को बनाये रखने के लिये यूरोप में शक्ति सन्तुलन को भी बनाये रखना चाहता था।

मेटरनिख और नेपोलियन—मेटरनिख ने एक वार कहा था कि "यदि फ्रांस को जुखाम होता है तो समस्त यूरोप छींकने लगता है।" अतः स्पष्ट है कि वह नेपोलियन की शक्ति से परिचित था। वह यह भी जानता था कि रूस का जार आस्ट्रिया का प्रवल विरोधी है। इसलिये उसने रूस के प्रति इस प्रकार की नीति अपनाई कि रूस और नेपोलियन के बीच संघर्ष हो, ताकि दोनों की शक्ति क्षीण हो जाये और आस्ट्रिया यूरोप का शक्तिशाली राज्य बना रहे। अतः उसने नेपोलियन की शक्ति को परास्त करने के लिये रूस को आगे कर दिया और स्वयं रूस के विरुद्ध तैयारी करने लगा। 1812 में जब नेपोलियन ने रूस पर आक्रमण किया तब मेटरनिख ने रूस के जार को यह आश्वासन दिया कि वह किसी पक्ष की ओर से युद्ध में भाग नहीं लेगा, किन्तु दूसरी ओर उसने नेपोलियन की सहायता के लिये अपनी सेनाओं को तैयार रखा। वस्तुतः उसे रूस की बढ़ती हुई शक्ति से भय था, अतः उसने रूस की शक्ति को सीमित करने का प्रयत्न किया। मेटरनिख उसी पक्ष की सहायता करने को तैयार होता था जिससे आस्ट्रिया को लाभ हो सके। इसलिये वह सदैव विजयी दल को सहायता देने को तैयार हो जाता था। नेपोलियन के विरुद्ध मित्र राष्ट्रों का सशक्त गुट देखकर उसने लाउपजिग के युद्ध में मित्र राष्ट्रों का साथ दिया तथा नेपोलियन को परास्त करने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की जिससे नेपोलियन को परास्त करने का श्रेय, जो रूस को प्राप्त होने वाला था, स्वयं ने प्राप्त कर लिया। इसलिये वियना सम्मेलन के सभी प्रतिनिधि किसी भी महत्वपूर्ण निर्णय के लिये मेटरनिख की ओर देखते थे।

मेटरनिख और वियना सम्मेलन—जब नेपोलियन को पराजित करने का श्रेय आस्ट्रिया को प्राप्त हो गया तो वियना सम्मेलन में उसे यूरोप पर अपना प्रमुत्व स्थापित करने का स्वर्ण अवसर भी प्राप्त हो गया। नेपोलियन के पतन के पश्चात्

उत्पन्न होने वाली समस्याओं पर विचार करने के लिये उसने आस्ट्रिया की राजधानी वियना में यूरोप के शासकों एवं राजनीतिज्ञों का एक सम्मेलन आयोजित किया तथा अपने प्रभावशाली व्यक्तित्व से आस्ट्रिया का यह चान्सलर इस सम्मेलन का अध्यक्ष बन गया। मेटरनिख जानता था कि यदि क्रान्ति से उत्पन्न नवीन प्रवृतियों-स्वतन्त्रता और समानता के सिद्धान्तों का विकास होता रहा तो इसका प्रभाव आस्ट्रिया पर भी पड़ सकता है। इसलिये उसने वियना सम्मेलन में बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। निरंकुशता एवं न्यायता के सिद्धान्तों पर बल देते हुए उसने यूरोप में शक्ति संतुलन का भी ध्यान रखा और साथ में ऐसी नीति का अवलम्बन किया जिससे कि बड़े राष्ट्रों के स्वार्थों की भी पूर्ति हो सके। क्योंकि वह जानता था कि बड़े राष्ट्रों में एकता बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि उनके स्वार्थों की पूर्ति में कोई रुकावट न आये। मेटरनिख की कूटनीति का ही परिणाम था कि फ्रांस की सीमाओं को सीमित कर दिया गया तथा आस्ट्रिया की सीमा को इस प्रकार व्यवस्थित किया गया कि फ्रांस के क्रान्तिकारी विचारों का आस्ट्रिया की सीमा में प्रवेश न हो सके। उसने यूरोप के अधिकांश राज्यों की सीमाओं को पूर्ववत् रखा किन्तु आस्ट्रिया की सीमाओं में अप्रत्याशित वृद्धि की। रूस के जार अलेक्जेण्डर प्रथम तथा प्रशा के सम्राट पर उसका जादू छाया रहा। वियना सम्मेलन में उसने जर्मन राज्य का संघ बनाया किन्तु इस संघ का प्रधान पद उसने आस्ट्रिया के सम्राट को दिलवाया। वियना सम्मेलन के निर्णयों ने मेटरनिख को काफी अंशों में प्रभावित किया जिससे यूरोप के सभी कूटनीतिज्ञ आस्ट्रिया को बड़ी प्रतिष्ठित दृष्टि से देखने लगे। मेटरनिख ने यह स्थिति, वियना सम्मेलन में अपने प्रभाव से अर्जित की थी।

मेटरनिख और यूरोप की संयुक्त व्यवस्था—वियना कांग्रेस के निर्णयों को स्थायित्व प्रदान करने के लिये मेटरनिख ने यूरोप की संयुक्त व्यवस्था स्थापित की। पवित्र मैत्री का उसने बाह्य रूप से समर्थन करके रूस का सहयोग प्राप्त कर लिया। चतुर्राष्ट्र मैत्री का जन्मदाता स्वयं मेटरनिख था, जिसमें कहा गया था कि यूरोप में शान्ति और व्यवस्था बनाये रखने के लिए, संधि पर हस्ताक्षर करने वाले चारों राष्ट्र रूस, प्रशा, आस्ट्रिया व इंगलैण्ड समय-समय पर मिला करेंगे। इसी को यूरोप की संयुक्त व्यवस्था कहा गया। इस व्यवस्था को स्थापित करके मेटरनिख ने यूरोप की सभी बड़ी शक्तियों को एक सूत्र में बांध दिया तथा यूरोपीय राजनीति पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। वस्तुतः यूरोप की संयुक्त व्यवस्था को कार्य रूप में परिणित करना मेटरनिख की अद्भुत कार्यकुशलता थी। जिस प्रतिक्रियावादी कुचक्र से उसने आस्ट्रिया में शासन व्यवस्था स्थापित की थी, उसी का प्रयोग उसने अन्य राज्यों में भी करवाया। इस व्यवस्था के अन्तर्गत जितने भी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुए उनमें राष्ट्रीयता, उदारवाद एवं संविधानवाद का दमन करने का निश्चय दोहराया गया। यदि कहीं भी क्रान्तिकारी भावनाएँ विकसित होती तो वह उन्हें संयुक्त व्यवस्था के सदस्यों की बैठक के निर्णयों द्वारा उनका दमन करता। संयुक्त

व्यवस्था के अन्तर्गत हुए ट्रापो सम्मेलन (1820 ई.) में यह निश्चित कर दिया गया कि जनता अपने राजा को विवश करके उसके कोई अधिकार नहीं छीन सकती। इसके साथ ही यह भी तय किया गया कि यदि पड़ोसी राज्य में राष्ट्रीय आन्दोलन होने लगे, जिससे पड़ोसी राज्य को खतरा उत्पन्न हो जाय तो पड़ोसी राज्य को अपनी सेनाएँ भेजकर आन्दोलन का दमन करने का अधिकार होगा। इसी ट्रापो सिद्धान्त के अन्तर्गत, जब 1820 में नेपिल्स में विद्रोह हुआ, मेटरनिख ने अपनी 80,000 सेना भेजकर बड़ी निर्दयता से विद्रोह को कुचल दिया। इसी प्रकार वेरोना सम्मेलन (1822 ई.) में निर्णय लेकर फ्रांसीसी सेना ने स्पेन की क्रान्ति का दमन कर दिया। इस व्यवस्था द्वारा मेटरनिख ने युद्ध से त्रस्त यूरोप को शान्ति देने की चेष्टा की जिसमें वह काफी अंशों तक सफल भी हुआ तथा यूरोप में 30 वर्ष तक शांति रह सकी। यह दूसरी बात है कि ब्रिटेन के असहयोगी रुख के कारण अन्त में संयुक्त व्यवस्था का विघटन हो गया, फिर भी मेटरनिख द्वारा प्रतिपादित इस संयुक्त व्यवस्था की महत्वता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

मेटरनिख और जर्मनी—नेपोलियन के युद्धों ने जर्मनी को छिन्न-भिन्न कर दिया था। फिर भी वियना सम्मेलन में मेटरनिख ने, अपने समर्थक शासकों की सहायता से जर्मनी को 39 राज्यों का एक संघ बना दिया तथा आस्ट्रिया के सम्राट को इस संघ का अध्यक्ष बनवा दिया। जर्मन संघीय परिषद् में जर्मनी के शासकों द्वारा प्रतिनिधि भेजने की व्यवस्था की गई थी। ये प्रतिनिधि प्रतिक्रियावादी नीति के प्रबल पोषक होते थे। इस प्रकार मेटरनिख ने जर्मनी में स्वेच्छाचारी निरंकुश शासन प्रणाली को पुष्ट करने का प्रयास किया। 1815 ई. के पश्चात् जर्मनी के राज्यों में राष्ट्रीयता की भावनाएँ तेजी से बढ़ रही थी तथा वैधानिक शासन की स्थापना का प्रयत्न होने लगा। मेटरनिख इन भावनाओं का दमन करना आवश्यक समझता था। मेटरनिख ने एक्स-ला-शैपल कांग्रेस में राष्ट्रीय भावनाओं के प्रचारकों का दमन करने की अनुमति प्राप्त कर ली। 1819 में कात्सेबू (Kotzbue) की हत्या कर मेटरनिख ने पूरा-पूरा लाभ उठाया तथा जर्मनी संघीय परिषद् का अधिवेशन बुलाकर, जर्मन राज्यों के प्रमुख प्रतिनिधियों से, अपनी इच्छानुसार दमनकारी कानून 'कार्लसंवाद के आदेश' की स्वीकृति प्राप्त करली। इस आदेश द्वारा जर्मनी में विद्यार्थियों एवं आमोद-प्रमोद की संस्थाओं पर प्रतिबन्ध लगा दिये गये। विश्वविद्यालयों पर सरकारी नियन्त्रण कठोर कर दिया गया, राजनैतिक सभाओं पर पाबन्दी लगा दी तथा समाचार पत्रों की स्वतन्त्रता को समाप्त कर दिया गया। सम्पूर्ण जर्मनी में गुप्तचरों का जाल बिछा दिया तथा आस्ट्रिया के समान ही जर्मनी में कठोर दमनकारी नीति का अवलम्बन किया गया। 1830 की क्रान्ति तथा इटली एवं पौलेण्ड के विद्रोह के परिणामस्वरूप जर्मनी में पुन: वैधानिक सुधारों की मांग बलवती होने लगी। तब मेटरनिख ने जर्मनी संघीय परिषद् का अधिवेशन बुलाकर (1832 ई.)

जर्मनी राज्यों में आस्ट्रिया के हस्तक्षेप करने के अधिकारों में वृद्धि करवा ली तथा 'कार्ल्सबाद के आदेश' को पुनः दोहराया गया । मुन्खेनग्राटस (Munchengratz) में रूस, प्रशा और आस्ट्रिया के सम्राटों ने जर्मनी में राष्ट्रवादी आन्दोलन को कुचलने तथा फ्रांस व इंग्लैण्ड की लोकतांत्रिक प्रवृत्तियों का विरोध करने का निश्चय किया । इस प्रकार जर्मन संघीय परिषद् का मुख्य संचालक मेटरनिख, जर्मनी में अपनी प्रतिक्रियावादी नीति का पूर्ववत् संचालन करता रहा । किन्तु मेटरनिख इन प्रवृत्तियों को अधिक समय तक नहीं रोक सका । जर्मनी में राष्ट्रीयता की भावना बाधा प्राप्त प्रबल स्रोत की तरह बढ़ने लगी । जर्मनी के तात्कालिक लेखकों, कवियों एवं दार्शनिकों ने जर्मन जाति को श्रेष्ठ बताया तथा उन्होंने जर्मन जाति के प्राचीन गौरव पर प्रकाश डाला, जिससे जर्मनी में राष्ट्रीयता की भावनाओं को नवजीवन प्राप्त हुआ ।

जर्मनी के विभिन्न राज्यों में बंटा हुआ होने के कारण व्यापारियों को बहुत से स्थानों पर सीमा शुल्क देने पड़ते थे जिससे व्यापार में बड़ी असुविधा होती थी । अत: प्रशा के नेतृत्व में एक सीमा शुल्क संघ अथवा जौलवरिन (Zoliverin) का निर्माण किया गया । 1844 तक कुछ जर्मन राज्यों को छोड़कर अधिकांश जर्मन राज्य इस संघ में सम्मिलित हो गये । इस संघ के निर्माण से जर्मनी के व्यापार की अत्यधिक उन्नति हुई और साथ ही इस संघ के राजनैतिक परिणाम भी अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध हुए । इस आर्थिक संघ द्वारा जर्मनी के एकीकरण का मार्ग प्रशस्त हुआ तथा जर्मनी में मेटरनिख के उद्देश्य विफल हो गये; जैसा कि मेटरनिख ने स्वयं स्वीकार किया था कि, "जर्मन डायट (परिषद) के 17 मतों में से अब केवल 7 मत प्रशा के प्रभाव से मुक्त हैं ।" इस आर्थिक संघ के कारण प्रशा का सम्मान बढ़ गया तथा मेटरनिख के लिए प्रशा के मामले में अधिक हस्तक्षेप करना सम्भव नहीं रहा । अतः समय की गति के साथ प्रशा प्रगति की सीढ़ियाँ पार करता गया जबकि कठोर प्रतिक्रियावादी कानूनों के कारण आस्ट्रिया प्रगति की दौड़ में पीछे रह गया । फलस्वरूप मेटरनिख के पतन के बाद प्रशा इतना शक्तिशाली हो गया कि यूरोपीय राजनीति का नेतृत्व, जो मेटरनिख के हाथ में था, प्रशा ने ग्रहण कर लिया ।

मेटरनिख और इटली—नेपोलियन ने इटली को संगठित कर आंशिक रूप से एकता के सूत्र में बांध दिया था । किन्तु नेपोलियन के पतन के पश्चात् वियना कांग्रेस ने, मेटरनिख के प्रभाव के कारण इटली को पुनः छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित कर वहाँ प्राचीन राजवंशों की पुनः स्थापना कर दी । लोम्बार्डी और वेनेशिया पर तो आस्ट्रिया का प्रत्यक्ष शासन स्थापित हो गया तथा अन्य छोटे राज्यों में आस्ट्रिया का प्रभाव स्थापित हो गया । इस प्रकार मेटरनिख ने वियना सम्मेलन से ही इटली की राष्ट्रीय भावनाओं का दमन करने का निर्णय ले लिया था । आस्ट्रिया द्वारा शासित क्षेत्रों में मेटरनिख का क्रूर, निरंकुश एवं स्वेच्छाचारी शासन स्थापित हो गया । जनता

पर भारी करों का बोझ लाद दिया गया तथा विचारों की अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता भी समाप्त करदी। मेटरनिख की नीति का अनुसरण करते हुए परमा, मोडेना, टस्कनी, नेपिल्स व पोप के राज्य में भी निरंकुश एवं स्वेच्छाचारी शासन स्थापित किया गया। पीडमान्ट और नेपिल्स में प्रतिक्रियावादी शासन के विरुद्ध विद्रोह हुए किन्तु मेटरनिख ने रूस और प्रशा को अपनी ओर मिला लिया तथा ट्रापो सम्मेलन से अनुमति प्राप्त कर इन विद्रोहों का कठोरता पूर्वक दमन कर दिया तथा जहाँ नये संविधान बनाये गये थे, उन्हें भंग कर दिया। 1830 में फ्रांस की क्रान्ति के फलस्वरूप मोडेना में विद्रोह की आग भड़क उठी, किन्तु मेटरनिख ने तुरन्त वहाँ सेना भेजकर विद्रोहियों को कुचल दिया। 1830 के पश्चात् 'युवा इटली' नामक संगठन ने देश को स्वतन्त्र कराने हेतु राष्ट्रीयता की भावनाओं में प्राण फूंकने का कार्य आरम्भ किया, किन्तु छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित होने के कारण इटली में मेटरनिख अपनी शक्ति और प्रभाव को बनाये रखने में सफल रहा। 1848 तक इटली की सुरक्षा, मेटरनिख की कूटनीति का प्रमुख अंग बनी रही तथा आस्ट्रिया की अधिकांश सैनिक शक्ति इटली के उत्तरी भाग में केन्द्रित रही। मेटरनिख इस तथ्य से सर्वथा अनभिज्ञ रहा कि जन आन्दोलन की आग को दमन की नीति से शांत नहीं किया जा सकता तथा जन आन्दोलन उस गेंद की तरह है जिसे जितना अधिक दबाव से जमीन पर पटका जायेगा वह उतनी ही ऊपर उछलेगी। अतः दमन की नीति के कारण इटली में राष्ट्रीयता की भावना दिन-प्रतिदिन बलवती होने लगी। आस्ट्रिया की सेना को इटली से निकाल बाहर करने के लिये आन्दोलन हुए जिसे मेटरनिख दबाने में असफल रहा तथा मेटरनिख के पतन के कुछ ही वर्षो बाद इटली आस्ट्रिया के प्रभाव से मुक्त हो गया।

स्पेन, यूनान एवं रूस के प्रति मेटरनिख की नीति—मेटरनिख ने आस्ट्रिया, प्रशा और इटली की भांति स्पेन में भी प्रतिक्रियावादी नीति का प्रचार किया। स्पेन के शासक फर्डीनेण्ड से मेटरनिख ने मित्रता करली तथा वहाँ भी राष्ट्रीय भावनाओं का दमन करना आरम्भ कर दिया, विरोधियों को मौत के घाट उतार दिया गया तथा स्पेन में निरंकुश एवं स्वेच्छाचरी शासन स्थापित कर दिया गया। किन्तु 1820 में पुनः वहाँ सैनिक क्रान्ति हो गई जिसके परिणामस्वरूप सम्राट फर्डीनेण्ड को गद्दी से उतार कर 1812 ई. का स्पेनिश संविधान लागू किया गया।

यूनान ने टर्की के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। इस विद्रोह के प्रति भी मेटरनिख का प्रतिक्रियावादी रुख रहा। यूरोप के अधिकांश देश यूनानियों के पक्ष में थे तथा रूस भी यूनान को टर्की के विरुद्ध सहायता देना चाहता था; किन्तु आस्ट्रिया ने इसका विरोध किया। मेटरनिख के इस विरोध के कारण किसी ने भी यूनानियों की कोई सहायता नहीं की। फलतः टर्की ने यूनान के इस विद्रोह का बड़ी निर्दयता से

दमन कर दिया। मेटरनिख जानता था कि यदि टर्की के विरुद्ध यूनान को सहायता दी गई तो यूनान का राष्ट्रीय आन्दोलन सफल हो जायेगा।

रूस का जार अलेक्जेण्डर प्रथम आरम्भ में उदारवादी था किन्तु 1815 के बाद धीरे-धीरे वह मेटरनिख के प्रभाव में आ गया। ट्रापो सम्मेलन में तो उसने स्पष्ट रूप से घोषणा कर दी थी कि वह मेटरनिख का अनुयायी है। उसने मेटरनिख को वचन दिया कि वह प्रत्येक मामले में उसका समर्थन करेगा। इस प्रकार रूस का जार मेटरनिख के प्रभाव में आकर घोर प्रतिक्रियावादी हो गया। मेटरनिख के प्रभाव के कारण ही रूस, यूनानियों के राष्ट्रीय आन्दोलन में, चाहते हुए भी सहायता नहीं दे सका।

मेटरनिख और इंगलैण्ड—नेपोलियन को परास्त करने में मित्र राष्ट्रों का पारस्परिक सहयोग रहा था। अतः वियना सम्मेलन में मेटरनिख एवं इङ्गलैंड के विदेश मन्त्री कैसलेरे एक दूसरे के सहयोगी रहे। यूरोप में यथा स्थिति बनाये रखने हेतु मेटरनिख ने चतुर्राष्ट्र मैत्री का प्रतिपादन किया। किन्तु इस व्यवस्था के अन्तर्गत मेटरनिख दूसरे राज्यों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप के सिद्धान्त का प्रबल समर्थक था, जबकि इङ्गलैंड ने इस सिद्धान्त का इस आधार पर विरोध किया कि किसी राज्य के आन्तरिक मामले में सशस्त्र हस्तक्षेप करने से उसकी संप्रभुता की उचित मान्यताएं नष्ट हो जायेगी। अतः इंगलैण्ड दूसरे राज्यों के अतिरिक्त मामलों में अहस्तक्षेप के सिद्धान्त का प्रबल समर्थक था। संयुक्त व्यवस्था के प्रथम सम्मेलन, एक्स-ला-शैपल में ही आस्ट्रिया एवं इंगलैण्ड के मतभेद उभर कर सामने आ गये। इन्हीं मतभेदों के परिणामस्वरूप फ्रांस द्वारा स्पेन में हस्तक्षेप करने का तथा स्पेन द्वारा अपने दक्षिणी अमेरिका के उपनिवेशों पर पुनः अधिकार करने का ब्रिटेन ने डटकर विरोध किया। यूरोप की महाशक्तियों में इन मतभेदों के कारण चतुर्राष्ट्र मैत्री का विघटन अवश्यंभावी हो गया था। ब्रिटेन के इस विरोध के बावजूद मेटरनिख ने मार्च 1821 में नेपिल्स के विद्रोह का दमन करने के लिये अपनी सेना भेजी, जिसने वहाँ विद्रोहियों का दमन कर पुनः निरंकुश शासन स्थापित कर दिया। इस प्रकार ब्रिटेन मेटरनिख की प्रतिक्रियावादी नीति का विरोध करता रहा और मेटरनिख, जहाँ भी उसे अवसर मिला, राष्ट्रीय आन्दोलनों को कुचलने में तत्पर रहा। परिणामस्वरूप ब्रिटेन को संयुक्त व्यवस्था से अलग होना पड़ा।

मेटरनिख और यूरोपीय राजनीति—मेटरनिख, संयुक्त व्यवस्था के माध्यम से यूरोप में अपनी प्रतिक्रियावादी नीति को कार्यान्वित करता रहा, किन्तु वेरोना सम्मेलन में इङ्गलैंड के विरोधी रुख के कारण संयुक्त व्यवस्था टूटने लगी। 1823 में मुनरो सिद्धान्त की घोषणा तथा दक्षिणी अमेरिका के उपनिवेशों द्वारा स्वतन्त्रता की घोषणा के परिणामस्वरूप मेटरनिख की प्रतिक्रियावादी नीति को गहरा आघात पहुँचा। 1830 की क्रान्ति से तो वह अपना सन्तुलन ही खो बैठा। इस क्रान्ति के

फलस्वरूप समस्त यूरोप परस्पर विरोधी दो गुटों में विभाजित हो गया। एक तरफ ब्रिटेन और फ्रांस थे, जो सदैव क्रान्तिकारी विचारों के केन्द्र रहे हैं, तथा दूसरी ओर रूस, प्रशा और आस्ट्रिया थे, जो सदैव प्रतिक्रियावादी नीति के केन्द्र रहे थे। अतः फ्रांस और ब्रिटेन तो उदारवादी एवं वैधानिक शासन का समर्थन करते थे तथा दूसरे राज्यों के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप की नीति का विरोध करते थे। इसके विपरीत मेटरनिख के नेतृत्व में पूर्वी यूरोप के राज्य स्वेच्छाचारी राजतन्त्र के समर्थक थे तथा उदारवाद तथा वैधानिक शासन की मांग का कठोरता से दमन करना चाहते थे। 1830 में जब वेल्जियम में विद्रोह हुआ तो मेटरनिख ने इस विद्रोह को दवाना चाहा, किन्तु इसी समय पोलैंड में विद्रोह हो गया, जिससे मेटरनिख कुछ भी नहीं कर सका। फ्रांस और इङ्गलैंड ने वेल्जियम को सहयोग दिया जिससे 1833 ई. में वेल्जियम का स्वतन्त्र राज्य स्थापित हो गया और इस प्रकार वियना कांग्रेस द्वारा स्थापित व्यवस्था का विघटन आरम्भ हो गया। वेल्जियम में मेटरनिख की प्रतिक्रियावादी नीति के विरुद्ध लोकतन्त्र एवं राष्ट्रीयता की विजय हो गई। इसी प्रकार मेटरनिख ने यूनान के स्वतन्त्रता आन्दोलन का भी दमन करना चाहा किन्तु मेटरनिख के विरोध के वावजूद यूनान स्वतन्त्र हो गया। मेटरनिख की जर्मन नीति के कारण भी पश्चिमी देशों में उसका विरोध प्रवल होता जा रहा था। 1834 ई. में ब्रिटेन, फ्रांस, स्पेन और पुर्तगाल ने चतुर्राष्ट्र मैत्री स्थापित की तथा मेटरनिख की निरंकुश एवं प्रतिक्रियावादी नीति को चुनौती दी, किन्तु 1839 में मेहमत अली की शक्ति को दवाने के सम्वन्ध में फ्रांस व ब्रिटेन में मतभेद हो गया। मेहमत अली से अपनी शर्त मनवाने के लिए रूस, प्रशा, आस्ट्रिया से ब्रिटेन ने सहयोग करने का निश्चय किया। यूरोप में पुनः मेटरेनिख का प्रभाव स्पष्ट हो गया। अतः फ्रांस ने ब्रिटेन के विरुद्ध मेटरनिख से मैत्री करने का प्रयत्न किया। इस प्रकार 1848 तक मेटरनिख की कुशल राजनीति के कारण, आस्ट्रिया यूरोपीय राजनैतिक गतिविधियों का केन्द्र वना रहा।

मेटरनिख की विदेश नीति की समीक्षा—मेटरनिख की विदेश नीति का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि मेटरनिख ने अपने देश की प्रतिष्ठा वढ़ाने के लिये एक विशेप विदेश नीति का अवलम्वन किया। वह नेपोलियन को आस्ट्रिया के विकास में वाधक समझता था किन्तु वह केवल आस्ट्रिया की शक्ति से उसे दवाने में असमर्थ था तथा खुले रूप से नेपोलियन की शत्रुता भी मोल लेना नहीं चाहता था। अतः उसने ऐसी नीति अपनाई जिससे कि नेपोलियन का पतन भी हो जाय और आस्ट्रिया को कोई क्षति भी उठानी नहीं पड़े। 1810 से 1813 तक उसने रूस को नेपोलियन के विरुद्ध आगे किया और स्वयं रूस के विरुद्ध योजना वनाता रहा। नेपोलियन को प्रसन्न रखने के लिये तथा उसका विश्वासपात्र बनने के लिये उसने आस्ट्रिया की राजकुमारी का विवाह नेपोलियन से करने हेतु वातचीत की। उसने नेपोलियन को यह वचन भी दिया कि वह रूस के विरुद्ध उसे 30 हजार सैनिकों

की सहायता देगा। दूसरी ओर उसने रूस के जार को यह आश्वासन दिया कि वह उसे खुले रूप से सहायता न देकर गुप्त रूप से सहायता देगा। इस प्रकार वह रूस और फ्रांस दोनों का मित्र भी बना रहा तथा दोनों में संघर्ष करवा कर, दोनों की शक्ति क्षीण करवा कर आस्ट्रिया की प्रधानता स्थापित करने का प्रयत्न किया। जब मित्र राष्ट्रों की शक्ति नेपोलियन शक्ति के समक्ष भारी दिखायी देने लगी तो तुरन्त ही उसने अपनी सेनाओं को लाइपजिग के युद्ध में मित्र राष्ट्रों की ओर से युद्ध करने भेज दिया तथा नेपोलियन को परास्त करने का श्रेय प्राप्त कर लिया। इससे न केवल आस्ट्रिया के सम्मान में वृद्धि हुई वरन् मेटरनिख ने भी यूरोपीय राजनीति में सम्मान प्राप्त किया। नेपोलियन के पतन के पश्चात् यूरोप का पुनर्निर्माण करने हेतु वियना में अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन आयोजित करना तथा उसकी अध्यक्षता ग्रहण करना उसकी कुशल कूटनीति का ही परिणाम था। वियना सम्मेलन में बड़े-बड़े राष्ट्रों के शासक एवं राजनीतिज्ञ उसके इशारे पर नाचने लगे तथा प्रत्येक महत्वपूर्ण निर्णय के लिये वे मेटरनिख की ओर देखने लगे।

वियना सम्मेलन के पश्चात् यूरोप में लोकतांत्रिक एवं उदारवादी आन्दोलनों का दमन करने के लिये मेटरनिख ने 'संयुक्त व्यवस्था' का नेतृत्व किया। उसने अपनी विदेश नीति में सदैव राजसत्तात्मक शासन व्यवस्था को स्थायी रखने के पोषक तत्वों को प्रधानता दी। यदि यूरोप के किसी भाग में इन तत्वों के विरुद्ध थोड़ी भी हलचल होती तो उसे दबाना, मेटरनिख अपना कर्त्तव्य समझता था। दक्षिणी अमेरिका के उपनिवेशों में होने वाले विद्रोह को दबाने के लिये उसने प्रयत्न किया किन्तु मुनरो की घोषणा तथा केनिंग के विरोधीकरण के कारण उसे सफलता नहीं मिली। किसी भी उदारवादी जन आन्दोलन को वह यूरोप की शान्ति भंग करने वाली घटना मानता था। वह रूस और प्रशा की सहायता से अपनी प्रतिक्रियावादी नीति का सफल संचालन करता रहा किन्तु जब यूनान के विद्रोह के समय रूस ने अपना नेतृत्व स्थापित करने का प्रयास किया तो उसने रूस का विरोध करने में भी संकोच नहीं किया। भला मेटरनिख के रहते यूरोपीय राजनीति का नेतृत्व दूसरा राष्ट्र कैसे ग्रहण कर सकता था। वस्तुतः मेटरनिख अपने ही ढंग का एक विलक्षण कूटनीतिज्ञ था।

मेटरनिख का पतन—मेटरनिख ने जिस प्रतिक्रियावादी नीति का सहारा लिया था वह 1848 ई. तक सतत् रूप से चलती रही तथा उत्तरोत्तर मेटरनिख का प्रभाव बढ़ता रहा। निष्क्रियता और स्थिरता आस्ट्रिया के जीवन की विशेषता बनी रही। इस सम्पूर्ण काल में ऐसा प्रतीत होता था कि आस्ट्रिया में पूर्ण एकता है। किन्तु यह सब व्यवस्था दिखावा मात्र थी। मेटरनिख की व्यवस्था में कुछ मौलिक दुर्गुण भी थे। अतः आस्ट्रिया का जन-जीवन भीतर ही भीतर पीड़ित हो रहा था। मेटरनिख की व्यवस्था से क्रान्ति की भावनाएँ दब अवश्य गई थीं, किन्तु धीरे-धीरे वे बलवती भी होती जा रही थीं। 1848 ई. में ये भावनाएँ ज्वालामुखी पर्वत की भाँति बड़े वेग से फूट पड़ीं।

औद्योगिक क्रान्ति की प्रगति के कारण आस्ट्रिया के लोग अन्य देशों के संपर्क में आने लगे। किसानों की स्थिति अत्यन्त ही दयनीय हो चुकी थी तथा वे सामन्तों की दासता से मुक्त होने को उत्सुक हो उठे। वियना कांग्रेस के बाद अन्य यूरोपीय देशों की भांति आस्ट्रिया में भी उदारवादी दल जोर पकड़ने लगा। 1848 में इस विचारधारा ने प्रबल रूप धारण कर लिया। 1848 ई. में फ्रांस में जब लुई फिलिप के विरुद्ध क्रान्ति हुई तो इसका प्रभाव सारे यूरोप पर पड़ा। इस क्रांन्ति के फलस्वरूप वियना में भी विद्रोह हुआ। 12 मार्च 1848 को विश्वविद्यालय के दो प्राध्यापकों ने सम्राट के सामने सुधारों हेतु मांग पत्र पेश किया। दूसरे दिन जनता के एक शिष्टमण्डल ने वैधानिक सुधार की मांग प्रस्तुत की। उसी दिन वियना में मजदूरों और विद्यार्थियों का एक विशाल जुलूस निकला और उसने सम्राट तथा मेटरनिख के भवन को घेर लिया। इस विशाल जुलूस ने 'मेटरनिख का नाश हो', 'मेटरनिख की व्यवस्था का नाश हो' के नारे लगाने आरम्भ कर दिये। पुलिस ने भीड़ पर गोली चला दी जिससे कुछ लोग मारे गये। इससे जुलूस में उत्तेजना बढ़ गई तथा जुलूस ने मेटरनिख के त्याग पत्र की मांग की। मेटरनिख स्वयं समझ गया कि अब उसकी सत्ता का अन्त निकट आ गया है जैसा कि उसने स्वयं कहा था, "मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि साध्य और असाध्य रोग में अन्तर है। यह रोग प्राणघातक है।" स्थिति की गम्भीरता को पहचानते हुए मेटरनिख ने अपने पद से त्याग पत्र दे दिया और वेश बदल कर महल से भाग खड़ा हुआ तथा इंगलैण्ड चला गया। मेटरनिख का पतन यूरोप के इतिहास की एक युगान्तकारी घटना है, जैसा कि एलीसन फिलिप्स ने अपनी पुस्तक 'मार्डन यूरोप' में लिखा है, "जिस प्रकार 1789 में बास्तिल के पतन का एक नये युग के प्रतीक के रूप में स्वागत हुआ था, उसी प्रकार 1848 में मेटरनिख के पतन का स्वतन्त्रता के विरुद्ध प्रतिक्रियावादियों की सम्मिलित शक्ति के पतन के साथ ही प्रगति का मार्ग प्रशस्त हो गया।" वस्तुतः मेटरनिख के पतन के साथ ही 'मेटरनिख युग' की समाप्ति हो गई तथा यूरोपीय इतिहास में एक नये युग का सूत्रपात हुआ।

मेटरनिख के पतन के कारण—यद्यपि मेटरनिख ने अपनी कुशल कूटनीति से दीर्घकाल तक यूरोप में शान्ति बनाये रखने में सफलता प्राप्त की, तथापि निम्नलिखित तत्व उसके पतन के लिये उत्तरदायी थे—

(1) मेटरनिख पूर्णतः प्रतिक्रियावादी था तथा क्रान्तिकारी विचारों का कट्टर विरोधी था। क्रान्तिजनित एवं उदारवाद के ये सिद्धान्त इतने व्यापक हो गये थे कि आस्ट्रिया के देशभक्तों के लिये मेटरनिख का निरंकुश एवं प्रतिक्रियावादी शासन असह्य हो गया। उदारवाद की लोकप्रियता के समक्ष मेटरनिख की व्यवस्था टिक नहीं सकी और अन्त में उदारवादियों की विजय हुई।

(2) आस्ट्रिया के मजदूरों, किसानों, अध्यापकों, व्यापारियों आदि के हृदय में प्रतिक्रिया के विरुद्ध उदारवाद का इतना प्राबल्य हो गया था कि मेटरनिख की

दमन नीति के कारण उनमें अधिक तीव्रता आ गयी। मेटरनिख के अनुदार शासन और जनता के उदार विचारों में संघर्ष प्रारम्भ से ही चल रहा था और अन्त में उदारवाद के समक्ष मेटरनिख को घुटने टेकने पड़े।

(3) मेटरनिख की दमनकारी नीति से न केवल आस्ट्रिया में, बल्कि सम्पूर्ण यूरोप में आतंक फैल गया था। फलतः प्रत्येक राज्य की जनता उसकी विरोधी हो गई थी। दीर्घकाल के शासन में उसे जो सहयोग मिला वह भय के कारण मिला था, न कि जनता की स्वेच्छा से। भय युक्त शासन की नींवें खोखली होती हैं तथा भय युक्त होने के लिए जन आन्दोलन का वेग प्रबल होता है। इस प्रबल वेग के सामने मेटरनिख नहीं टिक सका।

(4) मेटरनिख के निरंकुश शासन के विरुद्ध आस्ट्रिया के अधीनस्थ भागों में समाजवाद, उदारवाद एवं राष्ट्रवाद की आवाज उठ चुकी थी तथा अकेले मेटरनिख को इन आन्दोलनों का सामना करना पड़ रहा था। अतः अकेला मेटरनिख विशाल साम्राज्य की जनता की आवाज को दबाने में असमर्थ रहा।

(5) मेटरनिख पुरातन व्यवस्था का प्रबल पोषक था, जिनकी समय के प्रवाह के साथ मान्यताएँ समाप्त हो चुकी थी। आस्ट्रिया की जनता समय की आवश्यकताओं पर जोर दे रही थी, जबकि मेटरनिख समय के प्रवाह के साथ चलने को तैयार नहीं था। जनता की इस प्रबल मांग के कारण उसे स्वतः ही अपने पद से हाथ धोना पड़ा। प्रोफेसर स्ट्रांग ने लिखा है, "उसने प्राचीन शासन के शव को पुनर्जीवित करने का व्यर्थ ही प्रयत्न किया। वह क्रान्तिकारी भावनाओं का दमन कर यूरोप को यथास्थिति के गड्ढे में ढकेलने के प्रयत्न में लगा रहा।" वस्तुतः यही उसके पतन का कारण बना।

(6) मेटरनिख ने शिक्षा के क्षेत्र में तथा समाचार पत्रों पर कठोर प्रतिबन्ध लगाये जिसके परिणामस्वरूप शिक्षित और बौद्धिक वर्ग उसका शत्रु हो गया। 1848 ई. की क्रान्ति में वियना विश्वविद्यालय क्रान्ति का प्रमुख केन्द्र बना।

(7) इंगलैण्ड की औद्योगिक क्रान्ति ने यूरोप के सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक जीवन में महान् परिवर्तन उत्पन्न कर दिया था जिससे अब पुरातन व्यवस्था अव्यवहारिक प्रतीत हो रही थी। फिर भी मेटरनिख प्राचीन सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक ढांचे को सुदृढ़ करने में लगा रहा, जो उसकी अदूरदर्शिता थी। प्रोफेसर स्ट्रांग ने उचित ही लिखा है कि, "औद्योगिक क्रान्ति के कारण मेटरनिख युग की खोखली राजनीतिक व्यवस्था का अन्त हुआ। वह अज्ञानतावश यह समझ ही नहीं सका कि यूरोपीय समाज के अन्तःस्थल में नवीन प्रवृत्तियों का प्रादुर्भाव हो चुका है, जिसके प्रबल प्रवाह ने एक दिन उसे डुबो दिया।"

(8) मेटरनिख ने यूरोप के अन्य राज्यों के सम्बन्ध में जो नीति अपनाई उससे भी उसकी प्रतिष्ठा को भारी धक्का लगा। अन्य यूरोपीय राज्यों के आन्तरिक

मामलों में हस्तक्षेप कर उसने अपने आपको दमनकारी नीति का प्रबल पोषक सिद्ध किया, जिससे सभी राष्ट्रों में उसके प्रति सम्मान समाप्त हो गया। अतः जब उसके घर में ही विद्रोह की आग भड़क उठी तो किसी यूरोपीय देश ने उसके प्रति सहानुभूति प्रदर्शित नहीं की। ऐसी स्थिति में उसका पतन होना स्वाभाविक ही था।

(9) प्रोफेसर हेजन ने इंगलैण्ड की विदेश नीति को भी मेटरनिख के पतन का एक कारण माना है। इंगलैण्ड के राजनीतिक कैसलरे, केनिंग आदि ने मेटरनिख की नीति का विरोध किया। संयुक्त व्यवस्था में इन राजनीतिज्ञों ने कदम-कदम पर उसका विरोध किया और अन्त में इंगलैण्ड इस व्यवस्था से ही अलग हो गया। इससे मेटरनिख की विचारधारा का प्रभाव शनैःशनैः घटता गया। उसका ज्यों-ज्यों प्रभाव घटता गया, उदारवादी विचारधारा बलवती होती गईं। ऐसी परिस्थितियों में उसका पतन अवश्यंभावी थी।

मेटरनिख का मूल्यांकन—यद्यपि मेटरनिख का अत्यन्त ही करुणाजनक परिस्थितियों में पतन हुआ तथापि 19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में जितने भी राजनीतिज्ञ यूरोपीय रंगमंच पर आये उनमें मेटरनिख निःसन्देह सर्वाधिक प्रसिद्ध व्यक्ति था। वियना कांग्रेस की समाप्ति पर जो एक नया युग, जिसे इतिहास में मेटरनिख युग कहा जाता है, आरम्भ हुआ तथा उसके पतन के साथ ही यह युग भी समाप्त हो गया। उसने अपने आकर्षक व्यक्तित्व, व्यवहार-कुशलता, राजनीति-अनुभव, कुशल कूटनीति एवं दृढ़ निश्चय के कारण यूरोप में शीर्ष स्थान प्राप्त कर लिया था। उसे अपनी शक्ति पर पूर्ण विश्वास था तथा अपने आपको सर्वज्ञ समझता था। वह गर्वपूर्ण शब्दों में कहा करता था कि, "मेरा जन्म यूरोपीय समाज के पतनोन्मुख ढांचे को सहारा देने के लिए हुआ है।" वह ऐसा समझता था मानो सारा विश्व उसी के कंधों पर टिका हुआ है।

यूरोप का सबसे अधिक प्रभावशाली राजनीतिज्ञ होते हुए भी, उसमें कई दोष भी थे। वह समय की गति को पहचानने में असमर्थ रहा। उसे समझ लेना चाहिये था कि 1815 का यूरोप 1789 का यूरोप नहीं था। वह फ्रांसीसी क्रान्ति से उत्पन्न नवीन प्रवृत्तियों को एक संक्रामक रोग समझकर उन्हें नष्ट करने में लगा रहा। स्वतन्त्रता और समानता शब्दों को वह क्रान्तिकारियों का अनर्गल प्रलाप कहता था। उसका विश्वास था कि "लोकतन्त्र दिन के प्रकाश को रात्रि के घोर अन्धकार में बदल सकता है।" उसकी दृष्टि में शान्ति को सबसे अधिक खतरा नवीन क्रान्तिकारी विचारों से ही था, इसलिए वह सदैव इन प्रवृत्तियों को कुचलने में लगा रहता था। एक कुशल कूटनीतिज्ञ में तात्कालिक परिस्थितियों को समझने तथा अपने आपको समय के अनुकूल बनाने का विशेष गुण होता है, किन्तु मेटरनिख में इस गुण का सर्वथा अभाव था। प्रगतिशील विश्व के लिये उसकी अप्रगतिशील नीति सर्वथा अनुपयुक्त थी। अपने चारों ओर की विषम परिस्थितियों के बारे में

उसने स्वयं कहा था कि, 'मैं इस संसार में या तो बहुत जल्दी आ गया हूँ या बहुत देर से आया हूँ, यदि मैं पहले आया होता तो अपने युग का आनन्द लेता और यदि देर से आया होता तो उसके निर्माण में सहायक होता। किन्तु आज तो मुझे अपना जीवन क्षीण संस्थाओं को सम्भालने में लगाना पड़ रहा है।" वह घोर प्रतिक्रियावादी था तथा राष्ट्रीयता एवं उदारवाद से किसी भी मूल्य पर समझौता करने को तैयार नहीं था, इसलिये वह निरंकुश राजतन्त्र का समर्थक बना रहा। वस्तुतः पुरातन व्यवस्था के साथ उसका मोह इतना अधिक था कि यह मोह ही उसे ले डूबा। उसकी प्रतिक्रियावादी नीति न तो आस्ट्रिया के लिये लाभप्रद रही और न यूरोप के अन्य राज्यों के लिये। अपनी प्रतिक्रियावादी नीति से वह निरंकुश राजतन्त्र की अवश्य रक्षा कर सका तथा लगभग 30 वर्षों तक यूरोप के अधिकांश राज्यों में निरंकुश राजतन्त्र का बोलवाला रहा, किन्तु पुरातन व्यवस्था के समर्थक सभ्यता के किसी भी क्षेत्र में प्रगति न कर सके। वे केवल नवीन विचारधारा का दमन करने में लगे रहे जिसका मेटरनिख ने प्रतिनिधित्व किया। नवीन निचारधारा का दमन करने हेतु षड़यन्त्रों का सहारा लेना उसकी कूटनीति का मुख्य अंग था। इसलिये नेपोलियन ने उसके वारे में कहा, "मेटरनिख ने भूल से षड़यन्त्र को राजनीति समझ लिया है।" यदि हम जर्मनी और इटली के प्रति मेटरनिख की नीति का विश्लेषण करें तो नेपोलियन का उक्त कथन बड़ा ही तथ्यपूर्ण प्रतीत होता है। जार अलेक्जेण्डर प्रथम ने तो उसे 'झूठा राजनीतिज्ञ' कहा था। तैलेरा ने उसे "सत्य और सम्मान की उपेक्षा करके प्रत्येक क्षण अपने उद्देश्यों एवं कार्यविधि को बदलने वाला 'अवसरवादी' कहा था।" इतिहासकार हेजन ने उसे निरा षड़यन्त्रकारी, अवसरवादी और दिखावटी व्यक्ति कहा है। उदारवादियों की दृष्टि में वह जनता की आवश्यकताओं का कट्टर शत्रु था। मेटरनिख के सम्बन्ध में इन सभी दृष्टिकोणों में सच्चाई की मात्रा सबसे अधिक है, क्योंकि जिस नीति का पालन उसने किया वह स्वयं ही इन कथनों के समर्थन में प्रबल प्रमाण है। वास्तव में उसकी नीति निषेधात्मक तथा अवसरवादी थी न कि उच्च रचनात्मक आदर्शों द्वारा प्रेरित थी। किन्तु वह सदा अवसरवादी भी नहीं रहा तथा अपनी नीति को एक स्थायी सिद्धान्त बना डाला, जो समय के प्रवाह के साथ अनुपयुक्त सिद्ध हो चुका था।

मेटरनिख की उपर्युक्त आलोचनाएं यद्यपि तथ्यपूर्ण हैं किन्तु हमें इस तथ्य को भी स्वीकार करना होगा कि आस्ट्रिया के चान्सलर के रूप में उसे ऐसी नीति अपनाना आवश्यक था जो आस्ट्रिया के हित में हो। आस्ट्रिया ऐसे बेमल राज्यों का साम्राज्य था जिसे बनाये रखना आवश्यक था। आस्ट्रिया के साम्राज्य में विभिन्न जातियों का जमघट था और यदि मेटरनिख राष्ट्रीयता के सिद्धान्त को स्वीकार कर लेता तो इसका अर्थ होता साम्राज्य का विनाश। इसलिये साम्राज्य को बनाये रखने के लिये उसके लिये यह आवश्यक था कि वह राष्ट्रीयता के विचारों को अपने

साम्राज्य में पनपने न दे। इसलिये उसने यही प्रयत्न किया कि यूरोप में यथास्थिति बनाये रखी जाय तथा समान विचारधारा वाले शासकों का एक अन्तर्राष्ट्रीय संघ हो। तात्कालिक परिस्थितियों में उसके लिये यह आवश्यक था कि, यथास्थिति बनाये रखने के लिये राष्ट्रीय भावनाओं को कुचला जाय। यदि उस परिस्थिति में मेटरनिख की जगह कोई अन्य राजनीतिज्ञ होता तो निश्चित ही वह भी यही करता।

मेटरनिख ने सबसे महत्वपूर्ण कार्य यह किया कि नेपोलियन के युद्धों के कारण रक्त रंजित यूरोप में दीर्घ काल तक शान्ति बनाये रखी, यद्यपि यह शान्ति अन्त में उसके लिये बड़ी महंगी पड़ी। अतः निर्विवाद रूप से यह कहा जा सकता कि मेटरनिख अपने समय का महान् कूटनीतिज्ञ था। प्रोफेसर लिप्सन ने लिखा है कि, "अपने दीर्घकाल में उसने यूरोप की शान्ति बनाये रखने की कोशिश की; नेपोलियन के युद्धों में लहू-लुहान यूरोप को ऐसा विश्राम और शान्ति प्रदान की जिसकी बड़ी आवश्यकता थी।" इसी तथ्य को एलसिन फिलिप्स ने दूसरे शब्दों में व्यक्त किया है, "दबी एवं थकी हुई पीढ़ी के लिए वह आवश्यक व्यक्ति था। यह उसका दुर्भाग्य था कि जब उसकी उपयोगिता समाप्त हो चुकी थी, उसके बाद भी वह जीवित रहा।" प्रोफेसर फिशर ने लिखा है, "मेटरनिख में एक महान राजनीतिक नेता के अनेक गुण थे। वह तीव्र और आकर्षक बुद्धि का धनी, शान्त चित्त, गहरी सूझ-बूझ वाला तथा देश भक्त था।" प्रोफेसर फिशर के अनुसार उसकी बहुत बड़ा मानसिक दुर्बलता यह थी कि उसने 'क्रान्ति' और 'स्वेच्छाचारी शासन' इन दोनों प्रणालियों के बीच का कोई मार्ग खोजने का प्रयास नहीं किया। सर लीविस नेमियर ने तो यह भी कहा है कि वह वास्तव में ऐसा प्रतिक्रियावादी नहीं था जैसे कि उसे सामान्यतः दर्शाया गया है। वह इतना बुद्धिमान, सतर्क और सन्तुलित था कि वह पूर्ण रूप से प्रतिक्रियावादी नहीं हो सकता था।

अध्याय 4

क्रान्तियों का युग
(1815–1850)
(AGE OF REVOLUTIONS)

फ्रांस का इतिहास, यूरोप के राजनैतिक इतिहास का एक अनोखा अध्याय है। 18वीं शताब्दी के मध्य तक जो फ्रांस पुरातन संस्थाओं का केन्द्र था, वही इस शताब्दी के अन्त तक क्रान्ति का केन्द्र बन गया। नेपोलियन के पतन के पश्चात् फ्रांस में पुनः बुर्वों वंश की स्थापना, 1830 की फ्रांसीसी क्रान्ति, लुई फिलिप का शासन काल, 1848 की फ्रांसीसी क्रान्ति, द्वितीय गणतन्त्र की स्थापना और उसका पतन आदि फ्रांस के इतिहास की महत्वपूर्ण घटनाएँ हैं। इन घटनाओं के फलस्वरूप फ्रांस की शासन प्रणाली में होने वाले परिवर्तनों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि फ्रांस सदैव समय के परिवर्तन के साथ अपना स्वरूप बदलने के लिए उत्सुक रहता था अतः फ्रांस का इतिहास इन्हीं घटनाओं एवं परिवर्तनों का शृंखलाबद्ध इतिहास है।

नेपोलियन की पराजय के बाद फ्रांस के पुनर्गठन का कार्य आरम्भ हुआ था। जो वास्तव में बड़ा ही कठिन कार्य था। आस्ट्रिया का चान्सलर मेटरनिख फ्रांस में बुर्वों की पुनः स्थापना के लिये कोई विशेष उत्सुक नहीं था तथा रूस, स्वीडन के शासक बोर्नाडोट को फ्रांस की गद्दी दिलाने के लिये उत्सुक था। किन्तु फ्रांसीसी प्रतिनिधि तैलेरा ने सम्मेलन में यह स्पष्ट कह दिया कि फ्रांस एवं यूरोपीय शान्ति के लिये फ्रांस में पुनः बुर्वों वंश की स्थापना की जानी चाहिए तथा लुई 18वें को फ्रांस का शासक बनाया जाना चाहिये। अन्त में सम्मेलन में भाग लेने आये सभी राष्ट्रों ने तैलेरा के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया तथा वियना सम्मेलन के निर्णयानुसार फ्रांस में पुनः बुर्वों वंश के निरंकुश शासन की स्थापना कर दी गई। फ्रांस की गद्दी पर लुई 16वें के भाई लुई 18वें को बैठाया गया।

लुई 18वें का शासन काल (1814–24)—फ्रांस में क्रान्ति आरम्भ होने पर लुई 18वां, कुलीनों के साथ फ्रांस के बाहर भाग गया था और निरन्तर फ्रांस की क्रांति के विनाश के लिये प्रयत्न करता रहा। लुई 16 वें की मृत्यु के बाद वह अपने

आपको फ्रांस की गद्दी का वास्तविक उत्तराधिकारी समझता था। अतः नेपोलियन के पराजित होने के बाद मित्र राष्ट्रों ने उसे फ्रांस की गद्दी पर बैठाया। जिस समय वह फ्रांस के सिंहासन पर बैठा, उसकी आयु 60 वर्ष की थी तथा उसके रक्त में निरंकुश शासन की लहर दौड़ रही थी। उसे क्रांतिजनित विचारधाराओं से सख्त नफरत थी। इस प्रकार वह रूढ़िवादी विचारों का पोषक होते हुए भी इस तथ्य से भलीभांति परिचित था कि क्रांतिजनित नवीन प्रवृत्तियाँ जिनकी जड़ें गहराई तक पहुँच चुकी थीं, उन्हें नष्ट नहीं किया जा सकता। वह यह भी जानता था कि फ्रांस में बुर्बो वंश की पुनर्स्थापना, फ्रांस की जनता की इच्छा से नहीं हुई है, वरन् विजेताओं की सहायता से हुई है। अतः प्राचीन राजवंश की स्थापना का अर्थ कुलीनतन्त्र और चर्च के विशेषाधिकारों की पुनः स्थापना नहीं था। क्योंकि रूढ़िवादी एवं निरंकुश शासन पद्धति का प्रायः अवसान हो चुका था। उसमें इस प्रकार की विचारधारा उत्पन्न होने के कई कारण थे जैसे वह इंगलैण्ड के सम्राट चार्ल्स द्वितीय की तरह प्रजा के विरुद्ध जाना ठीक नहीं समझता था, इंगलैण्ड में लगभग 6 वर्ष तक रह कर उसने वहाँ की प्रजातांत्रिक प्रणाली का अध्ययन किया था तथा उससे वह बड़ा प्रभावित हुआ था। वाल्टेयर आदि दार्शनिकों के विचारों के अध्ययन से उसके विचारों में परिवर्तन आ चुका था और अपनी रोगग्रस्त वृद्धावस्था के कारण उसमें हलचल उत्पन्न करने की भी शक्ति नहीं थी। इसलिए अपनी सत्ता को सुदृढ़ करने के लिये वह क्रांतिजनित नवीन प्रवृत्तियों से समझौता करना ही उचित समझता था। इन्हीं कारणों से उसने नेपोलियन द्वारा स्थापित संस्थाओं, जैसे नेपोलियन कोड, धार्मिक सुधार के नियम, विश्वविद्यालय की व्यवस्था आदि को पूर्ववत् बनाये रखा।

संवैधानिक आज्ञा-पत्र (Coustitutional Charter)—अपने शासन को लोकप्रिय बनाने के उद्देश्य से 2 जून 1814 को उसने एक आज्ञा-पत्र की घोषणा की। इस घोषणा द्वारा संवैधानिक राजसत्ता की स्थापना की गई। घोषणा पत्र में क्रान्ति के द्वारा उत्पन्न प्रायः सभी सिद्धान्तों को स्वीकार कर लिया गया। फ्रांस में इंगलैण्ड के समान उत्तरदायी मन्त्रिमण्डल तथा दो सदनों की व्यवस्थापिका सभा की व्यवस्था की गई। House of Peers के सदस्य सम्राट द्वारा मनोनीत किये जायेंगे तथा निम्न सदन (Chamber of Deputies) के सदस्य जनता द्वारा पाँच वर्ष के लिये चुने जायेंगे। मत देने का अधिकार केवल उन्हीं को दिया गया जिनकी आयु कम से कम 30 वर्ष हो तथा राज्य को कम से कम 300 फ्रेंक वार्षिक कर देते हों। प्रतिनिधि चुने जाने के लिये 40 वर्ष की आयु तथा 1,000 फ्रेंक वार्षिक कर देने की योग्यता रखी गई। इसके अतिरिक्त क्रान्ति द्वारा स्थापित कुछ मौलिक सिद्धान्तों को भी स्वीकार किया गया। कानून के समक्ष सभी नागरिकों की समानता स्वीकार की गई तथा सरकारी पदों पर नियुक्ति का आधार योग्यता स्वीकार किया

गया। सभी धर्मों के लोगों को धार्मिक स्वतन्त्रता दी गई तथा कैथोलिक धर्म को राज धर्म के रूप में स्वीकार किया गया। समाचार पत्रों पर लगे सभी प्रतिबन्धों को हटा दिया गया तथा जनता को यह आश्वासन दिया गया कि किसी भी व्यक्ति को पहले की तरह कानूनी प्रक्रिया के विरुद्ध गिरफ्तार नहीं किया जायेगा।

संवैधानिक आज्ञा-पत्र में यह स्पष्ट कर दिया गया कि सभी कानूनों को पारित करने की शक्ति सम्राट के पास होगी। सम्राट के द्वारा प्रस्तावित कानूनों पर व्यवस्थापिका विचार करेगी तथा उसे स्वीकार अथवा अस्वीकार कर सकेगी, किन्तु उनमें संशोधन नहीं कर सकेगी। संशोधन केवल सम्राट की स्वीकृति से ही हो सकेगा। यदि व्यवस्थापिका किसी विषय पर कानून बनाना चाहे तथा सम्राट की ओर से वह कानून पारित न किया जाय तो व्यवस्थापिका, सम्राट से कानून पारित करने की प्रार्थना कर सकेगी, किन्तु सम्राट द्वारा प्रार्थना को अस्वीकार कर दिये जाने पर, चालू अधिवेशन के दौरान व्यवस्थापिका पुनः प्रार्थना नहीं कर सकेगी। इस आज्ञा-पत्र में अनेक त्रुटियाँ भी थी। इस आज्ञा-पत्र द्वारा सम्राट को सम्पूर्ण अधिकारों का स्रोत मान लिया गया था, किन्तु यह बात जनतन्त्रीय भावना के विपरीत थी। मताधिकार के लिए योग्यता, आयु एवं कर देने की क्षमता निश्चित की गई थी; इससे साधारण नागरिक मताधिकार से वंचित रह गये। हेजन ने लिखा है कि इस स्थिति से फ्रांस अब भी विशेषाधिकार का क्षेत्र बना हुआ था।

यद्यपि इस आज्ञा पत्र में कुछ दोष थे, तथापि इस आज्ञा पत्र ने जनता के अधिकारों व क्रान्ति के सिद्धान्तों को पूर्ण मान्यता प्रदान की। इस आज्ञा-पत्र का सर्वाधिक महत्व इस बात में था कि सदियों से चली आ रही प्राचीन व्यवस्थाएं, प्रथम बार समाप्त की गई तथा राजतंत्रात्मक उदार शासन प्रणाली को प्रधानता दी गई, जिससे शासक और शासितों के बीच की खाई कम होने लगी। इस आज्ञा-पत्र द्वारा स्वतन्त्रता, समानता तथा भ्रातृत्व के सिद्धान्तों को स्वीकार करते हुए लोगों को इन सिद्धान्तों का पालन करने हेतु आश्वासन दिया जिससे बुर्बो वंश के प्रति लोगों में श्रद्धा पैदा हो गई। हेजन ने इसकी प्रशंसा करते हुए लिखा है कि इस आज्ञा पत्र में, सभी प्रतिबन्धों के बावजूद, स्वायत्त शासन व्यवस्था स्वीकार की गई। साउथ गेट ने इसके दो महत्वपूर्ण कार्य बताये हैं, "प्रथम, उसने क्रान्ति को तथा नेपोलियन युग की अनेक विशेषताओं को कम से कम ऊपरी रूप में स्वीकार कर लिया। द्वितीय, उसने दैवी अधिकारों के सिद्धान्त को इस प्रकार मान्यता दी कि उदारवादी सिद्धान्तों का महत्व भी कम नहीं हुआ।"

यद्यपि स्वयं लुई 18 वां बदले की भावना से दूर रह कर आज्ञा-पत्र के अनुसार शान्तिपूर्वक शासन करना चाहता था, किन्तु उसके दरबार में ऐसे विशेषाधिकार युक्त लोगों का प्रभाव बढ़ता जा रहा था, जिन्हें क्रांतिकाल में उनकी सम्पत्ति से वंचित कर दिया गया था तथा जिन्हें अपनी प्राण रक्षा के लिये विदेशों की ओर भागना पड़ा था। इसके अलावा फ्रांस में उस समय तक अनेक राज-

नैतिक दल बन चुके थे जिनकी विचारधाराएँ एक दूसरे से भिन्न थी। अतः कई राजनैतिक प्रश्नों पर उनमें मतैक्य होना सम्भव नहीं था। लुई 18 वें ने जो आज्ञा-पत्र प्रसारित किया था, उसके सम्बन्ध में भी उन राजनैतिक दलों के विचारों में भिन्नता थी।

फ्रांस में विविध राजनैतिक दल—जैसा कि ऊपर बताया गया है, लुई 18 वां, अपने आज्ञा-पत्र के आधार पर शान्तिपूर्वक शासन करना चाहता था, किन्तु तात्कालीन विभिन्न राजनैतिक दलों के पारस्परिक संघर्ष के कारण उसके समक्ष अनेक गम्भीर समस्याएँ उत्पन्न हो गई थी। राजनैतिक दलों में यद्यपि प्रमुख कट्टर राजसत्तावादी और उदारवादी दलों की प्रधानता थी तथापि उस समय फ्रांस में अनेक राजनैतिक दल थे जिनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

(1) **कट्टर राजसत्तावादी दल**—इस दल में वे सभी सामन्त एवं पादरी थे जिन्हें क्रान्ति काल में अपने देश को छोड़कर भागना पड़ा था। इसका नेतृत्व सम्राट का भाई काउन्ट आर्तुआ (Count de Artois) कर रहा था। ये लोग घोर प्रतिक्रियावादी थे तथा सम्राट से भी अधिक कट्टर राजसत्तावादी थे। इस दल का कार्यक्रम क्रांति से बदला लेना तथा पुरातन व्यवस्था को पुनः स्थापित करना था। "राजसत्ता और चर्च के साथ सहयोग" इस दल की नीति का मुख्य आधार था। इस दल के लोग क्रान्ति से सर्वाधिक क्रुद्ध थे। अतः उन्होंने सम्राट को यह समझाने की चेष्टा की कि क्रान्ति के कारण ही उसे फ्रांस से भागना पड़ा था, अतः उसे संवैधानिक आज्ञा-पत्र को रद्द कर देना चाहिए तथा प्राचीन संस्थाओं की पुनः स्थापना करनी चाहिए। उन्होंने सम्राट को यह भी सलाह दी कि जिन व्यक्तियों ने उसके भाई लुई 16 वें को प्राण दण्ड दिया, उन सभी को बन्दी बनाये तथा जिन व्यक्तियों ने नेपोलियन के अधीन शासकीय पद ग्रहण किये थे उन्हें देश से निर्वासित कर दिया जाय। यद्यपि समय के प्रवाह को देखते हुए सम्राट ने उनकी सलाह नहीं मानी, फिर भी इस दल ने शासन तन्त्र पर शीघ्र ही अपना प्रभाव स्थापित कर लिया।

(2) **उदार राजसत्तावादी दल**—इस दल में भी यद्यपि कुलीन, सामन्त एवं पादरी वर्ग के लोग थे, किन्तु यह समय के प्रवाह को समझता था कि क्रांति से उत्पन्न नवीन प्रवृत्तियों को नष्ट नहीं किया जा सकता और न ही क्रांति के काल की व्यवस्था को बदला जा सकता है। इस दल ने लुई 18 वें को संवैधानिक आज्ञा-पत्र प्रकाशित करने में सहयोग दिया था। इस दल ने राजतन्त्र एवं प्रजातन्त्र के सिद्धान्तों में सामंजस्य को स्वीकार कर अपनी उदारता का परिचय दिया।

(3) **उदारवादी दल**—इस दल की मान्यता थी कि शासन की स्थिरता के लिए सम्राट का पद आवश्यक है। यह दल संवैधानिक आज्ञा-पत्र से संतुष्ट नहीं था, क्योंकि यह सम्राट के अधिकारों में और अधिक कमी चाहता था तथा इसकी मान्यता

थी कि मताधिकार के सम्बन्ध में आयु एवं सम्पत्ति सम्बन्धी रुकावटें नहीं होनी चाहिये। यह दल उत्तरदायी मंत्रिमण्डल को अनिवार्य मानता था। इन सभी मान्यताओं के कारण यह संवैधानिक आज्ञा-पत्र को उदार शासन की स्थापना के लिये अपर्याप्त समझता था।

(4) **प्रजातन्त्रवादी दल**—यह दल नेपोलियन एवं बुर्बो वंश का विरोधी था। फ्रांस में बुर्बो वंश की स्थापना इसे अच्छी नहीं लगी। यह फ्रांस में प्रजातन्त्रवादी व्यवस्था की स्थापना चाहता था। इसलिए यह राजसत्ता के विरुद्ध था।

(5) **बोनापार्टिस्ट दल**—इस दल में अधिकांशतः सिपाही तथा अन्य ऐसे लोग थे जो नेपोलियन के कार्यों से बड़े प्रभावित हुए थे। अतः यह दल नेपोलियन बोनापार्ट के सिद्धान्तों का कट्टर समर्थक था। इस दल की मान्यता थी कि फ्रांस के उज्ज्वल भविष्य के लिये नेपोलियन अथवा उसके वंशज ही फ्रांस पर शासन करे।

कट्टर राजसत्तावादी, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, संवैधानिक आज्ञा-पत्र को निरस्त कराना चाहते थे और जब सम्राट ने उनकी सलाह को अस्वीकार कर दिया तो उन्होंने अपने विरोधियों को अपने क्रोध का भाजन बनाया। वाटरलू के युद्ध में नेपोलियन की पराजय के समाचार सुनते ही उन्होंने फ्रांस में आतंक का राज्य स्थापित कर दिया। जुलाई 1815 में फ्रांस के दक्षिणी भाग में, जहाँ क्रान्ति एवं नेपोलियन के समर्थक रहते थे, उन्हें मौत के घाट उतार दिया। इसी प्रकार कैथोलिकों ने प्रोटेस्टेन्टों पर हमले किये। सम्पूर्ण फ्रांस में लूटमार तथा हत्या का आतंक छा गया। इस हिंसात्मक उथल-पुथल को श्वेत आतंक (White Terror) के नाम से पुकारा जाता है, यद्यपि इसमें 200 या 300 से अधिक व्यक्ति नहीं मारे गये, किन्तु आतंक से ऐसा प्रतीत होता था कि फ्रांस परस्पर विरोधी दो राष्ट्रों में विभाजित हो गया है। एक प्राचीन व्यवस्था एवं राजसत्तात्मक फ्रांस तथा दूसरा क्रांति की व्यवस्थाओं पर आधारित फ्रांस।

ऐसे ही आतंकपूर्ण वातावरण में अगस्त 1815 में संवैधानिक आज्ञा-पत्र के अनुसार निम्न सदन (Chamber of Deputies) के चुनाव हुए। लुई 18 वें ने अपने एक अध्यादेश द्वारा प्रतिनिधियों की संख्या एवं मताधिकार की योग्यताओं में परिवर्तन कर दिया। अब 40 वर्ष की आयु के स्थान पर 25 वर्ष का व्यक्ति भी प्रतिनिधि बन सकता था तथा निम्न सदन के सदस्यों की संख्या बढ़ाकर 402 कर दी गयी। चुनावों में कट्टर राजसत्तावादियों का बहुमत हो गया। प्रजातन्त्रवादी एवं बोनापार्टिस्ट दल को बहुत ही कम स्थान प्राप्त हुए। इस सदन में उदार राजसत्तावादी दल को भी कुछ स्थान प्राप्त हुए थे। लुई 18वां इसी दल की सलाह से शासन चलाना चाहता था।

इन चुनावों के पश्चात् तैलेरा के मंत्रिमंडल का पतन हो गया। आज्ञा-पत्र के अनुसार सम्राट को यह अधिकार प्राप्त था कि वह किसी भी दल से मंत्रिमंडल का

चुनाव करे। अतः उसने उदार राजसत्तावादियों में से ही अधिकांश मन्त्रियों की नियुक्तियाँ की, क्योंकि वह कट्टर राजसत्तावादी नीति को कार्यान्वित करना नहीं चाहता था तथा आज्ञा-पत्र के आधार पर शांतिपूर्वक शासन करना चाहता था।

रिशलू का मन्त्रिमण्डल—सम्राट ने ड्यूक डि रिशलू (Duke de Richelieu) को प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त किया। रिशलू कुलीन वर्ग का व्यक्ति था तथा क्रान्ति के समय उसकी विशाल सम्पत्ति का अपहरण कर लिया गया था किन्तु उसमें अन्य कुलीन व्यक्तियों के समान बदले की भावना नहीं थी। वह कई वर्षों तक देश से बाहर रहा था, इसलिए फ्रांस की जनता की तात्कालिक समस्याओं से परिचित नहीं था। आरम्भ में वह प्रधान मन्त्री बनना नहीं चाहता था किन्तु रूस के जार को प्रसन्न करके फ्रांस के लिए उदार शर्तें प्राप्त करने के उद्देश्य से उसने यह पद स्वीकार कर लिया था, क्योंकि रूस का जार उसकी प्रशासनिक योग्यता से काफी प्रभावित था। उसके मंत्रिमंडल में पुलिस विभाग के मंत्री देकाजे (Decazes) का भी महत्वपूर्ण स्थान था।

रिशलू के सामने अनेक समस्याएँ थीं। प्रथम समस्या तो मित्र राष्ट्रों की सेनाओं को फ्रांस की भूमि से हटाना थां परन्तु मित्र राष्ट्र अपनी सेनाओं को तब तक बुलाने को तैयार नहीं थे, जब तक फ्रांस में सम्राट की शक्ति सुदृढ़ आधार पर स्थापित न हो जाय तथा फ्रांस द्वारा हर्जाने की रकम अदा न कर दी जाय। उसके मंत्रिमंडल को कट्टर राजसत्तावादियों की प्रतिक्रियावादी नीति का भी सामना करना पड़ रहा था। अक्टूबर 1815 में जब निम्न सदन की बैठक आरम्भ हुई तो कट्टर राजसत्तावादियों ने नेपोलियन के समर्थकों को कठोर दण्ड देने की नीति का प्रतिपादन किया तथा इस सम्बन्ध में तीन कानून पास किये। प्रथम कानून के अनुसार शासन को यह अधिकार प्रदान किया कि सम्राट, राजवंश अथवा राज्य के विरुद्ध अपराध करने वाले व्यक्ति को बिना मुकदमा चलाये गिरफ्तार कर जेल में रखा जा सकता था। दूसरे कानून के अनुसार सम्राट अथवा राज्य की सुरक्षा के विरुद्ध कार्य करने वाले व्यक्ति को कठोर दण्ड दिया जाय। तीसरे कानून के अनुसार राजनैतिक अपराधियों के लिए विशेष न्यायालय की व्यवस्था की गई। तत्पश्चात् 19 व्यक्तियों पर नेपोलियन की सहायता देने के अपराध में सैनिक न्यायालय में मुकदमा चलाया गया तथा उनमें से दो को मृत्यु दण्ड दिया गया। इसके अतिरिक्त जिन व्यक्तियों ने लुई 16वें को प्राण दण्ड देने के प्रस्ताव का समर्थन किया था उन्हें फ्रांस से निष्कासित कर दिया गया। सम्राट ने उन्हें क्षमा करने के आदेश प्रसारित किये किन्तु कट्टर राजसत्तावादियों ने सम्राट के इस क्षमा करने के अधिकार को स्वीकार नहीं किया। इस प्रकार कट्टर राजसत्तावादियों एवं मंत्रिमंडल के बीच सम्बन्ध बिगड़ते जा रहे थे। कट्टर राजसत्तावादियों ने निर्वाचन नियमों में संशोधन करने का प्रस्ताव रखा जिसका उद्देश्य राजसत्तावादियों का प्रभाव बढ़ाना था,

किन्तु उच्च सदन में यह प्रस्ताव असफल हो गया। इसके बाद मन्त्रिमण्डल द्वारा प्रस्तुत 1816 के बजट का कट्टर राजसत्तावादियों ने विरोध किया तथा उसे पास नहीं होने दिया। अतः सम्राट ने 5 सितम्बर 1816 को निम्न सदन को भंग कर दिया, किन्तु रिशलू का मन्त्रिमण्डल यथावत कार्य करता रहा।

अक्टूबर 1816 में नवीन चुनाव हुए जिसमें मन्त्रिमण्डल के समर्थकों को बहुमत प्राप्त हो गया। ऐसी स्थिति में रिशलू ने बड़े उपयोगी सुधार किये। उसने आर्थिक सुधारों द्वारा राज्य की आय में वृद्धि की जिससे हर्जाने की रकम चुका दी गई तथा नवम्बर 1981 में विदेशी सेनाएँ फ्रांस की भूमि से हटा ली गई। उसने सेना का पुनर्गठन किया। एक्स-ला-शैपल के सम्मेलन में रिशलू के व्यक्तिगत प्रभाव के कारण फ्रांस को चतुर्राष्ट्र मैत्री का सदस्य बना लिया गया। इस प्रकार फ्रांस को यूरोपीय राजनीति में पुनः प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। किन्तु इसी समय निम्न सदन में रिशलू के समर्थकों की संख्या कम हो गयी। अतः 21 दिसम्बर 1818 को रिशलू ने त्याग पत्र दे दिया।

देकाजे का मन्त्रिमण्डल—रिशलू के पश्चात् लुई 18 वें ने उदारवादी नेता डेसोलेस के नेतृत्व में नया मंत्रिमंडल बनाया किन्तु उसका वास्तविक नेता देकाजे था। इस मन्त्रिमण्डल ने 1817 के निर्वाचन कानून में संशोधन करने का प्रस्ताव पारित कराया, किन्तु उच्च सदन में उसे पारित करवाने के लिये सम्राट को 60 नये सदस्य मनोनीत करने पड़े। सितम्बर 1819 में चुनाव हुए जिसमें उदारवादी दल को बहुमत प्राप्त हुआ। देकाजे ने निर्वाचन कानून में पुनः संशोधन करने की एक विस्तृत योजना तैयार की, किन्तु 13 फरवरी 1820 को काउन्ट आर्तुआ Count de-Artois) के द्वितीय पुत्र बेरी के ड्यूक की, नेपोलियन के अनुयायी लुवेल (Louvele) द्वारा हत्या कर दी गई, जिससे राजसत्तावादी भड़क उठे। राजसत्तावादियों ने इस घटना से राजनैतिक लाभ उठाने के लिये देकाजे को हत्या के लिये दोषी ठहराया। राजपरिवार के लोगों द्वारा सम्राट पर दवाव डालने पर विवश होकर उसे देकाजे को पदच्युत करना पड़ा। एलीसन फिलिप्स के अनुसार, "देकाजे के पतन से ऐसा प्रतिक्रियावादी शासन आरम्भ हुआ जो उस समय तक चलता रहा जब तक कि, इस शासन के परिणामस्वरूप 1830 की क्रान्ति न हो गयी।"

रिशलू का द्वितीय मन्त्रिमण्डल—देकाजे को पदच्युत करने के बाद रिशलू को पुनः प्रधानमन्त्री बनाया गया। उसने कुछ प्रतिक्रियावादी अधिनियम बनाये। प्रेस की स्वतन्त्रता तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता समाप्त कर दी गई। निर्वाचन के कानून बदल दिये गये तथा गुप्त मतदान प्रणाली समाप्त कर दी गई। निर्वाचकों की सम्पत्ति की योग्यता को भी बढ़ा दिया गया। भूस्वामियों को दो मत देने का अधिकार प्रदान किया गया। इस नीति का उदारवादियों ने तो विरोध किया ही किन्तु राजसत्तावादी भी रिशलू से संतुष्ट नहीं हुए। 1821 के चुनावों में कट्टर राजसत्ता-

वादी दल के सदस्यों की संख्या बढ़ गई जिससे रिशलू की शक्ति कमजोर हो गई। इधर लाइबेख के सम्मेलन में फ्रांस के प्रतिनिधि द्वारा, नेपिल्स में आस्ट्रिया के हस्त-क्षेप की नीति का समर्थन करने के कारण रिशलू का भयंकर विरोध हुआ। अन्त में 12 दिसम्बर 1821 को रिशलू ने त्याग पत्र दे दिया।

विलेल का मन्त्रिमण्डल—रिशलू के पश्चात् कट्टर राजसत्तावादी विलेल (Villele) को प्रधानमन्त्री बनाया गया। उसे काउन्ट आर्तुआ का पूर्ण समर्थन प्राप्त था। अब कट्टर राजसत्तावादी अपनी प्रतिक्रियावादी नीति द्वारा फ्रांस में पुनः प्राचीन व्यवस्था स्थापित करना चाहते थे। विलेल ने भी शीघ्र ही अपनी घोर प्रतिक्रियावादी नीति का परिचय दिया। मार्च 1822 के एक कानून द्वारा समाचार पत्रों पर कठोर नियन्त्रण स्थापित किया गया। शिक्षा पर चर्च का नियन्त्रण स्थापित किया गया। व्यापारियों एवं जागीरदारों की स्वार्थ पूर्ति हेतु विदेशी माल के आयात पर भारी चुंगी लगा दी गई। जनवरी 1823 में स्पेन के शासक फर्डीनेण्ड सप्तम को विद्रोह का दमन करने के लिये सैनिक सहायता दी गई जिससे फर्डीनेण्ड की शक्ति पुनः स्थापित हुई। यह विधि की अनोखी विडम्बना थी कि जिस फ्रांसीसी सेना ने यूरोप में स्वतन्त्रता, समानता तथा भ्रातृत्व का सन्देश प्रसारित किया था, वही सेना निरंकुश राजतन्त्र की पुनः स्थापना में सहायता कर रही थी। इसके बाद निर्वाचक नियमों में संशोधन किया गया जिससे मताधिकार और अधिक संकुचित हो गया। निम्न सदन का कार्यकाल 5 वर्ष से बढ़कर सात वर्ष कर दिया गया। फलस्वरूप फरवरी-मार्च 1824 के निर्वाचन में विलेल के विरोधी उदारवादी दल को 435 स्थानों में से केवल 17 स्थान प्राप्त हुए। इस प्रकार अब प्रतिक्रियावादी नीति को निर्विरोध कार्यान्वित करने का मार्ग प्रशस्त हो गया।

इस समय तक लुई 18वां अत्यन्त ही वृद्ध हो चुका था अतः उसने राज्य का सारा कार्य काउन्ट आर्तुआ पर छोड़ दिया जो घोर प्रतिक्रियावादी था। उसके विरुद्ध धीरे-धीरे फ्रांस में आवाज उठने लगी तथा गुप्त क्रांतिकारी समितियों का गठन होने लगा किन्तु भाग्यवश लुई 18 वें के शासन काल में कोई उथल-पुथल नहीं हुई। 15 सितम्बर 1824 को लुई 18 वें की मृत्यु हो गई।

चार्ल्स दशम् का शासन काल (1824–30)—लुई 18 वें की मृत्यु के पश्चात् उसका भाई काउन्ट आर्तुआ, चार्ल्स दशम् के नाम से गद्दी पर बैठा। उस समय उसकी आयु 67 वर्ष की थी। वह कट्टर राजसत्तावादी दल का प्रधान था तथा क्रांति का कट्टर विरोधी एवं सम्राट के दैवी अधिकारों का प्रबल समर्थक था। वह कहा करता था कि "इङ्गलैण्ड के राजा के समान शासन करने की अपेक्षा मैं लकड़ी फाड़ना अधिक पसन्द करूँगा।" वह चर्च और शासन की एकता का प्रबल समर्थक था तथा पुरातन व्यवस्था को पुनः प्रतिष्ठित करना चाहता था। नये सम्राट से साधारण जनता जितनी घृणा करती थी, कुलीन वर्ग के लोग उतना ही उसका

आदर करते थे। चार्ल्स दशम् ने गद्दी पर बैठते ही सम्राट की निरंकुश सत्ता स्थापित करने हेतु प्रयत्न आरम्भ कर दिये।

विलेल का मन्त्रिमण्डल पूर्ववत् बना रहा और अब राजनैतिक परिस्थितियां उसकी प्रतिक्रियावादी नीति को कार्यान्वित करने के लिये सर्वथा अनुकूल थीं। सम्राट और संसद का सहयोग प्राप्त होने पर विलेन ने कट्टर राजसत्तावादियों की चिर-अभिलाषा पूर्ण करने का निश्चय किया। क्रान्तिकाल में कुलीनों की जो सम्पत्ति अपहृत कर ली गई थी उसकी क्षतिपूर्ति के लिये लगभग एक अरब फ्रेंक की राशि स्वीकृत की गई। विलेल ने चर्च के पादरियों के अधिकारों में वृद्धि करने तथा राज्य में उन्हें प्रभावशाली बनाने हेतु भी प्रयत्न किया। जनवरी 1825 में एक कानून द्वारा भिक्षुणियों की धार्मिक संस्थाओं (Convents of the Nuns) एवं उसकी सम्पत्ति पर चर्च का नियन्त्रण स्थापित किया गया। अप्रेल 1825 में 'धर्मोल्लंघन कानून' (Low of Sacrilege) द्वारा धार्मिक विषयों पर वाद-विवाद करना दण्डनीय अपराध घोषित किया गया। सम्राट ने जेसुइट पादरियों को वापस फ्रांस आने तथा राज्य की पाठशालाओं में धर्म की शिक्षा देने की अनुमति प्रदान कर दी। इस प्रकार राज्य में पादरियों का प्रभाव दिन प्रतिदिन बढ़ता गया। इस सम्बन्ध में ड्यूक आफ वेलिंगटन ने लिखा था "राजनैतिक अनुभव जैसी कोई चीज है ही नहीं। जेम्स द्वितीय का उदाहरण सामने होते हुए भी चार्ल्स दशम् पादरियों का, पादरियों के द्वारा तथा पादरियों के लिये शासन स्थापित कर रहा है।"

चार्ल्स दशम् एवं मन्त्रिमण्डल की प्रतिक्रियावादी नीतियों के कारण उदारवादियों का विरोध बढ़ता जा रहा था। विरोधी पक्ष के समाचार पत्र सरकार की कटु आलोचना कर रहे थे तथा ये समाचार पत्र जनता में लोकप्रिय होते जा रहे थे। अतः विलेल ने समाचार पत्र के प्रकाशनों पर प्रतिबन्ध लगाने के उद्देश्य से एक कानून का प्रारूप तैयार किया। किन्तु जनता ने इसका तीव्र विरोध किया, अतः अप्रेल 1827 में सरकार को यह प्रस्ताव वापस लेना पड़ा। 27 अप्रेल 1827 को जब सम्राट नेशनल गार्ड की परेड का निरीक्षण कर रहा था तब उसकी कुछ टुकड़ियों से आवाज आई 'मंत्रियों का नाश हो, जेसुइटों का नाश हो'। इस पर विलेल ने तुरन्त ही नेशनल गार्ड को समाप्त कर दिया तथा एक अध्यादेश द्वारा समाचार पत्रों पर कठोर प्रतिबन्ध लगा दिये। विदेश नीति के क्षेत्र में ब्रिटेन के साथ गठबन्धन करके टर्की के विरुद्ध यूनान की सहायता की गई। 1827 में नवारिनों के युद्ध में टर्की का बेड़ा नष्ट कर दिया गया। इन घटनाओं की भी उसके विरोधियों ने तीव्र आलोचना की। विलेल ने अपनी स्थिति सुदृढ़ बनाने के लिये सम्राट से दो अध्यादेश निकलवाये। प्रथम द्वारा उच्च सदन में 76 नये सदस्य मनोनीत किये गये ताकि वहां उदारवादियों के बहुमत को समाप्त किया जा सके। दूसरे अध्यादेश द्वारा निम्न सदन को भंग कर नये चुनावों की घोषणा की गई। नये

चुनावों में विरोधी दलों को बहुमत प्राप्त हो गया, अत, जनवरी 1828 में विलेल ने त्याग पत्र दे दिया।

मार्टिगनेक का मन्त्रिमण्डल—विलेल के पतन के पश्चात् चार्ल्स दशम् ने विकाम्टे-डि-मार्टिगनेक (Vicomte de Martignac) को प्रधान मन्त्री बनाया। यद्यपि मार्टिगनेक राजसत्तावादी था किन्तु कट्टर राजसत्तावादियों एवं कट्टर उदारवादियों के बीच समझौतेवादी नीति को अपनाना चाहता था। उसने समाचार पत्रों पर लगे प्रतिबन्धों को तथा शिक्षा पर धार्मिक नियन्त्रण को समाप्त कर दिया। उसने कम्यूनों एवं कैंटनों की परिषदों का चुनाव प्रणाली में सुधार के प्रस्ताव रखे। किन्तु उसने केन्द्रीय व्यवस्थापिका की निर्वाचन प्रणाली में कोई सुधार नहीं किया, जिससे उदारवादी असंतुष्ट हो गये। दूसरी ओर उसकी नीति से कट्टर राजसत्तावादी भी क्रोधित हो उठे। अप्रैल 1829 में उसका दोनों पक्षों ने तीव्र विरोध किया और अन्त में मार्टिगनेक ने भी त्याग पत्र दे दिया। इस प्रकार फ्रांस में दोनों पक्षों के मध्य समझौतावादी नीति का नूतन प्रयोग भी असफल हो गया।

पोलिगनेक का मन्त्रिमण्डल—मार्टिगनेक के त्याग पत्र के बाद चार्ल्स दशम् ने निश्चय किया कि वह उदारवादियों से किसी प्रकार का समझौता नहीं करेगा तथा उनकी बढ़ती हुई शक्ति का बलपूर्वक दमन करेगा। इसलिये उसने घोर प्रतिक्रियावादी तथा कट्टर कैथोलिक प्रिंस जूल्स-डि-पोलिगनेक (Prince Jules de Polignac) को प्रधानमन्त्री नियुक्त किया। पोलिगनेक मंत्रिमण्डल में सभी लोग ऐसे थे जो अपनी प्रतिक्रियावादी नीति के कारण विख्यात हो चुके थे। अत: 1 अगस्त 1829 को जब नये मंत्रिमण्डल की घोषणा की गई तो सम्पूर्ण देश में उसकी तीव्र प्रतिक्रिया हुई। फ्रांस के उन सभी वर्गों ने, जो धार्मिक कट्टरता तथा प्रतिक्रियावादी नीति का विरोध करते थे तथा जो 1814 के आज्ञा पत्र के आधार पर शासन चलाने के समर्थक थे चार्ल्स दशम् की शासन व्यवस्था को बदलने के लिए कटिबद्ध हो गये। ऐसी तनावपूर्ण स्थिति में मार्च 1830 में संसद का अधिवेशन हुआ तथा सम्राट ने विरोधियों को चेतावनी दी कि यदि षड़यन्त्रों एवं विद्रोहों द्वारा प्रशासन के कार्य में बाधाएं डाली गयी तो वह उन सभी षड़यन्त्रों एवं विद्रोहों को कुचल देगा। वस्तुत: चार्ल्स की यह चेतावनी संसदीय प्रणाली को चुनौती थी। अत: निम्न सदन ने पोलिगनेक के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव पारित कर दिया। सम्राट ने सदन को भंग कर नये चुनाव कराने की आज्ञा निकाली। 19 जुलाई 1830 के चुनाव में विरोधी सदस्यों की संख्या 221 से बढ़कर 274 हो गयी तथा शासन के समर्थक सदस्य केवल 143 रह गये।

सैन्ट क्लूद के अध्यादेश—विरोधियों से मुकाबला करने के लिए तथा उनका प्रभाव नष्ट करने के लिए 25 जुलाई 1830 को चार्ल्स ने सैन्ट क्लूद (St. Cloud) नामक स्थान से चार अध्यादेश जारी किये, जिनके अन्तर्गत—

(1) समाचार पत्रों की स्वतन्त्रता लगभग समाप्त कर दी गई।

(2) नव निर्वाचन सदन को भंग कर दिया गया।

(3) निर्वाचन कानून में इस प्रकार परिवर्तन किया गया कि लगभग 75 प्रतिशत व्यक्ति मताधिकार से वंचित हो गये तथा अब केवल 25,000 व्यक्तियों को मताधिकार दिया गया।

(4) नये कानून के अन्तर्गत सितम्बर में नये चुनाव कराने की घोषणा की गई।

इन अध्यादेशों ने जन असंतोष को चरम सीमा पर पहुँचा दिया। इन अध्यादेशों को स्वीकार करने का अर्थ होता नागरिक स्वतन्त्रता एवं वैधानिक शासन की समाप्ति, किन्तु फ्रांस का जनमत झुकने को तैयार न था।

जुलाई 1830 की क्रान्ति—सैन्ट क्लूद के अध्यादेश जनता के लिए चुनौती थे। सर्वप्रथम समाचार पत्रों की ओर से थीयर्स (Thires) ने इन अध्यादेशों के विरुद्ध, जनता को सशस्त्र विद्रोह के लिए आह्वान किया। उदारवादी, गणतन्त्रवादी, बोनापार्टिस्ट, विद्यार्थी, मजदूर आदि स्वतन्त्रता के प्रेमियों ने अपने पारस्परिक भेदभाव भुलाकर संगठित रूप से सम्राट की निरंकुशता का विरोध करने का निश्चय कर लिया। चार्ल्स इस विद्रोह के लिए तैयार नहीं था और न उसने ऐसे विद्रोह की कल्पना ही की थी। सम्राट की इस असावधानी के कारण विद्रोहियों को संगठित होने तथा मोर्चाबन्दी करने का अवसर मिल गया। हेजन ने लिखा है, 'पेरिस की जनता झुकने के लिये तैयार नहीं थी। ज्यों-ज्यों अध्यादेशों का अर्थ स्पष्ट होता जा रहा था, जनता का क्रोध तीव्र होता जा रहा था। सड़कों पर भीड़ जमा होने लगी तथा 'मंत्रिमण्डल का नाश हो, आज्ञा-पत्र चिरंजीवी हो' के नारे सुनाई पड़ने लगे।" सम्पूर्ण फ्रांस में विद्रोह की आग भड़क उठी। 26 जुलाई 1830 को रात भर पेरिस क्रान्ति के नारों एवं स्वाधीनता के जय जयकारों से गूंजता रहा। पेरिस वालों ने अपनी रक्षा के लिये सड़कों पर जगह-जगह मोर्चाबन्दी कर ली।

27 जुलाई 1830 को पेरिस की उत्तेजित जनता उमड़ पड़ी तथा नागरिकों एवं सशस्त्र सेना के बीच युद्ध आरम्भ हो गया। पेरिस की तंग एवं सर्पीली सड़कों से सशस्त्र सेना न तो तोपों का प्रयोग कर सकी और न नागरिकों की मोर्चाबन्दी ही तोड़ सकी। चार्ल्स के सैनिक इन विद्रोहियों का मुकाबला न कर सके तथा बहुत से सैनिक मारे गये। 28 जुलाई को भी संघर्ष चलता रहा। 29 जुलाई को सम्राट की सेना की दो टुकड़ियाँ क्रान्तिकारियों से जा मिली तथा क्रान्तिकारियों ने पेरिस पर अधिकार कर लिया। क्रान्ति के ये तीन दिन फ्रांस के इतिहास में **"गौरवशाली तीन दिन"** के नाम से विख्यात है।

ऐसी परिस्थिति में 30 जुलाई को सम्राट चार्ल्स पोलिगनेक को पदच्युत करने तथा अध्यादेशों को वापस लेने के लिए तैयार हो गया, किन्तु तब तक बहुत

देर हो चुकी थी। 31 जुलाई को विवश होकर चार्ल्स ने अपने पौत्र ड्यूक आफ बोर्द्रो (Duke of Bordeaux) के पक्ष में गद्दी त्याग दी तथा स्वयं इङ्गलैंड भाग गया। अन्त में 1836 में उसकी आस्ट्रिया में मृत्यु हो गयी। इस प्रकार चार्ल्स के दमनकारी शासन का अन्त हुआ। किन्तु क्रान्तिकारियों में इस बात को लेकर मत-भेद उत्पन्न हो गया कि अब फ्रांस में कैसी व्यवस्था हो ? गणतन्त्रवादी दल फ्रांस में गणतन्त्र की स्थापना चाहते थे, किन्तु उदारवादी दल, पत्रकार, संसद के प्रमुख सदस्य तथा फ्रांस के अधिकांश नागरिक गणतन्त्र की स्थापना के विरुद्ध थे क्योंकि उनके मस्तिष्क में पुराने गणतन्त्र की स्मृतियां अभी ताजी थी। अतः उदारवादी दल ने पत्रकार थीयर्स तथा बैंकर लाफायेत (Laffitte) के माध्यम से आज्ञा-पत्र पर आधारित संवैधानिक राजतन्त्र स्थापित करने का प्रस्ताव रखा। ये लोग ड्यूक आफ बोर्द्रो के शासन को स्वीकार करने को तैयार नहीं थे बल्कि आलियां के ड्यूक लुई फिलिप (Louis Phillipe) को शासक बनाना चाहते थे क्योंकि वह सदैव उदार विचारों का समर्थक रहा था। गणतन्त्रवादियों ने इसका विरोध किया। परन्तु वृद्ध लाफायेत ने अपने व्यक्तिगत प्रभाव से गणतन्त्रवादियों को अपने अनुकूल करने में सफलता प्राप्त की। 31 जुलाई को सदन के सदस्यों ने फ्रांस की जनता की ओर से लुई फिलिप को शासन के सभी अधिकार सौंपने का निर्णय किया तथा 7 अगस्त को सदन ने उसे विधिवत 'फ्रांसीसी जनता का राजा' घोषित किया न कि फ्रांस का राजा।'

जुलाई क्रांति का महत्व—1830 की क्रान्ति न केवल फ्रांस, यद्यपि यूरोप के इतिहास की एक युगान्तकारी घटना है। इस क्रान्ति के फलस्वरूप बुर्बो वंश की सत्ता समाप्त हो गयी तथा उसके स्थान पर अर्लियावंश को प्रतिष्ठित किया गया। इस सम्बन्ध में हेज ने लिखा है, "बुर्बो वंश के सफेद झण्डे का स्थान क्रान्तिकारी तिरंगे झण्डे ने ले लिया तथा निरंकुश राजतन्त्र के सिद्धान्त के स्थान पर लोकप्रिय प्रभुसत्ता के सिद्धांत की स्थापना हुई।" यद्यपि फ्रांस में राजतन्त्र पुनः स्थापित हो गया था, किन्तु वह दैवी अधिकारों पर आधारित न होकर जनता द्वारा स्वीकृत संविधान पर आधारित था। लुई फिलिप 'फ्रांस का शासक' नहीं था बल्कि 'फ्रांस की जनता का शासक' था। इस प्रकार वियना कांग्रेस ने जिन न्यायता के सिद्धान्त के आधार पर फ्रांस में पुनः बुर्बो वंश की स्थापना की थी, उसकी चार्ल्स दशम् के साथ अन्त्येष्टि क्रिया कर दी गई। बुर्बो वंश के पतन के साथ ही कट्टर राजसत्तावादियों एवं कुलीनों का प्रभाव भी समाप्त हो गया।

इस क्रान्ति से कैथोलिक चर्च को बड़ा आघात पहुँचा। अब कैथोलिक धर्म राज्य का धर्म न रहकर फ्रांस की बहुसंख्यक जनता का धर्म रह गया। इस प्रकार चर्च और शासन के गठबन्धन की योजना सदैव के लिए समाप्त हो गयी। इस क्रांति के द्वारा मध्यम वर्ग ने कुलीन वर्ग तथा धर्म गुरुओं पर विजय प्राप्त की थी। 1830

की क्रांति को 1789 की क्रांति का पूरक भी माना जाता है, क्योंकि 1789 की क्रांति के फलस्वरूप फ्रांसीसी जनता ने समानता, स्वतन्त्रता और धर्म निरपेक्षता के जो सिद्धान्त उपलब्ध किये थे, अब वे और भी अधिक सुरक्षित हो गये। निश्चित रूप से यह मध्यम वर्ग की विजय थी जैसा कि प्रोफेसर हेज ने लिखा है, "फ्रांस की जुलाई क्रांति का सबसे महत्वपूर्ण परिणाम मध्यम वर्ग की विजय थी।" 1789 में भी क्रांति का संचालन इसी वर्ग ने किया था तथा 1815 से 1830 के बीच जब पुनः इस वर्ग को विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग से खतरा उत्पन्न हो गया तो इसी वर्ग ने निरंकुश एवं प्रतिक्रियावादी शासक को गद्दी छोड़ने के लिए लिये विवश कर दिया।

इस क्रांति का महत्व इस बात में भी निहित है कि कट्टर गणतन्त्रवादियों को जो राजतन्त्र को समाप्त करने की आशा रखते थे, निराश होना पड़ा। यदि 1830 की क्रांति के बाद फ्रांस में गणतन्त्र स्थापित कर दिया जाता तो यह सम्पूर्ण यूरोप के लिये चुनौती होती क्योंकि अब तक यूरोप के राज्य 1789 की फ्रांसीसी क्रांति को भूले नहीं थे अतः वे तुरन्त इसे नष्ट करने के लिए उतारू हो जाते। फिर उदारवादियों का लुई फिलिप को शासक बनाने का प्रस्ताव ऐसा था जिसे गणतन्त्रवादियों को भी स्वीकार करना पड़ा। लुई फिलिप क्रांति का समर्थक था तथा 1789 में उसने क्रांतिकारी सेना में रहकर क्रांति-विरोधियों से संघर्ष किया था। प्रतिक्रिया के काल में वह लोकतन्त्र शासन का पक्षपाती था तथा उसे जनता बहुत चाहती थी। इसलिए ऐसे व्यक्ति को सम्राट बनाने में गणतन्त्रवादियों को कोई विशेष आपत्ति नहीं हो सकती थी। किन्तु गणतन्त्रवादियों ने 1830 की क्रांति के बाद भी न तो अपने सिद्धान्त छोड़े और न आशाएँ छोड़ी। जब इस दल के नेता केवेन्याक (Cavaignac) को उसके दल की सेवाओं के लिए धन्यवाद दिया गया तो उसने उत्तर दिया कि, "हमें धन्यवाद देना आपकी भूल है, हम झुक इसलिए गये हैं कि अभी हममें पर्याप्त शक्ति नहीं है। आगे चलकर स्थिति इससे भिन्न हो सकती है।"

कुछ इतिहासकारों का मत है कि इस क्रांति द्वारा राजनैतिक व्यवस्था में कोई मूलभूत परिवर्तन नहीं हुए। राजतन्त्र उसी प्रकार बना रहा, 1814 के आज्ञा-पत्र में बहुत कम संशोधन किये गये, जन साधारण को शासन में कोई अधिकार प्राप्त न हो सका और न ही मताधिकार में कोई विस्तार किया गया। किन्तु यह अपने आप में एक महत्वपूर्ण बात थी कि शासन की सत्ता सम्राट के हाथों से निकल कर अब जनता के हाथ में आ गयी थी। सम्राट को आपातकाल में अध्यादेश जारी करने का अधिकार था, वह अब समाप्त हो गया। केथोलिक धर्म की सर्वोच्चता का भव्य महल ध्वस्त हो गया तथा सभी धर्मों की समानता का मार्ग प्रशस्त हो गया। इंगलैण्ड की जनतन्त्रीय भावनाओं को गति प्राप्त हुई तथा मेटरनिख प्रणाली पतनोन्मुख होने लगी। तत्कालीन आन्तरिक एवं अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में इससे अधिक परिवर्तन करना सम्भव ही नहीं था।

इस क्रांति का अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति पर भी गहरा प्रभाव पड़ा। यूरोप के राज्य परस्पर दो विरोधी राजनैतिक क्षेत्रों में विभाजित हो गये। एक ओर ब्रिटेन, फ्रांस, बेल्जियम, स्वीटजरलैंड आदि राज्य थे जहाँ उदारवाद को सफलता प्राप्त हुई तथा दूसरी ओर रूस, प्रशा और आस्ट्रिया के निरंकुश राज्य थे जिन्होंने जर्मनी, इटली और पोलैण्ड में उदारवाद का दमन किया। इस क्रांति से वियना कांग्रेस की व्यवस्था पर भारी प्रहार हुआ। बेल्जियम की स्वतन्त्रता ने वियना कांग्रेस के महत्वपूर्ण निर्णय को भंग कर दिया।

यूरोपीय राज्यों पर 1830 की क्रान्ति का प्रभाव

जुलाई 1830 की फ्रांस की क्रांति ने यूरोप के अनेक राज्यों को प्रभावित किया जिससे यूरोप के राजनैतिक वातावरण में पुनः गतिशीलता आ गयी। यूरोपीय राज्यों के निवासी वियना कांग्रेस की व्यवस्था को समूल नष्ट करना चाहते थे और ऐसा करने के लिये वे अवसर की तलाश में थे। 1830 की फ्रांसीसी क्रान्ति ने उन्हें अवसर प्रदान किया जिससे वे अपनी मुक्ति के लिये लालायित हो उठे। बेल्जियम, पोलैण्ड, जर्मनी, इटली, इंगलैण्ड आदि राज्यों में लोकतन्त्र एवं राष्ट्रीयता की भावना को प्रोत्साहन मिला। अतः एक संक्रामक रोग की तरह इस क्रान्ति की भीषण ज्वाला सम्पूर्ण यूरोप में फैल गई, जिससे वियना व्यवस्था के संरक्षकों के समक्ष एक भयंकर समस्या उत्पन्न हो गयी। क्रान्ति के कारण यूरोपीय रंगमंच पर उदारवाद एवं प्रतिक्रियावाद का भीषण ताण्डव नृत्य आरम्भ हो गया।

बेल्जियम की क्रान्ति—वियना सम्मेलन में फ्रांस की उत्तरी पश्चिमी सीमा पर एक सुदृढ़ राज्य स्थापित करने के उद्देश्य से बेल्जियम (दक्षिणी नीदरलैण्ड्स) को हालैण्ड (उत्तरी नीदरलैण्ड्स) के साथ मिलाकर संयुक्त नीदरलैण्ड्स का निर्माण किया गया था। वियना सम्मेलन के राजनीतिज्ञों ने अपने स्वार्थों एवं शक्ति संतुलन के सिद्धान्त को सर्वोपरि मानते हुए बेल्जियम के जनमत की आकांक्षाओं की ओर कोई ध्यान नहीं दिया था। वियना कांग्रेस के इस निर्णय से बेल्जियम के निवासी बड़े असंतुष्ट हुए थे क्योंकि उनकी भाषा धर्म और संस्कृति हालैण्ड के निवासियों से सर्वथा भिन्न थी। हालैण्ड के निवासी प्रोटेस्टेंट थे जबकि बेल्जियम की जनता कट्टर रोमन कैथोलिक धर्म की समर्थक थी। बेल्जियम में फ्रेंच सभ्यता एवं संस्कृति की प्रधानता थी जबकि हालैण्ड के निवासी फ्रेंच सभ्यता एवं संस्कृति के कट्टर विरोधी थे। इसके अतिरिक्त दोनों के राजनैतिक दृष्टिकोणों में भी अन्तर था। हालैण्ड लगभग दो शताब्दियों से स्वतन्त्र राज्य के रूप में अपनी राष्ट्रीय उपलब्धियों को प्रदर्शित कर चुका था, जबकि बेल्जियम एक विदेशी शासन की अधीनता के अन्तर्गत आता रहा था। अतः हालैण्ड के निवासियों का बेल्जियम के लोगों को राजनैतिक दृष्टि से अपने से हेय समझना स्वाभाविक ही था।

संयुक्त नीदरलैण्ड्स की स्थापना से हालैण्डवासियों को कुछ लाभ भी प्राप्त हुए थे। बेल्जियम के उद्योग धन्धों तथा यातायात के साधनों में काफी उन्नति हुई थी। एडमण्डसन ने लिखा है कि, "यदि डच और बेल्जियम के लोगों में धार्मिक मतभेद न होते तो सम्भवतः बेल्जियमवासी अपनी भौतिक समृद्धि के समक्ष अपनी राष्ट्रीयता को भुलाकर अपने पड़ौसियों से घुल मिल कर एक हो जाते।" किन्तु हालैण्ड के शासक विलियम प्रथम की नीति के कारण बेल्जियम के लोगों का असंतोष निरन्तर बढ़ता गया। यद्यपि बेल्जियम की जनसंख्या 34 लाख थी तथा हालैण्ड की जनसंख्या 20 लाख थी फिर भी व्यवस्थापिका सभा में दोनों प्रदेशों के प्रतिनिधि समान संख्या में रखे गये। संयुक्त नीदरलैंड्स के मन्त्रिमण्डल में सात मन्त्रियों में से बेल्जियम को केवल एक स्थान दिया गया। 1822 में विलियम प्रथम ने डच भाषा को राज्य भाषा घोषित कर दिया तथा समस्त शासकीय पदों पर नियुक्ति हेतु डच भाषा का ज्ञान अनिवार्य कर दिया। हालैण्ड के हित में बेल्जियम की जनता पर भारी कर लगाये गये तथा उनकी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, समाचार पत्रों, भाषण तथा लेखों पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। ऐसी परिस्थितियों में बेल्जियम के कैथोलिकों एवं उदारवादियों ने अपने पारस्परिक मतभेदों को भुलाकर हालैण्ड के शासन के विरुद्ध संगठित होकर कार्य करने के उद्देश्य से 1828 में संयुक्त लिबरल कैथोलिक दल की स्थापना कर ली।

विलियम प्रथम की इस नीति से बेल्जियम के लोगों का असंतोष अत्यधिक बढ़ गया। उन्होंने सम्राट के पास करों को हटाने, समाचार पत्रों की स्वतन्त्रता आदि की मांग को लेकर एक याचिका प्रस्तुत की। सम्राट ने उनकी मांग ठुकरा दी। इस प्रकार 1830 के आरम्भ तक बेल्जियम की स्थिति अत्यन्त विस्फोटक बन चुकी थी। फ्रांस की जुलाई क्रांति की सूचना मिलते ही सम्पूर्ण बेल्जियम में सनसनी फैल गयी। 25 अगस्त 1830 को ब्रुसेल्स (Brussels) में सम्राट के जन्म दिन के उपलक्ष में एक उत्सव हुआ जहाँ नेपिल्स के स्वतन्त्रता संग्राम पर आधारित एक नाटक प्रस्तुत किया गया। इस नाटक को देखकर जनता में इतनी उत्तेजना फैल गई कि बाहर निकलते ही जनता ने सरकारी कार्यालयों तथा उच्च पदाधिकारियों के निवास स्थानों पर हमला कर दिया। इस दंगे ने राष्ट्रीय विद्रोह का रूप धारण कर लिया। बेल्जियम के नागरिकों का एक प्रतिनिधिमण्डल सम्राट के पास गया तथा बेल्जियम के लिये पृथक शासन व्यवस्था की मांग की। किन्तु सम्राट ने इस मांग को स्वीकार करने में अनावश्यक विलम्ब कर दिया। यद्यपि 29 सितम्बर को व्यवस्थापिका सभा ने बेल्जियम को प्रथम इकाई के रूप में मान्यता प्रदान कर दी, किन्तु उस समय तक स्थिति बदल चुकी थी। 4 अक्टूबर 1830 को बेल्जियम में एक अन्तरिम सरकार (Provisional Government) की स्थापना हुई जिसने बेल्जियम को एक स्वतन्त्र राष्ट्र घोषित कर दिया तथा बेल्जियम के लिये नया संविधान बनाने के लिये एक संविधान सभा स्थापित कर दी।

वेल्जियम की क्रान्ति ने वियना सम्मेलन के निर्णय को भंग कर दिया था। किन्तु इस समय बड़े राज्यों में आपसी फूट थी। आस्ट्रिया का चान्सलर मेटरनिख हालैण्ड के पक्ष में हस्तक्षेप करना चाहता था किन्तु वह उस समय इटली व जर्मनी के विद्रोहों का दमन करने में व्यस्त था। रूस का ज़ार भी इस क्रान्ति की बाढ़ को रोकना चाहता था किन्तु नवम्बर 1830 में पोलैण्ड में विद्रोह हो जाने के कारण वह भी कुछ नहीं कर सका। प्रशा के शासन ने अपने प्रदेशों में क्रान्ति के प्रवेश को रोकने के लिये केवल सीमाओं पर सैनिक तैनात कर दिये। फ्रांस का शासक लुई फिलिप स्वयं वेल्जियम की स्वतन्त्रता का समर्थक था। इंगलैंड में ड्यूक आफ वेलिंगटन ने वेल्जियम की समस्या पर विचार करने के लिये 4 नवम्बर 1830 को पांच बड़े राज्यों का एक सम्मेलन लंदन में आमंत्रित किया। किन्तु इसी समय वेलिंगटन मंत्रिमंडल का पतन हो गया तथा ग्रे मंत्रिमण्डल में पामर्सटन ने विदेश मंत्री का पद ग्रहण किया, जो वेल्जियम की स्वतन्त्रता का समर्थक था। अतः लंदन सम्मेलन ने जनवरी 1831 में एक प्रोटोकोल द्वारा वेल्जियम को एक स्वतन्त्र राज्य के रूप में मान्यता प्रदान कर दी। वेल्जियम की राष्ट्रीय कांग्रेस ने लुई फिलिप के द्वितीय पुत्र ड्यूक ऑफ नेमूर को नये राज्य का शासक बनाने का निर्णय लिया। किन्तु पामर्सटन ने इस निर्णय का विरोध किया। क्योंकि इससे वेल्जियम पर फ्रांस का प्रभुत्व हो जाता। अतः वेल्जियम की कांग्रेस ने जर्मन राजकुमार लियोपोल्ड (Leopold) को अपना नया शासक चुना। जुलाई 1831 में उसे बड़ी धूमधाम से वेल्जियम की गद्दी पर बैठाया गया। अगस्त 1831 में हालैण्ड ने वेल्जियम पर आक्रमण कर दिया। इस पर फ्रांस ने वेल्जियम को सैनिक सहायता दी। फलतः हालैण्ड की सेनाओं को पीछे हटना पड़ा। 1839 से लंदन की सन्धि द्वारा हालैण्ड और यूरोप के पाँच बड़े राज्यों ने वेल्जियम को स्वतन्त्र राज्य मानते हुए उसकी अखण्डता एवं तटस्थता बनाये रखने का वचन दिया।

जर्मनी की क्रान्ति—वियना सम्मेलन के निर्णय के अनुसार जर्मनी के 39 राज्यों को मिलाकर जर्मन संघ का निर्माण किया गया तथा जर्मन संघ के संविधान में एक राष्ट्रीय सभा का प्रावधान किया गया जिसका अध्यक्ष आस्ट्रिया के सम्राट को बनाया गया था। इस राष्ट्रीय सभा पर आस्ट्रिया का अत्यधिक प्रभाव था। जर्मन संघ में केवल प्रशा में ही आस्ट्रिया के प्रभुत्व का विरोध करने की सामर्थ्य थी, किन्तु वह अपने उद्योगों के विकास में लगा हुआ था तथा आंतरिक विद्रोहों से भी सशंकित था। अतः लगभग 50 वर्षों तक वह आस्ट्रिया की नीति का अनुमोदन करता रहा और मेटरनिख को अपनी प्रतिक्रियावादी नीति को कार्यान्वित करने का अवसर मिल गया। 1815 के बाद जर्मन राज्यों की जनता ने न तो राजनैतिक प्रगति की ओर ध्यान दिया और न ही संवैधानिक सुधारों की माँग की, केवल बुद्धिजीवी वर्ग ने उदारवादी विचारधारा का प्रचार करने का प्रयत्न किया। 23 मार्च 1819 को

रूस के एक नाटककार कात्सेबू जो रूस सरकार का वेतन भोगी था, हत्या कर दी गई। इस पर मेटरनिख ने कार्ल्सबाद के आदेश द्वारा कठोर पाबंदियाँ लगाकर उदारवाद को रोकने का प्रयत्न किया। यद्यपि जर्मनी में मेटरनिख का पूर्ण प्रभाव स्थापित हो चुका था, तथापि 1830 में फ्रांस की क्रांति का जर्मनी के कुछ छोटे राज्यों पर प्रभाव अवश्य पड़ा।

1830 में ब्रुंसविक (Brunswick) की जनता ने संवैधानिक अधिकार प्राप्त करने हेतु आन्दोलन कर दिया। फलतः शासक चार्ल्स को सिंहासन त्यागना पड़ा तथा उसके भाई ने जब फ्रांस के समान संविधान स्वीकार कर लिया तब उसे ब्रुंसविक का शासक बनाया गया। इसी प्रकार हेंस-केसल (Hese-Cassel) के शासक को भी नया संविधान स्वीकार कर शासन के सभी अधिकार अपने पुत्र को सौंपने पड़े। 1831 में सेक्सनी में स्वयं कुलीनों ने अत्याचारी शासन के विरुद्ध विद्रोह कर दिया, फलस्वरूप वहाँ के शासक को भी संशोधित शासन व्यवस्था को स्वीकार करना पड़ा। 1833 में हेनोवर के शासक को भी नया संविधान स्वीकार करना पड़ा। किन्तु जर्मनी के ये सभी राज्य प्रभावहीन थे। अतः यहाँ के शासकों ने मेटरनिख से आश्वासन प्राप्त कर जनता को दिये गये अधिकार वापस ले लिये तथा वहाँ पुनः निरंकुश एवं प्रतिक्रियावादी व्यवस्था स्थापित कर दी। जून 1832 में संघीय राष्ट्रसभा का वियना में अधिवेशन बुलाया गया तथा मेटरनिख के आदेशानुसार, सभा ने कार्ल्सबाद के आदेशों की पुष्टि कर दी तथा यह भी घोषणा की गई कि यदि किसी राजा और उसकी प्रतिनिधि सभा में कभी गतिरोध उत्पन्न होगा तो संघीय राष्ट्रसभा को हस्तक्षेप करने का अधिकार होगा। जर्मन राज्यों के प्रत्येक शासक को कहा गया कि वे शासक की सत्ता को कम करने वाली मांगों को अस्वीकार कर दे। जर्मनी की राजनैतिक संस्थाओं एवं सार्वजनिक सभाओं पर प्रतिबन्ध लगा दिये गये। प्रेस तथा विश्वविद्यालयों का दमन किया गया। अध्यापकों तथा छात्रों को जेल में ठूंस दिया गया। अप्रेल 1833 में कुछ उदारवादियों ने फ्रेंकफर्ट पर अधिकार करने तथा संघीय राष्ट्रसभा भंग करने का षड़यन्त्र रचा, किन्तु उसे विफल कर दिया गया। 1834 में कुछ नये नियम स्वीकृत किये गये जिनके अनुसार विभिन्न राज्यों में विद्रोह का दमन करने के लिए संघीय राष्ट्रीय सभा की विशेष समितियाँ बनायी गई। इस प्रकार जर्मनी में जो कुछ संवैधानिक जीवन था वह भी मेटरनिख के प्रयत्नों से समाप्त कर दिया गया तथा जर्मनी में एक बार पुनः प्रतिक्रियावादी व्यवस्था की स्थापना हो गई।

इटली की क्रान्ति—वियना सम्मेलन ने इटली को पुनः छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित कर दिया था तथा लोम्बार्डी और वेनेशिया के सम्पन्न क्षेत्रों पर आस्ट्रिया का आधिपत्य स्थापित हो गया था। मेटरनिख ने प्रारम्भ से ही अपनी प्रतिक्रियावादी नीति द्वारा निरंकुश राजतन्त्र स्थापित कर दिये थे। इटली की जनता

भ्रष्टाचार एवं प्रतिक्रिया पर आधारित शासन व्यवस्था से अत्यधिक क्षुब्ध थी। सिसली, नेपिल्स, वेनिशिया तथा पीडमान्ट के लोगों ने पृथकता की भावना को त्याग कर अपनी मातृभूमि की मुक्ति के लिए प्रयत्नशील हो गये। इटली में अनेक गुप्त क्रान्तिकारी समितियाँ स्थापित हो गयी, जिनमें नेपिल्स में स्थापित 'कार्बोनरी संस्था' प्रमुख थी। इन्हीं गुप्त समितियों के नेतृत्व में 1820–21 में नेपिल्स व पीडमान्ट में विद्रोह हुए, किन्तु मेटरनिख ने इनका दमन कर दिया। यद्यपि मेटरनिख के दमन चक्र के सामने विद्रोहियों को दबना पड़ा था, तथापि उनकी राष्ट्रीय भावनाओं को नहीं कुचला जा सका।

1830 की फ्रांसीसी क्रान्ति ने इटली में विद्रोह की दबी हुई अग्नि को पुनः प्रज्ज्वलित कर दिया। नवम्बर 1830 में पोप के राज्य में क्रान्तिकारियों ने विद्रोह कर दिया। 1831 में विद्रोह की यह अग्नि परमा व मोडेना में भी फैल गयी। परमा की जनता ने रानी मेरी लुइसा के विरुद्ध विद्रोह कर दिया तथा मेरी लुइसा को राज्य छोड़कर अपने मायके आस्ट्रिया में शरण लेनी पड़ी। इधर पोप की लौकिक सत्ता का अन्त हो गया। मेटरनिख ने इन विद्रोहों को आस्ट्रिया के लिए खतरा समझा, क्योंकि इटली के उत्तरी राज्य लोम्बार्डी पर आस्ट्रिया का शासन था। अतः क्रान्ति का दमन करने के लिए आस्ट्रिया ने अपनी सेना इटली में भेज दी, जिसने क्रान्ति का बड़ी निर्दयतापूर्वक दमन कर दिया तथा प्राचीन शासक पुनः गद्दियों पर बैठा दिये गये। पोप को भी उसकी लौकिक सत्ता पुनः प्राप्त हो गयी। 1831 में रूस, प्रशा, आस्ट्रिया, फ्रांस और इंगलैंड के प्रतिनिधियों ने मिलकर पोप के राज्य में सुधार करने हेतु पोप को एक ज्ञापन दिया। पोप ने ज्ञापन के आधार पर सुधार करना स्वीकार कर लिया, किन्तु बाद में उसने वचन का पालन नहीं किया। अतः आस्ट्रिया की सेना के हटते ही वहाँ पुनः विद्रोह आरम्भ हो गये। जनवरी 1832 में पोप ने आस्ट्रिया की सेना को पुनः बुलाया, किन्तु फ्रांस आस्ट्रिया के इस हस्तक्षेप को सहन न कर सका तथा शक्ति संतुलन बनाये रखने के लिये फ्रांस ने भी अपनी सेना भेज दी। इंगलैंड ने फ्रांस की इस कार्यवाही का समर्थन किया। फ्रांस की सेनाओं ने एकोना पर अधिकार कर लिया तथा घोषणा की कि आस्ट्रिया की सेना के न हटने तक फ्रांस की सेना भी नहीं हटेगी। फ्रांस के इस हस्तक्षेप से इटली की राजनीति में फ्रांस व आस्ट्रिया की प्रतिद्वन्द्विता आरम्भ हो गयी। 1838 में आस्ट्रिया ने अपनी सेना वापस बुला ली। इसलिए फ्रांस की सेना भी वापिस लौट गयी। पोप का निरंकुश शासन पुनः आरम्भ हो गया। यद्यपि इटली की क्रान्ति का दमन कर दिया गया था किन्तु अब इटली की जनता आस्ट्रिया से और भी अधिक घृणा करने लगी तथा अपने लक्ष्य की प्राप्ति हेतु उन्होंने अधिक तेजी से तैयारी आरम्भ कर दी।

पोलैण्ड की क्रान्ति—वियना सम्मेलन ने पोलैण्ड का अधिकांश भाग रूस को दे दिया था। रूस का जार अलेक्जेण्डर प्रथम, जो उन दिनों उदारवादी था, ने रूस

से पृथक एक स्वतन्त्र पोलैण्ड राज्य की स्थापना की तथा नये राज्य को नया संविधान दिया। किन्तु पोलैण्ड की जनता नये संविधान से संतुष्ट नहीं हुई क्योंकि वह पूर्ण स्वाधीनता चाहती थी। कुछ समय बाद रूस का जार अलेक्जेण्डर प्रथम मेटरनिख के प्रभाव में आ गया तथा उदारवाद का विरोध करने लगा। 1825 में जार अलेक्जेण्डर प्रथम की मृत्यु हो गई तथा उसका भाई निकोलस प्रथम रूस का जार बना। वह निरंकुश, स्वेच्छाचारी और जिद्दी प्रवृत्ति का था। उसने पोलैण्ड में रूसी अधिकारियों की संख्या बढ़ा दी तथा संसद के अधिकारों में हस्तक्षेप करने लगा था। उसकी इस नीति के कारण पोलैण्ड में गुप्त क्रान्तिकारी आन्दोलन जोर पकड़ने लगा।

जब पोलैण्ड के क्रान्तिकारियों को फ्रांस की 1830 की क्रान्ति की सफलता की सूचना मिली तो उनमें उत्साह की लहर दौड़ गयी। उन्हें फ्रांस से सहायता मिलने की पूरी आशा थी। जब अगस्त-सितम्बर में बेल्जियम में क्रान्ति हो गयी जिसे कुचलने के लिए रूस के जार ने पोलैण्ड की सेना को बेल्जियम भेजना चाहा तब 29 नवम्बर 1830 को वारसा में विद्रोह हो गया। यह विद्रोह इतना अचानक हुआ कि रूसी गवर्नर को अपनी जान बचाकर भागना पड़ा। शीघ्र ही पोलैण्ड के अन्य भागों में भी क्रान्ति फैल गयी। क्रान्तिकारियों ने रूस की सेना को पोलैण्ड से भगा दिया। 4 दिसम्बर 1830 को वारसा में जनरल क्लोपिकी (Chlopicki) के नेतृत्व में एक अस्थायी सरकार बनायी गई जिसने रूस से समझौते का असफल प्रयत्न किया। 19 जनवरी 1831 को क्लोपिकी ने त्याग पत्र दे दिया तथा रेकजीविल (Raczivil) को प्रधान सेनापति नियुक्त किया गया। 26 जनवर 1831 को पोलैण्ड की संसद ने रूसी शासन की समाप्ति की घोषणा करदी, जो एक प्रकार से रूस को युद्ध की चुनौती थी।

इस क्रान्ति को कुचलने के लिए, फरवरी 1831 के आरम्भ में रूस की सेना पोलैण्ड में प्रविष्ट हुई। पोलैण्ड ने अपनी छोटी सी सेना से रूस की सेना का डटकर मुकाबला किया। पोलैण्ड के क्रान्तिकारियों ने जर्मनी, इंगलैण्ड, फ्रांस से सहायता देने की प्रार्थना की, किन्तु पोलैण्ड के प्रति सहानुभूति होते हुए भी रूस के भय से किसी ने सहायता न दी। पोलैण्ड अपनी अल्प सैन्य शक्ति के बल पर विशाल रूसी सेना का मुकाबला न कर सका तथा लगभग एक वर्ष तक शत्रु का सामना करने के बाद दिसम्बर 1831 में पोलैण्ड ने हथियार डाल दिये। पोलैण्ड के संविधान को रद्द करके उसे रूसी साम्राज्य का एक अंग बना दिया गया। निकोलस ने पोलैण्ड में रूसीकरण की नीति अपनायी तथा विद्रोहियों को अमानुषिक दण्ड दिये। हजारों देशभक्तों ने भाग कर फ्रांस, जर्मनी व आस्ट्रिया में शरण ली। यद्यपि पोलैण्ड की यह क्रान्ति असफल हो गयी थी तथापि इस क्रान्ति के कारण रूस, प्रशा और

आस्ट्रिया, फ्रांस व वेल्जियम में हस्तक्षेप न कर सके। अतः इस क्रान्ति ने फ्रांस व वेल्जियम की क्रान्तियों को सफल बनाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

इंगलैण्ड पर प्रभाव—नेपोलियन की पराजय के बाद इंगलैंड के लोगों ने सुख एवं समृद्धि की कल्पना की थी। किन्तु उनकी कल्पनाओं का महल ध्वस्त हो गया। विदेशों में ब्रिटेन के माल की मांग कम होने से कई कारखाने बन्द हो गये जिससे लगभग 5 लाख लोग बेरोजगार हो गये। 1815 में अन्न कानून (Corn Laws) के कारण खाद्यान्नों के भाव बहुत बढ़ गये। मशीनों के प्रयाग से घरेलू उद्योग धन्धे समाप्त हो गये। 1818 तक जनता में असंतोष का वातावरण बना रहा तथा निम्न वर्ग में उच्च वर्ग के प्रति घृणा उत्पन्न हो गयी। सुधारवादियों ने इस स्थिति का लाभ उठाया तथा सुधारों की मांग की। किन्तु लार्ड लिवरपूल की टोरी सरकार ने प्रतिक्रियावादी नीति अपनाई। इसके बावजूद भी बेरोजगारों एवं मजदूरों के आन्दोलन चलते रहे। अगस्त 1819 में मेनचेस्टर में सेंट पीटर्स फील्ड नामक स्थान पर सुधारों की मांग के समर्थन में एक आम सभा आयोजित की गई किन्तु सैनिकों ने उसे भंग कर दिया तथा अनेक सुधारवादियो को गिरफ्तार कर लिया। ब्रिटिश सरकार ने सभा को राजनैतिक षडयंत्र की संज्ञा दी, जब कि जनता ने इसे मेनचेस्टर का हत्याकाण्ड कहा। इन उपद्रवों का दमन करने के लिए छः कानून पारित किये गये तथा सार्वजनिक सभाओं, सैनिक शिक्षा तथा छोटी-छोटी पुस्तकों या पेम्फलेटों पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। फरवरी 1820 में सुधारवादियों ने पूरे मन्त्रिमण्डल की हत्या करने का षडयन्त्र रचा, किन्तु षडयन्त्र का पहले ही भेद खुल जाने से षडयन्त्रकारियों को मृत्युदण्ड दे दिया गया। तत्पश्चात् 1830 तक स्थिति शान्त रही क्योंकि 1822 में लिवरपूल मन्त्रिमण्डल का पुनर्गठन हुआ। राबर्ट पील को गृहमन्त्री तथा केनिंग को विदेश मन्त्री बनाया गया, जो सुधारवादी विचारों के समर्थक थे। अत: 1822 में 1830 के बीच विभिन्न क्षेत्रों में सुधार किये गये। फरवरी 1827 में अपनी बीमारी के कारण लिवरपूल ने त्याग पत्र दे दिया तथा केनिंग नया प्रधानमन्त्री बना। अगस्त 1827 में केनिंग की मृत्यु हो गयी तथा ड्यूक ऑफ वेलिंगटन ने प्रधानमन्त्री का पद ग्रहण किया। वह मेटरनिख का अभिन्न मित्र था।

इंगलैण्ड की संसदीय व्यवस्था इतनी दोषपूर्ण थी कि उसमें जनता का वास्तविक प्रतिनिधित्व नहीं था। मताधिकार अत्यन्त ही संकुचित था जिससे भूस्वामियों तथा लॉर्डो का अधिक प्रभाव था और भ्रष्टाचार का बोलबाला था। अत: छोटे पिट के समय से ही सुधारों की आवश्यकता समझी जाने लगी। संसद सदस्य अर्ल ग्रे ने संसदीय सुधारों हेतु अनेक प्रयत्न किये किन्तु टोरी दल उसका विरोध करता रहा। फ्रांस की 1830 की क्रान्ति की सफलता से प्रेरित होकर इंगलैण्ड की जनता ने संवैधानिक सुधारों की मांग तेज कर दी। स्थान-स्थान पर

सार्वजनिक सभाएं की जाने लगी। सरकार ने इस मांग को अस्वीकार कर दिया। टोरी दल की इस रूढ़िवादी नीति के कारण उसकी प्रतिष्ठा को भारी धक्का लगा तथा 1830 के चुनाव में व्हिग दल को बहुमत प्राप्त हुआ। अर्ल ग्रे ब्रिटेन का नया प्रधानमन्त्री बना। 1 मार्च 1831 को संसद सदस्य जॉन रसेल (John Russell) ने कामन सदन में प्रथम संसदीय सुधार बिल प्रस्तुत किया। परन्तु बिल में एक संशोधन के प्रश्न पर सरकार पराजित हो गयी। अतः संसद को भंग करके नये चुनाव कराये गये। चुनावों में व्हिग दल ने केवल एक ही नारा दिया, "बिल, सम्पूर्ण बिल तथा बिल के अतिरिक्त कुछ नहीं।" चुनाव में पुनः व्हिग दल को बहुमत प्राप्त हुआ। जॉन रसेल ने दूसरी बार सुधार विधेयक प्रस्तुत किया जिसे कामन सदन ने तो स्वीकार कर लिया, किन्तु लार्ड सदन में उसे बहुमत से अस्वीकार कर दिया गया। इस अस्वीकृति से सारे देश में उत्तेजना फैल गयी तथा कुछ नगरों में दंगे फैल गये। सभाओं, जुलूसों एवं प्रदर्शन का तांता लग गया। ब्रिटेन में फ्रांस की जुलाई क्रान्ति के लक्षण प्रकट होने लगे। जॉन रसेल ने पुनः विधेयक प्रस्तुत किया। इस बार सरकार ने सम्राट से प्रार्थना की कि लार्ड सदन द्वारा विधेयक पारित न करने पर वह (सम्राट) आवश्यक संख्या में व्हिग दल के व्यक्तियों को लार्ड सदन में मनोनीत करे। सम्राट इस प्रस्ताव के पक्ष में नहीं था, इसलिये सम्राट ने टोरी दल के प्रधान वेलिंगटन को कहलवाया कि वह अपने दल के सदस्यों सहित विधेयक पर मतदान के समय, सदन से अनुपस्थित रहे। अतः वेलिंगटन अपने 200 साथियों सहित लार्ड सदन से अनुपस्थित रहा। परिणामस्वरूप सुधार विधेयक पारित हुआ, जिससे मताधिकार विस्तृत हो गया तथा जनता के राजनैतिक अधिकार बढ़ गये। यद्यपि यह अधिनियम पूर्ण लोकतान्त्रिक नहीं था तथा इससे उग्र सुधारवादी सन्तुष्ट नहीं हुए, फिर भी इस अधिनियम ने भविष्य में होने वाले संसदीय सुधारों के लिये मार्ग खोल दिया।

इस प्रकार फ्रांस की जुलाई 1830 की क्रान्ति ने लगभग सम्पूर्ण यूरोप को हिला दिया तथा यूरोप में उदारवादी विचारों को बल प्रदान किया। उदारवादी विचारों का प्रभाव बढ़ जाने से मेटरनिख का प्रभाव कम होने लगा। प्रतिक्रियावादी नीति को कार्यान्वित करने हेतु मेटरनिख ने जो संघ (चतुर्राष्ट्र मैत्री) बनाया था, उसका भी अन्त हो गया। अब यह स्पष्ट हो गया कि सम्राट की स्वेच्छाचारिता एवं निरंकुशवादिता की नींव खोखली हो चुकी है तथा चर्च के धर्माधिकारियों की प्रभुता का भव्य प्रासाद भी डगमगाने लगा है।

लुई फिलिप का शासन तथा 1848 की क्रान्ति—1830 की क्रान्ति के परिणामस्वरूप लुई फिलिप फ्रांस का शासक बना था। उस समय उसकी आयु 57 वर्ष की थी। उसने 1789 की क्रान्ति से 1830 की क्रान्ति तक फ्रांस एवं इतिहास की घटनाओं का गहन अध्ययन किया था। इसलिए वह एक वैधानिक शासक की

स्थिति एवं उसकी मर्यादाओं को भली-भांति जानता था। फ्रांस में निरंकुश शासन के प्रति जो घृणा व्याप्त थी उसे भी वह जानता था। अतः वह लोकतान्त्रिक सिद्धांतों के आधार पर शासन करना चाहता था। वह साधारण ढंग से रहता था, बगल में छाता दबाये पैदल ही पेरिस की सड़कों पर घूमने निकल जाता। सभी प्रकार के व्यक्तियों से निःसंकोच मिलता तथा कभी-कभी मजदूरों के साथ बैठकर शराब भी पी लेता था। इन दिखावटी कार्यों से आरम्भ में उसकी लोकप्रियता बहुत बढ़ी। किन्तु वह अवसरवादी था, क्योंकि कुछ समय बाद यह स्पष्ट होने लगा था कि उसके इस दिखावटीपन के पीछे सत्ता की भूख छिपी हुई थी। वह न तो उदारवादी था और न प्रतिक्रियावादी। उसमें सम्राट की महानता न होकर एक व्यापारी की नम्रता थी। उसने अपने शासन काल में सभी पक्षों को संतुष्ट करने का प्रयत्न किया, किंतु फिर भी उसकी कुछ कठिनाइयां, गृह तथा विदेश नीति की दुर्बलताएं अन्त में उसके पतन का कारण बन गयी।

लुई फिलिप की कठिनाइयां—लुई फिलिप की स्थिति प्रारम्भ से ही बड़ी नाजुक थी। संवैधानिक दृष्टि से उसके अधिकार निर्बल थे, क्योंकि उसका निर्वाचन जनता द्वारा नहीं हुआ था बल्कि निम्न सदन (Chamber of Deputies) द्वारा हुआ था, जिसके 430 सदस्यों में से 219 ने ही उसके पक्ष में मत दिया था। उसे राजा बनाने के प्रश्न पर जनता से कोई राय नहीं ली गई थी। निम्न सदन द्वारा राजा बनने का अधिकार भी संदिग्ध था क्योंकि चार्ल्स दशम् ने निम्न सदन को भंग कर दिया था। इसके अतिरिक्त अनेक राजनैतिक दल उसके विरोधी थे। जो लोग चार्ल्स दशम् के पौत्र ड्यूक ऑफ बोर्दो को राजा बनाना चाहते थे, वे भी उसके विरोधी थे। गणतंत्रवादी तो उसके प्रबल विरोधी थे, जिनका फ्रांस के व्यावसायिक नगरों के मजदूरों पर काफी प्रभाव था। प्रारम्भ में लफायेत के समझाने-बुझाने पर उन्होंने राजतन्त्र स्वीकार कर लिया था, किन्तु आगे चलकर वे लुई फिलिप के विरोधी हो गये। लुई फिलिप ने फ्रांस को धर्म निरपेक्ष राज्य बनाना स्वीकार कर लिया था तथा कैथोलिक धर्म को राज्याश्रय नहीं दिया जिससे कैथोलिक भी उससे नाराज हो गये। व्यावसायिक नगरों के मजदूरों ने 1830 की क्रांति को सफल बनाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया था, किन्तु क्रांति से केवल मध्यम वर्ग लाभान्वित हुआ, अतः वे सभी इस शासन का अंत चाहते थे।

फ्रांस में केवल संविधानवादी उसके समर्थक थे। निम्न सदन ने लुई फिलिप को शासक बनाने से पूर्व देश के लिये एक संविधान बनाया था। लुई फिलिप ने उस संविधान को स्वीकार कर, उसी के अनुसार कार्य करने की शपथ ली थी। अतः संविधानवादियों की उसके प्रति सहानुभूति स्वाभाविक ही थी। संविधानवादियों को छोड़कर सभी राजनैतिक दल लुई फिलिप की नीति से अत्यधिक क्रुद्ध थे।

लुई फिलिप की मध्यमार्गी नीति—लुई फिलिप ने जब शासन कार्य आरम्भ किया उस समय उसके समर्थकों में दो विचारधाराओं के लोग थे। एक तो प्रगतिवादी

थे जो क्रांति के पश्चात् कुछ और सुधार करने तथा उग्र विदेश नीति अपनाने के समर्थक थे। इसके विरुद्ध रुढ़िवादी थे जिनका विश्वास था कि क्रांति के पश्चात् स्थापित वैधानिक व्यवस्था में सुधार करना आवश्यक नहीं है। लुई फिलिप ने प्रगतिवादी तथा रुढ़िवादी, दोनों विचारधाराओं के मध्य 'न्याय संगत मध्यम मार्गी नीति' (Policy of the just mean) का अवलम्बन किया, जिसे स्वर्णिम मध्यम मार्गी नीति' (The Golden mean) भी कहा जाता है। इस नीति का अनुसरण करते हुए उसने सभी पक्षों को खुश करने का प्रयत्न किया। गणतन्त्रवादियों को प्रसन्न करने के लिये उसने बुर्वो राजवंश के सफेद झण्डे के स्थान पर क्रांति के प्रतीक तिरंगे झण्डे को राष्ट्रीय ध्वज बनाया। बोनापार्टिस्टों को प्रसन्न करने के लिए उसने नेपोलियन के अवशेषों को पेरिस के एक भव्य मन्दिर में स्थापित किया। कट्टर राजसत्तावादियों को प्रसन्न करने के लिए उसने उच्च-मध्यम वर्ग को शासन में अधिक से अधिक स्थान दिया। जनसाधारण के लिए उसने, उनकी स्वतन्त्रताओं पर लगे सभी प्रकार के प्रतिबन्ध हटा लिये। 1831 में उसने ईसाई धर्म की भांति यहूदी धर्म को भी मान्यता दे दी। 25 वर्ष के उन सभी व्यक्तियों को, जो 200 फ्रैंक प्रतिवर्ष कर देते थे, मताधिकार प्रदान किया गया। संक्षेप में लुई फिलिप की यह नीति थी कि प्राचीन अभिजातीय वर्ग के सिद्धान्तों की ओर लौट कर कर नहीं जाना किन्तु लोकतन्त्र की दिशा में भी आगे नहीं बढ़ना तथा केवल 1830 की क्रांति के पश्चात् संशोधित आज्ञा पत्र द्वारा स्थापित व्यवस्था को सुदृढ़ करना था।

यद्यपि लुई फिलिप ने अपनी मध्यममार्गी नीति द्वारा सभी पक्षों को संतुष्ट करने का प्रयत्न किया, किन्तु फ्रांस का कोई दल उससे संतुष्ट नहीं हुआ। मताधिकार के विस्तार से सर्वसाधारण एवं मजदूर वर्ग को कोई लाभ प्राप्त नहीं हुआ तथा उसकी स्थिति पूर्ववत बनी रही। अतः लुई फिलिप के विरुद्ध जन असन्तोष बढ़ता गया। मुख्य रूप से उसने सेठ, साहूकारों, पूंजीपतियों को अपने शासन में स्थान देकर अपना सहयोगी बनाया, किन्तु इस वर्ग को भी वह पूर्ण रूप से संतुष्ट नहीं कर सका। लुई फिलिप की इस व्यवस्था को हम बुर्वो वंश के निरंकुश शासन तथा गणतन्त्रीय शासन के बीच समझौता कह सकते हैं।

लुई फ़िलिप की गृह नीति—लुई फिलिप केवल वैध राजसत्तावादियों एवं उच्च मध्यम वर्ग के समर्थन पर निर्भर था, किन्तु वह अपनी इच्छानुसार अपना मन्त्रिमण्डल बदलता रहा। कभी वह प्रगतिवादी दल का मन्त्रिमण्डल बनाता तो कभी रुढ़िवादी दल का। यदि किसी कारण से कोई मन्त्रिमण्डल उसकी नीति से सहमत नहीं होता तो उसे हटा देता। इस प्रकार धीरे धीरे वह स्पष्ट रूप से स्वेच्छाचारी बनता गया। वह स्वयं को केवल वैधानिक शासक नहीं बनाना चाहता था वरन् वह स्वयं शासन करना चाहता था। अतः वह नहीं चाहता था कि उसके मन्त्री अपने कार्यों में स्वतन्त्र रहे।

अगस्त 1830 में ड्यूक डो ब्रोगली (Duke be Brogile) के नेतृत्व में मंत्रि मंडल बना। अक्टूबर 1830 में पेरिस में दंगा हो गया क्योंकि जनता पुराने मंत्रियों को दण्ड देने तथा हालैण्ड के विरुद्ध बेल्जियम की सहायता करने की मांग कर रही थी। मन्त्रिमण्डल इस दंगे के विरुद्ध दमनकारी नीति अपनाना चाहता था किन्तु लुई फिलिप तैयार नहीं हुआ। । अत: ब्रोग्ली ने त्याग पत्र दे दिया। तत्पश्चात् नवम्बर 1830 में लफायेत (Laffitte) के नेतृत्व में प्रगतिवादी मन्त्रिमण्डल बनाया गया, किन्तु बेल्जियम सम्बन्धी नीति पर मतभेद हो जाने के कारण उसने भी त्याग पत्र दे दिया। मार्च 1831 में केसीमीर पेरियर (Casimior Perier) का रुढ़िवादी मन्त्रिमण्डल बना, जिसने गणतन्त्रवादियों के प्रति दमनकारी नीति अपनायी। अक्टूबर 1832 में केसीमीर पेरियर की मृत्यु हो जाने पर, मार्शल सूल का मन्त्रिमण्डल बना जो केसीमीर पेरियर का सहयोगी था। इसने भी गणतन्त्रवादियों का दमन किया, किन्तु उसकी गुप्त समितियां कार्य करती रही। मजदूरों में असंतोष के कारण दंगा हो गया। हिंसा को रोकने के लिए दमनकारी नीति अपनाना आवश्यक हो गया। सितम्बर 1835 में विरोधी दलों का दमन करने के लिये कठोर नियम बनाये गये जिससे गणतन्त्रवादियों की शक्ति समाप्त हो गयी। इस दमनकारी नीति के कारण मन्त्रिमण्डल में फूट पड़ गई तथा कुछ कठोर मन्त्रियों ने अपना पृथक दल बना लिया। लुई फिलिप ने इस 'तृतीय दल' को प्रोत्साहन दिया क्योंकि वह स्वयं मन्त्रिमण्डल बढ़ती हुई शक्ति से चिन्तित था। मन्त्रियों की आपसी फूट के कारण फरवरी 1836 में सूल ने त्याग-पत्र दे दिया तथा थीयर्स (Thiers) का नया मन्त्रिमण्डल बना जो सम्राट के अधिकारों को सीमित करना चाहता था तथा मंत्रियों को कार्य करने की पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान करना चाहता था। किन्तु लुई फिलिप स्वयं शासक बनना चाहता था। थियर्स स्पेन को सहायता देना चाहता था, किन्तु सम्राट इसके पक्ष में नहीं था। अत: सितम्बर 1836 में थियर्स ने भी त्याग-पत्र दे दिया। अब लुई फिलिप ने अपने मित्र मोल (Mole) को प्रधानमन्त्री बनाया जिसका निम्न सदन में बहुमत नहीं था, वह केवल सम्राट के समर्थन से मंत्री बना था। उसने सभी पक्षों के प्रति समझौतावादी नीति अपनाई, जिसके फलस्वरूप 1839 तक देश में शांति बनी रही। विदेश नीति के क्षेत्र में वह शांतिपूर्ण नीति का समर्थक था किन्तु जनता गौरवपूर्ण नीति चाहती थी। निम्न सदन में उसकी विदेश नीति का कड़ा विरोध होने लगा। अत: जनवरी 1839 में निम्न सदन को भंग करके नये चुनाव कराये गये जिनमें मोल पराजित हुआ। मोल की पराजय, लुई फिलिप की पराजय थी तथा अब यह भी स्पष्ट हो गया कि जनता का बहुमत सम्राट से असंतुष्ट है। फ्रांस के प्रमुख राजनीतिज्ञ ने कहा कि, '1839 का राजनैतिक संकट 1848 की क्रांति का पूर्वाभिनय था।' किन्तु लुई फिलिप ने अपनी बिगड़ी हुई स्थिति को पुन: सम्भाल लिया। उसने मई 1839 में मार्शल सूल को दूसरी बार प्रधानमन्त्री बनाया, किन्तु वह अधिक समय तक कार्य न कर सका और उसे फरवरी 1840 में त्याग पत्र देना

पड़ा। मार्च 1840 में थीयर्स को दुबारा प्रधानमन्त्री बनाया, किन्तु मिस्र के मेहमतअली को समर्थन देने के प्रश्न पर, जनता भी उससे नाराज हो गयी तथा सम्राट ने उसकी नीति अस्वीकृत कर दी। अतः अक्टूबर 1840 में उसने त्याग पत्र दे दिया। थीयर्स के पश्चात् पुनः मार्शल सूल को मन्त्रिमण्डल का अध्यक्ष बनाया गया, किन्तु मन्त्रिमण्डल का वास्तविक नेता गिवजो (Guizot) था, जो 1848 में लुई फिलिप के पतन तक अपने पद पर कार्य करता रहा। गिवजो के सिद्धान्त लुई फिलिप के समान थे। वह समानता के सिद्धांत को भ्रामक मानता था तथा मजदूरों की स्थिति सुधारने के लिए कानून बनाना राज्य का कर्त्तव्य नहीं मानता था। उसका कहना था कि आन्दोलन केवल कुछ व्यक्तियों की स्वार्थ सिद्धि का साधन मात्र है। इस नीति का विरोध निरन्तर बढ़ता गया तथा निम्न सदन में उसका बहुमत कम होने लगा। उसने भ्रष्ट तरीकों से अपना पक्ष मज़बूत करने का प्रयास किया किन्तु जन आक्रोश निरन्तर बढ़ता गया।

लुई फिलिप ने अपनी आंतरिक नीति में औद्योगिक और सामाजिक सुधारों की ओर विशेष ध्यान दिया। ब्रिटेन से मशीनें आयात कर उद्योगों की स्थापना की। सड़कों तथा नहरों के बनाने की व्यवस्था की। देश में रेल लाइनों का जाल बिछाने की योजना तैयार की गई तथा उनमें से कुछ रेल लाइनों का निर्माण भी करवाया गया। 1841 में एक फैक्ट्री एक्ट बनाया गया, जिसके अनुसार 8 वर्ष से कम उम्र के बच्चों से मजदूरी लेना निषेध किया गया तथा 16 वर्ष से कम आयु के बच्चों से 12 घंटे से अधिक काम नहीं लिया जा सकता था। गिवजो के निर्देशन में 1833 में एक कानून बनाया गया, जिसके द्वारा प्रारम्भिक शिक्षा का भार तो चर्च पर छोड़ दिया गया किन्तु उच्च शिक्षा का दायित्व सरकार ने स्वयं ग्रहण कर लिया। सभी शिक्षण संस्थाओं में आध्यात्मिक एवं सामाजिक कर्त्तव्यों की शिक्षा अनिवार्य कर दी गई।

लुई फिलिप की इस आंतरिक नीति से मजदूरों, किसानों और साधारण व्यक्तियों को कोई लाभ प्राप्त नहीं हुआ। मजदूरों ने अपने छोटे-छोटे संघ बनाकर आन्दोलन शुरू कर दिये। समाजवादी नेता लुई ब्लां ने जनतन्त्रीय आधार पर सरकार का पुनर्गठन करने तथा राष्ट्रीयकरण करने पर बल दिया। सम्राट ने इन मांगों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। अतः जन असन्तोष बढ़ता गया तथा लुई फिलिप के शासन को उलटने हेतु कई गुप्तचर समितियां बनाई गई। इस पर लुई फिलिप ने भाषण, लेखन व समाचार पत्रों पर कठोर प्रतिबन्ध लगा दिया तथा राज्य की आलोचना करने वाले को कठोर दण्ड दिया। लुई फिलिप की दमनकारी नीति से क्षुब्ध होकर विद्रोहियों ने उसे छः बार मार डालने के भी असफल प्रयास किये। किन्तु सैन्य शक्ति से उसने विद्रोहियों का दमन कर दिया।

लुई फिलिप की विदेश नीति—लुई फिलिप की विदेश नीति शांतिपूर्ण थी। शासन के आरम्भ में ही उसने यूरोपीय देशों को प्रसन्न करने के लिए घोषणा की कि वह 1815 के समझौते का पूरी निष्ठा से पालन करेगा। युद्ध से बचने के लिए उसने कई बार समझौतावादी नीति अपनाई। ब्रिटेन के साथ 'मित्रतापूर्ण सहयोग' उसकी विदेश नीति का महत्वपूर्ण अंग था, क्योंकि रूस और आस्ट्रिया को फ्रांस के नये राजतन्त्र में विश्वास नहीं था। इसके विपरीत फ्रांस की जनता गौरव-पूर्ण एवं क्रियाशील नीति चाहती थी। लुई फिलिप में नेपोलियन की तरह योग्यता नहीं थी जो जन आकांक्षाओं की पूर्ति कर सके। उसने बेल्जियम, पोलैण्ड, इटली, मिस्र, स्पेन और स्विट्जरलैण्ड के प्रति जो नीति अपनाई उससे फ्रांस की जनता अत्यधिक रुष्ट हो गयी।

1. बेल्जियम का मामला—अक्टूबर 1830 में बेल्जियम में क्रान्ति हो गयी थी। फ्रांस की जनता बेल्जियम की स्वतन्त्रता की समर्थक थी, अतः तेलेरा को इङ्गलैंड भेजकर, ब्रिटेन व फ्रांस के सहयोग का प्रस्ताव रखा, जिसे ब्रिटेन ने स्वीकार कर लिया। तत्पश्चात् लंदन में पांच बड़े राज्यों–रूस, आस्ट्रिया, ब्रिटेन और फ्रांस का सम्मेलन हुआ जिसमें बेल्जियम की स्वतन्त्रता को स्वीकार कर लिया गया। किन्तु जब लुई फिलिप के द्वितीय पुत्र बेल्जियम को शासक चुना गया तो ब्रिटेन के विदेश मन्त्री पामर्सटन ने इसका विरोध किया। तब बेल्जियम की गद्दी ब्रिटेन की महारानी विक्टोरिया के चाचा लियोपाल्ड को प्राप्त हुई। फ्रांस की जनता उससे क्रुद्ध हो गई, क्योंकि उनकी दृष्टि में यह एक अक्षम्य अपराध था। यद्यपि लियोपाल्ड ने अपना विवाह लुई फिलिप की राजकुमारी से कर लिया, किन्तु लुई फिलिप, जनता का कृपापात्र न बन सका। लिप्सन के अनुसार उसने युद्ध से बचकर बुद्धिमानी की क्योंकि उसका परिणाम बड़ा अनिष्टकारी होता। 1839 में फ्रांस और ब्रिटेन की संयुक्त कार्यवाही के कारण हालैण्ड को झुकना पड़ा तथा बेल्जियम एक स्वतन्त्र राज्य बन गया।

2. पोलैण्ड और इटली की क्रान्तियां—लुई फिलिप के समय पोलैण्ड में क्रांति हो गई। फ्रांस की जनता पोलैण्ड के क्रांतिकारियों को सहायता देने के पक्ष में थी। किन्तु लुई फिलिप रूस को अपना शत्रु नहीं बनाना चाहता था अतः उसने पोलैण्ड को कोई सहायता नहीं दी। इसी प्रकार इटली की क्रांति के समय भी लुई फिलिप ने जन इच्छा के अनुसार इटली को कोई सहायता नहीं दी क्योंकि इटली को सहायता देकर वह आस्ट्रिया से संघर्ष करना नहीं चाहता था। यद्यपि जब आस्ट्रिया की सेना ने दूसरी बार पोप के राज्य में प्रवेश किया, तब फ्रांस ने भी अपनी सेनाएं भेजकर एकोना पर अधिकार कर लिया था, किन्तु तब तक क्रांति का दमन हो चुका था। लुई की इस कार्यवाही से फ्रांस की जनता उसके विरुद्ध हो गई।

3. मिस्र का मामला—मिस्र के पाशा मुहमतअली ने यूनान के विद्रोह को दबाने के लिये टर्की के सुलतान महमूद द्वितीय को मदद दी थी, जिसके फलस्वरूप

उसे क्रीट का द्वीप प्राप्त हुआ था। मेहमतअली अत्यन्त ही महत्वाकांक्षी था तथा वह दमिश्क (Damiscus) तथा सीरिया (Syria) पर भी अधिकार करना चाहता था। नवम्बर 1831 में उसके पुत्र इब्राहीम ने सीरिया पर आक्रमण कर दिया तथा सुल्तान की सेनाओं को परास्त करता हुआ कुस्तुन्तुनिया की ओर बढ़ गया। सुल्तान ने अन्य यूरोपीय राष्ट्रों से सहायता देने की प्रार्थना की। इंगलैण्ड व फ्रांस इस समय बेल्जियम में उलझे हुए थे, अतः रूस ने अपनी सेनाएं भेज दी। किन्तु फ्रांस और इंगलैण्ड रूस के इस हस्तक्षेप से चिंतित हो उठे तथा फ्रांस ने मेहमतअली को टर्की के सुल्तान की शर्तें स्वीकार करने का सुझाव दिया, किन्तु उसने अस्वीकार कर दिया। अन्त में इंगलैण्ड व फ्रांस ने टर्की के सुल्तान पर दबाव डालकर दोनों पक्षों में सन्धि करवा दी तथा मेहमतअली को सीरिया, दमिश्क व फिलिस्तीन दिलवा दिये। यद्यपि टर्की के सुल्तान ने दबाव में आकर सीरिया आदि क्षेत्र मेहमतअली को दे दिये थे, किन्तु वह इन क्षेत्रों को पुनः प्राप्त करना चाहता था। अतः अप्रेल 1839 में सुल्तान ने सीरिया पर आक्रमण कर दिया, किन्तु उसे परास्त होना पड़ा। जुलाई 1839 को सुल्तान महमूद की मृत्यु हो गयी तथा उसके स्थान पर 16 वर्षीय अब्दुल मजीद सुल्तान बना, जिससे टर्की की स्थिति और भी अधिक दयनीय हो गयी। इधर रूस मेहमतअली की बढ़ती हुई शक्ति से चिंतिति था तथा उसने इंगलैण्ड से मिलकर उसकी शक्ति को रोकने का निश्चय किया। दूसरी ओर फ्रांस की जनता मेहमतअली को सहायता देने के पक्ष में थी। 1840 में रूस, प्रशा, आस्ट्रिया और इंगलैण्ड ने मिलकर लंदन में एक समझौता किया, जिसके अनुसार मेहमतअली को टर्की के सुल्तान से समझौता करने हेतु बाध्य किया। इस सम्मेलन में फ्रांस को आमन्त्रित नहीं किया गया, अतः फ्रांसीसी जनता ने इसे राष्ट्रीय अपमान समझा और युद्ध की मांग करने लगी। फ्रांस के मन्त्री थीयर्स ने इंगलैण्ड को धमकी भी दी, किन्तु इस धमकी का उस पर कोई प्रभाव नहीं हुआ। इंगलैण्ड ने जहाजी बेड़ा भेजकर महमतअली को अनेक स्थानों पर पराजित किया तथा 1841 में उसे लंदन की संधि स्वीकार करने के लिये बाध्य होना पड़ा। इंगलैण्ड की इस कार्यवाही से न तो रूस, टर्की में अपना प्रभाव स्थापित कर सका और न फ्रांस मिस्र पर अपना प्रभाव स्थापित कर सका। फ्रांस की जनता इससे क्रुद्ध हो उठी और इसके लिए लुई फिलिप को उत्तरदायी ठहराया।

स्पेन का मामला—मिस्र के मामले में इंगलैण्ड और फ्रांस के सम्बन्धों में कुछ तनाव आ गया था, किन्तु स्पेन की महारानी इसाबेला तथा उसकी बहन मेरिया लुइसा के विवाह के प्रश्न पर इन दोनों के सम्बन्ध और भी अधिक बिगड़ गये। लुई फिलिप अपने पुत्र ड्यूक द मांतपेंसर (Duke de Montpensier) का विवाह मेरिया लुइसा से करना चाहता था। किन्तु इंगलैण्ड ने इसका विरोध किया क्योंकि इसके कारण फ्रांस का राजकुमार स्पेन की गद्दी का उत्तराधिकारी हो जाता (माह-

रानी इसाबेला स्वयं इस समय अविवाहित थी)। 10 अक्टूबर 1846 को इसाबेला का विवाह फ्रांस के डॉन फ्रांसीसी से तथा मेरिया लुइसा का विवाह मांतपेंसर से हो गया। इससे इंगलैण्ड सरकार बहुत क्षुब्ध हुई तथा लुई फिलिप की बड़ी निन्दा की गई। इससे इंगलैण्ड व फ्रांस के सम्बन्ध और अधिक बिगड़ गये।

स्विट्जरलैण्ड का गृह युद्ध—वियना कांग्रेस ने स्विट्जरलैण्ड में फ्रांस के तीन अतिरिक्त केन्टन जोड़कर 22 केन्टनों का एक शिथिल संघ बना दिया था। इन विभिन्न केन्टनों में धार्मिक मतभेद भी थे। स्विट्जरलैण्ड के सात केन्टन कैथोलिक थे जबकि शेष प्रोटेस्टेन्ट थे। 1845 में कैथोलिक केन्टनों ने 'सौदरबन्द' नामक एक संघ बनाया तथा उदारवादी प्रोटेस्टेन्ट केन्टनों के विरुद्ध संघर्ष छेड़ दिया। सौदरबन्द को आस्ट्रिया का समर्थन प्राप्त था, क्योंकि मेटरनिख उदारवाद के प्रवाह को कुचलना चाहता था। रूस और प्रशा मेटरनिख के पक्ष में थे तथा फ्रांस जो ब्रिटेन से अपने सम्बन्ध बिगाड़ चुका था, मेटरनिख का समर्थन करने लगा। ब्रिटेन ने उदारवादी केन्टनों का समर्थन किया तथा अपनी कूटनीति से बड़े राज्यों को सौदरबन्द की सहायता नहीं करने दी। अतः सौदरबन्द परास्त हुआ। लुई फिलिप द्वारा प्रतिक्रियावादी केन्टनों को सहायता देना फ्रांस के उदारवादियों को पसन्द नहीं आया। लुई फिलिप द्वारा फ्रांस की जनता की इच्छाओं के अनुकूल गौरवपूर्ण विदेश नीति न अपनाने से फ्रांस की जनता का असंतोष अब चरम सीमा पर पहुंच गया।

इस प्रकार लुई फिलिप की असफल एवं दुर्बल विदेश नीति के कारण अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में फ्रांस की प्रतिष्ठा को भारी धक्का लगा। फ्रांस की जनता इसे सहन न कर सकी क्योंकि उसके मस्तिष्क में तो नेपोलियन की गौरवपूर्ण स्मृति ताजा थी। इधर यूरोपीय राष्ट्र भी फ्रांस से प्रसन्न नहीं थे। फ्रांस की जनता चाहती थी कि लुई फिलिप विदेशों में राष्ट्रवादियों की सहायता करे। 1830 में यूरोप में क्रान्ति की ज्वाला भभक उठी थी और फ्रांस इन क्रांतियों का नेता बन सकता था। किन्तु लुई फिलिप ने इन क्रान्तियों के प्रति उदासीनता प्रदर्शित की, जिसे फ्रांस की जनता ने राष्ट्रीय अपमान समझा। अत. अब जनता के मस्तिष्क में यह धारणा दृढ़ हो गयी कि एक ओर तो आन्तरिक क्षेत्र में सुधारों की मांग की उपेक्षा करना तथा दूसरी ओर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में फ्रांस की प्रतिष्ठा पर आघात पहुंचाना, सम्राट की महान दुर्बलता एवं अयोग्यता है। फ्रांस की जन आकांक्षाओं का भव्य महल ध्वस्त हो गया था तथा सम्पूर्ण फ्रांस एक बारूद के ढेर पर खड़ा था जिसमें कभी भी विस्फोट हो सकता था। वास्तव में लुई फिलिप और उसके मन्त्री गिजो की उस समय ठीक वैसी ही स्थिति थी, जो 1830 की क्रान्ति के पूर्व सम्राट चार्ल्स दशम् तथा उसके मन्त्री विलेल की हो गयी थी। दुर्भाग्य की बात है कि लुई फिलिप जैसा विवेकशील व्यक्ति भी फ्रांस को क्रान्ति से न बचा सका।

फरवरी 1848 की क्रांति तथा लुई फिलिप का पतन—जब फ्रांस की जनता में असंतोष अपनी चरम सीमा पर था, उसी समय 1846-47 में खराब मौसम के कारण अन्न की पैदावार बहुत ही कम हुई जिससे अनाज के भाव बहुत बढ़ गये। इधर उद्योगों में मन्दी आ गई तथा बेरोजगारी बढ़ने लगी और इस प्रकार फ्रांस में एक आर्थिक संकट उत्पन्न हो गया। इस आर्थिक संकट में सुधारवादियों ने सुधारों की मांग की तो लुई फिलिप ने घोषणा की (दिसम्बर 1847) कि— "संवैधानिक राजतंत्र फ्रांस की सभी आवश्यकताओं को पूरा कर रहा है, अतः सुधारों की कोई आवश्यकता नहीं है।" इस घोषणा से विरोधी दल उत्तेजित हो उठे तथा जनता का समर्थन प्राप्त करने के लिए एक योजना बनाई गई। योजना के अनुसार जनता के हस्ताक्षरों से युक्त, सुधारों के लिए मांग पत्र सरकार के पास भेजना तथा जनता के हस्ताक्षर कराने के लिए, उन्हें एक स्थान पर एकत्रित करने के लिये, देश में भिन्न-भिन्न स्थानों पर 'सह भोज' आयोजित करना था। फलस्वरूप देश में स्थान-स्थान पर 'सह भोज' की व्यवस्था की जाने लगी जिन्हें 'सुधार सहभोज' कहा जाता है। इन सुधार सहभोजों में नेताओं के जोशीले भाषण होते थे तथा सरकार की आलोचना कर सुधारों की मांग की जाती थी।

22 फरवरी 1848 को पेरिस में एक विशाल 'सुधार सहभोज' आयोजित किया गया किन्तु सरकार ने उस पर रोक लगा दी। अतः भोज तो नहीं हो सका किन्तु भोज के स्थान पर विद्यार्थियों एवं मजदूरों का एक विशाल जुलूस तैयार हो गया तथा सुधारों की मांग के साथ-साथ गिजो को बरखास्त करने की मांग की गई। दूसरे दिन सरकार ने शान्ति स्थापना के लिये नेशनल गार्ड (रक्षक दल) को बुला लिया, किन्तु यह रक्षक दल भी 'सुधार जिन्दाबाद', 'गिजो का नाश हो' के नारे लगाने लगा। स्थिति की गम्भीरता देखकर 23 फरवरी को लुई फिलिप ने गिजो को बरखास्त कर दिया तथा उसने जनता को सुधार करने का आश्वासन दिया। किन्तु पेरिस के पूर्व भाग में आन्दोलनकारी प्रदर्शन करते रहे। 23 फरवरी की शाम को प्रदर्शनकारियों की भीड़ विदेश मन्त्रालय के समक्ष एकत्रित हो गई तथा किसी व्यक्ति ने रक्षक दल पर गोली चलादी। इसके प्रत्युत्तर में रक्षक दल ने भी गोली चलाना आरम्भ कर दिया, जिससे लगभग 20 व्यक्ति मारे गये तथा 50 व्यक्ति घायल हुए। इससे जनता उत्तेजित हो उठी तथा बदला लेने की तैयारी करने लगी। इस स्थिति का लाभ उठाते हुए गणतंत्रवादियों ने जनता को क्रांति के लिये भड़काया। 24 फरवरी को जनता विद्रोही हो गयी तथा पेरिस की गलियों व सड़कों में मोर्चाबन्दी कर ली। सम्पूर्ण पेरिस नगर में सशस्त्र संघर्ष आरम्भ हो गया तथा विद्रोही जो एक दिन पूर्व 'सुधार जिन्दाबाद' के नारे लगा रहे थे, वे अब 'गणतन्त्र जिन्दाबाद' के नारे लगाने लगे। क्रान्तिकारियों की एक उत्तेजित भीड़ ने राजमहल पर आक्रमण कर दिया तथा सेना ने लुई फिलिप की रक्षा करने से इन्कार कर दिया। लुई घबरा

गया तथा वह अपने पौत्र पेरिस के काउन्ट (Count de Paris) को राजा बनाने की घोषणा कर अपनी पत्नी सहित वेश बदल कर भाग खड़ा हुआ और इंगलैण्ड चला गया।

द्वितीय गणराज्य की स्थापना—लुई फिलिप के गद्दी त्यागने के बाद यद्यपि निम्न सदन से पेरिस के काउण्ट को राजा बनाना स्वीकार कर लिया, किन्तु गणतंत्र वादियों और समाजवादियों ने सदन को घेर लिया तथा राजतन्त्र समाप्त करने को बाध्य कर दिया। निम्न सदन ने एक 'अस्थायी सरकार' बनाने की घोषणा की। किन्तु पेरिस के क्रान्तिकारी गणतन्त्र की स्थापना के लिये दृढ़ संकल्प थे। कुछ समय तक दोनों पक्षों में मतभेद रहे, किन्तु लामार्तीन (Lamartine) के प्रयत्नों से समझौता हो गया। समाजवादी दल ने लुई ब्लां (Louis) Blan और अल्बर्ट (Alburt) को भी अस्थायी सरकार में सम्मिलित किया गया तथा अस्थायी सरकार ने 24 फरवरी 1848 को गणतन्त्र की घोषणा कर दी। इस प्रकार फ्रांस में एक बार पुनः राजतन्त्र के स्थान पर अब गणतन्त्र स्थापित हो गया। ग्रान्ट और टेम्परले ने ठीक ही लिखा है कि "लुई फिलिप के असफल शासन ने यह सिद्ध कर दिया कि फ्रांस के लिए ब्रिटेन के ढंग का संवैधानिक राजतन्त्र उपयुक्त नहीं है।"

क्रान्ति का स्वरूप और उसका महत्व—फ्रांस की 1848 की क्रान्ति एक आकस्मिक क्रान्ति थी, अथात् क्रान्ति की कोई योजना नहीं थी। क्रान्ति के नेताओं के मन में क्रान्ति का कोई विचार नहीं था। वे तो केवल सुधारों की मांग कर रहे थे। किन्तु क्रान्ति के तीसरे दिन क्रांति का स्वरूप गणतन्त्रीय हो गया। उन्होंने लुई फिलिप के वैधानिक राजतन्त्र को समाप्त करके गणतन्त्र की स्थापना कर दी। इसी समय गणतन्त्रवादियों को समाजवादियों की चुनौती का सामना करना पड़ा। गणतन्त्रवादियों को उनकी अस्थायी सरकार में समाजवादियों को सम्मिलित करना पड़ा तथा उनकी कुछ मांगों को भी पूरा करना पड़ा। इस प्रकार दो तीन महिने तक गणतन्त्रवादियों और समाजवादियों में संघर्ष चलता रहा, किन्तु जून के विद्रोह में समाजवादी परास्त हुए, क्योंकि किसानों तथा मध्यम वर्ग के लोगों ने गणतन्त्रवादियों का साथ दिया। किसानों एवं मध्यम वर्ग के लोगों को इस बात का भय था कि समाजवादी और साम्यवादी, क्रांति की उपलब्धियों को नष्ट कर देंगे। समाजवादियों पर गणतन्त्रवादियों की विजय से क्रांति का तीसरा सोपान समाप्त हो गया। चतुर्थ एवं अन्तिम सोपान में बोनापार्टिस्टों की विजय हुई तथा लुई नेपोलियन द्वितीय गणतन्त्र का राष्ट्रपति निर्वाचित हुआ। उसी के समय में गणतन्त्र की समाप्ति के प्रयत्न आरम्भ हो गये थे। अतः 1852 में गणतन्त्र समाप्त हो गया। नेपोलियन तृतीय का साम्राज्य स्थापित हुआ। इस प्रकार क्रांति में उच्च मध्यम वर्गीय, सुधारवादियों, गणतन्त्रवादियों तथा समाजवादियों का प्रभाव रहा तथा अन्त में वही मध्यम वर्ग जिसने 1789 एवं 1830 की क्रांतियों से लाभ उठाया था, विजयी रहा।

इस प्रकार 1789 की भाँति 1848 की क्रांति में भी क्रांतिकारी करना कुछ और चाहते थे, किन्तु हो कुछ और गया। दोनों ही बार जनता की प्रभुसत्ता स्थापित करने का प्रयत्न किया गया किन्तु दोनों ही बार नेपोलियन का साम्राज्य स्थापित हो गया।

1848 की क्रांति फ्रांस के राजनैतिक इतिहास में एक महत्वपूर्ण घटना है। इस क्रांति ने मताधिकार का विस्तार करके मध्यम वर्ग से सत्ता छीन कर समाज को सौंप दी। इस क्रांति ने जनतन्त्र के विकास में भी अभूतपूर्व योगदान दिया। 25 फरवरी 1848 को गणतन्त्रीय सरकार ने एक विज्ञप्ति प्रसारित की, जिसमें कहा गया था कि प्रत्येक नागरिक को रोजगार उपलब्ध करने का अधिकार होगा (Right to work)। अतः यह क्रांति मजदूरों और कारीगरों के लिये भी महत्वपूर्ण सिद्ध हुई। 1848 की क्रांति से फ्रांस में वैधानिक राजतन्त्र का प्रयोग असफल हो गया। क्रान्तिकारियों ने राजतन्त्र को समाप्त कर उसके स्थान पर गणतन्त्र स्थापित करने का निर्णय लिया। इस क्रान्ति का सर्वाधिक महत्व तो इस बात में है कि फ्रांस की1848 की क्रांति ने यूरोप के अनेक राज्यों में क्रांतिकारी एवं उदारवादी आन्दोलनों को प्रोत्साहित किया तथा यूरोप का अधिकांश भाग क्रांति की चपेट में आ गया।

1830 एवं 1848 की क्रान्तियों का तुलनात्मक अध्ययन—फ्रांस की 1830 और 1848 की क्रांतियों का अध्ययन करने के बाद दोनों पर तुलनात्मक दृष्टि डालना समीचीन होगा। इन दोनों क्रान्तियों में कुछ समानताएं थीं तो कुछ असमानताएं भी थीं। प्रोफेसर हेज का कहना है कि जुलाई 1830 और फरवरी 1848 की क्रांतियों में कोई आधारभूत अन्तर नहीं था।

दोनों ही क्रांतियां पेरिस के निवासियों ने की थी तथा दोनों ही राजनैतिक एवं उदारवादी थीं। प्रान्तों ने इन क्रांतियों को कोई विशेष सहयोग नहीं दिया था। दोनों ही क्रांतियों ने लोकप्रिय प्रभुसत्ता (Popular Sovereignity) के सिद्धान्त को स्वीकार किया तथा तिरंगा ध्वज एवं मार्सेल के राष्ट्रीय गीत को अपनाया। दोनों ही क्रांतियों की सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी कि इन क्रांतियों के अन्त में सम्पन्न वर्ग की विजय हुई तथा उन्होंने अपनी इच्छानुसार नीतियों का संचालन किया। प्रोफेसर जे. पी. टी. बरी ने भी लिखा है कि '1848 की क्रांति में 1830 की क्रांति की पुनरावृत्ति हुई।' दोनों क्रांतियों में पत्रकारों ने महत्वपूर्ण भाग लिया तथा क्रांतिकारियों के प्रतिपक्ष सत्ता प्राप्त करने हेतु एक दूसरे के विरुद्ध संघर्ष करते रहे। दोनों ही क्रांतियों की समाप्ति के पश्चात् उत्तेजना एवं लोक प्रदर्शन जारी रहे। दोनों ही क्रांतियों के परिणाम क्रांतिकारियों के लिये निराशाजनक रहे। इसलिये यह कहा जा सकता है कि दोनों क्रांतियां असफल रहीं। इन साधारण बातों के अतिरिक्त दोनों क्रांतियों में कोई विशेष समानताएं नहीं थी।

दोनों क्रान्तियों में कुछ आधारभूत भिन्नताए थीं, जिनका उल्लेख निम्न प्रकार से किया जा सकता है—

(1) 1830 की क्रांति के मूल में सामन्त वर्ग तथा विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग का विरोध था। कुलीन एवं पादरी, जो कट्टर राजसत्तावादी थे, 1789 की क्रान्ति की उपलब्धियों को नष्ट करना चाहते थे। अतः चार्ल्स दशम् के निरंकुश शासन तथा कट्टर राजसत्तावादियों की प्रतिक्रियावादी नीति का विरोध करने के लिये 1830 की क्रांति हुई थी। किन्तु 1848 की क्रान्ति में मजदूरों की स्थिति सुधारने के लिये समाजवादियों ने संघर्ष किया। इस प्रकार 1830 की क्रांति में समाजवादियों का नामोनिशान नहीं था, जब कि 1848 की क्रांति में इस तत्व का प्रमुख हाथ था।

(2) 1830 की क्रांति का एक मात्र उद्देश्य निरंकुश एवं प्रतिक्रियावादी शासन का अन्त करना था, इसलिये चार्ल्स दशम् के भाग जाने के बाद क्रांतिकारियों ने गणतन्त्र स्थापित नहीं किया बल्कि संवैधानिक राजतन्त्र स्थापित किया। किन्तु 1848 की क्रांति ने तो फ्रांस के राजतन्त्र को ही समाप्त कर दिया तथा उसके स्थान पर गणतन्त्र की स्थापना हुई, यद्यपि कुछ सत्तावादियों ने राजतन्त्र को बनाये रखने का प्रयत्न किया किन्तु उन्हें कोई सफलता नहीं मिली।

(3) 1830 की क्रांति का मुख्य आधार चार्ल्स दशम् की गृहनीति थी। उसकी विदेश नीति सफल न होते हुए भी क्रांतिकारियों ने उसकी विदेश नीति की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। किन्तु 1848 की क्रांति के मूल में लुई फिलिप की विदेश नीति की असफलता थी।

(4) 1830 की क्रांति के परिमामस्वरूप उच्च मध्यम वर्ग को ही मताधिकार प्राप्त हुआ था, जबकि 1848 की क्रांति के परिणामस्वरूप वयस्क मताधिकार प्राप्त हुआ।

(5) नेपोलियन के पतन के बाद कट्टर राजसत्तावादियों ने फ्रांस में पुनः पुरातन व्यवस्था स्थापित करने का प्रयत्न किया, जिससे 1789 की क्रांति द्वारा स्थापित समानता के सिद्धान्त को खतरा उत्पन्न हो गया था। 1830 की क्रांति ने इस आशंका को समाप्त कर समानता के सिद्धान्त को दृढ़ता प्रदान कर दी। 1848 की क्रांति ने राजनैतिक समानता स्थापित कर दी।

(6) 1830 की क्रांति के प्रभाव के कारण सारे यूरोप में क्रांतियां हुई, किन्तु बेल्जियम को छोड़कर कहीं भी उसका स्वरूप राष्ट्रीय नहीं था, बल्कि सभी जगह वैधानिक शासन के लिये आंदोलन हुए थे। किन्तु 1848 की क्रांति के प्रभाव से यूरोप में जो क्रांतियां हुई उनका स्वरूप राष्ट्रीय था। यूरोप में जहां भी क्रांति हुई उनमें जनता ने तात्कालिक शासकों को हटाकर राष्ट्रीयता के सिद्धान्त पर आधारित शासन की स्थापना की।

(7) 1830 की क्रान्ति के बाद क्रान्तिकालीन परम्पराओं का राजतंत्रीय व्यवस्था से सामन्जस्य स्थापित किया गया, किन्तु 1848 की क्रान्ति द्वारा लोकतंत्रीय आदर्शवाद को पुनर्जीवित करने का प्रयास किया गया तथा क्रान्तिकालीन परम्पराओं का राजतन्त्रीय व्यवस्था से सामन्जस्य स्थापित करने के प्रयत्नों का हमेशा के लिये परित्याग कर दिया गया।

(8) 1830 की क्रान्ति जनता में धीरे-धीरे उत्पन्न होने वाले असंतोष से पैदा हुई थी। वियना कांग्रेस के निर्णय से जनता क्षुब्ध थी, फिर भी फ्रांस की जनता ने उसे सहन कर लिया। चार्ल्स दशम् के अत्याचारों को भी फ्रांसीसी जनता सहन करती रही, किन्तु जब उसके अत्याचार अपनी चरम सीमा पर पहुंच गये तब जनता इन अत्याचारों के विरुद्ध उठ खड़ी हुई। यद्यपि 1848 की क्रान्ति का कारण भी जनता में निरन्तर बढता हुआ असंतोष था, किन्तु यह क्रान्ति अचानक हो गई थी तथा किसी को इस बात का ज्ञान नहीं था कि चार घण्टे बाद शासन का तख्ता पलट जायेगा और क्रान्ति की आग सारे यूरोप में इतने अचानक ढंग से फैल जायेगी।

1830 और 1848 की क्रांतियों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि 1848 की क्रांति ने 1830 की क्रांति की उपलब्धियों की रक्षा की। 1848 की क्रान्ति की सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि यह थी कि इस क्रान्ति द्वारा समाजवाद का विकास हुआ। समाजवादियों के पीछे मजदूरों की शक्ति थी, जो केवल शासन व्यवस्था में परिवर्तन कर संतुष्ट होना नहीं चाहते थे वल्कि सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था को बदलना चाहते थे। इसका यूरोप की राजनीति, आर्थिक एवं समाजिक व्यवस्था पर गहरा प्रभाव पड़ा।

यूरोप में क्रान्तियों की गूंज— यूरोप के इतिहास में सन् 1848 'क्रान्ति का वर्ष' माना जाता है। जिस प्रकार फ्रांस की 1830 की क्रांति ने यूरोप के राज्यों को प्रभावित किया था, उसी प्रकार फ्रांस की 1848 की कान्ति से भी यूरोप अछूता न रह सका। 1848 में यूरोप के विभिन्न राज्यों में 17 क्रान्तियां हुई थीं। 1830 की फ्रांसीसी क्रान्ति की तुलना में 1848 की क्रांति का प्रभाव अधिक व्यापक रहा। मध्य यूरोप तो इससे इतना अधिक प्रभावित हुआ था कि वियना कांग्रेस ने जो यूरोपीय व्यवस्था का ढांचा तैयार किया था उसकी नींवें हिलने लगी। यद्यपि 1848 के आरम्भ में निकट भविष्य में क्रांति की कोई सम्भावना नहीं थी, तथापि यूरोप के अनेक भागों में ऐसी विस्फोटक स्थिति का निर्माण हो चुका था जिसके परिणामस्वरूप क्रान्ति भड़क सकती थी। जनता प्रतिक्रियावादी शासन का अन्त करने हेतु उतारू बैठी थी। फ्रांस की क्रान्ति ने उन्हें प्रोत्साहित कर दिया तथा एक देश की क्रान्ति की प्रगति ने दूसरे देश की क्रान्ति की गतिविधियों को प्रभावित किया। किन्तु समग्र रूप से यह भी स्वीकार नहीं किया जा सकता कि 1848 में यूरोप के अन्य

राज्यों में क्रान्ति का कारण फ्रांस की ही क्रांति थी। इटली के कुछ भागों के फ्रांस की क्रान्ति के पहले ही उदारवादी आंदोलन आरम्भ हो चुके थे तथा उन्हें सफलता भी मिल चुकी थी। अतः इतिहासकारों में इस विषय को लेकर मतभेद है कि यूरोप की 1848 की क्रांतियों को वास्तविक प्रोत्साहन फ्रांस से प्राप्त हुआ था या इटली से। डेविड थामसन का मत है कि इन क्रान्तियों को वास्तविक प्रोत्साहन इटली से प्राप्त हुआ था। जबकि चार्ल्स पाउथस तथा डा. ए. डब्लू. वार्ड फ्रांस की क्रान्ति को प्रेरक मानते हैं। एलिसन फिलिप्स का भी कहना है कि, "फ्रांस की क्रांति की ज्वाला मानो एक संकेत थी, जिसे प्राप्त कर क्रांतिकारी आन्दोलन, जिसकी काफी पहले से तैयारी हो चुकी थी, एक साथ भड़क उठे। सम्भव है इस संकेत के न मिलने पर यह विस्फोट एक साथ न होकर अलग-अलग होता।"

आस्ट्रिया में क्रान्ति—आस्ट्रिया अभी तक प्रतिक्रिया का गढ़ बना हुआ था। फ्रांस की क्रान्ति की सूचना मिलते ही वियना के राजनैतिक क्षेत्रों में, विश्वविद्यालय के अध्यापकों एवं विद्यार्थियों में उत्तेजना फैल गई। 12 मार्च 1848 को विश्वविद्यालय में आन्दोलनकारियों द्वारा प्रदर्शन हुए तथा दो अध्यापकों ने, जनता की ओर से, सुधारों हेतु सम्राट को प्रार्थना पत्र दिया। 13 मार्च को विद्यार्थियों और मजदूरों का एक विशाल जुलूस निकला, किन्तु सेना ने उन पर गोली चला दी, फिर भी भीड़ ने आगे बढ़कर राजमहल को घेर लिया तथा मेटरनिख के त्याग पत्र की मांग की। 14 मार्च को मेटरनिख ने त्याग पत्र दे दिया तथा आस्ट्रिया से भाग खड़ा हुआ। इस घटना का सम्पूर्ण यूरोप पर आश्चर्यजनक प्रभाव पड़ा। मेटरनिख के पलायन के बाद सम्राट फर्डीनेण्ड प्रथम ने आन्दोलनकारियों को शान्त करने के लिये नवीन संविधान प्रदान किया तथा जनता को अनेक अधिकार दिये। किन्तु जनता इस संविधान से संतुष्ट नहीं हुई तथा 15 मई को विद्यार्थियों एवं मजदूरों की भीड़ ने मन्त्रिमण्डल के सभा-कक्ष को घेर लिया। इस उत्तेजित भीड़ ने संविधान में आवश्यक संशोधन करने का वचन देने हेतु बाध्य किया। सम्राट को विद्रोहियों के समक्ष झुकना पड़ा। किन्तु अब उसका धैर्य समाप्त हो चुका था, अतः 17 मई को सम्राट वियना से भाग खड़ा हुआ तथा इंसब्रुक (Iunsbruck) नगर में शरण ली। 26 मई को क्रान्तिकारियों ने लोकतन्त्र स्थापित कर लिया तथा नया संविधान बनाने के लिये वयस्क मताधिकार के आधार पर चुनी हुई राष्ट्रीय सभा का अधिवेशन हुआ। राष्ट्रीय सभा के अधिकांश सदस्य वैधानिक राजतन्त्र स्थापित करने के पक्ष में थे, अतः सम्राट को वापस बुलाया गया तथा राष्ट्रीय सभा संविधान निर्माण में लग गई। इसी बीच साम्राज्य के अन्य भागों में क्रान्ति भड़क उठी जिससे वियना में भी क्रान्तिकारी उठ खड़े हुए। विद्रोहियों ने युद्ध मन्त्री की हत्या कर दी। स्थिति की नाजुकता देखते हुए सम्राट पुनः भाग खड़ा हुआ, किन्तु जाते-जाते उसने सेना को आदेश दिया कि विद्रोहियों को गोली से उड़ा दे। सेना अभी भी सम्राट के प्रति वफादार थी, उसने वियना पर आक्रमण कर दिया तथा विद्रोहियों को परास्त

किया। आस्ट्रिया में क्रान्ति असफल हो गयी। सम्राट पुनः लौट आया तथा जनता को प्रसन्न करने के लिये संविधान प्रदान किया।

हंगरी में क्रान्ति—13 मार्च को वियना क्रान्ति की सूचना प्राप्त होते ही हंगरी में भी विद्रोहाग्नि प्रज्वलित हो गयी। उस समय हंगरी आस्ट्रिया साम्राज्य का अंग था। हंगरी में सामन्तों का अत्यधिक प्रभाव था तथा उनके अत्याचारों से जनता तंग आ चुकी थी। वियना क्रान्ति से प्रोत्साहित होकर 15 मार्च 1848 को लोकप्रिय नेता कोसथ के प्रभाव से हंगरी की सदन ने 'मार्च कानून' पारित किया। इस कानून के अनुसार हंगरी में प्राचीन कुलीनतन्त्रीय शासन के स्थान पर लोकतन्त्रीय संविधान की स्थापना की गई। इस नये संविधान के अनुसार हंगरी में एक व्यवस्थापिका सभा तथा उत्तरदायी मन्त्रिमण्डल की स्थापना की गई। प्रेस की स्वतन्त्रता, धार्मिक स्वतन्त्रता तथा सामन्तों के विशेषाधिकारों की समाप्ति की घोषणा की गई। इन सुधारों से हंगरी की अपनी पृथक सरकार हो गयी। यद्यपि आस्ट्रिया का सम्राट अब भी हंगरी का सम्राट था, तथापि अब हंगरी, आस्ट्रिया की सरकार की अधीनता से मुक्त हो गया। ग्रान्ट एवं टेम्परले ने लिखा है कि वियना और बुडापेस्ट (हंगरी) की घटनाओं के स्वरूप में काफी अन्तर था। वियना में एक उदारवादी आन्दोलन को सफलता मिली थी जबकि बुडापेस्ट में मेग्योर राष्ट्रीयता की विजय हुई थी। क्योंकि हंगरी में जो अब शासन स्थापित हुआ, वह कट्टर जर्मन विरोधी तथा हेप्सबर्ग विरोधी राष्ट्रीय शासन था।

हंगरी में लुई कोसथ (Louis Kossuth) के नेतृत्व में राष्ट्रवादी शासन चल रहा था जिसमें मेग्योरों की प्रधानता थी। अतः हंगरी में विभिन्न अन्य जाति के लोगों ने भी मेग्योरों के समान स्वशासन के अधिकार की मांग की, क्योंकि उनकी भाषा और संस्कृति मेग्योरों से भिन्न थी। हंगरी में अब विभिन्न जातियों में आपसी फूट उत्पन्न हो गयी तथा उनके आपसी मतभेद निरन्तर बढ़ते गये। इस फूट का लाभ उठाते हुए आस्ट्रिया ने हंगरी के विरुद्ध क्रान्तिकारियों को सहायता दी। इस पर हंगरी ने आस्ट्रिया से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर गणतन्त्र की घोषणा कर दी। इसके प्रत्युत्तर में आस्ट्रिया ने हंगरी पर आक्रमण कर दिया। आस्ट्रिया की इस सेना के साथ हंगरी की अन्य जातियों के लोग भी थे। इस युद्ध में हंगरी पराजित हुआ तथा वह पुनः आस्ट्रिया का अधीन राज्य बन गया।

बोहेमिया में क्रान्ति—हंगरी की क्रान्ति से प्रभावित होकर बोहेमिया के कुछ व्यक्तियों ने 11 मार्च 1848 को कुछ उदारवादी मांगें रखी, जिनमें स्वायत्तता की मांग प्रमुख थी। आस्ट्रिया के सम्राट ने उनकी सभी मांगें स्वीकार करली, किन्तु आगे चलकर बोहेमिया के जर्मन और चेक नेताओं में मतभेद उत्पन्न हो गये, क्योंकि बोहेमिया में जर्मन जाति के लोग अल्पसंख्यक थे, जिन्हें यह आशंका थी कि बोहेमिया स्वतन्त्र होते ही स्लाव जाति के लोग जो बहुसंख्यक थे, उन्हें कुचल देंगे।

अतः जर्मन लोगों ने सुधारों का विरोध किया। जून 1848 में प्राग (Prague) में एक स्लाव सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन का मुख्य उद्देश्य जर्मन सभा के विरुद्ध स्लाव लोगों की स्वायत्तता की मांग करना था। सम्मेलन के प्रतिनिधियों ने आस्ट्रिया के सेनापति के विरुद्ध नारे लगाने प्रारम्भ कर दिये तथा एक दिन उसके मकान पर आक्रमण कर दिया। आस्ट्रिया के सेनापति को अवसर मिल गया, अतः उसने बड़ी निर्दयता से विद्रोह का दमन कर दिया। बोहेमिया में किये गये शासन सुधार वापस ले लिये गये तथा विद्रोहियों को कठोर दण्ड दिया गया।

इटली में क्रान्ति—वियना कांग्रेस ने उत्तरी इटली के लोम्बार्डी तथा वेनेशिया के राज्य आस्ट्रिया को दे दिये थे तथा मध्य इटली में विभिन्न निरंकुश राज्य स्थापित कर दिये थे। इटली के देशभक्त इटली को एक स्वतन्त्र राज्य के रूप में देखना चाहते थे, किन्तु अब तक मेटरनिख की शक्ति के कारण लाचार थे। फरवरी 1848 की फ्रांसीसी क्रान्ति के पूर्व ही नेपिल्स में विद्रोह हो चुका था तथा जनवरी 1848 में वहां के शासक फर्डीनेण्ड को एक उदार संविधान स्वीकृत करना पड़ा था। मेटरनिख के पलायन की सूचना मिलते ही इटली में राष्ट्रीयता की भावना प्रबल हो उठी तथा इटली की जनता आस्ट्रिया के प्रभुत्व से मुक्त होने का प्रयास करने लगी। सर्वप्रथम 18 मार्च को मिलान में विद्रोह हो गया तथा पाँच दिन तक विद्रोहियों और आस्ट्रिया की सेना के बीच संघर्ष चलता रहा। अन्त में 22 मार्च को जनरल रेडेत्स्की (Redetzky) को मिलान छोड़कर भागना पड़ा। 22 मार्च को वेनिश में भी विद्रोह हो गया और आस्ट्रिया के अधिकारियों को विवश होकर वेनिश छोड़ना पड़ा। वेनिश के देशभक्तों ने वेनिश में गणतंत्र स्थापित कर लिया।

23 मार्च को लोम्बार्डी और वेनेशिया ने भी आस्ट्रिया के विरुद्ध विद्रोह कर दिया तथा आस्ट्रिया की सेना को पराजित कर स्वयं को स्वतन्त्र घोषित कर दिया। इस घटना से प्रोत्साहित होकर इटली के समस्त राज्यों में आन्दोलन छिड़ गया। ऐसा प्रतीत होता था मानो इटली की स्वतन्त्रता की घड़ी आ पहुंची है। किन्तु जनरल रेडेत्स्की ने विद्रोहियों को परास्त कर दिया। 6 अगस्त 1848 को रेडेत्स्की ने मिलान पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार लोम्बार्डी और वेनेशिया पर पुनः आस्ट्रिया का अधिकार हो गया और उन्हें एक अपमानजनक संधि स्वीकार करनी पड़ी। इटली के आंदोलन को कुचल दिया गया। इटली के छोटे-छोटे राज्यों ने, जो संविधान स्वीकृत किये थे, वापस ले लिये। सार्डीनिया के शासक विक्टर इमेनुअल पर भी आस्ट्रियाने दबाव डाला कि वह संविधान वापस ले ले किन्तु उसने संविधान वापस लेने से स्पष्ट इन्कार कर दिया। अतः इटली की समस्त जनता अब विक्टर इमेनुअल को अपना नेता समझने लगी और उनकी समस्त आशाएं विक्टर इमैनुअल पर केन्द्रित हो गयीं।

जर्मनी में क्रान्ति—फरवरी 1848 की फ्रांसीसी क्रान्ति से सर्वप्रथम जर्मनी के छोटे राज्य प्रभावित हुए। बेडेन, बर्टमवर्ग, बवेरिया, हेलीकोसल आदि छोटे-छोटे

राज्यों में निरंकुश शासन के विरुद्ध आन्दोलन छिड़ गया। ववेरिया के शासक लुड़विग ने अपने पुत्र मेक्समिलियन के पक्ष में सिंहासन त्याग दिया तथा उसने अपने पिता द्वारा स्वीकृत संविधान के अनुसार शासन चलाने का वचन दिया। हेलीकोसल, वर्टमवर्ग, हेनोवर, सेक्सनी आदि छोटे राज्य के शासकों ने भी उदार मन्त्रिमण्डलों की नियुक्ति की तथा राजनैतिक अधिकार, प्रेस की स्वतन्त्रता, वैधानिक शासन और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को स्वीकार किया। यद्यपि इन धाराओं का प्रभाव प्रशा पर नहीं पड़ा था, किन्तु मेटरनिख के पतन की सूचना मिलते ही 15 मार्च को बर्लिन की जनता ने भी विद्रोह कर दिया। प्रशा के शासन ने इन लोकतंत्रात्मक प्रवृत्तियों का विरोध किया। अतः जर्मनी के अन्य राज्यों के शासकों का भी रुख जन विरोधी हो गया। फलतः सेक्सनी, हेनोवर और बेडेन में पुनः आन्दोलन छिड़ गये, किन्तु प्रशा की सेना ने इनका दमन कर दिया। यद्यपि प्रशा की सेनाओं ने छोटे राज्यों की क्रान्तियों का दमन कर दिया था, किन्तु उसे स्वयं को बर्लिन क्रान्तिकारियों के समक्ष झुकना पड़ा। प्रशा के शासक ने, आस्ट्रिया को पृथक रखते हुए, जर्मनी के शासकों का एक संघ बनाया, जिसमें 28 शासक सम्मिलित हुए। किन्तु आस्ट्रिया प्रशा के शासक की इस कार्यवाही को सहन नहीं कर सका। अतः उसने प्रशा के शासक को युद्ध की धमकी देते हुए संघ को भंग करने को कहा। प्रशा का शासक आस्ट्रिया से व्यर्थ झगड़ा मोल लेना नहीं चाहता था तथा वह रूस के जार से भी सशंकित था। अतः 3 अप्रेल 1849 को प्रशा के शासक ने संघ भंग कर दिया। इतना ही नहीं, आस्ट्रिया ने जर्मनी में पुनः उस संघ को स्थापित कर दिया, जो 1815 में वियना कांग्रेस ने स्थापित किया था।

रोम में क्रान्ति—यह इटली का ही एक राज्य था, किन्तु इसका विशेष महत्त्व था। यह पोप का अलग राज्य था तथा रोम उसकी राजधानी थी। 1846 में पोप पियस नवम् गद्दी पर बैठा था। वह बड़ा ही उदार था तथा शासन सुधार में विश्वास रखता था। उसने सभी राजनैतिक बन्दियों को मुक्त कर जनता को संविधान प्रदान कर दिया। किन्तु जब सार्डीनिया ने आस्ट्रिया के विरुद्ध इटली में युद्ध छेड़ दिया तो पोप ने इस राष्ट्रीय युद्ध में सम्मिलित होने से इन्कार कर दिया, क्योंकि आस्ट्रिया रोमन कैथोलिक चर्च का घनिष्ठ मित्र था। पोप की इस कार्यवाही से जनता क्रुद्ध हो गई तथा उसे राष्ट्रीयता का शत्रु समझने लगी। फलतः रोम में विद्रोह हो गया। रोम की यह क्रान्ति भीषण थी। 5 नवम्बर 1848 को पोप के एक मन्त्री की हत्या करदी गई। पोप भागकर नेपिल्स चला गया तथा रोम में गणतन्त्र की स्थापना कर दी गई। किन्तु फ्रांस का नया राष्ट्रपति नेपोलियन, जो रोमन कैथोलिक चर्च का घोर समर्थक था, इस कार्यवाही को सहन नहीं कर सका। उसने पोप के पक्ष में रोम में अपनी सेनाएं भेज दी। गणतन्त्रीय सेना परास्त हुई तथा फ्रांस की सेना ने गणतन्त्र को समाप्त कर पोप के शासन को पुनः स्थापित कर दिया।

डेनमार्क और हालैण्ड में क्रान्ति—1848 में यूरोप में चल रही क्रांति की लहर से डेनमार्क और हालैण्ड भी अछूते न रह सके। फरवरी 1848 की फ्रांसीसी क्रान्ति की सफलता के समाचार प्राप्त होते ही डेनमार्क के उदारवादियों ने निरंकुश शासन के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। 21 मार्च 1848 को डेनमार्क के शासक फ्रेडरिक सप्तम् को क्रान्तिकारियों की मांगों को स्वीकार करना पड़ा। एक संविधान सभा के चुनाव कराये गये तथा इस सभा द्वारा निर्मित संविधान जून 1849 में लागू कर दिया गया।

हालैण्ड के शासक विलियम द्वितीय ने स्वयं ही उदारवादी आन्दोलन का नेतृत्व किया तथा अक्टूबर 1848 में नया संविधान स्वीकार किया गया, जिसके अनुसार दो सदनों की एक व्यवस्थापिका सभा (स्टेट्स जनरल) की व्यवस्था की गई तथा उत्तरदायी मन्त्रिमण्डल की स्थापना की गई। जनता को शासन सम्बन्धी अधिकार प्राप्त हो गये।

इंगलैण्ड पर क्रान्ति का प्रभाव—1848 की क्रान्ति से, कुछ अंशों में इंगलैण्ड भी प्रभावित हुआ। इंगलैण्ड में 1832 के सुधारों का लाभ केवल मध्यम वर्ग को प्राप्त हुआ था। किन्तु निम्न वर्ग और विशेषकर मजदूरों को राजनैतिक अधिकारों से वंचित रखा। इसीलिए 1838-39 में इंगलैण्ड में 'चार्टिस्ट आन्दोलन' आरम्भ हुआ। चार्टिस्ट नेताओं ने 1839 और 1842 में संसद के समक्ष अपनी छः मांगें प्रस्तुत की थीं, किन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। 1848 की फ्रांसीसी क्रान्ति की सफलता से चार्टिस्टों को प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। 10 अप्रेल 1848 को लंदन में एक विशाल आम सभा करने तथा एक बड़े जुलूस के साथ संसद को प्रार्थना पत्र देने की योजना बनाई गई। चार्टिस्टों ने 50 लाख व्यक्तियों का एक हस्ताक्षरयुक्त प्रार्थना पत्र तैयार किया। शासन ने आम सभा पर रोक लगा दी तथा जुलूस को रोकने का लिए पुलिस व सेना का प्रबन्ध किया गया। इसलिए जुलूस तो नहीं निकल सका, किन्तु चार्टिस्टों का प्रार्थना पत्र संसद में विचारार्थ प्रस्तुत किया गया। प्रार्थना पत्र को देखने से पता चला कि उसमें अधिकतर हस्ताक्षर जाली थे। इससे चार्टिस्ट बदनाम हो गये तथा उनका आन्दोलन सदा के लिये समाप्त हो गया। फिर भी चार्टिस्ट आन्दोलन निरर्थक नहीं रहा, क्योंकि आगे चलकर धीरे-धीरे चार्टिस्टों की सभी मांगें स्वीकार कर ली गई थीं।

आयरलैण्ड में भूमि सुधार आन्दोलन चल रहा था तथा 1846–47 के दुर्भिक्ष से इस आन्दोलन में तीव्रता आ गयी। स्मिथ ओ' ब्रायन (Smith O'Brien) के नेतृत्व में 'युवक आयरलैण्ड' नामक दल दिन प्रतिदिन प्रभावशाली होता जा रहा था। 1848 की फ्रांसीसी क्रान्ति से प्रोत्साहित होकर 'युवक आयरलैण्ड' ने इंगलैण्ड के विरुद्ध सशस्त्र विद्रोह कर दिया, किन्तु इंगलैण्ड की सरकार ने उसका कठोरता पूर्वक दमन कर दिया।

इस प्रकार 1848 में सम्पूर्ण यूरोप क्रान्तियों से गूंज उठा। 1 मार्च से जून 1848 तक यूरोप के अधिकांश राज्यों में क्रान्तिकारियों को सफलता भी प्राप्त हुई, किन्तु जून 1848 के बाद आन्दोलनकारियों के विरुद्ध दमन चक्र आरम्भ हो गया और अन्त में प्रतिक्रियावादी शक्तियां विजयी हुई। कुल मिलाकर क्रान्तियों के जो भी परिणाम निकले वे बड़े ही निराशाजनक रहे। प्रतिक्रियावादी शक्तियों की विजय क्यों हुई तथा क्रान्ति की असफलता के क्या कारण थे ? इस प्रश्न पर भी विचार करना समीचीन होगा।

क्रान्तियों की असफलता के कारण—1848 की क्रान्तियों के फलस्वरूप सम्पूर्ण यूरोप हिल उठा था। निरंकुश शासन व्यवस्था तथा विशेषाधिकार युक्त वर्ग पर भीषण प्रहार हुआ, जिससे उसके अस्तित्व को खतरा उत्पन्न हो गया, किन्तु लगभग सभी राज्यों में क्रान्तियां असफल रही। इस असफलता के निम्न कारण थे--

1. क्रान्तिकारियों के उद्देश्यों में भिन्नता—यद्यपि सभी क्रान्तिकारियों का उद्देश्य वियना कांग्रेस की व्यवस्था को समाप्त करना था, तथापि भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में उनके उद्देश्य भिन्न थे। फ्रांस में उसका उद्देश्य 1789 की क्रान्ति की उपलब्धियों की पुनर्स्थापना तथा राजतन्त्रीय व्यवस्था को समाप्त करना था। इटली व जर्मनी में उनका उद्देश्य मेटरनिख पद्धति के अन्तर्गत स्थापित हेप्सबर्ग वंश की प्रभुसत्ता का अन्त करना था तथा साथ ही वे इटली व जर्मनी का एकीकरण भी चाहते थे। हंगरी में क्रान्ति के फलस्वरूप आन्तरिक संघर्ष आरम्भ हो गया तथा राष्ट्रवादी व उदारवादी परस्पर झगड़ने लगे, जिसके कारण आस्ट्रिया ने उनका दमन कर दिया। आस्ट्रिया में उनका उद्देश्य वैधानिक एवं उदार शासन स्थापित करना था। उद्देश्यों के साथ-साथ उनके कार्यक्रम और कार्यविधि के सम्बन्ध में भी तीव्र मतभेद था। फलतः क्रान्ति असफल रही।

2. क्रान्तियों का नगरों तक सीमित रहना—यूरोप में क्रान्ति का आरम्भ मुख्य रूप से नगरों में हुआ था तथा नगरों में ही इन क्रान्तियों का प्रसार हुआ। ग्रामीण जनता पर इनका कोई प्रभाव नहीं हुआ। इसका कारण यह था कि ग्रामीण जनता अपने परम्परागत रीति-रिवाजों में अधिक विश्वास करती थी तथा अपने जमींदारों, पादरियों एवं सरकारी अधिकारियों का पूर्ववत् आदर करती रही और राजसत्ता का समर्थन करती रही। नगरों के क्रान्तिकारियों को ग्रामीण जनता का सहयोग और समर्थन प्राप्त न होने से क्रान्ति का असफल होना स्वाभाविक ही था।

3. क्रान्तिकारियों में एकता का अभाव—यद्यपि यूरोप के विभिन्न राज्यों में उदारवादी दल संगठित थे तथापि दल के नेताओं में पारस्परिक एकता का अभाव था। जब क्रान्तिकारी नेताओं में ही एकता का अभाव था, तब उनकी अनुयायी जनता में तो एकता का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। मजदूर वर्ग एवं मध्यम वर्ग का जनता में विचारधारा की भिन्नता के साथ-साथ कार्य प्रणाली में भी अन्तर होने के

कारण उनमें आपसी फूट थी। जब मजदूर वर्ग ने अपने हितों की सुरक्षा के लिये अधिक उपद्रव करना आरम्भ कर दिया तो मध्यम वर्ग क्रान्ति के उद्देश्यों का ही बलिदान करने को तत्पर हो गया। इस पारस्परिक फूट का निरंकुश शासकों ने पूरा पूरा लाभ उठाया। अतः जहां क्रान्तिकारियों की पारस्परिक फूट के कारण उनकी शक्ति असंगठित रही, वहां निरंकुश शासकों की संगठित शक्ति ने क्रान्तिकारियों का बड़ी सरलता से दमन कर दिया।

4. क्रान्तिकारियों की अनुभवहीनता—क्रान्तिकारी नेता अधिकांशतः बुद्धि-जीवी वर्ग के केवल आदर्शवादी थे। उन्होंने क्रान्ति के आदर्शों तथा राष्ट्रीयता की भावना से जनता को उत्तेजित किया, किन्तु उन्हें व्यावहारिक ज्ञान न होने के कारण क्रान्ति का संचालन सफलतापूर्वक न कर सके। वे क्रान्ति के आदर्शों एवं राष्ट्रीयता पर बड़े-बड़े भाषण दे सकते थे, किन्तु क्रान्ति का संचालन करने का उन्हें अनुभव नहीं था। क्रान्तिकारी नेताओं की अनुभवहीनता के कारण क्रान्ति का सफल होना संभव नहीं था। उन्होंने अपने क्रान्तिकारी विचारों से जनभावना को उत्तेजित अवश्य किया, किन्तु उन्होंने जनता को सफल क्रान्तिकारी नहीं बनाया। इसके अतिरिक्त 1848 के अन्त में यूरोप के अनेक राज्यों में प्लेग की बीमारी फैल जाने से प्रतिदिन सैकड़ों लोग मौत के मुंह में जाने लगे। नगरों का जीवन अस्त-व्यस्त हो गया तथा जनता का ध्यान केवल इस महामारी पर केंद्रित हो गया और क्रान्ति के प्रति उत्साह कम हो गया। ऐसी स्थिति में प्रतिक्रियावादी शासकों द्वारा क्रान्तिकारी नेताओं का दमन बहुत ही सरल हो गया।

5. विभिन्न जातियों में द्वेष की भावना—क्रान्ति असफल होने का सबसे बड़ा कारण यह भी था कि विभिन्न क्रान्तिकारी जातियों में द्वेष की भावना थी। बोहेमिया के सम्राट ने जब क्रान्तिकारियों की सभी मांगें स्वीकार करली तो वहां की जर्मन और चेक जातियों में मतभेद उत्पन्न हो गये। स्लाव जाति के लोगों ने जर्मन लोगों के विरुद्ध अखिल स्लाव सम्मेलन आयोजित किया। इस फूट का लाभ उठाकर आस्ट्रिया के सम्राट ने वहां पुनः निरंकुश शासन की स्थापना कर दी। हंगरी में जब उदारवादी शासन में मेग्यार जाति की प्रधानता हो गई तो वहां की रूमानियन, क्रोट तथा सर्वियन जातियों ने इस शासन का विरोध किया। इस फूट का लाभ उठाते हुए आस्ट्रिया ने मेग्यारों के विरुद्ध विभिन्न जातियों को मदद दी और अन्त में हंगरी पर आक्रमण कर पुनः उसे अपना अधीन राज्य बना लिया। इस प्रकार हंगरी में रूमानियन, क्रोट और सर्वियन जाति के लोगों ने अपने स्वार्थों के लिए क्रान्ति के उद्देश्यों का बलिदान कर दिया।

क्रान्ति की असफलता के उपर्युक्त मूलभूत कारणों के अतिरिक्त कुछ छोटे कारण भी थे। क्रान्तिकारी नेताओं के पास शस्त्र नहीं थे जिससे कि वे दमन का डटकर मुकाबला कर सकें तथा सेना पर उनका कोई प्रभाव नहीं था। इसके अतिरिक्त

मेटरनिख के पतन के बाद भी प्रतिक्रियावादी नेता निर्बल नहीं हुए थे, क्योंकि सेना अभी भी प्रतिक्रियावादियों के साथ थी। पोप द्वारा कैथोलिक सिद्धान्तों की घोषणा करने से कैथोलिक लोग क्रान्ति के विरुद्ध हो गये थे तथा नेपोलियन ने पोप के पक्ष में सेना भेजकर रोम के गणतन्त्र का अन्त कर दिया था।

क्रान्तियों के परिणाम—यद्यपि 1848 की क्रान्तियों के अन्त में क्रान्तिकारियों को सफलता नहीं मिली तथा अधिकांश राज्यों में निरंकुश शासन पुनः स्थापित हो गया, तथापि ये क्रान्तियां सर्वथा निष्फल नहीं रही। क्रान्ति का दमन हो जाने के बाद विकास की गति कुछ समय के लिए रुक गई, किन्तु प्रगतिशील विचारधाराओं को सदैव के लिए नहीं दबाया जा सका। सभी क्रान्तियों का विश्लेषण करने से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन प्रतिक्रियावादी शासन की पुनः स्थापना अवश्य हो गयी थी, किन्तु क्रान्ति के काल में किये गये कुछ सुधार तो उसी प्रकार बने रहे। आस्ट्रिया के साम्राज्य में दास प्रथा जो क्रान्तिकाल में समाप्त कर दी गई थी, पुनर्जीवित नहीं हुई। कुछ राज्यों में वैधानिक शासन, कुछ अंशों में बना रहा। स्विट्जरलैण्ड में जो गणतन्त्र स्थापित हुआ वह स्थायी हो गया। इस प्रकार 1850 के बाद यूरोप में उदार संविधानवादी विचारधारा किसी न किसी रूप में जीवित रही। इटली और जर्मनी में अलग राष्ट्रीयता की भावना भी प्रबल हो उठी थी। क्रान्ति के बाद राष्ट्रीयता का यह विश्वास हो गया था कि उदार और जनतन्त्रीय उपायों से वे अपने उद्देश्यों में सफलता प्राप्त नहीं कर सकते। अतः उन्होंने अब सैनिकवादी साधनों का सहारा लिया। यूरोप के महान कूटनीतिज्ञ ने कहा था, "हमारे समय की बड़ी-बड़ी समस्याएं व्याख्यानों या बहुमत के प्रस्तावों द्वारा नहीं सुलझ सकतीं (1848-49 के लोगों ने यही भूल की थी), वरन् रक्तपात एवं शस्त्र प्रयोग से सुलझती है।" फ्रांस में भी 1850 के बाद गणतन्त्र का पतन हो गया तथा नेपोलियन तृतीय ने सैनिक शक्ति के आधार पर राजतन्त्रीय शासन स्थापित किया। इस प्रकार 1848 के बाद राजनैतिक दृष्टिकोण में परिवर्तन आया तथा सैनिकवादी भावनाओं का अभ्युदय हुआ।

क्रान्तियों के फलस्वरूप यूरोप के सामाजिक जीवन में भी कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन आये। क्रान्ति के काल में अनेक राज्यों में सामन्तवाद को समाप्त कर दिया गया था, जो क्रान्ति के बाद भी पुनर्जीवित नहीं हो सका। इससे किसानों को कुलीनों से मुक्ति प्राप्त हो गयी तथा उन्हें व्यक्तिगत स्वतन्त्रता प्राप्त हुई। क्रान्तिकारियों का यूरोप की राजनीतिक समस्याओं के प्रति दृष्टिकोण बदल गया। आर्थिक परिवर्तनों के कारण अब राजनैतिक और आर्थिक विचारों में सामंजस्य स्थापित किया गया। शिक्षा, रीति-रिवाज आदि धार्मिक बन्धनों से मुक्त हो गये। इस प्रकार 1848 की क्रान्तियों ने यूरोप के लिये वह कार्य किया, जो 1789 की क्रान्ति ने फ्रांस के लिए किया था। इतने होने पर भी मजदूरों की दशा में कोई परिवर्तन नहीं हुआ, अतः

मजदूर वर्ग इस स्थिति से अत्यधिक संतुष्ट था और इसीलिए इस समय से मजदूर वर्ग और मध्यम वर्ग के बीच वर्ग-संघर्ष उत्पन्न हो गया।

इन क्रान्तियों ने प्राचीन मान्यताओं को समाप्त कर दिया। क्रान्तिकारियों ने शासकों की प्रभुसत्ता के स्थान पर लोकप्रिय प्रभुसत्ता, राज्यों के स्थान पर राष्ट्रों तथा अनुवांशिकता के स्थान पर बौद्धिकता को प्रधानता दी। इन विचारों ने सभी राजनैतिक, धार्मिक एवं सामाजिक संस्थाओं को प्रभावित किया। अब प्रत्येक मान्यता को तर्क की कसौटी पर कसा जाने लगा तथा परम्परागत मान्यताओं को चुनौती दी जाने लगी। वस्तुतः 1848 की क्रान्तियों के पश्चात् यूरोप ने अतीत से सम्बन्ध विच्छेद कर लिया था।

1848 की क्रान्तियों ने जन समूह के महत्व को प्रकट कर दिया जिससे अब 'जन-समूह युग' आरम्भ हो गया। 1848 के पहले आन्दोलन का रूप व्यक्तिगत था। क्रान्तिकारी नेता आन्दोलन के लिए जनता को भड़काते थे तथा उनमें नेतृत्व के लिए होड़ लग जाती थी, किन्तु 1848 के बाद धीरे-धीरे उसका स्वरूप सामूहिक हो गया। अन्याय के विरुद्ध खड़ा होने के लिए जनता ने किसी नेता की प्रतीक्षा किये बिना ही स्वयं आन्दोलन करना आरम्भ कर दिया। अब यह स्पष्ट हो गया कि राजनैतिक आन्दोलनों की कुंजी जनता के पास है। संक्षेप में यह भी कहा जा सकता है कि जो चेतना पहले कुछ व्यक्तियों तक ही सीमित रही वह अब जन समूह तक आ पहुंची। जनमत का अधिकार केवल मध्यम वर्ग तक सीमित न रहकर जनता को मिल गया। इस जन समूह में राष्ट्रीयता की भावना शनैः-शनैः दृढ़ होती गयी, जिसके परिणामस्वरूप आगे चलकर जर्मन और इटली का एकीकरण हुआ।

इस प्रकार 1848 की फ्रांसीसी क्रांति ने समस्त यूरोप को प्रत्येक क्षेत्र में प्रभावित किया। इस क्रान्ति के परिणाम अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध हुए। निरंकुश शासकों की नींवें हिल गयीं तथा संवैधानिक स्वतन्त्रता के विचारों का प्राबल्य बढ़ता गया। 1848 की क्रान्तियों ने यूरोप में मूलभूत परिवर्तन कर दिये। प्राचीन मान्यताएं समाप्त होकर नयी मान्यताएं स्थापित हो गयी। अतः 1851 का यूरोप 1847 के यूरोप से कई बातों में भिन्न हो गया।

अध्याय 5

फ्रांस का द्वितीय गणतन्त्र और नेपोलियन तृतीय (1848–1870)

(SECOND REPUBLIC OF FRANCE AND NAPOLEON III)

1848 की फ्रांसीसी क्रान्ति के परिणामस्वरूप 24 फरवरी 1848 को फ्रांस में द्वितीय गणतन्त्र की स्थापना हुई, (फ्रांस में प्रथम गणतन्त्र सितम्बर 1792 में स्थापित हुआ था जो 1804 में समाप्त हो गया)। फ्रांस में अन्तरिम सरकार का गठन किया गया, जिसमें लामार्तीन जैसे गणतन्त्रवादी तथा लुई ब्लां जैसे समाजवादी सम्मिलित थे। गणतन्त्रवादी एवं समाजवादी इस बात से सहमत थे कि फ्रांस में राजतन्त्र के स्थान पर गणतन्त्र स्थापित किया जाय; किन्तु गणतन्त्र का स्वरूप कैसा हो, इस प्रश्न पर दोनों में मतभेद थे। गणतन्त्रवादी केवल राजनैतिक परिवर्तन चाहते थे। वे निरंकुश राजतन्त्र के स्थान पर लोकतन्त्रीय गणराज्य की स्थापना को पर्याप्त मानते थे, किन्तु किसी प्रकार के सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्तन के पक्ष में नहीं थे। समाजवादी गणतन्त्र को सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्तन का साधन मानते थे, साध्य नहीं। वे देश में राजनैतिक परिवर्तन के साथ-साथ सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्तन भी लाना चाहते थे। उनकी यह मान्यता थी कि गणतन्त्र ही वह माध्यम है, जिसके द्वारा देश में दलित वर्ग के हित में समाज का पुनर्गठन किया जा सकता है। अन्तरिम सरकार में गणतन्त्रवादियों का बहुमत था तथा समाजवादी अल्प संख्या में थे, किन्तु समाजवादियों का सामान्य जनता एवं मजदूर वर्ग पर काफी प्रभाव था। दोनों दलों में सैद्धान्तिक मतभेद के कारण अन्तरिम सरकार में आरम्भ से ही संघर्ष आरम्भ हो गया। गणतन्त्रवादी जो बहुमत में थे, अपने सिद्धान्तों को कार्यान्वित करने के लिए कटिबद्ध थे। 25 फरवरी 1848 को राष्ट्रीय ध्वज के प्रश्न पर दोनों पक्षों में संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो गयी। गणतन्त्रवादी तिरंगे झंडे को ही राष्ट्रीय ध्वज बनाये रखना चाहते थे, जबकि समाजवादी लाल झंडे को राष्ट्रीय ध्वज बनाने की मांग कर रहे थे। अन्त में

लामार्तीन के प्रभावशाली भाषण के बाद समाजवादियों ने तिरंगे झंडे को राष्ट्रीय ध्वज स्वीकार कर लिया।

समाजवादी प्रयोग—लामार्तीन के प्रभावशाली भाषण ने तिरंगे को बचा लिया, किन्तु समाजवादियों ने अब अपने सिद्धान्तों को तुरन्त कार्यान्वित करने का बीड़ा उठा लिया। समाजवादियों का एक मुख्य सिद्धान्त 'काम पाने का अधिकार' (Right to work) था। लुई ब्लां के प्रस्ताव पर लामार्तीन ने इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया तथा सभी नागरिकों को काम करने का वचन दिया और अन्तरिम सरकार ने बड़ी अनिच्छापूर्वक राष्ट्रीय कार्यशालाएं (National Workshops) स्थापित कीं, जहां निश्चित् वेतन पर सभी को काम मिल सके। बेरोजगारों की संख्या इतनी अधिक थी कि इतने लोगों को काम देना कठिन हो गया, लेकिन किसी भी व्यक्ति को लौटाया नहीं जा सकता था, अतः सरकार ने काम के दिन सप्ताह में दो कर दिये तथा प्रत्येक व्यक्ति की 8 फ्रांक प्रति सप्ताह मजदूरी तय की गई। ऐसा करने से ये राष्ट्रीय कार्यशालाएं उत्पादन केन्द्रों की जगह सहायता केन्द्र बन गईं। अन्तरिम सरकार ने ऐसा जानबूझ कर किया था क्योंकि गणतंत्रवादी, समाजवादियों को बदनाम करना चाहते थे तथा उनके सिद्धान्तों को अव्यावहारिक प्रमाणित करना चाहते थे। इसमें उन्हें सफलता भी मिली।

समाजवादियों को बदनाम करने के लिये एक और प्रयोग किया गया। सरकार ने लुई ब्लां की अध्यक्षता में एक शासकीय श्रम आयोग (Government Commission for Workmen) गठित किया, जिसका कार्य आर्थिक समस्याओं की जांच करने तथा इसके सम्बन्ध में अपनी रिपोर्ट सरकार को देना था। किन्तु इस आयोग के हाथ में अपने निर्णयों को कार्यान्वित करने की शक्ति नहीं थी। इस आयोग का कार्यालय लक्समबर्ग के महल में रखा गया। वास्तव में सरकार ने लुई ब्लां और उसके साथियों को पेरिस के दूसरे भाग में भेजकर प्रशासन में समाजवादियों के प्रभाव को कम कर दिया। इस आयोग ने श्रमिकों के लिये बड़ी-बड़ी योजनाएं तैयार कीं, किन्तु इन योजनाओं के लिये सरकार वित्तीय साधन उपलब्ध करने को तैयार नहीं हुई। इस आयोग से मजदूर वर्ग को बड़ी निराशा हुई, क्योंकि लुई ब्लां के समाजवादी प्रयोग असफलता के निकट पहुंच चुके थे। अतः राजनतिक क्षेत्र में समाजवादियों का प्रभाव कम हो गया।

राष्ट्रीय संविधान सभा—गणतन्त्र की स्थापना के बाद अन्तरिम सरकार ने वयस्क मताधिकार, राजनैतिक अपराधों के लिये मृत्यु दण्ड का निषेध, प्रेस की स्वतन्त्रता, सार्वजनिक सभा करने की स्वतन्त्रता आदि सुधारों की घोषणा की। अन्तरिम सरकार केवल उस समय तक के लिए बनाई गई थी, जब तक कि विधिवत् निर्वाचित कार्यपालिका उसका स्थान ग्रहण न कर ले। अतः संविधान सभा के चुनाव कराने का निश्चय किया गया तथा 9 अप्रैल 1848 निर्वाचन की तिथि निश्चित

की गई। समाजवादी इतनी जल्दी चुनाव कराने के पक्ष में नहीं थे, क्योंकि उन्हें बहुमत प्राप्त होने की आशा नहीं थी। 17 मार्च को समाजवादियों के समर्थकों की भीड़ ने 'होटल द विल' (Hotel de Vill) को घेर लिया तथा चुनाव की तिथि स्थगित करने की मांग की। सरकार ने 23 अप्रेल को चुनाव कराने की घोषणा करदी। बड़े ही तनावपूर्ण वातावरण में चुनाव हुए तथा संविधान सभा के 900 स्थानों में से 800 स्थान गणतन्त्रवादियों को प्राप्त हुए। ये गणतंत्रवादी समाजवाद के कट्टर विरोधी थे। 18 मई को अन्तरिम सरकार ने त्याग पत्र दे दिया तथा संविधान सभा ने अपने सदस्यों में से पाँच सदस्यों का एक 'कार्यपालिका आयोग' (Executive Commission), संविधान पूर्ण होने तक, शासन संचालन हेतु नियुक्त किया। लामार्तीन इस आयोग का प्रधान था। समाजवादियों को प्रशासन में कोई स्थान प्राप्त नहीं हो सका। समाजवादियों की अवहेलना के कारण मजदूर वर्ग क्रोधित हो उठा। पेरिस के मजदूरों एवं विद्यार्थियों की भीड़ ने सभा भवन पर आक्रमण कर दिया। उन्होंने गणतंत्रवादियों को सभा भवन के बाहर निकाल कर सभा को भंग घोषित कर दिया और अपनी नई अन्तरिम सरकार भी घोषित करदी। किन्तु गणतन्त्रवादी सरकार के रक्षक दल ने विद्रोह का दमन कर दिया। समाजवादियों का प्रयत्न विफल हो गया तथा संविधान सभा एवं उसका कार्यपालिका आयोग पूर्ववत् कार्य करने लगा।

कार्यपालिका आयोग ने मजदूरों की उपद्रवकारी प्रवृत्तियों से क्रोधित होकर राष्ट्रीय कार्यशालाओं को समाप्त कर दिया जिससे लाखों मजदूर बेकार हो गये। अतः मजदूरों का क्रोध उबल पड़ा और उन्होंने सरकार को उखाड़ फेंकने के लिये अपने आपको अर्द्ध सैनिक स्तर पर संगठित किया। मजदूरों ने सड़कों पर मोर्चा-बन्दी आरम्भ करदी। विद्रोह की भयंकरता देखते हुए सभा ने कार्यपालिका आयोग के सदस्यों से त्याग पत्र ले लिया तथा जनरल केवेन्याक (Cavaignac) को "अधिनायक" बना दिया। तत्पश्चात् 23 जून से 26 जून तक पेरिस में ऐसा भीषण संघर्ष हुआ जैसा पहले कभी नहीं हुआ था। अन्त में 26 जून को विद्रोही पूर्ण रूप से परास्त हुए। इस विद्रोह में लगभग दस हजार मजदूर मारे गये। विद्रोह की समाप्ति के पश्चात् मजदूरों के साथ बड़ा निर्मम व्यवहार किया गया। लुई ब्लां को भाग कर इंगलैण्ड में शरण लेनी पड़ी। यद्यपि संघर्ष में गणतंत्रवादी, सफल हो गये, किन्तु उनकी यह सफलता क्षणिक थी, क्योंकि भीषण रक्तपात के द्वारा गणतंत्र कायम रखा गया था। इस रक्तपात ने फ्रांस के द्वितीय गणतन्त्र के विनाश के बीज बो दिये। इसके बाद चार वर्षों तक गणतंत्र जीवित रहा, किन्तु वह केवल नाम मात्र का गणतंत्र था। इस रक्तपात के बड़े दूरगामी परिणाम सामने आये।

नवीन गणतन्त्रीय संविधान—समाजवादियों के विद्रोह का दमन करने के बाद संविधान सभा ने अपने संविधान बनाने का कार्य आरम्भ किया, जो अक्टूबर 1848 में पूरा हो गया। इस संविधान की मुख्य बातें अग्रलिखित थीं—

(1) फ्रांस के लोकतन्त्र पर आधारित गणतन्त्र स्थापित किया जायेगा।

(2) वयस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचित एक सदन वाला विधान मण्डल होगा जिसमें 750 सदस्य होंगे। सदस्यों का कार्यकाल 3 वर्ष होगा।

(3) कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित होगी। राष्ट्रपति का चुनाव 4 वर्ष के लिये जनता द्वारा वयस्क मताधिकार के आधार पर किया जायेगा।

(4) मन्त्रिमण्डल की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा होगी, किन्तु यह मन्त्रिमण्डल विधान मण्डल के प्रति उत्तरदायी होगा। राष्ट्रपति और मन्त्रिमण्डल सर्वोच्च न्यायालय के प्रति भी उत्तरदायी होंगे। राष्ट्रपति को विधान मण्डल द्वारा पारित विधेयकों पर निलम्बन निषेधाधिकार प्राप्त होगा।

(5) राष्ट्रीय सभा (विधान मण्डल) द्वारा एक राज्य सभा का गठन किया जायेगा। यह राज्य सभा विधेयकों के मसविदे तैयार करेगी।

इस नवीन संविधान में राष्ट्रपति का निर्वाचन प्रत्यक्ष रखा गया तथा उसे व्यापक अधिकार दिये गये, जिससे कोई भी निर्वाचित राष्ट्रपति निरंकुश बन सकता था। राष्ट्रपति की निर्वाचन प्रणाली के दोषों के बारे में, यद्यपि जूलस ग्रेवी ने संविधान सभा का ध्यान आकर्षित किया और कहा था कि जनता में राजनैतिक अनुभव की कमी के कारण वह ऐसे विशिष्ट या प्रभावशाली व्यक्ति के प्रति आकर्षित होकर उसे राष्ट्रपति चुन सकती है जो इस उच्च पद के लिए आवश्यक योग्यता भी न रखता हो। एक महत्वाकांक्षी व्यक्ति राष्ट्रपति बननें पर निरन्तर इस पद पर बने रहने का प्रयत्न करेगा और यदि वह व्यक्ति फ्रांस पर शासन करने वाले किसी राजवंश का ही वंशज हुआ तो निश्चित ही वह गणतन्त्र को समाप्त करने की चेष्टा करेगा। किन्तु संविधान सभा ने इस चेतावनी की उपेक्षा करके लुई नेपोलियन के उत्कर्ष के लिये मार्ग प्रशस्त कर दिया। 23 अक्टूबर 1848 को संविधान पारित कर दिया गया तथा दिसम्बर में राष्ट्रपति का चुनाव हुआ। राष्ट्रपति पद के लिये चार प्रत्याशी थे—लामार्तीन, लुई नेपोलियन, जनरल केवेन्याक तथा लेन्द्रू रोलीन। इन चारों में सर्वाधिक प्रभावशाली लुई नेपोलियन था।

लुई नेपोलियन का प्रारम्भिक जीवन—लुई नेपोलियन का जन्म 1808 में हुआ था। उस समय उसके पिता लुई बोनापार्ट हालैण्ड के शासक थे। वह प्रारम्भ से ही स्वप्नों की दुनियाँ में विचरण करने वाला, साहसी तथा षड्यन्त्रकारी था। वाटरलू के युद्ध के पूर्व उसके चाचा नेपोलियन प्रथम ने उसको प्यार करते हुए कहा था, "संभवत यही बालक मेरे राजवंश को चलायेगा।" 1831 में उसने इटली में कार्बोनरी संस्था का सदस्य रहकर वहां की राजनीति में भाग लिया। 1832 में नेपोलियन प्रथम के पुत्र ड्यूक आफ रीशटाट (Duke of Recibstadt) की मृत्यु के पश्चात् वह अपने आपको नेपोलियन प्रथम का उत्तराधिकारी समझने लगा।

1836 में स्ट्रासवर्ग की सेनाओं को विद्रोह के लिये उत्तेजित कर फ्रांस का सिंहासन प्राप्त करने का असफल प्रयत्न किया। फलत: उसे निर्वासित कर अमेरिका भेज दिया गया। 1840 में उसने तूलों में पुन: सत्ता हथियाने का प्रयत्न किया, किन्तु गिरफ्तार कर लिया गया। छ: वर्ष तक हम (Ham) के किले में कैद रहने के बाद 1846 में वह वेश बदलकर इंगलैण्ड भाग गया। 1848 की क्रान्ति की सूचना मिलने पर वह पेरिस लौट आया, किन्तु उस समय बोनापार्टिस्ट दल की स्थिति कमजोर देखकर पुन: इंगलैण्ड लौट गया। इंगलैण्ड में उसने कुछ समय तक विशेष कांस्टेबिल के रूप में कार्य किया तथा चार्टिस्ट आन्दोलन को दबाने में सहायक हुआ। फ्रांस की संविधान सभा के निर्वाचन के अवसर पर वह पुन: फ्रांस लौट आया तथा चार निर्वाचन क्षेत्रों से निर्वाचित हुआ, किन्तु संविधान सभा में उसने अपना स्थान ग्रहण नहीं किया। सितम्बर 1848 में वह पुन: पांच निर्वाचन क्षेत्रों से निर्वाचित हुआ और संविधान सभा में अपना स्थान ग्रहण किया। यद्यपि उसके व्यक्तित्व में और व्याख्यानों में कोई प्रभाव नहीं था, फिर भी उसका नाम ही उसकी सबसे बड़ी पूंजी थी।

लुई नेपोलियन का राष्ट्रपति बनना—10 दिसम्बर 1848 को राष्ट्रपति पद के लिये चुनाव हुए। चुनाव में लुई नेपोलियन को लगभग 57 लाख मत मिले जबकि उसके निकटतम प्रतिद्वन्द्वी केवेन्याक को 14 लाख मत मिले। वस्तुत: लुई नेपोलियन की इस चमत्कारिक विजय का कारण यह था कि फ्रांस में 'नेपोलियन' के नाम में ही जादू था तथा उसके समर्थकों ने चुनाव के पहले नेपोलियन गाथाओं (Napoleonic Lagends) का प्रचार बढ़ा दिया था। फ्रांस के लोग नेपोलियन को एक महान् देवता की तरह पूजते थे तथा नेपोलियन बोनापार्ट ने जो फ्रांस के लिये गौरव प्राप्त किया था उसी की पुनर्स्थापना चाहते थे। अत: 'नेपोलियन' के नाम को अधिक मत मिलना स्वाभाविक था। लुई नेपोलियन को संविधान सभा के अध्यक्ष ने 20 दिसम्बर 1848 को राष्ट्रपति पद की शपथ दिलायीं। लुई नेपोलियन ने संविधान सभा के समक्ष गणतन्त्र के प्रति वफादार रहने तथा संविधान की रक्षा करने की शपथ ली।

लुई नेपोलियन ने अपने मंत्रिमण्डल में समाजवादियों और गणतन्त्रवादियों को कोई स्थान नहीं दिया। राष्ट्रपति की शक्ति के समक्ष संविधान सभा भी कुछ नहीं कर सकी। लुई नेपोलियन ने राष्ट्रपति बनते ही गणतन्त्र के स्थान पर द्वितीय साम्राज्य की स्थापना के प्रयत्न आरम्भ कर दिये। उसने फ्रांस की जनता के समक्ष अपनी नीति को स्पष्ट करते हुए कहा था, "नेपोलियन का नाम स्वयं एक पूर्ण कार्यक्रम है।" इसका अर्थ है, "देश में आंतरिक सुरक्षा, राजसत्ता, धर्म एवं लोक कल्याण तथा देश के बाहर राष्ट्रीय गौरव।" इस प्रकार उसने ऐसी नीति अपनाई कि जनता के विभिन्न वर्गों में उसकी व्यक्तिगत लोकप्रियता में वृद्धि हो। वह विशेषकर कृषक वर्ग, कैथोलिक वर्ग, उच्च मध्यम वर्ग और सेना को संतुष्ट करना चाहता था।

प्रतिनिधि सभा—नये संविधान के अन्तर्गत 27 मई 1849 को विधान मण्डल के 750 सदस्यों का चुनाव हुआ, जिसमें 500 सदस्य जो राजतन्त्र के समर्थक थे, विजयी हुए। इसके अतिरिक्त गणतन्त्रवादियों को 70 तथा समाजवादियों को 180 स्थान प्राप्त हुए। इन चुनाव परिणामों से स्पष्ट हो गया कि गणतन्त्रवादियों की स्थिति अत्यन्त कमजोर हो गयी थी। लुई नेपोलियन गणतन्त्रवादियों को नेस्तनाबूद करना चाहता था, किन्तु वह अनुदार दल एवं कैथोलिक के हाथ की कठपुतली भी बनना नहीं चाहता था, अतः उसने इन दोनों दलों में पारस्परिक संघर्ष करवा कर अपनी स्वतन्त्र नीति द्वारा अपनी व्यक्तिगत लोकप्रियता बढ़ाने का प्रयत्न किया।

चुनाव में अपनी पराजय से गणतन्त्रवादी खिन्न हो उठे। 13 जून 1849 को कुछ गणतन्त्रवादियों ने पेरिस में विद्रोह कर दिया। इस विद्रोह को बड़ी आसानी से कुचल दिया गया, किन्तु इस विद्रोह के फलस्वरूप शासन को दमनकारी नीति अपनाने का बहाना मिल गया। प्रतिनिधि सभा के 23 सदस्यों को गिरफ्तार कर लिया गया तथा प्रतिनिधि सभा से उनकी सदस्यता समाप्त कर दी गई। समाचार पत्रों एवं राजनैतिक सभाओं पर कठोर प्रतिबन्ध लगा दिये गये। अक्टूबर 1849 में लुई नेपोलियन ने ओदीलान-बेराट (Odilon Barrot) के मन्त्रिमण्डल को बर्खास्त कर दिया, जिसको प्रतिनिधि सभा में बहुमत प्राप्त था तथा उसके स्थान पर ऐसे मन्त्रियों को नियुक्त किया जो प्रतिनिधि सभा के सदस्य ही नहीं थे, किन्तु वे राष्ट्रपति की नीति एवं विचारों से सहमत थे। राष्ट्रपति की इस प्रतिक्रियावादी एवं दमनकारी नीति से गणतन्त्रवादी, समाजवादी तथा उदारवादी नेता बहुत ही असंतुष्ट हुए। अतः मार्च 1850 में जब प्रतिनिधि सभा के 31 रिक्तस्थानों के लिये उप चुनाव हुए तो विरोधी दल ने संगठित होकर प्रतिक्रियावादी पक्ष को पराजित करने का निश्चय किया तथा इस उप चुनाव में वे 21 स्थानों पर विजयी हुए। गणतन्त्रवादियों की सफलता से प्रतिनिधि सभा में प्रतिक्रियावादी पक्ष चिन्तित हो उठा। प्रतिक्रियावादी पक्ष ने मई 1850 में एक नया निर्वाचन कानून पारित करवाया जिसके अनुसार कोई भी ऐसा व्यक्ति, जो उस निर्वाचन क्षेत्र में तीन वर्ष तक न रहा हो तथा कर न देता रहा हो, मत नहीं दे सकता। इस कानून से, मजदूर और कारीगर लोग, जो प्रायः अपने स्थान बदलते रहते थे, मताधिकार से वंचित कर दिये गये। इस प्रकार 90 लाख मतदाताओं में से 30 लाख व्यक्ति मताधिकार से वंचित हो गये। फ्रांस के बड़े-बड़े नगरों में विशेषकर पेरिस में इस कानून का कड़ा विरोध किया गया। नेपोलियन ने भी उनके साथ सहानुभूति प्रकट करते हुए इस कानून को निरस्त करने को कहा, किन्तु प्रतिनिधि सभा ने उसकी मांग अस्वीकृत कर दी।

लुई नेपोलियन की लोकप्रियता—इस बीच नेपोलियन ने अपने आपको लोकप्रिय बनाने के प्रयत्न आरम्भ कर दिये। वह जनता की आकांक्षाओं को भलीभांति जानता था। जनता को प्रसन्न करने के लिये तथा अपनी लोकप्रियता बढ़ाने के लिये उसने अनेक कदम उठाये जिनमें मुख्य अग्रलिखित थे—

(1) फरवरी 1849 में जब मेजिनी के नेतृत्व में, रोम में गणतन्त्र स्थापित किया गया, तब नेपोलियन ने फ्रांस के कैथोलिकों को प्रसन्न करने के लिए पोप को सहायता देने का निश्चय किया तथा वहां फ्रांसीसी सेना भेजकर गणतन्त्र का अन्त कर दिया और पोप को पुनः सिंहासन पर बैठा दिया। इससे एक ओर तो कैथोलिक उसके पक्ष में हो गये और दूसरी ओर सेना, विजय गौरव प्राप्त करके संतुष्ट हो गयी।

(2) मार्च 1850 में प्राथमिक व माध्यमिक शालाओं पर कैथोलिक पादरियों का नियन्त्रण पुनः स्थापित कर दिया गया। इससे कैथोलिकों को पूरा विश्वास हो गया कि नेपोलियन वास्तव में उनके हितों का रक्षक है।

(3) उसने श्रमिकों को प्रसन्न करने के लिये भी अनेक कानून बनाये। उसने उन सभी प्रस्तावों को स्थगित कर दिया, जिनके द्वारा श्रमिकों को मताधिकार से वंचित कर दिया गया था। इसके अतिरिक्त वृद्ध श्रमिकों को उचित पेंशन देने की भी व्यवस्था की गई। इस नीति से नेपोलियन ने श्रमिकों का समर्थन भी प्राप्त कर लिया।

(4) जनता में अपने प्रति श्रद्धा उत्पन्न करने के लिये उसने 2 दिसम्बर को आस्टरलिज के युद्ध की वर्षगांठ के समारोह में नेपोलियन बोनापार्ट की गौरवमयी गाथा पर प्रकाश डाला और घोषणा की कि वह भी उसके कार्यों का अनुसरण करके फ्रांस के गौरव की पुनर्स्थापना करेगा। इससे जनता की उसके प्रति श्रद्धा बढ़ गयी तथा उसे चाहने लगी।

(5) मध्यम वर्ग को खुश करने के लिए उसने व्यवसाय को अनेक प्रकार के संरक्षण प्रदान किये।

(6) जिन 30 लाख व्यक्तियों को मताधिकार से वंचित कर दिया गया था वे प्रतिनिधि सभा से नाराज थे। इन लोगों को अपने पक्ष में करने के लिये उसने वयस्क मताधिकार का समर्थन किया तथा प्रतिनिधि सभा से मांग की कि वह ऐसे कानून को निरस्त कर दे। प्रतिनिधि सभा ने नेपोलियन की इस मांग को ठुकरा कर अपनी लोकप्रियता को नुकसान पहुंचाया, किन्तु इस मांग ने नेपोलियन को लोकप्रिय बना दिया।

लुई नेपोलियन के उपर्युक्त सभी कार्यों से उसकी लोकप्रियता में वृद्धि हो गई। फ्रांस का प्रत्येक वर्ग उसे चाहने लगा। उसे यह भी ज्ञात हो गया कि गणतंत्र की नींव कमजोर है तथा जनता गणतन्त्र को पसन्द नहीं करती। अतः वह निरन्तर अपनी शक्तियों में वृद्धि करता रहा तथा सत्ता हथियाने का प्रयत्न करने लगा।

सत्ता हथियाने की तैयारी—लुई नेपोलियन ने प्रतिनिधि सभा को अलोकप्रिय बनाकर स्वयं की लोकप्रियता में वृद्धि करली थी। रोमन कैथोलिकों, उच्च मध्यम

वर्ग, मजदूरों तथा सेना को अपने पक्ष में करके, बड़ी ही गुप्त रीति से सावधानी पूर्वक सत्ता हथियाने की तैयारी करने लगा। जनवरी 1851 में उसने मन्त्रिमण्डल को वर्खास्त कर दिया तथा उसके स्थान पर नये मन्त्रियों की नियुक्ति की। संविधान के अनुसार राष्ट्रपति का कार्यकाल 4 वर्ष था और तदनुसार लुई नेपोलियन का राष्ट्रपति के रूप में, कार्यकाल 1852 में समाप्त होने वाला था। अतः वह संविधान में संशोधन करके अपना कार्यकाल बढ़ाना चाहता था। जुलाई 1851 में प्रतिनिधि सभा में संविधान में संशोधन के इस प्रस्ताव को तीन चौथाई बहुमत प्राप्त नहीं हो सका। नवम्बर 1851 में उसने वयस्क मताधिकार को पुनः स्थापित करने तथा 1850 के निर्वाचन कानून को निरस्त करने का प्रस्ताव रखा। इसे भी प्रतिनिधि सभा ने अस्वीकृत कर दिया। तत्पश्चात् नेपोलियन ने बलपूर्वक सत्ता हथियाने की तैयारी आरम्भ कर दी।

सेनापति सेंट अर्नाद तथा पेरिस की पुलिस का प्रधान ड-मॉपास (De Maupas) ने मिलकर सत्ता परिवर्तन करने की योजना बनायी। 2 दिसम्बर 1851 को प्रातःकाल से पहले ही फ्रांस के प्रमुख गणतन्त्रवादियों तथा राजसत्तावादियों को गिरफ्तार कर लिया गया तथा प्रतिनिधि सभा के भवन को घेर लिया गया। लुई नेपोलियन ने फ्रांस की जनता के नाम पर एक घोषणा पत्र तैयार किया, जो प्रातः काल से पूर्व ही पेरिस की मुख्य इमारतों पर चिपकवा दिया गया। घोषणा पत्र द्वारा प्रतिनिधि सभा को भंग करवा दिया गया तथा 1850 के निर्वाचन कानून को रद्द कर वयस्क मताधिकार पुनः स्थापित करने की घोषणा की गई। नेपोलियन नें जनता को यह भी सूचित किया कि राष्ट्रपति को नवीन संविधान बनाने का अधिकार देने के सम्बन्ध में शीघ्र ही जनमत संग्रह किया जायेगा। जिन लोगों ने राष्ट्रपति की इस कार्यवाही का विरोध किया उन्हें गिरफ्तार कर जेलों में ठूंस दिया गया। इस पर कुछ गणतन्त्रवादियों ने राष्ट्रपति के अधिनायकवाद का विरोध करने के लिए एक समिति गठित की तथा 3 दिसम्बर की रात्रि को राष्ट्रपति के विरुद्ध विद्रोह आरम्भ हो गया। 4 दिसम्बर को यह विद्रोह अधिक उग्र हो गया, किन्तु सेंट अर्नाद ने सेना भेजकर इस विद्रोह को बड़ी निर्दयता से कुचल दिया। इस दमनकारी नीति का प्रयोग विशेष रूप से गणतन्त्रवादियों के विरुद्ध किया गया और उनका ऐसी निर्ममता से दमन किया गया कि वे अनेक वर्षों के लिए शांत हो गये।

20 दिसम्बर 1851 को पूर्व घोषणा के अनुसार जनमत संग्रह कराया गया। राष्ट्रपति को संविधान में संशोधन करने का अधिकार देने के पक्ष में लगभग 75 लाख तथा उसके विरुद्ध लगभग 6½ लाख मत प्राप्त हुए। 14 जनवरी 1852 को लुई नेपोलियन ने नया संविधान घोषित कर दिया, जिसमें राष्ट्रपति का कार्यकाल 4 वर्ष से बढ़ाकर 10 वर्ष कर दिया गया तथा वयस्क मताधिकार की व्यवस्था की गई। राज्य की समस्त शक्ति राष्ट्रपति के हाथों में केन्द्रित कर दी गई तथा उसे

मंत्रियों को नियुक्त करने एवं अपदस्थ करने का अधिकार दिया गया। कानून बनाने के लिए तीन सदन गठित किये गये— प्रथम राज्य परिषद (Council of State) जिसके सदस्य राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत किये जाते थे तथा इसका कार्य कानूनों के प्रारूप तैयार करना था, दूसरी सीनेट (Senate) जिसके सदस्य भी राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत किये जाते थे तथा इसका कार्य कानूनों में संशोधन करना, नये कानून प्रस्तावित करना और संविधान की व्याख्या करना था। इन दोनों सदनों की बैठक सार्वजनिक नहीं होती थी। तीसरा सदन व्यवस्थापिका सभा (Corps Legislatif) थी, जिसके 250 सदस्य थे और उनका निर्वाचन वयस्क मताधिकार के आधार पर होता था। व्यवस्थापिका सभा का मुख्य कार्य कानूनों को पारित करना तथा वार्षिक बजट को पास करना था, किन्तु इसे किसी कानून को प्रस्तावित करने अथवा बजट में संशोधन करने का अधिकार नहीं था। संविधान में ऐसी व्यवस्था कर दी गई कि कोई प्रस्ताव राष्ट्रपति की इच्छा के विरुद्ध न तो इस सदन में प्रस्तुत किया जा सकता था और न ही उसे पारित किया जा सकता था। सेना तथा साधारण सेवाओं के पदाधिकारियों की नियुक्ति भी राष्ट्रपति के अधिकार में सौंप दी गई।

द्वितीय गणतन्त्र का अन्त तथा सम्राट नेपोलियन तृतीय—इन सभी संवैधानिक परिवर्तनों ने लुई नेपोलियन को फ्रांस का भाग्य विधाता बना दिया। किन्तु उसकी वास्तविक इच्छा सम्राट बनने की थी। अतः अपनी इस आकांक्षा की पूर्ति हेतु धीरे-धीरे तैयारी करने लगा। राष्ट्रीय सिक्कों पर उसका चित्र अंकित होने लगा तथा राष्ट्रीय इमारतों एवं सेना में नेपोलियन प्रथम के समय के चिन्ह पुनः दिखाई देने लगे। उसने देश भर का दौरा किया ताकि जनमत का पता लग सके। सभी जगह जनता ने 'सम्राट की जय' के नारों से उसका स्वागत किया। इससे नेपोलियन को पता चल गया कि जनता उसे सम्राट के रूप में स्वीकार करने को तैयार है। अतः 21 नवम्बर 1852 को, लुई नेपोलियन को, नेपोलियन तृतीय के नाम से सम्राट घोषित करने के प्रश्न पर मतदान किया गया। इस मतदान में लगभग 78 लाख मत नेपोलियन के सम्राट बनने के पक्ष में तथा लगभग $2\frac{1}{2}$ लाख मत विपक्ष में आये। 2 दिसम्बर 1852 को लुई नेपोलियन को विधिवत् 'सम्राट नेपोलियन तृतीय' घोषित किया गया। इस प्रकार फ्रांस में द्वितीय गणतन्त्र समाप्त हुआ तथा उसके स्थान पर सम्राट नेपोलियन तृतीय का द्वितीय साम्राज्य स्थापित हुआ।

फ्रांस के द्वितीय गणतन्त्र का अन्त होना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी, क्योंकि फ्रांस की जनता तो नेपोलियन के नाम पर मोहित थी। इसके अतिरिक्त जनता का बहुमत प्राचीन परम्पराओं का पक्षपाती था। उच्च मध्यम वर्ग के लोग तथा पूंजीपति समाजवाद से भयभीत थे तथा वे राजतन्त्र की पुनर्स्थापना में ही अपना हित समझते थे। कैथोलिक लोग भी राजतन्त्र में विश्वास रखते थे। इस प्रकार उस समय सभी परिस्थितियां लुई नेपोलियन के अनुकूल थीं, जिसका उसने बड़ी चतुराई से लाभ उठाया तथा फ्रांस में राजसत्ता को पुनः स्थापित करने में सफल रहा।

द्वितीय साम्राज्य—(1852–70) 2 दिसम्बर 1852 को लुई नेपोलियन ने सम्राट नेपोलियन तृतीय के रूप में शासन आरम्भ किया, जो लगभग 18 वर्षों तक चलता रहा। इस काल में वह यूरोपीय राजनैतिक रंगमंच का प्रमुख व्यक्ति वन गया था। किन्तु दुर्भाग्य से उसमें नेपोलियन प्रथम के समान न तो योग्यता थी और न क्षमता। अतः ज्यों ही उसके समक्ष कठिनाइयां उपस्थित हुई, वह लड़खडाने लगा और अन्त में वह न केवल अपने साम्राज्य से वंचित हुआ, अपितु अपने शत्रुओं द्वारा कैद कर लिया गया। कैद से वह किसी प्रकार भागने में सफल हुआ तथा 1873 में उसकी इङ्गलैण्ड में मृत्यु हो गयी।

सम्राट नेपोलियन तृतीय की नीति—सम्राट नेपोलियन तृतीय अपने चाचा नेपोलियन प्रथम की नीति का अनुसरण करना चाहता था। 1849 में उसने कहा था, "नेपोलियन का नाम स्वयं एक कार्यक्रम है, देश के अन्दर व्यवस्था, राजसत्ता, धर्म तथा लोक कल्याण और देश के वाहर राष्ट्रीय गौरव।" अत: उसकी आंतरिक नीति का उद्देश्य व्यवस्था के साथ स्वतन्त्रता का सामन्जस्य स्थापित करना तथा विदेश नीति में राष्ट्रीय गौरव को वढ़ाना था। वाटरलू के वाद फ्रांस में जिस प्रकार राजनैतिक स्वतन्त्रता का दुरुपयोग हुआ, उसे ध्यान में रखते हुए वह चाहता था कि कुछ समय तक फ्रांस की जनता को स्वतन्त्रता से वंचित रखा जाना चाहिए। देश में शान्ति और व्यवस्था वनाये रखने के लिए तथा दृढ़ स्थायी शासन की स्थापना के लिये सरकार के पास असीमित शक्ति होनी चाहिये। जब जनता ऐसे शासन से अभ्यस्त हो जाये, तव सरकार की निरंकुशता को धीरे-धीरे कम करके जनता को स्वतन्त्रता देनी चाहिये। सम्राट नेपोलियन तृतीय ने इसी नीति का पालन किया। अत: द्वितीय साम्राज्य का इतिहास दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—1852 से 1860 तक निरंकुश एवं असीमित स्वेच्छाचारिता का काल तथा 1860 से 1870 का उदारवाद का काल। 1860 तक उसने अपनी सत्ता को निरंकुश और स्वेच्छाचारी वनाया तथा उसके वाद अपनी निरंकुश सत्ता को शनैः शनैः कम करके जनता को स्वतन्त्रता प्रदान की। किन्तु उसने जनता को स्वतन्त्रता अपनी इच्छा से नहीं वल्कि परिस्थितियों से विवश होकर दी।

गृह नीति—जैसा कि पूर्व में वताया गया है कि सम्राट नेपोलियन तृतीय ने शासन की समस्त शक्ति अपने हाथ में केन्द्रित कर ली थी। किन्तु इसके साथ-साथ वह उदार भी वना रहा। उसने इस वात का सदैव ध्यान रखा कि फ्रांस की जनता को अधिक से अधिक आर्थिक व सामाजिक लाभ पहुंचे। उसकी गृह नीति का मुख्य आधार था—'प्रथम शांति और व्यवस्था, फिर स्वाधीनता'।

(1) **द्वितीय साम्राज्य का शासन विधान**—साम्राज्य का शासन विधान 14 जनवरी 1852 के संविधान पर आधारित था। इस संविधान के अनुसार सम्राट ही शासन का केन्द्र था। स्थल एवं नौ सेना पर उसका अधिकार था, वह युद्ध अथवा

शान्ति सन्धि करने का निर्णय कर सकता था। प्रशासन के लिए कानून प्रस्तावित करना तथा उसे कार्यान्वित करना उसी का काम था। राज्य के मन्त्री भी सम्राट द्वारा नियुक्त किये जाते थे तथा वे सम्राट के प्रति ही उत्तरदायी होते थे। व्यवस्थापिका सभा का उन पर कोई नियन्त्रण नहीं था। सीनेट और राज्य सभा के सदस्य तो पूर्ण रूप से सम्राट द्वारा मनोनीत किये जाते थे तथा व्यवस्थापिका सभा के 250 सदस्यों का निर्वाचन वयस्क मताधिकार के आधार पर होता था। इस निर्वाचन पर भी कई रुकावटें लगी हुई थी जिससे स्वतन्त्र निर्वाचन सर्वथा असम्भव था। निर्वाचन में सरकारी पक्ष की ओर से उम्मीदवार खड़े किये जाते थे तथा उनके लिए दबाव डालकर मत प्राप्त किये जाते थे। अतः विरोधी दल के सदस्यों को चुना जाना संभव ही नहीं था। इसके अतिरिक्त व्यवस्थापिका सभा बिल्कुल शक्तिहीन संस्था थी। उसे न तो कोई नये विधेयक को प्रस्तावित करने का अधिकार था और न सरकार द्वारा प्रस्तावित किसी विधेयक में संशोधन करने का अधिकार था। प्रान्तों में प्रिफेक्ट (Prefect) सम्राट का प्रतिनिधि होता था तथा उसको विस्तृत अधिकार प्राप्त थे। नगरों में मेयर (Mayor) तथा डिप्टी मेयर की नियुक्ति सम्राट स्वयं करता था तथा उन्हें भी अत्यन्त सीमित अधिकार दिये गये थे।

अपने साम्राज्य को सुदृढ़ बनाने के लिए सम्राट नेपोलियन तृतीय ने भाषण तथा लेखन पर प्रतिबन्ध लगा दिये। विरोधी पक्ष के समाचार प्रकाशित होते रहे, किन्तु गृह मन्त्री किसी भी समाचार पत्र के प्रकाशन को बन्द कर सकता था। कोई भी समाचार सम्राट की आज्ञा के बिना प्रकाशित नहीं किया जा सकता था। राजनैतिक सभाओं में सरकार द्वारा नियुक्त पर्यवेक्षक की उपस्थिति आवश्यक थी। सीनेट तथा व्यवस्थापिका सभा के प्रत्येक सदस्य को साम्राज्य के प्रति निष्ठावान रहने की शपथ लेनी पड़ती थी और जो लोग शपथ नहीं लेते थे, वे सीनेट एवं व्यवस्थापिका सभा के सदस्य नहीं रह सकते थे। लिप्सन महोदय ने लिखा है, "इस प्रकार नेपोलियन तृतीय एक प्रकार से निरंकुश शासक बन गया। सिद्धान्ततः उसकी शक्ति जनमत संग्रह द्वारा व्यक्त जन इच्छा पर आधारित थी, किन्तु वास्तव में उसकी शक्ति का आधार थी सेना।" इस सेना के बल पर ही उसने साम्यवादियों को बड़ी कठोरता से दमन किया। उन्हें या तो जेल में बन्द कर दिया गया था या देश से निर्वासित कर दिया गया।

(2) **राजनैतिक स्वतन्त्रता का अपहरण**—सम्राट की पुलिस राजनैतिक गतिविधियों पर कठोर नियन्त्रण रखती थी। यदि कोई व्यक्ति शासन की आलोचना करता तो उसे तुरन्त कैद कर दण्ड दिया जाता था। सम्राट नेपोलियन तृतीय ने कठोर नियन्त्रण एवं प्रतिबन्धों द्वारा राजनैतिक स्वतन्त्रता का अपहरण कर लिया। किन्तु पाल फॉमार का मत है कि साम्राज्य की नीति इतनी अधिक दमनकारी नहीं थी जितनी कि उसके संविधान की रचना से प्रतीत होती थी; यद्यपि नेपोलियन

ने बड़ी कठोरता से निरंकुश शासन प्रारम्भ किया, किन्तु साथ ही उग्रवादी एवं रूढ़िवादी, दोनों पक्षों को संतुष्ट करने का प्रयास किया। वह उग्रवादियों को कहता था कि उसका साम्राज्य लोकप्रिय प्रभुसत्ता के सिद्धान्त पर आधारित है, क्योंकि उसने वयस्क मताधिकार को बनाये रखा था। दूसरी ओर राजदरबार की शान शौकत से उसने रूढ़िवादियों को मुग्ध कर दिया। 1853 में उसने एक कुलीन परिवार की लड़की, यूजेनी (Eugenie) से विवाह किया। यूजेनी की अपूर्व सुन्दरता एवं मोहिनी शक्ति के कारण यूरोप में पेरिस फैशन का केन्द्र बन गया। राजदरबार के विलासी जीवन ने रूढ़िवादियों को वशीभूत कर दिया। सम्राट ने कैथोलिक पादरियों का भी समर्थन प्राप्त करने का प्रयत्न किया। उसने कैथोलिकों को कई प्रकार के अनुदान दिये, विदेशों में कैथोलिक मिशन भेजे, जहां कैथोलिक धर्म का समर्थन एवं प्रचार किया गया और चर्च के धार्मिक उत्सवों के अवसर पर राज्य की ओर से प्रतिनिधि भेजने की प्रथा आरम्भ की गई। इस प्रकार सम्राट उग्रवादियों एवं रूढ़िवादियों को बड़ी ही चतुराई से प्रसन्न करता गया और साथ-साथ राजनैतिक स्वतन्त्रता का भी अपहरण करता गया। उसने यह नियम बना दिया कि जो लोग राजनीतिक अपराधों के कारण दण्डित हो चुके हैं, अथवा भविष्य में दण्डित होंगे उन्हें मतदान का अधिकार नहीं होगा। इस प्रकार देखने में वयस्क मताधिकार के सिद्धान्त का पालन हो रहा था किन्तु निरंकुशता में किसी प्रकार की कमी नहीं हुई। इसे सम्राट की कुशल चतुराई ही कहा जा सकताहै।

(3) शिक्षा के प्रति नीति—सम्राट नेपोलियन तृतीय ने 1851 से 1856 के बीच पेरिस विश्वविद्यालय पर अनेक प्रतिबंध लगाये। विश्वविद्यालय के प्राध्यापकों को चर्च एवं साम्राज्य के प्रति निष्ठा की शपथ लेनी पड़ती थी तथा विश्वविद्यालय की विद्वत परिषद (Academic Council) के सदस्य भी शासन द्वारा मनोनीत किये जाने लगे। इस प्रकार विश्वविद्यालय की स्वायत्तता पर कड़ा प्रहार किया गया। इतिहास और दर्शन को पाठ्यक्रम से हटा दिया गया तथा उसके अध्ययन पर प्रतिबन्ध लगा दिया। विश्वविद्यालय पर शासन का नियन्त्रण स्थापित होने से एक ओर तो बुद्धिजीवी वर्ग के विरोध की सम्भावना कम हो गयी तथा दूसरी ओर कट्टर कैथोलिकों को इससे संतुष्टि प्राप्त हुई। माध्यमिक एवं प्राथमिक शालाओं पर चर्च का प्रभाव एवं नियन्त्रण स्थापित करने हेतु कट्टर कैथोलिक मांग कर रहे थे। सम्राट ने कुछ अंशों तक उनकी मांग स्वीकृत कर ली जिससे चर्च के नियन्त्रण में चलने वाली शालाओं की संख्या में वृद्धि होने लगी। यद्यपि सम्राट नेपोलियन तृतीय ने शिक्षा में उन्नति और विकास पर पर्याप्त ध्यान दिया, तथापि उसने इस बात का भी ध्यान रखा कि शिक्षा के प्रसार से राजतन्त्र विरोधी वातावरण उत्पन्न न हो जाय।

(4) आर्थिक नीति—नेपोलियन केवल निरंकुश शासन ही नहीं था, वल्कि वह फ्रांस की जनता को अधिक से अधिक आर्थिक और सामाजिक लाभ पहुंचाना

चाहता था। उसका प्रधान लक्ष्य जनहित था। उसे फ्रांस में अपनी स्थिति भी सुदृढ़ करनी थी और इसके लिए जनता में अधिक से अधिक लोकप्रिय होना आवश्यक था। वह देश के सभी वर्गों को संतुष्ट करके ही लोकप्रिय बन सकता था। इसलिये उसने जनता की आवश्यकताओं की ओर ध्यान दिया। नेपोलियन तृतीय सेंट साइमन की विचारधारा एवं सिद्धान्तों से प्रभावित था। सेंट साइमन की विचारधारा के अनुसार जनता की भौतिक समृद्धि के लिए आर्थिक साधनों, यातायात एवं परिवहन तथा शिक्षा का विकास करना राज्य का कर्तव्य था। इसी विचारधारा के आधार पर नेपोलियन ने आर्थिक विकास का कार्यक्रम अपनाया। वह इङ्गलैण्ड की औद्योगिक क्रांति से भी प्रभावित था, अतः फ्रांस में भी औद्योगिक विकास करना चाहता था। नेपोलियन इस तथ्य से भी भली भांति परिचित था कि यदि जनता की सुख सुविधाओं में वृद्धि होगी तो उन्हें राजनैतिक स्वतंत्रता का अभाव महसूस नहीं होगा।

उपर्युक्त उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए 1852 में क्रैडिट मोबीलियर (Credit Mobilier) नामक बैंक की स्थापना की गई, जो उद्योगों के लिए पूंजी की व्यवस्था कर सकता था। इसके अतिरिक्त क्रेडिट फांसियर (Credit Foncier) नामक दूसरे बैंक की स्थापना की गई जो भूमि रहन रखकर ऋण देता था। बैंक ऑफ फ्रांस को भी ऋण देने का अधिकार दिया गया। इससे उद्योगों के विकास के लिए पूंजी उपलब्ध होने लगी। व्यापार और वाणिज्य के विकास के लिए रेलों का तीव्र गति से विकास किया गया। रेलों के साथ-साथ सामुद्रिक यातायात के साधनों में भी वृद्धि की गई। सड़कों को सुधारा गया तथा नये पुल बनाये गये। डाक और तार की व्यवस्था में भी अभूतपूर्व सुधार किया गया। अब फ्रांस के सभी प्रमुख नगरों को तार(Telegraph) द्वारा जोड़ दिया गया। व्यापार और वाणिज्य के विकास के लिए शासकीय नियमों को भी सरल बनाया गया तथा उन पर लगने वाले अनावश्यक टैक्स समाप्त कर दिये गये। विदेशी व्यापार को बढ़ाने के लिए 1860 में इङ्गलैण्ड के साथ व्यापारिक सन्धि की गई, तदनुसार फ्रांस के निर्यात शुल्क में भी कर दी गई। इसी प्रकार के समझौते वेल्जियम, हालैण्ड इटली, स्वीडन, स्पेन और जर्मन से भी किये गये। इस प्रकार नेपोलियन तृतीय के काल में फ्रांस, यूरोप के उद्योग प्रधान देशों में अग्रणी बन गया।

उद्योगों के विस्तार के परिणामस्वरूप श्रमिकों की संख्या में वृद्धि हो गयी थी। इन मजदूरों पर गणतन्त्रवादियों एवं समाजवादियों का प्रभाव न बढ़ने देने के लिए वह मजदूरों को संतुष्ट रखना चाहता था। वह अपने आप को मजदूरों का सम्राट कहता था। पहले मजदूरों को संघ बनाने की अनुमति नहीं थी, अब उसने मजदूरों को संघ बनाने का अधिकार दिया। उसने मजदूरों के हड़ताल करने के अधिकारों को स्वीकृति प्रदान की। मजदूरों के लिए छुट्टी एवं चिकित्सा की व्यवस्था की गई। कारखाने में काम करते समय घायल हो जाने अथवा मृत्यु हो

जाने पर हर्जाना देने की भी व्यवस्था की गई। मजदूरों की आवास व्यवस्था में भी सुधार किया गया।

नेपोलियन तृतीय ने कृषि की उन्नति की ओर भी ध्यान दिया। अन्न का उत्पादन बढ़ाने के लिये अनेक स्थानों पर कृषि समितियां बनायी गई। बंजर भूमि को कृषि योग्य बनाया गया। देहातों में कृषि की शिक्षा के लिए कृषि विद्यालय खोले गये। कृषि के लिए सूद पर बैंक से ऋण देने की व्यवस्था की गई। अच्छे अनाज, फल तथा पशुओं के प्रदर्शन किये गये तथा पारितोषिक दिये गये। इन सभी उपायों से फ्रांस में कृषि की काफी उन्नति हुई तथा किसानों की स्थिति में भी काफी सुधार आया।

नेपोलियन तृतीय ने सड़कों, नहरों एवं पुलों के निर्माण के साथ-साथ पेरिस, आर्सेल्स तथा ल्यास में अनेक सुन्दर इमारतें बनवायीं। पेरिस के मुख्य मार्गों को चौड़ा किया गया तथा नई चौड़ी सड़कें बनवायी गई। उसके द्वारा बनवायी गई सुन्दर इमारतों में पेरिस का ओपेरा हाउस मुख्य था। उसने शहर में सुन्दर बगीचे लगवाये। नेपोलियन तृतीय के काल में पेरिस, यूरोप का सर्वाधिक आकर्षक नगर बन गया था।

साम्राज्य के विरुद्ध बढ़ता हुआ असंतोष—सम्राट नेपोलियन तृतीय अपनी गृह नीति में पूर्ण सफल रहा। फ्रांस में सुख और समृद्धि का विकास हुआ। सामान्य जनता का रहन-सहन का स्तर ऊंचा उठ गया। नेपोलियन बोनापार्ट के पश्चात् प्रथम बार फ्रांस के आर्थिक एवं सामाजिक जीवन में शान्ति एवं व्यवस्था दिखाई देने लगी। अतः जनता ने अपने राजनैतिक अधिकारों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। उसकी आंतरिक नीति के कारण फ्रांस के लगभग सभी वर्ग संतुष्ट थे। विदेश नीति में उसने राष्ट्रीय गौरव को बढ़ाया। 1859 तक उसका शासन शांति पूर्वक एवं व्यवस्थित ढंग से चलता रहा। किन्तु 1860 में उसकी स्थिति में परिवर्तन हुआ तथा उसकी नीति का विरोध बढ़ने लगा।

1859 में नेपोलियन तृतीय ने इटली के स्वतन्त्रता संग्राम में सार्डीनिया का पक्ष लेकर कैथोलिक आस्ट्रिया के विरुद्ध संघर्ष किया। इससे फ्रांस के कैथोलिक जो अब तक सम्राट के समर्थक थे, उससे असंतुष्ट हो गये। यद्यपि उसने विलाफ्रेंका की सन्धि करके युद्ध समाप्त कर दिया था, किन्तु उस समय तक काफी देर हो चुकी थी। उसकी इटली सम्बन्धी इस नीति से उसने न केवल कैथोलिकों का समर्थन खो दिया बल्कि फ्रांस के उदारवादी भी उससे अप्रसन्न हो गये। दूसरी ओर उसने 1860 में इङ्गलैण्ड के साथ व्यापारिक सन्धि की, जिससे फ्रांस में आयात होने वाले इङ्गलैण्ड के माल पर शुल्क कम हो गया। फ्रांस के उद्योगपतियों ने इस सन्धि की कटु आलोचना की। इस प्रकार फ्रांस का धनिक वर्ग भी उसका विरोधी हो गया। इस बढ़ते हुए असंतोष को कम करने के लिए उसने उदार नीति अपनाने का निश्चय

किया। इस नीति के अन्तर्गत उसने 1860 में कुछ आदेश निकाले। इन आदेशों के द्वारा सीनेट और व्यवस्थापिका सभा के सदस्यों के अधिकारों में वृद्धि की गई। इस प्रकार 1860 से नेपोलियन का निरंकुश शासन उदारवादी मे परिवर्तित हो गया, किन्तु जन असंतोष में कोई कमी नहीं हुई। गणतन्त्रवादियों का प्रभाव बढ़ने लगा। मजदूरों और शिक्षित वर्ग में समाजवादियों के विचारों का प्रभाव बढ़ रहा था। पुराने अनुभवी राजनीतिज्ञ थीयर्स ने पुन: राजनीति में प्रवेश किया तथा शासन की आलोचना आरम्भ कर दी। 1862 के अन्त तक कैथोलिक, गणतंत्रवादी, समाजवादी, आलिया वंश के समर्थक आदि सभी शासन के विरुद्ध एकमत हो गये। 1863 में पोलैण्ड के विद्रोह के समय फ्रांस की जनता पोलैण्ड को सहायता देना चाहती थी किन्तु नेपोलियन ने तटस्थता की नीति अपनाई। 1863 के निर्वाचनों में शासन के प्रभाव के बावजूद विरोधी पक्ष को 35 स्थान प्राप्त हो गये, जिसमें थीयर्स जैसे योग्य व्यक्ति सम्मिलित थे। 1864 में थीयर्स ने विरोधी दलों की ओर से आवश्यक स्वातन्त्र्य (Indespensable Liberties) की मांग की। 1865–66 में व्यवस्थापिका सभा में एक नये राजनैतिक दल, जिसे तृतीय दल कहा जाता है, का निर्माण हुआ। यह दल राजनैतिक स्वतन्त्रता के साथ-साथ संवैधानिक शासन की मांग करने लगा। 1867 में तृतीय दल एवं उदार दल के दबाव के कारण सीनेट और व्यवस्थापिका सभा के अधिकारों में और वृद्धि की गई। 1868 में समाचार पत्रों से अनेक प्रतिबंध हटा लिये गये, किन्तु इन सुधारों से भी विरोधी दल संतुष्ट नहीं हुए। इसी समय गणतन्त्रवादियों एवं समाजवादियों में मेल हो गया तथा दोनों ने मिलकर मजदूर वर्ग में समाज के विरुद्ध विरोध अभियान आरम्भ कर दिया। 1869 में पुन: व्यवस्थापिका सभा के चुनाव हुए, जिसमें 116 स्थान तृतीय दल को तथा 40 स्थान गणतन्त्रवादियों को प्राप्त हुए। तृतीय दल ने सम्राट से व्यवस्थापिका सभा के प्रति उत्तरदायी मन्त्रिमण्डल बनाने की मांग की। कुछ समय तक तो सम्राट इस मांग को टालता रहा, किन्तु अन्त में उनके दबाव के समक्ष उसे झुकना पड़ा। दिसम्बर, 1869 में तृतीय दल के नेता ओलीवियर को मन्त्रिमण्डल बनाने के लिए आमन्त्रित किया गया। इस प्रकार फ्रांस में संसदीय शासन प्रणाली का सूत्रपात हुआ, किन्तु कुछ ही महिनों बाद सितम्बर 1870 में नेपोलियन तृतीय के साम्राज्य का पतन हो गया। विदेश नीति में असफलता उसके पतन का सबसे बड़ा कारण सिद्ध हुई।

नेपोलियन तृतीय की विदेश नीति—नेपोलियन ने 1852 में बोर्दो में भाषण देते हुए कहा था, 'सम्राट का अर्थ है शांति'। इस प्रकार वह यूरोप के राज्यों को आश्वस्त करना चाहता था कि वह शान्ति का इच्छुक है। किन्तु वह जानता था कि फ्रांस की जनता के मस्तिष्क में नेपोलियन की विजयों की स्मृतियां अभी भी ताजी हैं, जिन्हें भुलाया नहीं जा सकता। इस गौरव की अभिलाषा को पूर्ण करने के लिये उसके लिए युद्ध की नीति अपनाना आवश्यक हो गया था। इसलिये वह नेपोलियन

परम्परा को बनाये रखना चाहता था, जिससे कि विदेशों में फ्रांस का गौरव बढ़े। उसने एक बार ब्रिटिश राजदूत से कहा था, "मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि फ्रांस की आंतरिक प्रवृत्तियां सैनिक प्रिय हैं और मैं उनको सन्तुष्ट करने का निश्चय कर चुका हूँ।" जर्मनी के चान्सलर एवं यूरोप के महान कूटनीतिज्ञ बिस्मार्क ने भी नेपोलियन तृतीय के बारे में कहा था कि "उसे युद्ध की आवश्यकता है।" इस प्रकार उसकी विदेश नीति के प्रमुख दो उद्देश्य थे—फ्रांस के राष्ट्रीय गौरव में वृद्धि करना तथा यूरोप की राजनीति में फ्रांस को प्रतिष्ठित स्थान दिलाना। राष्ट्रीय गौरव को प्राप्त करने के लिये वह 1815 की सन्धियों को नष्ट करना तथा राष्ट्रों को स्वतन्त्रता दिलाना चाहता था। इसके अतिरिक्त वह फ्रांस की खोई हुई प्राकृतिक सीमाओं को पुनः प्राप्त करना चाहता था। नेपोलियन राष्ट्रीयता का समर्थक भी था। इसलिये यूरोप के विभिन्न राज्यों के देशभक्त उससे सहायता प्राप्त करने की आशा रखते थे। नेपोलियन जानता था कि राष्ट्रीय आन्दोलनों का समर्थन करने से फ्रांस की प्रतिष्ठा में वृद्धि होगी और साथ ही फ्रांस को कुछ अतिरिक्त भूभाग भी प्राप्त हो सकेंगे। इन उद्देश्यों से प्रेरित होकर नेपोलियन तृतीय ने आक्रामक विदेश नीति अपनाई। नेपोलियन तृतीय की विदेश नीति को हम दो चरणों में विभाजित कर सकते हैं। प्रथम चरण में 1852 से 1860 तक का काल लिया जा सकता है, जिसमें उसे काफी सफलता प्राप्त हुई तथा द्वितीय चरण में 1860 से 1870 तक का काल लिया जा सकता है, जिसमें उसे भारी असफलताओं का सामना करना पड़ा।

वह प्रारम्भ से ही ब्रिटेन से मित्रतापूर्ण सम्बन्ध रखने का इच्छुक था, किन्तु रूस के साथ उसके सम्बन्ध ठीक नहीं थे, क्योंकि रूस का जार निकोलस उसके सम्राट बनने से खुश नहीं था तथा स्वयं नेपोलियन भी रूस के जार की नीति से सन्तुष्ट नहीं था। इन राजनैतिक परिस्थितियों के पर्यावरण में उसने अपनी विदेश नीति के दोनों चरणों में निम्नलिखित कार्य किये—

प्रथम चरण (1852-1860)

(1) क्रीमिया का युद्ध—1740 ई. की एक सन्धि के अनुसार फ्रांस के कैथोलिक ईसाइयों को, टर्की साम्राज्य के अन्तर्गत पेलेस्टाइन में स्थित, ईसाइयों के पवित्र स्थानों के संरक्षण का अधिकार दिया गया था, किन्तु 18 वीं शताब्दी के अन्त से फ्रांस के सन्यासी (Latin Monk) कर्त्तव्यच्युत होने लगे, अतः उनका स्थान यूनानी चर्च के सन्यासियों ने (Greek Monks) ले लिया। 1852 में सम्राट नेपोलियन ने फ्रांस के कैथोलिकों को प्रसन्न करने तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में फ्रांस की प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिये उन पवित्र स्थानों पर रोमन सन्यासियों के संरक्षण के अधिकार को वापस दिलाने की मांग की। यूरोप के रोमन कैथोलिक राज्यों ने इसका समर्थन किया तथा टर्की के सुल्तान ने भी इस माँग को स्वीकार कर लिया। किन्तु रूस का जार, जो यूनानी चर्च का समर्थक था, इससे क्रोधित हो उठा। वस्तुतः रूस

टर्की की निर्बलता का लाभ उठाकर टर्की साम्राज्य का बंटवारा चाहता था। उसने टर्की साम्राज्य में रहने वाली ईसाई जनता पर रूस के संरक्षण की मांग की। ब्रिटेन टर्की में रूस के प्रभाव को रोकना चाहता था, अतः ब्रिटेन की सलाह से टर्की के सुल्तान ने रूस की मांग अस्वीकार करदी। ब्रिटेन और फ्रांस रूस की शक्ति को रोकने के लिये एकमत हो गये। 1853 में रूस ने टर्की साम्राज्य के मोल्दाविया तथा वेलेशिया पर अधिकार कर लिया। इस पर टर्की ने रूस के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। 1854 में ब्रिटेन व फ्रांस ने रूस के विरुद्ध युद्ध में प्रवेश किया। इस प्रकार क्रीमिया का युद्ध आरम्भ हो गया। अन्त में रूस की पराजय हुई तथा 1856 में पेरिस में यूरोपीय राज्यों का शान्ति सम्मेलन हुआ, जिसकी अध्यक्षता नेपोलियन तृतीय ने की। पेरिस की सन्धि द्वारा रूस के बढ़ते हुए प्रभाव को रोक दिया गया। इससे फ्रांस को कोई ठोस लाभ नहीं हुआ, किन्तु फ्रांस को गौरव प्राप्त हुआ तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उसकी ख्याति बढ़ गई। फ्रांस, यूरोपीय राजनीति का केन्द्र वन गया। इस सफलता के परिणामस्वरूप फ्रांस में नेपोलियन की स्थिति सुदृढ़ हो गयी।

(2) **इटली के सम्बन्ध में नीति**—क्रीमिया की सफलता के बाद नेपोलियन अपने चाचा के दूसरे शत्रु आस्ट्रिया को नीचा दिखाने पर तुल गया। उसने इटली में चल रहे आस्ट्रिया के विरुद्ध राष्ट्रीय युद्धों में, इटली का पक्ष लिया। इटली की सहायता करने के अनेक कारण भी थे। पेरिस के सम्मेलन में कैवूर ने इटली की राष्ट्रीय आकांक्षाओं के प्रति नेपोलियन की सहानुभूति प्राप्त कर ली थी। वह स्वयं पहले 'कार्बोनरी संस्था' का सदस्य रह कर इटली के स्वतन्त्रता संग्राम में भाग ले चुका था। इसके अतिरिक्त इटली में आस्ट्रिया के प्रभाव को नष्ट कर, 1815 में उसके वंश एवं फ्रांस का अपमान करने वाले राष्ट्र से प्रतिशोध भी लेना चाहता था। किन्तु सार्डीनिया को, कैथोलिक आस्ट्रिया के विरुद्ध सहायता देने से फ्रांस के कैथोलिकों के नाराज होने का भय था। अतः कुछ समय तक वह निर्णय नहीं कर सका। जुलाई 1858 में उसने प्लोम्बियर्स में कैवूर से गुप्त वार्ता की, फलस्वरूप "प्लोम्बियर्स की सन्धि" हुई। इस सन्धि के अनुसार कैवूर ने फ्रांस को, सैनिक सहायता के बदले नीस और सेवाय के प्रदेश देने का वचन दिया। अप्रेल 1859 को आस्ट्रिया ने सार्डीनिया के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। युद्ध आरम्भ होते ही नेपोलियन ने समझौते के अनुसार अपनी सेनाएं भेज दी। फ्रांस और सार्डीनिया की सेनाओं ने आस्ट्रिया को परास्त कर दिया तथा मिलान, लोम्बार्डी, टस्कनी, परमा, मोडेना आदि स्थानों पर अधिकार कर लिया। इस सफलता से इटली की राष्ट्रीय एकता की भावना अधिक प्रबल हो उठी और वे पोप के राज्य सहित मध्य इटली के राज्यों को सम्मिलित कर संयुक्त इटली की मांग करने लगे। इससे नेपोलियन भयभीत हुआ, क्योंकि वह तो इटली पर से आस्ट्रिया का प्रभाव समाप्त कर फ्रांस का प्रभाव स्थापित करना चाहता था। इसलिये वह इटली के एकीकरण का विरोधी था।

इधर फ्रांस के कैथोलिकों का विरोध भी बढ़ रहा था। अतः नेपोलियन ने सार्डिनिया से सलाह लिये बिना आस्ट्रिया के साथ विलाफ्रैंका की सन्धि कर ली। कैवूर अकेला ही युद्ध को जारी रखना चाहता था, परन्तु सार्डिनिया के शासक विक्टर एमेनुअल ने भी आस्ट्रिया से समझौता कर लिया। इस नये समझौते के अनुसार लोम्बार्डी का प्रान्त सार्डिनिया को दे दिया गया तथा नेपोलियन ने भी प्लोम्बियर्स की सन्धि के अनुसार नीस और सेवाय न लेकर सार्डिनिया से केवल युद्ध व्यय लेना ही स्वीकार कर लिया। नेपोलियन की इस नीति से इटली के राष्ट्रवादी एवं फ्रांस के उदारवादी उसके विरुद्ध हो गये।

नेपोलियन तृतीय द्वारा विश्वासघात किये जाने का प्रमुख कारण यह था कि वह केवल उत्तरी इटली की एकता चाहता था। सम्पूर्ण इटली का एकीकरण उसे पसन्द नहीं था, क्योंकि वह फ्रांस की सीमा पर एक अन्य शक्तिशाली राष्ट्र की स्थापना नहीं चाहता था। दूसरी बात यह थी कि प्रारम्भिक पराजयों के बाद आस्ट्रिया की स्थिति सुधर गई थी और उसे पूर्ण रूप से पराजित करना सरल कार्य नहीं था। फिर, प्रशा द्वारा आस्ट्रिया का पक्ष लेकर युद्ध में सम्मिलित होने की आशंका भी थी। फ्रांस की कैथोलिक जनता इटली एकीकरण के विरुद्ध थी। क्योंकि इससे उनके धर्मगुरु पोप की प्रतिष्ठा पर जबरदस्त आघात पहुंचता था।

1860 में मध्य इटली के तीन राज्यों परमा, मोडेना और टस्कनी में क्रान्ति फैल गयी और वहां की जनता ने अपने शासकों को निकाल दिया तथा सार्डीनिया के साथ सम्मिलित होने का निर्णय लिया। नेपोलियन तृतीय नहीं चाहता था कि मध्य इटली के राज्य सार्डिनिया के साथ मिले, परन्तु जब कैवूर ने नेपोलियन को सेवाय और नीस देने का वचन दिया तो नेपोलियन ने मौन स्वीकृति दे दी। किन्तु उसकी इस नीति के कारण फ्रांस के कैथोलिकों में वह काफी अलोकप्रिय हो गया। उनका समर्थन व विश्वास प्राप्त करने के लिये नेपोलियन ने पोप के संरक्षण हेतु रोम में फ्रांस की सेना रख दी। इससे इटली के देशभक्त पुनः उससे नाराज हो गये।

इसके अतिरिक्त 1860 में नेपिल्स में बुर्बो वंश का शासन था। इटली के एकीकरण आन्दोलन के समय नेपिल्स भी अन्य राज्यों के साथ मिल गया जिससे वहाँ बुर्बो वंश के शासन का अन्त हो गया। नेपोलियन तृतीय ने इस मामले में कोई हस्तक्षेप नहीं किया, जिसके फलस्वरूप फ्रांस का कुलीन वर्ग नेपोलियन से असंतुष्ट हो गया, क्योंकि बुर्बो वंश के पतन में फ्रांस का कुलीन वर्ग अपना अपमान समझता था।

1870 में फ्रांस व प्रशा में युद्ध शुरू हो गया, तब विवश होकर नेपोलियन को रोम से अपनी सेना वापिस बुलानी पड़ी। फ्रांस की सेना के रोम से हटते ही इटली की सेना ने रोम पर अधिकार कर लिया। लिप्सन ने ठीक ही लिखा है कि

नेपोलियन अपनी इटली सम्बन्धी नीति से किसी को भी सन्तुष्ट न कर सका और उसी के कारण उसके साम्राज्य का पतन आरम्भ हुआ।

द्वितीय चरण (1860-1870)

(3) पोलैण्ड का विद्रोह और नेपोलियन—सन् 1863 में पोलैण्ड ने रूस के शासक के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। पोलैण्ड को नेपोलियन से सहायता प्राप्त होने की आशा थी, क्योंकि नेपोलियन अपने आपको राष्ट्रीयता का समर्थक कहता था। फ्रांस की जनता भी पोलैण्ड के राष्ट्रवादियों को सहायता देने के पक्ष में थी, किन्तु इस समय नेपोलियन का ध्यान मेक्सिको पर अधिकार करने की योजना पर केन्द्रित था। दूसरी ओर पोल लोगों की सहायता करने का अर्थ होता—रूस, प्रशा और आस्ट्रिया से शत्रुता मोल लेना। फ्रांस की जनता को सन्तुष्ट करने के लिये उसने केवल रूस के जार को दो विरोध पत्र अवश्य भेजे, जिनकी रूस के जार ने कोई परवाह नहीं की तथा पोलैण्ड के विद्रोह को बड़ी निर्दयता पूर्वक कुचल दिया गया। नेपोलियन की इस नीति से एक ओर तो रूस उसका कट्टर शत्रु बन गया तथा दूसरी ओर फ्रांस की प्रतिष्ठा पर भी गहरा आघात लगा। फ्रांस की जनता बौखला उठी तथा अब नेपोलियन की स्थिति दिनोंदिन बिगड़ने लगी।

(4) औपनिवेशिक साम्राज्य का विस्तार—नेपोलियन तृतीय ने फ्रांस की औपनिवेशिक शक्ति को बढ़ाने की नीति भी अपनायी। 1857 में उसने उत्तरी अफ्रीका में अल्जीरिया पर अधिकार कर लिया। 1856 में फ्रांसीसी मिशनरी की हत्या का बदला लेने के लिए उसने इंगलैण्ड के साथ मिलकर चीन के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही में भाग लिया तथा 1860 में टीन्टसिन की संधि के फलस्वरूप चीन के बन्दरगाहों में व्यापारिक विशेषाधिकार प्राप्त किये। 1861 में उसने सीरिया के विरुद्ध सेना भेजकर निकट पूर्व में फ्रांस के हितों की रक्षा की। उसने अफ्रीका में फ्रांस के कई नये उपनिवेश स्थापित किये। पूर्वी एशिया में कोचीन-चायना और अनाम को फ्रांसीसी साम्राज्य में मिला लिया। 1863 में कम्बोडिया को भी अपने संरक्षण में ले लिया। इस प्रकार नेपोलियन ने फ्रांस के साम्राज्य में काफी वृद्धि कर ली। किन्तु जब देश की आन्तरिक स्थिति बिगड़ती गई तथा उसकी विदेश नीति असफल होती गई, तब इस औपनिवेशिक विस्तार का फ्रांस की जनता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। जनता ने इसे केवल शक्ति का अपव्यय समझा।

(5) मेक्सिको का असफल अभियान—मेक्सिको उत्तरी अमेरीका महाद्वीप में एक गणतन्त्रीय राज्य था। 1854 में वहाँ बेनिटो जुआरेज (Benito Juaraz) के नेतृत्व में एक नया सुधारवादी आन्दोलन चालू हुआ। लगभग 30 वर्ष तक वहाँ सुधारवादियों एवं अनुदारवादियों के बीच संघर्ष चलता रहा। 1860 में सुधारवादी विजयी हुए तथा जुआरेज वहाँ का राष्ट्रपति बना। आन्तरिक कलह के कारण मेक्सिको की अर्थ व्यवस्था अस्त व्यस्त हो गयी। मेक्सिको सरकार फ्रांस, इंगलैण्ड

और स्पेन की कर्जदार थी। राज्य में आर्थिक संकट को देखते हुए जुआरेज ने 1861 में फ्रांस, इंगलैण्ड और स्पेन के राष्ट्रीय कर्ज का भुगतान दो वर्ष के लिये स्थगित करने का निर्णय लिया। इस पर अक्टूबर 1861 में फ्रांस, इंगलैण्ड और स्पेन ने लन्दन सम्मेलन में मेक्सिको समुद्रतटीय क्षेत्रों पर सैनिक अधिकार कर वहाँ की सरकार को कर्ज के भुगतान करने के लिए विवश करने का निर्णय लिया। जनवरी 1862 में फ्रांस, इंगलैण्ड और स्पेन की सेनाओं ने वेराक्रुज नामक स्थान पर अधिकार कर लिया। विवश होकर मेक्सिकी सरकार कर्जों का भुगतान करने को तैयार हो गयी। इस पर इंगलैण्ड और स्पेन की सेनाएँ तो वापस लौट गई, किन्तु फ्रांस की सेनाएँ वहीं डटी रही। नेपोलियन तृतीय मेक्सिको पर अधिकार करना चाहता था। अमेरीका इस समय गृह युद्ध में फंसा हुआ था, अतः उसके हस्तक्षेप की कोई सम्भावना नहीं थी। फ्रांसीसी सेनाएँ मेक्सिको नगर की ओर बढ़ी। जुआरेज राजधानी छोड़कर भाग गया तथा जून 1863 में फ्रांसीसी सेना ने मेक्सिको पर अधिकार कर लिया। फ्रांस के सेनापति ने मेक्सिको के प्रमुख सामन्तों की एक बैठक बुलाई, जिसने आस्ट्रिया के सम्राट के भाई तथा वेल्जियम के शासक के दामाद मेक्स मिलियन को मेक्सिको का सम्राट बनाने का निश्चय किया। फ्रांसीसी सेना का आश्वासन प्राप्त कर मेक्समिलियन ने यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। नेपोलियन को आशा थी कि इससे आस्ट्रिया की मित्रता प्राप्त होगी तथा फ्रांस के कैथोलिक भी प्रसन्न हो जायेंगे। इसके अतिरिक्त मेक्सिको की खानों, रेलों आदि में पूँजी लगाकर लाभ प्राप्त किया जा सकता था।

मेक्सिको विजय नेपोलियन की महान सफलता थी, किन्तु शीघ्र ही उसकी योजना असफल हो गयी। मेक्सिको की जनता विदेशी शासन को स्वीकार करने को तैयार नहीं थी। अतः जुआरेज के नेतृत्व में विदेशी शासन से मुक्त होने के लिये संघर्ष आरम्भ हो गया, जिससे फ्रांसीसी सेना को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। 1856 में अमेरीका में गृह युद्ध समाप्त हो गया तथा अमेरीका के विदेश मंत्री सेवार्ड ने मुनरो सिद्धान्त के आधार पर नेपोलियन को अपनी सेनाएँ हटाने के लिए लिखा। नेपोलियन अमेरीका से युद्ध करने की स्थिति में नहीं था तथा फ्रांस में भी विरोधी दल उसकी मेक्सिको सम्बन्धी नीति की कटु आलोचना कर रहे थे। अतः फरवरी 1867 में समस्त फ्रांसीसी सेनाएं हटा ली गई तथा मेक्समिलियन को उसके भाग्य पर छोड़ दिया। कुछ ही समय बाद मेक्सिको के देशभक्तों ने उसकी हत्या कर दी।

मेक्सिको सम्बन्धी नीति का फ्रांस की प्रतिष्ठा पर घातक प्रभाव पड़ा। इस अभियान में अत्यधिक धन का अपव्यय हुआ जिससे फ्रांस की वित्तीय स्थिति, जो पहले से ही जर्जर हो चुकी थी, अस्त-व्यस्त हो गयी। फ्रांस को अमेरीका के सामने अपमानित होना पड़ा तथा यूरोप के राजनीतिज्ञों ने उसका मजाक उड़ाया। मेक्स मिलियन

को पहले तो आश्वासन देकर सम्राट बनाना और फिर उसे असहाय स्थिति में मरने के लिये छोड़ देने से फ्रांस की नैतिक प्रतिष्ठा गिर गई। फ्रांस की जनता में क्रोध फैल गया तथा विरोधी दल उसका अधिकाधिक विरोध करने लगे। हेजन ने लिखा है कि, "मेक्सिको का युद्ध नेपोलियन के लिये वैसा ही घातक युद्ध सिद्ध हुआ जैसा कि स्पेन का (प्रायद्वीप युद्ध) नेपोलियन प्रथम के लिये।"

(6) **जर्मनी का एकीकरण तथा नेपोलियन**—जिस समय नेपोलियन मेक्सिको अभियान में लगा हुआ था, उसी समय प्रशा का चान्सलर बिस्मार्क, जर्मनी के एकीकरण के प्रयत्न कर रहा था। सर्वप्रथम वह आस्ट्रिया को जर्मन संघ से बहिष्कृत कर प्रशा के नेतृत्व में जर्मनी का एकीकरण करना चाहता था।

1863 में डेनमार्क के शासन फ्रेडरिक सप्तम की मृत्यु हो जाने से श्लेसविग-हालस्टीन का प्रश्न पुनः उत्पन्न हो गया था। ये दोनों ही जर्मन डचियाँ थी जो डेनमार्क के अधीन थी। बिस्मार्क इन्हें प्रशा के आधिपत्य में लाना चाहता था। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु उसने आस्ट्रिया से सहयोग प्राप्त किया, क्योंकि फ्रांस और इंगलैड के हस्तक्षेप की इस समय सम्भावना नहीं थी। अतः 1864 में प्रशा और आस्ट्रिया की सेनाओं ने डेनमार्क के विरुद्ध युद्ध आरम्भ कर दिया तथा श्लेसविग व हालस्टीन पर अधिकार कर लिया। नेपोलियन इस समय मेक्सिको अभियान में व्यस्त था अतः वह इस ओर ध्यान न दे सका। किन्तु इन दोनों डचियों के विषय में आस्ट्रिया व प्रशा में तीव्र मतभेद उत्पन्न हो गया तथा युद्ध की आशंका पैदा हो गयी। आस्ट्रिया व प्रशा के बीच युद्ध की सम्भावना से नेपोलियन प्रसन्न था, क्योंकि इससे दोनों शक्तियों की शक्ति क्षीण होने की सम्भावना थी। किन्तु 1865 में दोनों पक्षों के बीच गेस्टीन का समझौता हो गया, जिसके द्वारा दोनो डचियों का आस्ट्रिया व प्रशा के बीच बंटवारा कर दिया गया था। नेपोलियन इस समझौते से खिन्न हो गया तथा उसने इस समझौते का विरोध किया। किन्तु बिस्मार्क ने उसे समझा दिया कि यह समझौता अस्थायी है। अब बिस्मार्क श्लेसविग और हालस्टीन दोनों पर अपना पूर्ण अधिकार करने को तैयार हो गया तथा इसके लिये आस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध के लिये तैयारी आरम्भ कर दी। बिस्मार्क की कूटनीति यह थी कि आस्ट्रिया को किसी अन्य शक्ति से सहायता न मिले। रूस तो आस्ट्रिया से पहले से ही नाराज था तथा इंगलैण्ड अपनी आन्तरिक समस्याओं में उलझा हुआ था। आस्ट्रिया को केवल फ्रांस से सहायता मिल सकती थी, अतः वह फ्रांस से मित्रता चाहता था। इसी उद्देश्य से अक्टूबर 1765 में बिस्मार्क ने बियारित्स (Biarritz) नामक स्थान पर नेपोलियन से भेंट की। नेपोलियन ने आस्ट्रिया और प्रशा के युद्ध में तटस्थ रहने का आश्वासन दिया। इसके बदले में बिस्मार्क ने नेपोलियन को कोई स्पष्ट आश्वासन तो नहीं दिया किन्तु बिस्मार्क की बातचीत से नेपोलियन को यह आभास हुआ कि प्रशा के विजयी होने

पर फ्रांस को राइन नदी के तटीय प्रदेश अथवा बेल्जियम की ओर कुछ प्रदेश प्राप्त हो सकेंगे। यहाँ प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि नेपोलियन ने विस्मार्क से लिखित आश्वासन क्यों नहीं लिया ? संभवतः इसका कारण यह था कि आस्ट्रिया व प्रशा की शक्ति युद्ध द्वारा क्षीण होने पर यूरोप में उसे अपनी शक्ति को संगठित करने का अवसर मिल सकता था।

16 जून 1866 को आस्ट्रिया और प्रशा के बीच युद्ध आरम्भ हो गया। 'सात सप्ताह के युद्ध' में आस्ट्रिया पूर्णतः पराजित हुआ। 3 जुलाई 1866 को सेडोवा नामक स्थान पर आस्ट्रिया की निर्णायक पराजय हुई। अगस्त 1866 में दोनों के मध्य प्राग की सन्धि हुई, जिसके अनुसार आस्ट्रिया को जर्मनी से अपनी प्रधानता त्यागनी पड़ी। तत्पश्चात् विस्मार्क ने प्रशा के नेतृत्व में उत्तरी जर्मन राज्य संघ का निर्माण किया। इस घटना से फ्रांस में सर्वत्र क्रोध छा गया तथा चारों ओर 'सेडोवा का वदला लेने' के नारे सुनाई पड़ने लगे। नेपोलियन ने युद्ध के वाद विस्मार्क से राइन नदी के तटीय प्रदेशों की मांग की जिसे बिस्मार्क ने अस्वीकृत कर दी। तत्पश्चात् वेल्जियम की ओर के पेलेटिनेट क्षेत्र की मांग की। जिसे भी बिस्मार्क ने यह कह कर टाल दिया कि यह तो बवेरिया का है। नेपोलियन ने लक्सेमवर्ग को हालैण्ड से खरीदना चाहा तथा हालैण्ड का शासक उसे बेचने के लिये तैयार भी हो गया, किन्तु चूंकि लक्सेमबर्ग में प्रशा की सेना रहती थी, अतः बिस्मार्क के विरोध के कारण नेपोलियन लक्सेमबर्ग भी नहीं खरीद सका। इस प्रकार चतुर विस्मार्क ने नेपोलियन तृतीय को कूटनीति में पछाड़ दिया। फ्रांस के लिये यह घोर अपमानजनक वात थी। फ्रांस के विदेश मन्त्री ड्रोइन-द-लुइस ने कहा, "फ्रांसीसी अब आंसू वहाने के अतिरिक्त कुछ नहीं कर सकते।"

(7) फ्रांस एवं प्रशा का युद्ध तथा नेपोलियन का समर्पण—वस्तुतः आस्ट्रिया व प्रशा के युद्ध के फलस्वरूप नेपोलियन की आंतरिक एवं वाह्य स्थिति डावांडोल हो गयी। इससे यूरोप का शक्ति संतुलन बिगड़ गया तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में फ्रांस की प्रतिष्ठा को गहरा आघात पहुंचा। प्रोफेसर माइकेल फुट (Michael Foot) ने लिखा है कि, "यूरोप की राजनैतिक गतिविधियों का केन्द्र अब पेरिस से हटकर वर्लिन पहुंच गया।" उधर रोम में फ्रांसीसी सेना को वनाये रखने के कारण इटली से भी सम्बन्ध बिगड़ते जा रहे थे। फ्रांस के अन्दर भी उसका विरोध निरन्तर वढ़ता जा रहा था। यद्यपि उसने फ्रांस के शासन विधान में अनेक परिवर्तन कर जनता को संतुष्ट करने का प्रयास किया, किन्तु गणतन्त्रवादी तो उसके साम्राज्य को ही समाप्त करने पर उतारू थे। अतः नेपोलियन के चारों ओर संकट के वादल मंडरा रहे थे। नेपोलियन समझ गया कि यदि प्रशा को युद्ध मैदान में पराजित नहीं किया गया तो फ्रांस की जनता उसे क्षमा नहीं करेगी। दूसरी ओर विस्मार्क जानता था कि फ्रांस को पराजित किये विना जर्मनी का एकीकरण पूरा नहीं हो सकता, क्योंकि फ्रांस की

शक्ति बनी रहने पर दक्षिणी जर्मन राज्यों को संघ में सम्मिलित नहीं किया जा सकता। प्रशा और फ्रांस की जनता में भी एक दूसरे के प्रति कटुता बढ़ती जा रही थी। दोनों देशों के समाचार पत्रों द्वारा एक दूसरे की कटु आलोचना से उत्तेजना बढ़ गई तथा युद्ध अवश्यंभावी प्रतीत होने लगा। नेपोलियन भी फ्रांस के अन्दर बढ़ते हुए विरोध को रोकने के लिये युद्ध को एक मात्र उपाय समझता था। किन्तु उस समय उसकी सैनिक स्थिति ऐसी नहीं थी कि प्रशा को पराजित करदे। फिर भी युद्ध के अतिरिक्त उसके सामने अब कोई अन्य विकल्प नहीं था। युद्ध छेड़ने के लिये उसे कोई बहाना चाहिये था, भाग्यवश उसे बहाना भी मिल गया।

1868 में स्पेन में महारानी इसाबेला के निरंकुश शासन के विरुद्ध क्रान्ति हो गयी तथा इसाबेला को राजसिंहासन छोड़कर भागना पड़ा। अब स्पेन की गद्दी पर प्रशा के शासक के सम्बन्धी राजकुमार लियोपोल्ड को बैठाने की योजना बनायी गई। इससे फ्रांस में बड़ी उत्तेजना फैल गई। फ्रांस, स्पेन और प्रशा के बीच में स्थित था तथा स्पेन पर प्रशा का प्रभुत्व फ्रांस के लिए गम्भीर चुनौती सिद्ध हो सकती थी। नेपोलियन तथा उसके मंत्रियों ने घोषणा की कि फ्रांस कभी भी लियो-पोल्ड को स्पेन का शासक स्वीकार नहीं करेगा। नेपोलियन ने प्रशा के शासक को एक कड़ा विरोध पत्र भी भेजा। इस पर लियोपोल्ड के पिता ने यह घोषणा की कि उसका पुत्र स्पेन के सिंहासन का प्रत्याशी नहीं रहा है। किन्तु फ्रांस की जनता के दबाव के कारण नेपोलियन को युद्ध तो छेड़ना ही था। अतः फ्रांस के मन्त्रिमण्डल ने प्रशा के शासक से यह मांग की कि भविष्य में कभी भी प्रशा के राजवंश का कोई राजकुमार स्पेन की गद्दी के लिये उम्मीदवार नहीं बनेगा। फ्रांस की सरकार ने प्रशा के शासक विलियम प्रथम से बातचीत करने अपना एक दूत भी भेजा। प्रशा के सम्राट ने उस राजदूत से कहा कि लियोपोल्ड ने स्पेन की गद्दी की उम्मीदवारी से अपना नाम वापस ले लिया है और इसके आगे वह कुछ नहीं कहना चाहते। इस घटना की सूचना तार (Ems Telegram) द्वारा बिस्मार्क को भेज दी गई। बिस्मार्क ने उस तार की 'संक्षिप्त इबारत' प्रकाशित करवा दी। उसके प्रकाशन का वही प्रभाव पड़ा जिसकी बिस्मार्क को आशा थी। इस 'संक्षिप्त इबारत' को पढ़ने से फ्रांसीसियों ने सोचा कि हमारे राजदूत का अपमान हुआ है तथा प्रशा के लोगों ने सोचा कि हमारे सम्राट का अपमान हुआ है। पेरिस में प्रशा के विरुद्ध युद्ध की मांग ने जोर पकड़ लिया।

इन परिस्थितियों में 15 जुलाई 1870 को फ्रांस ने प्रशा के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। फ्रांस अभी युद्ध के लिये पूर्ण तैयार नहीं था, जबकि प्रशा की सेना युद्ध के लिए पूर्ण रूप से तैयार थी। अतः फ्रांस के नगरों का पतन होता गया। फ्रांसीसी सेना, जिसका नेतृत्व स्वयं नेपोलियन कर रहा था, सीडान में जर्मन सेनाओं द्वारा घेर ली गयी। 2 सितम्बर 1870 को नेपोलियन ने अपने 83,000 सैनिकों के

साथ जर्मन सेनापतियों के समक्ष आत्मसमर्पण कर दिया। नेपोलियन को नजरवन्द करके विलहेम्शोह (Wilhelmshohe) के किले में भेज दिया गया।

सम्राट के समर्पण की सूचना मिलते ही 4 दिसम्बर 1870 को पेरिस की भीड़ ने व्यवस्थापिका सभा को घेर लिया तथा जनता ने जूल्स फेवर के नेतृत्व में पुनः गणतन्त्र की घोषणा कर दी। पेरिस के एक सैनिक गवर्नर जनरल त्रोसू (Trochu) की अध्यक्षता में एक अस्थायी सरकार बनायी गई, जिसने कुछ दिन तक तो युद्ध जारी रखा। अन्त में जब 28 जनवरी 1871 को पेरिस का भी पतन हो गया तो पेरिसवासियों को विवश होकर आत्मसमर्पण करना पड़ा। 10 मई 1871 को जर्मनी व फ्रांस के बीच फ्रेंकफर्ट की संधि हुई जिसके द्वारा फ्रांस के एल्सास और लारेन पर जर्मनी का अधिकार हो गया। फ्रेंकफर्ट की संधि द्वारा जर्मनी और फ्रांस का युद्ध समाप्त हो गया। इस बीच नेपोलियन कैद रहा, किन्तु अवसर मिलते ही वह कैद से भाग निकला तथा इङ्गलैंड पहुँच गया, जहाँ 1873 में उसकी मृत्यु हो गयी। इस प्रकार नेपोलियन तृतीय और फ्रांस के द्वितीय साम्राज्य का अन्त हो गया।

नेपोलियन तृतीय का मूल्यांकन—नेपोलियन का जीवन परस्पर विरोधी बातों का मिश्रण था। इसलिये फ्रांस और यूरोप के लिए वह एक पहेली बना रहा। कुछ इतिहासकारों की दृष्टि में वह मूर्ख था तो कुछ उसे महान राजनीतिज्ञ मानते हैं। उसने विभिन्न राजनैतिक दलों के पारस्परिक संघर्ष का लाभ उठाकर नेपोलियन महान की गाथाओं का प्रचार किया तथा फ्रांसीसी जनता को यह विश्वास दिलाया कि वह नेपोलियन महान् के पद चिन्हों पर चलकर फ्रांस को पुनः वही गौरव दिलायेगा जो नेपोलियन महान् के समय प्राप्त हुआ था। इसका जनता पर प्रभाव पड़ा और वह लुई नेपोलियन से नेपोलियन तृतीय बन गया। उसके उत्थान से ऐसा भ्रम होता है कि उसमे विलक्षण योग्यता थी। किन्तु उसकी नीतियों से यह सिद्ध हो गया कि वह सर्वथा अयोग्य, अदूरदर्शी और अकर्मण्य था। यद्यपि उसने निरंकुश शासन स्थापित करने में सफलता प्राप्त की, किन्तु वह निरंकुशता एवं उदारवाद के बीच सामन्जस्य स्थापित नहीं कर सका। उसने सभी वर्गों को सन्तुष्ट करने का प्रयास किया किन्तु अन्त में सभी राजनैतिक दल उसके विरोधी बन गये। विरोधियों के दबाव के कारण यद्यपि उसने अपने शासन विधान में परिवर्तन किये, फिर भी उसका विरोध कम नहीं हुआ। उसकी आन्तरिक नीति सर्वथा अस्थिर रही। उसने अपने विचारों से जन भावना को उत्तेजित किया, किन्तु आगे चलकर उसके विचारों ने उसकी अयोग्यता सिद्ध कर दी। उसने शान्ति और युद्ध दोनों नीतियों पर एक साथ चलने की चेष्टा की, जो उसकी मूर्खता ही कही जा सकती है। अपनी विदेश नीति के कारण उसने अपने मित्रों को भी शत्रु बना लिया। आरम्भ में उसकी विदेश नीति कुछ सफल रही तथा फ्रांस यूरोपीय राजनीति का केन्द्र बन गया, किन्तु 1859

के बाद वह अपनी विदेशी नीति में निरन्तर असफल होता गया। उसने इंगलैण्ड की मित्रता खो दी, रूस तथा आस्ट्रिया को अपना शत्रु बना लिया, मेक्सिको अभियान उसका मूर्खतापूर्ण प्रयास रहा तथा इन सभी कार्यवाहियों से उसकी आर्थिक स्थिति बिगड़ गई। आस्ट्रिया व प्रशा के युद्ध में उसने तटस्थ रहकर भयंकर भूल की जिसका परिणाम उसे सीडान के युद्ध में भुगतान पड़ा। षड़यंत्रकारी होने के कारण लोगों ने उसे 'जुआरी' की संज्ञा दी। फिशर ने उसे अस्थिर और विरोधी नीति पर चलने वाला कहा है, जिसमें अपने उद्देश्यों को प्रयोगात्मक रूप देने की क्षमता नहीं थी।

किन्तु उसका मूल्यांकन करते समय हम इस बात से भी इन्कार नहीं कर सकते कि उसने अपने शासन काल के प्रारम्भ में महत्वपूर्ण सामाजिक और आर्थिक सुधार किये थे। इन सुधारों के फलस्वरूप देश की समृद्धि हुई। उसने लोक कल्याण-कारी कार्य भी किये। गरीबों के लिये मकानों की व्यवस्था, चिकित्सा सुविधा, कानूनी एवं व्यावसायिक सुविधाएं आदि उसके जनहित के महत्वपूर्ण कार्य थे। कृषि और उद्योगों को प्रोत्साहन देकर उसने फ्रांस को यूरोप का एक प्रमुख उद्योग प्रधान देश बना दिया। उसी के प्रोहत्साहन से पेरिस की सड़कों को चौड़ा किया गया तथा इमारतों को अलंकृत किया गया। फलस्वरूप पेरिस यूरोप का सबसे सुन्दर नगर बन गया। प्रोफेसर पाल पार्मर ने लिखा है, "नेपोलियन तृतीय के पतन के पश्चात् फ्रांस में उसके शासन काल की समस्त व्यवस्था को बदल दिया गया। किन्तु नेपोलियन तृतीय के काल में स्थापित वयस्क मताधिकार के सिद्धान्त को तृतीय गणतन्त्र के संविधान में भी स्वीकार करना पड़ा। इसका श्रेय नेपोलियन तृतीय को है।" उसकी विदेश नीति के सम्बन्ध में भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उसकी नीति स्वार्थपूर्ण नहीं थी जैसी कि उस समय के तीन अन्य यूरोपीय राज्यों—जर्मनी, आस्ट्रिया व रूस की थी। अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को सुलझाने के लिये उसने यूरोपीय राज्यों के सम्मेलन का समर्थन किया। उसके काल में फ्रांस के औपनिवेशिक साम्राज्य का भी विस्तार हुआ, जिससे आगे चलकर फ्रांस की औद्योगिक एवं व्यापारिक उन्नति हुई।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि उसमें विलक्षण योग्यताओं के साथ-साथ कुछ व्यक्तिगत दुर्बलताएं भी थीं। वह भाग्यवादी होने के साथ-साथ साहसी और दृढ़ निश्चयी भी था। वह निरंकुशवादी के साथ-साथ उदारवादी भी था। किन्तु इन परस्पर विरोधी तत्वों का उचित रूप से सामन्जस्य स्थापित करने की उसमें योग्यता नहीं थी।

अध्याय 6

इटली का एकीकरण

(1815-1870)

(UNIFICATION OF ITALY)

नेपोलियन बोनापार्ट की विजयों के परिणामस्वरूप इटली का एक संगठित स्वरूप स्थापित हुआ था। किन्तु वियना कांग्रेस ने राष्ट्रीयता के सिद्धान्त की अवहेलना करते हुए इटली को पुनः छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित कर दिया। मेटरनिख के शब्दों में वह एक भौगोलिक अभिव्यक्ति मात्र रह गया था। इटली के ये छोटे-छोटे राज्य आपस में लड़ते रहते थे। 1815 से 1850 तक का इटली का इतिहास पारस्परिक फूट, विदेशी प्रभुत्व तथा विदेशी प्रभुत्व के विरुद्ध असफल संघर्ष का ही इतिहास है। फिर भी इन असफल संघर्षों ने इटली के एकीकरण का मार्ग प्रशस्त कर दिया था। तत्पश्चात् जर्मनी के बिस्मार्क की भांति ही इटली में भी मेजिनी एवं कैवूर जैसे देशभक्त पैदा हुए, जिन्होंने इटली के एकीकरण की प्रक्रिया में तीव्रता उत्पन्न कर दी। इसी एकीकरण की गतिशील प्रक्रिया में कैवूर का महान् योगदान रहा, जिसने इटलीवासियों के स्वप्न को साकार किया तथा 1870 में इटली का एकीकरण पूर्ण हुआ।

1815 में इटली की स्थिति—नेपोलियन के आक्रमणों से इटली में एक नवीन युग का सूत्रपात हुआ था। वहाँ संगठित एवं एकरूप शासन स्थापित होने के फलस्वरूप इटली के लोगों में राष्ट्रीय एकता एवं स्वतन्त्रता की भावना जागृत हो उठी थी। किन्तु 1815 की वियना व्यवस्था से इटली पुनः छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित हो गया। इटली के उत्तर पश्चिम में सार्डीनिया पीडमान्ट का राज्य था जहाँ सेवाय वंश का शासन था। उसके उत्तर पूर्व में लोम्बार्डी और वेनेशिया के प्रदेश थे जिन पर आस्ट्रिया का आधिपत्य था। परमा, मोडेना और टस्कनी के यद्यपि स्वतन्त्र राज्य थे किन्तु उन पर भी आस्ट्रिया का प्रभाव था। मध्य में पोप का अपना स्वतन्त्र राज्य था। दक्षिण में नेपिल्स और सिसली थे जहाँ बुर्बो वंश के फर्नेनिण्ड प्रथम का शासन था। यह नयी व्यवस्था पूर्णतः निरंकुश, प्रतिक्रियावादी एवं भ्रष्ट थी। इटली की इस दयनीय स्थिति का चित्रण मैजिनी ने करते हुए कहा था कि हमारा कोई एक झण्डा नहीं है, हमारा कोई एक राजनैतिक काम नहीं है और न यूरोपीय राष्ट्रों में हमारा कोई स्थान है। मैजिनी ने यह भी कहा कि हम

आठ राज्यों में विभाजित हैं जो सभी एक दूसरे से स्वतन्त्र हैं। इन आठ राज्यों की भिन्न-भिन्न मुद्राएं हमको एक दूसरे से अलग करके हमें अजनबी बना देती है। मेटरनिख ने भी कहा था कि यहाँ का एक प्रान्त दूसरे प्रान्त के विरुद्ध है, एक नगर दूसरे नगर के विरुद्ध है, एक वंश दूसरे वंश के विरुद्ध है तथा एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के विरुद्ध है।

इटली के लोग भी क्रान्तिजनित विचारधारा से प्रभावित थे। नेपोलियन महान् के समय से उनमें राष्ट्रीय एकता की भावना जागृत हो चुकी थी। अतः वे निरंकुश, स्वेच्छाचारी, प्रतिक्रियावादी और अत्याचारपूर्ण शासन को सहन करने को तैयार नहीं थे। अतः इटली के देशभक्त अपने देश को स्वतन्त्र एवं संगठित करने के प्रयत्न करने लगे। इटली के लेखकों एवं साहित्यकारों ने भी राष्ट्रीयता की भावनाओं को उत्तेजित करने में योगदान दिया।

एकीकरण के मार्ग में बाधाएं—19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में इटली के एकीकरण में अनेक बाधाएं थी। इटली के उत्तरी भाग में आस्ट्रिया का प्रबल प्रभुत्व था। परमा, मोडेना तथा टस्कनी में आस्ट्रिया के हेप्सबर्ग वंश के सम्बन्धी तथा मित्र शासन करते थे। नेपिल्स और सिसली में बुर्बो वंश का शासन था। ये सभी छोटे-छोटे राज्य भी आस्ट्रिया के प्रभाव के अन्तर्गत थे। आस्ट्रिया का चान्सलर मेटरनिख राष्ट्रीयता और उदारवाद का कट्टर शत्रु था। प्रतिक्रियावादी विदेशी प्रभुत्व इटली के एकीकरण के मार्ग में कठिनाई थी। मध्य इटली में पोप का राज्य भी शक्तिशाली था। पोप का राज्य मध्य में होने से वह उत्तरी और दक्षिणी इटली को दो अलग-अलग टुकड़ों में विभाजित करता था, जिससे इटली के एकीकरण में एक बड़ी बाधा थी। पोप का राज्य एक धार्मिक बाधा के रूप में भी था। पोप के राज्य को यदि इटली में मिलाने का प्रयत्न किया जाता तो यूरोप की समस्त रोमन कैथोलिक जनता के नाराज होने का भय था। अतः पोप के राज्य को यूरोप के प्रमुख राज्यों का समर्थन प्राप्त था। इसके अतिरिक्त इटली के अलग-अलग राज्यों की अलग-अलग परम्पराएं थी। उनका पारस्परिक द्वेष अत्यधिक तीव्र था तथा उसमें राष्ट्रीय चेतना का अभाव था। सम्पूर्ण इटली में प्रान्तीयवाद के कारण फूट फैली हुई थी। इटली के विभिन्न राजवंशों में एकता के लिये त्याग करने की भावना नहीं थी। वे अपने निरंकुश शासन को बनाये रखने के स्वार्थ के समक्ष राष्ट्रीय एकता को तुच्छ समझते थे। इन बाधाओं के कारण इटली के एकीकरण का भविष्य धूमिल दिखाई दे रहा था।

एकीकरण के प्रयास—उपर्युक्त बाधाओं के बावजूद इटली के कुछ देशभक्तों ने मिलकर स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिये संघर्ष आरम्भ कर दिया। इसके लिये इटली में अनेक गुप्त संस्थाओं की स्थापना हुई, जिनमें **कार्बोनरी संस्था** प्रमुख थी। कार्बोनरी संस्था का प्रमुख केन्द्र नेपिल्स में था तथा इसकी शाखाएं समस्त इटली में फैली हुई थी। इस संस्था के दो प्रमुख राजनैतिक उद्देश्य थे—विदेशियों को इटली

से बाहर निकालना तथा वैधानिक स्वतन्त्रता की स्थापना करना। कार्बोनरी संस्था में सभी वर्ग के लोग थे तथा इसी के नेतृत्व में 1831 तक इटली का स्वाधीनता संग्राम चलता रहा।

सन् 1820–21 का विद्रोह—स्पेन की क्रान्ति से प्रेरित होकर 1820 में कार्बोनरी संस्था के नेताओं ने नेपिल्स में विद्रोह कर दिया और इस प्रकार इटली में गुप्त संस्थाओं द्वारा आयोजित क्रान्तिकारी आन्दोलनों का सूत्रपात हुआ। 1821 में पीडमान्ट के देशभक्तों ने विद्रोह कर दिया। नेपिल्स और पीडमान्ट के विद्रोहियों ने अपने शासकों को खदेड़ दिया। किन्तु आस्ट्रिया का चान्सलर मेटरनिख इस उदारवाद की लहर को कब सहन करने वाला था? उसने तुरन्त हस्तक्षेप कर विद्रोह का दमन कर दिया तथा दोनों राज्यों के राज सिंहासनों पर पुनः निरंकुश शासकों को बैठा दिया। यद्यपि विद्रोह को कुचल दिया गया किन्तु जन असंतोष कम नहीं हुआ तथा विद्रोहाग्नि पूरी तरह से बुझी नहीं।

सन् 1830 का विद्रोह—यद्यपि नेपिल्स एवं पीडमान्ट में पुनः निरंकुश एवं प्रतिक्रियावादी शासन आरम्भ हो गया किन्तु क्रान्तिकारी गुप्त रूप से अपनी तैयारियां कर रहे थे। 1830 में फ्रांस में क्रान्ति हो गयी तथा इस क्रान्ति की अग्नि तीव्र गति से यूरोप में फैल गई। इस क्रान्ति के प्रभाव से पोप के राज्य, परमा और मोडेना में विद्रोह हो गया। इटली के क्रान्तिकारियों को फ्रांस से सहायता मिलने की आशा थी, किन्तु फ्रांस की ओर से उन्हें कोई सहायता प्राप्त नहीं हुई। इस बार फिर आस्ट्रिया की फौजों ने हस्तक्षेप करके विद्रोहियों को कुचल दिया तथा सभी राज्यों में पुराने शासक फिर से सिंहासनारूढ़ कर दिये गये। क्रान्ति की लहर एक बार फिर रोक दी गई। राष्ट्रीयता एवं उदारवाद की पुनः पराजय हुई, क्योंकि आस्ट्रिया की संगठित शक्ति के समक्ष विद्रोहियों की असंगठित शक्ति नहीं टिक सकी।

यद्यपि 1820 और 1830 में इटली की एकता स्थापित करने के सभी प्रयत्न असफल सिद्ध हो चुके थे तथापि इटली के देशभक्त नेताओं को यह ज्ञात हो गया कि जब तक आस्ट्रिया के आधिपत्य का अन्त नहीं हो जाता, तब तक इटली अपनी स्वतन्त्रता और एकता स्थापित नहीं कर सकता। अतः अपने उद्देश्यों में सफलता प्राप्त करने के लिये उन्होंने यह आवश्यक समझा कि विदेशी सत्ता का शीघ्रातिशीघ्र अन्त किया जाय। उन्होंने यह भी अनुभव किया कि स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिये केवल कार्बोनरी संस्था ही पर्याप्त नहीं है।

मेजिन (1820–72) का उदय—इस अनुभव के बाद इटली के देशभक्त अधिक सचेत होकर और अधिक सूझ-बूझ से तैयारियाँ करने लगे। इसी समय इटली के राजनैतिक रंगमंच पर ज्यूसप मेजिन (Gidseppe Maizini) का प्रादुर्भाव हुआ जिसने राष्ट्रीय आन्दोलन में एक नयी जान फूंक दी। मेजिनी, जिनोआ

के एक चिकित्सा शास्त्री का पुत्र था। बचपन से ही उसमें देश भक्ति की भावना कूट-कूट कर भरी हुई थी तथा उसके मन में इटली को स्वतन्त्र कराने की प्रबल भावना थी। 1830 की क्रान्ति के पहले वह कार्बोनरी संस्था का सदस्य था तथा 1830 के विद्रोह में भाग लिया था। विद्रोह के दमन के बाद उसे कैद कर लिया गया तथा लगभग एक वर्ष तक वह जेल में रहा। कारावास से मुक्त होने पर उसे देश से निर्वासित कर दिया गया। 1831 में वह फ्रांस के मार्सेल्स नगर में पहुंचा और वहीं पर 1831 में उसने 'युवक इटली' (Young Italy) नामक संस्था की स्थापना की। इस संस्था ने शीघ्र ही कार्बोनरी संस्था का स्थान ग्रहण कर लिया। इस संस्था की सदस्यता के लिये 40 वर्ष से कम उम्र का कोई नवयुवक प्रवेश के लिये योग्य था। इसका ध्येय युवकों को शिक्षित और अनुशासित बना कर देश सेवा के लिये तैयार करना था। मेजिनी का विश्वास था कि इटली के युवकों में, देश-गौरव और प्रेम की भावना भर कर उन्हें स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिये संगठित किया जाना चाहिये। उसने कहा था कि, "यदि समाज में क्रान्ति लाना हो तो क्रान्ति का नेतृत्व युवकों के हाथ में दे दो। नवयुवकों में एक गुप्त शक्ति है तथा जनता पर उनकी आवाज का असर जादू के समान होता है।" मेजिनी ने 'युवक इटली' के माध्यम से इटली की जनता को तीन नारे दिये—परमात्मा में विश्वास रखो, सभी भाइयों को एक साथ मिलाएं तथा इटली को मुक्त करें।

मेजिनी के उद्देश्य स्पष्ट थे तथा इटली के एकीकरण का चित्र जितना स्पष्ट और निश्चित उसके दिमाग में था सम्भवत: किसी और के दिमाग में नहीं था। उसने अपने देशवासियों को इटली के एकीकरण का चित्र समझाने के लिये इतनी लगन से काम किया मानों वह किसी धर्म का प्रचार कर रहा हो। युवक इटली ने अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये शिक्षा, साहित्यिक प्रचार तथा यदि आवश्यक हो तो सशस्त्र क्रान्ति का सहारा लिया। मेजिनी की लेखनी ने इटली की जनता में नवजीवन का संचार कर दिया। मेजिनी के पास शीघ्र ही देशभक्त नवयुवक एकत्रित हो गये। इस प्रकार इटली के एकीकरण को जन आन्दोलन में परिवर्तन करने का श्रेय युवक इटली को ही है। उसने राष्ट्र गौरव की भावना, बलिदान करने का साहस, राष्ट्रीय एकता की चेतना तथा दृढ़ विश्वास उत्पन्न किया। मेजिनी के प्रयत्नों के फलस्वरूप युवक इटली की, जगह-जगह शाखाएं खुलने लगी। 1833 के आरम्भ में युवक इटली के सदस्यों की संख्या 60 हजार हो गयी। युवक इटली के माध्यम से राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिये इटली में एक शक्तिशाली जनमत का निर्माण हो गया।

उदार राजतन्त्रवादी और संघवादी—युवक इटली के अतिरिक्त कुछ अन्य देशभक्त भी इटली की स्वतन्त्रता के लिये कार्य कर रहे थे। कुछ देशभक्त उदारवादी राजतन्त्र के माध्यम से इटली को स्वतन्त्र करना चाहते थे। वे पीडमान्ट सार्डीनिया के शासक चार्ल्स एल्बर्ट के नेतृत्व में इटली को विदेशी सत्ता से मुक्त करना

चाहते थे। यद्यपि पहले पीडमान्ट सार्डीनिया का राज्य भी प्रतिक्रियावादी था। किन्तु शनैः शनैः चार्ल्स एल्बर्ट के समय उनकी नीति में परिवर्तन आ गया तथा उसने अपने राज्य में अनेक सुधार किये। इटली के राष्ट्रवादियों का यह विश्वास था कि इटली के स्वाधीनता संघर्ष का नेतृत्व पीडमान्ट का शासक ही करेगा। वे आर्थिक कार्यक्रम और सार्वजनिक शिक्षा में सुधार लाकर इटली के एकीकरण को प्राप्त करना चाहते थे। कुछ देशभक्त पोप की सत्ता में विश्वास करते थे। क्योंकि जब 1846 में पायस नवम् पोप बना तो उसने अपनी उदार और दयालु प्रवृत्ति को प्रदर्शित किया तथा उसने अनेक शासनिक सुधार भी किये, जिससे उसकी लोकप्रियता बढ़ गई। जो लोग पोप के नेतृत्व में विश्वास रखते थे, वे पोप की अध्यक्षता में इटली के विभिन्न राज्यों का एक संघ बनाना चाहते थे। इस प्रकार मध्यममार्गी विचारधारा पर आधारित, इटली के एकीकरण की एक नई योजना भी जनमत के समक्ष प्रस्तुत की गई।

इटली के कुछ देशभक्त, जो देश से निर्वासित कर दिये गये थे, विदेशों में इटली के एकीकरण के पक्ष में प्रचार कर रहे थे। उनके प्रयत्नों से विदेशों में जनमत इटली के पक्ष में तैयार हो रहा था। इंगलैण्ड ऐसे निर्वासित देशभक्तों का अड्डा था।

सन् 1848 का विद्रोह और युद्ध—1848 में फ्रांस में पुनः क्रान्ति हो गयी, जिससे प्रेरित होकर यूरोप के विभिन्न राज्यों में भी क्रान्ति का शंखनाद गूंज उठा। जनवरी 1848 में, नेपिल्स और सिसली में सुधारवादियों ने विद्रोह कर दिया तथा संविधान की मांग की गई। इस क्रान्ति से विवश होकर नेपिल्स के राजा फर्डीनेण्ड द्वितीय को उदारवादी संविधान स्वीकार करना पड़ा। तत्पश्चात् पीडमान्ट, टस्कनी और पोप के राज्य में भी संवैधानिक शासन की मांग ने जोर पकड़ लिया तथा मार्च 1848 में तीनों राज्यों में भी संविधान प्रदान कर दिया गया। अब आस्ट्रिया के अधीन लोम्बार्डी और वेनेशिया को छोड़कर लगभग सारे इटली में संवैधानिक राजतन्त्र स्थापित हो गये।

मार्च 1848 में वियना में क्रान्ति हो गई, जिसके फलस्वरूप मेटरनिख को वियना छोड़कर इंगलैण्ड भाग जाना पड़ा। मेटरनिख के पलायन की सूचना मिलते ही एक-एक करके इटली के सारे राज्यों में आस्ट्रिया विरोधी आन्दोलन उठ खड़े हुए। मिलान में विद्रोह के फलस्वरूप वहां के वायसराय को भागना पड़ा। वेनिस में भी आस्ट्रिया के शासन का अन्त हो कर गणतन्त्र की स्थापना हुई। इसी समय इटली की समस्त जनता एक स्वर में, पीडमान्ट-सार्डीनिया के शासक के नेतृत्व में आस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध की मांग करने लगी। 23 मार्च को सार्डीनिया के शासक चार्ल्स एल्बर्ट ने इटलीवासियों की ओर से आस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। परमा, मोडेना, टस्कनी, नेपिल्स और पोप के राज्य के शासकों ने भी सार्डीनिया

की ओर से युद्ध में भाग लिया। आस्ट्रिया की सेना जगह-जगह परास्त होने लगी और ऐसा प्रतीत होने लगा मानो इटली से आस्ट्रिया का प्रभाव अब सदा के लिये समाप्त हो जायेगा। इस युद्ध के सम्बन्ध में केटलवी ने लिखा है, "इटली के स्वाधीनता संग्राम का एक नया दौर आरम्भ हुआ। अब तक इटली का संघर्ष विद्रोहों तथा आन्दोलनों तक ही सीमित था, किन्तु अब उसने राष्ट्रीय युद्ध का रूप धारण कर लिया।" पीडमान्ट के शासक ने घोषणा की कि, "सभी का केवल एक ही कर्त्तव्य है कि आस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध छेड़ दे।" इस घोषणा के साथ ही सारा इटली उसके झण्डे के नीचे आ गया। किन्तु इटली की यह एकता क्षणिक सिद्ध हुई। पोप सर्वप्रथम पीछे हट गया। नेपिल्स के शासक फर्डीनेण्ड द्वितीय ने भी पीठ फेर ली तथा टस्कनी भी सहायता देने से मुकर गया। ऐसी परिस्थिति में चार्ल्स एल्बर्ट अकेला रह गया, अतः वह आस्ट्रिया के विरुद्ध सफल नहीं हो सका। जुलाई 1848 में उसे आस्ट्रिया से समझौता करना पड़ा। लोम्बार्डी और वेनेशिया पर पुनः आस्ट्रिया का अधिकार हो गया। आस्ट्रिया ने इटली पर पुनः अपनी प्रधानता स्थापित करली तथा पीडमान्ट को छोड़कर सभी स्थानों पर पुनः निरंकुश शासन स्थापित हो गया।

चार्ल्स एल्बर्ट की इस असफलता से राजतन्त्रवादियों की योजनाएं विफल हो गयी। अतः अब उग्र गणतन्त्रवादियों ने राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व अपने हाथ में ले लिया। मेजिनी ने घोषणा की कि, "राजाओं का युद्ध समाप्त हो गया है, अब जनता का संघर्ष आरम्भ होना चाहिये।" इस प्रकार मेजिनी के नेतृत्व में पोप की राजधानी रोम में विद्रोह हो गया। पोप भाग खड़ा हुआ तथा फरवरी 1849 में रोम में गणतन्त्र की स्थापना की गई। फ्लोरेन्स तथा टस्कनी में भी गणतन्त्र स्थापित हो गये। गणतन्त्रवादी प्रवृत्तियों के प्रबल होने से राजतन्त्रवादियों ने चार्ल्स एल्बर्ट पर पुनः युद्ध आरम्भ करने हेतु दबाव डाला। अतः उसने आस्ट्रिया के साथ हुए समझौते को खत्म कर आस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। किन्तु 23 मार्च 1849 को नोवारा नामक स्थान पर वह बुरी तरह परास्त हुआ। अतः उसने अपने पुत्र विक्टर इमेनुअल द्वितीय (Victor Emmanuel II) के पक्ष में सिंहासन त्याग दिया। विक्टर इमेनुअल को विवश होकर आस्ट्रिया से सन्धि करनी पड़ी।

नोवारा की पराजय के बाद इटली में सर्वत्र प्रतिक्रिया आरम्भ हुई। नेपिल्स और सिसली में फर्डीनेण्ड ने पुनः अपनी शक्ति प्राप्त करली। टस्कनी में लियोपोल्ड वापस आ गया तथा वेनिस पर पुनः आस्ट्रिया का अधिकार हो गया। रोम में लुई नेपोलियन ने सेना भेजकर पोप को पुनः गद्दी पर बैठा दिया। मेजिनी स्विट्जरलैण्ड भाग गया तथा एक अन्य देशभक्त गेरीबाल्डी भाग कर पीडमान्ट चला गया। आस्ट्रिया ने परमा, मोडेना, टस्कनी आदि के शासकों को पुनः उनके सिंहासनों पर बैठा दिया तथा उन्होंने जो संविधान स्वीकार किये थे वे रद्द कर दिये गये। पीडमान्ट व रोम को छोड़कर सम्पूर्ण इटली पर आस्ट्रिया का प्रभाव पुनः स्थापित हो गया।

इटली के स्वाधीनता संग्राम का प्रथम चरण समाप्त हुआ जिसमें देशभक्तों को केवल असफलता ही हाथ लगी, किन्तु इस असफलता के बावजूद उसके कुछ अच्छे परिणाम भी निकले। इस संघर्ष के बाद क्रान्तिकारियों को स्वाधीनता संग्राम का नेतृत्व करने के लिए पीडमान्ट का राज्य मिल गया। चार्ल्स एल्बर्ट ने आस्ट्रिया का विरोध करके तथा जनता को उदार संविधान प्रदान करके अपनी जनता का हृदय जीत लिया था। विक्टर इमेनुअल द्वितीय ने भी तिरंगे झण्डे को ऊँचा उठाये रखने का आश्वासन दिया, जिससे देशभक्तों को उसके नेतृत्व में पूर्ण विश्वास उत्पन्न हो गया। इस प्रकार पीडमान्ट-सार्डीनिया का राज्य इटली के एकीकरण से सम्बन्धित सभी गतिविधियों का केन्द्र बन गया।

विक्टर इमेनुअल द्वितीय (1849–70)—मार्च 1849 में जब विक्टर इमेनुअल पीडमान्ट-सार्डीनिया का शासक बना, उस समय सार्डीनिया की सेना आस्ट्रिया से परास्त हो चुकी थी, अतः विक्टर इमेनुअल को आस्ट्रिया से सन्धि करनी पड़ी। किन्तु सार्डीनिया की संसद ने इस सन्धि के कारण विक्टर इमेनुअल का विरोध करना आरम्भ कर दिया। इधर आस्ट्रिया ने उस पर 1848 के संविधान को रद्द करने के लिये दबाव डाला, किन्तु विक्टर इमेनुअल ने संविधान को बनाये रखा। अगस्त 1849 में सार्डीनिया व आस्ट्रिया के बीच सन्धि पर हस्ताक्षर हुए, किन्तु सार्डीनिया की संसद ने उसे अस्वीकार कर दिया। अतः विक्टर इमेनुअल ने संसद को भंग कर दिया। विक्टर इमेनुअल को यह विश्वास था कि मध्यममार्गी उदार नीति को अपनाकर सार्डीनिया के नेतृत्व में इटली का एकीकरण किया जा सकता है। उसने इस हेतु प्रयत्न भी आरम्भ कर दिये। वह अपने गुणों के कारण जनता में लोकप्रिय हो गया। पीडमान्ट की जनता उसे 'ईमानदार राजा' कहने लगी। सभी देशभक्तों को यह विश्वास हो गया कि पीडमान्ट के द्वारा ही इटली का उद्धार होगा। अतः इटली के सभी निर्वासित देशभक्त पीडमान्ट की राजधानी की ओर आकर्षित होने लगे। इधर विक्टर इमेनुअल को भाग्यवश 1852 में काउन्ट कैवूर (Cavour) जैसा योग्य मुख्य मन्त्री मिल गया, जिसकी गणना 19वीं शताब्दी के महान् कूटनीतिज्ञों में की जाती है।

काउन्ट कैवूर (1810–1861)—काउन्ट कैवूर का जन्म 1810 में ट्यूरिन (सार्डीनिया) के एक कुलीन परिवार में हुआ था। सैनिक शिक्षा प्राप्त कर वह सेना में इन्जीनियर के रूप में भर्ती हुआ। किन्तु अपने उदार विचारों के कारण 1831 में उसे सैनिक सेवा से त्याग पत्र देना पड़ा। इसके बाद वह 15 वर्ष तक अपनी जमींदारी संभालता रहा। इसी काल में उसने फ्रांस, जर्मनी, इंगलैण्ड आदि की यात्राएं कर राजनीति का ज्ञान प्राप्त कर लिया। इंगलैण्ड में रहकर उसने वहाँ की संसदीय प्रणाली का अध्ययन किया जो उसे बहुत पसन्द आयी और अपने देश में भी इसी प्रकार की व्यवस्था स्थापित करने का प्रयत्न किया।

1846 में कैवूर ने कृषि की उन्नति के लिए एक समिति बनायी। आगे चलकर इस समिति का कार्यालय राजनैतिक वाद-विवादों का केन्द्र बन गया। 1847 में उसने 'इल रिसार्जिमेन्टो (IL Risergimento) नामक उदारवादी समाचार पत्र निकाला तथा इसके माध्यम से अपने देश के एकीकरण और सुधारों के लिए प्रचार करना आरम्भ कर दिया। 1848 में वह पीडमान्ट सार्डीनिया की प्रथम संसद का सदस्य चुना गया। देश में बार-बार चुनाव हुए, किन्तु कैवूर हर बार निर्वाचित होता रहा। उसकी योग्यता के कारण 1850 में उसे वित्त एवं उद्योग मन्त्री नियुक्त किया गया। 1852 में डी एजेग्लिओ (D' Azeglio) के मन्त्रिमण्डल द्वारा त्याग-पत्र देने पर विक्टर इमेनुअल ने उसे प्रधानमन्त्री बनाया। कैवूर का यह निश्चित मत था कि इटली की स्वाधीनता और एकता के कार्यों के लिए पीडमान्ट का सेवाय राजवंश ही देश का नेतृत्व कर सकता है। वह पीडमान्ट को एक आदर्श राज्य का रूप देना चाहता था जिससे कि इटली के अन्य राज्य उसे अपना नेता मान ले।

कैवूर के राजनैतिक विचार एवं उद्देश्य—कैवूर भी मेजिनी के समान सच्चा देशभक्त था तथा उसका लक्ष्य भी वही था जो मेजिनी का था। किन्तु इटली का एकीकरण किस प्रकार किया जाय तथा उस एकीकृत इटली का स्वरूप क्या हो, इस सम्बन्ध में उसके विचार मेजिनी के गणतन्त्र से भिन्न थे। मेजिनी कल्पनाशील था जबकि कैवूर व्यावहारिक था। कैवूर राजतन्त्र का प्रबल समर्थक था और उसे मेजिनी के गणतन्त्रीय विचारों एवं क्रान्तिकारी साधनों के प्रति कोई सहानुभूति नहीं थी। कैवूर अपने उद्देश्य की प्राप्ति हेतु तलवारबाजी के पैंतरों के स्थान पर राजनैतिक दांवपेच और कूटनीति में अधिक विश्वास करता था। अभी तक इटली को आस्ट्रिया का घरेलू मामला समझा जाता था, किन्तु कैवूर इटली की समस्या को एक अन्तर्राष्ट्रीय समस्या बना देना चाहता था। वह आस्ट्रिया को इटली से बाहर धकेलने के लिए यूरोप की किसी महाशक्ति से सहानुभूति प्राप्त करना चाहता था। इस सम्बन्ध में भी उसका दृढ़ विश्वास था कि आस्ट्रिया के विरुद्ध यदि कोई देश इटली को सहायता दे सकता है तो वह केवल फ्रांस ही है। उसने कहा भी था कि, "हम चाहें या न चाहें, किन्तु हमारा भाग्य फ्रांस पर निर्भर है।" वह इस तथ्य से भी भलीभांति परिचित था कि यदि पीडमान्ट सार्डीनिया को इटली के स्वाधीनता संग्राम में नेतृत्व करना है तो उसे आर्थिक एवं सैनिक दृष्टि से सुदृढ़ बनना होगा तथा जनता का विश्वास प्राप्त करने हेतु पीडमान्ट का शासन उदार होना चाहिये। इटली का एक अन्य देशभक्त गेरीबाल्डी भी था जो मूलतः कुशल सैनिक था। केटलबी ने लिखा है कि, "वह कैवूर के महान् मस्तिष्क का कार्य था जिसने मेजिनी की प्रेरणा को कूटनीतिज्ञ शक्ति के रूप में गतिमान बनाया तथा गैरीबाल्डी की तलवार का एक राष्ट्रीय शस्त्र के रूप में प्रयोग किया।" कैवूर अपनी कूटनीति से अपनी योजना को एक के बाद एक पूरी करता गया तथा आस्ट्रिया के चारों ओर ऐसा जाल बिछाया कि आस्ट्रिया इस कूटनीतिक जाल में फंसे बिना न रह सका और इटली का एकी-

करण रुक नहीं सका। वस्तुत: कैवूर के बिना मेजिनी का आदर्शवाद तथा गैरीबाल्डी का सैनिकवाद निरर्थक सिद्ध होता। कैवूर ने अपनी कूटनीति में इन दोनों का उचित सामन्जस्य स्थापित किया।

कैवूर की आन्तरिक नीति–कैवूर ने इंगलैण्ड की संसदीय प्रणाली के आधार पर पीडमान्ट सार्डीनिया को भी पूर्णत: वैधानिक राज्य बनाने का प्रयत्न किया। उसने स्वशासी संस्थाओं को प्रोत्साहन दिया जिससे कि स्वतन्त्र राजनैतिक जीवन का विकास हो सके। कैवूर ने पीडमान्ट-सार्डीनिया की कानून व्यवस्था पर भी ध्यान दिया तथा आठ वर्षों में विधि सम्बन्धी सुधारों को पूर्ण कर दिया। वह जानता था कि इटली के स्वाधीनता संग्राम में पीडमान्ट को इटली के अन्य राज्यों के सहयोग की आवश्यकता होगी। इटली के अन्य राज्यों के शासकों से सहयोग प्राप्त करना कठिन था, अत: उसने इन राज्यों के प्रगतिशील विचारों के लोगों का सहयोग प्राप्त करने का प्रयत्न किया। उसने इटली की उन सभी संस्थाओं से निकट सम्पर्क स्थापित किया जो इटली की स्वाधीनता के लिये उत्सुक थी। कैवूर के प्रयत्नों से पीडमान्ट को मेजिनी जैसे गणतन्त्रवादियों, गैरीबाल्डी जैसे क्रान्तिकारियों, कार्बोनरी जैसी गुप्त संस्थाओं तथा युवक इटली जैसी अनुशासित संस्थाओं का सहयोग प्राप्त हुआ।

कैवूर ने राज्य की आर्थिक उन्नति के उद्देश्य से उद्योग, व्यापार और कृषि के विकास के लिये अथक प्रयत्न किया। उसने मुक्त व्यापार की नीति के आधार पर पड़ोसी राज्यों से व्यापारिक सन्धियां की, जिससे जीवन की आवश्यक वस्तुएं सरलता से उपलब्ध होने लगी। उसने कारखानों को सरकारी सहायता दी तथा रेलों, सड़कों और नहरों का विकास किया। नये बैंक स्थापित किये गये तथा सरकारी समितियां स्थापित की गई। कृषि के लिये ऋण आदि का प्रबन्ध किया गया। बंजर भूमि को खेती योग्य बनाया गया। राज्य की अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ करने के लिये वित्त विभाग में भी सुधार किये गये। कुछ नये कर लगाकर राज्य की आय में वृद्धि की गई। सेना के संगठन में सुधार किये तथा सीमावर्ती क्षेत्रों में किलेबन्दी की गई। शिक्षा की उन्नति के लिये अनेक कदम उठाये गये। उसने गिरजाघरों की भूमि पर कर लगाया। चर्च के प्रभाव और उनके विशेषाधिकारों को कम करने का प्रयत्न किया गया। कैथोलिक, इटली की एकता के विरुद्ध थे, अत: उन्हें राज्य से निकाल दिया गया और चर्च के मठों को समाप्त कर दिया गया।

कैवूर की इस आन्तरिक नीति के परिणामस्वरूप पीडमान्ट एक समृद्ध, सुदृढ़ एवं सशक्त राज्य बन गया। इटली के सभी लोग पीडमान्ट की प्रशंसा करने लगे। यद्यपि उसके आन्तरिक सुधारों के आधार पर ही उसे प्रगतिशील एवं योग्य मन्त्री होने का श्रेय प्राप्त हो जाता, किन्तु इटली के एकीकरण सम्बन्धी कार्यों तथा उसकी विदेश नीति की सफलता के कारण उसके आन्तरिक सुधारों की ओर ध्यान नहीं दिया जाता है।

कैवूर की विदेश नीति—इटली के एकीकरण के लिये, आस्ट्रिया के प्रभुत्व से मुक्त होना तथा पीडमान्ट के शासन की अध्यक्षता में उसे संगठित करना, कैवूर की विदेश नीति का मूल उद्देश्य था। कैवूर, मेजिनी तथा कुछ अन्य लोगों के इस विचार से सहमत नहीं था कि अकेला इटली बिना किसी बाह्य सहायता के, आस्ट्रिया को इटली से बारह धकेल देगा। कैवूर का निश्चित मत था कि, किसी यूरोपीय महाशक्ति की सहायता के बिना आस्ट्रिया के प्रभाव से मुक्त होना सम्भव नहीं है। इसलिये वह कोई शक्तिशाली मित्र की खोज करना चाहता था तथा इसके साथ ही वह इटली के प्रश्न पर यूरोपीय राज्यों की सहानुभूति भी प्राप्त करना चाहता था। यद्यपि इस नीति को कार्यान्वित करना अत्यन्त ही कठिन कार्य था, तथापि कैवूर ने कठिनाइयों का बड़ी दृढ़ता से सामना किया तथा अपने लक्ष्य के लिए डटा रहा। सर्वप्रथम उसका प्रयास यह रहा कि इटली की समस्या को अन्तर्राष्ट्रीय समस्या का रूप दे दिया जाय ताकि यूरोपीय महा-शक्तियों की सहानुभूति प्राप्त की जा सके और तत्पश्चात् उनसे मित्रता की जा सके। इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये कैवूर ने विदेश नीति के क्षेत्र में निम्न कार्य किये।

क्रीमिया का युद्ध और कैवूर—कैवूर इस बात को भली-भांति जानता था कि फ्रांस और इंगलैण्ड ही इटली के एकीकरण में सहायक सिद्ध हो सकते हैं। इसलिये उसने फ्रांस और इंगलैण्ड के प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में इटली के देश भक्तों के लेख प्रकाशित करवाये जिससे दोनों देशों की इटली के प्रति सहानुभूति उत्पन्न हो गयी। दूसरा अवसर उसे उस समय मिला जब आस्ट्रिया ने, इटली में स्थित लोम्बार्डी और वेनेशिया के निर्वासित क्रान्तिकारियों की सम्पत्ति पर अधिकार कर लिया। कैवूर ने इसका विरोध किया तथा उसने सम्पत्ति को वापस दिलाने का प्रयत्न किया। यद्यपि उसे अपने प्रयत्नों में सफलता तो नहीं मिली, किन्तु फ्रांस और इंगलैण्ड ने कैवूर के इस कार्य का समर्थन किया। इंगलैण्ड और फ्रांस की सहानुभूति प्राप्त करने का अवसर क्रीमिया युद्ध ने भी प्रदान किया। इंगलैण्ड और फ्रांस 1854 से रूस के विरुद्ध टर्की के पक्ष में युद्ध में इस संलग्न थे। कैवूर यूरोप के राजनैतिक मंच पर इंगलैण्ड और फ्रांस के मित्र के रूप में आना चाहता था। अतः बिना किसी शर्त के क्रीमिया के युद्ध में इंगलैण्ड और फ्रांस की सहायता के लिये 18 हजार पीडमान्टी सैनिक भेज दिये। उस समय इटली के उदारवादियों ने कैवूर की इस नीति का विरोध किया, क्योंकि अप्रत्यक्ष रूप से उसने निरंकुश टर्की की सहायता की थी। किन्तु विक्टर इमेनुअल ने इस नीति का अनुमोदन किया। वस्तुतः क्रीमिया युद्ध में रूस के विरुद्ध फ्रांस और इंगलैण्ड को सहायता देना कैवूर की महान् कूटनीतिज्ञता एवं दूरदर्शिता थी।

युद्ध की समाप्ति के पश्चात यूरोपीय महाशक्तियों का पेरिस में सम्मेलन हुआ। कैवूर को भी इंगलैण्ड, फ्रांस, आस्ट्रिया तथा रूस के प्रतिनिधियों के साथ सम्मेलन में भाग लेने का अवसर प्राप्त हुआ। यद्यपि पीडमान्ट को आमंत्रित करने का

आस्ट्रिया ने विरोध किया, किन्तु इंगलैंड और फ्रांस ने उसके विरोध के बावजूद सार्डीनिया को सम्मेलन में आमन्त्रित किया। सार्डीनिया की ओर से कैवूर ने सम्मेलन में भाग लिया। उसने सम्मेलन में इटली की दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति का चित्र प्रस्तुत किया तथा इसके लिये आस्ट्रिया को उत्तरदायी ठहराया। ब्रिटिश विदेश मन्त्री ने कैवूर के भाषण का समर्थन किया। आस्ट्रिया की उपस्थिति में ही यूरोप के राजनीतिज्ञों ने इटली के प्रश्न पर विचार किया। कैवूर ने इटली के प्रति, आस्ट्रिया की नीति की कटु आलोचना करते हुए यूरोप के राजनीतिज्ञों को वस्तुस्थिति से अवगत करा दिया। अपनी कूटनीति से उसने न केवल इंगलैंड और फ्रांस की सहानुभूति प्राप्त की, वरन् सम्मेलन में आये सभी अन्य राष्ट्रों का ध्यान भी इटली की समस्या की ओर आकर्षित किया। कैवूर ने इटली के प्रश्न को एक यूरोपीय प्रश्न बना दिया। पेरिस सम्मेलन में कैवूर की यह महान विजय थी, जिसके फलस्वरूप सम्पूर्ण इटली में उसकी प्रतिष्ठा बढ़ गई।

पेरिस के सम्मेलन में कैवूर के भाषणों से आस्ट्रिया को गहरा आघात लगा, फलस्वरूप उसने इटली के प्रति समझौतावादी नीति अपनायी। लोम्बार्डी और वेनेशिया में अपने शासन की कठोरता में कमी करदी तथा निर्वासित क्रान्तिकारियों की सम्पत्ति को जब्त करने के आदेश वापस ले लिए। सम्राट ने अपने भाई मेक्सीमिलियन को जो उदारवादी था, लोम्बार्डी, वेनेशिया का गवर्नर नियुक्त किया। किन्तु इससे इटली के देशभक्तों का विरोध कम नहीं हुआ, क्योंकि वे यह नहीं चाहते थे कि आस्ट्रिया अपनी इटली सम्बन्धी नीति में सुधार करे, बल्कि वे तो चाहते थे कि आस्ट्रिया इटली से निकल जाय।

प्लोम्बियर्स का समझौता—कैवूर इस तथ्य से भी परिचित था कि इंगलैंड की सहानुभूति इटली के प्रति अवश्य है, किन्तु वह इटली को आस्ट्रिया के विरुद्ध कोई सक्रिय सहायता देने के लिये तैयार नहीं था, क्योंकि इंगलैण्ड वियना कांग्रेस की व्यवस्था में कोई परिवर्तन करना नहीं चाहता था। अतः कैवूर ने फ्रांस के सम्राट नेपोलियन तृतीय को अपनी ओर मिलाने के प्रयत्न आरम्भ कर दिये। उसे नेपोलियन से सहायता प्राप्त होने की आशा भी थी, क्योंकि नेपोलियन की नसों में इटालियन परिवार का रक्त बह रहा था, वह इटली के विद्रोहों में सक्रिय भाग ले चुका था और वह वियना व्यवस्था के भी विरुद्ध था। जून 1858 में नेपोलियन तृतीय सार्डीनिया की सीमा के निकट स्थित प्लोम्बियर्स में छुट्टियां व्यतीत करने के लिये ठहरा हुआ था। कैवूर बिना किसी औपचारिक नियन्त्रण के प्लोम्बियर्स पहुँच गया। 21 जुलाई 1858 को कैवूर ने उसके साथ गुप्त मन्त्रणा की, जिसके फलस्वरूप फ्रांस और सार्डीनिया के बीच एक गुप्त समझौता हुआ। इस समझौते के अनुसार निम्नलिखित बातें तय हुई—

(1) नेपोलियन ने वचन दिया कि सार्डीनिया और आस्ट्रिया के बीच युद्ध होने पर फ्रांस सार्डीनिया को सैनिक सहायता देगा। इस सैनिक सहायता के बदले में सार्डीनिया फ्रांस को सेवाय और नीस देगा।

(2) आस्ट्रिया को निकाल देने के बाद लोम्बार्डी, वेनेशिया और कुछ अन्य भाग सार्डीनिया के राज्य में मिला लिये जायेंगे। अम्ब्रिया और टस्कनी को मिलाकर एक नया राज्य बनाया जायेगा तथा नेपोलियन के चचेरे भाई जेरोम बोनापार्ट को वहां का शासक बनाया जायेगा। नेपिल्स व सिसली के राज्य तथा पोप के राज्य को पूर्ववत् रखा जायेगा। इस प्रकार इटली को चार राज्यों में विभाजित कर उसका एक संघ बनाने की योजना बनायी गई।

(3) विक्टर इमेनुअल की पुत्री का विवाह जेरोम बोनापार्ट के साथ होना निश्चित हुआ।

यद्यपि कैवूर यह नहीं चाहता था कि इटली के चार टुकड़े हो जाय, किन्तु आस्ट्रिया के विरुद्ध फ्रांस की सहायता को आवश्यक समझते हुए उसने इन शर्तों को स्वीकार कर लिया था। नेपोलियन भी इटली की स्वाधीनता तो चाहता था किन्तु वह इटली का एकीकरण नहीं चाहता था। विक्टर इमेनुअल अपनी पुत्री का विवाह जेरोम बोनापार्ट से करना नहीं चाहता था, किन्तु कैवूर के समझाने पर वह तैयार हो गया।

आस्ट्रिया से युद्ध—प्लोम्बियर्स में यह भी तय किया गया था कि आस्ट्रिया को भड़का कर इस प्रकार युद्ध आरम्भ किया जाय कि आस्ट्रिया आक्रामक लगे तथा सार्डीनिया आत्म रक्षा के लिये लड़ने वाला प्रतीत हो। कैवूर ने प्लोम्बियर्स से लौटते ही युद्ध की तैयारी आरम्भ कर दी। पीडमान्ट के समाचार पत्रों में आस्ट्रिया की कटु आलोचना की जाने लगी। इधर कैवूर ने इटली स्थित आस्ट्रिया के मस्स और फरारा में विद्रोह करवा दिया, जिससे स्थिति तनावपूर्ण हो गयी और ऐसा प्रतीत होने लगा कि सार्डीनिया और आस्ट्रिया के बीच युद्ध अवश्यंभावी है। अतः ब्रिटेन ने सार्डीनिया और आस्ट्रिया के बीच समझौता कराने हेतु यूरोपीय कांग्रेस आमन्त्रित करने का सुझाव रखा। आस्ट्रिया ने इस प्रस्ताव को इस शर्त पर स्वीकार किया कि कांग्रेस अधिवेशन के पूर्व सार्डीनिया का निःशस्त्रीकरण हो जाना चाहिये। सार्डीनिया का कहना था कि पहले आस्ट्रिया की सेना अपनी सीमा में चली जाय। अतः ब्रिटेन का प्रस्ताव असफल रहा। 23 अप्रेल 1859 को आस्ट्रिया ने सार्डीनिया को अल्टीमेटम भेजा कि तीन दिन के भीतर निःशस्त्रीकरण कर दे अन्यथा उसके विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया जायेगा। इससे कैवूर खुशी से उछल पड़ा क्योंकि जो वह चाहता था वही हुआ। आस्ट्रिया ने आक्रामक नीति अपनायी, जबकि सार्डीनिया अपनी आत्मरक्षा के लिये तैयार हो गया। कैवूर ने आस्ट्रिया के अल्टीमेटम को ठुकरा दिया।

29 अप्रेल 1859 को आस्ट्रिया ने सार्डीनिया पर आक्रमण कर दिया। इस युद्ध में विक्टर इमेनुअल ने स्वयं अपनी सेना की कमान सम्भाली। 3 मई को नेपोलियन तृतीय ने भी आस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। फ्रांस और सार्डीनिया की संयुक्त सेना ने 4 जून को मेजेन्टा में तथा 24 जून को सालफरीनो में आस्ट्रिया की सेनाओं को पराजित किया। लोम्बार्डी पर सार्डीनिया का अधिकार हो गया। उस समय ऐसा प्रतीत हो रहा था कि अब वेनेशिया पर भी इटली का अधिकार हो जायेगा तथा इटली पर आस्ट्रिया का प्रभुत्व समाप्त हो जायेगा। किन्तु नेपोलियन तृतीय ने सार्डीनिया से विना पूछे युद्ध वन्द करने का निश्चय कर लिया।

विलाफ्रेंका की सन्धि—आस्ट्रिया की पराजय से इटली के सभी राज्यों की जनता सार्डीनिया से सम्बन्ध होने के लिये उत्तेजित हो उठी तथा एक शक्तिलाली राज्य के रूप में इटली के उदय होने के लक्षण दिखाई देने लगे। इससे नेपोलियन चौकन्ना हो गया। वह नहीं चाहता था कि फ्रांस की दक्षिणी-पूर्वी सीमा पर एक शक्तिशाली राज्य की स्थापना हो जिससे फ्रांस को खतरा उत्पन्न हो जाय। इधर नेपोलियन को युद्ध में काफी हानि उठानी पड़ी थी और यदि यह युद्ध कुछ समय और चलता तो उसे अधिक हानि की सम्भावना थी। दूसरी ओर उसे प्रशा के आक्रमण का भी भय था क्योंकि प्रशा की सेना युद्ध के लिए तैयार खड़ी थी। इसके अतिरिक्त फ्रांस के रोमन कैथोलिक युद्ध जारी रखने के पक्ष में नहीं थे, क्योंकि उसे इस वात का भय था कि आस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध जारी रखने से पोप की स्थिति खतरे में पड़ जायेगी। इन सभी कारणों से नेपोलियन तृतीय ने 11 जुलाई 1859 को विला-फ्रेंका नामक स्थान पर आस्ट्रिया के सम्राट फ्रांसिस जोसेफ से भेंट कर युद्ध विराम की शर्तें तय कर ली। इस सन्धि के अनुसार लोम्बार्डी का प्रान्त (मान्टुआ तथा पेश्चीरा को छोड़कर) फ्रांस कों हस्तांतरित कर दिया तथा फ्रांस ने उसे सार्डीनिया को दे दिया। वेनेशिया पर आस्ट्रिया का अधिकार पूर्ववत् वना रहा। परमा, मोडेना और टस्कनी में वहाँ के शासकों को पुनः उनकी गद्दियां वापस कर दी गई।

विलाफ्रेंका की सन्धि के समाचार से इटलीवासियों को गहरा आघात लगा। इटली के देशभक्तों ने नेपोलियन की घोर निन्दा की। उनका कहना था कि विजय के अन्तिम क्षणों में अपने मित्र सार्डीनिया को विना पूछे युद्ध को वीच में रोक देना विश्वासघात था। कैवूर तो इससे आग ववूला हो उठा था। उसने विक्टर इमेनुअल को सलाह दी कि वह इस सन्धि को अस्वीकार करते हुए अकेले ही आस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध जारी रखे। किन्तु विक्टर इमेनुअल आवेश में शीघ्र ही कोई निर्णय करना नहीं चाहता था, अतः उसने कैवूर की सलाह को मानने से इन्कार कर दिया। क्रोधित होकर कैवूर ने अपने पद से त्याग पत्र दे दिया। यद्यपि विक्टर इमेनुअल को भी नेपोलियन की नीति से उतनी ही निराशा हुई थी जितनी कैवूर को, किन्तु अकेले सार्डीनिया के लिए शक्तिशाली आस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध जारी रखना व्यवहारिक

दृष्टि से उचित नहीं था। इसके अतिरिक्त उसने यह भी देखा कि लोम्बार्डी से आस्ट्रिया का प्रभाव समाप्त हो जाने से वियना व्यवस्था भंग होनी आरम्भ हो गयी थी और जब यूरोपीय शक्तियों ने लोम्बार्डी पर इटली के अधिकार को मान्यता दे दी है तो एक प्रकार से वेनेशिया पर भी इटली का नैतिक अधिकार स्वीकार कर लिया गया है। अतः परिस्थितियों को देखते हुए विक्टर इमेनुअल ने आस्ट्रिया और फ्रांस के साथ मिलकर 10 नवम्बर 1859 को **ज्यूरिक की सन्धि** पर हस्ताक्षर कर दिये जिसके द्वारा विलाफ्रेंका की सन्धि की पुष्टि की गई। नेपोलियन तृतीय ने प्लोम्बियर्स के समझौते की शर्तों के पालन पर जोर नहीं दिया और केवल युद्ध का खर्चा लेकर ही सन्तोष कर लिया। अब लोम्बार्डी पर सार्डीनिया का विधिवत् अधिकार हो गया और इस प्रकार इटली के एकीकरण का प्रथम चरण भी पूरा हो गया।

मध्य इटली में एकीकरण की लहर—सार्डीनिया आस्ट्रिया युद्ध में सार्डीनिया की विजय से मध्य इटली के विभिन्न राज्यों में राष्ट्रीयता की भावना प्रबल हो गयी। मध्य इटली की जनता ने परमा, मोडेना और टस्कनी के शासकों को निकाल दिया। बोलाग्ना तथा रोमाग्ना से पोप के प्रतिनिधियों को हटा दिया गया। इन सभी स्थानों पर देश भक्तों ने अपनी अस्थायी सरकारें स्थापित कर ली तथा उन्होंने सार्डीनिया के साथ सम्मिलित होने का निर्णय लिया। ब्रिटेन ने मध्य इटली के राज्यों का समर्थन किया और कहा कि मध्य इटली की जनता को अपने शासक चुनने का उतना ही अधिकार है जितना कि इंगलैण्ड, फ्रांस और बेल्जियम की जनता को है। आस्ट्रिया और प्रशा चाहते थे कि ज्यूरिक की सन्धि के अनुसार मध्य इटली में पुराने शासकों को गद्दी पर बैठाया जाय। नेपोलियन नहीं चाहता था कि मध्य इटली के राज्य पीडमान्ट सार्डीनिया के साथ मिले।

इसी बीच जनवरी 1860 में कैवूर पुनः पीडमान्ट का प्रधान मन्त्री बन गया। कैवूर जानता था कि नेपोलियन की सहमति के बिना मध्य इटली के राज्यों का सार्डीनिया के साथ मिलना कठिन है। अतः उसने नेपोलियन से बातचीत की तथा यह तय किया गया कि यदि वह (नेपोलियन) मध्य इटली के राज्यों को पीडमान्ट में सम्मिलित होने देगा तो उसके बदले में सेवाय और नीस, फ्रांस को दे दिये जायेंगे। मार्च 1860 में मध्य इटली के राज्यों में जनमत संग्रह कराया गया। परमा, मोडेना, टस्कनी, बोलोग्ना तथा पिआकेन्जा ने भारी बहुमत से पीडमान्ट के साथ मिलने का निर्णय किया। मध्य इटली के राज्य पीडमान्ट में सम्मिलित कर लिये गये तथा सेवाय और नीस फ्रांस को सौंप दिये गये। लोम्बार्डी पर पहले ही सार्डीनिया का अधिकार हो चुका था। इस प्रकार कैवूर की इस नीति के फलस्वरूप सार्डीनिया का एक छोटा राज्य, एक वर्ष में विशाल राज्य में परिवर्तित हो गया। फ्रांस को सेवाय और नीस प्राप्त हो जाने से फ्रांस की चिर प्रतीक्षित अभिलाषा पूर्ण हो गई। किन्तु गेरीबाल्डी ने इसका यह कह कर विरोध किया कि, "उसने (कैवूर ने)

मेरी मातृभूमि निजा (नीस) को बेच दिया और मुझे विदेशी बना दिया है।" इधर नेपोलियन को इंगलैण्ड की मित्रता से भी हाथ धोना पड़ा, क्योंकि सेवाय और नीस फ्रांस में मिल जाना उसे अच्छा नहीं लगा।

नेपिल्स और सिसली में विद्रोह—कैवूर के प्रयत्नों से इटली का उत्तरी और मध्य भाग तो एक राजसत्ता के अधीन आ गये थे तथा संयुक्त इटली के लिए दृढ़ आधार तैयार हो गया था, किन्तु अभी तक आधा इटली बाकी था। वेनेशिया, रोम, नेपिल्स और सिसली के राज्य अभी बाहर थे। विलाफ्रेंका की सन्धि के बाद कैवूर ने कहा था, "यूरोपीय शक्तियों ने मुझे कूटनीति के द्वारा उत्तर की ओर से इटली का एकीकरण नहीं करने दिया। अब मुझे क्रान्ति का सहारा लेकर दक्षिण की ओर से इटली का एकीकरण करना होगा।" 1860 के अन्त में कैवूर ने दक्षिणी इटली की ओर ध्यान दिया।

1821 से 1860 तक नेपिल्स का इतिहास अत्याचारपूर्ण निरंकुशता का इतिहास है। वहां तीन बार विद्रोह हो चुका था तथा वहां के शासक फ्रांसिस द्वितीय ने कुछ सुधार करने का प्रयत्न किया, किन्तु इससे जनता का असन्तोष कम नहीं हुआ। इस सिसली में भी क्रान्तिकारियों का प्रचार कार्य तेजी से चल रहा था। मेजिनी ने भी विद्रोह को प्रोत्साहन दिया तथा उसके एक समर्थक क्रिस्पी (Crispy) ने विद्रोह की योजना तैयार की, किन्तु नेपिल्स और सिसली में क्रान्ति पैदा करने तथा उसे सफल बनाने का श्रेय गेरीबाल्डी को दिया जा सकता है।

गेरीबाल्डी (1807-1882)—गेरीबाल्डी का जन्म 1807 में नीस नगर में हुआ था। उसके पिता एक व्यापारी जहाज के अधिकारी थे। अतः वह युवक होने पर तटीय व्यापार में लग गया और उसे अपने समुद्री जीवन में भूमध्य सागर का अच्छा ज्ञान हो गया। इन्हीं यात्राओं के दौरान उसका इटली के देशभक्तों से परिचय हुआ, जिससे उसके मन में देश की स्वतन्त्रता की ऐसी लगन लगी कि वह अपने देश के लिये सर्वस्व बलिदान करने को तैयार हो गया। कुछ समय पश्चात् वह मेजिनी के सम्पर्क में आया और उसके आदर्शों से प्रभावित होकर वह युवक इटली का सदस्य बन गया। 1833 में उसने मेजिनी के सहयोग से इटली में गणतन्त्र स्थापित करने के षड़यन्त्र में भाग लिया, किन्तु षड़यन्त्र का भण्डाफोड़ हो जाने से उसे कैद कर लिया गया। उसे देशद्रोह के अपराध में मृत्यु दण्ड की सजा सुनाई, किन्तु वह इटली से भाग निकला और दक्षिणी अमेरिका पहुँच गया। 1848 तक वह दक्षिणी अमेरिका में रहा और अमेरिका के स्वतन्त्रता संग्रामों में भाग लेता रहा। उसके साथी लाल कमीज पहनते थे। अतः उसका दल 'लाल कुर्ती दल' कहलाया। 1848 की क्रान्ति की सूचना प्राप्त होते ही वह पुनः इटली लौट आया तथा चार्ल्स एल्बर्ट के नेतृत्व में आस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध में भाग लिया। किन्तु 25 जुलाई 1848 को सार्डीनिया पराजित हुआ तथा चार्ल्स एल्बर्ट को आस्ट्रिया से सन्धि करनी पड़ी। इसी

बीच रोम में क्रान्ति हो गयी थी तथा मेज़िनी के नेतृत्व में रोमन गणराज्य की स्थापना हो चुकी थी। गेरीबाल्डी, मेजिनी की सहायतार्थ रोम आ पहुँचा। जब फ्रांस ने रोम की रक्षार्थ, रोमन गणराज्य पर हमला किया। तब गेरीबाल्डी ने फ्रांसीसी सेनाओं के विरुद्ध रोम की रक्षा करने का दृढ़ता से प्रयत्न किया, किन्तु वह सफल नहीं हो सका और किसी प्रकार बचकर टस्कनी आ पहुंचा। टस्कनी से उसे पीडमान्ट आना पड़ा तथा यहां से वह पुनः अमेरिका चला गया। अमेरिका में वह 6 वर्ष रहा तथा वहां से काफी धन कमा कर 1854 में पुन: इटली लौट आया। इटली वापिस आकर उसने सार्डीनिया के निकट केप्रीरा (Caprera) नामक टापू खरीद कर एक स्वतन्त्र कृषक के रूप में रहने लगा। 1856 में उसकी कैवूर से भेंट हुई तथा इस भेंट में वह कैवूर के विचारों से इतना प्रभावित हुआ कि 1857 में उसने सार्डीनिया के शासक को अपनी सेवाएं अर्पित कर दी। गेरीबाल्डी के जीवन की यह सबसे महत्वपूर्ण घटना थी, क्योंकि गणतन्त्रवादी गेरीबाल्डी अब वैध राजसत्तावाद का समर्थक बन गया। उसी के कारण सार्डीनिया के गणतन्त्रवादियों एवं राजसत्तावादियों में समझौता हो गया और उन्होंने अपने मतभेदों को भुला कर अपने उद्देश्य की प्राप्ति हेतु संयुक्त रूप से कार्य किया। केटलबी ने लिखा है कि, "यदि यह समझौता नहीं होता और दोनों के मतभेद बने रहते तो वे एक दूसरे को नष्ट करने का प्रयत्न करते और इटली की एकता का प्रयत्न विफल हो जाता।" इटली के एकीकरण में गेरीबाल्डी का वास्तविक कार्य 1860 में आरम्भ होता है।

सिसली का विद्रोह—1860 के आरम्भ में, मेजिनी के प्रोत्साहन के कारण सिसली की जनता ने अपने निरंकुश शासक के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। विद्रोहियों ने गेरीबाल्डी से सहायता की मांग की। गेरीबाल्डी ने इस शर्त पर सहायता देना स्वीकार किया कि विद्रोही सार्डीनिया के पक्ष में हो। इसी बीच सम्राट फ्रांसिस की सेनाओं ने विद्रोह को निर्दयता से कुचलना आरम्भ कर दिया। अत: गेरीबाल्डी ने सिसली की सहायता करने का निश्चय किया। किन्तु वह जानता था कि सार्डीनिया की सहायता के बिना सफलता मिलना कठिन है। अत: उसने कैवूर से सहायता की मांग की। यद्यपि कैवूर की सहानुभूति गेरीबाल्डी के साथ थी, किन्तु वह खुले रूप से गेरीबाल्डी की सहायता नहीं कर सकता था, क्योंकि प्रथम तो ऐसा करना अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विरुद्ध था तथा दूसरा गेरीबाल्डी को सहायता देने से नेपिल्स और सार्डीनिया के बीच युद्ध छिड़ जाता और सम्भवतः यूरोपीय राज्य उसमें हस्तक्षेप करने लगते। ऐसी परिस्थिति में कैवूर ने दुहरी नीति अपनाई। बाहरी तौर पर तो वह अपनी तटस्थता का प्रदर्शन करता रहा, किन्तु गुप्त रूप से गेरीबाल्डी व सिसली के देशभक्तों को सहायता पहुंचाता रहा। 5 मई 1860 को गेरीबाल्डी ने अपने एक हजार लाल कुर्सी वाले स्वयंसेवकों को लेकर सिसली की ओर प्रस्थान किया। 11 मई को वह सिसली पहुंच गया तथा 15 मई को केल्टाफीमी (Calatafimi) नामक स्थान पर नेपिल्स की सेनाओं को परास्त किया। 27 मई को उसने पेनारेमो

पर अधिकार कर लिया तथा जून के अन्त तक सिसली पर गेरीवाल्डी का अधिकार हो गया। गेरीवाल्डी ने अपने आपको सिसली का अधिनायक घोषित कर दिया।

नेपिल्स पर अधिकार—सिसली पर अधिकार करने के बाद गेरीवाल्डी ने 19 अगस्त 1860 को नेपिल्स के मुख्य भाग रेगियो-डि-केलेब्रिया पर आक्रमण कर दिया। 21 अगस्त को उसने रेगियो पर सरलता से अधिकार कर लिया। रेगियो से गेरीवाल्डी नेपिल्स की ओर बढ़ा। नेपिल्स के शासक फ्रांसिस ने सभी राज्यों से सहायता की मांग की, किन्तु उसे कहीं से सहायता नहीं मिली। अतः 6 सितम्बर को फ्रांसिस वहां से भाग खड़ा हुआ तथा नेपिल्स के पूरे राज्य पर गेरीबाल्डी का अधिकार हो गया। नेपिल्स की जनता ने उसका भव्य स्वागत किया। गेरीबाल्डी ने अपने आपको नेपिल्स का अधिनायक घोषित किया। तत्पश्चात् उसने रोम पर अधिकार करने की योजना बनायी। उसने यह पहले ही घोषणा करदी थी कि वह सिसली और नेपिल्स को तभी इटली राज्य में शामिल करेगा, जब वह रोम को विजय करके विक्टर इमेनुअल को इटली का सम्राट घोषित कर देगा।

गेरीबाल्डी की सफलता से उत्पन्न कठिनाइयां—गेरीवाल्डी अपनी विजयों से प्रोत्साहित होकर रोम पर आक्रमण करने की योजना बना रहा था। इससे अन्तर्राष्ट्रीय कठिनाई उत्पन्न होने की सम्भावना थी, क्योंकि रोम की सुरक्षा के लिये फ्रांसीसी सैनिक वहां तैनात थे। अतः रोम पर आक्रमण करने से फ्रांसीसी सैनिकों से युद्ध होना अनिवार्य था और ऐसी स्थिति में नेपोलियन का हस्तक्षेप स्वाभाविक था। गेरीवाल्डी वेनेशिया पर भी आक्रमण कर सकता था। ऐसी स्थिति में आस्ट्रिया से युद्ध अनिवार्य था। फ्रांस और आस्ट्रिया दोनों की सेनाओं से एक साथ युद्ध करना सार्डीनिया के लिये सम्भव नहीं था। इसके अतिरिक्त गेरीवाल्डी, मेजिनी का अनुयायी था, अतः कैवूर की आशंका थी कि गेरीवाल्डी अपने विजित प्रदेशों में गणतन्त्र स्थापित न करदे। ऐसा होने से सार्डीनिया के नेतृत्व में इटली के एकीकरण का स्वप्न भंग हो जायेगा। कैवूर के समक्ष यह समस्या थी कि इन कठिनाइयों से कैसे निपटा जाय। किन्तु उसने गेरीवाल्डी को विफल बनाने का उपाय खोज निकाला। उसने यह निश्चय किया कि गेरीवाल्डी के आगे बढ़ने से पूर्व ही पोप के राज्य पर सार्डीनिया की सेनाओं द्वारा आक्रमण कर दिया जाय, किन्तु इससे फ्रांस के साथ युद्ध होने का खतरा था। अतः कैवूर ने नेपोलियन से बातचीत की तथा उसे समझाया कि गेरीवाल्डी की प्रगति को रोकने के लिए पोप के राज्य में सेना भेजना आवश्यक है। नेपोलियन इस समय पोप से अप्रसन्न था, क्योंकि पोप ने फ्रांस की सहायता से मुक्त होने के लिये अपनी अलग से सेना गठित करली थी, जिसका सेनापति नेपोलियन का व्यक्तिगत शत्रु था। नेपोलियन ने कैवूर को स्वीकृति प्रदान करदी।

पोप के राज्य पर अभियान—नेपोलियन की ओर से आश्वासन होने के बाद 11 सितम्बर 1860 को सार्डीनिया की सेनाओं ने पोप के राज्य पर आक्रमण कर

दिया। 29 सितम्बर को ग्राम्ब्रिया और मार्चेस पर सार्डीनिया का अधिकार हो गया। इधर गेरीबाल्डी भी रोम की ओर आगे बढ़ रहा था, किन्तु रास्ते में नेपिल्स के शासक फ्रांसिस की सेनाओं ने उसका रास्ता रोक लिया, जिससे वह कई दिन तक आगे नहीं बढ़ सका। उधर उत्तरी इटली की संसद के निर्णयानुसार नेपिल्स, सिसली व पोप के जीते हुए प्रदेशों में जनमत संग्रह कराया गया तथा अक्टूबर 1860 के अन्त तक सभी क्षेत्रों की जनता ने उत्तरी इटली के राज्य में सम्मिलित होने का निर्णय किया। इससे कैवूर की स्थिति मजबूत हो गई। दूसरी ओर गेरीबाल्डी को यह विश्वास हो गया कि इटली की सेना के बिना वह सफल नहीं हो सकता। इसी समय विक्टर इमेनुअल स्वयं अपनी सेना लेकर नेपिल्स की ओर बढ़ा तथा टिआनो नामक स्थान पर उसकी गेरीबाल्डी से भेंट हुई। गेरीबाल्डी ने उसका इटली के शासक के रूप में अभिनन्दन किया तथा 27 अक्टूबर 1860 को गेरीबाल्डी ने अपनी सेना तथा समस्त अधिकार विक्टर इमेनुअल को समर्पित कर दिये। 7 नवम्बर 1860 को विक्टर इमेनुअल ने गेरीबाल्डी के साथ नेपिल्स में प्रवेश किया। तत्पश्चात् गेरीबाल्डी अपने केप्रीरा टापू में चला गया।

गेरीबाल्डी को देश सेवा के लिए पुरस्कार स्वरूप सम्मान एवं उपाधियां देने का प्रस्ताव हुआ, किन्तु उसने आदरपूर्वक किसी भी प्रकार का सम्मान या उपाधि लेने से इन्कार कर दिया। उसने कहा कि, "देश सेवा स्वयं एक पुरस्कार है, मुझे कोई दूसरी चीज नहीं चाहिए।" गेरीबाल्डी अपने केप्रीरा टापू में जाकर वहीं खेती करने लगा।

फरवरी 1861 में ट्यूरीन में इटली की प्रथम संसद की बैठक हुई, जिसमें रोम और वेनेशिया को छोड़कर समस्त इटली के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। विक्टर इमेनुअल को विधिवत् इटली का शासक स्वीकार किया गया। संसद ने कैवर का यह भी प्रस्ताव स्वीकार किया कि रोम इटली की राजधानी होनी चाहिये। इसके कुछ ही समय बाद 6 जून 1861 को कैवूर की मृत्यु हो गयी। वह महान् देश भक्त इटली का पूर्ण एकीकरण देखने के लिये जीवित न रह सका, क्योंकि रोम और वेनेशिया के बिना इटली का एकीकरण अपूर्ण था। वास्तव में कैवूर ने महान कार्य किये। एक राष्ट्र के रूप में इटली, कैवूर की ही देन है। यद्यपि इटली की मुक्ति के लिए मेजिनी, गेरीबाल्डी आदि देशभक्तों ने भी प्रयत्न किये किन्तु कैवूर की देन सबसे भिन्न थी। उसने एकीकरण के प्रश्न को दलगत राजनीति से अलग रखा। मेजिनी में भावनाओं को उत्तेजित करने की अपूर्व क्षमता थी। वह निर्जीव आत्मा में भी प्राण फूंक सकता था। गेरीबाल्डी एक कुशल सेनापति तथा निस्वार्थ देशभक्त था। किन्तु कैवूर इन दोनों से भिन्न, कुशल कूटनीतिज्ञ तथा व्यावहारिक था। इसलिए वह सफल भी रहा।

इटली का पूर्ण एकीकरण—रोम और वेनेशिया को छोड़कर इटली का एकीकरण पूर्ण हो चुका था। कैवूर की मृत्यु से इटली के नये राज्य को बड़ा आघात

लगा। विक्टर इमेनुअल को प्रतिवर्ष एक नया प्रधान मंत्री नियुक्त करना पड़ता, क्योंकि किसी भी प्रधान मन्त्री को अधिक समय तक संसद का समर्थन प्राप्त नहीं रहता। इसके अतिरिक्त इटली के कुछ क्षेत्रों के लोग पीडमान्ट-सार्डीनिया की प्रधानता से द्वेष रखते थे तथा इटली के निर्वासित शासक अपनी सत्ता पुनः ग्रहण करने हेतु षड़यन्त्र कर रहे थे। ऐसी परिस्थितियों में विक्टर इमेनुअल ने बड़े धैर्य से काम लिया।

प्रशा का चान्सलर बिस्मार्क आस्ट्रिया को जर्मनी से निकालना चाहता था। इटली के राजनीतिज्ञ इस स्थिति से लाभ उठाकर वेनेशिया प्राप्त करना चाहते थे। बिस्मार्क इटली से मित्रता करना चाहता था। अतः 8 अप्रेल 1866 को इटली और प्रशा के बीच सन्धि हुई, जिसके अनुसार प्रशा और आस्ट्रिया के युद्ध में प्रशा को इटली सैनिक सहायता देगा तथा इसके बदले में इटली को वेनेशिया दिलवा दिया जायेगा। 14 जून 1866 को प्रशा व आस्ट्रिया के बीच युद्ध आरम्भ हो गया तथा इटली ने भी आस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। समुद्री युद्ध में आस्ट्रिया की सेना ने इटली की सेनाओं को परास्त कर दिया, किन्तु सेडोवा में प्रशा की सेना ने आस्ट्रिया को पूर्ण रूप से पराजित कर दिया। बिस्मार्क ने आस्ट्रिया से प्राग की सन्धि की जिसके द्वारा द्वारा वेनेशिया इटली को दिलवा दिया। 7 नवम्बर 1866 को विक्टर इमेनुअल ने वेनिस में प्रवेश किया।

इसके 4 वर्ष बाद जर्मनी का एकीकरण पूर्ण करने के लिए बिस्मार्क को फ्रांस से युद्ध करना अनिवार्य हो गया। इस अवसर पर नेपोलियन तृतीय ने प्रशा के विरुद्ध इटली और आस्ट्रिया से मित्रता का प्रस्ताव किया किन्तु विक्टर इमेनुअल ने तटस्थता की नीति अपनाई। 1870 में फ्रांस और प्रशा के बीच युद्ध आरम्भ हो गया। अतः नेपोलियन को रोम से अपनी सेना बुलानी पड़ी। सीडान के युद्ध में नेपोलियन को अपने 83 हजार सैनिकों के साथ प्रशा के समक्ष आत्मसमर्पण करना पड़ा। इसकी सूचना मिलते ही विक्टर इमेनुअल ने अपने सेनापति केडोर्ना (Cadorna) के नेतृत्व में 60 हजार सैनिक रोम पर आक्रमण करने भेज दिये। 20 सितम्बर 1870 को रोम पर इटली का अधिकार हो गया। रोम में जनमत संग्रह कराया गया, जिसमें रोम के नागरिकों ने इटली में सम्मिलित होना स्वीकार कर लिया। फलस्वरूप रोम को इटली में मिला लिया गया तथा उसे संयुक्त इटली की राजधानी बनाया गया। 2 जून 1871 को एक भव्य जुलूस के साथ विक्टर इमेनुअल ने रोम में प्रवेश किया। इस प्रकार एक दीर्घकालीन संघर्ष के बाद मेजिनी के नैतिक बल, गेरीबाल्डी की तलवार, कैवूर की कूटनीति, विक्टर इमेनुअल की समझदारी तथा व्यवहारिक बुद्धि एवं असंख्य देशभक्तों के बलिदान से इटली के एकीकरण का महायज्ञ पूरा हुआ।

पोप की स्थिति—एकीकरण के बाद समस्या यह उत्पन्न हुई कि इटली राज्य और पोप के बीच क्या सम्बन्ध हो ? रोम अब संयुक्त इटली की राजधानी थी तथा

पोप भी वहीं रहता था। अतः एक ही नगर में दो सत्ताएँ थी जिनके पारस्परिक सम्बन्धों की समस्या थी। 1871 में इटली की संसद ने इस समस्या को हल कर दिया। संसद ने एक कानून 'ला आफ पेपर गारण्टीज' (Law of Paper Guarntees) पारित किया। इस कानून के अनुसार पोप का निवास स्थान और उसके चारों ओर का कुछ क्षेत्र पोप को दे दिया गया। इस क्षेत्र पर पोप की सर्वोच्च सत्ता स्वीकार की गई। पोप की स्थिति एक स्वतन्त्र शासक के समान रखी गई। इस क्षेत्र में इटली का कोई कानून लागू नहीं होता था तथा इटली राज्य का कोई कर्मचारी इस क्षेत्र में प्रवेश नहीं कर सकता था। पोप अन्य देशों में अपने राजदूत भेज सकता था तथा अन्य देशों के राजदूत पोप के यहां रह सकते थे।

इस प्रकार 1815 में वियना कांग्रेस ने जिसे भौगोलिक अभिव्यक्ति मात्र कहा था, वह अब एक स्वतन्त्र राष्ट्र बन गया, जो वियना कांग्रेस की व्यवस्था पर गहरा आघात था।

अध्याय 7

जर्मनी का एकीकरण

(1815–1870)

(UNIFICATION OF GERMANY)

18वीं सदी के अन्त में जर्मनी 200 से अधिक छोटी-मोटी रिसासतों में बंटा हुआ था। यद्यपि नेपोलियन ने जर्मनी की शक्ति को नष्ट करना चाहा, किन्तु अप्रत्यक्ष रूप से उसने जर्मनी के एकीकरण की पृष्ठभूमि तैयार करदी। नेपोलियन बोनापार्ट ने जर्मनी के 200 से अधिक स्वतन्त्र राज्यों के स्थान पर 39 राज्यों का एक संघ बनाकर जर्मनी की राष्ट्रीय एकता का मार्ग प्रशस्त किया। जिसके परिणामस्वरूप जर्मनी में एकता की भावना उत्पन्न हुई। वस्तुतः नेपोलियन के कार्यों द्वारा जर्मनी के राज्यों में स्वतन्त्रता की भावना का विकास हुआ था।

वियना कांग्रेस ने 39 राज्यों का एक शिथिल परिसंघ (Confederation) बनाया। आस्ट्रिया का सम्राट इस परिसंघ का अध्यक्ष बना। इस परिसंघ की एक राष्ट्रसभा या डायट (Diet) बनायी गई, जिसमें जर्मन रियासतों के शासकों द्वारा मनोनीत प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। यद्यपि इस राष्ट्रसभा को बहुत से अधिकार दिये गये थे किन्तु इस पर आस्ट्रिया का पूर्ण प्रभाव तथा आस्ट्रिया और प्रशा की पारस्परिक ईर्ष्या के कारण यह कोई निर्णायक कार्यवाही नहीं कर सकती थी। इसके अतिरिक्त जर्मनी के विभिन्न राज्य अपने अधिकारों में कमी भी नहीं होने देना चाहते थे। वस्तुतः 1815 से 1850 तक जर्मनी में आस्ट्रिया की ही प्रधानता रही। यद्यपि इस परिसंघ के निर्माण का उद्देश्य था जर्मनी में राष्ट्रीयता की भावना को रोकना, किन्तु उस समय तक सम्पूर्ण यूरोप में राष्ट्रीयता की अग्नि प्रज्वलित हो चुकी थी और जर्मनी भी इस अग्नि से अछूता नहीं रह सका था।

1815 से 1862 तक जर्मनी के एकीकरण के मार्ग में अनेक बाधाएँ उत्पन्न होती गई। अतः इस अवधि में जर्मनी, एकीकरण के मार्ग की ओर अत्यन्त ही मन्द गति से बढ़ा। 1862 में बिस्मार्क प्रशा का चान्सलर बना जिसके कुशल नेतृत्व में जर्मनी, एकीकरण के मार्ग की ओर बड़ी ही तीव्र गति से बढ़ा तथा उसी के नेतृत्व में जर्मनी का एकीकरण पूरा हुआ। अतः जर्मनी के एकीकरण के अध्ययन को हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं। प्रथम तो बिस्मार्क के पहले, जबकि एकीकरण

की गति बड़ी मन्दी रही तथा द्वितीय बिस्मार्क के चान्सलर बनने के बाद जबकि एकीकरण की गति तीव्र हो गयी थी।

बिस्मार्क के पूर्व (1815-60)—फ्रांस की क्रान्ति के फलस्वरूप जर्मनी में राष्ट्रीयता एवं उदारवाद की विचारधारा फैल रही थी किन्तु उसकी गति अत्यन्त ही मन्द थी। प्रोफेसर लिप्सन ने इस मन्द गति के निम्नलिखित कारण बताये हैं—

(1) **मानसिक थकान**—नेपोलियन के युद्धों के कारण जर्मनी की जनता और सैनिक शान्ति स्थापना के इच्छुक थे, क्योंकि दीर्घकालीन युद्धों के कारण सैनिक और जनता न केवल शारीरिक थकान ही महसूस कर रही थी बल्कि मानसिक थकान भी अनुभव कर रही थी। मानसिक थकान को दूर करने के लिये वे विश्राम चाहते थे। ऐसी परिस्थितियों में राष्ट्रीयता एवं उदारवाद की विचारधारा तीव्र गति से विकसित न हो सकी।

(2) **सुधारवादियों में मतभेद**—जर्मनी में जो भी सुधारवादी थे उनमें मतैक्य का अभाव था। वे जर्मनी में सुधारों के लिये अनेक प्रकार की योजनाएं बनाते थे, किंतु अपने कार्यक्रम के सम्बन्ध में वे एक मत नहीं थे। कुछ सुधारवादी दल आस्ट्रिया के परम्परागत गौरव की अवहेलना करना नहीं चाहते थे तो कुछ प्रशा के नेतृत्व में जर्मनी की शक्ति को संगठित करना चाहते थे। कुछ सुधारवादी जर्मनी के सभी राज्यों को हठाकर एक गणराज्य की स्थापना का स्वप्न देख रहे थे। इसके अतिरिक्त जर्मनी के राजनैतिक दलों के नेताओं में अनुभव का भी अभाव था। जर्मनी की जनता में भी समान रूप से राष्ट्रीय जागृति विकसित नहीं हो पायी थी, इसलिये जर्मनी की सम्पूर्ण जनता संयुक्त जर्मनी की आवश्यकता ही अनुभव नहीं कर रही थी। केवल शिक्षित वर्ग और कुछ उच्च कुल के लोगों में ही राष्ट्रीयता की भावना विद्यमान थी। जर्मनी के विभिन्न राज्य भी अपनी-अपनी डफली से अपनी अलग राग अलापते थे। कुछ राज्य प्रशा के नेतृत्व में जर्मनी के एकीकरण के पक्ष में थे तो कुछ राज्य सामंतवादी विचारों के प्रबल पोषक थे। जर्मनी की आंतरिक समस्या भी बड़ी विकट थी। कुछ राजनैतिक दल फ्रांसीसी क्रान्ति से प्रभावित थे तो कुछ क्रान्तिकारी विचारों के घोर शत्रु थे। इन परिस्थितियों के कारण जर्मनी से राष्ट्रीय एकीकरण की भावना का विकास अत्यन्त ही मन्द रहा।

(3) **प्रतिक्रियावादी शासन**—वियना कांग्रेस के निर्णय द्वारा जर्मनी पर आस्ट्रिया का पूर्ण प्रभुत्व स्थापित हो गया था। अतः मेटरनिख ने, जो आस्ट्रिया का चान्सलर था, नवीन विचारधारा को कुचलने का निश्चय कर लिया था। उसने जर्मनी को पूर्ण नियंत्रण में रखने के लिये घोर प्रतिक्रियावादी नीति का अवलम्बन किया। उसने कार्ल्सबाद के आदेशों के द्वारा जर्मनी में पूर्ण रूप से प्रतिक्रियावादी व्यवस्था स्थापित कर दी। इन आदेशों के अनुसार प्रत्येक राज्य के शासक का एक विशेष प्रतिनिधि प्रत्येक विश्वविद्यालय में नियुक्त किया जाता था, जो इस बात का ध्यान रखता था कि वहां सरकार की इच्छानुसार कार्य सम्पादन हो रहा है या नहीं ?

वह शिक्षकों और छात्रों पर कठोर निगाह रखता था। उदार एवं राष्ट्रीय विचारों के शिक्षकों को पदच्युत करने की व्यवस्था की गई। गुप्त समितियों तथा समाचार पत्रों पर अनेक प्रतिबन्ध लगा दिये गये। इसके अतिरिक्त एक जांच आयोग स्थापित किया गया जो क्रान्तिकारी समितियों का पता लगाता था। प्रशा भी इस काम में मेटरनिख की नीतियों का समर्थक बना रहा तथा जर्मनी के छोटे-छोटे राज्य भी मेटरनिख की इच्छानुसार शासन चलाते रहे। 1848 तक मेटरनिख के प्रभाव के कारण जर्मनी में प्रगतिशील विचारों को विकसित होने का अवसर ही नहीं मिला। फ्रांस की 1830 की क्रांति के फलस्वरूप जर्मनी की कुछ रियासतों में क्रान्ति का प्रसार हुआ, किन्तु आस्ट्रिया, प्रशा और रूस के सम्मिलित प्रयासों से क्रान्तिकारियों को कुचलकर पुनः प्रतिक्रियावादी सत्ता स्थापित करदी गई। तत्पश्चात् 1833 से 1847 के बीच जर्मनी में कोई सुधारवादी आन्दोलन नहीं हुआ।

(4) **आस्ट्रिया और प्रशा का द्वेष**—आस्ट्रिया और प्रशा में पारस्परिक द्वेष भी था। इन दोनों में पारस्परिक द्वेष इस बात को लेकर था कि जर्मनी का नेतृत्व किसके हाथ में रहे। आस्ट्रिया, जर्मनी का नेतृत्व इसलिये करना चाहता था कि जर्मनी में राष्ट्रीय भावनाओं को कुचला जा सके, क्योंकि उसे भय था कि यदि जर्मनी, राष्ट्रीयता के सिद्धांत के आधार पर एक हो गया तो यह महामारी आस्ट्रिया के साम्राज्य में भी फैल जायेगी। इसलिये मेटरनिख चाहता था कि जर्मनी को इतना कमजोर रखा जाय कि वहां उदारवाद की विचारधारा उत्पन्न ही न हो और यह तभी संभव था जबकि जर्मनी के राज्यों को विभाजित रखा जाय। अतः मेटरनिख का यही प्रयत्न रहा कि जर्मनी के विभिन्न राज्य विभाजित रहें। इसके विपरीत प्रशा चाहता था कि राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के आधार पर जर्मनी को संगठित किया जाय और इस संगठित जर्मनी का नेतृत्व प्रशा करे। इस प्रकार आस्ट्रिया और प्रशा के पारस्परिक द्वेष के कारण जर्मनी में राष्ट्रीयता के विकास की गति अत्यन्त ही मन्दी रही।

उपर्युक्त कारणों से जर्मनी के एकीकरण की गति धीमी रही किन्तु इस काल में कुछ ऐसी प्रवृतियों का विकास भी हो गया था, जिन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन को गतिशील बनाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। राष्ट्रीयता और एकीकरण की विचारधारा के प्रसार में निम्नलिखित तत्व प्रमुख रूप से सहायक रहे—

(1) **बौद्धिक जागृति**—जर्मनी के साहित्यकारों और लेखकों ने जर्मन राष्ट्रीयता की भावनाओं को जागृत किया। जर्मनी के कवियों, दार्शनिकों तथा इतिहासकारों ने जर्मनी के प्राचीन गौरव पर प्रकाश डाल कर राष्ट्रीय एकता की भावना को गति प्रदान की। फिक्टे ने अपने 'एड्रेसेज टू द जर्मन पीपुल (Addresses to the German People) के द्वारा जर्मन जाति को प्रभावित किया। हीगल ने 'शक्ति पर आधारित राज्य' पर अपने विचार प्रकट किये। डालमेन, राके, वोमर आदि इतिहासकारों ने प्राचीन इतिहास की छानबीन करके जर्मन इतिहास को एक नये रूप में

प्रस्तुत किया। हेनरिक हाइन व आर्नेड्ट जैसे कवियों ने राष्ट्रीयता के गीत गाकर जनता में जोश भरा। वर्लिन, वॉन, लिप्जिग तथा कुछ अन्य विश्वविद्यालय राष्ट्रीय जागृति के प्रमुख केन्द्र बन गये। इससे जर्मन जनता की राष्ट्रीय भावनाओं को नवीन प्रेरणा प्राप्त हुई।

(2) आर्थिक क्षेत्र में सहयोग—एक ओर मेटरनिख जर्मनी में प्रतिक्रियावादी नीति का संचालन कर रहा था तो दूसरी ओर प्रशा राष्ट्रीय विचारों का समर्थक था। अतः जर्मनी के लोग अब नेतृत्व के लिये प्रशा की ओर देखने लगे। नेपोलियन के विरुद्ध युद्ध में प्रशा ने ही जर्मनी का नेतृत्व किया था। शनैः शनैः जर्मनी का आर्थिक नेतृत्व भी प्रशा के हाथ में आने लगा। जर्मनी के सभी राज्यों की चुंगी चौकियां अलग-अलग थीं और व्यापारियों को जगह-जगह चुंगी देनी पड़ती थी। इससे वाणिज्य और व्यापार में बड़ी असुविधा होती थी। यद्यपि प्रशा ने 1819 में श्वासवर्ग के छोटे से राज्य से सीमा शुल्क सम्बन्धी सन्धि की थी तथा ऐसी ही सन्धि के लिये अन्य राज्यों को भी प्रोत्साहित किया था। किन्तु उनके पारस्परिक मतभेदों के कारण 1834 से पूर्व प्रशा का कोई प्रयत्न सफल नहीं हुआ। धीरे-धीरे उनके मतभेद समाप्त हो गये तथा 1834 में 18 जर्मन राज्यों को मिलाकर जालवरिन (Zollverein) नामक एक आर्थिक संघ की स्थापना की गई। यह आर्थिक संघ भी प्रशा के नेतृत्व में स्थापित हुआ था। इस संघ में सम्मिलित होने वाले राज्यों ने यह निश्चय किया कि संघ के सदस्य राज्य माल का स्वतन्त्र व्यापार करेंगे तथा एक दूसरे के माल पर चुंगी नहीं लेंगे। 1850 तक सम्पूर्ण जर्मनी के राज्य इस आर्थिक संघ में सम्मिलित हो गये। आरम्भ में मेटरनिख ने इस संघ के परिणामों को नहीं समझा। किन्तु जब उसे इस बात का आभास होने लगा कि इस आर्थिक सहयोग से जर्मनी की एकता का मार्ग प्रशस्त हो रहा है, तब उसने इस आर्थिक संघ का विरोध किया, किन्तु उसे कोई सफलता नहीं मिली।

जर्मनी के एकीकरण के इतिहास में जालवरिन की स्थापना एक महत्वपूर्ण कदम था। आर्थिक दृष्टि से जर्मनी एक हो गया। अब एक राज्य के लोग दूसरे राज्य में आने-जाने लगे तथा देशभक्तों के विचारों का आदान-प्रदान होने से राष्ट्रीयता की भावना को बल मिला। जालवरिन की स्थापना से अब प्रशा, जर्मन राज्यों का नेता बन गया। प्रसिद्ध विद्वान फाइफ (Fyffe) ने लिखा है कि, "इस संघ को यद्यपि किसी प्रकार का राजनैतिक रूप नहीं दिया गया था, किन्तु परस्पर आर्थिक हितों की रक्षा के लिए इसमें राजनैतिक एकता का बीजारोपण हो चुका था।" इसी प्रकार केटलबी ने लिखा है कि, "जालवरिन की स्थापना ने भविष्य में प्रशा के नेतृत्व में जर्मनी के राजनैतिक एकीकरण का मार्ग तैयार कर दिया।" वस्तुतः 'जर्मनीकरण' (Garmanisation) की ओर यह कदम प्रथम था जिससे व्यापारिक हितों की आधारशिलाओं पर राष्ट्रीयता का भव्य महल खड़ा किया गया। अब प्रशा भी जर्मनी के संगठन का कार्य सम्पन्न करने में सक्षम हो गया था।

(3) **1848 की क्रांति का प्रभाव**—1848 की फ्रांसीसी क्रांति तथा वियना से मेटरनिख के पलायन की सूचना प्राप्त होते ही जर्मनी की विभिन्न रियासतों में विद्रोह उठ खड़े हुए तथा इन राज्यों में राष्ट्रीयता के समर्थकों ने निरंकुश एवं प्रतिक्रियावादी शासकों के विरुद्ध संघर्ष आरम्भ कर दिया। प्रारम्भ में विद्रोहियों को सफलता मिली। अधिकांश जर्मन राज्यों में वैध राजसत्ता स्थापित हो गयी तथा उदार मन्त्रिमण्डलों की नियुक्तियां हुई। वैधानिक शासन एवं व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को मान्यता प्राप्त हुई। प्रशा में विद्रोह का स्वरूप अधिक उग्र था। प्रशा के शासक फ्रेडरिक विलियम चतुर्थ को भी उदार संविधान स्वीकार करना पड़ा। किन्तु कुछ समय बाद फ्रेडरिक विलियम ने पुनः निरंकुशता की नीति अपनाई।

1848 के आरम्भ में जर्मनी के राष्ट्रवादियों ने जर्मनी का एक संघ बनाने के उद्देश्य से एक राष्ट्रीय संसद आमन्त्रित की जिसका अधिवेशन फ्रेंकफर्ट में हुआ। इस संसद में जर्मनी के सभी राज्यों के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए तथा जर्मन संघ का संविधान तैयार करने लगे। वस्तुतः यह राष्ट्रीय संसद जर्मन एकता की प्रतीक थी तथा जर्मन जनता के स्वप्न को साकार कर सकती थी। किन्तु इस संसद के समक्ष अनेक कठिनाइयां एवं समस्याएं भी थीं। संघ की रूपरेखा तथा उसके अधिकारों के विषय में विभिन्न राज्यों में मतभेद थे, अतः संविधान बनाने में काफी समय लग गया; इसी बीच ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, जर्मनी में क्रांति का प्रभाव कम होता गया। 1848 तक आस्ट्रिया व प्रशा क्रांति को कुचलने में सफल हो गये। आस्ट्रिया ने इस राष्ट्रीय संसद के कार्यों में बाधाएं उपस्थित करना प्रारम्भ कर दिया। फिर भी मार्च 1849 में राष्ट्रीय संसद ने संघ का संविधान तैयार कर लिया तथा प्रशा के सम्राट को जर्मनी का सम्राट बनाने का निर्णय लिया। किन्तु आलमुल्स नामक स्थान पर आस्ट्रियन सम्राट ने प्रशा के सम्राट से मुलाकात की और उनको जर्मन संघ का राजमुकुट स्वीकार न करने की चेतावनी दी। फलस्वरूप 3 अप्रेल 1849 को विलियम चतुर्थ ने नवीन जर्मन संघ का राजमुकुट अस्वीकार कर दिया। उसके बाद संसद इस दिशा में कोई प्रभावी कार्य नहीं कर सकी। इसके बाद प्रशा के मंत्री जोसफ वान रेडोविलस ने, हेनोवर तथा सेक्सनी के साथ मिलकर प्रशा के नेतृत्व में संघ बनाने की योजना तैयार की तथा मार्च 1850 में इन राज्यों की डायट (Diet) आमन्त्रित की। किन्तु आस्ट्रिया के हस्तक्षेप के कारण यह योजना भी कार्यान्वित न हो सकी। इस प्रकार 1848 की क्रान्ति के फलस्वरूप जो राष्ट्रीयता की लहर उत्पन्न हुई थी उसका दमन कर दिया गया था किन्तु इस लहर को पूर्ण रूप से समाप्त नहीं किया जा सका। नागरिकों एवं देशभक्तों के हृदय में राष्ट्रीयता की आग जलती रही तथा उचित अवसर की तलाश करती रही।

(4) **जर्मनी में औद्योगिक विकास**—1815 से 1850 के बीच जर्मनी में जो घटनाएं घटित हुई, उससे जर्मनी का एकीकरण का आधार तैयार होने में बड़ी सहायता मिली। इस बीच यूरोप में औद्योगिक क्रांति का विस्तार होने से, जर्मनी

पर भी इसका प्रभाव पड़ा। 1834 में जालवरिन की स्थापना से जर्मनी के व्यापार और उद्योगों के विकास का मार्ग खुल गया। 1850 से 1860 के मध्य जर्मनी का तीव्र गति से औद्योगीकरण हुआ। इसी काल में प्रशा के रूर (Ruhr) क्षेत्र में कोयला एवं लोहा मिल जाने से कोयले और लोहे के उत्पादन में वृद्धि हुई। सूती कपड़े के उद्योग में मशीनों का प्रयोग बढ़ने से अनेक स्थानों पर सूती कपड़े की मिलें स्थापित हुई। रेलों का विस्तार हुआ तथा 1850 तक जर्मनी के सभी प्रमुख नगरों को रेलों द्वारा जोड़ दिया गया। इस प्रकार 1860 तक जर्मनी की गणना यूरोप के औद्योगिक राज्यों में की जाने लगी। इस औद्योगीकरण प्रगति के फलस्वरूप प्रशा की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ हो गयी। इस औद्योगीकरण का जर्मनी के राजनैतिक जीवन पर भी प्रभाव पड़ा। औद्योगिक विकास के फलस्वरूप जर्मनी में एक नये पूंजीपति वर्ग का प्रादुर्भाव हुआ। धीरे-धीरे इस वर्ग ने जर्मनी की राजनीति में सक्रिय भाग लेना आरम्भ कर दिया और यह वर्ग वहुत ही प्रभावशाली हो गया। जर्मनी के पूंजीपति अपने आर्थिक हितों के कारण संयुक्त जर्मनी के समर्थक थे। पूंजीपति वर्ग का सहयोग प्राप्त हो जाने से एकीकरण आन्दोलन को नयी गति प्राप्त हो गयी।

इस प्रकार 1860 तक आते-आते जर्मनी को स्वाधीन कर उसे एकता के सूत्र में वांधने के प्रयासों ने जोर पकड़ लिया था। किन्तु प्रशा के सम्राट एवं मन्त्री इतने साहसी नहीं थे कि आस्ट्रिया के विरुद्ध खड़े हो सकें। 1861 में परिस्थितियाँ वदल गई। फ्रेडरिक विलियम चतुर्थ की मृत्यु हो गयी तथा विलियम प्रथम प्रशा का सम्राट वना। विलियम प्रथम का दृढ़ विश्वास था कि जर्मनी का एकीकरण प्रशा के नेतृत्व में ही हो सकता है। 1862 में उसने विस्मार्क को अपना चान्सलर वनाया। इसके वाद एकीकरण की प्रगति में तीव्रता आ गई।

विलियम प्रथम (1861 से 1888)—प्रशा का नया सम्राट विलियम प्रथम सैनिक गुणों से युक्त एवं व्यवहार कुशल व्यक्ति था। यद्यपि उसका मस्तिष्क उतना विचारवान एवं तीक्ष्ण नहीं था जितना कि उसके भाई फ्रेडरिक विलियम चतुर्थ का, किन्तु वह दृढ़ निश्चयी था तथा उसके विचार अत्यन्त ही सुलझे हुए थे। उसका दृढ़ विश्वास था कि प्रशा का भविष्य उसकी सैन्य शक्ति पर निर्भर करता है। उसका यह भी विश्वास था कि प्रशा के राजतन्त्र के माध्यम से ही जर्मनी का एकीकरण सम्पन्न हो सकता है। उसको प्रशा पर गर्व था तथा वह प्रशा का अपमान सहन करने को तैयार नहीं था। यद्यपि वह उदारवाद का प्रबल शत्रु था, किन्तु प्रशा के हितों में वह उदारवादियों से भी सहयोग करने को तैयार था। उसकी नीति में दृढ़ता एवं लचीलेपन का अनुपम सम्मिश्रण था और इसी कारण वह एक सफल राजनेता वन सका था। वॉन सिवेल के मतानुसार, "उसमें ऐसी अनोखी प्रतिभा थी जिससे वह तुरन्त समझ लेता था कि कौनसी चीज प्राप्य है और कौनसी अप्राप्य ? उसके विचार एवं लक्ष्य स्पष्ट थे। उसमें योग्य व्यक्तियों को परखने की भी शक्ति

थी।" अतः वह इस बात को अच्छी तरह जानता था कि जब तक आस्ट्रिया को जर्मन संघ से नहीं निकाल दिया जाता, तब तक जर्मनी का एकीकरण सम्भव नहीं हो सकता। आस्ट्रिया को जर्मनी से निकालने का एक मात्र तरीका यह था कि उसे युद्ध में पराजित किया जाय और उसे युद्ध में पराजित करने के लिए प्रशा की सैनिक शक्ति प्रबल होनी चाहिए। इसलिए उसने प्रशा की सैनिक शक्ति को बढ़ाने का निश्चय किया।

अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए विलियम प्रथम ने प्रशा की सैन्य शक्ति को दुगुना करने की योजना बनायी। उसकी योजना थी कि शांतिकाल में प्रशा की सेना दो लाख तथा युद्ध काल में लगभग $4\frac{1}{2}$ लाख होनी चाहिए। उसका युद्ध मन्त्री वॉन रून (Von Roon) तथा प्रधान सेनापति वॉन माल्टके (Von Moltakle) था। इन दोनों ने विलियम प्रथम की इस योजना का समर्थन किया। इस योजना को कार्यान्वित करने के लिए अतिरिक्त धनराशि की आवश्यकता थी और उसके लिए प्रशा के निम्न सदन (Landtog) की स्वीकृति की आश्यकता थी। निम्न सदन में उदारवादियों का बहुमत था जो इन सैनिक सुधारों को प्रतिक्रियावादी समझता था। संसद ने इस योजना में कुछ संशोधन करने का प्रस्ताव रखा, किन्तु युद्ध मन्त्री वॉन रून किसी प्रकार का संशोधन स्वीकार करने को तैयार नहीं था अतः संसद ने बजट पास करने से इन्कार कर दिया। इस पर सम्राट अत्यन्त ही क्रोधित हुआ, क्योंकि उसके मतानुसार संसद को सेना सम्बन्धी विषयों का विरोध करने का कोई अधिकार नहीं था। इसके विपरीत संसद सदस्यों का विचार था कि सैनिक व्यय सम्बन्धी मामले पर उन्हें अपना दृष्टिकोण रखने का पूरा अधिकार है। इस प्रकार सम्राट और संसद के बीच झगड़ा उत्पन्न हो गया। मार्च 1862 में सम्राट ने संसद को भंग कर नये चुनाव कराये। किन्तु नये चुनावों में पुनः उदारवादियों को बहुमत प्राप्त हो गया। इसलिए सैनिक व्यय की स्वीकृति नहीं मिल सकी। सम्राट द्वारा नियुक्त अनुदार मन्त्रिमण्डल ने भी त्याग पत्र दे दिया। स्थिति अत्यन्त ही विकट हो गयी। अब ऐसा कोई व्यक्ति नहीं था, जो संसद की स्वीकृति के बिना शासन चला सके। ऐसी गम्भीर स्थिति में सम्राट स्वयं राजसिंहासन त्यागने का विचार करने लगा। ऐसे समय में वॉन रून ने सम्राट को सलाह दी कि वह बिस्मार्क को अपना चान्सलर (प्रधानमन्त्री) नियुक्त करे जो इस समय फ्रांस में प्रशा का राजदूत था। इस समय बिस्मार्क ही ऐसा व्यक्ति था जो संसद के विरुद्ध सम्राट का साथ देने की योग्यता रखता था। अतः सम्राट ने तार देकर बिस्मार्क को बर्लिन बुलाया। 23 सितम्बर 1862 को सम्राट ने उसे अपना चान्सलर नियुक्त किया। इस अवसर पर बिस्मार्क ने सम्राट को आश्वासन दिया कि "श्रीमान के साथ नष्ट हो जाऊंगा, किन्तु संसद के साथ संघर्ष में आपका साथ नहीं छोड़ूंगा।"

बिस्मार्क का उदय—बिस्मार्क का जन्म 1 अप्रैल 1815 को ब्रेडनबर्ग के एक कुलीन परिवार में हुआ था। उसकी शिक्षा गाटिंजन और बर्लिन विश्वविद्यालयों

में हुई। किन्तु उसने कोई विशेष प्रतिभा का परिचय नहीं दिया। शिक्षा समाप्त कर उसने प्रशा के न्याय विभाग में नौकरी कर ली। किन्तु 1839 में उसने इस नौकरी से त्याग पत्र दे दिया तथा अगले 8 वर्ष उसने अपनी जागीर के प्रबन्ध करने तथा उसमें सुधार करने में व्यतीत किये। इस काल में उसने कृषि सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त किया, विदेशों की यात्रा की तथा राजनीति में भाग लेना आरम्भ किया। इसी समय उसका सम्बन्ध ट्रीगलाफ (Trieglaff) नामक एक समिति से हो गया जिसका सम्बन्ध बर्लिन के अनुदार दल से था। इसी समय से वह रूढ़िवादी तथा निरंकुश शासन का समर्थक बन गया। 1847 में उसने राजनीति में प्रवेश किया। उस वर्ष सम्राट ने उदारवादियों की मांग पर 'संयुक्त प्रशियन डायट' आमन्त्रित की तथा बिस्मार्क उसका सदस्य निर्वाचित हुआ था। इस सभा में उसने उदारवाद और क्रान्ति का विरोध किया था। 1847 से 1851 तक प्रशा के इतिहास में अनेक महत्वपूर्ण घटनाएं घटित हुई। इसी अवधि में 1848 की क्रान्ति हुई, प्रशा के शासक ने फ्रेंकफर्ट संसद द्वारा प्रस्तावित राजमुकुट को अस्वीकार किया तथा जर्मन संघ बनाने का प्रयत्न किया जो असफल रहा। इसी काल में वह राष्ट्रीय असेम्बली एवं संविधान सभा का सदस्य रहा। यहाँ उसने उदारवादियों एवं क्रान्तिकारियों की कटु आलोचना की तथा निरंकुश राजतन्त्र का समर्थन किया। इसी समय उसने कहा था, "मैं इस युग की उस भावुकता से डरता हूं, जिसमें प्रत्येक दीवाने विद्रोही को सच्चा देशभक्त समझा जाता है।" इस प्रकार 1851 तक बिस्मार्क राजतन्त्र के कट्टर समर्थक और लोकतन्त्र के शत्रु के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका था।

1851 में प्रशा के सम्राट ने बिस्मार्क को फ्रेंकफर्ट की सभा में प्रशा का प्रतिनिधि नियुक्त किया तथा वहाँ वह आठ वर्ष तक प्रशा का प्रतिनिधित्व करता रहा। इन आठ वर्षों में उसने कूटनीतिक शिक्षा ग्रहण की, उसके व्यक्तित्व का विकास हुआ तथा उसकी महत्वाकांक्षाएं जागृत हुई। यहाँ पर उसके आस्ट्रिया सम्बन्धी विचारों में परिवर्तन आया। पहले वह आस्ट्रिया से सहयोग कर क्रान्ति का दमन करने का समर्थक रहा था। किन्तु अब उसे ज्ञात हुआ कि आस्ट्रिया व प्रशा का सहयोग सम्भव नहीं है, क्योंकि आस्ट्रिया, प्रशा को बराबरी का स्थान देने को तैयार नहीं था। आस्ट्रिया जर्मनी की छोटी-छोटी रियासतों को अपने पक्ष में रखकर जर्मन संघ पर अपना प्रभाव बनाये रखना चाहता था। वह समझ गया कि छोटी-छोटी रियासतें, प्रशा को, जर्मन एकीकरण नीति के कारण सन्देह की दृष्टि से देखती हैं तथा इसीलिए उनका झुकाव आस्ट्रिया की तरफ अधिक है, क्योंकि आस्ट्रिया यथास्थिति बनाये रखने के पक्ष में था। अतः वह इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि आस्ट्रिया को पराजित किये बिना प्रशा के नेतृत्व में जर्मनी का एकीकरण संभव नहीं है। उसने फ्रेंकफर्ट की सभा में आस्ट्रिया के प्रभाव को रोकने का हर संभव प्रयत्न किया। सम्राट विलियम आस्ट्रिया को नाराज करना नहीं चाहता था, अतः

1859 में उसने बिस्मार्क को फ्रेंकफर्ट की सभा से वापिस बुला लिया। जनवरी 1859 में बिस्मार्क को राजदूत बनाकर रूस भेजा गया। रूस में उसने जार अलेक्जेण्डर द्वितीय से व्यक्तिगत मित्रता स्थापित की। क्रीमिया युद्ध के समय प्रशा में रूस के विरुद्ध युद्ध घोषित करने की मांग की गई, किन्तु बिस्मार्क के कारण प्रशा तटस्थ रहा। इस कारण भविष्य में प्रशा और रूस की मित्रता का मार्ग प्रशस्त हो गया। मार्च 1862 में बिस्मार्क को फ्रांस का राजदूत बनाया गया। फ्रांस में उसे नेपोलियन तृतीय एवं उसके मन्त्रियों से मिलने एवं उनकी नीतियों को समझने का अवसर मिला। इसी बीच वह लन्दन भी गया जहाँ वह पामर्स्टन तथा डिजरैली से मिला। सितम्बर 1862 में प्रशा के सम्राट ने उसे तार भेजकर बर्लिन बुला लिया तथा 22 सितम्बर 1862 को उसे प्रशा का चान्सलर नियुक्त किया।

बिस्मार्क की रक्त और लोह की नीति—बिस्मार्क प्रशा की सैन्य शक्ति के आधार पर, प्रशा के नेतृत्व में जर्मनी का एकीकरण करना चाहता था। चान्सलर बनने के बाद उसका एक मात्र लक्ष्य आस्ट्रिया को पराजित कर जर्मनी के एकीकरण के मार्ग को निष्कंटक बनाना था। इसलिए उसने प्रशा की सैन्य शक्ति के पुनर्गठन का कार्य जारी रखा। इस कार्य के सम्बन्ध में सम्राट विलियम प्रथम और संसद के मध्य झगड़ा छिड़ चुका था। बिस्मार्क ने संसद के विरोधी पक्ष से समझौता करने का प्रयास किया, किन्तु संसद अपनी जिद पर अड़ी हुई थी। बजट सम्बन्धी एक समिति में, 1862 में ही उसने उदारवादियों के सिद्धान्तों का खण्डन करते हुए अपनी नीति को इस प्रकार स्पष्ट किया, "जर्मनी का ध्यान प्रशा के उदारवाद की ओर नहीं है वरन् उसकी शक्ति पर लगा हुआ है। प्रशा को अनुकूल अवसर आने तक अपनी शक्ति को सुरक्षित रखना है। हम पहले कई बार इस प्रकार के अवसर खो चुके हैं। हमारे समय की महान समस्याएं भाषणों और बहुमत के प्रस्तावों द्वारा नहीं बल्कि 'रक्त और लोह' के द्वारा ही सुलझ सकती है; 1848-49 में हमने यही सबसे बड़ी भूल की थी।" बिस्मार्क के इस नीति सम्बन्धी स्पष्टीकरण का अर्थ यह था कि प्रशा के भविष्य का निर्णय सेना द्वारा होगा, न कि संसद द्वारा। जर्मन साम्राज्य भाषणों अथवा बहुमत के प्रस्तावों पर खड़ा नहीं हो सकता बल्कि तलवार का प्रयोग कर रक्त की सुदृढ़ नींव पर ही खड़ा किया जा सकता है। उस समय उदारवादियों ने तथा उसके विरोधियों ने बिस्मार्क की इस नीति की कटु आलोचना की। किन्तु बिस्मार्क जानता था कि यदि उसकी जर्मनी एकीकरण की नीति सफल हो गई तो जर्मन की जनता उसकी अनुदारता को भूल जायेगी।

अब बिस्मार्क और संसद के बीच भी लड़ाई ठन गई। निम्न सदन से बजट स्वीकार कराना बहुत ही कठिन कार्य था। बिस्मार्क ने इसका रास्ता भी खोज लिया। उसने निम्न सदन की अवहेलना करके उच्च सदन से बजट पास करवा लिया तथा सैनिक सुधारों के लिए आवश्यक धन राशि प्राप्त कर ली। 1862 से 1866

तक वह इसी प्रकार उच्च सदन में बजट पास कराता रहा। यद्यपि बिस्मार्क का यह कार्य असंवैधानिक था, किन्तु राष्ट्रहितों को सर्वोपरि मानते हुए उसने विधान की कोई परवाह नहीं की। वस्तुतः वह 'विधान' से घृणा करता था तथा उसे 'कागज का टुकड़ा' कहा करता था। इसी काल में बिस्मार्क का अधिनायकत्व स्थापित हो गया था तथा संसदीय व्यवस्था नाम मात्र की बनी रही। अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक था कि राज्य के समस्त साधनों पर उसका अधिकार हो, वह अपनी इच्छानुसार राज्य की नीति निर्धारण कर सके तथा उसे कार्यान्वित करने के लिए कोई भी उपाय काम में ला सके। संसदीय व्यवस्था के अन्तर्गत वह इस प्रकार के कार्य नहीं कर सकता था। इसलिये 1863 में उसने कहा था, "प्रशा के राजतन्त्र का लक्ष्य अभी प्राप्त नहीं हुआ है, इसलिये वह अभी संसदीय शासन पद्धति के अन्तर्गत एक खिलौना बनने के लिए तैयार नहीं है।" बिस्मार्क अपने आपको केवल सम्राट के प्रति उत्तरदायी समझता था। यद्यपि स्वयं सम्राट भी कभी-कभी उसकी स्वेच्छाचारी नीति से घबरा उठता था, किन्तु बिस्मार्क सम्राट को समझा कर अपनी कार्यवाही पर स्वीकृति प्राप्त कर लेता था।

यद्यपि बिस्मार्क को अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये अनेक आन्तरिक एवं बाह्य कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, किन्तु वह बड़े ही धर्य, साहस और लगन के साथ आगे बढ़ता गया। उसने प्रशा की सेना का पुनर्गठन कर उसे यूरोप में सर्वश्रेष्ठ बना लिया। तत्पश्चात् उसने अपनी कूटनीति द्वारा आस्ट्रिया को निर्बल बनाने का प्रयास किया। उस समय की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति बिस्मार्क के अनुकूल थी। क्रीमिया युद्ध के कारण आस्ट्रिया व फ्रांस के सम्बन्ध बिगड़ चुके थे। 1859 में इटली के युद्ध के कारण आस्ट्रिया व फ्रांस के भी सम्बन्ध बिगड़ चुके थे। इंगलैण्ड इस समय यूरोपीय मामलों में अधिक रुचि नहीं ले रहा था। अतः आस्ट्रिया को किसी भी महान् शक्ति से सहायता नहीं मिल सकती थी।

बिस्मार्क द्वारा विदेशों से मित्रता—बिस्मार्क ने प्रशा को सर्वश्रेष्ठ सैनिक शक्ति में परिवर्तित कर अब जर्मनी के एकीकरण की तैयारी आरम्भ कर दी। वह चाहता था कि ऐसी एक अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति उत्पन्न कर दी जाय कि यदि प्रशा का आस्ट्रिया के साथ युद्ध हो तो कोई भी राष्ट्र आस्ट्रिया की सहायता न करे। इसके लिये उसने रूस, फ्रांस और इटली को अपना मित्र बना लिया।

बिस्मार्क, रूस के जार अलेक्जेण्डर द्वितीय का व्यक्तिगत मित्र था और जनवरी 1863 में पोलैण्ड के विद्रोह के समय यह मित्रता और भी अधिक दृढ़ हो गयी। 1863 में पोलैण्ड ने रूस के विरुद्ध विद्रोह कर दिया तब इंगलैण्ड, फ्रांस और आस्ट्रिया ने पोलैण्ड के प्रति सहानुभूति प्रकट की। प्रशा की जनता की भी सहानुभूति पोलैण्ड के साथ थी किन्तु बिस्मार्क ने प्रशा के हितों को ध्यान में रखते हुए, अन्य यूरोपीय राज्यों का साथ नहीं दिया तथा रूस की पोलैण्ड सम्बन्धी नीति का समर्थन

किया। उसने अपने एक विशेष राजदूत को रूस भेजा जिससे रूस के साथ सन्धि कर ली। इस सन्धि के अनुसार दोनों ने अपनी अपनी सीमाओं पर सैनिक तैनात कर दिये ताकि अपने राज्य से कोई पोल विद्रोहियों की सहायता के लिये न जा सके। प्रशा ने यह आश्वासन दिया कि किसी पोल विद्रोही को अपने राज्य में शरण नहीं देगा। यद्यपि प्रशा की संसद ने इस नीति की कटु आलोचना की, किन्तु विस्मार्क ने यह स्पष्ट कह दिया कि युद्ध एवं संधि करने का परमाधिकार (Prerogative) सम्राट का है तथा संसद उसमें हस्तक्षेप नहीं कर सकती। वस्तुत: प्रशा के सहयोग से रूस को बड़ा ही वल मिला। यदि विस्मार्क अन्य यूरोपीय राज्यों का साथ देता तो रूस को अनिवार्य रूप से झुकना पड़ता। इस घटना से रूस, प्रशा का मित्र बन गया तथा रूस व प्रशा की मैत्री विस्मार्क की नीति का आधार स्तम्भ थी।

इसी बीच विस्मार्क ने फ्रांस से भी अच्छे सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया। फ्रांस का सम्राट नेपोलियन तृतीय भी आन्तरिक रूप से आस्ट्रिया का विरोधी था। विस्मार्क ने इसका लाभ उठाते हुए नेपोलियन से कहा कि यदि फ्रांस, आस्ट्रिया व प्रशा के युद्ध में तटस्थ रहता है तो उसे राइन तट की ओर या वेल्जियम की ओर कुछ प्रदेश दे दिये जायेंगे। यद्यपि विस्मार्क ने इन प्रदेशों के लिये कोई निश्चित या स्पष्ट आश्वासन नहीं दिया था, फिर भी बिस्मार्क की बातों से नेपोलियन को यह आभास हुआ था। नेपोलियन तृतीय ने प्रशा और आस्ट्रिया के युद्ध में तटस्थ रहने का आश्वासन दिया। फ्रांस से अच्छे सम्बन्ध बनाये रखने के लिए उसने फ्रांस के साथ एक व्यापारिक सन्धि भी कर ली।

विस्मार्क ने इटली से भी मित्रता की। इटली भी आस्ट्रिया को निकालना चाहता था, क्योंकि आस्ट्रिया का प्रभाव वने रहने तक इटली का एकीकरण सम्भव नहीं था। अत: विस्मार्क के प्रयत्नों से 8 अप्रैल 1866 को इटली और प्रशा के बीच एक सन्धि हुई, जिसके अनुसार आस्ट्रिया व प्रशा के युद्ध में इटली प्रशा को सैनिक सहायता देगा तथा इसके वदले में इटली को वेनेशिया दिलवा दिया जायेगा। इस प्रकार विस्मार्क ने इटली को भी अपना मित्र वना लिया।

विस्मार्क ने अन्तर्राष्ट्रीय कूटनीति को अपने पक्ष में करने के वाद अब जर्मनी के एकीकरण की दिशा में आगे कदम वढ़ाया। जर्मनी का एकीकरण विस्मार्क की 'रक्त और लोह' नीति का परिणाम था। इस नीति का अनुसरण उसने तीनों युद्धों में किया। प्रथम 1864 डेनमार्क के साथ, दूसरा 1866 में आस्ट्रिया के साथ तथा तीसरा 1870 में फ्रांस के साथ। इन तीनों युद्धों के द्वारा उसने जर्मनी का एकीकरण पूर्ण किया।

श्लेसविग-हालस्टीन समस्या और डेनमार्क से युद्ध—श्लेसविग तथा हालस्टीन की दोनों डचियों का प्रश्न यूरोपीय राज्यों के लिए एक समस्या बना हुआ था। ये दोनों डचियां डेनमार्क और जर्मनी के बीच में स्थित थीं। श्लेसविग में आधे लोग जर्मन जाति के थे तथा आधे लोग डेन जाति के थे। हालस्टीन की लगभग सम्पूर्ण

जनता जर्मन जाति की थी। 1460 ई. से इन डचियों पर डेनमार्क के शासक का अधिकार था, किन्तु ये दोनों डेनमार्क से पृथक थी तथा उनका शासन प्रबन्ध भी डेनमार्क से पृथक था। डेनमार्क की जनता और शासक इन डचियों को डेनमार्क के राज्य में मिलाना चाहते थे, किन्तु इन डचियों की जर्मन जनता चाहती थी कि इन डचियों को जर्मन संघ में सम्मिलित कर लिया जाय। 1848 में फ्रेडरिक सप्तम् डेनमार्क का शासक बना तथा उसने इन दोनों डचियों के लिये एकीकृत संविधान प्रचलित कर दिया। इस समय श्लेसविग और हालस्टीन ने डेनमार्क के विरुद्ध विद्रोह कर दिया और ड्यूक आफ आगस्टनबर्ग के नेतृत्व में अस्थायी सरकार स्थापित कर ली। जर्मनी की सभी रियासतों ने तथा प्रशा ने इन डचियों का समर्थन किया तथा प्रशा ने इन डचियों की सहायतार्थ सेना भी भेज दी। किन्तु रूस, आस्ट्रिया व ब्रिटेन ने डेनमार्क का समर्थन किया जिसके फलस्वरूप प्रशा को युद्ध बन्द कर देना पड़ा।

1852 में लन्दन में इन डचियों के विषय में एक समझौता किया गया जिसके अनुसार इन डचियों पर डेनमार्क के शासक का अधिकार मान लिया गया, किन्तु इन डचियों को डेनमार्क के राज्य में न मिलने का आदेश दिया गया। 1863 में पोलैण्ड के विद्रोह का लाभ उठाकर फ्रेडरिक सप्तम ने मार्च 1863 में पुनः एक नया संविधान लागू कर दिया, जिससे श्लेसविग को डेनमार्क राज्य का एक अंग मान लिया गया तथा हालस्टीन को भी कुछ सीमा तक डेनमार्क से सम्बद्ध कर दिया गया। इस प्रकार डेनमार्क के शासक ने लंदन समझौते का उल्लंघन किया तथा श्लेसविग और हालस्टीन के परम्परागत सम्बन्धों को भी विच्छेद कर दिया। नवम्बर 1863 में डेनमार्क के शासक फ्रेडरिक सप्तम की मृत्यु हो गयी तथा क्रिश्चियन नवम् गद्दी पर बैठा। उसने भी डेनमार्क की जनता को संतुष्ट करने के लिये 1863 के विधान की पुष्टि कर दी। डेनमार्क के शासक ने इसकी विधिवत् घोषणा भी कर दी। इस घोषणा से जर्मनी के सभी भागों में डेनमार्क के विरुद्ध आक्रोश उत्पन्न हो गया। जर्मन डायट ने डेनमार्क से मांग की कि वह 1863 के विधान को वापस ले ले, किन्तु डेनमार्क ने इसे अस्वीकार कर दिया। इस पर जर्मन डायट ने श्लेसविग में सेना भेजने का निर्णय लिया। किन्तु बिस्मार्क वहां सेना भेजने के लिए तैयार नहीं हुआ। वह तो एक तीर से दो शिकार करना चाहता था। इन दोनों डचियों की भौगोलिक स्थिति, सामरिक दृष्टि से अत्यन्त ही महत्वपूर्ण थी। अतः बिस्मार्क उस पर अधिकार करना चाहता था। किन्तु वह जानता था कि यदि प्रशा अकेला इन डचियों को प्राप्त करने का प्रयत्न करेगा तो उसे अन्य यूरोपीय राज्यों के विरोध का सामना करना पड़ेगा। अतः उसने आस्ट्रिया के सहयोग से श्लेसविग और हालस्टीन के मामले में हस्तक्षेप करने का निर्णय लिया। 16 जनवरी 1864 को आस्ट्रिया व प्रशा के बीच एक समझौता हो गया, जिसके अनुसार यह निश्चय किया गया कि जर्मन डायट अथवा जर्मन राज्यों में हस्तक्षेप के बिना इन

डचियों की समस्या का हल किया जाय। इस सन्धि के पश्चात् आस्ट्रिया व प्रशा दोनों ने मिलकर डेनमार्क के शासक को अल्टीमेटम दिया कि वह 48 घन्टे के अन्दर नवम्बर 1863 के संविधान को समाप्त कर दे। डेनमार्क को इंगलैण्ड से सहायता मिलने की आशा थी, अतः उसने अल्टीमेटम की कोई परवाह नहीं की। वस्तुतः यह विस्मार्क की चाल थी जिससे युद्ध अनिवार्य हो गया।

अब आस्ट्रिया व प्रशा की सम्मिलित सेनाओं ने फरवरी 1864 में डेनमार्क पर हमला कर दिया। 15 दिन के अन्दर डेनमार्क को श्लेसविग खाली करना पड़ा। तत्पश्चात् दोनों राज्यों की सेनाएं डेनमार्क के राज्य में प्रविष्ट हुई। डेनमार्क को किसी ओर से सहायता नहीं मिल सकी, अतः उसने विवश होकर 1 अगस्त 1864 को समझौता कर लिया तथा युद्ध बन्द हो गया। 27 अक्टूबर 1864 को आस्ट्रिया, प्रशा और डेनमार्क के बीच वियना की सन्धि हो गयी, जिसके अनुसार डेनमार्क ने श्लेसविग, हालस्टीन तथा लायनबुर्ग पर से अपना अधिकार त्याग दिया तथा उन्हें आट्रिस्या व प्रशा को हस्तांतरित कर दिया।

इन डचियों को प्राप्त करने के बाद उसके भविष्य के बारे में आस्ट्रिया व प्रशा के बीच मतभेद उत्पन्न हो गये। आस्ट्रिया चाहता था कि दोनों डचियों पर ड्यूक आफ आगस्टनबर्ग का अधिकार रहे, किन्तु बिस्मार्क इन दोनों पर प्रशा का अधिकार चाहता था। अन्त में, आस्ट्रिया के सम्राट फ्रांसिस जोसेफ तथा प्रशा के सम्राट विलियम प्रथम ने 14 अगस्त 1865 को गेस्टाइन नामक स्थान पर एक समझौता कर लिया। इस सन्धि के अनुसार—

(1) श्लेसविग पर प्रशा का अधिकार मान लिया गया।

(2) हालस्टीन पर आस्ट्रिया का अधिकार मान लिया गया।

(3) कील के बन्दरगाह पर आस्ट्रिया व प्रशा का संयुक्त अधिकार रहा, किन्तु प्रशा को वहां किलेबन्दी करने तथा समुद्र तक नहर खोदने का भी अधिकार दिया गया।

(4) लायनबुर्ग को प्रशा ने खरीद लिया तथा उसकी कीमत आस्ट्रिया को अदा कर दी।

लाज तथा हार्न के शब्दों में—"गेस्टाइन का समझौता बिस्मार्क की महान् कूटनीतिक विजय थी। यह समझौता अप्लमुत्स में प्रशा का जो अपमान हुआ था, उसका प्रतिशोध था।" इस समझौते द्वारा स्पष्ट रूप से प्रशा को लाभ हुआ तथा आस्ट्रिया के हितों को आघात पहुंचा। इस समझौते के बाद बिस्मार्क ने कहा था, "मुझे विश्वास नहीं था कि ऐसा भी कोई आस्ट्रियन राजनीतिज्ञ होगा जो इस प्रकार के समझौते पर हस्ताक्षर कर सके।" बिस्मार्क यह भी जानता था कि यह समझौता अस्थायी है। जैसा कि उसने कहा था कि इस समझौते द्वारा हमने दरार को कागज से ढक दिया है। बिस्मार्क जानता था कि आस्ट्रिया से युद्ध अनिवार्य है। अतः

गेस्टाइन के समझौते के वाद उसने फ्रांस का समर्थन प्राप्त करने का प्रयत्न आरम्भ कर दिया ।

आस्ट्रिया से युद्ध—गेस्टाइन के समझौते के वाद आस्ट्रिया व प्रशा के सम्बन्ध बिगड़ते गये । बिस्मार्क तो आस्ट्रिया से युद्ध करने का अवसर ढूंढ रहा था, क्योंकि जर्मनी के एकीकरण के लिए आस्ट्रिया से युद्ध अनिवार्य था । अतः बिस्मार्क ने श्लेसविग और हालस्टीन की समस्या को इस तरह उलझा दिया कि युद्ध अनिवार्य हो गया । गेस्टाइन के समझौते के वाद बिस्मार्क ने आस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध की तैयारी आरम्भ कर दी । बिस्मार्क चाहता था कि प्रशा और आस्ट्रिया के युद्ध में आस्ट्रिया को किसी यूरोपीय शक्ति की सहायता न मिल सके । अतः बिस्मार्क ने अपनी कूटनीति द्वारा आस्ट्रिया को यूरोपीय रंगमंच पर मित्रविहिन करने का प्रयत्न आरम्भ कर दिया । बिस्मार्क ने पोलैण्ड में रूस का समर्थन करके रूस को अपना मित्र वना लिया था । वैसे स्वयं बिस्मार्क रूस के जार का व्यक्तिगत मित्र था । अतः रूस की ओर से वह निश्चित था । इंगलैण्ड की ओर से हस्तक्षेप की सम्भावना नहीं थी, क्योंकि वह अपनी आंतरिक समस्याओं में उलझा हुआ था । बिस्मार्क, फ्रांस से भी तटस्थता का आश्वासन प्राप्त कर चुका था । बियारित्ज नामक स्थान पर बिस्मार्क और नेपोलियन तृतीय की भेंट हुई थी, जिसमें नेपोलियन ने स्वीकार कर लिया था कि यदि आस्ट्रिया व प्रशा का युद्ध होगा तो फ्रांस तटस्थ रहेगा । इसके वदले में बिस्मार्क ने फ्रांस को बेल्जियम अथवा राइन के क्षेत्र में कुछ प्रदेश दिलाने की इच्छा व्यक्त की, किन्तु निश्चित आश्वासन नहीं दिया था । फ्रांस से तटस्थता का आश्वासन प्राप्त कर बिस्मार्क ने इटली से मित्रता करने का प्रयत्न किया । सर्वप्रथम उसने नवम्बर 1865 में जालवरिन से इटली का व्यापारिक समझौता कराया । इसी समय इटली ने आस्ट्रिया के समक्ष प्रस्ताव रखा कि वह रूमानिया पर अधिकार करने तथा उसके वदले में वेनेशिया इटली को दे दे । किन्तु आस्ट्रिया ने रूस के डर के कारण इस प्रस्ताव को अस्वीकृत कर दिया । अतः इटली, बिस्मार्क से सन्धि करने को तैयार हो गया । 8 अप्रेल 1866 को इटली व प्रशा के बीच सन्धि हो गई जिसके अनुसार यदि तीन माह के अन्दर प्रशा व आस्ट्रिया का युद्ध होता है तो इटली, प्रशा का साथ देगा । इसके वदले में बिस्मार्क, इटली को वेनेशिया दिलवा देगा ।

इस प्रकार सारी तैयारियाँ करने के वाद बिस्मार्क, आस्ट्रिया से युद्ध करने का वहाना ढूंढने लगा । इधर आस्ट्रिया कील में ड्यूक ऑफ आगस्टनवर्ग के पक्ष में चल रहे आन्दोलन को प्रोत्साहित कर रहा था । अतः प्रशा ने आस्ट्रिया को एक कड़ा विरोध पत्र भेजा कि वह इस आन्दोलन को तुरन्त समाप्त कर दे । इस पर आस्ट्रिया ने लिखा कि 1864 की प्रशा व आस्ट्रिया की सन्धि को समाप्त समझा जाय । अतः दोनों के बीच वही स्थिति पैदा हो गयी जो डेन्मार्क युद्ध से पूर्व थी । आस्ट्रिया ने इटली को प्रशा की मित्रता से अलग करने का असफल प्रयास किया । दोनों ओर

युद्ध की तैयारियाँ आरम्भ हो गयी तथा दोनों के बीच युद्ध निकट आता जा रहा था। यद्यपि प्रशा का सम्पूर्ण राजपरिवार आस्ट्रिया से युद्ध करने के पक्ष में नहीं था, फिर भी बिस्मार्क ने किसी तरह सम्राट को युद्ध के लिए तैयार कर लिया। इसके पश्चात नेपोलियन ने श्लेसविग और हालस्टीन की समस्या सुलझाने के लिए यूरोपीय राज्यों का एक सम्मेलन आमन्त्रित करने का प्रस्ताव किया। रूस, ब्रिटेन इसके लिए तैयार हो गए तथा बिस्मार्क ने भी अपनी स्वीकृति दे दी। किन्तु आस्ट्रिया ने सम्मेलन में सम्मिलित होने के लिए ऐसी शर्त रखी कि जिसको स्वीकार करने पर सम्मेलन आमन्त्रित करने का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता था। विवश होकर नेपोलियन ने सम्मेलन आमन्त्रित करने का प्रस्ताव वापिस ले लिया। इस प्रकार युद्ध रोकने के सभी प्रयत्न विफल हो गये। बिस्मार्क खुशी से चिल्ला उठा, "अब तो युद्ध होगा, राजा चिरंजीव हो।"

1 जून 1866 को आस्ट्रिया ने जर्मनी की संघीय डायट को आमन्त्रित किया तथा श्लेसविग और हालस्टीन पर निर्णय करने को कहा। आस्ट्रिया के संकेत पर संघीय डायट ने निर्णय दिया कि श्लेसविग, हालस्टीन और लायनबुर्ग ड्यूक ऑफ आगस्टनबर्ग को दे दिये जाय। बिस्मार्क ने इसका विरोध करते हुए कहा कि आस्ट्रिया द्वारा गेस्टाइन का समझौता भंग किये जाने से प्रशा भी इससे मुक्त है। तत्पश्चात 6 जून को प्रशा ने हालस्टीन पर आक्रमण कर दिया। आस्ट्रिया की सेना बिना संघर्ष के पीछे हट गयी। 11 जून को आस्ट्रिया ने संघीय डायट में प्रस्ताव रखा कि संघ, प्रशा के विरुद्ध सेना भेजने का आदेश दे, क्योंकि प्रशा ने एक-दूसरे सदस्य (आस्ट्रिया) के विरुद्ध सेना भेजी है। बिस्मार्क के विरोध के बावजूद 14 जून को आस्ट्रिया का प्रस्ताव पास हो गया। बिस्मार्क ने संघीय डायट के इस निर्णय को अवैध ठहराते हुए जर्मन परिसंघ को समाप्त करने की मांग की और आस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध की घोषणा भी कर दी।

आस्ट्रिया व प्रशा का युद्ध केवल सात सप्ताह तक चला। इसलिए इस युद्ध को 'सात सप्ताह का युद्ध' कहते हैं। यह युद्ध 16 जून 1866 को प्रारम्भ हुआ तथा 3 जुलाई को समाप्त हो गया। 3 जुलाई को युद्ध का प्रमुख और निर्णायक संघर्ष सेडोवा (Sadowa) नामक स्थान पर हुआ। इस दिन दोपहर के दो बजे तक आस्ट्रिया की जीत निश्चित दिखाई दे रही थी। किन्तु इसी समय प्रशा का राजकुमार अपनी सेना लेकर आ धमका तथा आस्ट्रिया की सेना पर टूट पड़ा। $3\frac{1}{2}$ बजे युद्ध का फैसला हो गया। प्रशा की शानदार विजय हुई तथा आस्ट्रिया की निर्णायक पराजय। इस युद्ध में जर्मनी के बवेरिया, व्युटेम्बर्ग, सैक्सनी, हनोवर, हेसकैसल, बेडन आदि राज्यों ने आस्ट्रिया का साथ दिया था, किन्तु तीन दिन के भीतर ही प्रशा की फौजों ने इन सभी राज्यों पर अपना अधिकार कर लिया।

युद्ध में पराजित आस्ट्रिया की हालत इतनी खराब हो गई कि प्रशा का

सम्राट तो आस्ट्रिया की राजधानी वियना पर अधिकार करना चाहता था। किन्तु विस्मार्क ने कहा, "युद्ध का निर्णय हो गया, अब हमें पुनः आस्ट्रिया की पुरानी मित्रता प्राप्त करनी है।" विस्मार्क जानता था कि आस्ट्रिया के साथ उदारतापूर्ण संधि करना ही प्रशा के हित में था। विस्मार्क का लक्ष्य आस्ट्रिया को जर्मनी से निकालना था न कि आस्ट्रिया को जीतना। बिस्मार्क यह भी जानता था कि यदि वियना पर अधिकार कर लिया गया तो इससे आस्ट्रिया का घोर अपमान होगा, जिसे वह कभी नहीं भूल सकेगा। इसके अतिरिक्त अन्य यूरोपीय राज्यों के भी हस्तक्षेप की सम्भावना थी, जिससे जर्मनी के एकीकरण का मार्ग अवरुद्ध हो जायेगा।

प्राग की संधि—सेडोवा की पराजय के बाद आस्ट्रिया के सम्राट के एक प्रस्ताव पर नेपोलियन ने प्रशा और आस्ट्रिया के बीच मध्यस्थता करने का निश्चय किया। 7 जुलाई को नेपोलियन ने अपना राजदूत विस्मार्क के पास भेजा तथा उससे यह जानना चाहा कि, फ्रांस की मध्यस्थता स्वीकार करने को तैयार है या नहीं? नेपोलियन की इस कार्यवाही से विस्मार्क क्रुद्ध हो उठा, किन्तु उस समय वह नेपोलियन की इच्छा की पूर्णरूप से उपेक्षा करने की स्थिति में नहीं था। इसीलिए बिस्मार्क ने कहा कि आस्ट्रिया के साथ की जाने वाली संधि की शर्तों पर फ्रांस के सम्राट की स्वीकृति ले ली जायेगी। तत्पश्चात 26 जुलाई को नेपोलियन द्वारा स्वीकृत शर्तों के आधार पर प्रशा व आस्ट्रिया के बीच निकोलसबर्ग की अस्थाई संधि हो गयी, किन्तु इससे फ्रांस को कुछ नहीं मिला। नेपोलियन ने विस्मार्क से राइन अथवा बेल्जियम के क्षेत्र में कुछ प्रदेशों की मांग की, किन्तु विस्मार्क ने कुछ भी देने से इन्कार कर दिया। वस्तुतः बिस्मार्क के कूटनीतिक चातुर्य के समक्ष नेपोलियन पूर्णतः पराजित हुआ।

निकोल्सनवर्ग की अस्थायी संधि के बाद 23 अगस्त 1866 को प्राग की स्थायी सन्धि हुई। इस सन्धि में निम्नलिखित बातें तय की गई :—

(1) वियना संघ द्वारा निर्मित जर्मन परिसंघ समाप्त कर दिया गया तथा आस्ट्रिया ने जर्मनी से अलग रहना स्वीकार कर लिया। आस्ट्रिया को 30 लाख पौंड युद्ध का हर्जाना देना पड़ा।

(2) श्लेसविग, हालस्टीन, हेसकेसल, नासा (Nassau), हेस डार्मस्टेट (Hess Darmstedt) का उत्तरा भाग तथा फ्रेंकफर्ट नगर प्रशा में सम्मिलित कर लिये गये।

(3) आस्ट्रिया ने स्वीकार कर लिया कि मेन नदी के उत्तर में स्थित राज्यों का एक नया संघ उत्तरी जर्मनी परिसंघ, प्रशा के नेतृत्व में बनाया जा सकता है। इस नये संघ में आस्ट्रिया का कोई स्थान नहीं था।

(4) मेन नदी के दक्षिण में स्थित राज्यों बुर्टमबर्ग, बवेरिया और बादेन की स्वतन्त्रता को मान्यता प्रदान की गई तथा उन्हें अपनी इच्छानुसार अलग संघ बनाने का भी अधिकार प्रदान किया गया।

(5) वेनेशिया इटली को दे दिया गया।

प्राग की संधि द्वारा जर्मनी में आस्ट्रिया का नेतृत्व सदा के लिए समाप्त हो गया तथा प्रशा के नेतृत्व में उत्तरी जर्मन संघ की स्थापना हुई। अब प्रशा के नेतृत्व में जर्मनी के एकीकरण का मार्ग स्पष्ट हो गया। इस सन्धि के पश्चात प्रशा को यूरोप का शक्तिशाली राष्ट्र तथा बिस्मार्क को यूरोप का सबसे शक्तिशाली राजनीतिज्ञ समझा जाने लगा। इससे आस्ट्रिया की प्रतिष्ठा को गहरा आघात लगा तथा उसके साम्राज्य पर भी उसका प्रभाव पड़ा। आस्ट्रियन साम्राज्य से वेनेशिया निकल जाने से तथा जर्मनी से निष्कासित हो जाने से हंगरी के मेग्यार जाति के लोगों का प्रभाव बढ़ने लगा। इसीलिए 1867 में आस्ट्रिया के सम्राट को हंगरी के साथ समझौता करना पड़ा, जिसके परिणामस्वरूप आस्ट्रिया हंगरी के द्वैध राजतन्त्र की स्थापना हुई। बिस्मार्क की इस सफलता के कारण अब उनके विरोधियों का प्रभाव कम हो गया तथा बिस्मार्क की स्थिति सुदृढ़ हो गयी। उसकी नीति के कारण प्रशा का गौरव बढ़ा। जुलाई 1866 को प्रशा की डायट के चुनाव में उन लोगों को बहुत कम मत प्राप्त हुए, जिन्होंने युद्ध का विरोध किया था। अतः बिस्मार्क के समर्थकों का बहुमत हो गया।

उत्तरी जर्मन संघ का निर्माण—बिस्मार्क के समक्ष जर्मन राज्यों को संगठित करने का प्रश्न प्रमुख था। वह सभी जर्मन राज्यों को मिलाकर जर्मन राज्य संघ का निर्माण करना चाहता था। किन्तु इस समय बिस्मार्क के लिए ऐसा करना सम्भव नहीं था, क्योंकि दक्षिणी जर्मनी के राज्यों की इच्छा के विरुद्ध उन्हें संघ में सम्मिलित नहीं किया जा सकता था। अतः बिस्मार्क ने शेष 21 राज्यों को मिलाकर प्रशा के नेतृत्व में उत्तरी जर्मन संघ का निर्माण किया। 1867 में इस नये जर्मन राज्य संघ का संविधान बनाया गया। संघ के लिए दो संसदीय संसद की व्यवस्था की गई। प्रथम लोकसभा या राइचस्टेग (Reichstag) थी, जिसके सदस्य वयस्क मताधिकार द्वारा निर्वाचित होते थे तथा दूसरी संघीय परिषद या बुन्देस्राट (Bundesrath) थी, जिसमें विभिन्न राज्यों के प्रतिनिधि सम्मिलित होते थे। संघीय परिषद में 43 सदस्य थे, जिसमें 17 सदस्य प्रशा के थे। प्रशा का शासक वंशानुगत क्रम से संघ का अध्यक्ष नियुक्त हुआ तथा यह भी निश्चित किया गया कि संघ का प्रथम चान्सलर, प्रशा का प्रधानमन्त्री बिस्मार्क ही हो। चान्सलर संघीय परिषद का अध्यक्ष होता था किन्तु संसद के प्रति उत्तरदायी नहीं था। चान्सलर अपनी सहायता

के लिए मन्त्रियों की नियुक्ति करता था। संघ के अन्तर्गत सभी राज्यों को अपने आन्तरिक शासन का अधिकार पूर्ववत् बना रहा।

इस राज्य संघ के निर्माण से उत्तरी जर्मनी का एकीकरण पूर्ण हो गया। किन्तु जर्मनी का एकीकरण पूर्ण होने के लिये दक्षिणी जर्मनी के राज्यों का इस नये संघ में सम्मिलित होना आवश्यक था। अतः इस कार्य को पूरा करने के लिये विस्मार्क को युद्ध लड़ना पड़ा।

फ्रांस और प्रशा का युद्ध—प्राग की सन्धि के पश्चात् फ्रांस और प्रशा के सम्बन्ध निरन्तर बिगड़ते गये। आस्ट्रिया और प्रशा के युद्ध में नेपोलियन तृतीय इसलिये तटस्थ रहा था कि प्रथम तो उसे वेल्जियम अथवा राइन के क्षेत्र में कुछ प्रदेश प्राप्त होने की आशा थी, दूसरा उसको विश्वास था कि आस्ट्रिया व प्रशा का संघर्ष इतना लम्बा होगा कि दोनों पक्ष उसे पंच बनाने को तैयार हो जायेंगे। किन्तु विस्मार्क ने तो तुरन्त ही आस्ट्रिया को पराजित कर दिया तथा आस्ट्रिया के साथ उदार शर्तों पर सन्धि करली, जिससे नेपोलियन का हवाई महल ध्वस्त हो गया। विस्मार्क इस तथ्य से भी भलीभांति परिचित था कि जब तक फ्रांस की शक्ति बनी रहेगी तब तक दक्षिणी जर्मनी राज्यों को जर्मन संघ में सम्मिलित करना सम्भव नहीं होगा। विस्मार्क ने अपने संस्मरणों में लिखा था कि, "जर्मनी का एकीकरण पूर्ण करने के लिये फ्रांस और प्रशा का युद्ध अनिवार्य रूप से होगा।"

वस्तुतः सेडोवा के युद्ध के वाद फ्रांस और प्रशा के सम्बन्धों में निरन्तर तनाव आता गया। फ्रांस और प्रशा के बिगड़ते हुए सम्बन्धों के निम्नलिखित कारण थे—

(1) प्रशा की विजय से फ्रांस के राजनीतिज्ञों को ऐसा प्रतीत हुआ कि इससे न केवल फ्रांस की अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा को आघात पहुँचा है वरन् अब फ्रांस की सुरक्षा को भी खतरा उत्पन्न हो गया है। इसलिए फ्रांस के राजनीतिज्ञ सेडोवा का प्रतिशोध लेने की मांग कर रहे थे। यद्यपि प्रशा की विजय से वह इतना क्षुब्ध था मानों फ्रांस की ही पराजय हुई है। फ्रांस की यह नीति थी कि जर्मनी सदैव निर्बल रहे तथा जर्मन राज्यों में परस्पर झगड़ा चलता रहे ताकि जर्मनी का संगठन न हो सके। किन्तु आस्ट्रिया की पराजय के बाद प्रशा यूरोप की महान शक्ति बन गया था। इस स्थिति को फ्रांस सहन करने को तैयार नहीं था।

(2) वियारित्ज में नेपोलियन और विस्मार्क की भेंट के वाद नेपोलियन को आशा थी कि फ्रांस की सीमा का विस्तार राइन नदी तक हो जायगा। युद्ध की समाप्ति के वाद नेपोलियन ने इसके लिए प्रयत्न भी किया किन्तु बिस्मार्क ने अपने दिये हुए आश्वासन की उपेक्षा की, जिससे नेपोलियन क्रुद्ध हो उठा। उसकी समस्त आशाओं पर पानी फिर गया तथा उसकी प्रतिष्ठा गिर गई। ऐसी स्थिति में वह प्रशा को सबक सिखाना चाहता था।

(3) अमेरिका में चल रहे गृह युद्ध का लाभ उठाकर फ्रांस ने मेक्सिको में हस्तक्षेप किया। वह मेक्सिको में प्रजातन्त्र को समाप्त कर वहाँ अपना राज्य स्थापित करना चाहता था, किन्तु वह असफल रहा। मेक्सिको के शासक मेक्समिलियन की हत्या का उत्तरदायित्व भी फ्रांस पर डाला गया। इससे फ्रांस की अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा गिर गई। अपनी खोयी हुई प्रतिष्ठा को पुनः प्राप्त करने के लिये नेपोलियन के समक्ष युद्ध के अतिरिक्त कोई मार्ग ही नहीं था।

(4) नेपोलियन तृतीय ने 1867 में हालैण्ड के शासक से लक्सेमवर्ग खरीदना चाहा। हालैण्ड के शासक इसके लिये तैयार भी हो गया। किन्तु विस्मार्क के हस्तक्षेप के कारण नेपोलियन को लक्सेमवर्ग भी प्राप्त नहीं हो सका। विस्मार्क की इस कुटिल नीति के कारण फ्रांस की जनता क्षुब्ध हो उठी थी।

(5) क्रीमिया युद्ध के कारण रूस व प्रशा की शत्रुता थी। पोलैण्ड के विद्रोह में प्रशा ने रूस की नीति का समर्थन कर रूस की मित्रता प्राप्त कर ली। इससे फ्रांस में खलवली मच गई। इधर विस्मार्क ने अपनी कुशल कूटनीति द्वारा इटली को भी अपने पक्ष में मिला लिया। उसने इटली को वेनेशिया दिलवा कर फ्रांस को पृथक कर दिया। इससे फ्रांस और भी अधिक घवड़ा उठा। अव युद्ध के अतिरिक्त उसके समक्ष कोई अन्य उपाय नहीं रह गया था।

(6) इधर जर्मनी के लोग भी फ्रांस से नाराज थे। जर्मन लोगों का कहना था कि वास्तव में फ्रांस ही जर्मनी के एकीकरण में बाधक है। इधर फ्रांस को भी जर्मन के विरुद्ध शिकायतें थी। दोनों राज्यों के समाचार पत्रों ने एक दूसरे के प्रति जहर उगलना शुरू कर दिया, जिससे दोनों राज्यों में उत्तेजना बढ़ने लगी तथा युद्ध की आशंका को वल प्राप्त हुआ।

(7) दक्षिण जर्मनी के चार राज्य ववेरिया, वुटंमवर्ग, वेडेन तथा हेस्से अव भी जर्मन संघ की उपेक्षा कर रहे थे। इन राज्यों पर फ्रांस का प्रभाव था। नेपोलियन इन राज्यों को जर्मन संघ के विरुद्ध भड़का रहा था। विस्मार्क इन राज्यों को जर्मन संघ में मिलाकर जर्मनी का एकीकरण पूर्ण करना चाहता था। अतः विस्मार्क इन राज्यों को जीतने के लिये कटिवद्ध था।

(8) फ्रांस और प्रशा के तनावपूर्ण सम्वन्धों के मध्य स्पेन के उत्तराधिकार का प्रश्न उत्पन्न हुआ, जिससे दोनों राज्यों के सम्वन्ध अत्यधिक विगड़ गये और युद्ध आरम्भ हो गया। 1868 में स्पेन में क्रान्ति हुई तथा महारानी इजावेला द्वितीय को स्पेन से निर्वासित कर दिया गया। इसके पश्चात् स्पेन के सिंहासन के लिये प्रशा के शासक के सम्वन्धी राजकुमार लियोपॉल्ड को शासक वनने के लिये आमन्त्रित किया गया। आरम्भ में तो लियोपॉल्ड कुछ हिचकिचाया, किन्तु वाद में अपनी स्वीकृति दे दी। लियोपॉल्ड का नाम प्रस्तावित कराने में विस्मार्क का हाथ था, क्योंकि वह

1869 से 1870 तक अपने विश्वासपात्र आदमियों को स्पेन भेजता रहा, जिन्होंने लियोपॉल्ड को शासक बनाने का प्रयत्न किया। अन्त में विस्मार्क एवं कुछ अन्य व्यक्तियों के प्रभाव के कारण ही लियोपॉल्ड ने स्पेन का सिंहासन स्वीकार किया था। 3 जुलाई 1870 को इसकी सूचना पेरिस पहुँची तो फ्रांस में बड़ी उत्तेजना उत्पन्न हो गयी। नेपोलियन एवं फ्रांस के राजनीतिज्ञों की यह निश्चित धारणा थी कि लियोपॉल्ड को स्पेन की गद्दी प्राप्त हो जाने से प्रशा की शक्ति में और अधिक वृद्धि हो जायेगी जिससे फ्रांस की सुरक्षा ही खतरे में पड़ जायेगी। फ्रांस के मन्त्रियों ने स्पष्ट घोषणा की कि फ्रांस, लियोपॉल्ड को कभी भी स्पेन का शासक स्वीकार नहीं करेगा। फ्रांस के विदेश मन्त्री ग्रेमा (Duke de Gramont) ने अपना एक दूत प्रशा के सम्राट विलियम के पास भेजा, जिसने फ्रांस की सरकार का विरोध किया। सम्राट ने लियोपॉल्ड को सलाह दी कि वह स्पेन के सिंहासन के लिये अपनी स्वीकृति वापस ले ले और इसके साथ ही लियोपॉल्ड के पिता ने घोषणा की कि उसका पुत्र स्पेन के सिंहासन का प्रत्याशी नहीं रहा है। 12 जुलाई 1870 को लियोपॉल्ड ने अपनी स्वीकृति वापस ले ली। ऐसी स्थिति में समस्या यहीं समाप्त हो जानी चाहिये थी किन्तु नेपोलियन, उसका विदेश मन्त्री ग्रेमा तथा कुछ अन्य व्यक्ति इससे सन्तुष्ट नहीं हुए क्योंकि वे तो फ्रांस की कूटनीतिक पराजयों के अपमान का बदला लेना चाहते थे। अतः फ्रांस की ओर से वेनेदिती (Bendetti) को सम्राट विलियम के पास भेजकर मांग की गई कि भविष्य में भी लियोपॉल्ड या उसके राजवंश के किसी व्यक्ति को स्पेन के उत्तराधिकार के लिये वह समर्थन नहीं देगा। वेनेदिती ने सम्राट से एम्स नगर में बातचीत की। सम्राट ने कहा कि लियोपॉल्ड ने स्पेन के सिंहासन के लिये अपनी स्वीकृति वापिस ले ली, इसके आगे वह कुछ नहीं कहना चाहता। इस बातचीत का विवरण तार द्वारा बिस्मार्क के पास भेज गया। 13 जुलाई 1870 की रात को यह तार विस्मार्क को मिला। विस्मार्क बहुत ही निराश था, क्योंकि स्पेन पर नियन्त्रण प्राप्त करने की उसकी योजना सम्राट विलियम की कायरता के कारण असफल हो गयी थी। यदि सम्राट विलियम लियोपॉल्ड को अपनी स्वीकृति वापिस लेने के लिये न कहता तो लियोपॉल्ड स्पेन का शासक होता और स्पेन पर प्रशा का नियन्त्रण होता। इसका परिणाम यह होता कि फ्रांस से युद्ध छिड़ जाता, जिसके लिये तो बिस्मार्क पहले से ही तैयार था। अतः सम्राट विलियम की कार्यवाही से वह निराशा था। किन्तु एम्स के तार को पढ़ कर उसने एक युक्ति खोज निकाली। विस्मार्क ने उस तार की 'संक्षिप्त इबारत' प्रकाशित करवा दी (14 जुलाई 1870)। तार के प्रकाशित होने का वही प्रभाव पड़ा जिसकी कि विस्मार्क को आशा थी। तार के संक्षिप्त रूप को पढ़कर फ्रांसीसियों ने सोचा कि सम्राट विलियम ने फ्रांसीसी राजदूत वेनेदिती का अपमान किया है तथा दूसरी ओर जर्मनी के लोगों ने सोचा कि फ्रांसीसी राजदूत ने जर्मन सम्राट का अपमान किया

है। पेरिस में प्रशा के विरुद्ध युद्ध की माँग की जाने लगी। यद्यपि ब्रिटेन ने दोनों राज्यों में समझौता कराने का प्रयत्न किया, किन्तु वह असफल रहा। 15 जुलाई 1870 को फ्रांस ने प्रशा के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करदी।

फ्रांस अभी युद्ध के लिये पूर्ण तैयार नहीं था जबकि प्रशा की सेना पूर्ण रूप से तैयार थी। फ्रांस को विश्वास था कि दक्षिणी जर्मनी के राज्य प्रशा का साथ नहीं देंगे, किन्तु दक्षिणी जर्मनी के राज्यों ने उत्साह से प्रशा का साथ दिया। इससे जर्मनी की सैनिक शक्ति में वृद्धि हो गयी। फ्रांस ने आस्ट्रिया व इटली से सहायता प्राप्त करने का प्रयत्न किया किन्तु असफल रहा। उसे अकेले ही संगठित जर्मनी का सामना करना पड़ा। जर्मनी की सेनाओं ने तीन ओर से फ्रांस पर आक्रमण किया। अगस्त 1870 के आरम्भ में वीसेनवर्ग में फ्रांसीसी सेना पराजित हुई तथा जर्मनी की सेना एल्सेस प्रान्त तक पहुँच गई। तत्पश्चात् ग्रेवलार के युद्ध में पुनः फ्रांसीसी सेना पराजित हुई (18 अगस्त 1870) तथा प्रशा की सेना आगे बढ़ती गई। सितम्बर 1870 को फ्रांसीसी सेना सीडान में घिर गयी तथा नेपोलियन को अपने 83 हजार सैनिकों सहित आत्मसमर्पण करना पड़ा। इसकी सूचना प्राप्त होते ही पेरिस में क्रान्ति हो गयी तथा 4 सितम्बर 1870 को फ्रांस में गणतन्त्र की स्थापना की गई तथा एक "राष्ट्रीय सुरक्षा सरकार" संगठित की गई, जिसने युद्ध जारी रखने का निश्चय किया। जर्मन सेनाएं आगे बढ़ती गई और पेरिस तक पहुँच गई। अतः फ्रांस ने युद्ध स्थगित कर संधि की बातचीत आरम्भ कर दी।

जर्मन साम्राज्य की स्थापना—बिस्मार्क तो संधि होने से पूर्व ही एकीकरण के महायज्ञ को पूर्ण करना चाहता था। दक्षिण जर्मनी के चारों राज्य पहले ही जर्मन संघ में सम्मिलित हो चुके थे। अतः बिस्मार्क ने 18 जनवरी 1871 को वर्साय के प्रसिद्ध शीशमहल में एक भव्य दरबार का आयोजन किया, जिसमें जर्मन राज्यों के सभी सम्राट तथा उनके सेनानायक उपस्थित हुए। इस भव्य दरबार में एक सुसज्जित ऊँचे मंच पर प्रशा के सम्राट विलियम को बैठाया गया। दरबार में सम्राट विलियम को एकीकृत जर्मन साम्राज्य का सम्राट घोषित किया गया तथा बिस्मार्क ने "जर्मनी के सम्राट" विलियम प्रथम का राज्याभिषेक किया। इस प्रकार जर्मनी का राष्ट्रीय एकीकरण पूर्ण हुआ।

फ्रेंकफर्ट की सन्धि—28 जनवरी 1871 को पेरिस के पतन के साथ ही फ्रांस-प्रशा युद्ध समाप्त हो गया। 26 फरवरी को फ्रांस और प्रशा के बीच शान्ति सन्धि की प्रारम्भिक शर्तों पर हस्ताक्षर हुए तथा 10 मई 1871 को फ्रेंकफर्ट में दोनों देशों के प्रतिनिधियों ने सन्धि पर हस्ताक्षर किये। इस सन्धि के अनुसार—

(1) फ्रांस को मेज (Metz) तथा स्ट्रासवर्ग सहित एल्सस एवं लॉरेन का भाग जर्मनी को देना पड़ा। केवल बेलफोर्ट का किला फ्रांस के अधिकार में रहा।

(2) फ्रांस को युद्ध के हर्जाने के रूप में 70 करोड़ पौण्ड जर्मनी को देना स्वीकार करना पड़ा। पूरी रकम का भुगतान होने तक जर्मनी की सेना का फ्रांस में रहना भी निश्चित किया गया।

अप्रेल 1871 में जर्मनी के नये विधान की घोषणा की गई, जिसके अनुसार दक्षिण जर्मनी के समस्त राज्य जर्मन संघ में सम्मिलित कर लिये गये। इस प्रकार प्रशा के नेतृत्व में जर्मनी का राजनैतिक एकीकरण पूर्ण हुआ। बिस्मार्क को इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये तीन युद्ध लड़ने पड़े। जर्मनी के इस एकीकरण के लिये क्रान्तिकारियों के अतिरिक्त लेखकों, विचारकों, इतिहासकारों एवं दार्शनिकों ने अपनी सामर्थ्य के अनुसार कार्य किया। इस एकीकरण से बिस्मार्क न केवल जर्मनी का, वरन् यूरोप का सर्वाधिक प्रभावशाली राजनीतिज्ञ बन गया। अतः यूरोप के इतिहास में 1871 से 1890 तक के काल को "बिस्मार्क युग" की संज्ञा दी जाती है।

फ्रांस और प्रशा के युद्ध का परिणाम—फ्रांस और प्रशा के युद्ध का मुख्य परिणाम तो जर्मनी का एकीकरण है। दक्षिण जर्मनी के राज्यों का जर्मन संघ में विलय हो जाने से एक शक्तिशाली जर्मन साम्राज्य की स्थापना हुई। एलसस और लॉरेन लोहे व कोयले के प्रमुख केन्द्र थे जो अब जर्मनी के अधिकार में आ गए। फ्रांस में द्वितीय साम्राज्य का अन्त हो गया तथा तृतीय गणतन्त्र की स्थापना हुई। फ्रैंकफर्ट की सन्धि फ्रांस के लिये अत्यन्त ही अपमानजनक थी, फलतः वहाँ गृह युद्ध आरम्भ हो गया। इसके अतिरिक्त फ्रांस-प्रशा युद्ध के कारण इटली का एकीकरण पूरा हो गया। नेपोलियन के पतन के कुछ ही दिनों पहले रोम से फ्रांसीसी सेना बुला ली गई। इटली ने इस स्थिति का लाभ उठाकर रोम पर अधिकार कर लिया तथा उसे इटली की राजधानी घोषित कर दिया। इस युद्ध से लाभ उठाकर रूस ने काले सागर पर अधिकार कर लिया।

इटली एवं जर्मनी के एकीकरण का तुलनात्मक अध्ययन—इटली और जर्मनी का एकीकरण कई अर्थों में समान था। दोनों देश राजनैतिक दृष्टि से बिखरे हुए थे। प्रत्येक देश में छोटे-छोटे अनेक राज्य थे, जो पारस्परिक संघर्षों के कारण निर्बल होते जा रहे थे। किन्तु फ्रांस की क्रांति और नेपोलियन की विजयों के कारण दोनों देशों में राष्ट्रीयता की भावना का संचार हुआ था। वियना कांग्रेस के निर्णयों से दोनों देशों की स्थिति समान हो गयी, क्योंकि दोनों को अनेक छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित कर प्राचीन राजतन्त्र स्थापित कर दिया गया तथा दोनों राष्ट्रों पर आस्ट्रिया की प्रधानता स्थापित हो गयी थी। दोनों देशों की राष्ट्रीय भावनाओं को मेटरनिख ने कुचलने का प्रयास किया था। अतः दोनों ही देशों को समान रूप से आस्ट्रिया की प्रतिक्रियावादी नीति का सामना करना पड़ा था। इस प्रतिक्रियावादी

नीति के कारण न केवल राष्ट्रीय भावनाओं का दमन हुआ, वरन् उनका विकास भी कई वर्षों तक रुका रहा। किन्तु दोनों देशों के लेखकों, कवियों, विचारकों एवं इतिहासकारों ने राष्ट्रीय भावना को जागृत करने में अभूतपूर्व योगदान दिया। फलस्वरूप 1848 तक आते-आते दोनों ही देशों में राष्ट्रीयता की भावना अत्यधिक प्रबल हो गयी थी।

जहाँ दोनों देशों के एकीकरण में समानता दिखाई देती है वहाँ दोनों देशों की समस्याओं में भी हमें अन्तर दिखाई पड़ता है। इटली के एकीकरण की समस्या, जर्मनी से कुछ अधिक जटिल थी। जहां इटली में अलग-अलग राज्य थे वहां जर्मनी में एक शिथिल संघ का निर्माण पहले ही हो चुका था। इटली में आस्ट्रिया का शासन भी था तथा पोप का भी अलग राज्य था। जर्मनी में जालवरिन नामक चुंगियों का संघ तथा व्यवस्थापिका सभा की व्यवस्थाएं मौजूद थी, जबकि इटली में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं थी। पोप का राज्य इटली के एकीकरण में बड़ा बाधक था, क्योंकि पोप कैथोलिकों का धर्मगुरु था तथा उसके राज्य में हस्तक्षेप करना खतरे से खाली नहीं था। जर्मनी में ऐसी कोई समस्या नहीं थी। जर्मनी में प्रशा एक शक्तिशाली राज्य था तथा इस महान् शक्ति में छोटी-छोटी शक्तियों का समावेश किया गया था। किन्तु इटली के राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व सार्डीनिया-पीडमान्ट जैसी छोटी शक्ति ने किया था। अतः इटली के अन्य राज्यों द्वारा सार्डीनिया-पीडमान्ट जैसी छोटी शक्ति का नेतृत्व स्वीकार करना अत्यन्त ही कठिन था। ऐसी छोटी शक्ति द्वारा राष्ट्रीय आन्दोलन का सफलता पूर्वक संचालन करना, उसकी उच्च कोटि की प्रवृत्ति को प्रमाणित करता है। इसके विपरीत जालवरिन की स्थापना के कारण जर्मनी की रियासतें प्रशा को अपना नेता मान चुकी थीं। इटली में गुप्त समितियों ने कई वर्षों तक राष्ट्रीय आन्दोलन में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया था, जबकि जर्मनी में गुप्त समितियों का स्थान नगण्य था। इटली का एकीकरण किसी विदेशी शक्ति की सहायता के बिना सम्भव नहीं था, क्योंकि इटली में ऐसा कोई शक्तिशाली राज्य नहीं था जो आस्ट्रिया को इटली से बाहर निकाल सके। इटली ने फ्रांस की सहायता से ही आस्ट्रिया को पराजित किया था तथा प्रशा के कारण उसे वेनेशिया प्राप्त हुआ था। किन्तु जर्मनी का एकीकरण बिना किसी विदेशी सहायता के, केवल प्रशा की शक्ति द्वारा ही सम्पन्न हुआ था।

इसके अतिरिक्त बिस्मार्क तथा कैवूर दोनों महान् निर्माता थे, जिनके विचारों और कार्यक्रमों में अन्तर था। बिस्मार्क राजसत्ता तथा निरंकुश शासन प्रणाली का कट्टर समर्थक था जबकि कैवूर वैध राजसत्तावादी शासन प्रणाली तथा प्रजातन्त्रीय व्यवस्था का समर्थक था। कैवूर इंगलैण्ड की शासन प्रणाली को अपना आदर्श मानकर उसी से प्रेरणा प्राप्त करता था, जबकि बिस्मार्क इंगलैण्ड की शासन प्रणाली को दुर्भाग्यपूर्ण मानता था। कैवूर ने विदेशी सहायता, सहयोग और सहानुभूति इटली के एकीकरण का आधार माना, जबकि बिस्मार्क ने प्रशा की सैनिक

शक्ति को प्रधानता देते हुए अपनी कूटनीति का प्रयोग कर लक्ष्य की प्राप्ति की। कँवूर ने इटली के एकीकरण में जन सहयोग को बड़ा महत्व दिया, जबकि बिस्मार्क ने जन सहयोग को कोई महत्व न देकर उग्र नीति में विश्वास किया। इटली का एकीकरण मेजिनी, गेरीबाल्डी, कँवूर तथा विक्टर इमेनुअल के सम्मिलित प्रयासों तथा देशभक्त जनता के उत्साह एवं बलिदान से सम्पन्न हुआ था। किन्तु जर्मनी का एकीकरण केवल बिस्मार्क की "रक्त एवं लोह" की नीति द्वारा सम्पन्न हुआ। हार्नेशा ने ठीक ही लिखा है कि जो दार्शनिक वाद-विवादों एवं संसदीय मतों से प्राप्त नहीं किया जा सका, उसे बिस्मार्क ने अपनी "रक्त और लोह" की नीति द्वारा सम्पादित कर दिया।

अध्याय 8

पूर्वी समस्या (1)

(1815-1878)

(EASTERN QUESTION)

पूर्वी समस्या का अभिप्राय उन अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं से है, जो यूरोप में टर्की साम्राज्य के पतन से उत्पन्न हुई थी। टर्की साम्राज्य ही एक मात्र ऐसा पूर्वी क्षेत्र था, जिसका यूरोप के राजनीतिज्ञों का सामूहिक रूप से सम्बन्ध था। 17 वीं शताब्दी के अन्त तक तुर्क साम्राज्य अथवा ओटोमन साम्राज्य अत्यन्त ही शक्तिशाली था। रूसी साम्राज्य के बाद, यूरोप में क्षेत्रफल की दृष्टि से यह सबसे बड़ा साम्राज्य था तथा बोस्निया, सर्बिया, यूनान, रूमानिया, बल्गेरिया आदि इस विशाल साम्राज्य के अन्तर्गत थे। इस साम्राज्य के निवासी धर्म, भाषा और रक्त आदि में तुर्कों से सर्वथा भिन्न थे और तुर्कों ने इन लोगों को अपने साम्राज्य में आत्मसात् करने का कोई प्रयत्न नहीं किया था, बल्कि वे उनका शोषण करते थे। 18 वीं शताब्दी के आरम्भ में इस साम्राज्य की निर्बलता के लक्षण प्रकट होने लगे थे। 1815 के बाद तो साम्राज्य की शक्ति तेजी से क्षीण होती गई, क्योंकि साम्राज्य के अधीन कुछ देश तुर्क साम्राज्य के शोषण से मुक्त होकर, स्वाधीन होने के लिये उतावले हो उठे थे। ऐसी परिस्थितियों में तुर्क साम्राज्य का विघटन अवश्यंभावी हो गया था। अतः अब समस्या यह उत्पन्न हुई कि तुर्क साम्राज्य का अन्त होने पर उसका स्थान कौन ग्रहण करे? साम्राज्य के स्थान पर अन्य छोटे-छोटे राज्य हों अथवा तुर्क साम्राज्य को विघटित होने से रोका जाय? इन्हीं समस्याओं को पूर्वी समस्या कहा गया है।

पूर्वी समस्या भिन्न-भिन्न समयों में भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकट हुई थी। प्रारम्भ में आस्ट्रिया ने तुर्की की पतनोन्मुख समस्या से लाभ उठाना चाहा और तत्पश्चात् यह समस्या रूस और तुर्की की प्रतिद्वन्द्विता के रूप में प्रकट हुई। 1820 के बाद जब यह बात स्पष्ट हो गयी कि रूस, तुर्की साम्राज्य की निर्बलता का लाभ उठाकर उसे हड़प जाना चाहता है। तब इंगलैण्ड, आस्ट्रिया और फ्रांस भी अपने हितों के लिये इस समस्या में कूद पड़े। इस प्रकार यह एक अन्तर्राष्ट्रीय समस्या बन गई। यद्यपि भिन्न भिन्न समयों में इस समस्या का रूप भी भिन्न रहा तथापि इस समस्या की कुछ विशेषताएं हमें स्थायी रूप से दृष्टिगत होती हैं। रूस सदैव ही तुर्क साम्राज्य पर

अपना अधिकार करने को उत्सुक रहा जबकि इंगलैण्ड सदैव टर्की का साथ देता रहा। बाल्कन प्रायःद्वीप में रहने वाली जातियाँ तुर्कों के अत्याचारों से क्षुब्ध थी। अतः जब तुर्की सामाज्य की शक्ति क्षीण होने लगी तो इन शोषित जातियों में तुर्की साम्राज्य की अधीनता से मुक्त होने की लालसा जागृत हुई और वे अपनी स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिये संघर्ष करने लगी। पूर्वी समस्या के प्रति यूरोपीय महाशक्तियों के भिन्न-भिन्न हित तथा उनकी भिन्न-भिन्न नीति रही। अतः सर्वप्रथम इन यूरोपीय महाशक्तियों के हितों और उनकी नीति का उल्लेख करना समीचीन होगा।

रूस—पूर्वी समस्या में रूस की विशेष रुचि थी। रूस चाहता था कि तुर्की साम्राज्य को विघटित कर दिया जाय तथा कॉंसटेन्टिनोपोल पर रूस का अधिकार हो जाय। यदि कॉंसटेन्टिनोपोल पर अधिकार करना सम्भव न हो तो तुर्की के सुल्तान पर रूस का प्रभुत्व स्थापित किया जाय ताकि सुल्तान रूस के आदेशानुसार कार्य करे। रूस की पूर्वी समस्या के प्रति इस नीति का कारण यह था कि रूस के पास ऐसा कोई समुद्री तट नहीं था जो व्यापार के लिए हर समय खुला रहे। इसके अतिरिक्त रूस अपनी जलशक्ति में भी वृद्धि करना चाहता था। इसलिये रूस काले सागर तथा उसके जल डमरुओं पर अपना नियन्त्रण स्थापित करने को उत्सुक था। रूस ग्रीक चर्च का मानने वाला था, किन्तु इस चर्च के पवित्र स्थान तुर्की के अधिकार में थे, अतः रूस इन पवित्र स्थानों को अपने संरक्षण में लेना चाहता था। बाल्कन प्रायद्वीप में स्लाव जाति के लोग अधिक थे तथा बाल्कन रूस का पड़ौसी भी था, इसलिये धर्म, भाषा और जाति की एकरूपता के कारण दोनों के निवासियों का सांस्कृतिक सम्बन्ध भी था। इन सभी कारणों से रूस ने तुर्की सुल्तान से, उसकी निर्बलता का लाभ उठाकर, अनेक सुविधाएँ प्राप्त कर ली थी। 18 वीं शताब्दी के अन्त तक रूस तुर्की साम्राज्य की ओर निरन्तर बढ़ता रहा तथा साम्राज्य को कमजोर बनाता गया।

इंगलैण्ड—पूर्वी समस्या में इंगलैण्ड की रुचि के मुख्य रूप से दो कारण थे। प्रथम तो इंगलैण्ड को इस बात का भय था कि तुर्क साम्राज्य पर रूस का प्रभुत्व हो जाने से उसके एशियायी साम्राज्य की सुरक्षा को खतरा उत्पन्न हो जायेगा। इस भय के कारण इंगलैण्ड के विदेश मन्त्री पामर्सटन ने तुर्क साम्राज्य को बनाये रखने की नीति अपनाई थी। इंगलैण्ड चाहता था कि तुर्की सुल्तान अपने साम्राज्य को यथावत् बनाये रखे तथा रूस को आगे बढ़ने से रोके। दूसरा, इंगलैण्ड अपने व्यापारिक हितों के कारण भी तुर्की साम्राज्य को बनाये रखना चाहता था, क्योंकि तुर्की साम्राज्य पर किसी अन्य शक्ति का प्रभुत्व हो जाने से इंगलैण्ड को अपने व्यापारिक हितों को हानि पहुँचने की भी आशंका थी। इसलिये जब भी पूर्वी समस्या को लेकर युद्ध आरम्भ हुआ, इङ्गलैण्ड ने तुर्की साम्राज्य को बनाये रखने की नीति का पालन किया।

आस्ट्रिया—पूर्वी समस्या में सबसे अधिक रुचि रखने वाला देश आस्ट्रिया था। आस्ट्रिया का देश चारों ओर से भूमि से घिरा हुआ था। इसलिए आस्ट्रिया को समुद्र तक पहुँचने का मार्ग चाहिये था जो उसे तुर्की साम्राज्य में से ही प्राप्त हो सकता था। इससे न केवल उसे व्यापारिक लाभ था बल्कि उसे अपने साम्राज्य के विस्तार में भी आसानी हो जाती। आस्ट्रिया का व्यापार मुख्य रूप से डेन्यूब नदी से होता था। रूस काले सागर तक अपना प्रभाव बढ़ाना चाहता था, अतः आस्ट्रिया नहीं चाहता था कि डेन्यूब के मुहाने काले सागर पर रूस का प्रभाव स्थापित हो। इसलिये आस्ट्रिया, रूस की महत्वाकांक्षाओं को बड़ी सन्देह की दृष्टि से देखता था। उधर बाल्कन में सर्बिया के राष्ट्रीय आन्दोलन को कुचलने में आस्ट्रिया अपना हित समझता था, क्योंकि सर्बिया की स्लाव जाति यदि अपने राष्ट्रीय आन्दोलन में सफल होती है तो आस्ट्रिया में रहने वाली स्लाव जाति भी उससे प्रोत्साहित होकर आस्ट्रिया के विरुद्ध विद्रोह कर सकती है। रूस सर्वस्लाव आन्दोलन को गुप्त रूप से प्रोत्साहित कर रहा था। अतः आस्ट्रिया की यह नीति थी रूस को इस क्षेत्र में आगे बढ़ने से रोका जाय तथा सर्बिया के राष्ट्रीय आन्दोलन का दमन किया जाय।

फ्रांस—पूर्वी समस्या में फ्रांस की जो रुचि थी वह राजनैतिक न होकर धार्मिक एवं व्यापारिक थी। तुर्की फ्रांस का पुराना मित्र था, इसलिए फ्रांस को तुर्की साम्राज्य में विशेष व्यापारिक सुविधाएँ प्राप्त थी। फ्रांस तुर्की साम्राज्य में और अधिक सुविधाएँ प्राप्त करना चाहता था। फ्रांस की धार्मिक रुचि यह थी कि वह बहुत पहले से ही वहाँ के रोमन कैथोलिकों का संरक्षक था।

जर्मनी—पूर्वी समस्या में जर्मनी की केवल एक मात्र रुचि यह थी कि वह इस क्षेत्र में रेल लाइन बनाना चाहता था ताकि उसके व्यापार का विस्तार हो सके।

वस्तुतः यूरोपीय महाशक्तियों के पारस्परिक स्वार्थों तथा टर्की साम्राज्य की पतनोन्मुख स्थिति के कारण ही पूर्वी समस्या उत्पन्न हुई थी। इस समस्या को एक 'गठिया रोग' की संज्ञा दी जाती है, जो कभी टांगों को तो कभी हाथों को असक्त करता रहता है। इस समस्या की व्याख्या करते हुए जान मार्ले ने लिखा है, "परस्पर विरोधी जातियों, धर्मों एवं स्वार्थों से उत्पन्न जटिल, असाध्य एवं परिवर्तनशील समस्या को ही पूर्वी समस्या के नाम से जाना जाता है।" साउथगेट ने इस समस्या का विवेचन करते हुए लिखा है कि पूर्वी समस्या उन राज्यों एवं निवासियों की समस्याओं का समूह है जो डेन्यूब से नील नदी तक बसे हुए थे। डॉ. मिलर ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है, तुर्की साम्राज्य के क्रमशः विघटन से उत्पन्न शून्यता को भरने की समस्या को निकटपूर्व की समस्या कहते हैं।"

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि तुर्की साम्राज्य की निर्बलता, बाल्कन राज्यों में स्वतन्त्र होने की लालसा तथा यूरोपीय राज्यों के पारस्परिक विरोधी स्वार्थों के

कारण पूर्वी समस्या एक अन्तर्राष्ट्रीय समस्या बन गई थी तथा इस समस्या से सम्बन्धित युद्ध आरम्भ हो गये थे। अब हम पूर्वी समस्या की मुख्य घटनाओं का उल्लेख करेंगे।

सर्विया का विद्रोह—वियना कांग्रेस के पूर्व ही बाल्कन प्रायद्वीप में स्वतन्त्रता संग्राम आरम्भ हो चुका था। तुर्की साम्राज्य के विरुद्ध सर्वप्रथम 1804 में सर्बिया ने विद्रोह किया था। सर्विया में यह विद्रोह किसान कारा जॉर्ज के नेतृत्व में हुआ। विद्रोहियों को रूस से सहायता मिलने की आशा थी, किन्तु रूस ने विद्रोहियों को कोई सक्रिय सहायता नहीं दी, केवल नैतिक समर्थन देता रहा। फिर भी विद्रोही बड़ी वीरतापूर्वक संघर्ष करते रहे। उन्होंने तुर्की सेना को सर्विया से बाहर खदेड़ दिया तथा वहाँ के गवर्नर मुस्तफापाशा की हत्या कर दी। विद्रोहियों ने कारा जॉर्ज की अध्यक्षता में एक राष्ट्रीय सरकार स्थापित कर ली। किन्तु बाद में विद्रोहियों की आपसी फूट के कारण उनका पक्ष निर्वल हो गया। तत्पश्चात् 1812 में रूस के प्रभाव के कारण तुर्की सुल्तान ने बुखारेस्ट की सन्धि कर ली, जिसमें टर्की को बाध्य किया गया कि वह सर्बों को कुछ आन्तरिक स्वायत्तता प्रदान करे। किन्तु इस व्यवस्था का कोई परिणाम नहीं निकला। सुल्तान ने सैनिक बल से 1813 में पुनः सर्विया पर अपना नियन्त्रण स्थापित कर लिया तथा सर्बों पर अपना दमनकारी शासन आरम्भ कर दिया। कारा जॉर्ज को जेल में डाल दिया गया। सर्विया के देशभक्तों के हृदय में राष्ट्रीयता की आग धधक रही थी, अतः 1815 में मिलोश ओब्रिनोविच (Milosch Obrenovitch) के नेतृत्व में सर्बों ने पुनः विद्रोह कर दिया। विवश होकर 1817 में तुर्की ने ओब्रिनोविच को राजा मानते हुए सर्विया को स्वायत्त शासन के कुछ अधिकार दे दिये किन्तु सर्विया पर सुल्तान की सम्प्रभुता कायम रही। इससे भी जब स्थिति में कोई सुधार नहीं आया तब रूस के दबाव से बाध्य होकर 1826 में सर्विया को पूर्ण आन्तरिक स्वायत्तता प्रदान की गई। 1830 तक सर्विया अपने आन्तरिक शासन में पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हो गया। तुर्की का प्रभुत्व अब नाम मात्र का रह गया और इसके लिये सर्विया ने प्रति वर्ष तुर्की सुल्तान को कुछ भेंट देना स्वीकार कर लिया। इस प्रकार 19वीं शताब्दी में तुर्की साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह करने वाला यह प्रथम राज्य था। सर्विया के विद्रोह से तुर्की साम्राज्य का विघटन आरम्भ हो गया। तुर्की साम्राज्य में यह सबसे प्रथम स्वतन्त्र राज्य स्थापित हुआ तथा मिलोश ओब्रिनोविच स्वतन्त्र सर्विया का प्रथम शासक बना।

यूनान का स्वतन्त्रता संग्राम—जिस समय सर्विया में राष्ट्रीय आन्दोलन चल रहा था, लगभग उसी समय यूनान में भी राष्ट्रीय भावनाएँ जागृत हो रही थी। यहाँ के लगभग सभी लोग यूनानी चर्च के अनुयायी थे, अतः समान धार्मिक जीवन के कारण उनमें जातीय एकता भी थी। 18वीं शताब्दी के अन्त में यूनान में कुछ

राष्ट्रवादी साहित्यकार हुए, जिसके राजनैतिक विचार तथा साहित्यिक प्रेरणा के कारण यूनानियों को अपनी पराधीनता अखरने लगी और वे तुर्की के दमनकारी शासन से मुक्त होकर अपने प्राचीन यूनानी साम्राज्य की पुनः स्थापना करने का स्वप्न देखने लगे। इसके अतिरिक्त तुर्की की ईसाई जनता में यूनानियों की दशा सबसे अधिक अच्छी थी। यूनानियों को शासन में उच्च पद और अधिकार प्राप्त थे। यूनानियों को जितनी धार्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त थी, उतनी आयरलैण्ड के कैथोलिकों अथवा आस्ट्रिया के प्रोटेस्टेन्टों को भी नहीं थी। इस प्रकार सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक जीवन में यूनानियों को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। इन शिक्षित यूनानियों में एक मध्यम वर्ग था जो राष्ट्रीय भावनाओं से प्रभावित था। फ्रांसीसी क्रान्ति ने उनकी राष्ट्रीयता और स्वतन्त्रता की भावनाओं को और अधिक प्रोत्साहित किया। इटली और स्पेन की भांति यूनान में भी क्रान्तिकारी युद्ध समितियों का गठन किया गया था। इनमें 'हिटेरिया फिल्के' नामक संस्था अत्यधिक महत्वपूर्ण थी। इसका उद्देश्य यूरोप से तुर्की को निकाल कर कुस्तुन्तुनिया में पुनः यूनानी साम्राज्य की स्थापना करना था। इधर तुर्की के सुल्तानों की अयोग्यता एवं निर्बलता के कारण शासन व्यवस्था अस्त व्यस्त हो चुकी थी। अतः शासन की अव्यवस्था के कारण यूनानियों को अपना संगठन मजबूत करने तथा तुर्की सुल्तान के विरुद्ध विद्रोह करने का अवसर मिल गया।

जनीना (Janina) का तुर्की का गवर्नर, जिसका नाम अलीपाशा था, 1820 में अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने का प्रयत्न करने लगा। अतः सुल्तान ने उसे गवर्नर पद से हटाने की आज्ञा निकाल दी तथा खुर्शीदपाशा के नेतृत्व में उसके विरुद्ध सेना भेज दी। अलीपाशा ने सुल्तान की सेनाओं का दो वर्ष तक डटकर सामना किया, किन्तु 1822 में खुर्शीदपाशा ने विद्रोह का दमन कर दिया तथा अलीपाशा का सिर काटकर कुस्तुन्तुनिया भेज दिया। अलीपाशा के विद्रोह के कारण अल्बानिया के 'हिटेरिया फिल्के' को विद्रोह करने का अवसर मिल गया। अतः 'हिटेरिया फिल्के' ने रूस के राजकुमार अलेक्जेण्डर हिप्सलाण्टी (Alexander Hpsilanti) के नेतृत्व में विद्रोह कर दिया। हिप्सलाण्टी ने रूस की सीमा पार कर मोल्दाविया में प्रवेश किया तथा समस्त जनता से आटोमन साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह करने हेतु आव्हान किया। उसने यह भी घोषणा की कि विद्रोहियों को रूस का समर्थन भी प्राप्त है। किन्तु इस समय लाइबेख का सम्मेलन हो रहा था, जहाँ मेटरनिख ने रूस के जार को विद्रोहियों की सहायता न करने के लिए तैयार कर लिया। अतः रूस की सहायता प्राप्त न होने के कारण तुर्की सेनाओं ने जून 1821 में विद्रोह का दमन कर दिया। इस प्रकार यूनानियों का प्रथम स्वतन्त्रता हेतु प्रयास विफल हो गया।

मोल्दाविया के विद्रोह की समाप्ति से पूर्व ही अप्रेल 1921 में मोरिया तथा एजियन सागर के कुछ द्वीपों में विद्रोह की आग भड़क उठी। हिटेरिया फिल्के के

कुछ प्रमुख नेता पहले से ही मोरिया की जनता को तुर्की के विरुद्ध भड़काने में लगे हुए थे। मोरिया का यह विद्रोह कुछ इने गिने नेताओं अथवा वर्ग विशेष का विद्रोह न होकर समस्त यूनानी जनता का विद्रोह था। विद्रोहियों के पास न तो सुगठित सेना थी और न विद्रोह से पूर्व नियोजन था। किन्तु उनमें राष्ट्रीयता का अभूतपूर्व जोश था। कुछ ही समय में विद्रोह की आग सम्पूर्ण यूनान में फैल गई। इस समय तुर्क सेनाएँ अलीपाशा के विद्रोह का दमन करने में व्यस्त थी अतः आरम्भ में इस विद्रोह को दबाया नहीं जा सका। यूनानियों ने असंख्यक मुसलमानों को मौत के घाट उतार दिया तथा मुसलमानों ने असंख्य यूनानियों की हत्या कर दी। 1824 के प्रारम्भ तक तुर्की की सेनाएं अनेक स्थानों पर पराजित हुई। अतः तुर्की सुल्तान महमूद द्वितीय ने अनुभव किया कि तुर्की अकेला यूनानियों को पराजित नहीं कर सकता। इसलिए सुल्तान ने मिस्र के शासक मेहमत अली से सहायता मांगी। मेहमत अली ने सहायता के बदले में क्रीट और सीरिया प्राप्त करने का वचन लेकर अपने पुत्र इब्राहीम को एक सेना देकर यूनानियों के विरुद्ध भेजा। इब्राहीम बड़ी तेजी से बढ़ा तथा क्रीट पर अधिकार कर सम्पूर्ण मोरिया को रौंद डाला। अनेक स्थानों पर यूनानियों का कत्लेआम किया गया। इब्राहीम ने अप्रेल 1826 में मिसलांघी तथा जून 1827 में एथेन्स पर अधिकार कर लिया। वहां पर भी हजारों ईसाइयों को मौत के घाट उतार दिया गया तथा स्त्रियों व बच्चों को दास बनाकर बेच दिया गया। इब्राहीम की प्रशिक्षित एवं अनुशासित सेना के समक्ष विद्रोही यूनानी नहीं टिक सके तथा उनका विद्रोह लगभग समाप्त हो गया। किन्तु इब्राहीम के अत्याचारों ने यूरोपीय राज्यों को विचलित कर दिया, जो इस समय तक इस संघर्ष को तटस्थ रूप से देख रहे थे।

यूनानियों के इस संघर्ष में यूरोपीय राज्यों की जनता की सहानुभूति यूनानियों के साथ थी, इसलिये यूरोप के विभिन्न भागों से यूनानियों की सहायता के लिए धन एवं स्वयंसेवक भेजे थे किन्तु यूरोप के राजनीतिज्ञों के समक्ष यह एक अत्यन्त ही जटिल समस्या थी। मेटरनिख इसे तुर्की की वैध राजसत्ता के विरुद्ध यूनानियों का विद्रोह मानता था, अतः वह उसमें किसी भी प्रकार के हस्तक्षेप के विरुद्ध था। इङ्गलैण्ड का विदेश मन्त्री कैसलरे भी अन्य राज्यों के हस्तक्षेप के विरुद्ध था। ब्रिटेन और आस्ट्रिया, तुर्की में रूस के बढ़ते हुए प्रभाव से सशंकित थे और चाहते थे कि रूस इस समस्या से अलग रहे। रूस का जार अलेक्जेण्डर, जो पवित्र संघ का प्रवर्तक था, मर चुका था तथा उसका उत्तराधिकारी निकोलस प्रथम की पवित्र संघ के सिद्धान्तों में कोई आस्था नहीं थी। अप्रेल 1821 में ग्रीक चर्च के अध्यक्ष पेट्रिआर्क की टर्की के सुल्तान की आज्ञा से हत्या कर दी गई। चूंकि रूस ग्रीक चर्च का अनुयायी था, अतः पेट्रिआर्क की हत्या के कारण रूस की जनता में रोष उत्पन्न हो गया। दुर्भाग्यवश तुर्की के सुल्तान ने कुछ और भी गल्तियां की थी। उसने पूर्व

सन्धियों का उल्लंघन किया था तथा कुछ यूनानी जहाज भी पकड़ लिए थे, जिन पर रूस का झण्डा फहरा रहा था। इसलिए रूस के जार ने इस समस्या में हस्तक्षेप करने का निश्चय किया। रूस ने तुर्की से कूटनीतिक सम्बन्ध तोड़ लिये तथा तुर्की की सीमा पर एक लाख सेना भेज दी। ब्रिटेन का विदेश मंत्री कैनिंग, जो कैसलरे के स्थान पर नियुक्त हुआ था, चाहता था कि सुल्तान को नाराज भी न किया जाय तथा यूनान को भी सहायता पहुंचायी जाय। अतः ब्रिटेन और आस्ट्रिया ने टर्की के सुल्तान को समझाया कि यूनानियों के साथ नरमी का व्यवहार किया जाय तथा रूस को कुछ रियायतें दे दी जाये। किन्तु सुल्तान पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। अब ब्रिटेन ने रूस के साथ सहयोग करके यूनान की समस्या का समाधान करना चाहा तथा जनवरी 1826 में ड्यूक आफ वेलिंगटन को सेंट पीटर्सबर्ग भेजा। 4 अप्रेल 1826 को दोनों पक्षों ने सेंट पीटर्स बर्ग के समझौते पर हस्ताक्षर किये, जिसके अनुसार यूनान की समस्या हल करने के लिये सुल्तान के प्रभुत्व में यूनान को एक अधीन राज्य बनाना था। यद्यपि यूनानी नेता इसके आधार पर समझौता करने को तैयार थे किन्तु सुल्तान ने इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। इसलिये रूस व ब्रिटेन ने यह अनुभव किया कि शक्ति के प्रयोग के बिना तुर्की कोई समझौता नहीं करेगा। रूस और ब्रिटेन ने अन्य यूरोपीय राज्यों से सहयोग प्राप्त करने का प्रयत्न किया। प्रशा और आस्ट्रिया सहयोग के लिये तैयार नहीं हुए, किन्तु फ्रांस सहयोग देने को तैयार हो गया। 6 जुलाई 1827 को रूस, फ्रांस और ब्रिटेन के बीच लंदन की सन्धि हुई जिसके अनुसार यूनान को, तुर्की साम्राज्य के अधीन एक स्वशासित राज्य बनाने का निश्चय किया गया। अगस्त 1827 में इन तीनों राज्यों ने इस आशय का एक प्रपत्र सुल्तान के समक्ष प्रस्तुत किया। इसके साथ ही ब्रिटिश व फ्रेंच नौ सेना को आदेश दिया गया कि यदि टर्की संयुक्त प्रपत्र को स्वीकार न करे तो टर्की व मिस्र की नाकेबन्दी कर दी जाय।

तुर्की के सुल्तान ने संयुक्त प्रपत्र में प्रस्तावित योजना को अस्वीकार कर दिया। अतः मित्र राष्ट्रों का संयुक्त जंगी बेड़ा सक्रिय हो गया। 20 सितम्बर 1827 को यूनानी नौ सेना ने तुर्की की नौ सैनिक टुकड़ी पर आक्रमण कर उसे नष्ट कर दिया। इसके प्रत्युत्तर हेतु इब्राहीम (मिस्र के शासक का पुत्र) अपना जहाजी बेड़ा लेकर नेवेरिनों की खाड़ी से बाहर निकला, किन्तु ब्रिटिश नौ सेना ने उसे रोक दिया। इसी समय रूसी बेड़ा भी ब्रिटिश व फ्रेंच बेड़े से आ मिला। तीनों के जहाजी बेड़े ने नेवेरिनों की खाड़ी में प्रवेश किया। तुर्की के जहाजों ने मित्र राष्ट्रों के जहाजों पर गोलियाँ चलानी आरम्भ कर दी। 20 अक्टूबर 1827 को नेवेरिनों का युद्ध आरम्भ हुआ तथा उसी दिन सूर्यास्त से पहले ही मिस्र और तुर्की के सारे जहाज नष्ट कर दिये गये। किन्तु इसी वर्ष ब्रिटिश विदेश मंत्री केनिंग की मृत्यु हो गयी तथा ब्रिटिश प्रधान मंत्री वेलिंगटन तुर्की को नाराज करना नहीं चाहता था। अतः

उसने नेवेरिनों के युद्ध को 'अशुभ घटना' बतला कर उसके लिये टर्की से खेद प्रकट किया और अंग्रेजी बेड़े को वापस बुला लिया। जब इङ्गलैण्ड ने युद्ध में अपना हाथ खींच लिया तो फ्रांस ने भी उसका अनुसरण किया। अब रूस को अकेले ही आगे बढ़ने का अवसर मिल गया। दिसम्बर 1827 में सुल्तान ने रूस के विरुद्ध जिहाद की घोषणा करदी। मई 1828 में रूस के जार ने भी टर्की के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करदी। मई 1828 में मेहमतअली ने मोरिया से अपनी सेनाएं हटाली। रूस की सेना बाल्कन पर्वतमाला को पार कर एड्रियानोपल (Adrianople) पर अधिकार करके कुस्तुन्तुनिया की ओर बढ़ी। अतः 14 सितम्बर 1829 को विवश होकर सुल्तान को एड्रयानोपल की सन्धि करनी पड़ी। इस सन्धि के अनुसार—

(1) लंदन की सन्धि को मान्यता देते हुए टर्की के प्रभुत्व के अन्तर्गत यूनान की स्वतंत्रता स्वीकार कर ली गई।

(2) डेन्यूब रियासतें—मोल्डेविया तथा वेलेशिया पर नाम मात्र का टर्की का प्रभुत्व रखा गया, किन्तु व्यवहारिक दृष्टि से वे भी स्वतन्त्र हो गयी। टर्की ने स्वीकार कर लिया कि यहां के गर्वनर ईसाई हो।

(3) रूस ने टर्की के अन्य सभी विजित प्रदेश छोड़ दिये, किन्तु काकेशस प्रदेश में जार्जिया तथा अन्य प्रान्तों पर रूस का आधिपत्य स्वीकार किया गया।

(5) बास्फोरस तथा डाउनलीज में रूस के अधिकारों की पुष्टि करदी गई।

(5) टर्की ने काले सागर तथा डेन्यूब नदी में तटस्थ राष्ट्रों के जहाजों को आवागमन की सुविधा प्रदान कर दी।

(6) टर्की के रूसी व्यापारियों पर न्यायिक क्षेत्राधिकार रूस के राजदूतों का रखा गया।

एड्रियानोपल की सन्धि रूसी कूटनीति की महान सफलता थी, क्योंकि इस सन्धि द्वारा पूर्वी देशों में रूस के हस्तक्षेप को मान्यता प्रदान करदी गई थी। रूस का अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में प्रभाव बढ़ गया, क्योंकि यूनान को स्वतन्त्रता दिलाने का श्रेय रूस को ही प्राप्त हुआ था। इंगलैण्ड की नीति बड़ी डावांडोल सिद्ध हुई, क्योंकि न तो वह तुर्की को सहायता दे सका और न ही यूनानियों का समर्थन कर सका। इस सन्धि द्वारा मेटरनिख की प्रतिक्रियावादी नीति को गहरा आघात पहुंचा। यहीं से अन्य ईसाई राज्यों को भी तुर्की साम्राज्य से मुक्त होने हेतु मार्ग दर्शन प्राप्त हुआ। इससे टर्की की निर्बलता का यूरोपीय राज्यों को पता लग गया और यह स्पष्ट हो गया कि टर्की की समस्या एक अन्तर्राष्ट्रीय समस्या है, जिसका यूरोप की महाशक्तियों के हितों से सम्बन्ध है।

एड्रियानोपल की सन्धि के अनुसार टर्की के प्रभुत्व के अन्तर्गत यूनान के राज्य का निर्माण करना था। किन्तु यूनान के नेताओं ने गणतन्त्र की घोषणा कर केपोडिस्ट्रियास (Capodistriat) को अपना राष्ट्रपति बना लिया था। केपोडिस्ट्रयास

ने टर्की के प्रभुत्व में यूनान के राज्य का निर्माण करने का प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया। ब्रिटेन चाहता था कि यूनान को पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त हो ताकि उस पर रूस का प्रभाव न रहे। आस्ट्रिया भी यही चाहता था। अतः फरवरी 1830 में लन्दन में एक समझौता हुआ, जिसके अनुसार कोवर्ग के लियोपाल्ड को स्वतन्त्र यूनान का शासक बनाया जाना था। किन्तु यूनान के राष्ट्रपति ने इसे भी अस्वीकार कर दिया। तत्पश्चात 1830 में फ्रांस की क्रांति हो जाने से यूरोपीय शक्तियां यूनान की समस्या पर अधिक ध्यान नहीं दे सकी। अक्टूबर 1831 में केपोडिस्ट्रियास की हत्या हो जाने से यूनान में अराजकता फैल गई। अतः अब यूनान के संबंध में शीघ्र निर्णय लेना आवश्यक हो गया। ब्रिटेन के प्रयत्नों से सितम्बर 1832 में फ्रांस, ब्रिटेन व रूस में एक नया समझौता हुआ, जिसके अनुसार यूनान को पूर्ण स्वतन्त्र राज्य स्वीकार किया गया तथा ववेरिया के शासक के द्वितीय पुत्र राजकुमार आटो को यूनान का राजा बनाने का निर्णय किया गया। 27 जनवरी 1833 को राजकुमार आटो ने स्वतन्त्र यूनान के प्रथम शासक के रूप में ग्रीस में प्रवेश किया। यह यूनान की स्वतन्त्रता एवं राष्ट्रीयता के सिद्धान्त की प्रथम विजय थी, जिसने पुरातन व्यवस्था पर घातक प्रहार किया तथा मेटरनिख प्रणाली की नींव कमजोर कर दी।

मिस्र और टर्की का युद्ध—मेहमतअली तुर्की के सुल्तान के अधीन मिस्र का शासक था। यूनान के स्वतन्त्रता संग्राम में उसने सुल्तान की सहायता की थी, जिसके वदले में उसे क्रीट (Creete) का द्वीप दिया गया। किन्तु इससे मेहमतअली सन्तुष्ट नहीं था, वह सीरिया पर अधिकार करना चाहता था। अतः 1831 से 1841 तक मेहमतअली की महत्वाकांक्षाओं के कारण यूरोपीय शक्तियों का ध्यान पुनः पूर्वी समस्या की ओर आकर्षित हुआ। मेहमतअली सुल्तान की निर्बलता का लाभ उठाकर अपनी शक्ति का विस्तार करना चाहता था। नवम्बर 1831 में मेहमतअली ने एक वहाना लेकर अपने पुत्र इब्राहीम को फिलीस्तीन पर आक्रमण करने भेज दिया। इब्राहीम ने कुछ ही महिनों में सीरिया, अकरा, और दमिश्क पर अधिकार कर कुस्तुनतुनिया लेने के लिए आगे वढ़ा। सुल्तान ने जुलाई 1832 में हुसेनपाशा के नेतृत्व में सेना भेजी किन्तु इब्राहीम की सेना द्वारा वह परास्त हुई। विवश होकर सुल्तान ने फ्रांस, इंगलैण्ड तथा रूस से सहायता मांगी, किन्तु रूस को छोड़कर कोई अन्य राज्य सहायता देने को तैयार नहीं हुआ। फरवरी 1833 में रूसी जहाजी वेड़े ने कुस्तुन्तुनिया के सामने लंगर डाला। जव रूसी सेनाएं टर्की की सहायता हेतु वहां पहुंचने लगी तव इंगलैण्ड, फ्रांस और आस्ट्रिया चिन्तित हो उठे और, उन्होंने सुल्तान पर दवाव डाला कि वह शीघ्र ही रूस की सेनाओं को वापस भेज दे। किन्तु रूस अपनी सेनाओं को इस शर्त पर हटाने को तैयार था कि इब्राहीम टॉरस (Taurus) के पहाड़ों के पीछे चला जाय। अतः इंगलैण्ड और फ्रांस ने मेहमतअली का पक्ष लेकर सुल्तान पर दवाव डाला कि वह मेहमत अली की मांगों को

शीघ्र पूरा करदे। अप्रेल 1833 में सुल्तान ने सीरिया, दमिश्क, अलेप्पो तथा अदन के बन्दरगाह पर मेहमतअली का आधिपत्य स्वीकार कर लिया।

उंकियार स्केलेसी की सन्धि—मेहमतअली तो अपनी सेनाएं लेकर वापस चला गया, किन्तु रूस टर्की से अपनी सहायता का मूल्य वसूल किये बिना जाने को तैयार नहीं था। अतः विवश होकर सुल्तान को जुलाई 1833 में उंकियार स्केलेसी (Unkiar Skeleesi) की सन्धि पर हस्ताक्षर करने पड़े। इस सन्धि के द्वारा तुर्की पर रूस का प्रभाव अपनी चरम सीमा पर पहुंच गया। मेरियट ने तो यहां तक लिख दिया है कि इस सन्धि ने आटोमन साम्राज्य पर रूस का सैनिक संरक्षण स्थापित कर दिया। इस संधि का सर्वाधिक महत्त्व इसके गुप्त अनुच्छेद में था, जिसमें कहा गया था कि तुर्की का सुल्तान डाउनलीज के बन्दरगाह को अन्य सभी राज्यों के युद्धपोतों के लिए बन्द रखेगा, किन्तु रूस को युद्धपोतों के बिना किसी रुकावट के यहां से आने जाने की सुविधा रहेगी। यह संधि भी रूस के जार की महान विजय थी।

इंगलैण्ड और फ्रांस ने इस संधि का विरोध किया, किन्तु मेटरनिख ने रूस के जार से यह आश्वासन प्राप्त कर लिया कि वह सन्धि में प्राप्त अधिकारों का प्रयोग नहीं करेगा। फिर भी पामर्सटन ने अवसर मिलते ही इस सन्धि को नष्ट करने का दृढ़ निश्चय कर लिया था। दूसरी ओर सुल्तान ने मेहमतअली से बदला लेने तथा सीरिया पर पुनः अपना अधिकार करने की तैयारी आरम्भ कर दी।

अप्रेल 1839 में सुल्तान ने हफीजपाशा के नेतृत्व में एक सेना सीरिया पर आक्रमण करने भेज दी। किन्तु इब्राहीम ने टर्की की सेनाओं को जून 1839 में नजीब के युद्ध में परास्त कर दिया। 1 जुलाई को सुल्तान महमूद की मृत्यु हो गई तथा उसके स्थान पर 16 वर्षीय अब्दुल मजीद सुल्तान बना। नजीब के युद्ध की घटना के पश्चात यूरोपीय राज्यों का हस्तक्षेप प्रारंभ हो गया। इंगलैण्ड, तुर्की की अखण्डता का समर्थक था, अतः मेहमतअली की बढ़ती हुई शक्ति को रोकना चाहता था। किन्तु फ्रांस भूमध्य सागर में अपनी शक्ति बढ़ाने हेतु मेहमतअली को सहायता देने के पक्ष में था। इंगलैण्ड, मिस्र पर फ्रांस के प्रभाव को नहीं देखना चाहता था तथा रूस भी मिस्र में फ्रांस के प्रभाव को रोकना चाहता था। अतः 15 जुलाई 1840 में लंदन में रूस, आस्ट्रिया, प्रशा व इंगलैण्ड ने मिलकर एक समझौते पर हस्ताक्षर किये, जिसके अनुसार तुर्की की अखण्डता बनाये रखने का निश्चय किया गया तथा यह भी तय किया गया कि मेहमतअली को मिस्र का वंशानुगत पाशा तथा अकरा का जीवनपर्यन्त पाशा मान लिया जाय। किन्तु यदि मेहमतअली 10 दिन के अन्दर ये शर्तें स्वीकार नहीं करता है तो वह केवल मिस्र का पाशा माना जायेगा। लन्दन की सन्धि द्वारा रूस व फ्रांस की महत्वाकांक्षाओं पर रोक लगा दी गयी। अगस्त 1840 में इंगलैण्ड व आस्ट्रिया का संयुक्त जहाजी बेड़ा बेरुत पहुंचा तथा

इब्राहीम से सीरिया खाली करने को कहा। इब्राहीम द्वारा मना करने पर संयुक्त जहाजी बेड़े ने वेरुत पर गोले बरसाये तथा नवम्बर में वेरुत व अकारा पर अधिकार कर लिया। विवश होकर मेहमतअली को मित्र राष्ट्रों का प्रस्ताव स्वीकार करना पड़ा। मेहमतअली को केवल मिस्र का पाशा स्वीकार किया गया तथा क्रीट और सीरिया तुर्की के सुल्तान को वापस प्राप्त हो गये। जुलाई 1841 में लन्दन में एक और सन्धि की गई जिसमें रूस, इंगलैण्ड, आस्ट्रिया और प्रशा के अतिरिक्त फ्रांस को शामिल किया गया। इस सन्धि के अनुसार मेहमतअली को तुर्की के अधीन मिस्र का पाशा स्वीकार किया गया तथा यह भी निर्णय लिया गया कि वास्फोरस व डाउनलीज में तुर्की के अतिरिक्त अन्य कोई राज्य युद्धपोत नहीं भेज सकेगा।

इस प्रकार पामर्सटन ने उंकियरा स्केलेसी की सन्धि को नष्ट करने में सफलता प्राप्त की। यह उसकी महान राजनयिक विजय थी। फ्रांस द्वारा मिस्र में अपना प्रभाव बढ़ाने का प्रयत्न विफल कर दिया गया तथा रूस ने तुर्की पर जो अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था, उसे समाप्त कर दिया गया। इससे इंगलैण्ड की यह नीति स्पष्ट हो गयी कि वह न तो रूस का प्रभाव तुर्की पर जमने देगा और न फ्रांस का प्रभाव मिस्र में जमने देगा। रूस को अब यह विश्वास हो गया कि पूर्वी समस्या में इंगलैण्ड की उतनी ही रुचि है जितनी रूस की। इसलिए उसने इंगलैण्ड के सहयोग से इस समस्या को हल करने की नीति अपनायी। स्वयं जार निकोलस 1844 में इंगलैण्ड गया तथा ब्रिटिश विदेश मन्त्री लार्ड एवरडीन से बातचीत की। इस व्यक्तिगत सम्पर्क से रूस व इंगलैण्ड के मध्य सम्बन्ध कई वर्षों तक मित्रतापूर्ण रहे।

क्रीमिया का युद्ध—1841 से 1852 तक पूर्वी समस्या शान्त रही तथा तुर्की के सुल्तान अब्दुल मजीद को अपने साम्राज्य को पुनर्गठित करने का अवसर मिल गया। सुल्तान ने शासन में अनेक सुधार किये। किन्तु सुल्तान ने जब धार्मिक पक्षपात को समाप्त कर सभी धर्मावलम्बियों को समान अवसर देना चाहा तो कट्टर पन्थी मौलवियों ने उसकी आलोचना आरम्भ करदी। अतः कैथोलिक, ग्रीक चर्च के अनुयायियों एवं मुसलमानों में पारस्परिक कटुता बढ़ना स्वाभाविक ही था। इधर यूरोपीय महाशक्तियां प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से टर्की में अपने कूटनीतिक दांव पेच लगाती रहीं। अन्त में इन कूटनीतिक दांव पेचों की एक चरम सीमा आ पहुंची तथा पूर्वी समस्या को लेकर 1854 में इतिहास प्रसिद्ध क्रीमिया का युद्ध भड़क उठा। इस क्रीमिया युद्ध के भड़क उठने के निम्न कारण थे—

(1) ईसाई तीर्थ स्थानों का प्रश्न—जैसा कि पूर्व में बताया गया है फिलीस्तीन में स्थित जेरुसलम के पवित्र स्थान तुर्की साम्राज्य में थे। इन पवित्र स्थानों पर नियन्त्रण रखने के सम्बन्ध में दीर्घकाल से रूस, फ्रांस और टर्की के बीच झगड़ा चल रहा था। इन पवित्र स्थानों में शताब्दियों से ग्रीक (यूनानी) संन्यासी

एवं कैथोलिक संन्यासी रहते थे। 1535 में तुर्की के सुल्तान ने इन पवित्र स्थानों की देखभाल करने का कार्य कैथोलिक संन्यासियों को सौंप दिया तथा फ्रांस को, टर्की में रहने वाले रोमन ईसाइयों का संरक्षक स्वीकार कर लिया। 1789 में फ्रांस में हुई क्रान्ति के पश्चात् फ्रांस ने इन पवित्र स्थानों में रुचि लेना वन्द कर दिया तथा पवित्र स्थानों में रहने वाले कैथोलिक संन्यासी भी अपने कर्त्तव्यों की उपेक्षा करने लगे। फलतः इन पवित्र स्थानों पर यूनानी संन्यासियों का अधिकार हो गया। रूस यूनानी संन्यासियों का संरक्षक माना जाता था।

फ्रांस का राष्ट्रपति लुई नेपोलियन फ्रांस में अपनी स्थिति सुदृढ़ करने के लिये पादरियों को प्रसन्न करना चाहता था। अतः कैथोलिक पादरियों को प्रसन्न करने के उद्देश्य से 1850 में उसने तुर्की के सुल्तान से मांग की कि कैथोलिक संन्यासियों के प्राचीन अधिकार उन्हें वापिस लौटाये जाय। 1852 में सम्राट नेपोलियन ने पुनः अपनी मांग दुहराई। स्पेन, पुर्तगाल, आस्ट्रिया आदि कैथोलिक राज्यों ने नेपोलियन की मांग का समर्थन किया। किन्तु रूस के जार ने तुर्की के सुल्तान को लिखा कि वह यूनानी संन्यासियों के अधिकारों को पूर्ववत् बनाये रखे। तुर्की का सुल्तान असमंजस में पड़ गया। वह दोनों ही शक्तियों को (रूस और फ्रांस) अप्रसन्न नहीं करना चाहता था। अतः उसने इस गम्भीर स्थिति से बचने के लिए एक ओर तो फ्रांस को एक पत्र लिखा, जिसमें कैथोलिक संन्यासियों के अधिकारों को वापिस लौटाने का आश्वासन दिया तथा दूसरी ओर जेरुसलम के यूनानी चर्च के अध्यक्ष के नाम एक फरमान जारी किया, जिसमें यूनानी संन्यासियों के अधिकारों को मान्यता प्रदान कर दी। किन्तु सुल्तान ने व्यावहारिक रूप से फ्रांस की मांग को स्वीकार किया था जिससे रूस नाराज हो गया।

(2) रूस के जार का विरोध—रूस का जार निकोलस प्रथम नेपोलियन तृतीय से घृणा करता था, क्योंकि रूस का जार पैतृक उत्तराधिकारी का समर्थक था तथा नेपोलियन तृतीय फ्रांस के सिंहासन का पैतृक अधिकारी नहीं था। दूसरी ओर नेपोलियन प्रथम की पराजय का मुख्य कारण रूस ही था। अतः वह रूस से उस पराजय का प्रतिशोध लेना चाहता था। ऐसे कटुतापूर्ण सम्बन्धों की मौजूदगी में जब तुर्की के सुल्तान ने फ्रांस की मांग को स्वीकार कर लिया तो रूस का जार क्रोधित हो उठा। मार्च 1853 में रूस के जार ने तुर्की के सुल्तान से मांग की कि तुर्की साम्राज्य के समस्त यूनानी चर्च के मानने वाले ईसाइयों पर, वह रूस का संरक्षण स्वीकार करे। इंगलैण्ड और फ्रांस को यह प्रस्ताव मन्जूर नहीं था। अतः तुर्की के सुल्तान ने रूस के प्रस्ताव को अनुचित बताते हुए ठुकरा दिया।

(3) रूस द्वारा इंगलैण्ड का सहयोग प्राप्त करने का प्रयत्न—जैसाकि पूर्व में बताया जा चुका है कि रूस का जार निकोलस प्रथम 1844 में इंगलैण्ड गया था तथा तत्कालीन विदेश मन्त्री एवर्डीन से पूर्वी समस्या के सम्बन्ध में बातचीत की

थी। उस समय जार को यह आभास मिला कि एवर्डीन उसकी बातों से सहमत है। 1852 में एवर्डीन इंगलैण्ड का प्रधान मन्त्री बना। अतः जार को यह विश्वास हो गया कि अब इंगलैण्ड के सहयोग से तुर्की के भविष्य के बारे में कोई निर्णय किया जा सकता है। जनवरी 1853 में जार ने इंगलैण्ड को बताया कि तुर्की साम्राज्य छिन्न-भिन्न होने जा रहा है। उसने यह भी कहा कि हमारे सामने "मरणासन्न रोगी" पड़ा है, अतः इस रोगी की मृत्यु से पूर्व ही उसकी सम्पत्ति के बारे में निर्णय कर लिया जाय। रूस के जार ने प्रस्ताव रखा कि तुर्की साम्राज्य का आपस में बंटवारा कर लिया जाय। इंगलैण्ड इस प्रस्ताव को खतरनाक समझता था, क्योंकि यदि रूस तुर्की में अपना विस्तार कर लेता है तो इंगलैण्ड के व्यापार को भारी खतरा उत्पन्न हो सकता था। अतः इंगलैण्ड की सरकार ने जार निकोलस के प्रस्ताव को अस्वीकृत कर दिया। अतः पूर्वी समस्या के सम्बन्ध में रूस और इंगलैण्ड के पारस्परिक सहयोग की भावना समाप्त हो गई। इधर तुर्की के सुल्तान ने कुस्तुन्तुनिया में स्थित ब्रिटिश राजदूत लार्ड रेडक्लिफ तथा फ्रांस के राजदूत डीलाकोर के परामर्श से, तुर्की साम्राज्य में रहने वाले ईसाइयों पर रूस के संरक्षण की मांग को अस्वीकार कर दिया था। इससे कुस्तुन्तुनिया में स्थित रूसी राजदूत मेनशिकाफ अत्यन्त ही क्रुद्ध हुआ तथा सुल्तान के इस निर्णय के विरोध में 22 मई 1853 को रूसी दूतावास के अन्य कर्मचारियों के साथ कुस्तुन्तुनिया को छोड़कर चला गया।

(4) रूसी नेताओं का तुर्की साम्राज्य में प्रवेश—मेनशिकाफ के कुस्तुन्तुनिया छोड़कर चले जाने से स्थिति अत्यन्त ही तनावपूर्ण हो गयी और युद्ध की आशंका उत्पन्न हो गई। तुर्की के सुल्तान ने भी तुर्की साम्राज्य की सुरक्षा हेतु तैयारी आरम्भ करदी। तुर्की के सुल्तान के इस रुख के कारण रूस का जार क्रुद्ध तो था ही, अतः 31 मई को उसने सुल्तान को लिखा कि वह रूस की मांगें स्वीकार करले अन्यथा वह मोल्दाविया तथा वालेशिया पर अधिकार कर लेगा। रूस की इस धमकी से इंगलैण्ड और फ्रांस चौकन्ने हो गये तथा दोनों ने अपने जहाजी बेड़े को वेसिका की खाड़ी में पहुंचने का आदेश दे दिया। इससे सुल्तान और अधिक प्रोत्साहित हो गया। सुल्तान ने प्रोत्साहित होकर रूस की मांगों को पुनः अस्वीकार कर दिया। अतः 21 जुलाई 1853 को रूस की सेना ने मोल्दाविया तथा वालेशिया पर अधिकार कर लिया। इससे स्थिति अत्यन्त ही गम्भीर हो गयी। यद्यपि ब्रिटेन का गृह मन्त्री पामर्सटन चाहता था कि इंगलैण्ड और फ्रांस के संयुक्त बेड़े रूसी सेनाओं को रोकने के लिये वास्फोरस तक आगे बढ़ाये जाय, किन्तु ब्रिटिश प्रधान मन्त्री एवर्डीन युद्ध को टालना चाहता था, अतः उसने तुर्की के सुल्तान को सलाह दी कि वह धैर्य से काम ले तथा जहाँ तक सम्भव हो रूस के विरुद्ध बल प्रयोग न करे। आस्ट्रिया भी युद्ध को टालना चाहता था।

(5) वियना नोट—युद्ध को रोकने के उद्देश्य से आस्ट्रिया के विदेश मन्त्री ने इंगलैण्ड, फ्रांस, प्रशा व आस्ट्रिया के प्रतिनिधियों को वियना में आमंत्रित किया। चारों राज्यों के प्रतिनिधियों में झगड़ा समाप्त करने के लिये एक नोट तैयार किया, जिसे वियना नोट कहा जाता था। इस नोट में तुर्की के सुल्तान की स्वतन्त्रता स्वीकार की गई तथा तुर्की साम्राज्य में रहने वाले यूनानी ईसाइयों की सुरक्षा का अधिकार रूस को प्रदान किया गया। अतः इस नोट को इस प्रकार तैयार किया गया कि रूस और तुर्की दोनों को संतुष्ट किया जा सके। रूस ने वियना नोट स्वीकार कर लिया किन्तु तुर्की के सुल्तान ने "ईसाई मत के संरक्षण" शब्दों के पूर्व "महान् तुर्की के राज्य द्वारा" जोड़कर उसे स्वीकार करना चाहा। इन शब्दों के जोड़ने से यूनानी चर्च के ईसाइयों पर रूस के संरक्षण के स्थान पर तुर्की का संरक्षण हो जाता। अतः रूस ने तुर्की के इस संशोधन को स्वीकार नहीं किया। इसके विपरीत ब्रिटिश राजदूत रेडक्लिफ की सलाह एवं प्रोत्साहन के कारण सुल्तान अपने संशोधन पर अड़ा रहा। स्थिति दिन प्रतिदिन गम्भीर होती गयी। सुल्तान द्वारा वियना नोट अस्वीकृत किये जाने में किसका उत्तरदायित्व अधिक था, यह प्रश्न तो अभी विवादास्पद है, किन्तु यह बात निर्विवाद है कि सुल्तान द्वारा वियना नोट को अस्वीकृत किये जाने पर रूस और तुर्की के बीच युद्ध अवश्यंभावी हो गया।

रूस और तुर्की का युद्ध—तुर्की का सुल्तान इंगलैण्ड व फ्रांस से प्रोत्साहित हो रहा था तथा उसे इंगलैण्ड व फ्रांस से सहायता मिलने की भी आशा थी, अतः 5 अक्टूबर 1853 को उसने रूस को चेतावनी दी कि वह 15 दिन के अन्दर डेन्यूब प्रदेश (मोल्डाविया और वालेशिया) खाली कर दे। रूस ने इस चेतावनी का कोई प्रत्युत्तर नहीं दिया। अतः 23 अक्टूबर 1853 को तुर्की ने रूस के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी।

सिनोप का हत्याकाण्ड—जब तुर्की ने डेन्यूब प्रदेश पर रूस के विरुद्ध आक्रमण कर दिया, तब 30 अक्टूबर 1853 को रूस ने सिनोप की खाड़ी में स्थित तुर्की के जहाजी बेड़े को नष्ट कर दिया। इस घटना को "सिनोप का हत्याकाण्ड" कहते हैं। इस घटना से इंगलैण्ड और फ्रांस में सनसनी फैल गई। इंगलैण्ड व फ्रांस को यह विश्वास हो गया कि यदि रूस की प्रगति को रोका नहीं गया तो तुर्की का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जायेगा। इधर इंगलैण्ड का जनमत भी रूस के विरुद्ध युद्ध करने के पक्ष में था। इंगलैण्ड के समाचार पत्र "द टाइम्स" ने भी रूस के विरुद्ध कठोर कार्यवाही करने का समर्थन किया। फ्रांस का सम्राट नेपोलियन तृतीय फ्रांस के पादरियों की सहानुभूति प्राप्त कर अपनी स्थिति सुदृढ़ करने के लिए रूस के विरुद्ध युद्ध करना चाहता था, किन्तु इंगलैण्ड के सहयोग के बिना वह रूस के विरुद्ध आगे बढ़ना नहीं चाहता था। सतर्कता और सुरक्षा की दृष्टि से इंगलैण्ड और फ्रांस का संयुक्त जहाजी बेड़ा काले सागर में प्रवेश कर गया। इसी समय युद्ध को टालने की दृष्टि से नेपोलियन तृतीय ने रूस के जार को एक व्यक्तिगत पत्र लिखा और प्रस्ताव किया कि रूस की सेना तुर्की के प्रदेशों से तथा इंगलैण्ड फ्रांस की नौ सेना काले

सागर से हटाली जाए और इसके बाद समझौते द्वारा समस्या का हल निकाला जाय। किन्तु रूस के जार ने इस पत्र का कोई संतोषजनक उत्तर नहीं दिया, बल्कि अत्यन्त ही कड़े शब्दों का प्रयोग करते हुए लिखा कि रूस आज भी वैसा ही है जैसा 1812 में था। इस पर 27 फरवरी 1854 को इंगलैण्ड व फ्रांस ने संयुक्त रूप से रूस को चेतावनी दी कि वह 30 अप्रेल तक मोल्दाविया व वालेशिया खाली कर दे। 19 मार्च को रूस ने इस चेतावनी को ठुकरा दिया तथा 28 मार्च 1854 को इंगलैण्ड व फ्रांस ने रूस के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करदी।

प्रारम्भ में रूस के जार को यह विश्वास था कि आस्ट्रिया उसका साथ देगा, क्योंकि 1849 में रूस ने आस्ट्रिया की बड़ी सहायता की थी तथा आस्ट्रिया पर उसने राजनैतिक उपकार किया था। किन्तु इस समय आस्ट्रिया ने रूस के उपकारों को भुला दिया। डेन्यूबी प्रदेशों पर रूस के अधिकार से आस्ट्रिया क्षुब्ध था, क्योंकि वह स्वयं इन क्षेत्रों पर अपना प्रभाव स्थापित करना चाहता था। मार्च-अप्रैल 1854 में रूस को सिलिस्ट्रिया में तुर्की की सेनाओं से कड़ा संघर्ष करना पड़ा। मई के अन्त तक इंगलैण्ड तथा फ्रांस की सेनाएं भी सहायता के लिये आगे बढ़ गयी। उसी समय आस्ट्रिया ने रूस से मांग की कि वह मोल्दाविया एवं वालेशिया से अपनी सेनाएं हटा ले। इसके साथ ही आस्ट्रिया ने अपनी सेनाओं को रूस की सीमा पर एकत्रित कर दिया, ताकि किसी भी समय रूस पर पीछे से आक्रमण हो सके। ऐसी परिस्थिति में रूस को विवश होकर डेन्यूबी प्रदेश से अपनी सेना हटानी पड़ी। रूस की सेना हटते ही तुर्की से बातचीत करके आस्ट्रिया ने मोल्दाविया तथा वालेशिया पर युद्ध काल तक के लिए अधिकार कर लिया। आस्ट्रिया की यह "शत्रुतापूर्ण तटस्थता" की नीति, आगे चलकर रूस की हार का प्रमुख कारण बनी।

युद्ध का प्रमुख कारण—सिलिस्ट्रिया में तुर्की की सेनाओं से कड़ा संघर्ष होने के कारण रूसी सेनाओं को अधिक सफलता नहीं मिली। अप्रेल में ब्रिटिश एवं फ्रेंच सेनापति अपनी सेनाओं सहित तुर्की पहुंच गये। किन्तु जून में रूस ने डेन्यूबी प्रदेशों से अपनी सेनाएं हटाना प्रारम्भ कर दिया तथा अगस्त तक इस क्षेत्र में कोई भी रूसी सैनिक नहीं रहा। डेन्यूबी प्रदेशों में रूसी सेनाएं हट जाने से इंगलैंड व फ्रांस का प्रारम्भिक उद्देश्य पूरा हो गया था तथा वे युद्ध बन्द कर सकते थे, किन्तु मित्र राष्ट्र रूस की शक्ति को क्षीण कर उसे पंगु बना देना चाहते थे ताकि वह फिर उन्हें परेशान न कर सके। इसके अतिरिक्त वे रूस को नीचा दिखाना चाहते थे। जुलाई 1854 में मित्र राष्ट्रों ने रूस के समक्ष निम्नलिखित चार प्रस्ताव रखे—

(1) मोल्दाविया एवं वालेशिया पर रूस के संरक्षण अधिकारों को समाप्त कर दिया जाय।

(2) डेन्यूबी नदी में यूरोप के सभी राज्यों को व्यापार करने की सुविधाएं प्राप्त हो।

(3) तुर्की की यूनानी जनता पर रूस अपने संरक्षण के अधिकार को त्याग दे।

(4) तुर्की को यूरोपीय राज्य मंडल में शामिल कर लिया जाय।

युद्ध का द्वितीय चरण–क्रीमिया पर आक्रमण—रूस ने मित्र राष्ट्रों की इन मांगों को अस्वीकार कर दिया, अतः इंगलैण्ड व फ्रांस ने क्रीमिया प्रायःद्वीप पर आक्रमण करने का निश्चय किया। क्रीमिया, रूस की सामुद्रिक शक्ति का प्रमुख केन्द्र था तथा क्रीमिया के सेवास्टोपोल (Sebastopol) पर रूस का सामुद्रिक शस्त्रागार था। मित्र राष्ट्र इस पर अधिकार कर रूस को पंगु बना देना चाहते थे। 14 सितम्बर 1854 को ब्रिटिश सेनापति लार्ड रेगलान (Lord Reglan) तथा फ्रेंच सेनापति सेन्ट अनार्न्ड (Sent Aranand) के नेतृत्व में मित्र राष्ट्रीय फौजें, सेवास्टोपोल के उत्तर में यूपेटोरिया की खाड़ी में उतरी। 20 सितम्बर को रूसी सेनापति मेनशिकॉफ ने एलमानी के पास मित्र राष्ट्रों की सेनाओं को रोकना चाहा, किन्तु एलमा के युद्ध में रूसी सेना परास्त हुई। मित्र राष्ट्रों की इस विजय से अब सिवास्टोपोल पर आक्रमण करने का मार्ग खुल गया। मित्र राष्ट्रों की सेनाओं की तेजी से आगे बढ़ने में कुछ विलम्ब हो गया, क्योंकि फ्रेंच सेनापति की सलाह से सिवास्टोपोल पर दक्षिण की ओर से आक्रमण करने का निश्चय किया गया। अतः स्थिति का लाभ उठाते हुए रूस ने सिबास्टोपोल की रक्षा की पूरी तैयारी करली। इसी बीच 29 सितम्बर 1854 को फ्रेंच सेनापति सेन्ट अर्नान्ड की मृत्यु हो गयी। 17 अक्टूबर को सिवास्टोपोल का घेरा आरम्भ किया गया। क्रीमिया युद्ध में सबसे बड़ी लड़ाई सिवास्टोपोल के लिए ही हुई थी। यह घेरा लगभग 11 महिने तक चलता रहा तथा युद्ध में दोनों पक्षों के लगभग पांच लाख व्यक्ति मारे गये। इसी समय शीतकाल आरम्भ हो जाने से मित्र राष्ट्रों की सेनाओं को अत्यधिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। 5 नवम्बर 1854 को रूसी सेनाओं ने इंकरलेन (Inkerman) पर आक्रमण करके मित्र राष्ट्रों के घेरे को तोड़ने का असफल प्रयत्न किया। 14 नवम्बर को भयंकर तूफान आजाने से मित्र राष्ट्रों के बहुत से जहाज तथा युद्ध सामग्री नष्ट हो गयी तथा दो-तीन महिने तक इंगलैण्ड व फ्रांस की सेनाओं को भयंकर शीत का सामना करना पड़ा। हजारों सैनिक बीमारी के कारण बिना चिकित्सा के ही मर गये। जनवरी 1855 में एबर्डीन मन्त्रिमण्डल का पतन हो गया तथा इसके स्थान पर पामर्सटन ब्रिटेन का नया प्रधान मन्त्री बना, जिसने युद्ध व्यवस्था में काफी सुधार किया।

जनवरी 1855 के अन्त में सार्डीनिया के प्रधान मन्त्री कैवूर ने मित्र राष्ट्रों की ओर से युद्ध में भाग लेने का निश्चय किया। अप्रेल 1855 तक लगभग 18 हजार इटली के सैनिक क्रीमिया पहुंच गये जिससे मित्र राष्ट्रों को बड़ा प्रोत्साहन मिला। इसी बीच मार्च 1855 में रूस के जार निकोलस प्रथम की मृत्यु हो गयी तथा अलेक्जेण्डर द्वितीय रूस का जार बना।

युद्ध का अन्तिम चरण—जून में मित्र राष्ट्रों ने रीडन (Redon) तथा मालाकाफ (Malakoff) पर आक्रमण किये किन्तु उन्हें कोई विशेष सफलता नहीं मिली। तत्पश्चात सितम्बर में मित्र राष्ट्रों की सेनाओं ने मालाकाफ पर अधिकार कर लिया। अब सिवास्टोपोल को बचाना असम्भव हो गया। 9 सितम्बर 1855 को रूसी सेना ने अपने गोला बारूद में आग लगा दी तथा सिवास्टोपोल के किले को छोड़कर पीछे हट गई। लगभग 349 दिन के घेरे के बाद सिबास्टोपोल पर मित्र राष्ट्रों ने अधिकार कर लिया। सिवास्टोपोल के पतन के बाद भी कुछ दिन युद्ध चलता रहा। 28 नवम्बर को रूस की सेनाओं ने तुर्की के महत्वपूर्ण दुर्ग कार्स पर अधिकार कर लिया और तत्पश्चात जार अलेक्जेण्डर द्वितीय सन्धि करने को तैयार हो गया। दिसम्बर 1855 में आस्ट्रिया न इंगलैण्ड और फ्रांस से बातचीत करके रूस को एक अल्टीमेटम भेजा, जिसमें कुछ शर्तों के आधार पर सन्धि करने की बात कही गई थी। रूस को अब यह भय हुआ कि कहीं आस्ट्रिया भी युद्ध में न कूद पड़े, अत: 16 जनवरी 1856 की शर्तों के आधार पर आस्ट्रिया को सन्धि करने की स्वीकृति दे दा। फरवरी 1856 में युद्ध बन्द हो गया।

पेरिस की सन्धि—25 फरवरी 1856 को इंगलैण्ड, फ्रांस, आस्ट्रिया, रूस, तुर्की और सार्डीनिया–पीडमान्ट के प्रतिनिधि सन्धि की शर्तों पर विचार विमर्श के लिए पेरिस में एकत्रित हुए। सन्धि के लिए आस्ट्रिया ने मध्यस्थता की। 30 मार्च 1856 को सभी देशों ने एक सन्धि पर हस्ताक्षर किये, जिसे **पेरिस की** सन्धि कहा जाता है। इस सन्धि में निम्नलिखित शर्तें रखी गई—

(1) तुर्की को यूरोप की संयुक्त व्यवस्था में सम्मिलित कर लिया गया, जिससे उसकी गणना यूरोप के बड़े राज्यों में होने लगी। सभी राष्ट्रों ने तुर्की की स्वतन्त्रता व प्रादेशिक अखण्डता को बनाये रखने की गारन्टी दी।

(2) तुर्की के सुल्तान ने अपनी ईसाई प्रजा के हितों को ध्यान में रखते हुए उनकी स्थिति में सुधार करने का पुनः आश्वासन दिया, इसके बदले में यूरोप के सभी देशों ने तुर्की के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप न करना स्वीकार किया।

(3) काले सागर को तटस्थ क्षेत्र मान लिया गया, जहां किसी भी राष्ट्र के युद्धपोतों का प्रवेश निषिद्ध कर दिया गया। यह भी निश्चित किया गया कि रूस और तुर्की यहां अपने सैनिक अड्डे स्थापित नहीं करेंगे।

(4) रूस और तुर्की ने एक दूसरे के जीते हुए प्रदेश वापिस कर दिये। कार्स पर पुनः तुर्की तथा क्रीमिया पर रूस का अधिकार मान लिया गया। मोल्दाविया तथा वालेशिया पर रूस का संरक्षण समाप्त हो गया।

(5) तुर्की के प्रभुत्व में सर्विया की **स्वतन्त्रता** स्वीकार करली गई तथा यूरोपीय राज्यों ने उसकी स्वतन्त्रता की गारण्टी दी।

(6) डेन्यूब नदी में सभी राज्यों को व्यापार करने का अधिकार दे दिया गया।

(7) तुर्की साम्राज्य में रहने वाले ईसाइयों की सुरक्षा के अधिकार से रूस को वंचित कर दिया गया।

क्रीमिया युद्ध के परिणाम—क्रीमिया का युद्ध यूरोप के इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना है, जिसके अनेक प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष अथवा तात्कालीन एवं दूरगामी परिणाम हुए। प्रत्येक राष्ट्र पर इस युद्ध का भिन्न भिन्न रूप से प्रभाव पड़ा, जो इस प्रकार था—

रूस पर प्रभाव—पेरिस की संधि से रूस की प्रतिष्ठा को गहरा आघात पहुंचा। उसे यूरोपीय राज्यों के समक्ष अपमानित होना पड़ा। रूस ने तुर्की के साथ पूर्व में संधियां करके जो विशेषाधिकार प्राप्त किये थे उन पर पानी फिर गया। रूस बाल्कन प्रदेश में अपना प्रभाव स्थापित करना चाहता था, किन्तु कुछ समय के लिए उस पर रोक लगा दी गई। रूस का काले सागर पर जो प्रभाव था, अब उनका तटस्थीकरण हो जाने से, उस पर भी रूस का प्रभाव समाप्त हो गया। रूस इस अपमान को बर्दाश्त न कर सका, अतः आगे चलकर अवसर प्राप्त होते ही उसने अपने इस अपमान को धोने का प्रयत्न किया। आगे चलकर उसने बिस्मार्क से समझौता करके काले सागर की तटस्थता भंग कर दी तथा 1878 में बेसेरबिया को पुनः अपने साम्राज्य में मिला लिया। पेरिस की सन्धि द्वारा डेन्यूब नदी पर भी उसका नियन्त्रण समाप्त हो गया। पेरिस की सन्धि के परिणामस्वरूप रूस और तुर्की के मध्य वालेशिया तथा मोल्दाविया के राज्यों की एक दीवार खड़ी कर दी गई। इसके अतिरिक्त क्रीमिया युद्ध में पराजित होने के कारण रूस की आंतरिक एवं विदेश नीति पर भी प्रभाव पड़ा। क्रीमिया युद्ध के काल में आस्ट्रिया ने रूस के साथ जो व्यवहार किया उससे रूस और आस्ट्रिया की मैत्री, जो 1854 के पूर्व अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था का प्रमुख अंग थी, समाप्त हो गई। पूर्वी यूरोप में रूस के विस्तार पर रोक लग जाने के कारण वह अब मध्यएशिया में अपना प्रभाव बढ़ाने लगा। क्रीमिया युद्ध की पराजय के कारण रूसी शासनतन्त्र की दुर्बलता एवं अकुशलता प्रकट हो गयी, जिसे दूर करने के लिये जार अलेक्जेण्डर द्वितीय ने अपने शासन काल के आरम्भ में अनेक सुधार किये। 1861 के पश्चात रूस में जो भी सुधार किये गये वे काफी सीमा तक क्रीमिया युद्ध की पराजय के परिणामस्वरूप किये गये थे।

(2) **तुर्की पर प्रभाव**—क्रीमिया युद्ध के कारण तुर्की साम्राज्य को नया जीवन प्राप्त हुआ। रूस की तुर्की साम्राज्य पर लोलुप दृष्टि के कारण तुर्की का अस्तित्व खतरे में पड़ गया था, किन्तु मित्र राष्ट्रों ने उसे नष्ट होने से बचा लिया। मित्र राष्ट्रों को अपनी भूल उस समय महसूस हुई, जबकि प्रथम विश्व युद्ध के पूर्व तुर्की साम्राज्य छिन्न भिन्न हो गया तथा जिस उद्देश्य को लेकर क्रीमिया युद्ध लड़ा गया था उस दृष्टि से यह युद्ध निरर्थक सिद्ध हुआ।

(3) **ब्रिटेन पर प्रभाव**—रूस के प्रभाव को रोकने के लिये ब्रिटेन को अत्यधिक जन और धन की हानि उठानी पड़ी। यद्यपि इस युद्ध के परिणामस्वरूप उसे कोई लाभ प्राप्त नहीं हुआ, किन्तु जिस उद्देश्य को लेकर युद्ध आरम्भ किया गया, वह उद्देश्य पूरा हो गया। तुर्की में रूस की बढ़ती हुई महत्वाकांक्षा पर रोक लगा दी गई। किन्तु पेरिस की सन्धि के पशचत रूस और ब्रिटेन के मध्य तनाव पूर्ववत् वना रहा। इस युद्ध का ब्रिटेन की आंतरिक नीति पर प्रभाव पड़ा। युद्ध काल में किसी प्रकार के सुधार संभव नहीं हो सके। युद्ध का व्यय पूरा करने के लिए अतिरिक्त कर लगाये गये। इस युद्ध के परिणामस्वरूप इंगलैण्ड का राष्ट्रीय ऋण 4·20 करोड़ पौंड बढ़ गया।

(4) **फ्रांस पर प्रभाव**—इस युद्ध के कारण फ्रांस को विशेष सम्मान प्राप्त हुआ। फ्रांस ने रूस को पराजित करके नेपोलियन बोनापार्ट की पराजय का बदला ले लिया। युद्ध के पश्चात सन्धि की शर्तों पर विचार विमर्श के लिये शांति-सम्मेलन पेरिस में हुआ तथा इस महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन के सभापतित्व का सौभाग्य नेपोलियन तृतीय को प्राप्त हुआ। पेरिस की संधि नेपोलियन तृतीय की व्यक्तिगत विजय थी। इससे यूरोपीय राज्यों में फ्रांस के कैथोलिक नेपोलियन तृतीय से प्रसन्न हो गये, जिससे उसकी आंतरिक स्थिति सुदृढ़ हो गई।

(5) **इटली पर प्रभाव**—केटलबी के अनुसार 'क्रीमिया के कीचड़ से' नवीन इटली का जन्म हुआ था। इस युद्ध में मित्र राष्ट्रों का साथ देने से सार्डीनिया-पीडामान्ट के प्रधानमन्त्री कैवूर को, यूरोपीय राज्यों के समक्ष इटली की समस्या प्रस्तुत करने का अवसर प्राप्त हुआ। पेरिस के सम्मेलन में इटली को इंगलैण्ड व फ्रांस की सहानुभूति प्राप्त हुई। इस सहानुभूति के आधार पर ही कैवूर ने प्लोम्बियर्स में नेपोलियन से समझौता करके आस्ट्रिया के विरुद्ध सफलता प्राप्त की थी। इस प्रकार क्रीमिया युद्ध के फलस्वरूप ही इटली का एकीकरण संभव हो सका।

(6) **प्रशा का प्रभाव**—क्रीमिया युद्ध अप्रत्यक्ष रूप से जर्मनी के एकीकरण में भी सहायक सिद्ध हुआ। युद्धकाल में प्रशा की तटस्थता के कारण रूस का झुकाव प्रशा की ओर हो गया। प्रशा के चांसलर विस्मार्क ने आगे चलकर इस मित्रता को और अधिक सुदृढ़ बनाया। इसके विपरीत आस्ट्रिया की नीति के कारण रूस अब आस्ट्रिया का प्रवल विरोधी हो गया। इसीलिए 1866 में जब प्रशा और आस्ट्रिया के वीच युद्ध हुआ रूस तटस्थ रहा, जिससे आस्ट्रिया पराजित हुआ।

(7) **आस्ट्रिया पर प्रभाव**—यद्यपि आस्ट्रिया ने युद्ध में प्रत्यक्ष रूप से भाग नहीं लिया, किन्तु युद्ध काल की राजनैतिक गतिविधियों में उसने सक्रिय भाग लिया। आस्ट्रिया के अल्टीमेटम के कारण ही रूस को संधि करने हेतु वाध्य होना पड़ा था। इसीलिए पेरिस के शान्ति सम्मेलन में उसे बड़े राज्यों के साथ, सम्मेलन में भाग लेने हेतु आमंत्रित किया गया। किन्तु युद्ध काल में आस्ट्रिया की नीति के कारण रूस

उसका प्रवल शत्रु वन गया तथा इंगलैण्ड व फ्रांस को उस पर विश्वास नहीं रहा, क्योंकि वह मित्र राष्ट्रों की मदद के लिए नहीं आया था। इस प्रकार अव वह यूरोप में मित्रहीन हो गया। पेरिस की सन्धि से भी आस्ट्रिया को कोई लाभ प्राप्त नहीं हुआ। पेरिस के शान्ति सम्मेलन में कैवूर ने सभी राज्यों के प्रतिनिधियों के समक्ष आस्ट्रिया की कटु आलोचना की।

क्रीमिया युद्ध का महत्व—क्रीमिया युद्ध के महत्व के सम्वन्ध में इतिहासकारों एवं राजनीतिज्ञों में भिन्न-भिन्न मत हैं। प्रसिद्ध विद्वान सर रावर्ट मोरियर के अनुसार यह युद्ध आधुनिक युग के युद्ध में सवसे व्यर्थ युद्ध था। फ्रांस के प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ थीयर्स के अनुसार यह युद्ध कुछ अभागे साधुओं को पूजा गृह की कुंजी दिलवाने के लिये लड़ा गया था। किन्तु उसके सम्वन्ध में कोई उचित व्यवस्था न हो सकी और व्यर्थ में सहस्त्रों सैनिकों का वलिदान हो गया। इसके विपरीत लार्ड क्रोमर का मत था कि यदि क्रीमिया युद्ध वन्द न होता तथा उसके वाद लार्ड वीकन्सफील्ड उसी नीति का अनुसरण न करता तो वाल्कन राज्य कभी भी स्वतन्त्र नहीं हो सकते थे एवं कुस्तुन्तुनिया पर रूस का अधिकार हो जाता। डेविड थाम्प्सन ने लिखा है कि "1855 में तीन वड़े राज्यों के वीच युद्ध होना पुरानी व्यवस्था के अन्तर्गत शान्ति वनाये रखने के प्रयत्नों की प्रथम विफलता थी।" ग्राण्ट एवं टेम्परले ने लिखा है कि "विज्ञान के आधुनिक साधनों के विना लड़ा जाने वाला यह अन्तिम युद्ध था। उसके उद्देश्यों एवं कूटनीतिक प्रणाली पर मध्य युग की स्पष्ट छाप थी, क्योंकि उसके कारणों में क्रूसेड के काल के समान धार्मिक समस्याएं भी एक कारण वन गई थी।"

वस्तुतः क्रीमिया का युद्ध यूरोपीय इतिहास का संक्राति काल था। इस युद्ध के पूर्व लगभग 40 वर्षों तक यूरोप में शान्ति रही, किन्तु इसके वाद 15 वर्षों में यूरोपीय राष्ट्रों के वीच चार वड़े युद्ध हुये। इसका प्रमुख कारण यह था कि क्रीमिया युद्ध के वाद यूरोपीय राज्यों में पारस्परिक सम्वन्धों का दृष्टिकोण ही वदल गया। क्रीमिया युद्ध की विजय के वाद नेपोलियन तृतीय एवं फ्रांस की प्रतिष्ठा बढ़ गयी तथा नेपोलियन तृतीय राष्ट्रीयता के सिद्धांत के आधार पर यूरोपीय व्यवस्था का पुनर्निर्माण करने का प्रयत्न करने लगा। इधर आस्ट्रिया वियना व्यवस्था के आधार पर यूरोप में अपनी प्रधानता वनाए रखने का प्रयत्न करता रहा किन्तु क्रीमिया युद्ध के प्रति, उसकी नीति के कारण यूरोपीय राज्यों में उसके प्रति अविश्वास उत्पन्न हो गया। क्रीमिया युद्ध के कारण रूस की विदेश नीति में परिवर्तन आया। रूस अव अपनी आन्तरिक समस्याओं के प्रति अधिक ध्यान देने लगा तथा मध्य यूरोपीय समस्याओं में कोई सक्रिय भाग नहीं लिया। इंगलैण्ड ने भी यूरोप की राजनीति में अनावश्यक हस्तक्षेप वन्द कर दिया। अव यूरोपीय रंगमंच पर विस्मार्क, कैवूर एवं गोर्शकोव जैसे राजनीतिज्ञों का आगमन हुआ जिन्हें वियना व्यवस्था के प्रति कोई लगाव नहीं था।

पेरिस की सन्धि द्वारा पूर्वी समस्या का समाधान करने का प्रयत्न किया गया, किन्तु पूर्वी समस्या का प्रश्न इतना जटिल था कि यूरोपीय राज्य इस पर एकमत नहीं हो सकते थे। क्रीमिया युद्ध का एक उद्देश्य रूस को निर्बल बनाना था तथा पेरिस की सन्धि द्वारा उसकी प्रगति पर कुछ समय के लिये रोक अवश्य लगा दी गयी थी किन्तु उसकी महत्वाकांक्षा पर रोक नहीं लगायी जा सकी। 1870 में रूस ने काले सागर सम्बन्धी शर्तों को अस्वीकार कर दिया तथा 1878 में उसने वेसरबिया पर पुनः अधिकार कर लिया। रूस की एशियायी विस्तार की नवीन नीति से भारतीय ब्रिटिश साम्राज्य को नया खतरा उत्पन्न हो गया। प्रसिद्ध विद्वान हेजन ने पेरिस की संधि की आलोलना करते हुए लिखा है कि पूर्वी समस्या को हल करने में यह युद्ध पूर्ण रूप से असफल रहा। साउथगेट ने भी पेरिस की संधि की आलोचना करते हुए लिखा है कि पेरिस की सन्धि द्वारा पूर्वी समस्या का जो हल निकाला गया वह न तो उचित ही था और न पर्याप्त। पेरिस की सन्धि की इस घोषणा से कि यूरोपीय राज्य तुर्की के आन्तरिक मामले में हस्तक्षेप नहीं करेंगे, तुर्की साम्राज्य की ईसाई जनता को बड़ी निराशा हुई, क्योंकि उन्होंने समझा कि यदि अब उनके ऊपर धार्मिक अत्याचार हुआ तो यूरोपीय राष्ट्र उनकी कोई मदद नहीं करेंगे, अतः उन्हें अपनी रक्षा के लिये अपनी मदद अपने आप करनी होगी। इस प्रकार पेरिस की संधि के परिणामस्वरूप पूर्वी समस्या और अधिक उलझ गयी। प्रसिद्ध विद्वान ए. जे. पी. टेलर ने लिखा है कि "क्रीमिया के युद्ध ने पवित्र मैत्री (Holy Alliance) की प्राचीन व्यवस्था को नष्ट कर दिया, किन्तु उसके स्थान पर कोई नवीन व्यवस्था स्थापित नहीं की गई, न तो ब्रिटेन के उदारवादी आदर्शों के आधार पर ही कोई व्यवस्था स्थापित हो सकी और न ही नेपोलियन की क्रांतिकारी कल्पनाएं ही साकार हो सकी, बल्कि यूरोप में ऐंसी अराजकता आरम्भ हो गयी, जो पूर्वी समस्या से सम्बन्धित दूसरे संघर्ष तक चलती रही।"

1856 से 1870 तक पूर्वी समस्या—पेरिस की संधि में तुर्की के सुल्तान ने बिना किसी भेदभाव के अपनी प्रजा की दशा सुधारने का वचन दिया था। 1856 में सुल्तान अब्दुल मजीद ने एक आज्ञा पत्र प्रसारित किया, जिसके अनुसार साम्राज्य के प्रत्येक नागरिक को धार्मिक स्वतन्त्रता तथा शासकीय सेवाओं में नियुक्ति का अधिकार दिया। किन्तु यह आज्ञा पत्र कभी कार्यान्वित नहीं हो सका। 1861 में अब्दुल मजीद की मृत्यु के बाद अब्दुल अजीज तुर्की का सुल्तान बना। उसने काफी सीमा तक धार्मिक पक्षपात की नीति का परित्याग कर शासन में सुधार किये, किन्तु राज्य के अधिकारियों की अयोग्यता एवं बेईमानी के कारण उसके प्रयत्न विफल रहे। कुछ समय बाद वह भी विलासिता में डूब गया, जिससे राज्य के अधिकारियों को मनमानी करने का अवसर मिल गया। ऐसी स्थिति में बाल्कन प्रायद्वीप की ईसाई जनता का तुर्क शासन से मुक्त होने हेतु विद्रोह करना स्वाभाविक ही था।

रूमानिया का निर्माण—पेरिस की संधि के अनुसार मोल्देविया तथा वालेशिया के प्रदेशों को तुर्की के सुल्तान की अधीनता में आंतरिक स्वतन्त्रता देने का निश्चय किया गया था। इन दोनों प्रदेशों के निवासी एक ही जाति के थे तथा एक ही भाषा वोलते थे। वे दोनों राज्यों का एकीकरण करके स्वतन्त्र रूमानिया का राज्य बनाना चाहते थे। सुल्तान ने दोनों प्रान्तों के प्रशासन के सम्बन्ध में निर्णय करने के लिये अलग-अलग 'दीवान' (प्रतिनिधि सभा) आमन्त्रित करने का निश्चय किया तथा चुनाव इस प्रकार कराये कि उनमें तुर्की के समर्थकों का बहुमत रहे। चुनाव में इन अनियमितताओं को देखकर रूस, फ्रांस व प्रशा ने पुनः चुनाव कराने की मांग की, किन्तु इंगलैण्ड ने रूस व फ्रांस के इस हस्तक्षेप का विरोध किया। इससे युद्ध की आशंका उत्पन्न हो गयी, किन्तु सुल्तान पुनः चुनाव कराने को तैयार हो गया। चुनाव के पश्चात् अक्टूबर 1857 में दोनों 'दीवानों' ने तुर्की की प्रभुसत्ता के अधीन दोनों प्रान्तों को मिलाकर एक संयुक्त राज्य बनाने का निर्णय लिया। किन्तु यूरोप की बड़ी शक्तियों ने पेरिस के सम्मेलन में इन दोनों प्रान्तों को अलग अलग रखने का निश्चय किया, जिससे रूमानियन लोगों की राष्ट्रीय भावना को गहरा आघात लगा। 1859 के आरम्भ में दोनों प्रदेशों की राष्ट्रीय सभाओं ने कर्नल एलेक्जेण्डर कूजा (Alexjender Couza) को दोनों राज्यों का शासक निर्वाचित कर लिया। यद्यपि इससे यूरोपीय राज्यों में उत्तेजना फैल गयी, किन्तु अन्त में विवश होकर यूरोपीय राज्यों को रूमानिया की जनता की इच्छाओं को स्वीकार करना पड़ा। दिसम्बर 1861 में रूमानिया के नये राज्य के निर्माण की विधिवत घोषणा कर दी गई।

कर्नल अलेक्जेण्डर कूजा रूमानिया में संवैधानिक शासन स्थापित करने के पक्ष में नहीं था। अतः 1866 में उसे गद्दी से उतार दिया गया तथा प्रिंस चार्ल्स को वहां का राजा चुना गया, जिसने रूमानिया में संवैधानिक शासन की स्थापना की।

सर्बिया—यद्यपि 1829 में सर्बिया को आन्तरिक स्वशासन का अधिकार दे दिया गया था किन्तु वहां कुछ स्थानों पर तुर्की की सेनाएं बनी रही जिससे सर्बिया सन्तुष्ट नहीं था। 1831 में सर्बिया, कुस्तुन्तुनिया के पेटार्क (Petrarch) के धार्मिक प्रमुत्व से मुक्त हो गया तथा अपना पृथक चर्च स्थापित कर लिया। 1867 में सर्बिया के नेताओं ने तुर्की के सुल्तान से अपनी सेनाएं हटा लेने का अनुरोध किया। रूस, फ्रांस और ब्रिटेन ने इसका समर्थन किया, अतः मई 1867 में सुल्तान ने सर्बिया से अपनी सेनाएं हटाली और इस प्रकार सर्बिया को पूर्ण आन्तरिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो गयी। तत्पश्चात् प्रिंस माइकेल ने मान्टीनीग्रो, बोस्निया व हर्जीगोविना के स्लावों को संगठित करने का प्रयास किया, किन्तु 1868 में उसकी हत्या कर दी गई।

सर्विया के साथ-साथ मान्टीनीग्रो, वोस्निया, हर्जीगोविना, बल्गेरिया, यूनान आदि प्रदेशों में तुर्की के शासन के विरुद्ध असन्तोष बढ़ता जा रहा था। अब बाल्कन प्रदेश की ईसाई जनता तुर्की के अत्याचारों को सहन करने के लिये तैयार नहीं थी।

सर्वस्लाव आन्दोलन—क्रीमिया युद्ध के बाद बाल्कन क्षेत्र में, विशेषकर स्लाव जाति में सर्वस्लाववाद की विचारधारा का प्रचार प्रारम्भ हुआ। बाल्कन क्षेत्र के स्लाव लोग रूस, पोलैण्ड और आस्ट्रिया के स्लाव लोगों के साथ अपनी जातीय एकता अनुभव करने लगे, जिसके परिणामस्वरूप सर्वस्लाव आन्दोलन (Pan Slavic Movement) का जन्म हुआ। 1867 में मास्को में एक विराट सर्वस्लाव सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन में एक केन्द्रीय सर्वस्लाव समिति बनायी गयी जिसका मुख्यालय मास्को में रखा गया। पुस्तकों एवं छोटी पुस्तिकाओं द्वारा सर्वस्लाववाद का प्रचार किया जाने लगा। सर्बिया, वोस्निया, बल्गेरिया और मान्टीनीग्रो में सर्वस्लाववादियों की गुप्त समितियों का जाल बिछ गया। परिणाम यह हुआ कि तुर्की के विरुद्ध असन्तोष बढ़ता गया तथा दूसरी ओर तुर्की के सुल्तान के दमनकारी शासन ने इस असन्तोष को और भी अधिक तीव्र कर दिया।

तुर्की की दमनकारी नीति—यद्यपि पेरिस की सन्धि में तुर्की के सुल्तान ने अपनी ईसाई प्रजा की दशा सुधारने का वचन दिया था, किन्तु सन्धि के बाद उसकी दमनकारी नीति में कोई परिवर्तन नहीं आया बल्कि उसके अत्याचारों में वृद्धि हो गयी। 1860 में उसने सीरिया में ईसाइयों का कत्लेआम करवाया तथा 1859 में क्रीट में ईसाइयों को मौत के घाट उतारा गया। मिस्र के पाशा को विदेशी शक्तियों से सन्धि करने का अधिकार दे दिया गया। बोस्निया व हर्जीगोविना के किसानों में तुर्क अधिकारियों के अत्याचारों से असंतोष बढ़ता गया। 1875 में इन किसानों ने विद्रोह कर दिया। इस विद्रोह की लहर बल्गेरिया में भी पहुँच गई। किन्तु तुर्की के सुल्तान ने बड़ी ही निर्दयता से इन विद्रोहों का दमन कर दिया। तुर्की के सुल्तान के अमानुषिक अत्याचारों से समस्त यूरोप कांप उठा।

इस प्रकार तुर्की साम्राज्य की ईसाई जनता में असंतोष निरन्तर बढ़ता गया। 1870 तक तुर्की साम्राज्य के विघटन का मार्ग भी प्रशस्त होता गया। साम्राज्य की नींव दिन प्रतिदिन कमजोर होती गई और साम्राज्य की निर्बलता ने यूरोपीय महाशक्तियों को परेशान कर दिया। पूर्वी समस्या इतनी जटिल बन गयी कि यह समस्या प्रथम विश्वयुद्ध का एक महत्वपूर्ण कारण सिद्ध हुई।

सर्वस्लाव आन्दोलन और विद्रोह की लहर—क्रीमिया युद्ध के बाद काफी समय तक पूर्वी समस्या से सम्बन्धित ऐसी कोई घटना घटित नहीं हुई जिससे अन्तर्राष्ट्रीय तनाव उत्पन्न होता, किन्तु तुर्की साम्राज्य में राष्ट्रीयता की लहर प्रबल वेग से चलने लगी। रूमानिया के नये राज्य के निर्माण के पश्चात् लगभग 10 वर्षों तक

तुर्की साम्राज्य में कोई विद्रोह नहीं हुआ, किन्तु तुर्की सुल्तान के दमनकारी शासन में वृद्धि अवश्य हो गयी, जिससे राष्ट्रीयता की भावना सबल होती गई। बाल्कन प्रदेश में तुर्की के अत्याचारी शासन के विरुद्ध षड़यन्त्र रचे जाने लगे तथा सर्वस्लाव आन्दोलन ने गति पकड़ ली। सर्वस्लाव आन्दोलन के प्रति रूस की सहानुभूति थी। सभी स्लावों को एक सूत्र में बांधने का अर्थ था—तुर्की साम्राज्य का विघटन। अतः तुर्की का व्यवहार ईसाइयों के प्रति दिन प्रतिदिन खराब होता गया।

क्रीमिया युद्ध के बाद पूर्व में विस्तार के लिये रूस के रास्ते में काफी अड़चनें उत्पन्न हो गयी थी। अतः प्रत्यक्ष रूप से रूस इस क्षेत्र में अपना प्रभाव स्थापित नहीं कर सकता था, किन्तु जाति और धर्म के पर्दे के पीछे उन पर प्रभाव जमाया जा सकता था। इसलिये सर्वस्लाव आन्दोलन को प्रोत्साहित करना रूस की बाल्कन नीति का प्रमुख आधार हो गया। रूस के जासूस बाल्कन राज्यों में छाये हुए थे तथा वे स्लावों के बीच जाकर तुर्की के विरुद्ध विद्रोह करने के लिये भड़काया करते थे। सर्वस्लाव आन्दोलन पर सर्वस्लाव समिति पत्रिकाएं प्रकाशित करती थी और बाल्कन राज्यों में उन्हें मुफ्त बाँटा जाता था। स्लाव विद्यार्थियों को मास्को विश्वविद्यालय में तरह-तरह की सुविधाएं मिलती थी। वहां उन्हें सर्वस्लाव आन्दोलन के उद्देश्य बताये जाते थे। कुस्तुन्तुनिया में स्थित रूसी दूतावास तथा बाल्कन राज्यों में फैले हुए रूसी वाणिज्य दूतावास इस आन्दोलन के प्रमुख अड्डे थे। रूस का सहयोग प्राप्त कर बाल्कन राज्यों के स्लाव लोग तुर्की साम्राज्य के विरुद्ध आन्दोलन करने के अवसर की प्रतीक्षा करने लगे।

बाल्कन प्रायद्वीप में रूस अपनी स्थिति मजबूत कर रहा था। 1870 में फ्रैंको प्रशा युद्ध का लाभ उठाकर रूस ने पेरिस की सन्धि की काला सागर सम्बन्धी शर्तों को अस्वीकार कर दिया। सेवास्टोपोल में उसने पुनः किलेबन्दी करना आरम्भ कर दिया तथा काले सागर तट पर अपनी नौ सेना को पुनर्गठित करना शुरू कर दिया। रूस ने यह सब स्लाव लोगों को प्रभावित करने तथा तुर्की साम्राज्य में अपनी अभिलाषा पूरी करने हेतु किया था। दूसरी ओर जब आस्ट्रिया को जर्मनी से निष्कासित कर दिया गया तो उसने अपनी शक्ति के विस्तार का क्षेत्र बाल्कन प्रायद्वीप को ही चुना। अतः बाल्कन प्रायद्वीप में रूस और आस्ट्रिया के एक ही उद्देश्य थे कि तुर्की के मूल्य पर अपने-अपने राज्य का विस्तार करना। 1867 में आस्ट्रिया व हंगरी मिल कर एक राज्य हो गये थे, अतः आस्ट्रिया में द्वैत राजतंत्र था। हंगरी में मेग्यार जाति के लोग अधिक थे जो स्लाव जाति के विरोधी थे। इसलिये आस्ट्रिया के लिये यह आवश्यक हो गया कि वह स्लाव लोगों का विरोध करे। इस प्रकार एक ओर रूस सर्वस्लाव आन्दोलन को प्रोत्साहित कर रहा था तो दूसरी ओर आस्ट्रिया इस आन्दोलन का विरोधी था। फलतः बाल्कन प्रायद्वीप में रूस और आस्ट्रिया का संघर्ष अवश्यंभावी हो गया।

बोस्निया व हर्जीगोविना का विद्रोह—बोस्निया व हर्जीगोविना की ईसाई जनता जिनमें अधिकांश किसान थे, को कई वर्षों तक तुर्क अधिकारियों के अत्याचार सहन करने पड़े थे। 1871 में बोस्निया के बारे में ब्रिटिश वाणिज्य दूत ने अपनी रिपोर्ट में लिखा था कि, "यहाँ पर घूसखोरी और भ्रष्टाचार का बोलबाला है तथा तुर्कों एवं ईसाइयों के झगड़ों में मुसलमानों के साथ प्रत्यक्ष रूप से पक्षपात किया जाता है और न्यायालयों में अधिकांश मुकदमों के निर्णय घूसखोरी के आधार पर किये जाते हैं।" कुछ विद्वानों का मत है कि तुर्की के भ्रष्ट शासन के कारण ही बोस्निया व हर्जीगोविना में विद्रोह नहीं हुआ था, बल्कि विद्रोह का मुख्य कारण यह था कि कुस्तुन्तुनिया में स्थित रूस का राजदूत इग्नातेव सर्वस्लाव आन्दोलन का प्रबल समर्थक था तथा वह स्लाव लोगों को विद्रोह के लिये प्रोत्साहित कर रहा था। इधर आस्ट्रिया के कुछ सैनिक अधिकारी, बहुत समय से बोस्निया व हर्जीगोविना पर अधिकार करने की योजना बना रहे थे। मार्च-अप्रैल 1875 में आस्ट्रिया के सम्राट फ्रांसिस ने तुर्की के सीमावर्ती क्षेत्रों का दौरा किया, उस समय बोस्निया व हर्जीगोविना के कैथोलिक ईसाइयों के नेता उससे मिले, परिणामस्वरूप जुलाई 1875 में बोस्निया व हर्जीगोविना में विद्रोह फूट पड़ा। 1874 में वहाँ फसलों का खराब होना तथा तुर्क अधिकारियों द्वारा कठोरता से वहां कर वसूल करना, जुलाई 1875 में बोस्निया व हर्जीगोविना के विद्रोह का तात्कालिक कारण माना जाता है। सुल्तान ने विद्रोह का दमन करने के लिये सेना भेजी, किन्तु विद्रोहियों ने उसे पराजित कर दिया। सर्बिया, मान्टीनीग्रो व डलमेशिया के स्लाव लोग विद्रोहियों की सहायता करने लगे। विद्रोहियों ने यूरोप के प्रमुख राज्यों से प्रार्थना की कि वे उनकी स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार करे। यूरोप की बड़ी शक्तियों ने अपने वाणिज्य दूतों के माध्यम से दोनों पक्षों में समझौता कराने का प्रयत्न किया किन्तु उसका परिणाम नहीं निकला। अन्त में विवश होकर विद्रोहियों ने जून 1876 में तुर्की के विरुद्ध युद्ध घोषित कर दिया।

एन्ड्रासी नोट—तुर्की के सुल्तान से सुधार योजना को स्वीकार कराने तथा युद्ध को समाप्त कराने के उद्देश्य से आस्ट्रिया के विदेशमंत्री एन्ड्रासी ने, रूस व जर्मनी के सहयोग से एक प्रस्ताव तैयार किया, जो एन्ड्रासी नोट के नाम से प्रसिद्ध है। नोट में मुख्य रूप से पांच बातें कही गई थी—ईसाइयों को पूर्ण धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदान करने, किसानों की दशा सुधारने, कर वसूली के लिये ठेके की प्रथा समाप्त करने, स्थानीय करों का उपयोग स्थानीय कार्यों के लिये करने तथा इन सुधारों को कार्यान्वित करने के लिये एक आयोग नियुक्त करने, जिसमें मुसलमान व ईसाई सदस्यों की संख्या बराबर रखने की मांग की गई। 31 जनवरी 1876 को यह नोट सुल्तान के पास भेजा गया। सुल्तान ने स्थानीय करों के उपयोग की शर्त को छोड़कर शेष चार शर्तें स्वीकार करली। किन्तु विद्रोही सुल्तान के आश्वासनों से सन्तुष्ट नहीं हो सके, क्योंकि वे सुधारों को कार्यान्वित करने की ठोस गारन्टी चाहते थे। इस प्रकार एन्ड्रासी नोट से युद्ध बन्द नहीं हो सका।

बर्लिन का ज्ञापन—रूस और आस्ट्रिया के विदेश मन्त्रियों ने मई 1876 में विस्मार्क से विचार विमर्श के बाद एक नया प्रस्ताव किया। यही प्रस्ताव बर्लिन ज्ञापन के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस ज्ञापन में दो माह के लिये युद्ध विराम करने तथा तुर्की के सुल्तान व विद्रोहियों के बीच समझौता कराने के लिये कुछ शर्तें रखी गई। ज्ञापन में यह भी चेतावनी दी गई कि यदि इस दो माह की अवधि में बड़े राज्यों की इच्छानुसार सफलता नहीं मिली तो उन्हें शान्ति स्थापित करने के लिए कठोर कदम उठाने पड़ेंगे। फ्रांस और इटली ने ज्ञापन स्वीकार कर लिया, किन्तु ब्रिटेन ने इसे अस्वीकार कर दिया। ब्रिटेन की अस्वीकृति से बर्लिन ज्ञापन निरर्थक सिद्ध हुआ तथा युद्ध रोकने की आशा क्षीण हो गई। यदि ब्रिटेन अन्य यूरोपीय राज्यों से सहयोग करता तो तुर्की के सुल्तान को भी झुकना पड़ता। बड़े राज्यों द्वारा ज्ञापन तैयार करने हेतु ब्रिटेन को आमंत्रित न करना, उनकी भूल थी। ब्रिटेन की अस्वीकृति से तुर्की प्रोत्साहित हुआ तथा उसने यूरोपीय राज्यों के विरोध की परवाह नहीं की।

बल्गेरिया हत्या काण्ड—मई 1876 में बल्गेरिया के ईसाइयों ने तुर्की के अधिकारियों की आज्ञाओं की अवहेलना की तथा कुछ अधिकारियों की हत्या करदी गई। इससे तुर्की सरकार का क्रोधित होना स्वाभाविक था। तुर्की के 18 हजार सैनिकों को बल्गेरिया भेजा गया तथा उनके साथ हजारों खूंखार अनियमित सैनिकों को भी बल्गेरियावासियों से बदला लेने के लिए छोड़ दिया गया। इन सैनिक लुटेरों ने 60 गांवों को जलाकर राख कर दिया तथा 12 हजार से अधिक पुरुष, स्त्री और बच्चों को निर्दयता के साथ मौत के घाट उतार दिया। जब बुल्गेरिया के इन भयंकर अत्याचारों का समाचार यूरोप के समाचार पत्रों में छपा तो समस्त यूरोप में खलबली मच गई। यहां तक कि ग्लैडस्टोन जैसे उदार प्रवृत्ति के व्यक्ति का दिल भी दहल उठा। उसने बुल्गेरिया के अत्याचार पर एक छोटी सी पुस्तक प्रकाशित की तथा तुर्की के विरुद्ध बाल्कन राज्यों की सहायता के लिये आंदोलन छेड़ दिया। किन्तु इस समय ब्रिटेन का प्रधानमन्त्री ग्लेडस्टोन नहीं, वल्कि महान साम्राज्यवादी डिजरैली था। डिजरैली के समक्ष बल्गेरिया के अत्याचार नहीं वल्कि भारतीय साम्राज्य की सुरक्षा का प्रश्न था। ब्रिटेन का शत्रु तुर्की नहीं, वल्कि रूस था जो भारत की तरफ बढ़ने के लिए षड़यन्त्र रच रहा था। डिजरैली ने इन अत्याचारों के प्रति उपेक्षा दिखाई क्योंकि वह ब्रिटिश साम्राज्य के हितों की दृष्टि से तुर्की साम्राज्य को बनाये रखना आवश्यक मानता था।

सर्बिया एवं मान्टीनीग्रो का विद्रोह—यूरोपीय शक्तियों की निष्क्रियता के बावजूद बाल्कन प्रदेशों में तुर्की के विरुद्ध असन्तोष तथा बल्गेरिया के प्रति सहानुभूति में वृद्धि होती गई। बर्लिन के ज्ञापन की असफलता से सर्बिया में युद्ध की भावना प्रबल हो गयी। इसके अतिरिक्त स्लाववादी एजेन्टों के षड़यन्त्रों के कारण भी युद्ध की भावना बलवती होती गई। 30 जून 1876 को सर्बिया ने तथा 1 जुलाई 1876

को मान्टीनीग्रो ने तुर्की के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। सर्बिया एवं मान्टीनीग्रो के युद्ध में सम्मिलित हो जाने से सर्वस्लाववादियों का उत्साह बढ़ गया तथा वे अपने भाइयों की सहायता के लिए व्यग्र हो उठे। अगस्त 1876 में सर्बिया की सेनाएं कई स्थानों पर पराजित हुई। इंगलैण्ड ने युद्ध विराम कराने का असफल प्रयत्न किया। दूसरी ओर अब रूस का धैर्य भी समाप्त होता जा रहा था। सर्बिया की निरन्तर हार के कारण रूस के लिए हस्तक्षेप करना आवश्यक हो गया। 31 अक्टूबर 1876 को रूस ने तुर्की को 48 घंटे का अल्टीमेटम दिया, जिसमें 6 सप्ताह के लिए युद्ध विराम करने की मांग की गई। रूस ने यह भी धमकी दी कि यदि तुर्की युद्ध विराम नहीं करता है तो वह तुर्की से राजनयिक सम्बन्ध तोड़ लेगा। तुर्की ने युद्ध विराम स्वीकार कर लिया। इस प्रकार रूस के हस्तक्षेप से सर्बिया विनाश से बच गया तथा यूरोप के राजनीतिज्ञों को बाल्कन समस्या का हल निकालने का एक और अवसर मिल गया।

कुस्तुन्तुनिया का सम्मेलन—बाल्कन समस्या पर विचार करने तथा तुर्की के सुल्तान से सुधार की योजनाएं स्वीकार कराने के उद्देश्य से ब्रिटेन के विदेशमन्त्री लार्ड डर्बी ने यूरोप की महाशक्तियों का एक सम्मेलन आमन्त्रित किया। 23 दिसम्बर 1876 को कुस्तुन्तुनिया में सम्मेलन का प्रथम अधिवेशन आरम्भ हुआ। उसी दिन तुर्की के सुल्तान ने नये संविधान की घोषणा कर दी। तुर्की के विदेश मन्त्री सफवत पाशा ने सम्मेलन में तर्क प्रस्तुत किया कि नये संविधान द्वारा तुर्की साम्राज्य में नागरिक स्वतन्त्रता के अधिकार प्रदान कर दिये गये हैं, अतः अब यह आवश्यक नहीं है कि सम्मेलन कोई सुधार योजना प्रस्तुत करे। यूरोप के राजदूतों ने तुर्की के सुल्तान से मांग की कि सर्बिया, रूमानिया और मान्टीनीग्रो को स्वतन्त्रता प्रदान करदी जाय तथा बल्गेरिया, बोस्निया व हर्जीगोविना को तुर्की साम्राज्य के अधीन अर्द्धस्वतन्त्र मान लिया जाय। किन्तु तुर्की के सुल्तान ने इन मांगों को अस्वीकार कर दिया। अतः 20 जनवरी 1877 को कुस्तुन्तुनिया सम्मेलन असफल होकर समाप्त हो गया।

रूस व आस्ट्रिया का समझौता—कुस्तुन्तुनिया सम्मेलन की असफलता के बाद रूस को यह विश्वास हो गया कि निकट भविष्य में तुर्की के विरुद्ध युद्ध अवश्य करना पड़ेगा। अतः उसने युद्ध आरम्भ करने से पूर्व आस्ट्रिया के तटस्थ रहने का आश्वासन प्राप्त करने के लिए समझौता वार्ता आरम्भ की। 15 जनवरी 1877 को दोनों के बीच बुडापेस्ट की सन्धि हो गई, जिसके अनुसार रूस ने आस्ट्रिया को बोस्निया व हर्जीगोविना पर अधिकार करने की स्वीकृति प्रदान कर दी तथा सर्बिया व मान्टीनीग्रो को दोनों के बीच तटस्थ राज्य मान लिया गया। रूस ने यह भी वचन दिया कि तुर्की साम्राज्य का पतन हो जाने के बाद वह किसी बड़े स्लाव राज्य का निर्माण नहीं करेगा। इसके बदले में आस्ट्रिया ने रूस-तुर्की युद्ध के समय तटस्थ रहने का वचन दिया।

लन्दन प्रोटोकोल—मार्च 1877 में लन्दन में स्थित रूसी राजदूत शूवलॉन तथा ब्रिटिश विदेशमन्त्री लार्ड डर्बी के बीच, तुर्की से समझौता करने के लिए एक प्रोटोकोल के प्रारूप पर मतैक्य हो गया तथा कुछ दिन बाद अन्य यूरोपीय राज्यों ने भी उसे स्वीकार कर लिया। इस प्रोटोकोल में तुर्की से मांग की गई कि नये संविधान के अन्तर्गत दिये गये सुधारों को तुरन्त लागू करे तथा यूरोपीय राज्यों के प्रतिनिधियों को यह देखभाल करने का अधिकार दिया जाय कि वास्तव में सुधार लागू करने के प्रयत्न किये जा रहे हैं या नहीं। प्रोटोकोल के अन्त में यह भी कहा गया था कि यदि तुर्की ने अपेक्षित सुधार नहीं किये तो ईसाइयों के हितों की रक्षा के लिए उन्हें उचित कदम उठाने का अधिकार होगा। 9 अप्रेल 1877 को तुर्की ने लन्दन प्रोटोकोल को अस्वीकार कर दिया। इस प्रकार बाल्कन समस्या को शांतिपूर्ण ढंग से सुलझाने का अन्तिम प्रयास भी विफल हो गया।

रूस-तुर्की युद्ध—तुर्की के व्यवहार से क्षुब्ध होकर 24 अप्रेल 1877 को रूस ने तुर्की के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। युद्ध आरम्भ होने के समय तुर्की की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी, किन्तु उसके पास आधुनिक हथियारों से सुसज्जित सेना थी, फिर भी वह रूस की शक्तिशाली सेना का अधिक समय तक सामना नहीं कर सकता था। रूस को आस्ट्रिया व फ्रांस के हस्तक्षेप का भय नहीं था, किन्तु वह इंगलैण्ड की ओर से आशंकित था। इंगलैण्ड भी रूस की सैनिक कार्यवाही से प्रसन्न नहीं था। इङ्गलैण्ड ने मई 1877 में रूस को चेतावनी दी कि वह युद्ध काल में स्वेज नहर के नौचालन में किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न न करे तथा कुस्तुन्तुनिया पर अधिकार करने का प्रयत्न न करे। 30 मई 1877 को रूस के विदेश मन्त्री गार्शकाव ने लार्ड डर्बी को इसके लिये आश्वासन दिया, फिर भी इङ्गलैण्ड पूर्ण रूप से सन्तुष्ट नहीं हुआ।

मई 1877 में रूमानिया ने तथा 12 जून 1877 को मान्टीनीग्रो ने तुर्की के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करदी। 22 जून को रूस की सेना डेन्यूब नदी पार कर बाल्कन की पहाड़ियों की ओर बढ़ने लगी। तुर्की की सेनायें उनकी प्रगति को न रोक सकी। किन्तु तुर्क सेनापति उस्मानपाशा ने प्लेवना में रूस की सेनाओं को रोक दिया। तत्पश्चात् रूस व रूमानिया की सेनाओं ने प्लेवना का घेरा डाला। उस्मानपाशा ने पाँच महिने तक प्लेवना के किले की रक्षा की, किन्तु 10 दिसम्बर को प्लेवना का पतन हो गया। 20 जनवरी 1878 को रूसी सेनायें एड्रियानोपोल तक पहुंच गई जहां से कुस्तुन्तुनिया केवल 160 मील दूर था। 31 जनवरी 1878 को तुर्की ने रूस की शर्तें मानते हुए युद्ध विराम की घोषणा कर दी। रूस की विजय से इंगलैण्ड और आस्ट्रिया दोनों ही चिन्तित थे। इङ्गलैण्ड के विदेश मन्त्री ने रूस को चेतावनी दी कि यदि उसने तुर्की से ऐसी कोई सन्धि की, जो 1856 और 1871 की संधियों द्वारा स्थापित व्यवस्था के विरुद्ध हो, तो यूरोपीय शक्तियों की सहमति के बिना उसे मान्यता नहीं दी जायेगी। रूसी सेनायें कुस्तुन्तुनिया के निकट सेन-

स्टीफेनो नामक स्थान पर पहुंच चुकी थी और तभी रूस ने तुर्की की युद्ध विराम की घोषणा को स्वीकार कर लिया।

सेन स्टीफ़ेनो की सन्धि—3 मार्च 1878 को रूसी सेनापति इग्नातेव ने तुर्की के सुल्तान को सेन स्टीफेनो नामक स्थान पर रूस की शर्तों के आधार पर सन्धि कराने को बाध्य किया। इस सन्धि की शर्तें इस प्रकार थी—

(1) तुर्की ने सर्विया, मान्टीनीग्रो और रूमानिया की स्वतन्त्रता को स्वीकार कर लिया। इसके साथ ही सर्विया को दक्षिण की ओर कुछ प्रदेश तथा मान्टीनीग्रो को उत्तर-पूर्व की ओर कुछ प्रदेश दिये गये।

(2) बुल्गेरिया को स्वायत्त राज्य के रूप में मान्यता दी गई तथा उसे अपने राज्य के लिए ईसाई गवर्नर निर्वाचित करने का अधिकार दिया गया। साथ ही उसकी सीमायें डेन्यूब से एजियन सागर तक तथा काले सागर से अल्बानिया तक मान ली गई। इस प्रकार वृहत्त बल्गेरिया राज्य का निर्माण किया गया।

(3) तुर्की के सुल्तात ने बोस्निया व हर्जीगोविना में, कुस्तुन्तुनिया सम्मेलन में प्रस्तावित सुधारों को, रूस व आस्ट्रिया के संरक्षण में तुरन्त कार्यान्वित करने का वचन दिया।

(4) तुर्की के सुल्तान ने अन्य ईसाई प्रान्तों में क्रीट के समान व्यवस्था स्थापित करने का वचन दिया।

(5) रूस ने तुर्की से 1 अरब 41 करोड़ रूबल की राशि हर्जाने के रूप में मांगी। तुर्की इतनी बड़ी राशि नहीं दे सकता था। अतः रूस ने उससे दोब्रुजा, अर्दहान, कार्स, कार्टुम, बायाजिद तथा कुछ अन्य भू-भाग प्राप्त कर लिये।

सेन-स्टीफेनो की सन्धि रूस की महान सफलता थी। इस सन्धि द्वारा जहां बाल्कन में तुर्की का प्रभाव ही बहुत कम हो गया वहां रूस का प्रभाव सर्वोपरि हो गया। सर्विया, रूमानिया और मान्टीनीग्रो तो पहले ही रूस के प्रभाव में थे और अब वह एक नवीन बल्गेरिया का निर्माण कर रहा था, जिस पर उसका प्रभाव रहना स्वाभाविक था। इस प्रकार रूस ने युद्ध की विजय को कूटनीति द्वारा स्थायित्व प्रदान करने का प्रयत्न किया तथा क्रीमिया युद्ध एवं 1856 की पेरिस की सन्धि द्वारा हुए राष्ट्रीय अपमान को धो डाला।

यूरोपीय राज्यों की प्रतिक्रिया—ज्योंही सेन स्टीफेनो की सन्धि की शर्तें यूरोपीय समाचार पत्रों में प्रकाशित हुई, त्योंही ब्रिटेन व आस्ट्रिया में खलबली मच गई। जर्मनी से निष्कासित हो जाने के बाद आस्ट्रिया बाल्कन प्रदेशों की ओर गिद्ध दृष्टि से देख रहा था, किन्तु सेन-स्टीफेनो की सन्धि के बाद उसे ऐसा लगा मानों उस क्षेत्र में उसके लिए कुछ रह ही नहीं गया है। आस्ट्रिया ने बल्गेरिया के बड़े स्लाव राज्य के निर्माण को बुडापेस्ट के समझौते का उल्लंघन बताया तथा एण्ड्रासी ने यूरोपीय राज्यों के सम्मेलन में सन्धि पर पुनर्विचार करने की मांग की। ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री बीकन्सफील्ड ने कहा कि स्टीफेनो की सन्धि ने यूरोप में आटोमन

साम्राज्य को समाप्त कर दिया है। उसने यह भी कहा कि सन्धि की शर्तों का कुल प्रभाव यह होगा कि काला सागर अब रूस की झील बन जायेगा। ब्रिटेन ने इस सन्धि को पेरिस की सन्धि (1856 ई.) के विरुद्ध एक चुनौती माना तथा यूरोपीय राज्यों के सम्मेलन में उस पर पुनर्विचार करने की मांग की। रूस और बल्गेरिया को छोड़कर कोई भी देश इस सन्धि से सन्तुष्ट नहीं था। रूमानिया ने रूस का साथ दिया था किन्तु सन्धि की बातचीत प्रारम्भ होने पर रूस ने उसे निमन्त्रण तक नहीं भेजा। सर्बिया, मान्टीनीग्रो और यूनान, वृहत् बल्गेरिया के निर्माण को देखकर जल रहे थे। यूनान तो इतना क्रोधित हुआ कि उसने थेसेली पर आक्रमण कर दिया। इधर आस्ट्रिया व ब्रिटेन सन्धि पर पुनर्विचार करने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन की मांग कर रहे थे। रूस इसके लिए सहमत नहीं था, क्योंकि रूस के राजनीतिज्ञ इस कार्यवाही को अपमानजनक समझते थे। रूस ने इङ्गलैण्ड को कूटनीति में अकेला करने के उद्देश्य से आस्ट्रिया से समझौता करने का प्रयत्न किया किन्तु उसे सफलता नहीं मिली। इधर इङ्गलैंड की सरकार रूस और आस्ट्रिया के बीच समझौते की सम्भावना से चिंतित थी, अतः इङ्गलैंड ने आस्ट्रिया से समझौता करने का प्रयत्न किया, किन्तु एन्ड्रासी केवल अपनी शर्तों के आधार पर ही समझौता करना चाहता था, इसलिये वार्ता विफल हो गयी। 17 अप्रैल 1878 को डिजरैली ने 7000 भारतीय सैनिकों को माल्टा भेजने का आदेश दे दिया। इससे रूस को यह विश्वास हो गया कि यदि समझौता नहीं हुआ तो ब्रिटेन, रूस के विरुद्ध युद्ध आरम्भ कर देगा। रूस, इङ्गलैण्ड के विरुद्ध युद्ध करने की स्थिति में नहीं था, अतः उसने इंगलैंड के साथ समझौता करना ही उचित समझा। 30 मई 1878 को लन्दन में स्थित रूसी राजदूत शूवालॉव तथा ब्रिटेन के विदेश मन्त्री लार्ड सेलिसबरी के बीच मुख्य प्रश्नों पर समझौता हो गया। रूस को सेन स्टीफेनो की सन्धि पर पुनर्विचार करने के लिए सहमत होना पड़ा। सम्मेलन आमन्त्रित करने का काम बिस्मार्क को सौंपा गया।

बर्लिन कांग्रेस—इस समय तक यूरोपीय रंगमंच पर संयुक्त जर्मनी का आविर्भाव हो चुका था। यूरोपीय राजनीति में जर्मनी की महत्ता प्रदर्शित करने के लिये बिस्मार्क ने प्रस्ताव रखा कि प्रस्तावित अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन बर्लिन में हो। यूरोपीय राज्य भी जर्मनी की नवीन महत्ता को स्वीकार करने को तैयार थे, अतः उन्होंने कोई आपत्ति नहीं की। इस प्रकार बर्लिन में सम्मेलन का कार्य आरम्भ हुआ। 30 जून 1878 को बर्लिन में सम्मेलन आरम्भ हुआ। सम्मेलन में इङ्गलैण्ड, आस्ट्रिया, रूस, तुर्की, इटली, फ्रांस आदि के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। सम्मेलन के प्रथम अधिवेशन में बिस्मार्क को सम्मेलन का अध्यक्ष निर्वाचित किया गया। बिस्मार्क ने 'ईमानदार दलाल' के रूप में कार्य करने का आश्वासन दिया। सम्मेलन में ब्रिटिश प्रधान मन्त्री डिजरैली तथा बिस्मार्क ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। बल्गेरिया के विभाजन के प्रश्न पर रूस और ब्रिटेन के बीच मतभेदों के कारण सम्मेलन में गति-

रोध उत्पन्न हो गया। किन्तु बिस्मार्क ने बड़ी ही चतुराई से दोनों पक्षों का समाधान कर दिया। अन्य कुछ मामलों में भी कठिनाई उत्पन्न हुई, किन्तु उन्हें भी हल कर दिया गया। कुछ समय के पश्चात् रूमानिया और यूनान के प्रतिनिधियों को भी सम्मेलन में भाग लेने का अवसर प्रदान कर दिया गया। सेन स्टीफेनो की सन्धि की शर्तों पर विचार करने के बाद जो निर्णय लिये गये उन्हें बर्लिन की सन्धि के रूप में स्वीकार किया गया। चूंकि मुख्य प्रश्नों पर शूवलॉव तथा सेलिसबरी के बीच 30 मई 1878 को समझौता हो चुका था, अतः वाद विवाद में अधिक समय नहीं लगा। बर्लिन की सन्धि पर 13 जुलाई 1878 को हस्ताक्षर हो गये। बर्लिन की सन्धि के अनुसार पूर्वी समस्या के सम्बन्ध में निम्नलिखित व्यवस्थायें की गईं।

(1) वृहत बल्गेरिया को तीन भागों में विभाजित कर दिया गया। प्रथम बल्गेरिया का राज्य था जिसे तुर्की की अधीनता के अन्तर्गत स्वतन्त्र राज्य मान लिया गया। इस प्रकार बर्लिन की सन्धि द्वारा बल्गेरिया का क्षेत्रफल, सेन स्टीफेनो की सन्धि द्वारा निर्धारित क्षेत्र का लगभग एक तिहाई रह गया।

(2) वृहत बल्गेरिया का दक्षिणी भाग अर्थात् पूर्वी रूमेलिया, सेन स्टीफेनो की सन्धि के अनुसार बल्गेरिया के अन्तर्गत था। किन्तु बर्लिन की सन्धि द्वारा पूर्वी रूमेलिया को बल्गेरिया से अलग कर पुनः तुर्की के अधीन कर दिया गया। किन्तु उसके लिये तुर्की को, यूरोपीय राज्यों द्वारा स्वीकृत ईसाई गवर्नर नियुक्त करने का वचन देना पड़ा।

(3) यद्यपि बोस्निया व हर्जीगोविना पर तुर्की का प्रभुत्व रहा, किन्तु उनका प्रशासकीय नियन्त्रण अनिश्चित काल के लिये आस्ट्रिया को सौंप दिया गया। आस्ट्रिया को सर्बिया तथा मान्टीनीग्रो के बीच स्थित नोवीबाजार के संजक में अपनी सेना रखने का अधिकार प्राप्त हो गया।

(4) सर्बिया तथा मान्टीनीग्रो को पूर्णतया स्वाधीन राज्यों के रूप में स्वीकृत कर लिया गया।

(5) रूमानिया की भी स्वतन्त्रता स्वीकार कर ली गई, किन्तु उसे बेसरेबिया का प्रदेश रूस को देना पड़ा तथा उसके बदले में उसे दोब्रुजा का क्षेत्र, जो सेन स्टीफेनो की सन्धि द्वारा रूस को दिया गया था, प्राप्त हुआ।

(6) अर्दहान, बाटुम तथा कार्स पर रूस का अधिकार मान लिया गया, किन्तु उसे बायजिद तुर्की को वापस देना पड़ा। रूमानिया को दोब्रुजा देने के बदले रूस को बेसरेबिया प्राप्त हुआ।

(7) इङ्गलैण्ड को साइप्रस पर अधिकार करने तथा उसका प्रशासन चलाने का अधिकार दे दिया गया। साइप्रस प्राप्त हो जाने से इङ्गलैंड, रूस की गतिविधियों एवं स्वेज पर निगरानी रख सकता था।

(8) तुर्की को अल्वानिया तथा मेसीडोनिया के क्षेत्र पुनः प्राप्त हो गये। कुल मिलाकर 30 हजार वर्ग मील का क्षेत्र तुर्की को वापस मिल गया। किन्तु तुर्की के सुल्तान को अपनी ईसाई प्रजा की दशा सुधारने का वचन देना पड़ा।

वर्लिन कांग्रेस में फ्रांस ने ट्युनिस, इटली ने अल्वानिया व ट्रीपोली तथा यूनान ने क्रीट, एपीरस, थेसेली एवं मेसीडोनिया पर दावा किया, किन्तु कांग्रेस ने उनकी मांगों को अस्वीकार कर दिया। कांग्रेस में सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी कि जर्मनी ने किसी प्रदेश पर दावा नहीं किया। इसके बदले उसे तुर्की की कृतज्ञतापूर्ण मैत्री का लाभ हुआ।

बर्लिन कांग्रेस के निर्णयों की समीक्षा—विश्व राजनीति के आधुनिक इतिहास में वर्लिन सन्धि का महत्वपूर्ण स्थान है। पूर्वी समस्या जैसी जटिल गुत्थी को सुलझाने की दिशा में यह एक महत्वपूर्ण कदम था। किन्तु अनेक कारणों से वर्लिन कांग्रेस अपने उद्देश्यों में सफलता प्राप्त नहीं कर सकी। इतिहासकार ए. जे. पी. टेलर के मतानुसार वर्लिन कांग्रेस के निर्णायकों के दावे, कि बर्लिन की सन्धि द्वारा पूर्वी समस्या का संतोषजनक समाधान किया गया तथा यूरोपीय राज्यों के बीच होने वाले अवश्यम्भावी युद्ध को रोका गया, तथ्यहीन थे। टेलर महोदय लिखते हैं कि संभावना तो कांग्रेस के पहले ही उस समय समाप्त हो गई थी, जबकि रूसी सेनाएँ कुस्तुन्तुनिया पर अधिकार करने से हिचकिचा रही थी। वस्तुतः व्यावहारिक दृष्टि से वर्लिन कांग्रेस के निर्णयों का बहुत ही कम प्रभाव पड़ा। वर्लिन कांग्रेस का मूल उद्देश्य वाल्कन क्षेत्र में रूस के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकना, पूर्वी समस्या का संतोषजनक समाधान करना, तुर्की साम्राज्य को एक स्वतन्त्र एवं शक्तिशाली सत्ता के रूप में पुनः प्रतिष्ठित करना तथा वाल्कन क्षेत्र में रूस, आस्ट्रिया और ब्रिटेन के हितों में संतुलन स्थापित करना था। वर्लिन कांग्रेस के निर्णयों से वाल्कन क्षेत्र में रूस के प्रभाव को समाप्त कर दिया तथा तुर्की साम्राज्य को, जो सेन स्टीफेनो की सन्धि द्वारा मृतप्रायः हो चुका था, नवजीवन प्रदान किया गया। वर्लिन कांग्रेस से लौटकर ब्रिटिश प्रधान मन्त्री बीकन्सफील्ड ने बड़े गर्व से कहा था कि "मैं सम्मान सहित शांति लाया हूं।" यद्यपि वर्लिन कांग्रेस में इङ्गलैण्ड को अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई थी तथा रूस की कूटनीतिक पराजय हुई थी, किन्तु इङ्गलैंड, मध्य एशिया व अफगानिस्तान में रूस की गतिविधियों पर अंकुश नहीं लगा सका। कुछ आलोचकों ने इङ्गलैण्ड पर यह आरोप लगाया है कि उसने वाल्कन क्षेत्र के ईसाइयों को, जिन्हें रूस ने सेन स्टीफेनो की सन्धि द्वारा मुक्त किया था, पुनः तुर्की साम्राज्य की दासता में धकेल दिया। ब्रिटेन ने रूस की प्रगति तो रोक दी किन्तु आस्ट्रिया को वोस्निया व हर्जीगोविना के क्षेत्र, जिन पर सर्विया अपना अधिकार समझता था, पर अधिकार प्रदान कर दिया जिससे एक नवीन समस्या उत्पन्न हो गयी। स्लाव समस्या के कारण इस क्षेत्र में अशान्ति उत्पन्न हो गयी जो आस्ट्रिया के पतन के बाद ही समाप्त हो सकी।

बर्लिन कांग्रेस के निर्णायकों ने बाल्कन क्षेत्र में अनेक स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना करके तथा स्वयं उसके कुछ भू-भागों पर अधिकार करके तुर्की साम्राज्य के विघटन पर अपनी स्वीकृति की मोहर लगा दी।

बर्लिन कांग्रेस में रूस को महान् अपमानजनक कूटनीतिक पराजय का मुंह देखना पड़ा। उसने अपार जन, धन और सेना का बलिदान करके सेन स्टीफेनो की संधि द्वारा जो लाभ प्राप्त किये थे, वे सभी उससे छीन लिये गये। ऐसा प्रतीत होने लगा मानो रूस ने आस्ट्रिया व ब्रिटेन के हितों के लिये युद्ध किया था। बर्लिन कांग्रेस ने रूस की प्रतिष्ठा को ध्वस्त कर दिया जिससे, सर्वस्लाववादी विचारधारा को भी ठेस पहुंची। एक तरफ यदि रूस की पराजय हुई तो दूसरी ओर आस्ट्रिया को भी पूर्ण सफलता नहीं मिल सकी। एन्ड्रासी तुर्की की अखण्डता की सुरक्षित रखना चाहता था किन्तु तुर्की के पतन को रोकना सम्भव नहीं था। आस्ट्रिया को बोस्निया व हर्जीगोविना पर अधिकार प्रदान किया गया, किन्तु उससे उसको पूर्वी समस्या में अधिकाधिक उलझना पड़ा और उसी के कारण सर्बिया से उसका तनाव बढ़ा।

बाल्कन राज्यों की समस्या का समाधान भी बर्लिन सन्धि द्वारा नहीं हो सका। बाल्कन का प्रत्येक राज्य इस सन्धि से असन्तुष्ट था। डेविस थाम्पसन ने लिखा है कि "बर्लिन कांग्रेस के निर्णयों का विशेष परिणाम यह निकला कि प्रत्येक राज्य पहले की अपेक्षा अधिक असन्तुष्ट और चिन्तित हो गया।" वृहत बल्गेरिया का विभाजन सर्वथा अस्वाभाविक था, क्योंकि बल्गेरिया व पूर्वी रूमेलिया के लोग एक ही जाति और एक ही भाषा बोलने वाले थे। अत: उनके विभाजन से बल्गर जाति की एकता एवं राष्ट्रीयता की भावना को ठेस पहुंची। वे इस विभाजन को अधिक समय तक स्वीकार नहीं कर सकते थे, अत: 1885 में बर्लिन संधि के विरुद्ध दोनों राज्यों का एकीकरण हुआ, जिससे यूरोप में गम्भीर समस्या उत्पन्न हो गयी।

मेसीडोनिया को पुन: तुर्की के आधिपत्य में देना भी बड़ी भारी भूल थी। मेसीडोनिया की ईसाई जनता तुर्की के अत्याचारों के कारण कभी सुखी जीवन व्यतीत नहीं कर सकी और कुछ ही समय बाद उन्होंने तुर्की के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। अन्त में उसी के कारण 1912 का बाल्कन युद्ध हुआ। रूमानिया से बेस-रेबिया का ऊपजाऊ क्षेत्र लेकर दोब्रुजा का अनुपजाऊ क्षेत्र देकर उसके साथ भी न्यायोचित व्यवहार नहीं किया। रूमानिया के नेता रूस की कृतघ्नता को कभी नहीं भुला सके तथा यूरोप की शक्तियों से उसका विश्वास उठ गया। बर्लिन सन्धि द्वारा दक्षिण स्लाव राज्यों को भी बड़ी निराशा हुई क्योंकि इससे स्लाव एकता खण्डित हो गयी, जिनके कारण बाल्कन क्षेत्र में नयी समस्याएँ उत्पन्न हो गयी। यूनान की थेसेली, क्रीट और एपीरस को सम्मिलित करने की मांग को अस्वीकार कर देने से वहां की ईसाई जनता को भी बड़ी निराशा हुई। कुछ वर्षों बाद क्रीट में यूनान के साथ मिलने का आन्दोलन आरम्भ हो गया। इस प्रकार बर्लिन कांग्रेस ने बाल्कन राज्यों

की राष्ट्रीय भावना की अवहेलना की, जिससे समस्या सुलझने की बजाय अधिक उलझ गई। वस्तुतः बर्लिन कांग्रेस में आस्ट्रिया, ब्रिटेन आदि राज्यों ने अपने स्वार्थों को सिद्ध करने के लिए पूर्वी यूरोप का मनमाने ढंग से विभाजन किया तथा बर्लिन संधि का यूरोप के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर गहरा प्रभाव पड़ा। प्रोफेसर गूच ने लिखा है कि "उच्च राजनीति के क्षेत्र में बर्लिन कांग्रेस का विशेष परिणाम यह था कि रूस, जर्मन से विमुख हो गया।" बर्लिन कांग्रेस में जर्मनी ने आस्ट्रिया का समर्थन किया जिससे रूस व आस्ट्रिया के सम्बन्ध बिगड़ गये। रूस और इंगलैण्ड के सम्बन्धों में भी तनाव आ गया। बर्लिन कांग्रेस के पश्चात् बिस्मार्क की नीति के कारण यूरोप में गुटबन्दी आरम्भ हो गयी जिससे अन्तर्राष्ट्रीय तनाव बढ़ गया। बर्लिन कांग्रेस के निर्णयों में ही भविष्य में होने वाले विश्व युद्ध के बीज विद्यमान थे।

बर्लिन की सन्धि की आलोचना करते समय हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि जिन परिस्थितियों में यह सन्धि सम्पन्न हुई थी, उसमें कुछ दोषों का होना स्वाभाविक था। बर्लिन सन्धि के बारे में कहा जाता है कि उसके महत्वपूर्ण निर्णयों को थोड़े ही समय के बाद खण्डित कर दिया गया। बिस्मार्क स्वयं संधियों को अपरिवर्तनीय नहीं मानता था। उसका कहना था कि प्रत्येक सन्धि परिस्थितियों को यथावत् बने रहने पर आधारित होती है, किन्तु परिस्थितियां कभी भी समान नहीं रहती, अतः समय-समय पर उनका समायोजन करना आवश्यक होता है। बर्लिन की सन्धि अत्यन्त विस्फोटक स्थिति का सामना करने तथा बड़ी शक्तियों के बीच शान्ति बनाये रखने के लिए तैयार की गई थी। इस उद्देश्य को उसने पूरा किया। लगभग एक पीढ़ी तक बड़े राज्यों के बीच कोई युद्ध नहीं हुआ। कांग्रेस के निर्णायकों ने बाल्कन क्षेत्र की जनता के हितों की उपेक्षा की तथा बल्गेरिया की व्यवस्था भी दोषपूर्ण थी, किन्तु इन निर्णयों के लिए बर्लिन कांग्रेस में एकत्रित राजनीतिज्ञों पर अदूरदर्शिता अथवा द्वेष का आरोप लगाना ठीक नहीं है, क्योंकि उस समय राजनीतिज्ञों से राष्ट्रीयता की भावना की कल्पना करने की आशा नहीं की जा सकती थी। 1875 के पहले यूरोपीय राज्य बाल्कन क्षेत्र के ईसाइयों को तुर्की शासन से मुक्त करने के विचार को रूस की कूटनीतिक चाल समझते थे। अतः बर्लिन कांग्रेस में एकत्रित राजनीतिज्ञों ने जो भूलें की, वे इसी दुर्भावना के कारण नहीं बल्कि उनकी अनभिज्ञता के कारण हुई थी। इसलिए हमें स्वीकार करना पड़ेगा कि जिन परिस्थितियों में बर्लिन संधि हुई थी, उन परिस्थितियों में एक दोष रहित आदर्श सन्धि की कल्पना करना एक असंगत बात है। वस्तुतः बर्लिन कांग्रेस में एकत्रित राजनीतिज्ञों के समक्ष एक ही लक्ष्य था कि यूरोप में उत्पन्न विस्फोटक स्थिति को शान्त करना और इस लक्ष्य में उन्हें सफलता मिली थी, इस सम्बन्ध में किसी की दो राय नहीं हो सकती।

अध्याय 9

पूर्वी समस्या (2)

(1878-1913)

(EASTERN QUESTION)

जैसा कि पूर्व अध्याय में बताया जा चुका है कि बर्लिन कांग्रेस के निर्णयों से बाल्कन राज्य संतुष्ट नहीं थे तथा बर्लिन की सन्धि ने पूर्वी समस्या का स्थायी समाधान नहीं किया था। अतः बाल्कन के लोगों ने इस सन्धि के प्रति बड़ी निराशा व्यक्त की। परिणामस्वरूप सन्धि की शर्तों का शीघ्र ही उल्लंघन होने लगा। बर्लिन सन्धि के साथ पूर्वी समस्या में अनेक उलझन पैदा हो गयी, जिसके कारण पुनः संकटपूर्ण स्थिति उत्पन्न हो गयी। पूर्वी समस्या की उन विभिन्न उलझनों पर विचार करने से पूर्व उन विशेष परिस्थितियों का अध्ययन करना समीचीन होगा जिसके कारण संकट उत्पन्न हुआ था। वे विशेष परिस्थितियां निम्नलिखित थीं—

(1) बर्लिन सन्धि के अन्तर्गत तुर्की के सुल्तान ने यह वचन दिया था कि वह अपनी ईसाई प्रजा के साथ अच्छा व्यवहार करेगा तथा उनकी दशा सुधारने का प्रयत्न करेगा, किन्तु सुल्तान ने कभी भी अपने वचन का निष्ठा से पालन नहीं किया तथा तुर्की साम्राज्य की ईसाई प्रजा पर अत्याचार पूर्ववत् होते रहे।

(2) बाल्कन क्षेत्र के सर्विया, रूमानिया और मान्टीनीग्रो स्वतन्त्र राज्य बन चुके थे। अतः बाल्कन क्षेत्र के अन्य पराधीन राज्य उनकी ओर ललचाई दृष्टि से देख रहे थे तथा अपनी स्वतन्त्रता के लिए उत्सुक हो उठे थे। इन पराधीन राज्यों में राष्ट्रीय आन्दोलन प्रबल होने लगा। तुर्की का सुल्तान इन राष्ट्रीय आन्दोलनों का क्रूरता से दमन करने लगा।

(3) बाल्कन क्षेत्र की जिन जातियों ने स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली थी, वे अब इस बात का प्रयत्न करने लगी कि तुर्की के अधीन जो उसके स्वजाति बन्धुओं के क्षेत्र हैं उन्हें भी अपने क्षेत्र में मिला लें। किन्तु ऐसा करने से अन्य विभिन्न जातियों के पारस्परिक हित आपस में टकराने लगे और उनमें संघर्ष होने लगा।

(4) राष्ट्रीयता की लहर के कारण तुर्की में तरुण तुर्की आन्दोलन का आविर्भाव हुआ तथा तुर्की के पुनरुत्थान का प्रयास किया गया, किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के कारण उसे सफलता नहीं मिली।

(5) आस्ट्रिया अत्यन्त ही महत्वाकांक्षी था और जब उसे जर्मनी का सहारा मिल गया तब उसने बाल्कन में जबरदस्ती प्रवेश करके अनेक ऐसे कार्य किये, जिससे

सर्बिया नाराज हो गया। आस्ट्रिया व सर्बिया के सम्बन्ध दिन प्रतिदिन तनावपूर्ण होते गये और यह स्थिति ही प्रथम महायुद्ध का एक कारण बनी।

(6) जर्मनी ने भी अब पूर्वी समस्या में दिलचस्पी लेना आरम्भ कर दिया तथा पूर्व में अपना विस्तार करने के लिए उसने तुर्की से मैत्री कर ली।

इन विशेष परिस्थितियों के कारण पूर्वी समस्या में अनेक उलझनें उत्पन्न हो गयी थी और यूरोप में अनेक राजनैतिक परिवर्तन होने लगे। बर्लिन सन्धि के बाद पूर्व के राजनैतिक रंगमंच पर जो परिवर्तन हुए, उनमें कुछ महत्वपूर्ण निम्नलिखित थे—

पूर्वी रूमेलिया और बल्गेरिया का एकीकरण—बर्लिन कांग्रेस ने बल्गेरिया और पूर्वी रूमेलिया का जो विभाजन किया उससे वे दोनों असन्तुष्ट थे। इन दोनों राज्यों में बलगर जाति के लोग रहते थे जिनका धर्म, भाषा और आचार व्यवहार एक थे। अतः इन दोनों राज्यों में बल्गेरिया का एक संगठित राज्य बनाने की भावना प्रबल होती गई। पूर्वी रूमेलिया में बल्गेरिया के साथ मिलने का आन्दोलन आरम्भ हो गया। रूस की सरकार ने रूमेलिया को अस्त्र-शस्त्रों एवं धन की सहायता दी। बल्गेरिया के नेता भी रूमेलिया को मिला कर संयुक्त राज्य बनाने का प्रचार कर रहे थे। दोनों भागों में चल रहे आन्दोलन का नेतृत्व स्टीफेन स्टेम्बुलॉव (Stephen Stombulov) कर रहा था जो बल्गेरिया की राष्ट्रीय सभा का अध्यक्ष था। 18 सितम्बर 1885 को पूर्वी रूमेलिया के नेताओं ने तुर्की द्वारा नियुक्त गवर्नर जनरल गेवरिल पाशा को प्रान्त से बाहर निकालने के लिए बाध्य किया तथा बल्गेरिया के साथ सम्मिलित होने की घोषणा कर दी। बल्गेरिया के शासक प्रिंस अलेक्जेण्डर को संयुक्त राज्य का शासक बनाया गया। यद्यपि रूस सिद्धान्ततः बल्गेरिया के एकीकरण का पक्षपाती था, किन्तु यह प्रिंस अलेक्जेण्डर से नाराज था, क्योंकि प्रिंस अलेक्जेण्डर रूस के हाथ की कठपुतली बनने के लिए तैयार नहीं हुआ था। अतः रूस प्रिंस अलेक्जेण्डर को हटाने के बाद इस एकीकरण को स्वीकार करना चाहता था। रूस ने इस समस्या पर विचार करने तथा बल्गेरिया द्वारा बर्लिन संधि के उल्लंघन के विरुद्ध विरोध प्रकट करने के लिए विभिन्न राज्यों के राजदूतों का सम्मेलन आमंत्रित करने का सुझाव दिया। तुर्की के सुल्तान ने पहले तो पूर्वी रूमेलिया के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करने का निश्चय किया, किन्तु उसने तुरन्त ही अपना निर्णय बदल दिया तथा बड़ी शक्तियों के हस्तक्षेप की कल्पना करने लगा। सर्बिया भी इस एकीकरण से उत्तेजित हो उठा तथा नवम्बर 1885 में उसने बल्गेरिया के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। सर्बिया की सेनाएं जगह-जगह परास्त होती गईं और ऐसा प्रतीत होने लगा मानों कुछ ही दिनों बाद सर्बिया का पतन हो जायेगा। इसी समय आस्ट्रिया ने बल्गेरिया के शासक को धमकी दी कि यदि तुरन्त युद्ध बन्द नहीं किया तो वह सर्बिया की ओर से युद्ध में प्रविष्ट हो जायेगा। विवश होकर बल्गेरिया को

युद्ध बन्द करना पड़ा। मार्च 1886 में दोनों के बीच सन्धि हुई, जिसके अनुसार युद्ध से पूर्व की स्थिति स्थापित की गई।

जिस समय युद्ध आरम्भ होने वाला था, उस समय कुस्तुन्तुनिया में राजदूतों का सम्मेलन हुआ, किन्तु इस सम्मेलन में कोई ठोस निर्णय नहीं लिया जा सका। अगस्त 1886 में रूस ने प्रिंस अलेक्जेण्डर को सिंहासन त्यागने पर विवश कर दिया तथा बल्गेरिया में स्टेम्बुलॉव ने एक अस्थाई सरकार गठित की। किन्तु यह सरकार भी रूस के आदेशानुसार कार्य करने को तैयार नहीं थी। ब्रिटेन और आस्ट्रिया रूस का विरोध कर रहे थे। 7 जुलाई, 1887 को बल्गेरिया की राष्ट्रीय सभा ने सेक्सकोबर्ग के राजकुमार फर्डीनेण्ड को शासक निर्वाचित किया। रूस और तुर्की दोनों ने इस निर्वाचन का विरोध किया, किन्तु आस्ट्रिया ने इसका समर्थन किया। रूस ने तुर्की से फर्डीनेण्ड के चुनाव को अवैध घोषित करने के लिए कहा। सुल्तान ने 4 मार्च 1888 को फर्डीनेण्ड का चुनाव अवैध घोषित कर दिया। किन्तु इस घोषणा से किसी को कुछ भी हानि नहीं हुई, केवल रूस के आत्मगौरव को संतोष प्राप्त हुआ। फर्डीनेण्ड बल्गेरिया का शासक बना रहा। 1887 से 1894 तक बल्गेरिया का शासन स्टेम्बुलॉव के हाथ में रहा। 1894 में उसने त्याग पत्र दे दिया तथा शासन के समस्त अधिकार फर्डीनेण्ड के हाथ में आ गये। फर्डीनेण्ड ने रूस के जार निकोलस द्वितीय से अच्छे सम्बन्ध स्थापित कर लिये। 1896 में तुर्की ने फर्डीनेण्ड को बल्गेरिया का शासक स्वीकार कर लिया। तत्पश्चात इंगलैण्ड, आस्ट्रिया आदि राज्यों ने पूर्वी रूमेलिया व बल्गेरिया के एकीकरण को स्वीकार कर लिया तथा उसे मान्यता प्रदान कर दी। इस प्रकार बल्गेरिया की समस्या का अन्त हुआ।

आर्मेनिया की समस्या—बर्लिन संधि के अनुसार तुर्की के सुल्तान ने आर्मेनिया में सुधार करने तथा वहां के ईसाइयों के अधिकारों की रक्षा करने का वचन दिया था, किन्तु सुल्तान ने ईसाई जनता पर अत्याचार करने में कोई कमी नहीं की। बिस्मार्क ने 1883 में लिखा था कि "बर्लिन की संधि की, आर्मेनिया में सुधार सम्बन्धी धाराएं केवल आदर्शवादी एवं सैद्धांतिक कल्पनाएं हैं। व्यवहारिक दृष्टि से उनका महत्व संदिग्ध है।" तुर्की के सुल्तान को भी विश्वास था कि यूरोपीय शक्तियां अपनी आपसी फूट के कारण उसके विरुद्ध कोई कदम नहीं उठा सकेंगी। दूसरी ओर तुर्की के अत्याचारपूर्ण शासन के कारण आर्मेनियावासियों की स्वतन्त्रता की कामना तीव्र हो उठी। आर्मेनिया की मुक्ति के लिए कई समितियां स्थापित की गई तथा 1890 में विभिन्न समितियों ने मिलकर एक आर्मेनियन क्रांतिकारी संघ स्थापित किया। इस संघ ने कुछ क्रांतिकारी टोलियां गठित की, जो तुर्की साम्राज्य में हिंसात्मक कार्य करने लगी। 1894 में कुछ आर्मेनियन किसानों ने कर देने में असमर्थता प्रकट की। सुल्तान ने उनके विरुद्ध सेना का प्रयोग किया तथा लगभग

20 हजार आर्मेनियनों को मौत के घाट उतार दिया। 1895 में कुस्तुन्तुनिया में जब आर्मेनियनों का एक जुलूस सुल्तान को प्रार्थना पत्र देने जा रहा था, तब मुसलमानों की एक क्रुद्ध भीड़ ने सैकड़ों लोगों की हत्या कर दी। ऐसा प्रतीत होता था कि सुल्तान ने स्वयं इन हत्याओं को प्रोत्साहन दिया था। अगस्त 1896 में कुछ आर्मेनियनों ने तुर्की से बदला लेने के लिए कुस्तुन्तुनिया के बैंक पर हमला कर दिया। इससे तुर्की का क्रोध उबल पड़ा तथा उसने राजधानी में रहने वाले समस्त आर्मेनियनों की हत्या करना आरम्भ कर दिया। राजधानी में दो दिन तक खून की नदियां बहती रही। इंगलैण्ड में ग्लेडस्टोन ने सुल्तान को 'भयानक हत्यारा' कहा, फ्रांस ने उसे 'खूनी सुल्तान' की संज्ञा दी। ब्रिटिश प्रधानमन्त्री आर्मेनियनों की रक्षा के लिए सशस्त्र हस्तक्षेप करना चाहता था, किन्तु रूस और फ्रांस ने उसका साथ नहीं दिया। इंगलैण्ड अकेला तुर्की के विरुद्ध अपना क्रोध प्रकट करता रहा। सुल्तान ने उसके विरोध की कोई परवाह नहीं की। ब्रिटिश प्रधान मन्त्री सेलिसबरी को अनुभव हुआ कि अब तक रूस के विरुद्ध तुर्की का समर्थन करके इंगलैण्ड ने "गलत घोड़े पर दाव लगाया" था। किन्तु अब वह अपनी गल्ती पर शोक प्रकट करने के अतिरिक्त कर ही क्या सकता था? यूरोपीय राज्यों की आपसी फूट के कारण हजारों आर्मेनियनों को अपने प्राणों की आहुति देनी पड़ी।

वृहत् यूनान आन्दोलन—बर्लिन कांग्रेस में यूनान ने क्रीट, थेसेली और एपीरस की मांग की थी, किन्तु उसे कुछ नहीं मिला। यूनान के आंसू पोंछने के लिए 1881 में ग्लेडस्टोन के दवाव के कारण तुर्की ने एपीरस का कुछ भाग तथा थेसेली का अधिकांश भाग यूनान को दे दिया। किन्तु इस से यूनान संतुष्ट नहीं हुआ, क्योंकि वह तुर्की साम्राज्य में रहने वाले यूनानियों के प्रदेशों पर भी अधिकार करना चाहता था। यूनान के लोग क्रीट को 'यूनान का महाद्वीप' कहते थे। क्रीट के अधिकांश निवासी यूनानी थे तथा उनमें तुर्की साम्राज्य के मुक्त होने की भावना प्रबल थी। क्रीट में दो राजनैतिक दलों उदारवादी एवं अनुदारवादी के बीच सत्ता के लिए संघर्ष आरम्भ हो गया। 1889 में उदारवादियों की विजय के फलस्वरूप क्रीट में यूनान से मिलने का आन्दोलन जोर पकड़ने लगा, जिससे वहां के ईसाइयों व मुसलमानों के बीच तनाव बढ़ने लगा और मार काट आरम्भ हो गयी। सुल्तान ने क्रीट में सेना भेजकर क्रीट आन्दोलन का दमन कर दिया। मई 1896 में केनिया में ईसाइयों व मुसलमानों के दंगे भड़क उठे जिससे यूनान में उत्तेजना फैल गई। 1897 में क्रीट में पुनः संघर्ष आरम्भ हो गया। मुसलमानों ने ईसाई गिरजाघरों में आग लगा दी। क्रीट के यूनानी नेताओं ने यूनान से मिलने की घोषणा कर दी। यूनान ने क्रीट को सहायता देने का निर्णय लिया। 17 अप्रेल 1897 को तुर्की ने यूनान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। यूनान की सेनाएं तुर्की की सुसज्जित एवं प्रशिक्षित सेनाओं के सामने नहीं टिक सकी। बड़े राज्यों के हस्तक्षेप के कारण 19 मई 1897 को युद्ध

विराम की घोषणा की गई। ब्रिटिश प्रधान मन्त्री सेलिसबरी ने रूस, फ्रांस और इटली के सहयोग से सन्धि की शर्तें निश्चित की तथा सुल्तान को मानने के लिए बाध्य किया। 4 सितम्बर 1897 को कुस्तुन्तुनिया में सन्धि पर हस्ताक्षर हुए। सन्धि के अनुसार यूनान को 40 लाख रुपये युद्ध का हर्जाना देने का वचन देना पड़ा तथा थेसेली का कुछ भाग पुनः तुर्की को देना पड़ा। क्रीट को सम्मानित करने की महत्वाकांक्षा पूरी न हो सकी। 1904 में क्रीट के नेताओं ने बड़े राज्यों से क्रीट और यूनान के एकीकरण को स्वीकार करने की मांग की, किन्तु बड़े राज्यों ने इसकी उपेक्षा की। फलतः क्रीट में पुनः विद्रोह हो गया। इस पर बड़े राज्यों ने हस्तक्षेप किया तथा क्रीट में तीन वर्ष तक अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस रखी गई। 1908 में तरुण तुर्की आन्दोलन के समय क्रीटवासियों ने अपनी मांग पुनः दोहराई किन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। अन्त में बाल्कन युद्ध के पश्चात् 1913 में बुखारेस्ट की संधि के द्वारा यूनान और क्रीट का एकीकरण हुआ।

तुर्की में जर्मनी का बढ़ता हुआ प्रभाव—तुर्की तथा जर्मनी की मित्रता, बर्लिन संधि का एक ऐसा परिणाम थी, जो प्रथम विश्व युद्ध के अन्त तक कायम रही। 1880 तक तुर्की में ब्रिटेन का प्रभाव सर्वोपरि था, किन्तु इसके बाद दोनों की मित्रता में तनाव उत्पन्न हो गया। साइप्रस पर ब्रिटेन का अधिकार हो जाने से तुर्की असन्तुष्ट था। 1882 में ब्रिटेन ने मिस्र पर अधिकार कर लिया, जिससे तुर्की को बड़ा आघात लगा। आर्मेनिया हत्याकाण्ड का जितना विरोध ब्रिटेन में हुआ था उतना किसी अन्य देश में नहीं हुआ। ब्रिटेन व तुर्की के बिगड़ते हुए सम्बन्धों से जर्मन शासक विलियम कैसर द्वितीय लाभ उठाना चाहता था। बर्लिन कांग्रेस में जर्मनी ने तुर्की के किसी भूभाग पर दावा नहीं किया था, अतः तुर्की, जर्मनी का आभारी था। 1889 में कैसर ने महारानी सहित तुर्की की यात्रा की, जहां सुल्तान अब्दुल हमीद ने उसका भव्य स्वागत किया। उसी समय से दोनों के बीच घनिष्ठता बढ़ने लगी। जर्मनी ने अपने सेनानायकों को भेजकर तुर्की की सेना को आधुनिक ढंग से प्रशिक्षित किया। जर्मन पूंजीपतियों ने तुर्क साम्राज्य में अपने व्यापार का विस्तार किया। तुर्की में जर्मनी के प्रभाव का विस्तार होने लगा। तुर्की को आर्थिक सहायता की आवश्यकता थी तथा जर्मन पूंजीपति तुर्की में पूंजी लगाने को तैयार थे। कुस्तुन्तुनिया में बर्लिन बैंक की एक शाखा स्थापित की गई। जर्मन पूंजी की सहायता से तुर्की में रेल लाइनें बिछाने का काम आरम्भ हुआ। रेल लाइनों के निर्माण में बर्लिन-बगदाद रेलवे की योजना सबसे महत्वपूर्ण थी। 1903 में तुर्की सुल्तान ने जर्मन पूंजीपतियों को यह लाइन बनाने की अनुमति प्रदान कर दी। ब्रिटेन ने इसका विरोध किया, क्योंकि इस रेलवे लाइन के बन जाने से फारस की खाड़ी और भारत में उसके व्यापारिक और साम्राज्यीय हितों को ठेस पहुंच सकती थी। रूस और फ्रांस ने भी इसका विरोध किया। अतः यह योजना कार्यान्वित नहीं हो सकी।

ब्रिटेन ने जर्मनी की महत्वाकांक्षा पर रोक लगा दी। उधर नाविक प्रतिस्पर्धा के कारण ब्रिटेन व जर्मनी के सम्बन्ध बिगड़ते जा रहे थे। बर्लिन-बगदाद रेल योजना ने ब्रिटेन को पृथकता की नीति का परित्याग करने के लिए बाध्य कर दिया। ब्रिटेन ने भी एक विरोधी गुट का निर्माण किया जिससे यूरोप दो शक्तिशाली गुटों में विभाजित हो गया। 1908 में बोस्निया के संकट के समय जर्मनी ने आस्ट्रिया का समर्थन किया तथा रूस, ब्रिटेन व फ्रांस ने जर्मनी व आस्ट्रिया की नीति का विरोध किया। इस प्रकार यूरोपीय रंगमंच पर दो शक्तिशाली एवं परस्पर विरोधी गुट स्पष्ट दिखाई देने लगे।

तरुण तुर्की आन्दोलन—बर्लिन सन्धि ने तुर्की साम्राज्य के विनाश के क्रम को कुछ समय के लिए स्थगित कर दिया था। किन्तु तुर्की साम्राज्य की हालत दिन प्रतिदिन खराब होती जा रही थी। 19 वीं शताब्दी में यूरोप में जो उदारवाद की लहर चल रही थी उसका प्रभाव तुर्की पर भी पड़ा। तुर्की ने तो सेना अध्यक्ष खलील पाशा ने कहा था, "मुझे विश्वास है कि हम शीघ्र ही यूरोपीय ढंग से सुधार नहीं करते तो हमें एशिया में वापस जाने को तैयार रहना चाहिए।" यही शब्द तरुण तुर्की आन्दोलन की उत्पत्ति के मूल स्रोत थे। तुर्की के युवक समझने लगे कि जब तक तुर्की की व्यवस्था में आमूल परिवर्तन नहीं किया जाता तब तक उसका कल्याण होना सम्भव नहीं है। तुर्की को भी अन्य यूरोपीय राज्यों की तरह बदलना चाहिए। यही भावना तुर्की में निरन्तर प्रबल होती जा रही थी। इसी उद्देश्य को सामने रखकर 1890 में तुर्की के कुछ युवकों ने, जो पश्चिमी विचारधारा से प्रभावित थे, जेनेवा में एक 'एकता और प्रगति की समिति' स्थापित की। इस समिति के युवक तुर्क आटोमन साम्राज्य को पश्चिमी ढंग पर पुनर्गठन करना चाहते थे। वे तुर्की में संसदीय संविधान, बौद्धिक एवं धार्मिक स्वतन्त्रता और प्रेस की स्वतन्त्रता की स्थापना करना चाहते थे। वे शिक्षा के प्रसार, व्यापार के विकास तथा मध्यकालीन कुरीतियों के उन्मूलन के भी इच्छुक थे। इस प्रकार वे तुर्की को प्रगतिशील देशों में उचित स्थान दिलवाना चाहते थे।

युवक तुर्कों ने साम्राज्य के विभिन्न भागों में गुप्त समितियां स्थापित करके अपने कार्यक्रम का प्रचार किया। युवक तुर्कों ने तुर्की के सैनिक अधिकारियों को भी अपना समर्थक बना लिया तथा उसकी सहायता से सुल्तान हमीद के विरुद्ध आक्रमण करने की योजना बनायी। अब्दुल हमीद का समर्थन करने वाले सैनिक अधिकारियों की हत्या कर दी गई। अब सुल्तान को 'एकता और प्रगति की समिति' के षड़यन्त्र का कुछ आभास मिला। अतः उसने उसके विषय में पूर्ण जानकारी प्राप्त करने के लिये एक अधिकारी को भेजा, किन्तु उस समय तक समिति का कार्यक्रम पूरा हो चुका था। 3 जुलाई 1908 को युवक तुर्क नेता नियाजी बे ने रेसना नामक स्थान पर सुल्तान के निरंकुश शासन के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। 6 जुलाई को मोनेस्टिर में

स्थित सैनिक टुकड़ी ने विद्रोह कर दिया। 22 जुलाई को नियाजी वे ने सेलोनिका में 1876 के संविधान (इस संविधान को सुल्तान ने गद्दी पर बैठते ही लागू किया था किन्तु दो वर्ष वाद उसे वापस ले लिया था) की घोषणा कर दी। अब्दुल हमीद विद्रोहियों का सामना करने में असमर्थ था, अतः उसने 24 जुलाई को 1876 के संविधान को पुनः लागू करने की घोषणा कर दी तथा संसद का अधिवेशन आमंत्रित किया। जाति एवं धर्म के भेदभाव के विना साम्राज्य की प्रजा को वैयक्तिक स्वतंत्रता तथा समानाधिकार देने की घोषणा की। प्रेस पर लगे प्रतिवन्ध हटा दिये गये और साथ ही कियामल पाशा (Kiamil Pasha) के नेतृत्व में नया मन्त्रिमण्डल गठित किया। इस रक्तहीन सैनिक क्रान्ति का साम्राज्य भर में उत्साह के साथ स्वागत किया गया। संविधान के अनुसार संसद के नये चुनाव कराये गये जिसमें "एकता और प्रगति की समिति" के समर्थकों ने वहुमत प्राप्त किया।

कियामल पाशा के मन्त्रिमण्डल ने सुधार योजना लागू करने का प्रयत्न किया, किन्तु साम्राज्य के एशियायी भाग में पाश्चात्य ढंग से सुधारों को कार्यान्वित करना कठिन हो गया। फरवरी 1909 में कियामल पाशा ने त्याग पत्र दे दिया तथा उसके स्थान पर हिल्मी पाशा (Hilimi Pasha) को प्रधान मन्त्री वनाया गया। हिल्मी पाशा को भी स्वतन्त्रता नहीं मिली। क्रान्ति के नेताओं का उत्साह ठण्डा देख कर सुल्तान अब्दुल हमीद ने 13 अप्रेल 1909 को सेना की सहायता के प्रति क्रांति करके पुनः अपना निरंकुश शासन स्थापित कर लिया, किन्तु उसकी सफलता क्षणिक सिद्ध हुई। 24 अप्रेल को महमूद शेवरूत के नेतृत्व में युवक तुर्की की एक सेना सेलोनिया से चलकर कुस्तुन्तुनिया में प्रविष्ट हो गयी तथा राजधानी पर अधिकार कर लिया। 27 अप्रेल को तुर्की की राष्ट्रीय सभा ने सर्वसम्मति से सुल्तान अब्दुल हमीद को गद्दी से उतार दिया तथा उसके छोटे भाई को मुहम्मद पंचम के नाम से सुल्तान घोषित कर दिया।

नये सुल्तान के अधीन हिल्मी पाशा को पुनः प्रधान मन्त्री वनाया गया तथा सुधारों का कार्यक्रम आरम्भ किया गया। किन्तु सुधारों के वारे में युवक तुर्कों में मतभेद उत्पन्न हो गये। अव तुर्क नेत्राओं ने उग्र राष्ट्रीयता की भावना पर आधारित "तुर्कीकरण" (Turkification) की नीति अपनायी। तुर्कीकरण की नीति का अर्थ था कि तुर्की साम्राज्य में रहने वाली अन्य सभी जातियों को सभ्यता, संस्कृति, भाषा आदि की दृष्टि से तुर्क वना दिया जाय। इस नीति के परिणामस्वरूप साम्राज्य में रहने वाले ईसाइयों व गैर तुर्की जातियों में सरकार के विरुद्ध असन्तोष वढ़ने लगा। मेसीडोनिया व एशिया माइनर में 30 हजार ईसाइयों की हत्या करदी गई तथा अल्वानिया में तुर्की के विरुद्ध विद्रोह की तैयारियां आरम्भ हो गयी। तरुण तुर्क शासन न्याय और उदारता का ध्वज लेकर वढ़ा था, किन्तु अव वह शोषण का प्रतीक वन

गया। क्रान्ति के बाद कोई सुधार लागू नहीं किये गये। उस नीति के फलस्वरूप गैर तुर्क जातियों पर अत्याचार बढ़ गये जिससे यूरोपीय राज्यों में क्षोभ फैल गया। तरुण तुर्क आन्दोलन ने गलत मार्ग अपना कर पूर्वी समस्या से सम्बन्धित सभी समस्याओं को पुनः उभार दिया और जिसके फलस्वरूप 1908 के बाद ऐसा घटना चक्र आरम्भ हुआ जो सीधा विश्व युद्ध की ओर ले गया।

आस्ट्रिया द्वारा बोस्निया और हर्जीगोविना पर अधिकार—बर्लिन की संधि के अन्तर्गत आस्ट्रिया को बोस्निया व हर्जीगोविना के प्रशासनिक अधिकार प्रदान किये गये थे, किन्तु आस्ट्रिया इन प्रदेशों को स्थायी रूप से हड़पना चाहता था। इसके अनेक कारण थे—आस्ट्रिया में द्वैध राजतन्त्र था, जहाँ हेप्सबर्ग एवं मेग्यार जाति के लोग रहते थे, किन्तु शासक हेप्सबर्ग वंश का होने से शासन में हेप्सबर्ग की प्रधानता थी। हेप्सबर्ग व मेग्यार लोग अपनी-अपनी प्रधानता के लिए झगड़ते रहते थे। बोस्निया व हर्जीगोविना में सर्ब जाति के लोग थे। आस्ट्रिया चाहता था कि बोस्निया व हर्जीगोविना का आस्ट्रिया में विलय हो जाने से सर्ब और मेग्यार जाति के लोग आपस में संघर्ष करने में लग जायेंगे जिससे हेप्सबर्ग की प्रधानता बनी रहेगी। इसके अतिरिक्त पूर्व में साम्राज्यवादी विस्तार, आस्ट्रिया की विदेश नीति का मुख्य आधार था। इधर तुर्की में तरुण तुर्की आन्दोलन सफल हो रहा था, अतः आस्ट्रिया के शासकों ने अनुभव किया कि यदि सुधारों के फलस्वरूप तुर्की एक शक्तिशाली राज्य बन गया तो उसकी महत्वाकांक्षा की पूर्ति नहीं हो सकेगी। इससे बढ़कर भी एक अन्य कारण था, आस्ट्रिया व सर्बिया के बिगड़ते सम्बन्ध, जिसने आस्ट्रिया को ऐसा कदम उठाने के लिए बाध्य किया।

सर्बिया में सर्वस्लाववाद का प्रभाव बढ़ रहा था तथा "विशाल सर्बिया" का आन्दोलन जोर पकड़ रहा था। सर्बिया के राजनीतिज्ञ रूस और बल्गेरिया से अच्छे सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न कर रहे थे तथा दक्षिणी स्लाव राज्यों को भी संगठित कर रहे थे। इससे आस्ट्रिया का चिन्तित होना स्वाभाविक ही था। इसी समय बोस्निया और हर्जीगोविना में भी आस्ट्रिया के विरुद्ध असन्तोष बढ़ रहा था। सर्बिया के "सर्वस्लाव आन्दोलन" से बोस्निया और हर्जीगोविना के स्लावों को प्रोत्साहन मिल रहा था। अतः दक्षिणी स्लाव आन्दोलन को रोकने तथा सर्बिया की गतिविधियों पर अंकुश लगाने के लिए आस्ट्रिया के चान्सलर एरन्थाल ने बोस्निया व हर्जीगोविना को आस्ट्रिया के साम्राज्य में सम्मिलित करने का निश्चय किया। किन्तु यह कार्यवाही करने से पूर्व वह रूस को अपने पक्ष में करना चाहता था। इस समय रूस का विदेश मन्त्री इजवोल्स्की (Izvolsky) था, जो रूस–जापान युद्ध (1904–5) के बाद रूस की खोयी हुई प्रतिष्ठा पुनः स्थापित करना चाहता था। वह भूमध्यसागर को मिलाने वाले डार्डेनल्स तथा बास्फोरस नामक जलडमरुओं पर अपना प्रभाव स्थापित करने के लिए विशेष रूप से इच्छुक था। यद्यपि बाल्कन

प्रायद्वीप में रूस, आस्ट्रिया की नीति का कट्टर विरोधी था, किन्तु आस्ट्रिया की सहमति के बिना वह इन जलडमरुओं पर प्रभाव स्थापित नहीं कर सकता था। 16 सितम्बर, 1908 को इजवोल्स्की ने आस्ट्रिया के निमन्त्रण पर बुशलो (Buchlau) नामक स्थान पर एरन्थाल से भेंट की। दोनों की मन्त्रणा गुप्त रूप से हुई थी और इस अवसर पर कोई अन्य व्यक्ति मौजूद नहीं था। किन्तु दोनों के वक्तव्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि एरन्थाल ने रूस को डार्डेनल्स तथा वास्फोरस पर आधिपत्य जमाने की अनुमति प्रदान करदी थी तथा इजवोल्स्की ने आस्ट्रिया को वोस्निया और हर्जीगोविना को अपने साम्राज्य में मिलाने की अनुमति प्रदान करदी थी। दोनों ने इस परिवर्तन को यूरोपीय राज्यों के सम्मेलन द्वारा स्वीकृत कराने का भी निश्चय किया था। एरन्थाल का कहना था कि उसने इजवोल्स्की को स्पष्ट रूप से बतला दिया था कि 8 अक्टूबर को आस्ट्रिया की सेनाएँ बोस्निया व हर्जीगोविना को अपने अधिकार में ले लेंगी, किन्तु इजवोल्स्की ने इस वक्तव्य का खण्डन किया तथा खुले रूप से शिकायत की कि उसको धोखा दिया गया है।

रूस की ओर से आश्वस्त हो जाने के बाद एरन्थाल ने बल्गेरिया को अपने पक्ष में करना चाहा। उसने बल्गेरिया को यह आश्वासन दे दिया कि यदि वह अपनी पूर्ण स्वाधीनता की घोषणा कर देगा तो आस्ट्रिया किसी प्रकार का विरोध नहीं करेगा। 1 अक्टूबर को फ्रांस, इटली, ब्रिटेन और जर्मनी में स्थित आस्ट्रिया के राजदूतों के पास सम्राट फ्रांसिस जॉसेफ के हाथ से लिखी चिट्ठियाँ भेजी गईं जिनमें उन्हें आदेश दिया गया कि 5 अक्टूबर को वे विभिन्न सरकारों के सामने यह प्रकट करदें कि 7 अक्टूबर को वोस्निया और हर्जीगोविना पर आधिपत्य स्थापित कर लिया जायेगा। इजवोल्स्की इस समय अपने कूटनीतिक अभियान पर पेरिस आया हुआ था। यहाँ उसे एरन्थाल की कार्यवाही का पता चला, किन्तु इजवोल्स्की द्वारा कोई कार्यवाही करने से पूर्व ही 7 अक्टूबर के बदले 6 अक्टूबर, 1908 को ही आस्ट्रिया के सम्राट ने वोस्निया व हर्जीगोविना पर आस्ट्रिया के आधिपत्य की घोषणा करदी। इस घोषणा से यूरोपीय राज्यों में बड़ी तीव्र प्रतिक्रिया हुई, जिससे बाल्कन क्षेत्र में एक नया संकट उत्पन्न हो गया। इंगलैण्ड, रूस, इटली और तुर्की ने आस्ट्रिया की इस कार्यवाही का तीव्र विरोध किया। सबसे अधिक तीव्र प्रतिक्रिया सर्विया में हुई। सर्विया के समाचार-पत्रों ने आस्ट्रिया पर बर्लिन सन्धि के उल्लंघन का आरोप लगाया। 13 अक्टूबर, 1908 को इंगलैण्ड व रूस ने इस प्रश्न पर विचार करने के लिए यूरोपीय राज्यों का सम्मेलन आमन्त्रित करने की माँग की, किन्तु आस्ट्रिया ने इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया तथा जर्मनी ने उसका समर्थन किया। आस्ट्रिया ने तुर्की को सन्तुष्ट करने के लिए एक समझौता कर लिया जिसके अनुसार आस्ट्रिया ने, वोस्निया व हर्जीगोविना पर अधिकार करने के फलस्वरूप जो क्षति हुई उसकी पूर्ति के लिए 24 लाख पौण्ड देने का वचन दिया।

इधर जर्मनी ने रूस पर दबाव डाला, जिसके परिणामस्वरूप रूस ने भी बोस्निया व हर्जीगोविना पर आस्ट्रिया के आधिपत्य को स्वीकार कर लिया। किन्तु सर्बिया में रोष और क्रोध छाया हुआ था। सर्बिया ने आस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध की माँग की तथा सर्बिया की सरकार ने भी युद्ध की तैयारी आरम्भ कर दी। रूस ने उसे समझा-बुझा कर शान्त कर दिया। अन्त में इंगलैण्ड और फ्रांस ने भी बर्लिन सन्धि की 25वीं धारा को निरस्त करने की स्वीकृति दे दी।

सम्पूर्ण बोस्निया काण्ड एरन्थाल की व्यक्तिगत कूटनीतिक विजय थी। बोस्निया में उसने बहुत बड़ा दाव लगाया था और रूस को अपमानित करते हुए वह इस दाव में जीत गया। उसने बड़े साहसपूर्वक बर्लिन सन्धि का उल्लंघन किया और विश्व के कूटनीतिक ताकते रह गये। इतना ही नहीं, बड़ी चतुराई से उसने यूरोपीय राज्यों से इसकी स्वीकृति भी प्राप्त कर ली। जर्मन चांसलर बूलो ने कहा था "एक गम्भीर स्थिति में आस्ट्रिया व जर्मनी की मैत्री की शक्ति प्रमाणित हो गयी तथा जिन शक्तियों को अल्जीसिराज सम्मेलन में शक्तिशाली समझा गया था, वे यूरोप की जटिल समस्याओं के समक्ष बिखर गई।" किन्तु बूलो इस तथ्य से अनभिज्ञ रह गया कि वे शक्तियाँ बिखरने की बजाय अधिक संगठित हो गयी थी। रूस और स्लाव अपने अपमान को कभी नहीं भुला सके। रूस सर्बिया को उकसाता रहा कि बोस्निया व हर्जीगोविना सर्बिया के एलसस और लारेन हैं। आस्ट्रिया से बदला लेने के लिए रूस ने इटली व बलगेरिया से गुप्त वार्ता की, जिसके परिणामस्वरूप 1912 में बाल्कन संघ की स्थापना हुई। रूस से प्रोत्साहन मिलने पर सर्बिया में पुनः विशाल स्लाव सर्बिया आन्दोलन आरम्भ हो गया। स्लाव आन्दोलन के कारण जून, 1914 में बोस्निया में आस्ट्रिया के राजकुमार की हत्या कर दी गई। इस घटना के साथ ही यूरोपीय रंगमंच से पर्दा उठ गया तथा रंगमंच पर विध्वंसक नाटक आरम्भ हो गया। बोस्निया काण्ड के समय ही यह स्थिति स्पष्ट हो गयी थी कि युद्ध के नाटक में किस कलाकार को क्या भूमिका अदा करनी है। इसीलिये बोस्निया काण्ड को प्रथम विश्व युद्ध के विध्वंसकारी नाटक का पूर्वाभिनय कहा जाता है।

प्रथम बाल्कन युद्ध—बर्लिन सन्धि के पश्चात् बाल्कन प्रायद्वीप में राजनैतिक सरगर्मी पैदा हो गयी थी। बाल्कन प्रायद्वीप के नवनिर्मित स्वतन्त्र राज्य अपने स्वजातीय बन्धुओं को तुर्की एवं आस्ट्रिया की पराधीनता से मुक्त करवाना चाहते थे। तरुण तुर्की आन्दोलन तथा बोस्निया काण्ड के कारण उसकी महत्वाकांक्षा को भारी आघात पहुँचा और वे समझने लगे कि यदि तुर्की पुनः शक्तिशाली हो गया तो अपने स्वजाति बन्धुओं को मुक्त करवाना कठिन हो जायेगा। उधर आस्ट्रिया भी नये जोश के साथ इस क्षेत्र की राजनीति में प्रविष्ट हो चुका था। इधर इटली ने सितम्बर 1911 में ट्रिपोली पर आक्रमण कर दिया, जो तुर्की साम्राज्य का प्रदेश था। अक्टूबर, 1912 में लासेन की सन्धि द्वारा ट्रिपोली पर इटली का आधिपत्य स्वीकार

कर लिया गया। इस युद्ध में तुर्की की निर्बलता स्पष्ट हो गयी और बाल्कन राज्यों को उसके विरुद्ध संगठित होने की प्रेरणा प्राप्त हुई। बाल्कन संघ का निर्माण इसी संगठन की भावना का परिणाम था।

बाल्कन राज्यों का संघ बनाने की योजना में सबसे बड़ी बाधा, मेसीडोनिया में उनके परस्पर-विरोधी स्वार्थ थे। मेसीडोनिया में सर्ब, बलगर, यूनानी, रूमानियन आदि बसे हुए थे। अतः प्रत्येक बाल्कन राज्य मेसीडोनिया का अधिक से अधिक हिस्सा हड़पना चाहता था। मेसीडोनिया में तुर्की के अमानुषिक अत्याचार बढ़ते जा रहे थे। 1911 तक बाल्कन राज्य अपने आपसी मतभेद भुलाकर मेसीडोनिया के अपने भाइयों की सहायता करने को तैयार हो गये। इधर रूस के कुछ कूटनीतिज्ञ 1908 से ही रूस के संरक्षण में बाल्कन राज्यों का एक संघ बनाना चाहते थे ताकि वे इस संघ का प्रयोग अपनी इच्छानुसार तुर्की या आस्ट्रिया के विरुद्ध कर सके। बेलग्रेड में स्थित रूस के राजदूत हार्टविग (Hartwig) तथा सोफिया में स्थित रूसी राजदूत नेक्लूडाफ (Nekludoff) इस नीति के प्रबल समर्थक थे। इन दोनों राजदूतों के सक्रिय सहयोग से 13 मार्च, 1912 को सर्विया और बल्गेरिया के बीच सन्धि हो गयी। सन्धि के अनुसार यदि कोई बड़ी शक्ति बाल्कन प्रायद्वीप के किसी भाग पर आधिपत्य स्थापित करने की चेष्टा करे तो दोनों एक-दूसरे की सहायता करेंगे। सन्धि में एक गुप्त धारा भी जोड़ दी गई, जिसके अनुसार दोनों राज्यों ने, आवश्यकता पड़ने पर, रूस की स्वीकृति से, तुर्की के विरुद्ध सम्मिलित रूप से आक्रमण करना तय किया। इसी तरह की मिलती-जुलती एक सन्धि 29 मार्च, 1912 को यूनान और बल्गेरिया के बीच हुई। 'बाल्कन संघ' का निर्माण इन्हीं दो सन्धियों के आधार पर हुआ। अगस्त, 1912 में मान्टीनीग्रो को मौखिक रूप से इस संघ में सम्मिलित कर लिया गया। इस प्रकार अगस्त, 1912 तक बल्गेरिया, सर्विया, यूनान और मान्टीनीग्रो का बाल्कन संघ बन गया।

बाल्कन संघ की स्थापना का केवल एक ही उद्देश्य था कि तुर्की की निर्बलता एवं आंतरिक झगड़ों से लाभ उठाकर तुर्की पर आक्रमण करना तथा उसे परास्त कर विजित प्रदेशों को आपस में बाँट लेना। मेसीडोनिया के बँटवारे के बारे में भी तय कर लिया गया। बाल्कन के राज्यों में युद्ध की तैयारी आरम्भ हो गयी। यद्यपि फ्रांस का राष्ट्रपति पोइनकरे (Poincare) तथा रूस के विदेश मन्त्री साजानोव (Sazanov) ने युद्ध रोकने का प्रयत्न किया, किन्तु उनके प्रयत्नों का कोई परिणाम नहीं निकला। बल्गेरिया, सर्विया और यूनान की आँखें मेसीडोनिया पर गड़ी हुई थी तथा इन तीनों राज्यों के क्रान्तिकारी लोग मेसीडोनिया में उत्पात मचाते थे। तुर्की ने इन उत्पातों को दबाने के लिए क्रान्तिकारियों पर भीषण अत्याचार किये, जिससे बाल्कन राज्यों में उत्तेजना बढ़ने लगी। उसी समय अल्बानिया में भी विद्रोह हो गया। तुर्की की सेनाएँ अल्बानिया में विद्रोहियों से पराजित हो गयी। अल्बानिया

के विद्रोहियों की सफलता तथा मेसीडोनिया में बढ़ते हुए अत्याचारों के समाचार पाकर बाल्कन राज्य तुर्की के विरुद्ध आक्रमण करने को व्यग्र हो उठे। यूरोप के बड़े राज्य युद्ध को रोकने की योजना पर विचार ही कर रहे थे कि 8 अक्टूबर 1912 को मान्टीनीग्रो ने तुर्की के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। 14 अक्टूबर 1912 को बल्गेरिया व सर्बिया और यूनान ने तुर्की को अल्टीमेटम दे दिया। 28 अक्टूबर को तुर्की ने बल्गेरिया व सर्बिया के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी तथा उसी दिन यूनान ने भी तुर्की के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। चारों ओर से तुर्की पर हमला बोल दिया गया। बाल्कन राज्यों ने तुर्की की सेनाओं के विरुद्ध आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त की। बल्गेरिया की सेना कुस्तुन्तुनिया तक पहुंच गई, यूनान ने सेलोनिका पर अधिकार कर लिया, मान्टीनीग्रो अल्बानिना पर आ धमका और सर्बिया की सेनाओं ने वडार की घाटी, नोवी बाजार के संजक तथा अल्बानिया के उत्तरी भाग पर अधिकार करते हुए एड्रियाटिक तट तक जा पहुंची। आस्ट्रिया, सर्बिया का कट्टर दुश्मन था, अतः सर्बिया की सफलता देखने को तैयार नहीं था। आस्ट्रिया ने सर्बिया को धमकी दी कि यदि वह और आगे बढ़ा तो आस्ट्रिया बाल्कन युद्ध में हस्तक्षेप कर देगा। इधर रूस भी सैनिक तैयारी करने लगा। इस प्रकार बाल्कन समस्या पर एक बार पुनः यूरोपीय युद्ध की संभावना उत्पन्न हो गयी। किन्तु इंगलैण्ड, फ्रांस व जर्मनी का विचार था कि बाल्कन युद्ध को यूरोपीय युद्ध में परिणित होने से रोका जाय।

राजदूतों का लंदन सम्मेलन—3 दिसम्बर 1912 को बड़े राज्यों के सुझाव पर बल्गेरिया, सर्बिया और मान्टीनीग्रो ने युद्ध विराम करना स्वीकार कर लिया, किन्तु बाल्कन संघ के कहने पर यूनान को युद्ध विराम में सम्मिलित नहीं किया गया। यूरोप के बड़े राष्ट्रों द्वारा इस समस्या पर विचार करने के लिये लंदन में एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन का आयोजन किया गया। 16 दिसम्बर 1912 को सर एडवर्ड ग्रे के सभापतित्व में सम्मेलन आरम्भ हुआ। युद्ध विराम के समय तक तुर्की की स्थिति अत्यन्त ही निराशाजनक हो चुकी थी। उसके पास यूरोप में कुस्तुन्तुनिया, एड्रियानोपोल, जानीना तथा स्कुटारी के अतिरिक्त कुछ नहीं बचा था। दूसरी ओर बल्गेरिया एड्रियानोपोल पर अधिकार करना चाहता था। अन्त में बड़े राज्यों के दबाव के कारण तुर्की जनवरी 1913 में एड्रियानोपोल छोड़ने को तैयार हो गया। किन्तु 23 जनवरी 1923 को युवक तुर्कों ने कियामलपाशा के स्थान पर महमूद शेवकत पाशा को प्रधान मन्त्री बनाया, जिसने एड्रियानोपोल छोड़ने के प्रस्ताव को अस्वीकार दिया। फलस्वरूप लंदन सम्मेलन की कार्यवाही समाप्त हो गयी तथा 29 जनवरी 1913 को बाल्कन राज्यों ने तुर्की के विरुद्ध पुनः युद्ध आरम्भ कर दिया। 26 मार्च 1913 तक तुर्की के हाथ से एड्रियानोपोल एवं जानीना के क़िले भी निकल गये। अतः उसे पुनः समझौता वार्ता के लिये विवश होना पड़ा। अप्रेल के मध्य में दोनों पक्षों ने युद्ध विराम स्वीकार कर लिया तथा लंदन की सन्धि पर

हस्ताक्षर हो गये। इस सन्धि के अनुसार काले सागर पर स्थित मीडिया से लेकर एजियन सागर पर स्थित एनास के पश्चिम का सम्पूर्ण क्षेत्र तथा क्रीट का द्वीप बाल्कन राज्यों को दे दिया गया। यूनान को दक्षिणी मेसीडोनिया और क्रीट का द्वीप प्राप्त हुआ, सर्बिया को उत्तरी और मध्य मेसीडोनिया का क्षेत्र प्राप्त हुआ तथा बल्गेरिया को थ्रेस तथा एजियन सागर का तटवर्ती भाग प्राप्त हुआ। अल्बानिया का स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया गया, किन्तु उसकी सीमा निर्धारण का कार्य भविष्य के लिये छोड़ दिया गया।

लंदन सम्मेलन को सफल बनाने में सभी राष्ट्रों ने सहयोग दिया था। जब आस्ट्रिया, अल्बानिया के प्रश्न पर डटा हुआ था तो जर्मन सम्राट कैसर ने कहा था, "मुझे ऐसी कोई बात दिखाई नहीं पड़ती जिससे कि आस्ट्रिया की मानहानि हो रही है, आस्ट्रिया की जिद बेकार है।" वस्तुतः जर्मनी और इंगलैण्ड आरम्भ से ही पूर्ण सहयोग की भावना से कार्य कर रहे थे। एडवर्ड ग्रे ने सम्मेलन में महत्वपूर्ण योगदान दिया। रूस भी अपने ऊपर काफी नियन्त्रण किये रहा तथा शान्ति के लिये सहयोग करता रहा। मुख्य रूप से इंगलैण्ड और जर्मनी के सद्भावनापूर्ण सहयोग के कारण युद्ध की स्थिति टल गई। इंगलैण्ड ने रूस को संयत करने तथा जर्मनी ने आस्ट्रिया की उत्तेजना को कम करने में महान् योगदान दिया जिसके परिणामस्वरूप लंदन की संधि पर हस्ताक्षर संभव हो सके।

द्वितीय बाल्कन युद्ध—लंदन की संधि द्वारा बाल्कन समस्या का कोई स्थायी अथवा संतोषजनक समाधान नहीं हो सका। विजयी बाल्कन राज्य संधि द्वारा किये गये बंटवारे से असंतुष्ट थे। अतः बाल्कन राज्यों के बीच तनाव उत्पन्न हो गया। बाल्कन राज्यों में असंतोष का मूल कारण मेसीडोनिया का विभाजन था। मेसीडोनिया में तरह तरह की जातियां निवास करती थी, जिनमें अधिकांश जनसंख्या बुल्गर थी। बल्गेरिया सेनोलिका तथा मेसीडोनिया के कुछ अन्य भागों पर अधिकार करना चाहता था। यूनान, एजियन सागर तक पहुंचने के लिये सेनोलिका पर अधिकार चाहता था। सर्बिया, अल्बानिया के स्वतन्त्र राज्य बन जाने तथा एड्रियाटिक सागर तक पहुंचने का मार्ग अवरुद्ध हो जाने के कारण असन्तुष्ट था। इस प्रकार बाल्कन राज्यों में परस्पर विरोध बढ़ने लगा। बल्गेरिया और सर्बिया किसी भी प्रकार एक दूसरे से सहमत नहीं हो सके। सर्बिया और यूनान ने अपने हितों की रक्षा के लिये पारस्परिक सहयोग की संधि कर ली तथा दोनों ने बल्गेरिया से मेसीडोनिया के बड़े भू-भाग पर अधिकार प्राप्त करने की मांग की। किन्तु बल्गेरिया ने उनकी मांग को अस्वीकार कर दिया। फलतः यूनान व सर्बिया में अप्रसन्नता बढ़ी व संघर्ष की संभावना भी बढ़ गई। सर्बिया व बल्गेरिया के बीच बिगड़ते सम्बन्धों को देखकर जून 1913 में रूस के जार ने उनमें समझौता कराने का प्रयास किया। किन्तु बल्गेरिया ने समझौते के लिये ऐसी शर्तें रखा, जिससे समझौते के प्रयत्न विफल

हो गये। इस समय ग्रास्ट्रिया, बल्गेरिगा की महत्वाकांक्षाओं को प्रोत्साहन दे रहा था, क्योंकि वह चाहता था कि बाल्कन संघ की एकता भंग हो जाय। जब बातचीत द्वारा समस्या हल नहीं हो सकी तो दोनों पक्षों ने शक्ति प्रयोग का निश्चय किया। 29-30 जून 1913 को बल्गेरिया ने मेसीडोनिया में स्थित सर्बिया की सेनाओं पर आक्रमण कर दिया तथा एक दूसरी सेना सेलोनिका में यूनान के विरुद्ध आक्रमण करने भेज दी। बल्गेरिया के इस आक्रमण से द्वितीय बाल्कन युद्ध आरम्भ हो गया।

यूनान और सर्बिया की संयुक्त सेना ने बल्गेरिया की सेना को अनेक स्थानों पर पराजित किया। 9 जुलाई को रूमानिया भी बल्गेरिया के विरुद्ध युद्ध में सम्मिलित हो गया। इससे बल्गेरिया की स्थिति गंभीर हो गयी। इधर तुर्की ने भी बल्गेरिया से अपनी पराजय का बदला लेने तथा कुछ भू-भाग प्राप्त करने के उद्देश्य से 12 जुलाई 1913 को बल्गेरिया के विरुद्ध आक्रमण कर दिया। 20 जुलाई को तुर्की ने एड्रियानोपोल पर अधिकार कर लिया। सर्बिया तथा यूनान की सेनाएं भी सभी स्थानों पर विजयी हुई तथा बल्गेरिया पूर्ण रूप से पराजित हुआ। सर्बिया की सफलता देखकर आस्ट्रिया ने हस्तक्षेप करना चाहा, किन्तु जर्मनी और इटली ने उसे रोक दिया। बल्गेरिया ने बड़े राष्ट्रों से सहायता की अपील की, किन्तु उसका कुछ भी परिणाम नहीं निकला। बल्गेरिया अपने शक्ति परीक्षण में असफल हो चुका था।

बुखारेस्ट की सन्धि—जुलाई के अन्त में रूमानिया के शासक की अपील पर 31 जुलाई 1913 को युद्ध विराम की घोषणा कर दी गई। तत्पश्चात् रूमानिया की राजधानी बुखारेस्ट में शान्ति वार्ता आरम्भ हुई। बल्गेरिया पराजित होकर सम्मेलन में सम्मिलित हुआ था, अतः सम्मेलन में उसकी एक न चली। 10 अगस्त 1913 को बल्गेरिया ने विजयी राज्यों द्वारा प्रस्तावित सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिये। यह सन्धि बुखारेस्ट की सन्धि के नाम से प्रसिद्ध है। इस सन्धि के अनुसार—

(1) बल्गेरिया ने रूमानिया को दोब्रुजा का बहुत बड़ा भाग, जिसमें सिलिस्ट्रिया का दुर्ग भी सम्मिलित था, दे दिया।

(2) सर्बिया को ऑचरीडा, डमोनास्टिर और कोसोव सहित मध्य मेसीडोनिया तथा नोवी बाज़ार के संजक का पूर्वी भाग प्राप्त हुआ।

(3) यूनान को एपीरस, दक्षिणी मेसीडोनिया, सेलोनिका और कावला सहित मेस्टा नदी तक का समुद्र तट प्रदान किया गया।

(4) मान्टीनीग्रो को नोवी बाजार का पश्चिमी भाग प्रदान किया गया।

(5) मेसीडोनिया का बहुत बड़ा भाग त्यागने के पश्चात् शेष मेसीडोनिया बल्गेरिया को प्राप्त हुआ।

बुखारेस्ट की सन्धि द्वारा बल्गेरिया को वृहत बल्गेरिया के निर्माण की अपनी महत्वाकांक्षा को त्यागना पड़ा। सर्बिया और मान्टीनीग्रो को सबसे अधिक हिस्सा प्राप्त हुआ। इनके राज्य अब लगभग दुगुने हो गये। कावला के प्राकृतिक बन्दरगाह के निकल जाने से बल्गेरिया के आर्थिक विकास पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। सितम्बर 1913 में बल्गेरिया को तुर्की से कुस्तुन्तुनिया की सन्धि करनी पड़ी, जिसके अनुसार बल्गेरिया को एड्रियानोपोल का नगर तथा थ्रेस का अधिकांश भाग तुर्की को समर्पित करना पड़ा। वस्तुतः बल्गेरिया ने युद्ध आरम्भ करके बड़ी भारी भूल की थी कि जिसका परिणाम उसे भुगतना पड़ा। किन्तु इस युद्ध के लिये बड़ी शक्तियां भी कुछ अंशों तक उत्तरदायी थी। बुखारेस्ट की सन्धि की सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी कि इस सन्धि को बड़े राज्यों की स्वीकृति के लिये प्रस्तुत नहीं किया गया, जिससे यह प्रमाणित हो गया कि बाल्कन राज्यों पर बड़े राज्यों का प्रभाव अब समाप्त हो गया था।

बाल्कन युद्धों के परिणाम—इन बाल्कन युद्धों में अपार जन धन की हानि हुई। मेरियट के अनुसार दोनों बाल्कन युद्धों में लगभग 24 करोड़ 50 लाख पौंड खर्च हुए तथा 3 लाख 48 हजार व्यक्ति मारे गये अथवा घायल हुए। इनमें से केवल बल्गेरिया के 9 करोड़ पौंड खर्च हुए तथा 1 लाख 40 व्यक्ति मारे गये। इतना होने पर भी उसे वृहत बल्गेरिया के निर्माण की महत्वाकांक्षा को त्यागना पड़ा तथा लगभग 10 लाख से अधिक बुलगर जाति के लोगों को विदेशी सत्ता के अधीन जाना पड़ा। बाल्कन युद्धों का सबसे महत्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि यूरोप में तुर्की का साम्राज्य प्रायः नष्ट हो गया। अब तुर्की के पास केवल कुस्तुन्तुनिया, एड्रियानोपोल तथा डार्डेनल्स और बास्फोरस ही रह गये। बाल्कन क्षेत्र के ईसाई दीर्घ काल से तुर्की के अत्याचारपूर्ण शासन के अन्तर्गत दयनीय जीवन व्यतीत कर रहे थे जिन्हें अब मुक्ति मिली। बाल्कन राज्यों ने, बड़े राज्यों की सहायता के बिना ही, स्वयं संगठित होकर, मेसीडोनिया तथा अन्य ईसाई क्षेत्रों की समस्या-हल कर ली। बाल्कन युद्धों के फलस्वरूप यूनान, सर्बिया, रूमानिया और मान्टीनीग्रो के राज्यों का बहुत अधिक विस्तार हो गया। फिर भी बाल्कन राज्य संतुष्ट नहीं हो सके। यूनान दक्षिणी अल्बानिया का प्रदेश चाहता था, किन्तु इटली के हस्तक्षेप एवं चेतावनी के कारण यूनान को निराश होना पड़ा। यद्यपि इसके बाद उसे एजियन सागर के कुछ द्वीप मिल गये थे, किन्तु लगभग 3 लाख यूनानी अब भी बल्गेरिया के अधीन थे, जिन्हें वह मुक्त करवाना चाहता था। रूमानिया ने केवल द्वितीय बाल्कन युद्ध में भाग लिया था तथा उसको बलिदान के अनुपात में काफी बड़ा भू-भाग प्राप्त हो गया था किन्तु उसे इस बात से असंतोष था कि बेसरेबिया, ट्रांसिलवानिया और बुकोविना के रूमानियन क्षेत्र अभी भी विदेशी सत्ता के अधीन थे। बाल्कन युद्धों के बाद रूमानिया 'वृहत रूमानिया' की कल्पना करने लगा। सर्वाधिक असंतोष बल्गेरिया को था क्योंकि यूनान, सर्बिया और रूमानिया ने उसका बहुत सा भू-भाग छीन लिया

था तथा बुखारेस्ट की सन्धि द्वारा उसका घोर अपमान हुआ था। बल्गेरिया, इंगलैंड से भी रुष्ट था, क्योंकि उसे सन्देह था कि इंगलैण्ड ने अप्रत्यक्ष रूप से तुर्की का समर्थन किया था, जिससे वह पुनः एड्रियानोपोल पर अधिकार स्थापित करने में सफल हो गया। बल्गेरिया अपमान का बदला लेने के लिए बेचैन हो उठा और उसका झुकाव जर्मनी और आस्ट्रिया की ओर हो गया। इसलिये प्रथम विश्व युद्ध में बल्गेरिया केन्द्रीय शक्तियों का सहयोगी बना था।

बाल्कन युद्धों से पूर्व बल्गेरिया, रूस को अपना नेता मानता आ रहा था। किन्तु द्वितीय बाल्कन युद्ध में रूस ने बल्गेरिया के विरुद्ध सर्बिया की मदद की। फलतः बल्गेरिया, रूस से दूर हट गया और सर्बिया के कट्टर शत्रु आस्ट्रिया से मित्रता का इच्छुक बन गया। रूस और सर्बिया अधिक निकट आ गये। बाल्कन युद्धों के बाद तुर्की ने भी अनुभव किया कि जर्मनी को छोड़कर यूरोप का कोई भी राष्ट्र उसकी रक्षा करने के लिए तैयार नहीं था। इसीलिये तुर्की अब जर्मनी पर पूर्ण रूप से आश्रित हो गया तथा प्रथम विश्व युद्ध में वह जर्मनी का सहयोगी रहा।

बाल्कन युद्ध से सबसे अधिक लाभ सर्बिया को हुआ था, किन्तु उसे असंतोष इस बात पर था कि वह एजियन सागर के तट तक नहीं पहुँच पाया था जिससे उसके आर्थिक विकास का मार्ग अवरुद्ध हो गया था। वह किसी तरह अपने कट्टर शत्रु आस्ट्रिया से निबट लेना चाहता था। बुखारेस्ट की संधि के अवसर पर सर्बिया के प्रतिनिधि ने कहा था, "एक बाजी तो हम जीत गये हैं। अब दूसरी बाजी की तैयारी करनी है और वह आस्ट्रिया के साथ होगी।" सर्बिया के प्रतिनिधि के शब्द स्पष्ट रूप से आस्ट्रिया के लिये चेतावनी थे। सर्बिया की पीठ पर रूस का वरदहस्त उसे थपथपी दे रहा था। बुखारेस्ट की संधि द्वारा सर्बिया की शक्ति में वृद्धि हो गयी थी जिससे आस्ट्रिया विशेष रूप से चिंतित था। सर्बिया के 'वृहत् सर्बिया' आन्दोलन के कारण आस्ट्रिया की आन्तरिक एवं बाह्य कठिनाइयां बढ़ती जा रही थी। आस्ट्रिया का प्रधान मंत्री कोनराड (Conrad) प्रारम्भ से ही सर्बिया पर आक्रमण करने की मांग कर रहा था। उसका विश्वास था कि यदि सर्बिया की बढ़ती हुई शक्ति को तुरन्त समाप्त नहीं किया गया तो आगे चलकर आस्ट्रिया को गम्भीर स्थिति का सामना करना पड़ सकता है।

बाल्कन युद्धों के फलस्वरूप आस्ट्रिया के साथ-साथ जर्मनी भी सर्बिया का विरोधी बन गया था। दूसरी ओर रूस और आस्ट्रिया के बीच भी संघर्ष की सम्भावना बढ़ गयी, क्योंकि सर्बिया के पीछे शक्ति रूस की ही थी तथा रूस ने रूमानिया से भी मित्रतापूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया जिससे आस्ट्रिया, जर्मनी दोनों अप्रसन्न हो गये। इस प्रकार बाल्कन युद्धों में सम्मिलित होने वाले किसी भी राष्ट्र को, चाहे वह विजयी रहा हो अथवा पराजित हुआ हो, यह विश्वास नहीं था कि उसके क्षेत्रीय निर्णय स्थायी होंगे। वे सभी एक नये युद्ध की आशा करते

थे तथा 1913 में की गई सन्धि को 'रद्दी का टुकड़ा' समझते थे। वस्तुतः न केवल बाल्कन क्षेत्र में वरन् यूरोपीय राजनीति के विस्तृत क्षेत्र में व्याकुलता व्याप्त थी। इतिहासकार फे ने लिखा है कि बाल्कन युद्धों का परिणाम यह हुआ कि यूरोप की शान्ति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। शस्त्रीकरण की होड़ से 'ट्रिपल एलायन्स' एवं 'ट्रिपिल आतांत' अत्यधिक शक्तिशाली और संगठित हो गये तथा उनमें संघर्ष अनिवार्य हो गया।

बाल्कन युद्धों ने प्रथम विश्व युद्ध के लिये विस्फोटक परिस्थितियों की शृंखला आरम्भ कर दी। तरुण तुर्की आन्दोलन से लेकर बुखारेस्ट की संधि तक की राजनीतिक हलचलें यह प्रमाणित करती है कि 1914 में जो विश्वयुद्ध आरम्भ हुआ उसकी पृष्ठभूमि बाल्कन युद्धों ने तैयार की थी।

अध्याय 10

जर्मन साम्राज्य

(1871-1890)

(GERMAN EMPIRE)

जनवरी 1871 में जर्मनी का एकीकरण पूर्ण होने के पश्चात्, बिस्मार्क संयुक्त जर्मनी की इस प्रकार व्यवस्था करना चाहता था, जिससे कि जर्मनी एक संगठित एवं शक्तिशाली राज्य बन सके। किन्तु बिस्मार्क के समक्ष अनेक समस्याएं भी थीं, जो एकीकरण को द्रुति गति से सम्पादित करने के कारण उत्पन्न हुई थीं। प्रसिद्ध विद्वान हालैंड रोज के मतानुसार "बिस्मार्क की गृहनीति का लक्ष्य जर्मन एकीकरण को शक्ति सम्पन्न बनाना था तथा उसको ऐसा रूप देना था कि जर्मन जनता की सद्-भावना से यह चिरस्थायी बन सके।" इसी कार्यक्रम का विश्लेषण करते हुए लॉज ने लिखा है कि बिस्मार्क की नीति के मुख्य अंग साम्राज्य को संगठित करना, जर्मनी के छोटे-छोटे राज्यों को प्रशा के ढंग पर ढालना, केन्द्रीय शक्ति की व्यवस्था करना, प्रान्तीय भावना को नष्ट करना आदि थे। इन कथनों के संदर्भ में बिस्मार्क की गृह नीति की विवेचना करना समीचीन होगा।

जर्मनी का संघीय संविधान—फ्रेंको-प्रशा युद्ध की समाप्ति के साथ ही जर्मनी का एकीकरण पूर्ण हो गया तथा फ्रांस की राजधानी वर्साय में 18 जनवरी 1871 को जर्मन साम्राज्य की घोषणा की गई। किन्तु अब प्रश्न यह था कि एकीकृत जर्मनी की शासन व्यवस्था कैसी हो ? जर्मनी का विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग शासन व्यवस्था में ऐसा परिवर्तन चाहता था कि उनके विशेषाधिकार सुरक्षित रह सकें। दूसरी ओर कुछ ऐसे भी व्यक्ति थे जो संसदीय व्यवस्था चाहते थे तथा विशेषाधिकारों की समाप्ति देखना चाहते थे। इन परस्पर विरोधी विचारों को ध्यान में रखते हुए जर्मनी का नया संविधान बनाया गया, जो 16 अप्रेल, 1871 को स्वीकृत किया गया। नये संविधान में शासन का स्वरूप संघीय रखा गया, जिसमें प्रशा के नेतृत्व में 25 राज्य तथा एल्सस-लॉरेन का राजकीय प्रदेश सम्मिलित किये गये। जो राज्य इस संघ में सम्मिलित किये गये उन्हें स्वशासन का अधिकार दिया गया।

सम्राट—संघीय शासन का अध्यक्ष सम्राट घोषित किया गया। सैद्धान्तिक रूप से वह समप्रभुत्व अधिनायक जर्मन संघ का केवल अध्यक्ष था। राज्य की प्रभुसत्ता जर्मनी के सभी राज्यों में सामूहिक रूप से निहित थी, जिसका प्रयोग वे

विधान मण्डल के द्वितीय सदन (साम्राज्य परिषद्) में अपने प्रतिनिधियों द्वारा करते थे। जर्मन संघ के अध्यक्ष की हैसियत से सम्राट देश की जल एवं थल सेना का प्रधान सेनापति भी था। वह प्रधान मन्त्री अथवा चांसलर, विदेशों में राजदूत तथा अन्य उच्च अधिकारियों की नियुक्ति कर सकता था और उन्हें पदच्युत भी कर सकता था। वह साम्राज्य परिषद् की एक समिति की सहायता से विदेश नीति पर भी अपना नियन्त्रण रखता था। उसे युद्ध की घोषणा तथा सन्धि करने का भी अधिकार था। इसके अतिरिक्त उसे राइखस्टेग (लोकसभा) का अधिवेशन आमन्त्रित करने, स्थगित करने तथा साम्राज्य परिषद् की अनुमति से उसे भंग करने का भी अधिकार था। उसे बुन्देस्राट (साम्राज्य परिषद्) की अनुमति से, संविधान के प्रतिकूल कार्य करने वाले सदस्य राज्य को दण्डित करने, साम्राज्यीय कानूनों की घोषणा करने तथा उन्हें कार्यान्वित करने का भी अधिकार था।

चान्सलर (प्रधान मन्त्री)—सम्राट के बाद सबसे महत्वपूर्ण पद चान्सलर या प्रधान मन्त्री का था, जिसकी नियुक्ति सम्राट स्वयं करता था और वह उसके प्रति उत्तरदायी होता था। उसको पदमुक्त करने का अधिकार भी सम्राट को ही प्राप्त था। सम्पूर्ण साम्राज्य का प्रशासन चान्सलर के द्वारा ही संचालित होता था तथा उसकी सहायता के लिये अन्य सचिव (Secretaries of State) होते थे, जो विभिन्न विभागों का कार्य सम्भालते थे। चान्सलर की हैसियत से वह साम्राज्य परिषद् का सभापति होता था, किन्तु उसके कार्यों की आलोचना करना अथवा कार्यों में हस्तक्षेप करना साम्राज्य परिषद् की शक्ति से बाहर थे। संविधान के अनुसार कार्यपालिका पर व्यवस्थापिका का कोई नियन्त्रण नहीं था।

व्यवस्थापिका—जर्मनी की संसद में दो सदन थे—राइखस्टेग (लोकसभा) तथा बुन्देस्राट (साम्राज्य परिषद्)। राइखस्टेग के 397 सदस्यों का निर्वाचन 25 वर्ष या इससे अधिक आयु वाले पुरुष, गुप्त मतदान द्वारा पाँच वर्ष के लिये करते थे, किन्तु इसे इंगलैण्ड या फ्रांस की लोक सभाओं के समान शक्ति प्राप्त नहीं थी। कार्यपालिका पर इसका कोई नियन्त्रण नहीं था। इसे थल सेना, नौ सेना, व्यापार, आयात-निर्यात कर, रेल, तार, डाक तथा दीवानी एवं फौजदारी कानून बनाने का अधिकार था। किन्तु इसके द्वारा पारित कानूनों पर बुन्देस्राट की स्वीकृति आवश्यक थी। नये करों के लिये राइखस्टेग की स्वीकृति आवश्यक थी, किन्तु पुराने कर बिना स्वीकृति के भी वसूल किये जा सकते थे। विदेश नीति पर भी राइखस्टेग का कोई नियन्त्रण नहीं था। इस प्रकार महत्वपूर्ण मामलों में संसदीय नियन्त्रण नगण्य था। वस्तुतः यह एक परामर्शदात्री सभा थी तथा वास्तविक सत्ता बुन्देस्राट के हाथ में थी।

बुन्देस्राट सम्पूर्ण साम्राज्य के 25 राज्यों के राजाओं का प्रतिनिधित्व करती थी। इसके सदस्यों की नियुक्ति संघ में सम्मिलित राज्यों के शासकों द्वारा की जाती

थी। इसमें सभी राज्यों के प्रतिनिधि बराबर नहीं थे। इस सदन में कुल 58 सदस्य थे, जिसमें 17 प्रशा के, 6 सदस्य बवेरिया के, 4–4 सदस्य सेक्सनी व बुर्टमबर्ग के, 3–3 बादेन व हेस के तथा शेष राज्यों के 1–1 प्रतिनिधि थे। इसके सदस्यों को स्वतन्त्र रूप से मत देने का अधिकार नहीं था। वे अपने शासक के आदेशानुसार मतदान करते थे। संविधान के अनुसार इसे विस्तृत अधिकार प्राप्त थे। विधायी, कार्यकारी और न्यायिक कार्यों का निर्वाह इसी को करना पड़ता था। अधिकांश कानून पहले इसी में प्रस्तावित होते थे तथा राइखस्टेग द्वारा स्वीकृत विधेयक भी बुन्देस्राट की स्वीकृति के बिना कानून नहीं बन सकता था। यह राइखस्टेग के प्रस्तावों को अस्वीकृत भी कर सकती थी। साम्राज्य के बजट को बनाना, राज्य की आमदनी की देखभाल करना, सम्राट के साथ मिलकर युद्ध की घोषणा या सन्धि करना, सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति करना, अन्य पदाधिकारियों की नियुक्ति करना, कभी-कभी प्रशासकीय न्यायालय के रूप में कार्य करना, राज्यों के न्यायालयों से अपीलें सुनना तथा राज्यों के आपसी झगड़ों पर निर्णय देना बुन्देस्राट का ही काम था। संविधान में संशोधन करने का अधिकार भी बुन्देस्राट को ही था, किन्तु किसी संशोधन पर 14 मत विपक्ष में होने पर संशोधन नहीं कर सकता था। प्रशा के 17 सदस्य थे, अतः उसकी इच्छा के विपरीत कोई संशोधन स्वीकृति नहीं हो सकता था।

न्यायपालिका—1877 ई० में एक संघीय सर्वोच्च न्यायालय स्थापित किया गया। वह साम्राज्यीय कानूनों के बारे में राज्य न्यायालयों के लिए अपील न्यायालय था। किन्तु संसद द्वारा स्वीकृत कानूनों की संवैधानिकता अथवा असंवैधानिकता का निर्णय करना इसके अधिकार में नहीं था।

जर्मनी के संघीय संविधान की मुख्य रूप से दो विशेषताएँ थीं—प्रथम तो उसका राजतन्त्रीय स्वरूप तथा दूसरा उसमें प्रशा की प्रमुखता। विश्व के समस्त संघात्मक राज्यों में केवल जर्मनी का संघ ही राजतन्त्रात्मक था, जिसमें सम्मिलित राज्यों में भी राजतन्त्रात्मक व्यवस्था थी। समस्त जर्मन संघ में केवल तीन स्वतन्त्र नगर थे—हेम्बर्ग, ब्रेमेन और ल्यूबेक। बिस्मार्क ने जर्मन संघ का संविधान इस प्रकार बनाया था कि प्रशा की प्रधानता बनी रहे। उसने एक ओर तो एकात्मक और संघात्मक प्रणाली के बीच तथा दूसरी ओर राजतंत्र एवं लोकतंत्र के बीच समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया। बुन्देस्राट में प्रशा की स्वीकृति के बिना कोई संशोधन नहीं हो सकता था। राइखस्टेग में भी उसके सदस्यों का बहुमत था। इस प्रकार संघ में प्रशा की प्रधानता स्थापित हो गई थी। संघ के सदस्य राज्यों को स्वशासन का अधिकार देकर सन्तुष्ट करने का प्रयास किया गया। राज्यों के विधान पूर्ववत बने रहे। राज्यों की पृथक् विधान सभाएं थी जहां धर्म, शिक्षा आदि कुछ विषयों से सम्बन्धित नियम भी बनाये जाते थे। बुर्टमबर्ग, बवेरिया तथा सेक्सनी

को अपनी सेनाएं रखने का अधिकार दिया गया। बुन्देस्राट में राज्यों के प्रतिनिधियों के माध्यम से विदेश नीति आदि विषयों पर राज्यों का प्रभाव अवश्य पड़ता था।

जर्मनी के संघीय संविधान की आलोचना करते हुए प्रोफेसर ए. जे. पी. टेलर ने लिखा है कि बिस्मार्क द्वारा निर्मित संविधान संघात्मक समझा जाता है किन्तु वास्तव में संघीय स्वरूप एक धोखा था, एक दिखावा था, जिसके द्वारा वह प्रशा की तानाशाही को छिपाना चाहता था। यद्यपि बिस्मार्क द्वारा स्थापित संघीय व्यवस्था में अनेक दोष थे तथा वह विधान विशेष अधिकारों से ओतप्रोत था, तथापि इसका विरोध नहीं हुआ और वह एक लम्बे समय तक चलता रहा। संघीय संविधान में अनेक दोष होते हुये भी जर्मनी के लिए सर्वाधिक उपयुक्त व्यवस्था थी तथा तात्कालिक परिस्थितियों में वहाँ इंगलैंड जैसी संसदीय व्यवस्था स्थापित करना संभव नहीं था।

जर्मनी में राजनैतिक दल—इस समय जर्मनी में अनेक राजनैतिक दल थे। सर्वाधिक प्रभावशाली राष्ट्रीय उदारवादी दल था जो बिस्मार्क एवं सम्राट की नीतियों का समर्थन करता था। इस दल के लोग राष्ट्रीय एकता के साथ-साथ उत्तरदायी शासन भी स्थापित करना चाहते थे तथा शिक्षा के क्षेत्र में पदारियों के प्रभाव को समाप्त करना चाहते थे। इसी दल की सहायता से बिस्मार्क ने 1878 तक समस्त विरोधी दलों का सामना किया। रूढ़िवादी दो दलों में विभाजित थे। एक दल कट्टर अनुदारवादियों का था जो बिस्मार्क की नीति से असन्तुष्ट था। दूसरा दल स्वतन्त्र अनुदारवादियों का था जो सदैव बिस्मार्क की नीतियों का समर्थन करता था। 1870 में रोमन कैथोलिकों ने अपना एक अलग राजनैतिक दल बना लिया, जिसे "केन्द्रीय दल" कहा जाता था। कुछ ही समय बाद बिस्मार्क और इस दल के बीच मतभेद उत्पन्न हो गये, जो 1871 के पश्चात् कई वर्षों तक चलते रहे।

बिस्मार्क की नीतियों का प्रबल विरोधी एक अन्य दल जनतान्त्रिक समाजवादी दल भी था। 1875 के बाद इस दल का प्रभाव निरन्तर बढ़ने लगा तथा राइखस्टेग में इस दल के सदस्यों की संख्या में वृद्धि होती गई। औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप मजदूरों की बढ़ती हुई संख्या का प्रबल समर्थन इसी दल को प्राप्त हुआ था, क्योंकि उसने मार्क्स के समाजवादी सिद्धांतों का समर्थन किया था। बिस्मार्क इसे साम्राज्य का कट्टर शत्रु समझता था।

बिस्मार्क की गृह नीति–यद्यपि 1871 से 1888 तक विलियम प्रथम जर्मनी का सम्राट रहा, किन्तु वास्तविक सत्ता बिस्मार्क के हाथों में केन्द्रित रही, जो 1890 तक जर्मनी का चान्सलर बना रहा। बिस्मार्क की गृह नीति का मुख्य उद्देश्य साम्राज्य को संगठित एवं शक्तिशाली बनाना था तथा समान प्रशासकीय, सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था की स्थापना करके विभिन्न राज्यों की विविधताओं को समाप्त

करना था। यद्यपि विस्मार्क को अनेक राजनैतिक दलों के विरोध का सामना करना पड़ा, किन्तु बिस्मार्क अपने उद्देश्यों से विचलित नहीं हुआ। हालांकि कुछ राजनैतिक परिस्थितियों में दबाव के कारण उसे कई बार अपनी नीति में परिवर्तन करना पड़ा था।

बिस्मार्क के सुधार कार्य—बिस्मार्क ने 1871 से 1879 के बीच राष्ट्रीय उदारवादी दल के सहयोग से अनेक सुधार किये जिसमें मुख्य निम्नलिखित थे—

(1) सर्वप्रथम बिस्मार्क ने 1871 में सम्पूर्ण साम्राज्य के लिये समान मुद्रा पद्धति प्रचलित की गयी।

(2) साम्राज्य की आर्थिक स्थिति में सुधार करने के लिये 1873 में एक इम्पीरियल बैंक की स्थापना की गई तथा सभी बैंकों को बुन्देस्राट के नियंत्रण में रखा गया। सम्पूर्ण साम्राज्य के लिये समान बैंकिग नियम लागू किये गये।

(3) बिस्मार्क रेलों का राष्ट्रीयकरण करना चाहता था, किन्तु जागीरदारों एवं उद्योगपतियों के विरोध के कारण वह ऐसा नहीं कर सका। फिर भी रेलों पर नियन्त्रण रखने के लिए उसने इम्पीरियल रेल्वे बोर्ड स्थापित कर दिया। डाक-तार सेवाओं पर भी केन्द्रीय नियन्त्रण स्थापित किया गया।

(4) अभी तक विभिन्न राज्यों में दीवानी और फौजदारी की अलग-अलग कानून संहिताएं थीं। बिस्मार्क ने राज्यों में प्रचलित दीवानी एवं फौजदारी कानूनों का एकीकरण कर दिया तथा सम्पूर्ण साम्राज्य में कानून एवं न्याय व्यवस्था स्थापित की। सम्पूर्ण साम्राज्य के लिये राष्ट्रीय न्यायालयों की स्थापना की गई तथा लीपजिग (Leipzing) नगर में साम्राज्य के लिये एक सर्वोच्च न्यायालय स्थापित किया गया।

(5) साम्राज्य में सैनिक शिक्षा अनिवार्य रूप में दी जाने लगी तथा यह निश्चित किया गया कि साम्राज्य में चार लाख सैनिक स्थाई रूप से रहेंगे।

इन सभी कार्यों से बिस्मार्क ने केन्द्रीय सत्ता की शक्ति में वृद्धि करने तथा सभी राज्यों में समान प्रशासकीय एवं न्याय व्यवस्था स्थापित करने का प्रयास किया।

सेना का पुनर्गठन एवं राइखस्टेग में विरोध—बिस्मार्क जर्मनी को यूरोप में सबसे शक्तिशाली राष्ट्र बनाना चाहता था। अतः 1874 में उसने सेना के पुनर्गठन के सम्बन्ध में, राइखस्टेग में एक बिल प्रस्तुत किया, जिसमें जर्मनी में अनिवार्य सैनिक सेवा लागू करने तथा शान्तिकाल में जर्मन सेना की संख्या 4 लाख निश्चित करने का प्रावधान रखा गया। बिस्मार्क यह भी चाहता था कि सेना के लिये आवश्यक धनराशि स्थाई रूप से स्वीकृत कर दी जाय ताकि प्रतिवर्ष उसके लिए स्वीकृति न लेनी पड़े। राइखस्टेग इस बिल को पास करके हमेशा के

लिये सेना पर अपना नियन्त्रण खोने के लिये तैयार नहीं थी। राष्ट्रीय उदारवादी दल ने इस बिल का तीव्र विरोध किया। अन्त में बिस्मार्क ने त्यागपत्र देने अथवा राइखस्टेग को भंग करने की धमकी दी, जिससे विरोधियों को दबना पड़ा। एक उदारवादी नेता मिक्वेल के प्रयत्नों से समझौता हो गया तथा सेना सबन्धी बिल सात वर्ष के लिये स्वीकृत कर लिया गया।

गैर जर्मन जातियों के प्रति—जर्मन साम्राज्य के अन्तर्गत अनेक गैर जर्मन क्षेत्र भी सम्मिलित किये गये थे जिनमें पोल, डेन और फ्रेंच लोग अधिक संख्या में रहते थे। बिस्मार्क ने इन गैर जर्मन जातियों की राष्ट्रीयता नष्ट करके उन्हें जर्मन साम्राज्य का समर्थक बनाने का प्रयत्न किया। इन क्षेत्रों में उसने जर्मन भाषा और संस्कृति का प्रसार करने की नीति अपनाई तथा पोलैण्ड के भूमिपतियों से भूमि खरीद कर वहां जर्मन लोगों को बसाने का प्रयत्न किया। किन्तु पोलैण्ड वासी निरन्तर जर्मन का विरोध करते रहे। फ्रेंच निवासियों को सैनिक शक्ति द्वारा अथवा कभी-कभी उन्हें कुछ सुविधायें देकर जर्मनी के अधीन रखना चाहा, किन्तु वे हमेशा जर्मन साम्राज्य से मुक्त होने का प्रयत्न करते रहे। एक ओर बिस्मार्क गैर जर्मन जातियों का 'जर्मनीकरण' करना चाहता था किन्तु दूसरी ओर आस्ट्रिया के साम्राज्य में तथा बाल्कन क्षेत्र में रहने वाले जर्मन लोगों के हितों की रक्षा का कोई प्रयत्न नहीं किया। गैर जर्मन जातियों के प्रति बिस्मार्क की नीति असफल रही। बिस्मार्क की नीति के फलस्वरूप गैर जर्मन लोगों की राष्ट्रीयता की भावना प्रबल होती गयी। यद्यपि ये जातियां अल्पसंख्या में होने के कारण जर्मनी के लिये खतरा तो नहीं बन सकी, किन्तु इन जातियों का विरोध जर्मनी के लिये एक समस्या बनी रही।

कुल्तुर्केम्फ या सांस्कृतिक संघर्ष—सन् 1871 से 1878 के बीच बिस्मार्क को जर्मनी के रोमन कैथोलिक चर्च एवं कैथोलिक दल के विरुद्ध जो संघर्ष करना पड़ा उसे 'कुल्तुर्केम्फ' या 'सांस्कृतिक संघर्ष' या 'सभ्यता की रक्षा के लिए संघर्ष' कहा जाता है। बिस्मार्क की गृह नीति के क्षेत्र में कुल्तुर्केम्फ सबसे प्रसिद्ध घटना है।

बिस्मार्क और रोमन कैथोलिक चर्च के बीच संघर्ष के अनेक कारण थे। बिस्मार्क आरम्भ से ही रोमन कैथोलिक चर्च से चिढ़ता था क्योंकि वह आस्ट्रिया के नेतृत्व में 'वृहत जर्मनी' का समर्थक था। जर्मन साम्राज्य बन जाने के बाद भी रोमन कैथोलिक दल, जो अब 'केन्द्रीय दल' के नाम से संगठित हो गया था, राष्ट्र का विरोधी बना रहा। यह दल पोप की ऐहिक शक्ति को पुनः स्थापित करना चाहता था तथा राज्य में धर्म को सर्वोपरि मानता था। बिस्मार्क इस प्रकार की राष्ट्र विरोधी संस्था को सहन करने के लिये तैयार नहीं था। बिस्मार्क को इस बात का भी भय था कि कैथोलिकों को साम्राज्य के अन्य विरोधियों, जैसे पोल और हेनोवर के ग्वेल्फ दल का सहयोग मिल गया तो उसकी कठिनाइयां बढ़ जायेंगी। इसके अतिरिक्त बिस्मार्क का यह निश्चित मत था कि चर्च और राज्य के कार्य क्षेत्र सर्वथा पृथक होने

चाहिए ताकि चर्च को धार्मिक क्षेत्र में स्वतन्त्रता प्राप्त हो तथा वह राज्यों के कार्यों में हस्तक्षेप न करे। इस समय यूरोप के अन्य राज्यों में भी चर्च और राज्य के कार्य क्षेत्र को अलग रखने की नीति अपनाई जा रही थी तथा जर्मनी के उदारवादी नेता भी चर्च के अधिकारों को विशेषकर शिक्षा सम्बन्धी अधिकारों को कम करना चाहते थे। किन्तु कैथोलिक दल न तो राज्य की सत्ता को सर्वोच्च मानने के लिए तैयार थे और न अपने अधिकारों को छोड़ने के लिए तैयार थे। रोमन कैथोलिक राज्य को चर्च के अधीन रखना चाहते थे, जबकि बिस्मार्क राज्य की सर्वोच्च सत्ता का पक्षपाती था। इन सभी कारणों से बिस्मार्क ने रोमन कैथोलिकों के प्रभाव को नष्ट करने का निश्चय किया। राज्य और चर्च का यह संघर्ष लगभग पांच वर्षों तक चलता रहा।

जर्मनी में कुल्तुर्कम्फ का आरम्भ स्वयं कैथोलिकों के पारस्परिक मतभेदों के कारण हुआ था। 1864 में पोप पायस नवम् ने 'सिलेबस एरोरम' (Syllabus Errorum) नामक विज्ञप्ति निकलवाई, जिसमें उन सभी विचारधाराओं का उल्लेख किया गया था जिन्हें पोप धर्म के विरुद्ध समझता था। इस विज्ञप्ति में यह स्पष्ट कर दिया कि लोकतन्त्र और विकासवाद भयंकर भूलें हैं और इन भूलों को दोहराने से पोप तथा ईश्वर जनता पर नाराज होते हैं। इस विज्ञप्ति की आड़ में कैथोलिकों ने बिस्मार्क की धर्म निरपेक्ष नीति का खुले रूप से विरोध करना आरम्भ कर दिया। 1870 में प्रोटेस्टेण्ट प्रशा ने कैथोलिक फ्रांस को पराजित कर दिया, ऐसी स्थिति में जुलाई 1870 में वेटिकन काउन्सिल (Vatican Council) ने पोप की अमोघता की घोषणा की, जिसका आशय यह था कि धर्म के क्षेत्र में पोप सर्वोच्च व्यक्ति है। इसलिए पोप की किसी प्रकार की आज्ञा की अवहेलना करना पाप है। वेटीकन काउन्सिल की घोषणा में यह भी कहा गया था कि जो इस आदेश का पालन नहीं करेगा उसे धर्म से बहिष्कृत कर दिया जायेगा। इस घोषणा से जर्मनी में उत्तेजना फैल गई तथा कुछ कैथोलिकों ने 'पोप की अमोघता के सिद्धान्त' को मानने से इन्कार कर दिया। फलस्वरूप कैथोलिकों में पारस्परिक संघर्ष आरम्भ हो गया। अब राज्य का हस्तक्षेप अनिवार्य हो गया और इस प्रकार चर्च और राज्य का संघर्ष आरम्भ हो गया। 1871 में जर्मन कैथोलिकों ने 'केन्द्रीय दल' बना लिया था तथा राइखस्टेग में इस दल के 63 सदस्य निर्वाचित हो गये थे, जो बिस्मार्क की नीति का सदैव विरोध करते आ रहे थे। बिस्मार्क ने चर्च और राज्य के इस संघर्ष को राजनैतिक रूप देने का प्रयत्न किया। जर्मनी की प्रोटेस्टेण्ट जनता तथा उदारवादी दल बिस्मार्क के साथ थे। सर्वप्रथम 1871 में एक कानून बनाया गया, जिसके द्वारा कैथोलिक पादरियों के शिक्षा सम्बन्धी अधिकार समाप्त कर दिये। 1872 में एक कानून पास करके जेसुइटों को जर्मनी से निष्कासित कर दिया तथा पादरियों द्वारा धर्म मंच से राज्य की समस्याओं पर भाषण देना दण्डनीय अपराध घोषित किया गया। बिस्मार्क ने कैथोलिकों के विरुद्ध कठोर नीति अपनाने का निर्णय लिया

और इसके लिए उसने आडालवर्ट फाक को प्रशा का शिक्षा मन्त्री नियुक्त किया। फाक ने 1873 से 1875 के बीच कैथोलिकों के विरुद्ध कई कानून बनाये, जो फाक के कानून कहलाये। अब सभी कैथलिक पादरियों के लिए सार्वजनिक विद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों में शिक्षित होना अनिवार्य कर दिया। पादरियों को सरकार द्वारा निर्धारित पाठ्यक्रम के अनुसार परीक्षा पास करनी पड़ती थी। चर्च की स्कूलों पर सरकार का नियन्त्रण स्थापित किया गया। पादरियों के धर्म के बहिष्कृत करने या धार्मिक दण्ड देने के अधिकार को समाप्त कर दिया गया तथा राज्य को यह अधिकार दिया गया कि इन कानूनों की अवहेलना करने वाले पादरियों को पदच्युत कर दें।

फाक के कानूनों को बड़ी कठोरता से लागू किया गया। दूसरी ओर पोप ने इन कानूनों को अमान्य घोषित कर दिया। विस्मार्क ने पोप की इस चुनौती को स्वीकार करते हुए कहा, "डरो मत, हम तन से या मन से केनोसा (Canossa) नहीं जायेंगे" जब कैथोलिक पादरियों ने फाक के कानूनों का उल्लंघन करना आरम्भ किया तो हजारों कैथोलिक पादरियों को वन्दी गृहों में डाल दिया गया अथवा उन्हें धार्मिक पदों से पदच्युत कर दिया गया। चर्च और सरकार का यह संघर्ष देशव्यापी हो गया। कैथोलिकों का जितना अधिक दमन होता गया, उतना ही उनका उत्साह बढ़ता गया। 1874 के चुनावों में केन्द्रीय दल को 91 स्थान प्राप्त हुए जिससे वे उत्साहित एवं संगठित होकर शासन की नीति का विरोध करने लगे। विस्मार्क की इस नीति से अनुदार दल भी प्रसन्न हो गया तथा जनतांत्रिक समाजवादी दल ने अपना प्रभाव बढ़ाकर राइखस्टेग में 12 स्थान प्राप्त कर लिये। अतः समाजवादियों के प्रभाव को रोकना आवश्यक था। इधर 1877 में अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति में महत्वपूर्ण परिवर्तन आया। रूस ने तुर्की को परास्त करके सेनस्टीफेनो की सन्धि द्वारा वाल्कन क्षेत्र में अपनी शक्ति बढ़ा ली थी। अतः विस्मार्क ने यह अनुभव किया कि जर्मनी को यूरोप में शक्तिशाली राज्य बनायें रखने के लिए उसे पूर्वी समस्या में सक्रिय भाग लेना चाहिए।

इस प्रकार आंतरिक एवं अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के कारण बिस्मार्क ने कैथोलिकों से समझौता करना ही उचित समझा। फरवरी 1878 में पोप पायस नवम् के स्थान पर लियो तेरहवां पोप बना, जो समझौतावादी था। विस्मार्क ने नये पोप से समझौता वार्ता आरम्भ की, जिसके फलस्वरूप दोनों में समझौता हो गया। कैथोलिकों के विरुद्ध कठोरता की नीति समाप्त कर दी गई, कैथोलिकों के विरुद्ध फाक के कानूनों का प्रयोग करने में शिथिलता आ गयी तथा फाक ने त्याग पत्र दे दिया, जिससे 1878 के अंत तक संघर्ष लगभग समाप्त हो गया। 1879 में केन्द्रीय दल ने विस्मार्क की आर्थिक नीतियों का समर्थन किया। 1887 में सिविल मैरिज तथा राज्य द्वारा चर्च की स्कूलों के निरीक्षण को छोड़ कर कैथोलिकों के विरुद्ध सभी कानूनों को वापस ले लिया गया। विस्मार्क को तन से तो नहीं किन्तु मन से तो केनोसा जाना ही पड़ा।

साधारणतः यह कहा जाता है कि बिस्मार्क को कुल्तुर्केम्फ में पराजित होना पड़ा। किन्तु राबर्टसन ने इस कथन को स्वीकार नहीं किया है। राबर्टसन ने इस कथन के विरुद्ध अपनी तीन टिप्पणियाँ प्रस्तुत की हैं। प्रथम, उदारवादी दल ने जिसने फाक के कानूनों को पारित किया था, कभी अपनी नीति नहीं बदली वरन् जब चान्सलर कैथोलिकों के समक्ष झुक गया तब उसने विरोध एवं दुःख प्रकट किया। दूसरी, कैथोलिक इस संघर्ष में उतने ही थक चुके थे जितना बिस्मार्क। कैथोलिक इस दीर्घकालीन संघर्ष के बाद भी फाक के कानूनों में किसी प्रकार का संशोधन करवाने में असफल रहे थे और यदि संघर्ष अधिक समय तक चलता तो संभवतः पोप को भिन्न परिस्थितियों में समझौता करना पड़ता। तीसरी, बिस्मार्क ने अन्य महत्व-पूर्ण समस्याओं को हल करने के लिए जान बूझ कर कुल्तुर्केम्फ को त्याग दिया था। किन्तु यह तथ्य निर्विवाद है कि उस संघर्ष के परिणामस्वरूप केन्द्रीय दल राजनैतिक दृष्टिकोण से पहले की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली हो गया।

बिस्मार्क और समाजवाद—कैथोलिकों से संघर्ष समाप्त करने का एक कारण यह भी था कि बिस्मार्क समाजवादी दल के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकना चाहता था। औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप जर्मनी में एक विशेष वर्ग पैदा हो गया था जिसका मुख्य व्यवसाय मजदूरी था। ये मजदूर अपने सामाजिक स्तर को ऊंचा उठाने तथा कारखानों में अपनी स्थिति सुधारने के लिए बड़े प्रयत्नशील थे। इन मजदूरों की सहानुभूति समाजवादी दल की ओर थी जिससे समाजवादी दल प्रगति कर रहा था। जिस समय कार्ल मार्क्स ने 'अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संगठन' की स्थापना की, उसी समय जर्मनी में फर्डीनेण्ड लासॉल ने 'यूनीवर्सल जर्मन वर्क्स यूनियन' तथा बिल्हेलम एवं आयस्टवेबल ने 'जनतांत्रिक समाजवादी दल' की स्थापना की। 1875 में दोनों समाजवादी दलों में समझौता हो गया तथा दोनों ने समान कार्यक्रम पर काम करना आरम्भ कर दिया। यह दल उत्पादन के साधनों पर पूंजीपतियों के आधिपत्य की निन्दा करता था तथा उन साधनों पर राज्य का आधिपत्य चाहता था। वह वयस्क मताधिकार, गुप्त मतदान प्रणाली, प्रैस व भाषण की स्वतन्त्रता तथा राजनैतिक अधिकारों की मांग कर रहा था। बिस्मार्क आरम्भ से ही समाजवादियों का विरोधी था क्योंकि वे प्रजातन्त्र के समर्थन एवं सैनिकवाद के विरोधी थे। अतः बिस्मार्क से उनका संघर्ष अवश्यम्भावी था।

समाजवादियों का प्रभाव निरन्तर बढ़ता जा रहा था तथा 1877 में इस दल को राइखस्टेग में 12 स्थान प्राप्त हो गये थे। अतः बिस्मार्क ने समाजवादियों की शक्ति को नष्ट करने का निश्चय किया। बिस्मार्क ने समाजवादियों को समाज एवं राज्य का शत्रु घोषित किया तथा उन्हें बदनाम करने के लिए समाचार पत्रों में अनेक लेख लिखवाये। वह समाजवादियों के विरुद्ध कानून बनाना चाहता था, किन्तु राष्ट्रीय उदारवादी दल के विरोध के भय से वह ऐसा नहीं कर सकता था। अतः

उसने राइखस्टेग को भंग करवा कर नये चुनाव कराये । बिस्मार्क ने 'समाज और राष्ट्र खतरे में है' का नारा देकर मतदाताओं को बहकाया । फलस्वरूप चुनावों में बिस्मार्क के समर्थकों को बहुमत प्राप्त हो गया । अब 1878 में बिस्मार्क ने नयी राइखस्टेग से समाजवादियों के दमन हेतु कठोर कानून पास करवाये । इन कानूनों द्वारा समाजवादी संगठनों, सभाओं और प्रकाशनों पर रोक लगा दी गई । समाजवादियों के विरुद्ध कार्यवाही करने के लिए पुलिस को व्यापक अधिकार दे दिये गये । 1890 तक लगभग 3,500 समाजवादियों को बन्दीगृह में डाल दिया गया तथा ऐसा कानून बना दिया जिससे वे अपने व्यक्तिगत अधिकारों के लिए न्यायालयों से सुरक्षा प्राप्त नहीं कर सकते थे । कानून पहले चार वर्ष के लिए बनाये गये और बाद में 1882 व 1886 में उन्हें पुनः दोहराया गया । उस समय के एक तात्कालिक लेखक हेडलम (Headlam) ने लिखा था, "अब हम सरकार को वे पुराने तरीके अपनाते हुए देख रहे हैं जिन्हें मेटरनिख ने 50 वर्ष पूर्व अपनाया था ।"

किन्तु बिस्मार्क की यह दमनकारी नीति समाजवादी आन्दोलन को दबाने में असफल सिद्ध हुई । अब समाजवादी गुप्त रूप में अपना कार्य करने लगे । यद्यपि श्रमिक संघों को अवैध घोषित कर दिया गया, किन्तु इन श्रमिक संघों का कार्य गुप्त रूप से चलता रहा । वस्तुतः समाजवादियों की शक्ति जनसाधारण के विचारों और उनकी आर्थिक दशा में थी, अतः उनके बाह्य संगठन को समाप्त करके उनकी शक्ति नष्ट नहीं की जा सकती थी । बिस्मार्क ने समाजवादी आन्दोलन को नष्ट करने के लिए जो प्रयत्न किया उससे समाजवादियों में अधिक दृढ़ता उत्पन्न हो गयी । आरम्भ में ऐसा प्रतीत होने लगा कि समाजवादियों का प्रभाव कम हो रहा है, क्योंकि 1881 के चुनावों में समाजवादी दल को पांच लाख मतों के स्थान पर 3 लाख 12 हजार मत प्राप्त हुए, किन्तु 1884 में उन्हें लगभग 5½ लाख मत प्राप्त हो गये । 1890 में समाजवादियों को 14 लाख 27 हजार मत प्राप्त हुए तथा राइखस्टेग में उनके 35 सदस्य चुने गये । इस प्रकार बिस्मार्क समाजवाद का दमन करने में असफल रहा तथा समाजवादियों के बढ़ते हुए प्रभाव को देखकर 1890 में समाजवादियों के विरुद्ध बनाये गये कानूनों को फिर से नहीं दोहराया गया ।

राज्य समाजवाद का प्रयोग—बिस्मार्क एक ओर तो समाजवादियों का दमन करने हेतु कठोर नियम बना रहा था तो दूसरी ओर उसने मजदूरों की स्थिति सुधारने का भी प्रयत्न किया । अतः कुछ विद्वानों का मत है कि बिस्मार्क की नीति में विरोधी तत्व थे । वास्तव में बिस्मार्क ने जर्मनी के मजदूरों को समाजवादी आन्दोलन से विमुख करने के लिए कुछ सामाजिक सुधार किये, ताकि मजदूरों को यह विश्वास हो जाये कि सरकार को मजदूरों के प्रति भी सहानुभूति है । इसके अतिरिक्त बिस्मार्क को मजदूर वर्ग से कोई घृणा नहीं थी तथा वह उनके जीवन स्तर को सुधारने के पक्ष में था, किन्तु जहां तक उनके कार्यक्रमों का प्रश्न था,

वह नहीं चाहता था कि समाजवादी नीति जर्मनी के एकीकरण के कार्य को भंग कर दे।

बिस्मार्क का विश्वास था कि यदि मजदूर को इस चिन्ता से मुक्त कर दिया जाय कि रोग, दुर्घटना या वृद्धावस्था के कारण उसके परिवार को कोई कष्ट उठाना नहीं पड़ेगा तथा अपने जीवन निर्वाह के लिए भीख मांगनी नहीं पड़ेगी तो मजदूर सरकार का समर्थक बन जायेगा तथा समाजवादियों का साथ छोड़ देगा। अतः 1881 में राइखस्टेग के समक्ष सम्राट के भाषण में राज्य के कर्तव्य सम्बन्धी नये सिद्धान्तों की घोषणा करवाई। अब तक राज्य का कर्तव्य केवल कानून एवं व्यवस्था बनाये रखने तक सीमित था, किन्तु सम्राट के भाषण में कहा गया कि मजदूरों की दशा सुधारना, सामाजिक बुराइयों को समाप्त करना तथा समाज के निर्बल वर्ग का कल्याण करना राज्य का नैतिक कर्त्तव्य है। इसी घोषणा के अनुसार बिस्मार्क ने मजदूरों के लिये विभिन्न बीमा योजनाएं बनायी। उसकी सारी सामाजिक सुधार की नीति बीमे के आयोजन के अन्तर्गत निहित थी।

1883 में बिस्मार्क ने 'रोग बीमा अधिनियम' पास करवाया। इसके अनुसार प्रत्येक मज़दूर का बीमारी के विरुद्ध बीमा करवाना पड़ता था तथा इसके लिए आवश्यक राशि का $\frac{2}{3}$ भाग मजदूरों को एवं $\frac{1}{3}$ भाग कारखानों के मालिकों को देना पड़ता था। इसके अनुसार मजदूरों को उनकी बीमारी की अवधि में दैनिक मजदूरी का आधा या $\frac{3}{4}$ भाग मिलता रहता था। इस प्रकार 1884 में 'दुर्घटना बीमा अधिनियम' पास किया गया, जिसके अनुसार मजदूर के दुर्घटनाग्रस्त हो जाने पर उसकी सहायता के लिये, कारखाने के मालिक को निश्चित धन राशि देनी पड़ती थी। 1889 में 'वृद्धावस्था बीमा अधिनियम' पारित किया गया, जिसके द्वारा वृद्धावस्था में मजदूरों के जीवन निर्वाह की समस्या का समाधान किया गया। बिस्मार्क की इस योजना को ही 'राज्य समाजवाद' (State Socialism) कहा जाता है। बिस्मार्क का यह एक महान कार्य था, जिसकी महत्ता 19वीं शताब्दी के इतिहास में स्वीकार की जाती है। प्रोफेसर डासन (Dawson) ने अपनी पुस्तक 'सोशल इंश्योरेन्स इन जर्मनी' में बिस्मार्क को 'शताब्दी का अग्रणी समाज सुधारक' कहा है। बिस्मार्क की इस योजना से मजदूरों को तो सामाजिक सुरक्षा प्राप्त हो गयी, किन्तु मूल उद्देश्य अर्थात् समाजवादी दल के प्रभाव को रोकने में सफलता नहीं मिली। तथापि बिस्मार्क के इस कार्यक्रम के कारण जर्मनी का मजदूर अब स्वतन्त्रता की अपेक्षा सुरक्षा को अधिक महत्वपूर्ण समझने लगा। बिस्मार्क का यह राज्य समाजवाद वास्तविक समाजवाद नहीं था, क्योंकि वह पूंजीवाद का समर्थक एवं प्रजातन्त्रता का विरोधी था। बिस्मार्क का राज्य समाजवाद तो केवल समाजवादी आन्दोलन को समाप्त करने का हथियार मात्र था। इसलिए नवीन सुधारों में बिस्मार्क का विशेष ध्येय यह था कि इन नवीन सुधारों के द्वारा समाजवादियों का संगठन तोड़ दिया जाय।

बिस्मार्क की आर्थिक नीति—जर्मनी के एकीकरण से पूर्व बिस्मार्क स्वतन्त्र व्यापार तथा सीधे कर की व्यवस्था में विश्वास रखता था। एकीकरण से पूर्व बिस्मार्क के भाषणों से यह स्पष्ट मालूम होता है कि वह स्वतन्त्र व्यापार का कट्टर पोषक था तथा उसने तो यहां तक कह दिया था कि स्वतन्त्र व्यापार के सिद्धांत को छोड़ना, देश का सर्वनाश करना है। किन्तु जर्मनी के एकीकरण के पश्चात् जर्मनी के लिए अनेक नई आवश्यकताएं उपस्थित हो गईं। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए स्वतन्त्र व्यापार की नीति और सीधे कर की व्यवस्था में परिवर्तन करना आवश्यक हो गया। नये सिद्धांतों में 'संरक्षण की नीति', 'अप्रत्यक्ष कर' तथा 'एकाधिकार' के सिद्धांत सम्मिलित थे। इनके आधार पर बिस्मार्क ने अपनी नई आर्थिक नीति का निर्माण किया।

भाग्यवश उस समय जर्मनी के राष्ट्रवादी अर्थशास्त्री वेगनर ने राष्ट्रीय उद्योग एवं कृषि के विकास के लिये संरक्षण की नीति को उपयुक्त ठहराया। 1876 में कारडार्फ नामक व्यक्ति ने, जो स्वयं उद्योगपति भी था तथा कृषक भी, एक पुस्तक लिखी जिसमें उसने स्वतन्त्र व्यापार की नीति को त्यागने के पक्ष में अनेक तथ्य प्रस्तुत किये। इसके अतिरिक्त लोथर बूचर नामक व्यक्ति ने भी प्राचीन सिद्धांतों की कड़ी आलोचना की और बताया कि जर्मनी के विकास के लिए बिस्मार्क की नवीन नीति अधिक उपयोगी होगी। 1879 में एक कानून पास करवाया गया, जिसके अनुसार राज्यों से आयात की जाने वाली वस्तुओं पर ऊंची दर से आयात शुल्क लगा दिया गया। यह भी निश्चय किया गया कि यदि आवश्यकता से अधिक धनराशि संघीय सरकार के पास एकत्रित हो जायेगी तो धनराशि का कुछ भाग राज्यों के हितों के लिये उपयोग में लाया जायेगा। इसी प्रकार अप्रत्यक्ष करों में स्टाम्प टैक्स तथा एक्सचेंज ड्यूटी भी स्वीकृत कर लिये गये। बिस्मार्क की इस नीति के फलस्वरूप जर्मनी के उद्योगों का विकास हुआ और साथ ही विदेशों में भी उसके व्यापार का मार्ग प्रशस्त हो गया तथा जर्मनी विश्व के प्रमुख औद्योगिक देशों में गिना जाने लगा। बिस्मार्क की नवीन नीति से कई कारखाने जो बन्द हो गये थे अथवा जिन उद्योगों में घाटा पड़ चुका था, वे पुनः चालू हो गये। देश की खेती की हालत भी अच्छी हो गयी, क्योंकि वहां जितना अनाज पैदा होता था, अब वह वहीं बेचा जाने लगा।

बिस्मार्क की औपनिवेशक नीति—बिस्मार्क ने 1884 तक उपनिवेशों की कल्पना ही नहीं की थी। 1874 में जंजीबार के शासक ने स्वयं यह इच्छा प्रकट की थी कि जंजीबार को जर्मनी का उपनिवेश बना लिया जाय, किन्तु बिस्मार्क ने उसकी प्रार्थना पर कोई ध्यान नहीं दिया। 1884 में राइखस्टेग के समक्ष उसने कहा था कि "मैं उपनिवेशों का समर्थक नहीं हूं।" इसका कारण यह है था कि बिस्मार्क की यह मान्यता थी कि यदि जर्मनी अपने भू-भाग में विश्वास रखेगा तो उसका एकीकरण स्थायी रहेगा, उसकी सेना सशक्त रहेगी तथा वह यूरोप में होने वाली

हलचलों के प्रति सतर्क रहेगा। बिस्मार्क इस तथ्य से भी भलीभांति परिचित था कि यदि जर्मनी कभी उपनिवेशों की कल्पना करेगा तो वह फ्रांस व इंगलैंड से शत्रुता मोल लेगा, क्योंकि ये दोनों देश विश्व में उपनिवेशों का जाल बिछा चुके थे। बिस्मार्क यह भी जानता था कि उपनिवेशों की रक्षा शक्तिशाली जहाजी बेड़े द्वारा ही हो सकती है तथा जर्मनी की नौसैनिक शक्ति में वृद्धि करने का अर्थ था ब्रिटेन को चुनौती देना, जिसके लिए वह तैयार नहीं था। किन्तु 1884 में उसके विचारों में परिवर्तन आया तथा उसने सशक्त औपनिवेशिक नीति अपनाई।

जर्मनी के उपनिवेशों की स्थापना का आरम्भ 1884 में हुआ, जबकि कार्ल पीटर्स ने जंजीबार के शासक ने 60 हजार वर्गमील भूमि प्राप्त करली। इंगलैण्ड ने भी जंजीबार पर जर्मनी का आधिपत्य स्वीकार कर लिया। तत्पश्चात दक्षिण-पश्चिम अफ्रीका में एक वहुत बड़े क्षेत्र पर जर्मनी का अधिकार हो गया। इसी समय डा. नाक्टिगाल के प्रयत्नों से केमरुन तथा टोगोलैण्ड पर जर्मनी का ध्वज लहराने लगा। इसके अतिरिक्त जर्मनी ने प्रशांत महासागर के कुछ द्वीपों पर भी अधिकार कर लिया। इस प्रकार बिस्मार्क ने थोड़े ही समय में जर्मनी का एक वृहत औपनिवेशिक साम्राज्य स्थापित कर दिया।

इस औपनिवेशिक विस्तार की नीति से जर्मनी और ब्रिटेन के बीच संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हुई, किन्तु जर्मनी को फ्रांस का सहयोग प्राप्त था। अतः ब्रिटेन को कई स्थानों पर समझौता करना पड़ा। कई बार ब्रिटेन के साथ संघर्षमय स्थिति उत्पन्न करके बिस्मार्क ने जर्मन जनता की राष्ट्रीय भावनाओं को उकसा कर अपनी आंतरिक स्थिति सुदृढ़ करली। किन्तु बिस्मार्क ने औपनिवेशिक नीति को कभी पसन्द नहीं किया। बिस्मार्क ने चान्सलर पद से त्यागपत्र देने से पूर्व कहा था—"इस दिन तक भी मैं अपने को औपनिवेशिक नीति का समर्थक नहीं मानता। इस विषय में मुझे अभी सन्देह है। किन्तु जनमत ने मुझे इसे स्वीकार करने के लिए बाध्य किया था।" जर्मनी के उपनिवेशों का आर्थिक दृष्टि से कोई महत्व नहीं था, क्योंकि वे कभी आत्मनिर्भर नहीं बन सके और वे जर्मनी पर भार बन गये। किन्तु ब्रिटेन के विरुद्ध युद्ध होने की स्थिति में उनका सामरिक महत्व अवश्य सिद्ध हो सकता था।

बिस्मार्क की गृह नीति की समीक्षा—एकीकृत जर्मनी के प्रथम चान्सलर के रूप में बिस्मार्क ने 20 वर्ष तक शासन का संचालन किया। उसने विरोधी दलों को एक दूसरे के विरुद्ध उकसा कर अपनी स्थिति को सर्वोच्च बनाये रखा। बिस्मार्क ने साम्राज्य का जो नया संविधान बनाया उसमें चान्सलर को शासन तन्त्र में प्रमुख स्थान दिया तथा सम्राट को सर्वोपरि बनाए रखा। उसका लोकतन्त्र में विश्वास नहीं था, इसलिए उत्तरदायी शासन की मांग को कभी स्वीकार नहीं किया। उसकी मान्यता थी कि कुशल राजतन्त्र के अन्तर्गत ही जर्मनी उन्नति कर

सकता है तथा राज्य की शक्ति का प्रमुख आधार सैनिक शक्ति है। वह अपनी नीति की आलोचना सहन नहीं कर सकता था तथा जो दल उसकी नीतियों का विरोध करता था उसे वह राष्ट्र का शत्रु समझता था। किन्तु अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये कभी-कभी वह विरोधी राजनैतिक दलों का सहयोग भी प्राप्त कर लेता था। 1872 में उसे कैथोलिकों के विरुद्ध 'कुल्तुर्केम्फ' आरम्भ करना पड़ा। क्योंकि कैथोलिक राज्य की सत्ता को सर्वोच्च नहीं मानते थे। इस संघर्ष में उसे पराजित होना पड़ा। इसके बाद उसने समाजवादियों को कुचलने की चेष्टा की, क्योंकि समाजवाद को वह देश के लिए अहितकर समझता था किन्तु समाजवादियों के विरुद्ध उसकी नीति असफल सिद्ध हुई। गैर जर्मन जातियों के प्रति भी उसकी नीति उचित नहीं थी और इसलिए वह गैर जर्मन जातियों को जर्मन साम्राज्य का समर्थक नहीं बना सका। आर्थिक नीति के अन्तर्गत उसकी संरक्षण की नीति अवश्य सफल सिद्ध हुई, जिसके कारण देश खाद्यान्नों एवं अन्य उपयोगी वस्तुओं के सम्बन्ध में आत्मनिर्भर हो गया। 1879 के बाद उसने उदारवादियों को विभाजित करने में सफलता प्राप्त की। इस काल में वह प्रतिक्रियावादी बन गया। अपने कार्यकाल के अन्तिम वर्षों में उसने सक्रिय औपनिवेशिक नीति अपनाई, किन्तु वे उपनिवेश राज्य के लिए लाभदायक सिद्ध न हो सके। उसने केवल तात्कालीन राजनैतिक परिस्थितियों के दबाव में आकर उपनिवेशवाद का समर्थन किया था। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि बिस्मार्क अपनी गृह नीति में उतना सफल नहीं हो सका जितना कि विदेश नीति में।

बिस्मार्क की विदेश नीति—बिस्मार्क की विदेश नीति का लक्ष्य नव निर्मित संयुक्त जर्मनी को स्थायित्व एवं दृढ़ता प्रदान करना था। बिस्मार्क ने विदेश नीति का निर्धारण बड़ी दूरदर्शिता, सूझबूझ एवं धैर्य के साथ किया था। उसकी विदेश नीति में कभी-कभी परस्पर विरोधी तत्व भी दृष्टिगत होते हैं तथा उसकी रूपरेखा देखकर कोई भी व्यक्ति समझ सकता था कि यह नीति दीर्घकालीन नहीं हो सकती। किन्तु आश्चर्य की बात है कि जब तक बिस्मार्क सत्ताधारी रहा, उसने अपनी विदेश नीति का ढांचा गिरने नहीं दिया।

विदेश नीति के आधार—बिस्मार्क की विदेश नीति का मुख्य आधार यूरोप में जर्मनी की प्रधानता को बनाये रखना था। बिस्मार्क के अनुसार जर्मनी अब एक तृप्त राष्ट्र था तथा उसकी कोई आकांक्षा नहीं थी। वह अब कोई युद्ध करना नहीं चाहता था, क्योंकि युद्ध की स्थिति में जर्मनी के शत्रुओं को संयुक्त मोर्चा बनाने का अवसर मिल सकता था, जिससे 1871 तक जर्मनी ने जो भी लाभ प्राप्त किये थे वे नष्ट हो सकते थे। अतः बिस्मार्क ने यूरोप में यथा स्थिति (Status quo) बनाये रखने का सिद्धान्त अपनाया। इस युग में बिस्मार्क यूरोपीय शान्ति का प्रबल समर्थक रहा। बिस्मार्क को फ्रांस की ओर से भय था क्योंकि फ्रांस, एल्सेस-लारेन्स

के प्रदेश छिन जाने से अत्यधिक क्षुब्ध था और वह 1870 के राष्ट्रीय अपमान को कभी नहीं भूल सकता था। विस्मार्क जानता था कि फ्रांस इन प्रदेशों को पुन: हस्तगत करने की चेष्टा करेगा। अत: जर्मनी और फ्रांस की शत्रुता अनिवार्य थी। विस्मार्क ने सीडान के युद्ध के वाद वर्नस्टाफ को लिखा था, "फ्रांस की हमारे विरुद्ध कटुता किसी भी प्रकार कम नहीं हो सकती चाहे हम उसके राज्य का कुछ भाग ले लें या छोड़ दें।" अत: फ्रांस को यूरोप में मित्रहीन बनाये रखना उसकी विदेश नीति का प्रमुख उद्देश्य वन गया। बिस्मार्क यह भी चाहता था कि फ्रांस आन्तरिक रूप से भी निर्बल बना रहे। इसलिए उसने परोक्ष रूप से फ्रांस में गणतन्त्रीय दल का समर्थन किया। उसकी मान्यता थी कि गणतन्त्रीय व्यवस्था में फ्रांस में आपसी मतभेद बढ़ते जायेंगे और वह निर्बल बना रहेगा। इसके साथ ही एल्सेस-लारेन से फ्रांस का ध्यान हटाने के लिए उसने उत्तरी अफ्रीका में फ्रांस की औपनिवेशिक महत्वाकांक्षा को प्रोत्साहित किया।

फ्रांस को मित्रहीन बनाये रखने के लिए बिस्मार्क के लिए यह आवश्यक था कि वह फ्रांस को जर्मनी के विरुद्ध गुटबन्दी करने से रोके। बिस्मार्क विशेष रूप से रूस और आस्ट्रिया की मैत्री का इच्छुक था। रूस बिस्मार्क की विदेश नीति की धुरी था। आस्ट्रिया और प्रशा में प्राचीन राजतन्त्र था तथा दोनों राजवंश एक दूसरे से सम्बन्धित थे। अत: सेडोवा में आस्ट्रिया की पराजय के वाद भी बिस्मार्क ने उसके प्रति कठोर व्यवहार नहीं किया, क्योंकि उसने अनुभव कर लिया था कि आगामी यूरोपीय कूटनीति में आस्ट्रिया जर्मनी का सबसे बड़ा सहायक राष्ट्र सिद्ध हो सकता है। 1879 से 1914 तक आस्ट्रिया जर्मनी का सबसे घनिष्ठ मित्र बना रहा। इसके अतिरिक्त वह इंगलैंड के साथ सद्भावना बनाये रखना चाहता था। विस्मार्क जानता था कि इंगलैंड यूरोपीय मामलों से अलग रहने की नीति (Policy of Splendid Isolation) का अनुकरण कर रहा था। इंगलैंड एक साम्राज्यवादी और सामुद्रिक देश था। उसकी सद्भावना प्राप्त करना बड़ा सुगम था, बशर्ते कि कोई देश उपनिवेश स्थापना और जहाजी बेड़े के निर्माण में उससे प्रतिस्पर्द्धा न करे। बिस्मार्क का कहना था कि इंगलैंड एक सामुद्रिक शक्ति है और जर्मन एक स्थल शक्ति, अत: दोनों के बीच झगड़ा होने का कोई कारण नहीं हो सकता। विस्मार्क ने इंगलैंड के साथ अपने सम्बन्ध सदैव अच्छे रखे। विस्मार्क ने इटली से मित्रता करके भी उसे कभी अपना अन्तरंग मित्र नहीं समझा। वह पूर्वी समस्या को भी व्यर्थ की समस्या समझता था। वह कहा करता था कि कुस्तुन्तुनिया से आने वाली डाक को मैं खोलता ही नहीं। बिस्मार्क जब तक सत्ताधारी रहा तब तक उसने पूर्वी समस्या में विशेष रुचि नहीं दिखलाई।

तीन राष्ट्रों का संघ (Driekaiserbund)—रूस और जर्मनी की मैत्री को मजबूत बनाना विस्मार्क की विदेश नीति का प्रमुख लक्ष्य था। 1863 में पोलैण्ड ने

रूसी साम्राज्यवाद के विरुद्ध विद्रोह किया, उस समय भी विस्मार्क ने अप्रत्यक्ष रूप से रूस का साथ दिया। 1870 में फ्रेन्को-प्रशा युद्ध के समय रूस तटस्थ रहा, जिससे जर्मनी के एकीकरण में सहायता मिली। इस प्रकार रूस और प्रशा की मित्रता परम्परा के रूप में चली आ रही थी।

विस्मार्क, आस्ट्रिया की मित्रता प्राप्त करने को भी उत्सुक था। इधर आस्ट्रिया भी 1866 में जो हो चुका था उसे भूलने को तैयार था, क्योंकि वह जर्मनी को अपना मित्र बनाना चाहता था जिससे कि वह रूस के विरुद्ध जर्मनी का सहयोग प्राप्त कर सके। 1871 के ग्रीष्म में विस्मार्क के प्रयत्नों से जर्मन सम्राट विलियम प्रथम ने आस्ट्रिया के सम्राट फ्रांसिस जोसेफ (Francis Joseph) से आस्ट्रिया में मुलाकात की। इसके कुछ ही समय बाद नवम्बर 1871 में आस्ट्रिया का चान्सलर काउन्ट वोआस्ट, जो विस्मार्क से रुष्ट था, अपने पद से हट गया तथा उसकी जगह काउन्ट एन्ड्रासी, जो विस्मार्क का पुराना मित्र था, की नियुक्ति हुई। अप्रेल 1872 में उसने प्रस्ताव रखा कि आस्ट्रिया का सम्राट भी एक बार वर्लिन की यात्रा करे। जब रूस के जार को फ्रांसिस जोसेफ की प्रस्तावित यात्रा की खबर पहुंची तो उसने भी वर्लिन जाने की इच्छा व्यक्त की। सितम्बर 1872 में दोनों सम्राट वर्लिन आए। विलियम प्रथम ने उनका शानदार स्वागत किया। तीनों सम्राटों में बातचीत हुई। तीनों के लिए बहुत सी सामान्य समस्याएं थी। यूरोप में समाजवाद का प्रभाव बढ़ रहा था, जिससे राजतन्त्र को खतरा उत्पन्न हो गया था। अतः तीनों समाजवाद के विरुद्ध कार्य करने पर सहमत हो गये। किन्तु यह कोई लिखित समझौता नहीं था और न ही किसी ने कोई दायित्व ही स्वीकार किया था। फिर भी तीनों के सहयोग की पृष्ठभूमि अवश्य तैयार हो गई थी।

मई 1873 में विलियम प्रथम रूस गया। सेंट पीटर्सबर्ग में रूस और जर्मनी के बीच एक सैनिक संधि हुई, जिसके अन्तर्गत दोनों ने वादा किया कि यदि दोनों में से किसी एक पर कोई यूरोपीय राज्य आक्रमण करेगा तो दूसरा राज्य अपने मित्र की सहायता हेतु दो लाख सैनिक देगा। इसी वर्ष जून में जार वियना गया जहां दोनों ने एक समझौते पर हस्ताक्षर किये। कुछ समय पश्चात् जर्मनी ने भी इस समझौते पर हस्ताक्षर कर दिये जिसके अनुसार यह निश्चय किया गया कि यदि कोई यूरोपीय राज्य शांति भंग करने का प्रयत्न करता है तो तीनों मिलकर उसके सम्बन्ध में समान नीति अपनायेंगे। इसके अतिरिक्त यह भी निश्चय किया गया कि यदि कोई ऐसी समस्या हो जिनमें तीनों के हित भिन्न-भिन्न हों तो तीनों मिलकर पारस्परिक सहयोग द्वारा आपसी मतभेदों को दूर करने का प्रयत्न करेंगे।

इस प्रकार तीन सम्राटों का संघ (Driekaiserburd) स्थापित हुआ। प्रोफेसर लेंगर का मत है कि तीनों सम्राटों का संघ, वास्तव में सभी प्रकार के

क्रांतिकारी आन्दोलनों के विरुद्ध एक नई पवित्र मैत्री (Holy Alliance) थी। किन्तु एरिख आयक ने इस मत को स्वीकार नहीं किया है। एरिख आयक का कहना है कि तीनों सम्राटों के संघ की स्थापना बिस्मार्क की कूटनीतिक विजय थी क्योंकि अब फ्रांस को रूस तथा आस्ट्रिया की मित्रता प्राप्त होना कठिन हो गया। बिस्मार्क ने अपने पुराने शत्रु आस्ट्रिया को अपना मित्र बना लिया। 1873 में इटली का शासक विक्टर इमेनुअल भी बर्लिन गया जहां जर्मनी के सम्राट ने उसके प्रति मित्रतापूर्ण व्यवहार किया। इस प्रकार इटली को भी फ्रांस की मित्रता से विमुख कर दिया गया।

तीन सम्राटों के संघ की दुर्बलता—तीन सम्राटों का संघ अधिक दिनों तक कायम नहीं रह सका और शीघ्र ही इसकी आन्तरिक दुर्बलता प्रकट हो गयी। फ्रेंकफर्ट की संधि द्वारा बिस्मार्क ने फ्रांस पर एक बड़ी रकम हर्जाने के रूप में लाद दी थी ताकि वह एक पीढ़ी तक पुनः खड़ा न हो सके। किन्तु फ्रांस ने बड़ी तीव्र गति से पुनर्निर्माण का कार्य आरम्भ किया और दो वर्ष में ही क्षतिपूर्ति की रकम चुका दी। इसके अतिरिक्त फ्रांस में राजसत्तावादियों का जोर बढ़ रहा था और कुछ उग्रवादी युद्ध तथा प्रतिशोध की बातें करने लगे थे। यह देखकर कुछ जर्मन अफसरों ने बिस्मार्क को सलाह दी कि इसके पहले कि फ्रांस पुनः शक्ति सम्पन्न हो, उसके विरुद्ध प्रतिक्रियात्मक युद्ध छेड़ दिया जाय। बिस्मार्क का विश्वास था कि समाचार पत्रों में युद्ध की आशंका के लेखों से फ्रांस डर जायेगा तथा प्रतिशोध की भावना दब जायेगी। अतः समाचार पत्रों में युद्ध की आशंका पर लेख निकलने लगे। इन समाचारों के कारण फ्रांस भी युद्ध की तैयारी करने लगा। युद्ध की आशंका के समाचार रूस और ब्रिटेन में भी पहुंचे। ब्रिटेन की महारानी विक्टोरिया ने रूस के जार को अपने प्रभाव से युद्ध को रोकने के लिए एक पत्र लिखा। 9 मई 1875 को रूस का जार अपने विदेश मन्त्री गोरशेकोव के साथ बर्लिन पहुंचा। गोरशेकोव ने बिस्मार्क को यह स्पष्ट बता दिया कि यदि जर्मनी, फ्रांस के विरुद्ध युद्ध करेगा तो उसे रूस की सहानुभूति प्राप्त नहीं होगी। जर्मन सम्राट विलियम ने युद्ध के समाचारों को निराधार बतलाया तथा शान्ति का आश्वासन दिया। इस पर गोरशेकोव ने बर्लिन में घोषणा की कि, "अब यूरोप की शांति खतरे में नहीं है।" गोरशेकोव की इस घोषणा का अर्थ यह था कि वास्तव में जर्मनी, फ्रांस के विरुद्ध युद्ध छेड़ने वाला था और रूस ने इस युद्ध को छिड़ने से बचा लिया है। इस समय बिस्मार्क फ्रांस से युद्ध करना चाहता था अथवा नहीं, इस सम्बन्ध में इतिहासकारों में मतभेद है। किन्तु इतना सत्य अवश्य है कि इस घटना से रूस और जर्मनी के सम्बन्ध खराब हो गये। तथापि तीन सम्राटों का संघ अभी भी जीवित था, किन्तु बिस्मार्क ने यह अनुभव कर लिया कि रूस पर भरोसा नहीं किया जा सकता। इसीलिए वह आस्ट्रिया से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा करने लगा। इस समय रूस

और इंगलैंड ने फ्रांस का साथ इसलिए दिया था कि वे यूरोप में 'शक्ति संतुलन' बनाये रखना चाहते थे।

बर्लिन सम्मेलन—तीन सम्राटों के संघ में दरार उत्पन्न होने के कुछ और भी कारण थे। बाल्कन प्रायद्वीप एवं तुर्की के प्रश्न पर रूस और आस्ट्रिया में भारी मतभेद था। बिस्मार्क भी जानता था कि तीन सम्राटों के संघ की यह सबसे बड़ी दुर्बलता है। 1877 के रूस-तुर्की युद्ध के बाद सेनस्टीफेनो की संधि हुई। इंगलैंड और आस्ट्रिया ने इस संधि पर विचार करने के लिए यूरोपीय राज्यों के सम्मेलन की मांग की। जून 1878 में बिस्मार्क की अध्यक्षता में बर्लिन में यह सम्मेलन आरम्भ हुआ। यद्यपि बिस्मार्क ने 'ईमानदार दलाल' के रूप में कार्य करने का आश्वासन दिया था, किन्तु यथार्थ में उसने सम्मेलन में आस्ट्रिया का पक्ष अधिक लिया और रूस के हितों की अवहेलना की। बिस्मार्क की इस भूमिका से रूस का जार और विदेश मन्त्री क्रुद्ध हो उठे। प्रोफेसर गूच के शब्दों में, "राजनीति के क्षेत्र में बर्लिन कांग्रेस का विशेष परिणाम यह हुआ कि रूस जर्मनी से विमुख हो गया।" गोरशेकोव ने स्पष्ट कहा कि बिस्मार्क ने उसे धोखा दिया है। रूस के जार ने भी सम्राट विलियम प्रथम को एक शिकायत भरा पत्र लिखा, जिसमें बिस्मार्क की कटु आलोचना करते हुए कहा कि, "बिस्मार्क 1870 का अपना वचन भूल गया, एक मित्र का पक्ष लेकर उसने दूसरे मित्र को धोखा दिया।" यद्यपि बिस्मार्क ने इस सम्बन्ध में अनेक स्पष्टीकरण दिये, किन्तु उनसे रूस संतुष्ट नहीं हुआ। बर्लिन कांग्रेस के फलस्वरूप और जर्मनी तथा रूस और आस्ट्रिया के बीच तनाव उत्पन्न हो जाने से तीन सम्राटों का संघ समाप्त हो गया। इस प्रकार रूस और आस्ट्रिया को अपने साथ रखने में बिस्मार्क का प्रयास असफल सिद्ध हुआ।

द्विगुट का निर्माण (Dual Alliance)—बर्लिन कांग्रेस के पश्चात् यह स्पष्ट हो गया कि जर्मनी अब रूस की मैत्री पर अधिक निर्भर नहीं रह सकता। अतः जनवरी 1879 में बिस्मार्क ने कहा, "आस्ट्रिया और जर्मनी की मित्रता ही यूरोप की शान्ति बनाये रखने की सबसे अच्छी गारंटी हो सकती है। यदि आस्ट्रिया और जर्मनी में एकता हो जाये तो वे दोनों मिलकर किसी शत्रु का सामना कर सकते हैं, चाहे वह फ्रांस हो या रूस।" वास्तव में बिस्मार्क को डर था कि कहीं रूस, फ्रांस के साथ मित्रता न करले। इधर रूस के जार ने भी जर्मन राजदूत को कह दिया कि यदि जर्मनी अपनी नीति में सुधार नहीं करेगा तो जर्मनी और रूस की मित्रता को बनाये रखने में कठिनाई होगी। कुछ समय बाद बिस्मार्क को सूचना मिली कि आस्ट्रिया का चान्सलर एन्ड्रासी अवकाश ग्रहण करने वाला है। अतः अपनी योजना को तुरन्त कार्यान्वित करने के उद्देश्य से 27 अगस्त 1879 को वह गेस्टाइन नामक स्थान पर एन्ड्रासी से मिला। दोनों एक रक्षात्मक सन्धि करने पर सहमत हो गये तथा दोनों ने अपने सम्राटों से बातचीत करके पुनः वियना में मिलने का निश्चय

किया। एन्ड्रासी को सम्राट जोसेफ को समझाने में कठिनाई नहीं हुई। किन्तु जर्मन सम्राट विलियम प्रथम रूस से अपने सम्बन्ध बिगाड़ना चाहता था। बिस्मार्क ने उसे काफी समझाने का प्रयत्न किया, किन्तु अन्त तक वह अपनी नीति पर अड़ा रहा। अन्त में जब बिस्मार्क ने त्याग पत्र देने की धमकी दी तो उसे झुकना पड़ा। 7 अक्टूबर 1879 को दोनों के बीच सन्धि हो गई और इस प्रकार आस्ट्रिया और जर्मनी के बीच द्विगुट (Dual Alliance) की स्थापना हुई।

सन्धि की प्रस्तावना में कहा गया कि इससे किसी राज्य को भय नहीं होना चाहिए। इस सन्धि का उद्देश्य यूरोप की शांति व्यवस्था को सुदृढ़ बनाना है तथा दोनों राज्यों के सम्राट, इस रक्षात्मक सन्धि को कभी आक्रामक रूप देने का प्रयत्न नहीं करेंगे। सन्धि के द्वारा यह निश्चय किया गया कि—

(1) यदि दोनों में से किसी एक पर किसी अन्य राज्य का आक्रमण हो तो दूसरा तटस्थ रहेगा, किन्तु यदि आक्रमणकारी को रूस की सहायता मिलती है तो दूसरे राज्य को भी अपने मित्र को सैनिक सहायता देनी होगी।

(2) यदि दोनों में से किसी एक पर रूस का आक्रमण होता हो तो दूसरा राज्य उसकी सहायता के लिए युद्ध में सम्मिलित होगा तथा उनमें से कोई भी पृथक रूप से सन्धि नहीं करेगा।

सन्धि की सभी शर्तें गुप्त रखी गई तथा 1888 तक उन्हें प्रकाशित नहीं किया गया। प्रारम्भ में यह सन्धि पांच वर्ष के लिए की गई थी। 1883 में इसे तीन साल के लिए दोहराया गया। इसके बाद प्रत्येक तीसरे वर्ष दोनों देश इस सन्धि को दोहराते रहे और इस प्रकार यह सन्धि 1918 तक कायम रही। यह सन्धि विशेष रूप से रूस और कुछ अंशों में फ्रांस के विरुद्ध थी। द्विगुट का निर्माण बिस्मार्क की कूटनीति का एक अद्भुत चमत्कार माना जाता है। बिस्मार्क की इस नीति से अन्तर्राष्ट्रीय गुट निर्माण की वह प्रक्रिया आरम्भ हुई, जिसने यूरोपीय शांति को असुरक्षित बना दिया।

तीन सम्राटों के संघ की पुनः स्थापना—द्विगुट के निर्माण से रूस और जर्मनी के सम्बन्ध कमजोर अवश्य हो गये थे, किन्तु बिस्मार्क किसी भी स्थिति में रूस को सदा के लिए विमुख नहीं करना चाहता था। अतः उसने रूस से पुनः सम्बन्ध सुधारने का प्रयास किया। दूसरी ओर रूस का जार भी जर्मनी से अच्छे सम्बन्ध बनाये रखना चाहता था। बिस्मार्क को यह भी विश्वास था कि रूस की नाराजगी अधिक समय तक नहीं रहेगी। जनवरी 1880 में रूस के राजदूत साबूराफ को तीन सम्राटों के संघ को पुनः स्थापित करने को कहा गया। नवम्बर 1880 में रूस के जार ने स्वीकृति दे दी। तत्पश्चात् बिस्मार्क ने आस्ट्रिया से बातचीत की। इसी बीच 13 मार्च 1881 को रूस के जार अलेक्जेण्डर द्वितीय की हत्या कर दी गई तथा जार अलेक्जेण्डर तृतीय रूस का नया जार बना। यद्यपि रूस का नया जार जर्मनी

का समर्थक नहीं था, किन्तु देश की आन्तरिक स्थिति को देखते हुए उसने सन्धि की स्वीकृति दे दी। अत: 18 जून 1881 को विस्मार्क एवं आस्ट्रिया तथा रूस के राजदूतों ने वर्लिन में तीन सम्राटों की सन्धि पर हस्ताक्षर किये। इस सन्धि के अनुसार—

(1) यदि तीनों राज्यों में से किसी एक पर चौथे देश ने आक्रमण किया तो अन्य दो राज्य तटस्थ रहेंगे तथा युद्ध को सीमित रखने का प्रयत्न करेंगे।

(2) वर्लिन सम्मेलन (1878 ई.) द्वारा वाल्कन प्रायद्वीप के सम्बन्ध में जो निर्णय किये गये थे, रूस उसका उल्लंघन नहीं करेगा तथा तुर्की के सम्बन्ध में यदि कोई समस्या उत्पन्न होगी तो तीनों राज्य आपस में मिलकर उसका फैसला करेंगे।

यह सन्धि तीन वर्ष के लिए की गई और इसे गुप्त रखने का निर्णय लिया गया। तीन सम्राटों के संघ की पुनः स्थापना विस्मार्क की कूटनीति की दूसरी महान सफलता थी। तीन सम्राटों का संघ जो मृत प्राय: हो चुका था वह पुनर्जीवित हो उठा तथा इससे यूरोपीय शान्ति को वनाये रखने में वड़ी सहायता मिली। तुर्की और वाल्कन समस्याओं को लेकर रूस और आस्ट्रिया में झगड़ा होने की सम्भावना वनी रहती थी, किन्तु इस सन्धि के द्वारा यह सम्भावना कुछ समय के लिए समाप्त हो गयी। प्रोफेसर टेलर ने ठीक ही लिखा है कि, "1881 की सन्धि राजतन्त्रीय सज्जा से विहीन, निकट पूर्व के सम्बन्ध में एक व्यावहारिक समझौता था।" मार्च 1884 में यह सन्धि विना किसी परिवर्तन के दोहराई गई।

त्रिगुट का निर्माण (Triple Alliance)—द्विगुट एवं तीन सम्राटों के संघ को स्थापित कर लेने के वाद भी विस्मार्क संतुष्ट नहीं था। वह जर्मनी की रक्षा के लिये, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में ऐसी नवीन पद्धति का सूत्रपात करना चाहता था, जिससे जर्मनी को किसी भी दिशा से खतरा न रहे। आस्ट्रिया और रूस उसके दोस्त थे तथा इंगलैण्ड से भी उसके सम्बन्ध अच्छे थे। केवल इटली ही एक ऐसा पड़ौसी राज्य था जिससे कोई निश्चित सम्बन्ध नहीं थे। फ्रांस को मित्रहीन बनाने के लिए इटली से मित्रता करना आवश्यक था। फ्रांस और इटली दोनों ही उत्तरी अफ्रीका में साम्राज्य विस्तार का प्रयत्न कर रहे थे तथा दोनों की आंखें ट्यूनिस (Tunis) पर लगी हुई थीं। विस्मार्क ने फ्रांस को ट्यूनिस पर अधिकार करने के लिए प्रोत्साहित किया। इसमें विस्मार्क की जबरदस्त चाल थी। वह एक तीर से दो शिकार करना चाहता था—एक तो फ्रांस में जर्मनी के लिए सद्भावना उत्पन्न होगी और फ्रांस साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों में इतना फंस जायेगा कि उसे जर्मनी से बदला लेने का अवसर ही नहीं मिलेगा। दूसरा फ्रांस का ट्युनिस पर अधिकार हो जाने से इटली स्वत: ही जर्मनी की ओर झुक जायेगा। मई 1881 में फ्रांस ने ट्युनिस पर अधिकार कर लिया। फलस्वरूप इटली में फ्रांस के विरुद्ध क्रोध उवल पड़ा। विस्मार्क इस स्थिति का लाभ उठाकर इटली को अपने गुट में सम्मिलित करना चाहता था। किन्तु इटली

और आस्ट्रिया की शत्रुता बहुत पुरानी थी, क्योंकि आस्ट्रिया के कारण ही इटली के एकीकरण में बाधा उत्पन्न हुई थी। किन्तु बिस्मार्क ने उचित तर्क देते हुए इटली को समझाया कि उसकी महत्वाकांक्षा तभी पूरी हो सकती है जबकि वह अन्य राष्ट्रों से सहायता प्राप्त करे। फ्रांस तो उसके रास्ते का कांटा था तथा ब्रिटेन किसी देश के साथ सन्धि करना नहीं चाहता था, अतः उसे आस्ट्रिया के साथ अपनी परम्परागत शत्रुता भूल जाना चाहिए। बिस्मार्क के तर्क से इटली प्रभावित हुआ तथा 20 मई 1882 को जर्मनी, आस्ट्रिया और इटली के बीच सन्धि हो गई। इस प्रकार त्रिगुट (Triple Alliance) का निर्माण हुआ। इस सन्धि के अनुसार—

(1) यदि फ्रांस बिना किसी उत्तेजना के इटली पर आक्रमण करेगा तो आस्ट्रिया व जर्मनी उसकी सहायता करेंगे। यदि फ्रांस जर्मनी पर आक्रमण करेगा तो इटली जर्मनी की सहायता करेगा।

(2) यदि तीनों राज्यों में से किसी एक राज्य को किसी बड़ी शक्ति के विरुद्ध युद्ध करना पड़े तो शेष दोनों मित्र राज्य तटस्थ रहेंगे।

(3) यदि कोई अन्य दो राज्य, त्रिगुट में सम्मिलित किसी भी राज्य पर आक्रमण करें तो तीनों मिलकर आक्रमणकारियों का मुकाबला करेंगे।

यह सन्धि पांच वर्ष के लिए की गई, किन्तु समय-समय पर इसको दुहराया जाता रहा और सन्धि 1915 तक कायम रही। सन्धि की शर्तों को गुप्त रखने का निर्णय लिया गया। त्रिगुट का निमाण विश्व के कूटनीतिक इतिहास की एक असाधारण घटना है। अभी 12 वर्ष पूर्व तक जर्मनी, आस्ट्रिया और इटली एक दूसरे के घोर शत्रु थे, किन्तु 1882 के आते आते पुराने शत्रु अब मित्र बन गये। इस कूटनीति का सारा श्रेय बिस्मार्क को था। अब जर्मनी की स्थिति बहुत ही सुरक्षित हो गयी और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में फ्रांस बिल्कुल अकेला पड़ गया था।

रूमानिया से सन्धि—रूमानिया ने 1877 में तुर्की के विरुद्ध रूस का साथ दिया था, किन्तु बेसरेबिया का क्षेत्र उससे छिन जाने के कारण वह रूस का विरोधी हो गया। अतः वह आस्ट्रिया व जर्मनी से मित्रता करना चाहता था। बिस्मार्क ने रूमानिया के प्रधान मन्त्री से बात की तथा रूमानिया ने आस्ट्रिया से बातचीत की। अन्त में 30 अक्टूबर 1883 को रूमानिया और आस्ट्रिया के बीच सन्धि हो गई। उसी दिन जर्मनी ने भी उस सन्धि को स्वीकार कर लिया। इस सन्धि द्वारा यह निश्चय किया गया कि यदि रूमानिया पर किसी दूसरे राज्य का आक्रमण होगा तो आस्ट्रिया उसकी सहायता करेगा तथा यदि आस्ट्रिया के रूस की सीमा से लगे हुए भाग पर आक्रमण हो तो रूमानिया आस्ट्रिया की सहायता करेगा। यह सन्धि पांच वर्ष के लिए की गई तथा इसे गुप्त रखा गया। यह सन्धि 1914 तक समय समय पर दुहराई गई। यद्यपि इस सन्धि में रूस के नाम का कहीं उल्लेख नहीं

किया गया था, किन्तु 'दूसरे राज्य द्वारा आक्रमण' से रूस की ओर ही संकेत था। बिस्मार्क ने अपने मित्र आस्ट्रिया को रूस के विरुद्ध सुरक्षा दिलवा दी।

पुनर्आवासन सन्धि (Reinsurance Treaty)—1887 में जार ने तीन सम्राटों की सन्धि (1881 ई.) को दुहराने से इन्कार कर दिया। किन्तु बिस्मार्क रूस की मित्रता को छोड़ने के लिए तैयार नहीं था। बिस्मार्क नहीं चाहता था कि आस्ट्रिया के कारण जर्मनी और रूस के सम्बन्ध सदा के लिए समाप्त हो जाय। अतः जब रूस ने यह प्रस्ताव रखा कि जर्मनी और रूस, आस्ट्रिया को बिना शामिल किये ही एक पृथक् सन्धि करें, तो बिस्मार्क तुरन्त तैयार हो गया। 18 जून 1887 को आस्ट्रिया से छुपाकर, जर्मनी और रूस के बीच एक सन्धि हो गई जो पुनर्आवासन सन्धि (Reinsurance Treaty) के नाम से प्रसिद्ध है। इस सन्धि के अनुसार—

(1) यदि दोनों में से किसी एक को किसी तीसरे बड़े राज्य से युद्ध करना पड़े तो दूसरा तटस्थ रहेगा। किन्तु यदि रूस अथवा जर्मनी स्वयं आस्ट्रिया या फ्रांस पर आक्रमण करे तो उस स्थिति में यह धारा लागू नहीं होगी।

(2) जर्मनी ने बाल्कन क्षेत्र में रूस के अधिकारों को मान्यता दी तथा वादा किया कि वह बाल्कन प्रायद्वीप में रूस के हितों का विरोध नहीं करेगा।

इस युग की अन्य सन्धियों की तरह इस सन्धि को भी गुप्त रखा गया तथा इस सन्धि की अवधि तीन वर्ष रखी गई। इस सन्धि से जर्मनी को यह लाभ हुआ कि रूस और आस्ट्रिया दोनों के साथ उसका पृथक् समझौता हो गया। तीन सम्राटों का संघ समाप्त हो चुका था तथा 1881 की तीन सम्राटों की सन्धि भी समाप्त हो चुकी थी। फिर भी रूस और आस्ट्रिया दोनों जर्मनी के मित्र बने रहे। यह बिस्मार्क की कूटनीति की विशेषता थी।

बिस्मार्क और इंगलैण्ड—बिस्मार्क नें यथासम्भव ब्रिटेन से मित्रतापूर्ण सम्बन्ध बनाये रखने की नीति अपनाई। उसने ब्रिटेन और फ्रांस को पृथक् रखने तथा ब्रिटेन और रूस के बीच तनातनी बनाये रखने का प्रयास किया। यद्यपि कुछ अवसरों पर ग्लेडस्टन की नीति के कारण बिस्मार्क इंगलैण्ड से असन्तुष्ट रहा, फिर भी 1880 में उसने मिस्र में इंगलैण्ड के अधिकारों का समर्थन करके ब्रिटेन की सद्भावना प्राप्त करली। 1884 में बिस्मार्क ने औपनिवेशिक विस्तार की नीति अपनाई, जिससे दोनों के बीच तनाव बढ़ा। किन्तु बिस्मार्क ने इंगलैण्ड से सम्बन्ध इतने अधिक नहीं बिगड़ने दिये कि उनको सुधारना कठिन हो जाय। बिस्मार्क के प्रयत्नों से 12 फरवरी 1887 को इटली और इंगलैण्ड के बीच भूमध्य सागर सम्बन्धी समझौता हो गया तथा मार्च में आस्ट्रिया ने भी इसे स्वीकार कर लिया। इन समझौतों से त्रिगुट को अप्रत्यक्ष रूप से इंगलैण्ड का समर्थन प्राप्त हो गया। रूस और इंगलैण्ड की तनातनी को देखते हुए बिस्मार्क ने इंगलैण्ड को यह आश्वासन भी दे दिया कि वह कभी भी रूस की ओर से युद्ध में सम्मिलित नहीं होगा।

जनवरी 1889 में बिस्मार्क ने इंगलैण्ड से सन्धि करने का भी प्रस्ताव किया, किन्तु इंगलैण्ड इस समय सन्धि के पक्ष में नहीं था। अगस्त 1889 में जर्मन सम्राट कैसर विलियम द्वितीय प्रथम बार इंगलैण्ड गया, जहाँ उसका भव्य स्वागत किया गया। इस प्रकार सन्धि न होने पर भी दोनों के सम्बन्ध अच्छे हो गये। बिस्मार्क ने जर्मनी की नौ सेना का निर्माण नहीं किया, क्योंकि इससे इंगलैण्ड आशंकित हो जाता। अपने एशियायी साम्राज्य की सुरक्षा के लिए इंगलैण्ड सदैव पूर्वी समस्या के प्रति चौकन्ना रहता था, किन्तु बिस्मार्क ने इस समस्या के प्रति कोई रुचि प्रदर्शित नहीं की। बिस्मार्क ने बेल्जियम के मामले में भी हस्तक्षेप नहीं किया, क्योंकि बेल्जियम ब्रिटेन के लिए अत्यन्त प्रिय था। इस प्रकार जब तक बिस्मार्क अपने पद पर रहा, जर्मनी और इंगलैण्ड के आपसी सम्बन्ध बड़े मधुर ही रहे।

बिस्मार्क की विदेश नीति की समीक्षा—बिस्मार्क की विदेश नीति के हमें दो रूप दिखाई देते हैं। पहला तो 1862 से 1871 तक जिसमें उसका मुख्य उद्देश्य प्रशा के नेतृत्व में जर्मनी का एकीकरण करना था। इसके लिए उसे तीन युद्ध करने पड़े। उस समय उसने 'रक्त और लौह' (Blood and Iron) की नीति अपनाई, जिससे जर्मनी का एकीकरण पूर्ण हो सका। 1871 से उसकी नीति का दूसरा रूप आरम्भ हुआ तथा 1890 तक वह यूरोप के अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच का सबसे प्रभावशाली कलाकार बना रहा। उसने अपने कार्यकाल के अन्त तक यूरोप में शान्ति बनाये रखने का प्रयास किया। फ्रांस की शत्रुता को ध्यान में रखते हुए उसने विभिन्न राज्यों से सन्धियां कर, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में गुट प्रणाली का सूत्रपात हुआ। बिस्मार्क की कूटनीति ने फ्रांस को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अकेला एवं असहाय छोड़ दिया। फ्रांस के विरुद्ध उसने यूरोप में गुटबन्दी का जो जाल बिछाया उसमें इटली, आस्ट्रिया और रूस तीनों फंस चुके थे। अब यदि जर्मनी पर आस्ट्रिया आक्रमण करता तो रूस की तटस्थता उसके पक्ष में थी और और यदि जर्मनी पर रूस आक्रमण करता तो उसे आस्ट्रिया की तटस्थता प्राप्त थी। इसी प्रकार यदि जर्मनी और फ्रांस के बीच युद्ध होता तो उसे इटली की सहायता प्राप्त थी और यदि रूस और फ्रांस मिलकर जर्मनी पर आक्रमण करते तो जर्मनी को इटली तथा आस्ट्रिया की संयुक्त सहायता उपलब्ध थी। अब जर्मनी को किसी यूरोपीय शक्ति की परवाह नहीं थी। बिस्मार्क की कूटनीति ने जर्मनी को यूरोप का नेता बना दिया था। विलियम प्रथम के शब्दों में बिस्मार्क एक ऐसा बाजीगर था जो एक साथ पांच गेंदों को (रूस, आस्ट्रिया, फ्रांस, इटली तथा ब्रिटेन) आकाश में उछालता रहता था जिसमें से दो सदैव आकाश में रहती थी। किन्तु उसकी व्यवस्था में अन्तर्विरोध और कमजोरियां भी थी। रूस और आस्ट्रिया के स्वार्थ बाल्कन प्रायद्वीप में टकराते थे और ये एक दूसरे के इतने विरोधी थे कि उनमें कभी मेल ही नहीं हो सकता था। इसी प्रकार इटली और आस्ट्रिया में भी पारस्परिक द्वेष था। यद्यपि फ्रांस से नाराज होकर इटली त्रिगुट में सम्मिलित हो गया था, किन्तु एड्रियाटिक सागर के तट पर इटली और आस्ट्रिया

के स्वार्थों में गहरा विरोध था। इसलिए इटली कभी भी त्रिगुट का वफादार सदस्य नहीं रह सका। यही स्थिति रूस की भी थी। बाल्कन प्रायद्वीप में ज्यों-ज्यों आस्ट्रिया का प्रभाव बढ़ते हुए देखता, त्यों-त्यों रूस की चिन्ता बढ़ती जाती थी और वह किसी ऐसे मित्र की तलाश में था जो आस्ट्रिया के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने में उसकी सहायता कर सके। यही कारण है कि विस्मार्क के कार्यकाल में ही रूस, फ्रांस की ओर आकर्षित होने लगा था। ग्रांट और टेम्परले ने लिखा है कि विस्मार्क इस समस्या को नहीं सुलझा सका कि रूस और आस्ट्रिया, दोनों के साथ अच्छे सम्बन्ध या मैत्री किस प्रकार रखी जाय।

तथापि विस्मार्क इस अन्तर्विरोध के होते हुए भी जटिल कार्य को सफलतापूर्वक निभाता रहा। विस्मार्क की नीति के फलस्वरूप यूरोप में शान्ति रही। वस्तुतः विस्मार्क ने अपनी सारी राजनीतिक कुशलता इस शांति को कायम करने में लगादी। यह कहना भी उचित नहीं होगा कि विस्मार्क की गुट प्रणाली से यूरोप में शान्ति वनी रही। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक में गुटबन्दी से न तो आज तक विश्व में शान्ति रही है और न भविष्य में कभी रह सकती है। किन्तु विस्मार्क ही एक ऐसा 'वाजीगर' था जो गुटवन्दी की राजनीति से शान्ति बनाये रख सका तथा अपने उत्तराधिकारियों के लिए जटिल समस्या छोड़ गया।

विस्मार्क की राजनीति में अनेक दोष भी थे। उसकी विदेश नीति का आधार आस्ट्रिया और इटली की मित्रता तथा रूस की भी मित्रता थी, जो अन्तर्विरोधों के कारण कमजोर था। विस्मार्क की व्यवस्था की सबसे बड़ी कमजोरी यह थी कि उसमें ब्रिटेन के लिए कोई स्थान नहीं था। उस समय ब्रिटेन विश्व का सबसे शक्तिशाली राष्ट्र था तथा 1879 में इंगलैण्ड भी जर्मनी और आस्ट्रिया से मैत्री करने को तैयार था, किन्तु बिस्मार्क ने वह अवसर खो दिया। दूसरी वार विस्मार्क ने रूस को प्रसन्न रखने के लिए इंगलैण्ड की मित्रता को ठुकरा दिया। विस्मार्क जानता था कि जब तक ब्रिटेन को औपनिवेशिक विस्तार तथा नौ सैनिक शक्ति के क्षेत्र में चुनौती नहीं दी जायेगी, जर्मनी को सदैव उसकी सद्भावना प्राप्त होती रहेगी। इसलिए जब तक विस्मार्क अपने पद पर रहा जर्मनी और इंगलैण्ड के संबंध अच्छे रहे। किन्तु विस्मार्क ने जो गुट व्यवस्था स्थापित की थी, उससे इंगलैण्ड अधिक समय तक तटस्थ नहीं रह सकता था। विस्मार्क ने अपने कार्यकाल तक तो फ्रांस को यूरोप की राजनीति में अकेला रखा, किन्तु उसके पद त्याग करते ही उसने रूस से सन्धि करली। इधर इंगलैण्ड ने भी 1902 में जापान से सन्धि करके अपनी तटस्थता की नीति का परित्याग कर दिया। इस प्रकार विस्मार्क की गुटबन्दी की नीति के कारण यूरोप में जर्मनी के विरुद्ध दूसरा गुट वन गया तथा अन्त में सम्पूर्ण यूरोप दो सशस्त्र एवं शक्तिशाली गुटों में विभाजित हो गया। कुछ इतिहासकारों का मानना है कि विस्मार्क की गुटवन्दी द्वारा उत्पन्न विषम राजनैतिक वातावरण के

फलस्वरूप ही 1914 में विश्व युद्ध हुआ। किन्तु इस कथन को हम आंशिक रूप से ही स्वीकार कर सकते हैं, क्योंकि उसने जो सन्धियाँ की थी वे रक्षात्मक थीं। यद्यपि इन सन्धियों से यूरोप में भयपूर्ण वातावरण उत्पन्न हो गया था, किन्तु जब तक जर्मनी की नीति का संचालन बिस्मार्क के हाथ में रहा, यह भय सीमित रहा। बिस्मार्क के पतन के बाद इस भय का विस्तार हुआ तथा जर्मनी के विरुद्ध दूसरा गुट बन गया, जिससे यूरोपीय शान्ति को खतरा उत्पन्न हो गया। इसके लिए बिस्मार्क के उत्तराधिकारी उत्तरदायी थे, क्योंकि वे बिस्मार्क द्वारा स्थापित प्रणाली का कुशलतापूर्वक संचालन नहीं कर सके। चूंकि ऐसी स्थिति का जन्मदाता बिस्मार्क था, इसलिये कुछ सीमा तक हम उसे भी उत्तरदायी मान सकते हैं।

बिस्मार्क का पतन—मार्च 1888 में जर्मन सम्राट विलियम प्रथम की मृत्यु के बाद उसका पुत्र फ्रेडरिक शासक बना, किन्तु 15 जून 1888 को फ्रेडरिक की मृत्यु हो जाने पर विलियम द्वितीय सम्राट बना जो केवल 29 वर्ष का था। अनुभवहीन होने पर भी विलियम द्वितीय महत्वाकांक्षा था तथा वह जर्मनी का वास्तविक शासक बनना चाहता था। इसलिए विलियम द्वितीय और बिस्मार्क के सम्बन्ध आरम्भ से ही बिगड़ने लगे। विदेश नीति के सम्बन्ध में भी दोनों में तीव्र मतभेद थे। 1889 में जब रूस के साथ की गई सन्धि की पुनरावृत्ति का समय आया तो विलियम द्वितीय ने इन्कार कर दिया, क्योंकि वह तुर्की में रूस के स्थान पर जर्मनी का प्रभाव स्थापित करना चाहता था। जबकि बिस्मार्क के लिए रूस की मित्रता अधिक महत्वपूर्ण थी। विदेश नीति के इन आधारभूत सिद्धान्तों के सम्बन्ध में दोनों में समझौता होना असम्भव था। इसके अतिरिक्त 1852 की एक राजाज्ञा के अनुसार सभी विभागों के सचिवों को आदेश दिया गया था कि प्रत्येक विषय की रिपोर्ट सम्राट के पास भेजने से पूर्व चांसलर के पास भेजी जावे। विलियम द्वितीय ने इस आज्ञा को वापस लेने के लिए कहा, किन्तु बिस्मार्क इसके लिए तैयार नहीं हुआ। धीरे-धीरे विलियम द्वितीय और बिस्मार्क के सम्बन्ध इतने तनावपूर्ण हो गये कि बिस्मार्क ने 20 मार्च 1880 को त्याग पत्र दे दिया। विलियम ने बिस्मार्क के त्याग पत्र को स्वीकार करते हुए कहा, "ईश्वर की इच्छा के समक्ष मनुष्य क्या कर सकता है?" राज्य रूपी जहाज का वह पोतचालक जो वर्षों से इस जहाज को आंधी और तूफान से बचाता हुआ आगे बढ़ रहा था, अन्त में विसर्जित हो गया। इस प्रकार न केवल जर्मनी के इतिहास में बल्कि यूरोप के इतिहास में 'बिस्मार्क युग' जो इतिहास का एक महत्वपूर्ण युग था, का अन्त हो गया।

19 वीं शताब्दी के यूरोपीय इतिहास में बिस्मार्क का स्थान सदैव प्रमुख रहेगा। प्रशा के प्रति भक्ति उसके जीवन का आदर्श रही। प्रशा के नेतृत्व में जर्मनी को संगठित कर अल्प समय में जर्मनी का कायाकल्प करना तथा यूरोप की राजनैतिक गतिविधियों का केन्द्र बर्लिन को बनाना, बिस्मार्क की असाधारण योग्यता एवं कूटनीतिज्ञता का परिचय देती है। वह अपने लक्ष्य के प्राप्ति के लिए साम,

दाम, दण्ड, भेद, झूठ, कपट, छल, बल आदि सभी प्रकार के साधनों का प्रयाग करने के लिए तैयार रहता था। वह अपने कार्यों में किसी का हस्तक्षेप सहन नहीं कर सका था। सम्राट विलियम प्रथम एवं बिस्मार्क के बीच भी मतभेद उत्पन्न होते थे, किन्तु कई बार उसे बिस्मार्क की नीति का समर्थन करने के लिए विवश होना पड़ा। द्विगुट की स्थापना के लिए जब विलियम प्रथम तैयार नहीं हुआ तब बिस्मार्क ने त्याग पत्र देने की धमकी दी। इस पर विलियम प्रथम ने कहा था, "इस समय जर्मनी को मेरे से अधिक बिस्मार्क की आवश्यकता है।" इसी कारण विलियम द्वितीय के साथ वह कार्य नहीं कर सका। लिप्सन ने बिस्मार्क की तुलना इटली के कैवूर से की है। दोनों को अपने राष्ट्रों का एकीकरण करने में आस्ट्रिया के विरोध का सामना करना पड़ा। किन्तु दोनों के सिद्धान्तों में अन्तर था। कैवूर उदारवादी था जबकि बिस्मार्क प्रतिक्रियावादी था। कैवूर ने पीडमान्ट को इटली में सम्मिलित किया था जबकि बिस्मार्क ने जर्मनी को प्रशा में सम्मिलित कर दिया। स्वयं बिस्मार्क ने कहा था, "कैवूर मुझसे अधिक महान था। मेरे साथ तो प्रशा का राज्य तथा उसकी प्रबल सेना थी, किन्तु उसके पास तो कुछ नहीं था।" वस्तुतः यूरोप के इतिहास में बिस्मार्क एक चमकता हुआ रत्न है, जिससे यूरोप का इतिहास आज भी प्रकाशवान दिखाई देता है।

अध्याय 11

जर्मन साम्राज्य और विलियम द्वितीय

(1888-1914)

(GERMAN EMPIRE AND WILLIAM II)

पूर्व अध्याय में बताया जा चुका है कि 15 जून 1888 को फ्रेडरिक की मृत्यु होने पर विलियम द्वितीय जो 'कैसर' के नाम से विश्व भर में प्रसिद्ध था, जर्मनी का सम्राट बना। उस समय वह 29 वर्ष का नवयुवक था। वह कुशाग्र बुद्धि एवं बहुमुखी रुचियों वाला व्यक्ति था। किन्तु उसके चरित्र में स्थिरता का पूर्ण अभाव था और इसीलिए उसकी नीति एवं कार्यों में तारतम्य स्थापित नहीं हो सका। उसे राजा के दैवी अधिकार में अधिक विश्वास था। इसलिए सिंहासन पर बैठते ही उसने कहा था, "सम्राट की इच्छा राज्य का सर्वोपरि नियम है।" उसने अपने राज्यारोहण के समय कहा था कि वह समुद्री सेना को स्थल सेना के समान ही महत्वपूर्ण मानता है तथा उसके विकास के लिए यथासम्भव प्रयत्न करेगा। वह जर्मनी को विश्व की महान शक्तियों में एक बनाना चाहता था। नवयुवक सम्राट और वृद्ध बिस्मार्क के बीच मतभेद उत्पन्न होने के कारण मार्च 1890 में बिस्मार्क ने त्याग पत्र दे दिया। इसके बाद सम्राट विलियम द्वितीय ने सम्पूर्ण शासन सूत्र अपने हाथ में ले लिए। अपनी अनुभवहीनता एवं अपरिपक्वता के बावजूद उसे अपनी योग्यता पर पूर्ण विश्वास था, जो उसके इस कथन से स्पष्ट होता है, "इस देश में एक ही स्वामी है और वह मैं हूं। मैं अपने समकक्ष किसी दूसरे को सहन नहीं कर सकता।"

बिस्मार्क के पतन के पश्चात् जर्मनी में चार चांसलर हुए। केप्रिवी (1890 1894), होहेनलो (1894-1900), वान बूलो (1900-1909) तथा बेथमेन हालवेग (1909-1917)। सम्राट स्वयं को शासन की शक्ति का स्रोत मानता था। अतः चांसलर की शक्ति और अधिकारों में कमी आ गयी। कई विषयों पर सम्राट अपने चांसलर से परामर्श करना भी आवश्यक नहीं समझता था। ऐसी स्थिति में साम्राज्य की नीति का संचालक स्वयं सम्राट हो गया तथा अब वही साम्राज्य का भाग्य विधाता था।

व्यावसायिक विकास—विलियम प्रथम के शासन काल में ही जर्मनी का व्यावसायिक विकास हो चुका था, किन्तु विलियम द्वितीय के काल में जर्मनी का

व्यावसायिक विकास अपनी चरम सीमा पर पहुंच गया। फ्रैंकफर्ट की सन्धि के अनुसार जर्मनी को फ्रांस से पर्याप्त धन तथा कोयले और लोहे के प्रचुर भण्डार, एल्सस और लारेन के प्रदेश प्राप्त हुए थे। इन साधनों से जर्मनी को अपना औद्योगिक विकास करने का अवसर मिल गया। औद्योगिक विकास के लिए लोहे और कोयला आवश्यक माने जाते हैं। लारेन में लोहे का पर्याप्त भण्डार था जिससे जर्मनी का लौह उद्योग इंगलैण्ड से भी उन्नत हो गया तथा अमेरिका की बराबरी करने लगा। रूर, साइलेशिया और सार में कोयले की खानों का विस्तार किया गया। इससे 1914 में कोयले के उत्पादन में जर्मनी का विश्व में तीसरा स्थान हो गया। विलियम द्वितीय ने विस्मार्क की 'संरक्षण की नीति' को जारी रखा, जिससे जर्मनी के औद्योगिक विकास के साथ-साथ उसके विदेशी व्यापार में भी अत्यधिक वृद्धि हो गयी। 1890 से 1914 के बीच जर्मनी का निर्यात व्यापार लगभग तीन गुना बढ़ गया। जहाज, अस्त्र शस्त्र तथा विभिन्न प्रकार की मशीनों का जर्मनी में बड़ी तेजी से निर्माण होने लगा। वैज्ञानिक तरीकों से कृषि के उत्पादन को बढ़ाने का प्रयत्न किया गया। इससे जर्मनी विश्व का एक प्रमुख औद्योगिक देश बन गया। रेलों तथा सड़कों का विकास किया तथा अनेक नवीन बन्दरगाहों का निर्माण किया गया। उनमें देश विदेश के जहाजों का आवागमन बहुत अधिक बढ़ गया। 1871 से 1914 के बीच की जनसंख्या पहले से डेढ़ गुनी बढ़ गई तथा उसका विदेशी व्यापार 500 गुना बढ़ गया।

समाजवाद का विकास—व्यावसायिक विकास के साथ-साथ जर्मनी में समाजवाद के प्रभाव में भी वृद्धि हुई। विस्मार्क समाजवाद का विरोधी था, अतः उसने समाजवाद का प्रभाव कम करने के लिए राज्य समाजवाद का सहारा लिया था तथा समाजवादियों का दमन करने का प्रयास किया था। किन्तु विलियम द्वितीय ने समाजवादियों के साथ उदारता का व्यवहार किया तथा 1890 में उसने समाजवाद विरोधी कानूनों की पुनरावृत्ति नहीं की। परिणामस्वरूप समाजवादियों को पुनः संगठित होने तथा अपने कार्यक्रम के विस्तार करने का अवसर मिल गया। उनका राष्ट्रीय समस्याओं के सम्बन्ध में व्यावहारिक दृष्टिकोण था, अतः उन्होंने पर्याप्त लोकप्रियता अर्जित कर ली। उन्होंने समाज की निरंकुशता का भी विरोध किया, इससे विलियम द्वितीय घबरा गया। 1891 में उसने एक सभा में भाषण देते हुए कहा, "यदि समाजवादियों का आन्दोलन इसी प्रकार प्रगति करता रहा तो मुझे उन पर गोली चलाने का आदेश देना पड़ेगा तथा सैनिकों को उसका पालन करना होगा।" उसके इस भाषण की तीव्र प्रतिक्रिया हुई तथा निर्वाचन में समाजवादियों को अधिकाधिक स्थान प्राप्त होने लगे। उनकी शक्ति में बहुत वृद्धि हुई तथा वे स्वेच्छाचारी शासन के स्थान पर जनतन्त्रात्मक शासन की मांग करने लगे। विलियम द्वितीय ने 1894 के बाद समाजवाद के प्रभाव को रोकने का प्रयत्न किया,

किन्तु समाजवादियों के विरुद्ध दमनकारी कानून पास कराने में वह सफल नहीं हो सका। समाजवादियों की शक्ति में उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई। 1914 में विश्व युद्ध आरम्भ हो जाने से समाजवाद और शासन का संघर्ष टल गया।

जर्मन सेना का विस्तार—विलियम द्वितीय एक बहुत बड़ा सैनिकवादी था। वह जानता था कि जर्मनी की उन्नति का आधार उसकी सैन्य शक्ति है तथा सैन्य शक्ति के आधार पर ही जर्मनी को महान राष्ट्र बनाया जा सकता था। अतः उसने प्रारम्भ से ही सैनिक शक्ति की वृद्धि में विशेष रुचि प्रदर्शित की। सिंहासन प्राप्त करने पर उसने अपना प्रथम भाषण भी सेना के सामने दिया था और उसका गौरव बनाये रखने का दृढ़ निश्चय व्यक्त किया था। केप्रिवि ने चांसलर होते ही शान्ति-कालीन सेना में 18 हजार की वृद्धि का प्रस्ताव रखा। 13 नवम्बर 1892 को उसने 70 हजार की वृद्धि का प्रस्ताव रखा। इससे जर्मन सेना की संख्या 4 लाख 79 हजार हो गयी। 77 हजार पदाधिकारी इससे अलग थे। 1902 में सेना की संख्या बढ़ाकर 4 लाख 95 हजार 500 कर दी गई तथा 1910 तक सेना की संख्या में 10 हजार सैनिकों की और वृद्धि की भी व्यवस्था कर दी गई। 1911 में सेना अधिनियम का नवीनीकरण किया गया तथा जर्मनी में अस्त्र-शस्त्रों का उत्पादन भी बढ़ाया गया। 1913 में जर्मन के सेनाध्यक्षों ने सेना में पुनः 3 कोर (Crops) बढ़ाने का कानून पास करवाया। इससे शान्ति काल में जर्मन सेना की संख्या 8 लाख के लगभग पहुंच गई। 1914 में जर्मन सेना की संख्या 8 लाख 50 हजार थी तथा 5 लाख ऐसे व्यक्ति थे जो सैनिक प्रशिक्षण प्राप्त कर चुके थे और युद्ध के समय उनका उपयोग किया जा सकता था।

जल सेना का विस्तार—बिस्मार्क ने जर्मनी की जल सेना के विकास की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया था, क्योंकि वह जल सेना का विस्तार करके इंगलैण्ड से शत्रुता मोल लेना नहीं चाहता था। किन्तु विलियम द्वितीय को बाल्यकाल से नौ सैनिक शक्ति में बड़ी रुचि थी। वह भलीभांति जानता था कि जर्मनी के औद्योगिक विकास एवं विदेशी व्यापार तथा औपनिवेशिक साम्राज्य की रक्षा के लिए शक्तिशाली नौ सेना अत्यन्त आवश्यक है। अब तक किसी भी जर्मन सम्राट ने नौ सेना के नाम सन्देश नहीं दिया था, किन्तु विलियम द्वितीय ने नौ सेना के नाम सन्देश भेजकर उसकी महत्ता को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया। उसने जर्मन नौ सेना अध्यक्ष टरपित्स (Tripitz) को प्रोत्साहित किया 1897 के लगभग टरपित्स को नौ सेना का मन्त्री नियुक्त किया। टरपित्स ने 1898 में प्रथम नौ सेना अधिनियम पारित कराया जिसके अनुसार 12 जंगी जहाज, 8 सशस्त्र युद्धपोत, 10 बड़े क्रूजर आदि बनाने का प्रावधान किया गया। जर्मनी के लोगों को नौ सेना के महत्व से परिचित कराने के लिए एक 'नेवी लीग' की स्थापना की। 28 सितम्बर 1898 को डेन्जिग में भाषण देते हुए विलियम द्वितीय ने कहा था, "हमारा भविष्य

समुद्र पर है।" 1900 में टरपित्स ने द्वितीय नौ सेना अधिनियम पारित कराया, जिसके अनुसार 16 वर्षों में 34 जंगी जहाज एवं अन्य युद्ध पोत बनाने का प्रावधान किया गया। 1904 में इंगलैण्ड ने जर्मनी की नौ सेना की बढ़ती हुई शक्ति को देखते हुए एक नये प्रकार का विशाल जंगी जहाज 'ड्रेडनॉट' बनाने का कार्य आरम्भ किया जो 1906 में बन कर तैयार हो गया। तत्पश्चात् टरपित्स ने भी नौ सेना के विस्तार की एक नयी योजना की स्वीकृति ले ली जिसके अनुसार 'ड्रेडनॉट' बनाने, 6 बड़े क्रूजर बनाने तथा कील नहर को बड़े जहाजों के आवागमन के लिए चौड़ा करने का निर्णय लिया गया। समुद्री शक्ति की इस स्पर्धा के कारण इंगलैण्ड और जर्मनी के सम्बन्ध बिगड़ने लगे। 1908 में एक और नौ सेना अधिनियम पारित किया गया। 1909 में जहाजों के निर्माण की गति बढ़ा दी गई। 1912 में जल सेना के विस्तार हेतु नया अधिनियम पारित किया गया। इस प्रकार 1912-1913 तक जर्मनी ने अपनी नौ सेना में इतनी अधिक वृद्धि कर ली कि इंगलैण्ड की सुरक्षा एवं नौ सैनिक शक्ति को भय उत्पन्न हो गया।

औपनिवेशिक विस्तार—विलियम द्वितीय औद्योगिक विकास के लिए औपनिवेशिक विस्तार करना आवश्यक समझता था। अत: जर्मनी ने 1894 के बाद एशिया, अफ्रीका तथा अन्य क्षेत्रों में उपनिवेश स्थापना हेतु प्रयत्न किये। जर्मनी की इस नई नीति का परिचय दक्षिण अफ्रीका में बोअर युद्ध के समय मिला। 1894-95 में ट्रांसवाल में रहने वाली बोअर जाति पर ब्रिटिश अधिकारी जेनसन ने आक्रमण कर दिया। जर्मनी ने इस आक्रमण का विरोध किया। इस आक्रमण में जेनसन असफल रहा। 1896 में विलियम द्वितीय ने बोअर नेता क्रूगर को उसकी सफलता पर बधाई का तार भेजा, जिससे जर्मनी और इंगलैण्ड के सम्बन्ध बिगड़ गये। वास्तव में विलियम द्वितीय उस क्षेत्र में जर्मनी का प्रभाव स्थापित करना चाहता था, किन्तु अपने चांसलर और विदेश मन्त्री के समझाने के कारण उसे रुकना पड़ा। तत्पश्चात् उसने चीन की निर्बलता का लाभ उठाकर कियाओ-चाओ नामक बन्दरगाह पर अधिकार करने की योजना बनायी। 1897 में शान्टुंग प्रान्त में दो जर्मन पादरियों की हत्या कर दी गई, इस पर जर्मनी ने अपने युद्धपोत भेजकर कियाओ-चाओ पर अधिकार कर लिया। रूस ने इसका विरोध किया किन्तु जर्मनी ने उसकी परवाह नहीं की। इस प्रकार जर्मनी को न केवल एक बन्दरगाह प्राप्त हुआ बल्कि चीन साम्राज्य में अपना आर्थिक प्रभाव स्थापित करने का अवसर मिल गया। सुदूर पूर्व में सफलता मिलने से सम्राट की महत्वाकांक्षा बढ़ने लगी। 1898 में उसने स्पेन और अमेरिका के युद्ध का लाभ उठाते हुए फिलिपाइन द्वीप समूह पर अधिकार जमाने का प्रयत्न किया, किन्तु अमेरिका के विरोध के कारण उसे सफलता नहीं मिली। तत्पश्चात् उसने स्पेन से केरोलाइन, पालो तथा मेरियान्स के द्वीप खरीद लिये। इस प्रकार प्रथम विश्व युद्ध के पूर्व तक जर्मनी ने एक अच्छा

सा औपनिवेशिक साम्राज्य स्थापित कर लिया। इस औपनिवेशिक विस्तार की नीति के कारण जर्मनी को यूरोपीय शक्तियों से शत्रुता मोल लेनी पड़ी, जिसका परिणाम बड़ा भयानक निकला।

कैसर विलियम द्वितीय की विदेश नीति—बिस्मार्क के पतन के बाद जर्मनी की विदेश नीति में मूलभूत परिवर्तन हुआ। विदेश नीति के सम्बन्ध में बिस्मार्क और विलियम द्वितीय के दृष्टिकोण में बड़ा अन्तर था। बिस्मार्क ने जर्मनी को एक सन्तुष्ट राष्ट्र घोषित किया, कूटनीतिक सन्धियों द्वारा जर्मनी को सुरक्षा प्रदान कर फ्रांस को मित्रहीन बनाया तथा यूरोप में जर्मनी की प्रधानता स्थापित की। किन्तु विलियम द्वितीय में जर्मनी की शक्ति एवं प्रभाव के विस्तार की आशंका थी। वह जर्मनी को विश्व राजनीति के क्षेत्र में लाना चाहता था तथा जर्मनी के शासन तन्त्र तथा विदेश नीति के क्षेत्र में अपने आपको सर्वोपरि बनाना चाहता था।

19वीं शताब्दी के अन्त में जर्मनी की अभूतपूर्व प्रगति के आधार पर सम्राट विलियम द्वितीय यह दावा करता था कि जर्मनी का विश्व शक्तियों में स्थान होना चाहिए तथा अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में कोई भी महत्वपूर्ण कदम जर्मनी के सहयोग के बिना नहीं उठाया जाना चाहिए। इस प्रकार जर्मनी की राजनीति बिस्मार्क की 'महाद्वीपीय नीति' के स्थान पर 'विश्व राजनीति' बन गयी। इस विषय में प्रोफेसर टेलर ने लिखा है, "1897 की नवीन महत्वपूर्ण घटना यह थी कि जर्मनी विश्व राजनीति की ओर अग्रसर हुआ। उसकी महत्वाकांक्षाओं ने बिस्मार्क द्वारा निर्धारित सीमाओं को तोड़ दिया। अधिकांश जर्मन लोगों को जर्मनी की असीम शक्ति की चेतना थी, अतः वे निर्बाध रूप से विश्व नीति अपनाने के पक्ष में थे। उनमें से कुछ लोगों को विश्वास था कि अन्य राज्य और विशेष रूप से रूस और ब्रिटेन पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता के कारण जर्मनी के विरुद्ध संगठित नहीं हो सकेंगे और जर्मनी उनके बीच में विवाचक बना रहेगा।" 'विश्व राजनीति' को कार्यान्वित करने के लिए सर्वप्रथम सम्राट ने नौ सेना के विस्तार का कार्यक्रम बनाया। तत्पश्चात् पूर्वी भूमध्य सागर में अपना प्रभाव स्थापित करने के उद्देश्य से तुर्की से मित्रता करके पूर्व को ओर बढ़ने (Drang Nachoster) की नीति अपनाई। इसके अतिरिक्त औपनिवेशिक क्षेत्र में जर्मनी का प्रभाव बढ़ाने की चेष्टा की। किन्तु इस नीति के परिणाम जर्मनी के लिए हानिप्रद सिद्ध हुए। नौ सेना की वृद्धि से जर्मनी और इंगलैण्ड के बीच तनावपूर्ण स्थिति उत्पन्न हो गयी। जब उसने तुर्की में अपने प्रभाव का विस्तार करना चाहा तो रूस और इंगलैण्ड दोनों जर्मनी से अप्रसन्न हो गये। औपनिवेशिक विस्तार की आकांक्षा के कारण फ्रांस और इंगलैण्ड से उसके सम्बन्ध बिगड़ गये। जर्मनी की इन नीतियों के परिणामस्वरूप रूस, फ्रांस और ब्रिटेन सम्मिलित होकर संयुक्त रूप से जर्मनी का सामना करने को कटिबद्ध हो गये।

रूस के प्रति उदासीनता : फ्रांस और रूस की मैत्री—रूस और जर्मनी की पुनर्आश्वासन की सन्धि की अवधि जून 1890 तक थी। पिछले दो तीन वर्षों से बल्गेरिया की समस्या के कारण रूस और जर्मनी के बीच कुछ मतभेद उत्पन्न हो गये थे, किन्तु रूस का विदेश मन्त्री गीयर्स (Giers) ने जार को जर्मनी के साथ पुनर्आश्वासन सन्धि का नवीनीकरण करने की सलाह दी। जार ने सन्धि के नवीनीकरण की स्वीकृति दे दी। फरवरी 1890 में बर्लिन स्थिति रूसी राजदूत शूवलाव ने बिस्मार्क से सन्धि के नवीनीकरण का आश्वासन प्राप्त किया, किन्तु मार्च 1890 में बिस्मार्क के त्यागपत्र देने से स्थिति बदल गई। 21 मार्च, 1890 को विलियम द्वितीय शूवलाव को सूचित किया कि मन्त्रियों के बदलने से उसकी नीति में परिवर्तन नहीं हुआ है तथा वह पुनर्आश्वासन सन्धि का नवीनीकरण करने को तैयार है। किन्तु उसके कुछ अनुभवहीन मन्त्री इस सन्धि के विरुद्ध थे। उनका मत था कि इस सन्धि के बाल्कन क्षेत्र में रूस की महत्वाकांक्षा को बल मिलेगा। उनका यह भी विश्वास था कि इस सन्धि को समाप्त कर देने के बाद भी रूस और फ्रांस में मैत्री होने की कोई सम्भावना नहीं है। स्वयं सम्राट भी इन तर्कों से सन्तुष्ट नहीं था। अतः उसने सन्धि का नवीनीकरण न करने के सुझाव को स्वीकार कर लिया तथा 28 मार्च, 1890 को जर्मन राजदूत ने रूस के विदेश मन्त्री को इसकी सूचना दे दी। यद्यपि जार और गीयर्स को, जर्मनी के इस निर्णय से बड़ा आश्चर्य हुआ; किन्तु उन्होंने यह सन्तोष व्यक्त किया कि सन्धि को समाप्त करने की पहल जर्मनी की ओर से की गई है। इस प्रकार बिस्मार्क द्वारा निर्मित व्यवस्था की एक महत्वपूर्ण कड़ी टूट गई।

पुनर्आश्वासन सन्धि का नवीनीकरण न होने से रूस एकाकी हो गया, अतः उसने फ्रांस से मित्रता के लिए हाथ बढ़ाया। फ्रांस की सरकार ने रूस को ऋण दिया तथा कुछ अन्य कार्यो से भी उसने जार को प्रसन्न कर लिया। दोनों राष्ट्र दिन प्रतिदिन एक दूसरे के निकट आने लगे। 1891 में रूस और फ्रांस की मैत्री का एक गुप्त समझौता हो गया। 1892 में दोनों के बीच सैनिक समझौते हेतु बातचीत हुई तथा 1894 में फ्रांस और रूस की मैत्री (Franco-Russian Alliance) विधिवत स्थापित हो गयी। सम्राट विलियम द्वितीय को स्वप्न में भी यह आशा नहीं थी कि रूस और फ्रांस के बीच सन्धि हो जायेगी। उसने रूस के जार को पत्र लिखा, जिसमें राजतन्त्र की दुहाई देते हुये कहा कि उसने गणतन्त्रात्मक राज्य से सन्धि करके राजतन्त्र के सिद्धान्त को ठेस पहुंचाई है। उसने जार को सम्भाविक खतरों से सावधान करने का प्रयत्न किया। किन्तु रूस के जार ने उसके पत्रों का कोई प्रत्युतर ही नहीं दिया। इस सन्धि के बाद फ्रांस में प्रतिशोध की भावना पुनः उत्पन्न होने की आशंका उत्पन्न हो गयी तथा यूरोप की राजनीति में अब जर्मनी की प्रधानता संदिग्ध हो गई। इस सन्धि द्वारा यूरोपीय राज्यों के गुटों

में विभाजित होने की प्रक्रिया आरम्भ हो गयी और जर्मनी के विरुद्ध एक सशक्त गुट का निर्माण होने लगा।

जर्मनी और ब्रिटेन—विलियम द्वितीय के शासन के प्रारम्भिक काल में जर्मनी और ब्रिटेन के सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण रहे। जून 1890 में जर्मनी और इंगलैण्ड के बीच समझौता हुआ, और जिसके अनुसार जर्मनी ने जंजीबार, उगाण्डा, सोमाली के तटवर्ती क्षेत्रों पर इंगलैंड का प्रभाव स्वीकार कर लिया तथा ब्रिटेन ने जंजीबार का तटवर्ती क्षेत्र जर्मनी को दिलाने का आश्वासन दिया और हेलीगोलैंड जर्मनी को दे दिया। तत्पश्चात् विलियम कैसर ने लगातार तीन वर्ष तक ब्रिटेन की यात्रा की, जहाँ उसका भव्य स्वागत किया गया। विलियम द्वितीय तथा ब्रिटिश साम्राज्ञी विक्टोरिया में रक्त सम्बन्ध भी था। विलियम प्रथम के पुत्र फ्रेडरिक का विवाह महारानी विक्टोरिया की पुत्री से हुआ था और इस प्रकार विलियम द्वितीय महारानी विक्टो-रिया का दोहित्र था। दोनों के बीच प्रगाढ़ मैत्री के कारण 1893 में जर्मन चान्सलर ने यह आशा व्यक्त की थी कि धीरे धीरे इंगलैंड 'त्रिगुट' (Triple Alliance) के साथ मिल जायेगा। इंगलैंड और जर्मनी की मित्रता को देखते हुए रूस ने फ्रांस के साथ मित्रता करने में अधिक रुचि प्रदर्शित की। 1893 के समाप्त होते ही दोनों देशों (जर्मनी और इंगलैंड) के बीच कीलिमन्जारो तथा केमरून प्रदेश के सम्बन्ध में शांतिपूर्ण समझौता हुआ तथा टोगोलैंड की सीमा भी मैत्री एवं सह-योगपूर्ण ढंग से निर्धारित कर दी गई।

1895 में तुर्की साम्राज्य में बढ़ते हुए कुशासन तथा गैर मुस्लिम जनता की हत्या के कारण यूरोपीय राज्यों में तुर्की के सुल्तान के विरुद्ध बड़ी उत्तेजना उत्पन्न हो गयी थी। उसी समय ब्रिटिश प्रधान मन्त्री सेलिसबरी ने तुर्की साम्राज्य को बड़ी शक्तियों के बीच विभाजित करने की योजना बनायी तथा इसे जर्मन सम्राट के समक्ष प्रस्तुत की। सम्राट ने स्पष्ट कह दिया कि वह तुर्की साम्राज्य की अखण्डता चाहता है। क्योंकि प्रथम तो जर्मनी को ब्रिटेन की नेकनियती पर सन्देह था तथा दूसरा सुदूर पूर्व में जर्मनी अपने प्रभाव के विस्तार के लिए तुर्की से मैत्री रखना चाहता था। इस घटना से दोनों देशों के बीच मनमुटाव पैदा हो गया। दूसरी घटना दक्षिणी अफ्रीका के सम्बन्ध में थी, जिससे दोनों के बीच तनाव उत्पन्न हुए। दिसम्बर 1895 में जानसन की सैनिक टुकड़ी ने ट्रांसवाल पर आक्रमण कर दिया, किन्तु वह आक्रमण विफल कर दिया गया। इस पर विलियम द्वितीय द्वारा ट्रान्सवाल के राष्ट्रपति क्रूगर को भेजे गये तार से ब्रिटेन में जर्मनी के विरुद्ध उत्तेजना फैल गई। ब्रिटिश समाचार पत्र 'मॉर्निंग पोस्ट' ने लिखा कि ब्रिटिश राष्ट्र इस तार को कभी नहीं भूलेगा तथा भविष्य में अपनी नीति पर पुनर्विचार करते समय इसे सदैव याद रखेगा। 1899 में लार्ड सेलिसबरी ने कहा, "ट्रांसवाल पर आक्रमण मूर्खता थी, किन्तु विलियम का तार उससे भी बढ़कर मूर्खतापूर्ण कार्य

था।" प्रोफेसर गूच ने लिखा है, "क्रूगर को बधाई का तार विलियम द्वितीय के शासन के प्रारम्भिक वर्षों की अत्यन्त अनर्थकारी भूल थी।" ऐसी स्थिति में ब्रिटेन को सर्वप्रथम अपनी पृथक्कता की नीति की व्यर्थता का अनुभव हुआ तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अपना स्थान बनाने के लिये इस नीति का परित्याग आवश्यक हो गया। 'क्रूगर तार' की घटना के बाद जर्मनी और इंगलैंड की मित्रता की सम्भावना लगभग समाप्त हो गई।

फ्रांस और रूस से सहयोग का प्रयत्न—रूस और फ्रांस के बीच सन्धि हो जाने के बाद त्रिगुट के विरुद्ध एक शक्तिशाली गुट तैयार हो गया था। 1904 तक दोनों गुटों में इतना शक्ति संतुलन था कि उनमें से कोई भी बल प्रयोग द्वारा उस संतुलन को भंग करने का साहस नहीं कर सकता था। इसीलिए जर्मनी ने कई बार रूस और फ्रांस के साथ अस्थायी सहयोग किया। ब्रिटेन को कांगो राज्य द्वारा एक छोटा भू भाग मिला हुआ था। 1894 में ब्रिटेन उस क्षेत्र में रेल लाइन निकालना चाहता था, किन्तु जर्मनी और फ्रांस ने मिलकर ब्रिटेन की योजना कार्यान्वित नहीं होने दी। 1895 में चीन-जापान युद्ध में चीन की पराजय के बाद उसे शिमोनोसकी की सन्धि स्वीकार करनी पड़ी, जिसके अनुसार पोर्टआर्थर और लियाओतुंग प्रायद्वीप जापान को देने का निश्चय किया गया। किन्तु जर्मनी, रूस और फ्रांस ने मिलकर जापान को एक संयुक्त पत्र भेजा, जिसमें उससे इस भाग पर अधिकार न करने के लिए कहा गया। जापान इन यूरोपीय शक्तियों का सामना करने की स्थिति में नहीं था, अतः उसने इन क्षेत्रों में अपना अधिकार त्याग दिया। 1896–97 में पूर्वी समस्या के सम्बन्ध में जर्मनी, रूस और फ्रांस का सहयोग बना रहा। मई 1897 में रूस और आस्ट्रिया के बीच एक समझौता हुआ जिसके अनुसार दोनों ने बाल्कन क्षेत्र में यथा स्थिति (Status quo) बनाए रखने का आश्वासन दिया। सम्राट विलियम द्वितीय इस समझौते से बड़ा प्रसिद्ध हुआ तथा बूलो ने लिखा है कि जर्मनी और रूस के सम्बन्ध न केवल मित्रतापूर्ण हैं वरन् अब घनिष्ठ हो गये हैं। इस समय फ्रांस ने भी रूस के साथ पूर्ण सहयोग किया। 1897 में जब जर्मनी ने कियाओ-चाओ पर अधिकार कर लिया तब रूस ने इसका विरोध किया, किन्तु जर्मनी ने पोर्ट आर्थर पर रूस का अधिकार स्वीकार करके उसे प्रसन्न कर लिया।

जर्मनी, रूस, फ्रांस के बढ़ते हुए सहयोग को देखते हुए ऐसा प्रतीत होने लगा कि ब्रिटेन के विरुद्ध प्रमुख शक्तियों का एक संघ बन रहा है। इसी समय ब्रिटेन को भी अपनी पृथक्कता की नीति के कारण उत्पन्न गम्भीर स्थिति का ज्ञान हुआ तथा उसे विवश होकर इस नीति का परित्याग करना पड़ा। 29 मार्च 1898 को इंगलैंड के उपनिवेश मन्त्री चेम्बेरलेन ने लंदन स्थित जर्मन राजदूत के माध्यम से जर्मनी के साथ एक रक्षात्मक सन्धि करने का प्रस्ताव रखा। विलियम कैसर इस प्रस्ताव

का लाभ उठाकर ब्रिटेन और रूस के मतभेदों को गहरा करना चाहता था। वस्तुतः वह ब्रिटेन के साथ संधि करने का इच्छुक नहीं था। अतः कैसर ने जार को पत्र लिखकर सूचित किया कि ब्रिटेन ने जर्मनी के समक्ष सन्धि करने के अनेक प्रस्ताव रखे हैं और वह जर्मनी को बहुत कुछ देने को तैयार है, किन्तु ब्रिटेन को जवाब देने से पूर्व "मैं आपकी राय जानना चाहता हूं, क्योंकि निश्चय ही यह सन्धि रूस के विरुद्ध होगी। यदि हम ब्रिटेन के प्रस्ताव को अस्वीकृत करदें तो इसके बदले में आप हमें क्या देने को तैयार हैं।" कैसर का इरादा था कि रूस को अपने पक्ष में मिलाकर फ्रांस को भी जर्मनी के पक्ष में कर लिया जाय तथा त्रिगुट एवं द्वैध संगठन (रूस व फ्रांस) का एक सम्मिलित संघ ब्रिटेन के विरुद्ध कायम कर लिया जाय। किन्तु जार स्वयं बहुत चालाक था। उसने तुरन्त कैसर को उत्तर दिया कि हाल ही में ब्रिटेन ने रूस के समक्ष भी ऐसे ही प्रस्ताव रखे थे, किन्तु रूस को ब्रिटेन पर भरोसा नहीं है, इसलिए उन प्रस्तावों को नामंजूर कर दिया गया है। ब्रिटिश प्रस्ताव को स्वीकार करना या अस्वीकार करना, इसका निर्णय आप स्वयं कर सकते हैं। जार के इस प्रत्युत्तर से कैसर चकित रह गया। उसने सोचा कि ब्रिटेन, रूस और जर्मनी के समक्ष गुप्त प्रस्ताव रखकर दोनों में संघर्ष करवाना चाहता है। अतः चेम्बरलेन के सन्धि के प्रस्ताव की मार्च 1898 में ही अकाल मृत्यु हो गयी। विलियम द्वितीय ने रूस और फ्रांस से सहयोग करने का प्रयास किया किन्तु वह निष्फल हो गया। अपनी नीति से उसके रूस और ब्रिटेन दोनों को नाराज कर दिया।

जर्मनी और ब्रिटेन की मित्रता के प्रयास—चेम्बरलेन का प्रथम प्रस्ताव स्वतः ही समाप्त हो चुका था। नवम्बर 1899 में कैसर और बूलो दोनों ब्रिटेन गये, जहाँ चेम्बरलेन ने कैसर और बूलो के साथ सन्धि के लिए वार्ता शुरू की। किन्तु जर्मन नेताओं की ओर से उसे कोई प्रोत्साहन नहीं मिला। कुछ दिनों बाद लेस्टर नामक स्थान पर चेम्बरलेन ने अपने भाषण में सार्वजनिक तौर पर जर्मनी के साथ सन्धि का प्रस्ताव रखा। किन्तु इस समय तक बोअर युद्ध के परिणाम दृष्टिगोचर होने लगे तथा यूरोपीय देशों में, विशेषकर जर्मनी में ब्रिटेन की कड़ी निन्दा की जा रही थी। अतः जर्मनी ने चेम्बरलेन के 'लेटर प्रस्ताव' को अस्वीकृत कर दिया। 1900 में अनेक कारणों से ब्रिटेन और जर्मनी के सम्बन्धों में सुधार हुआ। बोअर युद्ध के समाप्त होने पर क्रूगर भाग कर पेरिस गया, जहां उसका अभूतपूर्व स्वागत हुआ। इसके बाद वह बर्लिन गया, किन्तु कैसर ने उसे ब्रिटेन के विरुद्ध सहायता देने से इन्कार कर दिया। जर्मनी के इस रुख का ब्रिटेन पर अच्छा प्रभाव पड़ा। इसी समय महारानी विक्टोरिया बीमार पड़ी। कैसर अपनी नानी को देखने ब्रिटेन गया। कैसर की इस यात्रा का ब्रिटेन के लोगों पर गहरा प्रभाव पड़ा। जर्मन सम्राट के आगमन पर लार्ड लैंसडाउन ने पुनः इंगलैंड, जर्मनी और जापान की सन्धि का प्रस्ताव रखा। किन्तु इस समय चीन को लेकर रूस और ब्रिटेन के बीच झगड़ा बढ़ चुका था, अतः जर्मनी, ब्रिटेन से सन्धि करके रूस को अपना प्रत्यक्ष विरोधी नहीं बनाना

चाहता था। ऐसी स्थिति में चार वर्ष के वार्तालाप के वाद दिसम्बर 1901 में आंग्ल-जर्मन मित्रता के प्रयास वन्द कर दिये गये।

कैसर ने ब्रिटेन की मित्रता को ठुकरा दिया, जिससे ब्रिटेन को अनिवार्यतः दूसरे देशों की तरफ झुकना पड़ा। 1902 में ब्रिटेन ने सुदूर पूर्व में अपने हितों की रक्षा के लिए जापान के साथ सन्धि करली। इससे ब्रिटेन की एकाकी स्थिति समाप्त हो गई तथा यूरोप में उसकी प्रतिष्ठा बढ़ी। इस सन्धि के हो जाने से सुदूर पूर्व में रूस के प्रसार पर रोक लग गई तथा ब्रिटेन का एशियायी साम्राज्य सुरक्षित हो गया। कैसर की ब्रिटेन के प्रति इस प्रकार की नीति के कारण ब्रिटेन धीरे-धीरे जर्मनी से दूर होता गया। 1902 में आंग्ल-जापानी सन्धि के वाद 1904 में आंग्ल-फ्रांसीसी सन्धि सम्पन्न हुई तथा 1907 में ब्रिटेन, फ्रांस और रूस के बीच सन्धि होने से त्रिमैत्री संघ (Triple Entente) की स्थापना हुई। इधर 1902 में इटली ने, जो जर्मनी के साथ त्रिगुट का सदस्य था, फ्रांस से समझौता कर लिया, जिसके अनुसार इटली को ट्रिपोली और फ्रांस को मोरक्को में मनमानी करने का अधिकार प्राप्त हो गया। यह समझौता हो जाने से यूरोप की राजनीति में त्रिगुट का प्रभाव वहुत कम हो गया। इटली अव त्रिगुट का वफादार सदस्य नहीं रहा तथा वह उसकी ओर से विमुख होने लगा। आगे चलकर इटली न केवल त्रिगुट से निकल ही गया वरन् उसके विरोधियों के साथ जा मिला। कैसर की इस नीति से यूरोप का शक्ति सन्तुलन ही विगड़ गया।

वर्लिन-वगदाद रेल योजना—विलियम द्वितीय ने अपने राज्यारोहण के समय से तुर्की से घनिष्ठता स्थापित करने के प्रयत्न आरम्भ कर दिये थे। नवम्बर 1889 में विलियम द्वितीय ने जर्मन साम्राज्ञी सहित कान्सटेन्टीनोपोल की यात्रा की। पिछले 700 वर्षों में वह प्रथम जर्मन सम्राट था जिसने तुर्की की राजकीय यात्रा की। तुर्की के सुल्तान अव्दुल हमीद ने विलियम कैसर का भव्य स्वागत किया। उसी समय से तुर्की और जर्मनी के वीच मित्रता का सूत्रपात हुआ। जर्मन पूंजीपतियों एवं व्यापारियों ने तुर्की साम्राज्य में अपने व्यापार का विस्तार करना आरम्भ कर दिया। जर्मनी के ड्यूत्स वैंक (Deutsche Bank) की एक शाखा कान्सटेन्टीनोपोल में खोल दी गई। सुल्तान रेल मार्गों के निर्माण में रुचि ले रहा था। अतः ड्यूत्स वैंक और जर्मन पूंजीपतियों ने अंगोरा तक रेल लाइन वनाने का अधिकार प्राप्त कर लिया तथा 1892 तक यह निर्माण कार्य पूरा हो गया। 1902-3 में जर्मनी की वगदाद रेल कम्पनी ने तुर्की सुल्तान से कोनिया से अदाना, मोसुल, वगदाद और वसरा तक रेल लाइन वनाने का अधिकार प्राप्त कर लिया। इस लाइन के वन जाने से वर्लिन का आस्ट्रिया, सर्विया, वाल्कन क्षेत्र और तुर्की के एशियायी क्षेत्र में से होकर फारस की खाड़ी से सीधा सम्वन्ध स्थापित हो जाता। विटेन, फ्रांस और रूस ने इस योजना का विरोध किया। जर्मनी ने इंगलैण्ड और फ्रांस को इसमें सहयोगी वनाने

का प्रयत्न किया, किन्तु दोनों ने इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया। इस रेल लाइन के बन जाने से ब्रिटेन के भारतीय साम्राज्य को खतरा उत्पन्न हो जाता। ब्रिटेन, फ्रांस और रूस के विरोध के कारण बर्लिन-बगदाद रेल योजना कार्यान्वित नहीं हो सकी। इस योजना के कारण जर्मन एवं अन्य राज्यों के बीच बड़ा तनाव उत्पन्न हुआ।

इधर इंगलैण्ड ने, यद्यपि जापान से सन्धि करली थी, किन्तु जर्मनी की नौ सेना का सामना करने के लिए उसे भूमध्य सागर में फ्रांस की नौ सैनिक शक्ति का सहयोग प्राप्त करना आवश्यक था। दूसरी ओर फ्रांस का विदेश मन्त्री दलकासे भी इंगलैण्ड से समझौता करने के पक्ष में था। फलत: अप्रेल 1904 में इंगलैण्ड और फ्रांस के बीच सन्धि हो गई। इस सन्धि द्वारा इंगलैण्ड ने मोरक्को में फ्रांस के विशेष हितों को मान्यता प्रदान कर दी तथा फ्रांस ने मिस्र में इंगलैण्ड के विशेष हितों को स्वीकार कर लिया। इस सन्धि से विलियम कैसर की चिन्ता बढ़ गई, क्योंकि फ्रांस ने रूस की मित्रता को बनाये रखते हुए इंगलैण्ड की मित्रता भी प्राप्त करली थी, जो फ्रांस की बहुत बड़ी सफलता थी। इस समझौते से जर्मनी को बड़ा गहरा आघात पहुंचा, क्योंकि इटली विश्वसनीय मित्र नहीं था तथा आस्ट्रिया की आंतरिक कठिनाइयां बढ़ती जा रही थी। जर्मनी के राजनीतिज्ञों को इस बात से ठेस पहुंची कि मोरक्को के विषय में निर्णय करते समय जर्मनी से पूछा तक नहीं गया। हालस्टीन, जो जर्मनी के विदेश मन्त्रालय के एक विभाग का अध्यक्ष था, ने लिखा था कि मोरक्को में फ्रांस के प्रभाव की स्थापना का हमें विरोध करना चाहिए, यदि हम मोरक्को में चुप रहेंगे तो सभी जगह हमारे साथ ऐसा ही व्यवहार होगा।

मोरक्को का संकट—मोरक्को उत्तरी अफ्रीका का एक छोटा सा देश है। 19 वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में यह एक सुल्तान के अधीन स्वतन्त्र देश था। यूरोप के प्राय: सभी देश मोरक्को पर अपनी आंख गड़ाये हुए थे।[1] फ्रांस ने भी अपने औपनिवेशिक विस्तार के लिए मोरक्को को चुना। फ्रांस ने मोरक्को के पास के प्रदेश अल्जीसिराज पर पहले ही अधिकार कर लिया था और वह इन दोनों को मिलाना चाहता था। आंग्ल-फ्रांसीसी सन्धि द्वारा ब्रिटेन का आशीर्वाद प्राप्त करने के बाद फ्रांस ने मोरक्को में 'सुधार कार्य' बड़े उत्साह से आरम्भ किये। मोरक्को की सैनिक तथा पुलिस व्यवस्था का पुनर्गठन, सड़कों और तारों का निर्माण, एक बैंक की स्थापना आदि अनेक सुधार कार्य वृहत् पैमाने पर शुरू किये। इस प्रकार

1. सन् 1880 में मेड्रिड में यूरोपीय राष्ट्रों के साथ मोरक्को के सुल्तान की सन्धि हुई जिसके अनुसार सुल्तान ने वादा किया कि वह विदेशियों की हिफाजत का अच्छा प्रबन्ध करेगा तथा सन्धि के हस्ताक्षरकर्ता देशों को समान रूप से अपने देश में व्यापारिक सुविधाएं देगा। इस सन्धि का अर्थ था कि मोरक्को में विश्व के 13 राष्ट्रों के, जिन्होंने सन्धि पर हस्ताक्षर किये थे, स्वार्थ हैं। इन 13 राष्ट्रों में फ्रांस और स्पेन का मोरक्को में विशेष स्वार्थ माना गया था।

फ्रांस मोरक्को को अपने अधिकार में लाने का कार्य आरम्भ हो चुका था। प्रारम्भ में तो जर्मनी चुप रहा, किन्तु एक वर्ष गुजर जाने पर भी आंग्ल-फ्रांसीसी समझौते के विषय में जर्मनी को सरकारी तौर पर कोई सूचना नहीं दी गई। अतः अब जर्मनी के लिए मोरक्को में फ्रांस के 'बलात्कार' को रोकना आवश्यक था, क्योंकि मोरक्को में जर्मनी के भी स्वार्थ निहित थे। जर्मनी वहां अपना व्यापार बढ़ा सकता था, वह जिब्राल्टर जलडमरू के समीप होने के कारण एटलाण्टिक महासागर तथा भूमध्यसागर का प्रवेश द्वार था। इसके अतिरिक्त दमिश्क में विलियम द्वितीय ने स्वयं को, विश्व के समस्त मुसलमानों का संरक्षक बताया था। इस समय फ्रांस का मित्र रूस, जापान द्वारा पराजित हो चुका था, अतः कैसर का विचार था कि इस अवसर पर फ्रांस को दबाया जा सकता है।

अत: फ्रांस को भयभीत करने के उद्देश्य से मार्च 1905 में कैसर मोरक्को गया तथा टैंजियर (Tangier) नामक स्थान पर घोषणा की कि मोरक्को की प्रादेशिक अखण्डता तथा सुल्तान की स्वतन्त्रता एवं प्रभुसत्ता बनाये रखी जायेगी। मोरक्को में जर्मनी के भी स्वार्थ हैं, अत: पश्चिम के राष्ट्र परस्पर मिलकर मोरक्को के भाग्य का निर्णय नहीं कर सकते, उसमें जर्मनी का भी हस्तक्षेप होना चाहिए। उसने मोरक्को की समस्या पर विचार करने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाने तथा फ्रांस के विदेश मन्त्री दलकासे को पदच्युत करने की मांग की। दलकासे सम्मेलन की मांग स्वीकार करने के पक्ष में नहीं था, किन्तु फ्रांस का मन्त्रिमण्डल समझौता करने के पक्ष में था। अत: जून 1905 में दलकासे ने त्याग पत्र दे दिया तथा फ्रांस अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाने को तैयार हो गया। यह जर्मनी की महान कूटनीतिक सफलता थी।

ब्जर्को सम्मेलन—24 जुलाई 1905 को कैसर ने फिनलैण्ड में स्थित ब्जर्को (Bjorkon) नामक स्थान पर रूस के सम्राट जार निकोलस से भेंट की तथा उसे जर्मनी के साथ एक सन्धि करने के लिए तैयार कर लिया। उस समय जापान से पराजित हो जाने के कारण रूस को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा था, अत: जार जर्मनी से सन्धि करने के पक्ष में था। जार ने सन्धि पत्र पर हस्ताक्षर भी कर दिये, जिससे कैसर खुशी से झूम उठा, क्योंकि जर्मनी के नेतृत्व में यूरोपीय महागुट का स्वप्न पूरा होने वाला था। किन्तु जार को रूस वापस पहुंचने पर उसके विदेश मन्त्री ने कहा कि ब्जर्को की सन्धि, द्विगुट (रूस-फ्रांसीसी संधि, 1894) की शर्तों के विरुद्ध है तथा रूस किसी एक ही सन्धि का सदस्य रह सकता है। इस पर जार को बड़ा अफसोस हुआ और उसने कैसर को एक पत्र लिखा, जिसमें उसने ब्जर्को की सन्धि को स्वीकार करने में अपनी असमर्थता प्रकट की। कैसर पर मानों वज्रपात हो गया। उसने जार से अनुनय विनय की, किन्तु उसका कोई फल नहीं निकला। जर्मनी के सम्राट का रूस से मित्रता करने का प्रयत्न विफल हो गया तथा ब्रिटेन के विरुद्ध महागुट तैयार करने का उसका स्वप्न सदा के लिए समाप्त हो गया।

अल्जीसिराज सम्मेलन (Alzeciras Conference)—मोरक्को की समस्या पर विचार करने के लिए फ्रांस अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन के लिए तैयार हो गया था। इसके कुछ महत्वपूर्ण कारण थे। प्रथम तो फ्रांस का एक मात्र मित्र रूस की, जापान के साथ युद्ध में भीषण पराजय हुई थी तथा रूस में आन्तरिक क्रान्ति एवं विद्रोहों की आग सुलग रही थी, अतः वह फ्रांस को युद्ध में सहायता नहीं दे सकता था। दूसरा, इंगलैण्ड की सरकार ने फ्रांस को सैनिक सहायता देने का लिखित आश्वासन नहीं दिया था। तीसरा अमरीकी राष्ट्रपति रुजवेल्ट का हस्तक्षेप। राष्ट्रपति रुजवेल्ट ने फ्रांस को युद्ध की भयंकरता के बारे में सचेत करते हुए समझाया कि सम्मेलन में फ्रांस के हितों पर अतिक्रमण की स्वीकृति नहीं दी जायेगी। इन कारणों से फ्रांस अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन के लिए राजी हो गया।

16 जनवरी 1906 को अलजीसिरास में एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन आरम्भ हुआ। इसमें जर्मनी, फ्रांस, इंगलैंड, मोरक्को, इटली, पुर्तगाल, बेल्जियम, हालैण्ड, स्वीडन, रूस, स्पेन तथा अमेरिका के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इसमें लगभग तीन महीने के लम्बे बाद विवाद के पश्चात् 7 अप्रेल 1905 को 'कन्वेन्शन ऑफ अलजीसिराज' स्वीकृत किया गया, जिसके अन्तर्गत निम्नलिखित निर्णय लिये गये—

(1) मोरक्को की राजनीतिक स्वतन्त्रता तथा प्रादेशिक अखण्डता को अक्षुण्ण रखा जाय तथा वहां के सुल्तान को वहां का औपचारिक शासक स्वीकार किया जाय।

(2) मोरक्को में 'खुले दरवाजे की नीति' का अवलम्बन किया जाय। इस निर्णय द्वारा मोरक्को में सभी देशों के आर्थिक हितों को स्वीकार कर लिया गया।

(3) फ्रांस और स्पेन के सिपाहियों को मिलाकर मोरक्को में एक स्विस इन्सपेक्टर जनरल के अधीन एक अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस का संगठन किया जाय, जिसका कार्य मोरक्को में शान्ति एवं व्यवस्था बनाये रखना होगा।

(4) मोरक्को में आर्थिक व्यवस्था के लिये ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी तथा स्पेन को मिलाकर एक संयुक्त स्टेट बैंक अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की स्थापना की जाय।

ऐतिहासिक दृष्टि से अलजीसिरास सम्मेलन का अत्यधिक महत्व है। यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन की व्यवस्था तथा दलकासे को पदच्युत करना, फ्रांस की कूटनीतिक पराजय थी, किंतु जर्मनी के कठोर रुख के कारण सभी देशों की सहानुभूति फ्रांस के साथ हो गयी। इस अवसर पर इटली ने भी जो त्रिगुट का सदस्य था, फ्रांस का साथ दिया। केवल आस्ट्रिया ने ही जर्मनी का साथ दिया। सम्मेलन में जर्मनी को निराश होना पड़ा। फ्रांस को स्पेन के साथ मिलकर मोरक्को की पुलिस व्यवस्था करने का अधिकार मिल गया। यद्यपि जर्मन चान्सलर वूलो ने दावा किया कि "हमने फ्रांस के लिए केवल मोरक्को का दरवाजा ही बन्द नहीं कर दिया है

वल्कि उसके गले में एक घण्टी भी लटका दी है। अब यदि फ्रांस मोरक्को में अपना आधिपत्य जमाने का प्रयास करेगा तो यह घंटी बज उठेगी और सारी दुनिया सचेत हो जायेगी।" लेकिन वास्तव में जर्मनी की यह पराजय थी। वास्तव में मोरक्को में फ्रांस का प्रभाव प्रबल हो गया। मोरक्को की शान्ति व्यवस्था तथा आर्थिक जीवन पर फ्रांस का प्रभुत्व धीरे-धीरे कायम हो गया। जर्मनी ने मोरक्को की समस्या पैदा करके फ्रांस और इंगलैण्ड की मैत्री को तोड़ने का प्रयास किया था, किन्तु वास्तव में इस अलजीसिरास सम्मेलल में आंग्ल-फ्रांसीसी समझौते की अग्नि परीक्षा हो गयी जिससे दोनों की मैत्री अधिक सुदृढ़ हुई।

अलजीसिरास सम्मेलन में रूस ने फ्रांस का समर्थन किया था तथा इंगलैण्ड ने भी फ्रांस का साथ दिया था। अतः इस सम्मेलन का महत्वपूर्ण परिणाम यह निकला कि रूस और इंगलैण्ड दोनों निकट आने लगे तथा 31 अगस्त 1907 को दोनों के वीच समझौता हो गया। इसके पश्चात अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में रूस, इंगलैण्ड और फ्रांस एक दूसरे के सहयोगी बन गये। फ्रांस, इंगलैण्ड और रूस की इस मित्रता को 'ट्रिपल आन्तांत' (Triple Entente) के नाम से पुकारा जाने लगा। इससे जर्मनी की चिन्ता बहुत बढ़ गयी, क्योंकि 'ट्रिपल आन्तांत' सैनिक शक्ति की दृष्टि से 'ट्रिपल एलाएंस' से अधिक प्रबल था। अब जर्मनी का एकमात्र सहयोगी आस्ट्रिया रह गया था, जिसे जर्मनी ने 'ब्लेंक चेक' देना आरम्भ कर दिया। जर्मनी से 'ब्लेंक चेक' प्राप्त कर आस्ट्रिया ने वोस्निया और हर्जीगोविना हड़प लिया, जिससे अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर वारूद का ढेर एकत्रित हो गया, जिससे कभी भी विस्फोट हो सकता था।

अगादिर का संकट—अलजीसिरास सम्मेलन के बाद न तो फ्रांस और जर्मनी के सम्बन्धों में सुधार हुआ और न मोरक्को की आंतरिक स्थिति में परिवर्तन आया। दिन दहाड़े फ्रांसीसी कर्मचारियों की हत्या एक साधारण वात हो गई। 1907 में टेंजियर में एक फ्रांसीसी अधिकारी पर गोली चलाई गयी, मोरक्को में एक फ्रांसीसी डाक्टर की हत्या कर दी गई तथा कैसाब्लांका वन्दरगाह पर लगे कुछ फ्रांसीसी नाविकों को मार डाला गया। इस पर फ्रांस ने उजदा नामक नगर पर तथा कैसाब्लांका के आसपास के भूभागों पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार फ्रांस मोरक्को में अपनी स्थिति मजबूत कर रहा था। 25 सितम्बर 1908 को कैसाब्लांका स्थित जर्मन वाणिज्य दूत के बहकाने पर फ्रांसीसी दूतावास के कुछ सैनिक भाग खड़े हुए। उसमें तीन जर्मन भी सम्मिलित थे, जो फ्रांस सरकार की नौकरी में थे। जर्मन वाणिज्य दूत ने तीनों जर्मनों को लौटाये जाने की मांग की, किन्तु फ्रांस ने इन्कार कर दिया। दोनों ओर से 'वाक्-युद्ध' आरम्भ हो गया तथा स्थिति विगड़ने लगी। अन्त में मामले की जांच के लिये पंच न्यायालय की स्थापना की गई। पंच न्यायालय के निर्णय के आधार पर 9 फरवरी 1909 को जर्मनी और फ्रांस के बीच एक समझौता हुआ

जिसके अनुसार फ्रांस ने मोरक्को की स्वतन्त्रता और अखण्डता को बनाये रखने तथा सभी राज्यों को समान रूप से व्यापार करने के अधिकार को स्वीकार किया। जर्मनी ने मोरक्को में फ्रांस के विशेष राजनैतिक हितों को मान्यता दे दी।

फ्रांस और जर्मनी के इस समझौते के पश्चात कुछ समय तक शान्ति रही। किन्तु मोरक्को की आन्तरिक स्थिति निरन्तर बिगड़ती जा रही थी। सुल्तान सर्वथा अयोग्य था। देश की आर्थिक स्थिति खराब थी। सुल्तान फ्रांस से ऋण लेकर काम चला रहा था। फलत: सुल्तान पर ऋण का भार बहुत बढ़ गया। इधर मोरक्को में शान्ति एवं व्यवस्था के नाम पर फ्रांसीसी पुलिस मोरक्को के विभिन्न नगरों पर कब्जा करती जा रही थी। इसके विरुद्ध समस्त मोरक्को में विद्रोह की अग्नि प्रज्वलित हो उठी थी। सम्पूर्ण मोरक्को में अराजकता छा गई। सबसे बड़ा विद्रोह 1911 में फेज में हुआ। अतः फेज में शांति और व्यवस्था स्थापित करने के उद्देश्य से मई 1911 में फ्रांस की सेना फेज पहुंच गई तथा फेज पर फ्रांसीसी अधिकार स्थापित हो गया। जर्मन ने फ्रांस की इस कार्यवाही का प्रबल विरोध किया तथा अगादिर (Agadir) नामक स्थान पर जर्मन नागरिकों की सुरक्षा के नाम पर पैंथर (Panther) नामक युद्धपोत अगादिर के बन्दरगाह पर भेज दिया। स्पष्ट है जर्मनी ने अगादिर में जर्मन नागरिकों की सुरक्षा की बात कही थी, जो केवल बहाना था। फ्रांस ने फेज पर अधिकार कर लिया था, इसके बदले में जर्मनी चाहता था कि उसे भी कुछ मिलना चाहिए।

पैंथर के अचानक अगादिर पहुंच जाने के समाचार से ब्रिटिश सरकार को अधिक क्रोध और आश्चर्य हुआ। ब्रिटेन को संदेह हुआ कि जर्मन सरकार अटलांटिक महासागर के तट पर जहाजी अड्डा बनाने का प्रयास कर रहा है। ब्रिटिश सरकार किसी भी कीमत पर मोरक्को में जर्मनी को एक समुद्री अड्डा नहीं देना चाहती थी। इस प्रकार पैंथर के भेजे जाने से गम्भीर स्थिति उत्पन्न हो गई। ब्रिटिश विदेश मंत्री सर एडवर्ड ग्रे ने जर्मन राजदूत को बुलाकर स्पष्ट कह दिया कि ब्रिटिश सरकार मोरक्को में जर्मन सरकार की हरकतों को सहन करने के लिए तैयार नहीं है। जर्मन राजदूत ने इसका कोई संतोषजनक जवाब नहीं दिया। इस पर ब्रिटिश वित्त मंत्री लॉयड जार्ज ने ब्रिटिश मंत्रिमंडल की सहमति से लन्दन के सुप्रसिद्ध मैन्शन हाउस में एक भाषण दिया। उसने जर्मनी को चेतावनी देते हुए कहा कि यदि जर्मनी ने ऐसा कोई कार्य किया, जिससे इंगलैंड के स्थायी हितों को नुकसान पहुंचने की आशंका हो तो इंगलैण्ड चुप नहीं रहेगा। मैन्शन हाउस के भाषण से सम्पूर्ण जर्मनी में सनसनी फैल गई। ऐसा प्रतीत होने लगा मानो ब्रिटेन द्वारा युद्ध का शंखनाद किया जा रहा है। जर्मनी के उग्र राष्ट्रवादी क्रोध से भड़क उठे क्योंकि उनकी मान्यता थी कि ब्रिटेन, जर्मनी के औपनिवेशिक और व्यापारिक महत्वाकांक्षाओं को कुचल देना चाहता है। जर्मनी के उग्र राष्ट्रवादियों ने इस अपमान के प्रत्युत्तर में युद्ध की

घोषणा करने की मांग की। अगादिर संकट अपनी चरम सीमा पर पहुंच गया। इंगलैण्ड ने अपनी नौ सेना को समुद्र तट की सुरक्षा के लिए सावधान कर दिया। युद्ध की सम्भावना बढ़ गई, किन्तु जर्मनी की आर्थिक स्थिति ठीक नहीं थी। अतः वह खामोश रहा। लिप्सन महोदय का मत है कि "जर्मनी मोरक्को के प्रश्न को लेकर युद्ध नहीं करना चाहता था। वह पूर्वी समस्या को लेकर युद्ध करने के लिए तैयार था।" इंगलैंड के प्रबल विरोध को देखते हुए जर्मनी को समझौते की वार्ता के लिए तैयार होना पड़ा। 4 नवम्बर 1911 को फ्रांस और जर्मनी के बीच एक समझौता हो गया, जिसके अनुसार, वस्तुतः जर्मनी ने मोरक्को पर फ्रांस का संरक्षक स्वीकार कर लिया और उसके बदले में फ्रांस ने फ्रेंच कांगो का एक बड़ा भाग जर्मनी हस्तांतरित कर दिया।

प्रोफेसर ब्रेन्डनबर्ग के अनुसार अगादिर काण्ड जर्मन विदेश नीति की महान बेवकूफी थी। बूलो ने भी कहा कि अगादिर काण्ड जर्मनी के लिए एक शोचनीय घटना थी। इन विचारों से सभी विद्वान सहमत हैं। जर्मन जनता को भी ऐसा प्रतीत हुआ कि जर्मनी को फ्रांस और इंगलैण्ड के समक्ष पीछे हटना पड़ा है। अगादिर संकट के पश्चात् इंगलैण्ड और जर्मनी के बीच तनाव बढ़ गया। दूसरी ओर इस संकट के बाद इंगलैण्ड और फ्रांस की मित्रता अधिक सुदृढ़ हो गई। जिस प्रकार मोरक्को संकट के समय आंग्ल-फ्रांसीसी समझौता अग्नि परीक्षा से अधिक मजबूत होकर निकला, ठीक उसी प्रकार अगादिर संकट भी ब्रिटेन, फ्रांस और रूस के त्रिगुट की अग्नि परीक्षा का समय था और इस परीक्षा में भी त्रिगुट अधिक मजबूत होकर निकला। विलियम कैसर की विवेकहीन विदेश नीति से जर्मनी के शत्रुओं का गुट सुसंगठित होने लगा। अतः अगादिर संकट, विश्व युद्ध के पूर्व अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को बिगाड़ने के क्रम में एक महत्वपूर्ण घटना थी। अगादिर के संकट से लाभ उठाकर इटली ने ट्रिपोली पर आक्रमण कर दिया। ट्रिपोली के युद्ध के कारण तुर्की की शक्तिहीनता प्रकट हो गई, और बाल्कन राज्यों ने तुर्की के विरुद्ध बाल्कन संघ स्थापित किया। फलतः दो बाल्कन युद्ध हुए।

हालडेन मिशन—1911 के अन्त में जर्मनी की एक जहाजी कम्पनी के संचालक एलबर्ट बालिन ने लन्दन में अपने मित्र सर अर्नेस्ट केसल से, जो वहां का प्रभावशाली बैंकर भी था, भेंट की तथा उसके माध्यम से ब्रिटिश विदेश मन्त्री सर एडवर्ड ग्रे के पास जर्मनी की ओर से समझौते के कुछ प्रस्ताव भेजे। ग्रे ने भी समझौते की एक रूपरेखा जर्मन चांसलर के पास भेजी, जिसने समझौते के आधारभूत तथ्यों को स्वीकार कर लिया। समझौते को अन्तिम रूप देने के लिए ग्रे स्वयं बर्लिन जाने को तैयार नहीं हुआ, क्योंकि उसके जाने से फ्रांस में कुछ अविश्वास और सन्देह उत्पन्न होने का भय था जिससे दोनों की मित्रता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता था। अतः ग्रे ने युद्ध मन्त्री हालडेन (Haldane) को बर्लिन भेजा। फरवरी 1912 में हालडेन मिशन बर्लिन पहुंचा तथा सद्भावपूर्ण वातावरण में वार्ता आरम्भ हुई।

कैसर ने हालडेन को 1912 के नौ सेना अधिनियमों के प्रति दी और उसे सूचित किया कि इस अधिनियम की घोषणा पहले कर दी गई थी, इसलिए उसको रोकना सम्भव नहीं है, फिर भी नौ सेना के निर्माण की गति को कुछ कम किया जा सकता है। उस योजना को लेकर हालडेन वापिस लन्दन आ गया। ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल ने योजना का अध्ययन करने के बाद जर्मनी को सूचित किया कि जर्मन नौ सेना की वृद्धि को कम किये बिना समझौता करना निरर्थक होगा। जर्मन चान्सलर बेथमेन ने कैसर और जर्मन नौ सेना अध्यक्ष टरपित्स को जंगी जहाजों का निर्माण करने के लिए बहुत समझाया, किन्तु वे नहीं माने। मार्च 1912 में ब्रिटेन और जर्मनी के बीच समझौते के प्रयत्न विफल हो गये। हालडेन मिशन की असफलता के बाद ब्रिटेन और जर्मनी के समझौते की आशा पूर्णतः समाप्त हो गई। इसके बाद फ्रांस ने ब्रिटेन के साथ फ्रांस की नौ सेना के सहयोग की एक योजना बनाई। कुछ समय बाद रूस ने भी फ्रांस की नौ सेना के साथ सहयोग करने हेतु बातचीत आरम्भ कर दी। इस प्रकार 1912 के बाद 'ट्रिपल आन्तांत' के राज्य एक दूसरे को सैनिक सहयोग देने की तैयारी करने लगे।

मार्च-अप्रेल 1912 में रूस का समर्थन प्राप्त कर सर्बिया, बल्गेरिया, यूनान और मान्टीनीग्रो ने मिलकर बाल्कन संघ का निर्माण किया। अक्टूबर 1912 में बाल्कन राज्यों ने तुर्की के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करदी। इस युद्ध में तुर्की पराजित हुआ और विजेताओं ने उनके साम्राज्य पर अधिकार कर लिया। किन्तु साम्राज्य के बंटवारे के प्रश्न पर विजेता राष्ट्रों में परस्पर ही संघर्ष हो गया। इसका लाभ उठाकर तुर्की ने अपने कुछ प्रदेशों को पुनः प्राप्त कर लिया। दोनों बाल्कन युद्धों में सर्बिया की विजय हुई, जिसे रूस का समर्थन प्राप्त था। किन्तु दूसरे बाल्कन युद्ध में आस्ट्रिया के मित्र बल्गेरिया को भारी क्षति उठानी पड़ी। इससे रूस तथा आस्ट्रिया के बीच तनाव बढ़ गया तथा दोनों में संघर्ष निश्चित दिखाई देने लगा। आस्ट्रिया के पीछे जर्मनी की शक्ति थी, अतः जर्मनी और रूस के बीच संघर्ष रोकना भी अब सम्भव नहीं था। कैसर भी यह जानता था कि कुछ समय पश्चात जर्मन एवं स्लाव राज्यों के बीच संघर्ष अनिवार्य है। बाल्कन युद्धों के साथ प्रत्येक राज्य ने अपनी सैनिक शक्ति में वृद्धि करने का प्रयत्न किया। शस्त्रीकरण की इस होड़ ने अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर पड़े बारूद के ढेर में वृद्धि कर दी, अब तो उसे केवल एक चिन्गारी की आवश्यकता थी। 28 जून 1914 को बोस्निया की राजधानी सेराजेवो में आस्ट्रिया के युवराज फ्रांसिस फर्डीनेण्ड तथा उसकी पत्नी की हत्या कर दी गई। इस घटना ने चिन्गारी का कार्य किया और बारूद के ढेर में विस्फोट हो गया। समस्त संसार शस्त्रों की झंकार से गूंज उठा। यूरोप में अन्धकार छा गया। यह प्रथम विश्व युद्ध का प्रारम्भ था।

विलियम द्वितीय की विदेश नीति की समीक्षा—विलियम द्वितीय की विदेश नीति की अनेक विद्वानों ने आयोजना की है। बिस्मार्क ने जर्मनी के चारों ओर जो

सुरक्षात्मक घेरा बिछाया था, विलियम द्वितीय ने उस घेरे को नष्ट कर दिया। प्रोफेसर ब्रेन्डनबर्ग ने स्वीकार किया है कि इस काल में जर्मनी की नीति अदूरदर्शितापूर्ण एवं अव्यवस्थित थी तथा उसने दूसरे राज्यों की जनता की मनोवृति को समझने की चेष्टा नहीं की। प्रोफेसर गूच ने लिखा है कि विलियम द्वितीय ऐसे व्यक्तियों से घिरा हुआ था जिनमें से कुछ तो तुर्की साम्राज्य की ओर विस्तार करना चाहते थे और कुछ एटलांटिक सागर के क्षेत्र में। इन दोनों में से लाभ और हानि की सम्भावना थी। जर्मन राजनीतिज्ञों को चाहिए था कि वे पूर्व और पश्चिम नीति में से किसी एक नीति को चुनते। कैसर की नीति की सबसे बड़ी भूल यह थी कि निकट पूर्व में रूस का विरोध करने के साथ ही ब्रिटिश सैनिक श्रेष्ठता को चुनौती देकर इंगलैंड को भी अपना शत्रु बना लिया। प्रोफेसर टेलर का मानना है कि जर्मनी द्वारा यूरोप में सर्वोच्चता प्राप्त करने का प्रयत्न ही निश्चित रूप से यूरोपीय युद्ध कारण बना था। यदि जर्मनी रूस और इंगलैण्ड को प्रत्यक्ष रूप से चुनौती देता तो वे फ्रांस के साथ सहयोग करने को तैयार नहीं होते। वस्तुतः कैसर की अविवेकपूर्ण नीति के कारण ही 'ट्रिपल आन्तांत' का निर्माण सम्भव हुआ था।

कैसर द्वारा आस्ट्रिया को 'ब्लैंक चेक' (Blank Cheque) देना भी उसकी अविवेकपूर्ण नीति का परिचायक था। प्रत्येक स्थिति में जर्मनी के समर्थन का आश्वासन प्राप्त होने से आस्ट्रिया की बाल्कन क्षेत्र में विस्तार की महत्वाकांक्षा को प्रोत्साहन मिला और उसका रूस से संघर्ष अनिवार्य हो गया। फलस्वरूप रूस और जर्मनी की शत्रुता भी बढ़ने लगी। इंगलैण्ड ने जर्मनी के साथ मित्रता करने हेतु हाथ बढ़ाया, किन्तु नौ सैनिक शक्ति को कम करने के विषय में कैसर और टरपित्स ने हठधर्मी का परिचय दिया, जिनके कारण इंगलैण्ड द्वारा किये गये समझौते के सभी प्रयत्न विफल हो गये। जर्मनी के लिए इस नीति के परिणाम दुर्भाग्यपूर्ण हुए।

अध्याय 12

फ्रांस का तृतीय गणतन्त्र तथा वैदेशिक नीति

(1870–1914)

(THIRD REPUBLIC OF FRANCE)

1870 में सीडान के युद्ध में फ्रांस के सम्राट नेपोलियन तृतीय ने अपनी 83 हजार सेना के साथ जर्मन सेना के समक्ष आत्म-समर्पण कर दिया। 4 सितम्बर 1870 को फ्रांस के तृतीय गणतन्त्र की घोषणा कर दी गई। देश का शासन चलाने के लिए एक अस्थायी सरकार की स्थापना की गई।

फ्रांस की अस्थायी सरकार ने राष्ट्रीय विधान मण्डल के चुनाव कराने का भी निर्णय लिया था। फरवरी 1871 के चुनाव में राजतन्त्रवादियों को बहुमत प्राप्त हुआ। गणतन्त्रवादी युद्ध के समर्थक थे तथा राजतन्त्रवादी युद्ध बन्द करना चाहते थे। राजतन्त्रवादियों को बहुमत प्राप्त होने से यह प्रमाणित हो गया कि फ्रांस की अधिकांश जनता शान्ति चाहती थी। 17 फरवरी को राष्ट्रीय सभा का अधिवेशन बोर्दो में हुआ, जिसमें फ्रांस के अनुभवी राजनीतिज्ञ थीयर्स (Thiers) को फ्रांस के गणतन्त्र की कार्यपालिका का अध्यक्ष मनोनीत किया गया। राष्ट्रीय सभा ने थीयर्स को शान्ति की शर्तें तय करने का पूर्ण अधिकार दे दिया था।

फ्रांस में गृह युद्ध—फ्रैंकफर्ट की सन्धि के पश्चात् भी फ्रांस में शांति स्थापित नहीं हो सकी। युद्ध समाप्त होते ही फ्रांस की सरकार और पेरिस की कम्यून के बीच गृह युद्ध आरम्भ हो गया। पेरिस के निवासियों ने नगर के प्रशासन के लिए एक क्रांतिकारी नगरपालिका (Commune) की स्थापना कर ली थी और पेरिस में अब कम्यून का शासन स्थापित हो गया था। कम्यून की नई कार्यकारिणी ने पेरिस में क्रांति का सूचक लाल झण्डा फहराया तथा सम्पूर्ण देश में कम्यून स्थापित करने की मांग की। वे चाहते थे कि समस्त फ्रांस में कम्यून स्थापित हो और उन्हें स्थानीय शासन के सभी मामलों, यहां तक कि सुरक्षा व्यवस्था के सम्बन्ध में पूर्ण अधिकार प्राप्त हों। वे चाहते थे कि केन्द्रीय शासन का आधार नगरपालिकाएं हों। सरकार ने

पेरिस की कम्यून से समझौता करने का प्रयत्न किया किन्तु उसे सफलता नहीं मिली। अतः थीयर्स ने कम्यून के विरुद्ध सशस्त्र संघर्ष करने का निर्णय लिया। सरकार की सेनाओं ने पेरिस को चारों ओर से घेर लिया। यह पेरिस के निवासियों का दुर्भाग्य था कि उन्हें एक वर्ष के अन्दर दूसरे भयंकर घेरे का सामना करना पड़ा। सात सप्ताह के घेरे (2 अप्रेल से 21 मई) के बाद सेना ने नगर के अन्दर प्रवेश किया। नगर के अन्दर एक सप्ताह तक दोनों पक्षों में भयंकर संघर्ष हुआ। कम्यून के समर्थकों ने कई निरपराध व्यक्तियों की हत्या कर दी और नगर की कुछ प्रसिद्ध इमारतों में आग लगा दी। वर्साय के सैनिकों ने भी प्रतिशोध की भावना से सैकड़ों निरपराध लोगों को मार डाला। पेरिस की सड़कें शवों से आच्छादित हो गयी थी। यह घटना इतिहास में 'खूनी सप्ताह' के नाम से प्रसिद्ध है। लिप्सन महोदय के मतानुसार उस शताब्दी में इससे भयंकर कोई और युद्ध नहीं हुआ। अन्त में 28 मई 1871 को विद्रोहियों ने आत्म-समर्पण कर दिया और पेरिस पर सरकारी सेनाओं का अधिकार हो गया। सरकार ने विद्रोहियों से भीषण प्रतिशोध लिया। लगभग 36 हजार व्यक्तियों को वन्दी बनाया गया, 13,450 व्यक्तियों को दण्डित किया गया और लगभग 7,500 उग्रवादियों को देश से निर्वासित कर दिया गया।

कम्यून की पराजय से एक पीढ़ी के लिए लोकतन्त्र का खून हो गया और समाजवादियों की शक्ति नष्ट हो गयी। कम्यून के संघर्ष में श्रमिकों द्वारा बहाये गये रक्त के कारण पूंजीपतियों और श्रमिकों के सम्बन्ध कटु हो गये। कम्यून के संघर्ष के पश्चात् क्रान्तिकारियों का पूर्णतः दमन कर दिया गया, जिससे शासन के विरुद्ध कोई नये विद्रोह की सम्भावना नहीं रही। संघर्ष में विजयी होने पर फ्रांस की सरकार की स्थिति सुदृढ़ हो गयी तथा जनता को भी शासन की शक्ति पर विश्वास हो गया। प्रोफेसर रेमान्द रेकोली ने अपनी पुस्तक 'द थर्ड रिपब्लिक' में लिखा है कि यदि कम्यून का संघर्ष न होता तो फ्रांस की सरकार को 1848 के समान संकटों का सामना करना पड़ता। यदि शासन सशक्त नीति न अपनाता तो फ्रांस की जनता का झुकाव राजतन्त्र की ओर हो जाता।

राष्ट्रीय पुनर्निर्माण—1870 के युद्ध और 1871 के गृह युद्ध के कारण फ्रांस की दशा अत्यन्त ही जर्जर हो गई थी। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी फ्रांस की प्रतिष्ठा को गहरा आघात पहुंचा था। अतः अब थीयर्स की सरकार को राष्ट्र का आर्थिक, राजनैतिक, प्रशासकीय एवं सैन्य व्यवस्था का पुनर्निर्माण करना था। इस सम्बन्ध में उसने निम्नलिखित महत्वपूर्ण कार्य किये—

(1) क्षतिपूर्ति अदा करना—फ्रेंकफर्ट की सन्धि में यह शर्त रखी गयी थी कि जब तक क्षतिपूर्ति की सम्पूर्ण राशि न चुका दी जायेगी तब तक फ्रांस की भूमि पर जर्मन सेनाएं रहेंगी। थीयर्स ने यह भी अनुभव किया कि जब तक जर्मन सैनिक

फ्रांस की भूमि पर रहेंगे तब तक जनता में राष्ट्रीय अपमान की भावना एवं निराशा बनी रहेगी। उसे इस बात का भी भय था कि कहीं फ्रांसवासी राष्ट्रीय अपमान से क्रुद्ध होकर जर्मन सैनिकों पर आक्रमण न कर दें। यदि ऐसा हुआ तो पुनः युद्ध आरम्भ हो जायेगा जो जर्जर फ्रांस के लिये बड़ा घातक होगा। अतः थीयर्स ने क्षतिपूर्ति की राशि को शीघ्र चुकाने का निर्णय लिया। उसने जनता से राष्ट्रीय ऋण लेने का निश्चय किया तथा जनता से ऋण देने हेतु अपील की। फ्रांस की जनता ने बड़े उत्साह से ऋण दिया। जुलाई 1873 तक क्षतिपूर्ति की राशि की अन्तिम किश्त का भुगतान कर दिया गया और जर्मनी के सैनिक फ्रांस से विदा हो गये। सम्पूर्ण राष्ट्र ने थीयर्स के इस कार्य की सराहना की और उसे 'फ्रांस का मुक्तिदाता' की उपाधि से सम्मानित किया।

(2) **स्थानीय स्वशासन**—थीयर्स ने स्थानीय स्वशासन के क्षेत्र में भी सुधार किया। इस समय तक प्रान्तों की सामान्य परिषदों के अध्यक्षों की नियुक्ति राज्य के द्वारा होती थी। अब उन सामान्य परिषदों को अपना अध्यक्ष चुनने तथा प्रान्तीय विषयों के लिये स्थायी समितियां नियुक्त करने का अधिकार दिया गया। किन्तु ये प्रान्तीय परिषदें पुलिस के प्रिफेक्टों (Prefects) के नियन्त्रण में रखी गयी और उनके अधिकार भी सीमित थे। कुछ राजनीतिज्ञ, जो स्थायी स्वशासन के क्षेत्र में अधिक विकेन्द्रीकरण करना चाहते थे, इन सुधारों से सन्तुष्ट नहीं हुए, किन्तु फ्रांस की अधिकांश जनता ने इन सुधारों को सहर्ष स्वीकार कर लिया।

(3) **सेना का पुनर्गठन**—1870 के युद्ध से यह स्पष्ट हो गया था कि फ्रांस की सेना में युद्ध कौशल की कमी थी। दूसरी ओर प्रशा की सेना वैज्ञानिक ढंग से प्रशिक्षित थी। अतः फ्रांस की सेना को भी उसी ढंग से प्रशिक्षित करना था। 1872 में थीयर्स ने अनिवार्य सैनिक सेवा अधिनियम पास करवाया, जिसके अनुसार फ्रांस के प्रत्येक पुरुष के लिये 5 वर्ष की सैनिक सेवा अनिवार्य कर दी गई। सेना का, प्रशा के सैनिक संगठन के आधार पर पुनर्गठन किया गया। चर्च के पादरी, उपदेशक, विधाओं, ज्येष्ठ अथवा इकलौते पुत्र तथा ऐसे पुरुष जिन पर बड़ा परिवार निर्भर होता था, अनिवार्य सैनिक सेवा से मुक्त कर दिये गये। जो पुरुष उच्च शिक्षा प्राप्त थे उनकी अनिवार्य सेवा की अवधि दो वर्ष रखी गई, किन्तु उन्हें कर कुछ अधिक देना पड़ता था। व्यवहारिक रूप में इस अधिनियम का पूर्णतः पालन नहीं किया गया, क्योंकि इतने अधिक सैनिकों के व्यय को वहन करने की क्षमता फ्रांस में नहीं थी।

गणतन्त्र की स्थापना—इस समय राष्ट्रीय सभा में राजतन्त्रवादियों का बहुमत था, जिससे फ्रांस में पुनः राजतन्त्र की स्थापना की सम्भावना थी। किन्तु राजतन्त्रवादी दो दलों में विभाजित थे। फ्रांस के सम्राट पद के लिये एक दल बूर्बो वंशीय चार्ल्स दशम् के पौत्र कामते द शाम्बोर्द (Comte de Chambord)

का समर्थक था और दूसरा दल आर्लिया वंश के लुई फिलिप के पौत्र कामते द पेरिस (Comte de Paris) के पक्ष में था। अतः राजतन्त्रवादी संगठित होकर गणतन्त्र की समाप्ति करने का प्रयत्न नहीं कर सके। थीयर्स पहले आर्लिया वंश के लुई फिलिप का समर्थक था, किन्तु इस समय उसे यह बात स्पष्ट रूप से समझ में आ गयी कि जनता का झुकाव गणतन्त्र की ओर है। ऐसी स्थिति में उसने गणतन्त्र-का समर्थन करना ही उचित समझा। राजतन्त्रवादियों ने थीयर्स से उग्र गणतन्त्र-वादियों के विरुद्ध कठोर नीति अपनाने को कहा, किन्तु वह इसके लिये तैयार नहीं हुआ। इससे राष्ट्रीय सभा के राजतन्त्रवादी उसके विरोधी हो गये। इधर गणतन्त्र-वादी भी उसकी मध्यम मार्गी नीति से सन्तुष्ट नहीं थे। अतः थीयर्स को बड़ी विषम स्थिति का सामना करना पड़ रहा था। राष्ट्रीय सभा का बहुमत उसके विरुद्ध था। अतः 24 मई 1873 को उसने त्याग पत्र दे दिया। राष्ट्रीय सभा ने उसके स्थान पर मार्शल मेकमोहन (Marshal Mec Mohan) को राष्ट्रपति नियुक्त किया। वह घोर राजतन्त्रवादी था। अतः उसने राजतन्त्रवादियों में समझौता कराने हेतु प्रस्ताव रखा कि कामते द शाम्बोर्द को हेनरी पंचम के नाम से राजा बनाया जाय, किन्तु वह वृद्ध और निसन्तान है। अतः उसकी मृत्यु के बाद कामते द पेरिस को राजा बनाया जाय। किन्तु उसका यह प्रस्ताव स्वीकृत नहीं हो सका। क्योंकि कामते द शाम्बोर्द ने तिरंगे झण्डे को अस्वीकार कर दिया। वह बूर्बो वंश के श्वेत ध्वज को फ्रांस का राष्ट्रीय ध्वज बनाना चाहता था। फ्रांस इस समय तिरंगे झण्डे को त्यागने को तैयार नहीं था, क्योंकि तिरंगा झण्डा फ्रांस की क्रान्ति का प्रतीक था। फिर भी राजतन्त्रवादियों ने हिम्मत नहीं हारी। उन्हें आशा थी शायद कामते द शाम्बोर्द के विचार बदल जायेंगे और यदि ऐसा न भी हुआ तो वह अत्यधिक वृद्ध होने के कारण शीघ्र मर जायेगा। तत्पश्चात् वे कामते द पेरिस को राजा बना देंगे, क्योंकि उसे तिरंगा झण्डा स्वीकार था। अतः वे समय व्यतीत करने का प्रयास करने लगे। उन्होंने सात वर्ष के लिये राष्ट्रपति का चुनाव कर लिया। गणतन्त्र-वादियों का दमन करने के लिये उन्होंने ऐसे आदेश प्रसारित कर दिये कि वे सरकारी आज्ञा के बिना सभा नहीं कर सकते थे। किसी पत्र में रिपब्लिकन शब्द नहीं लिखा जा सकता था। एक ओर घोर गणतन्त्रवादी गेम्बेता देहातों में घूम-घूम कर गण-तन्त्र के सिद्धान्तों का प्रचार कर रहा था। दूसरी ओर बोनापार्टिस्ट दल भी अपना प्रचार कर रहा था। उप चुनावों में उस दल के कई सदस्य निर्वाचित हो गये। इन सभी बातों से राष्ट्रीय सभा के सदस्य भयभीत हो गये। उनमें से बहुत से राजतन्त्रवादी राजतन्त्र की स्थापना को असम्भव समझकर गणतन्त्रवादियों से मिल गये।

फ्रांस की जनता अनिश्चित काल तक अस्थायी शासन तन्त्र को स्वीकार करने को तैयार नहीं थी। बहुत से लोगों का विचार था कि यदि वर्तमान राष्ट्रीय

सभा संविधान निर्माण नहीं कर सकती तो उसके स्थान पर नयी संविधान सभा गठित होनी चाहिए। गणतन्त्र के बढ़ते हुए प्रभाव तथा जन इच्छा को ध्यान में रख कर सरकार ने 'शासकीय शक्तियों' के विभाजन के सम्बन्ध में एक योजना तैयार करने के लिए 30 सदस्यों का एक आयोग नियुक्त किया। जनवरी 1875 में इसकी रिपोर्ट राष्ट्रीय सभा में प्रस्तुत की गई।

गणतन्त्रीय संविधान—आयोग की रिपोर्ट के आधार पर राष्ट्रीय सभा ने संविधान सम्बन्धी तीन मूलभूत नियम पारित किये, जिन्हें सम्मिलित रूप से 1875 का संविधान कहा जाता है। इस संविधान के अनुसार फ्रांस में दो सदन का विधान मण्डल स्थापित किया गया। प्रथम सीनेट या उच्च सदन, तथा द्वितीय चेम्बर ऑफ डेप्यूटीज या निम्न सदन था।

सीनेट—इसके सदस्यों की संख्या 300 निश्चित की गयी, इनमें 75 सदस्यों का निर्वाचन जीवन भर के लिए किया जाना था। शेष 225 सदस्यों के सम्बन्ध में यह निश्चित किया गया कि उनकी आयु 40 वर्ष से कम न हो और उन्हें प्रांतीय निर्वाचक मण्डल द्वारा 9 वर्ष के लिए चुना जाय। इस प्रकार सीनेट के 1/4 सदस्यों का कार्यकाल आजीवन रखा गया तथा शेष 3/4 सदस्यों का कार्यकाल 9 वर्ष रखा गया।

चेम्बर ऑफ डेप्यूटीज—इसके सदस्यों की संख्या 610 निश्चित की गयी। इसके सदस्यों को चार वर्ष के लिए पुरुष वयस्क मताधिकार द्वारा निर्वाचित करने का निर्णय लिया गया। यद्यपि बाह्य रूप से सीनेट और चेम्बर ऑफ डेप्यूटीज के समान अधिकार रखे गये, किन्तु व्यावहारिक रूप से चेम्बर ऑफ डेप्यूटीज, सीनेट से अधिक प्रभावशाली था। इस सदन में बहुमत दल का नेता प्रधान मन्त्री होता था और वही अपने मन्त्रिमण्डल का निर्माण करता था। मन्त्रिमण्डल चेम्बर ऑफ डेप्यूटीज के प्रति उत्तरदायी होता था। सीनेट और चेम्बर ऑफ डेप्यूटीज को मिला कर राष्ट्रीय सभा (National Assembly) कहलाती थी। राष्ट्रीय सभा को राष्ट्रपति के निर्वाचन तथा संविधान में संशोधन का अधिकार दिया गया।

राष्ट्रपति—राष्ट्रपति का निर्वाचन सीनेट और चेम्बर ऑफ डेप्यूटीज मिलकर करते थे। उसकी कार्यावधि सात वर्ष निश्चित की गई। सैद्धान्तिक रूप से राज्य के सभी कार्यों का नियंत्रण, जल और थल सेना का निर्देशन तथा राज्य के सभी सैनिक एवं असैनिक पदों पर नियुक्ति करने का अधिकार राष्ट्रपति को था। वह सीनेट की अनुमति से चेम्बर ऑफ डेप्यूटीज को भंग कर सकता था। उसके सभी अधिकार नाम मात्र के थे। वास्तव में राष्ट्रपति के प्रत्येक आदेश पर किसी मन्त्री के हस्ताक्षर होना आवश्यक था और वह चेम्बर ऑफ डेप्यूटीज के सदस्यों के बहुमत के विरुद्ध कुछ भी नहीं कर सकता था। इस प्रकार राष्ट्रपति का पद इंगलैण्ड के शासक के समान संवैधानिक रखा गया।

फ्रांस के तृतीय गणतन्त्र की मुख्य विशेषता यह थी कि वह संसदीय प्रणाली पर आधारित था। राष्ट्रपति द्वारा प्रधान मन्त्री तथा अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति की जाती थी जो चेम्बर ऑफ डेप्यूटीज के प्रति उत्तरदायी होते थे। चेम्बर ऑफ डेप्यूटीज में बहुमत का समर्थन खो देने पर उन्हें त्याग पत्र देना पड़ता था। इस प्रकार कार्यपालिका पर विधान मण्डल का नियन्त्रण स्थापित किया गया। इस संविधान में 'गणतन्त्र' शब्द का कहीं भी प्रयोग नहीं किया गया था। गणतन्त्रवादी सदस्य वेलॉन ने राष्ट्रपति के निर्वाचन के सम्बन्ध में एक संशोधन द्वारा 'गणतन्त्र' शब्द का समावेश करा दिया। वेलान के संशोधन के अनुसार "फ्रांस के गणतन्त्र का राष्ट्रपति सीनेट और चेम्बर ऑफ डेप्यूटीज द्वारा निर्वाचित किया जायेगा।" यह संशोधन केवल एक मत के बहुमत से पारित हो गया और इस प्रकार राष्ट्रीय सभा ने गणतन्त्र को स्वीकार कर लिया।

यह संविधान इंगलैण्ड के संविधान के अनुरूप था तथा एक प्रकार से राजसत्तावादियों और गणतन्त्रवादियों के बीच समझौता था। राजसत्तावादियों को यह विश्वास था कि उन्होंने गणतन्त्र पर अंकुश लगाने के लिए पर्याप्त रूप से संविधान में राजतन्त्रवादी तत्वों का समावेश कर दिया है। उनका विचार था कि सीनेट, राजतन्त्रवादी शक्ति का गढ़ होगी तथा राष्ट्रपति से मिलकर चेम्बर ऑफ डेप्यूटीज पर नियन्त्रण रखने में सफल होगी। गणतन्त्रवादियों ने इसे इस आशा से स्वीकार किया कि अवसर मिलते ही वे इसको बदल कर पूर्ण रूप से गणतन्त्रीय बना देंगे। इस प्रकार सभी दलों को यह विश्वास था कि यह संविधान अधिक समय तक नहीं चल सकेगा, किन्तु यह संविधान लगभग 79 वर्ष तक चलता रहा। हेजन महोदय ने लिखा है कि "1875 में फ्रांस का संविधान, इंगलैण्ड तथा संयुक्त राज्य अमेरिका की अपेक्षा कहीं अधिक जनतन्त्रात्मक था।"

गणतन्त्र का अन्त करने का प्रयास—1876 के चुनावों में चेम्बर ऑफ डेप्यूटीज में गणतन्त्रवादियों को बहुमत प्राप्त हुआ तथा सीनेट में राजसत्तावादियों को बहुमत मिला। राष्ट्रपति मेकमोहन घोर राजतन्त्रवादी था तथा फ्रांस में गणतंत्र का अन्त करना चाहता था। किन्तु चुनावों में गणतन्त्रवादियों को बहुमत प्राप्त होने के कारण विवश होकर उसने गणतन्त्रवादी जूलस साइमन (Jules Simnon) को मंत्रिमंडल गठित करने को कहा। किन्तु कुछ ही महीनों में मेकमोहन, साइमन की नीति से असन्तुष्ट हो गया, क्योंकि मेकमोहन अपने समस्त वैधानिक अधिकारों का व्यापक रूप से उपयोग कर मन्त्रिमण्डल पर अपना नियन्त्रण स्थापित करना चाहता था। उसने घोषित किया कि युद्ध, जल-सेना तथा विदेश नीति पर चेम्बर ऑफ डेप्यूटीज का अधिकार नहीं होगा। उसने कैथोलिकों विशपों को भी भड़काया कि वे अपनी राज्य सरकार से ऐसा कानून बनवाये जिससे कि पोप को अपने अधिकारों का प्रयोग करने की पूर्ण स्वतन्त्रता हो जाये तथा राज्य द्वारा उन पर कोई प्रतिबन्ध न

लगाये जा सके। इस पर फ्रांस के कट्टर कैथोलिकों ने सरकार के विरुद्ध आन्दोलन छेड़ दिया। गणतन्त्रवादी चर्च के प्रभाव को बढ़ने नहीं देना चाहते थे और मेकमोहन कैथोलिकों पर प्रतिबन्ध लगाने के पक्ष में नहीं था। 4 मई 1876 को चेम्बर ऑफ डेप्यूटीज ने एक प्रस्ताव पास किया कि शासन को तुरन्त कैथोलिकों के आन्दोलन पर प्रतिबन्ध लगाना चाहिए। 16 मई 1877 को मेकमोहन ने साइमन पर शासन के हितों की अवहेलना करने का आरोप लगाया। साइमन ने उसी दिन अपना त्यागपत्र दे दिया। इसके पश्चात् मेकमोहन ने ड्यूक द ब्रोगली (Due de Broglie) जो राजसत्तावादी था, को मंत्रिमण्डल बनाने को कहा। किन्तु चेम्बर में गणतन्त्रवादियों का बहुमत था, अतः गेम्बेता ने मांग की कि नया मंत्रिमण्डल चेम्बर में बहुमत प्राप्त दल से बनाना चाहिए। जबकि मेकमोहन की मान्यता थी कि राष्ट्रपति को अपनी इच्छानुसार मन्त्रिमण्डल चुनने का अधिकार है। उसने सीनेट की अनुमति से चेम्बर ऑफ डेप्यूटीज को भंग कर दिया तथा राष्ट्रपति के अधिकार के प्रश्न पर जनता का निर्णय जानने के लिए पुनः चुनाव कराये।

निर्वाचन के समय मतदाताओं पर तरह-तरह से प्रभाव डाला गया। राजतन्त्रवादियों को विजयी बनाने के लिए राष्ट्रपति ने शासन के समस्त साधनों का प्रयोग किया। कैथोलिकों ने यह धर्म आज्ञा प्रसारित कर दी कि जनता अपना मत राजतन्त्रवादियों को ही दे। गणतन्त्रवादी नेता गेम्बेता ने इस कार्य का घोर विरोध किया। फलतः उसको एक भाषण के आधार पर दोषी ठहरा कर दो वर्ष के कारावास की सजा दे दी गई और उस पर दो हजार फ्रैंक जुर्माना किया गया। गणतन्त्रवादियों को 127 और राजतन्त्रवादियों को केवल 200 स्थान प्राप्त हुए। तत्पश्चात् मेकमोहन ने ऐसा मन्त्रिमण्डल बनाया जिसके अधिकांश सदस्य विधान मण्डल के सदस्य नहीं थे। गणतन्त्रवादियों ने इसका विरोध किया और कहा कि यदि चेम्बर में बहुमत प्राप्त दल से मन्त्रिमण्डल नहीं बनाया जायेगा तो वे वार्षिक बजट पास नहीं होने देंगे। अन्त में मेकमोहन को झुकना पड़ा और दिसम्बर 1877 में उसने दुफारे (Dufaure) को मन्त्रिमण्डल बनाने के लिए आमंत्रित किया। गणतन्त्रवादियों को चेम्बर में बहुमत प्राप्त हो गया किन्तु सीनेट में राजतंत्रवादियों का बहुमत था। जनवरी 1879 के सीनेट के चुनाव में गणतंत्रवादियों को बहुमत प्राप्त हो गया। अब गणतन्त्रवादियों ने, राजतन्त्रवादी मन्त्रिमण्डल द्वारा नियुक्त उच्चाधिकारियों को हटाने की नीति अपनाई। मेकमोहन ने इसका विरोध किया और कहा कि उच्च अधिकारियों की नियुक्ति का प्रश्न मंत्रिमण्डल के क्षेत्र के बाहर है। जब मंत्रिमंडल ने उच्च सेनापतियों की नियुक्तियों में हस्तक्षेप किया तो मेकमोहन ने नई नियुक्तियों की स्वीकृति नहीं दी। दोनों सदनों में गणतन्त्रवादियों का बहुमत होने से मेकमोहन की स्थिति वैसे ही निर्बल हो गई थी, अतः 30 जनवरी 1879 को उसने गणतन्त्रवादियों की नीति के विरोध में अपना त्यागपत्र दे दिया। इस प्रकार राजतन्त्रवादी और कैथोलिक पराजित हुए और उनका गणतन्त्र को समाप्त करने का प्रयास सफल न हो सका।

अन्त में राष्ट्रीय सभा ने कट्टर गणतन्त्रवादी जूल्स ग्रेवी (Jules Grevy) को राष्ट्रपति निर्वाचित किया। जूल्स ग्रेवी पिछले 30 वर्षों से गणतन्त्र के प्रचार के लिए कार्य कर रहा था। इस प्रकार राष्ट्रपति, चेम्बर आफ डेप्यूटीज तथा सीनेट तीनों गणतन्त्रवादियों के हाथ में आ गये। यह गणतन्त्रवादियों की भारी सफलता थी।

गणतन्त्र को सुदृढ़ करने का प्रयास—जूल्स ग्रेवी के राष्ट्रपति बन जाने से फ्रांस की राजनीति पर गणतन्त्रवादियों का पूर्ण प्रभाव स्थापित हो गया और अब उनका उद्देश्य गणतन्त्र को सुदृढ़ और स्थाई बनाना था। गणतन्त्रीय सरकार ने जून 1879 में पेरिस को पुनः राजधानी बनाया तथा कम्यूनार्डो (Communards) को क्षमा प्रदान की। इस प्रकार पेरिस की जनता को प्रसन्न करने तथा वहां के गणतन्त्रवादियों का सहयोग प्राप्त करने का प्रयत्न किया गया। 14 जुलाई 1880 को (वेस्तील पतन का दिवस) राष्ट्रीय पर्व घोषित किया। 1881 को नागरिकों को सभा करने का अधिकार प्रदान किया गया तथा समाचार पत्रों पर से अधिकांश प्रतिबन्ध हटा लिये। 1884 में एक संवैधानिक प्रस्ताव द्वारा सीनेट में आजीवन सदस्यों के चुनाव की व्यवस्था को रद्द कर दिया गया। एक कानून द्वारा यह भी घोषणा की गई कि संविधान का गणतन्त्रीय स्वरूप कभी नहीं बदला जायेगा। इसके अतिरिक्त यह भी घोषित किया कि जिन परिवारों के सदस्य भूतकाल में कभी फ्रांस में शासन कर चुके हैं, उन परिवारों का कोई भी सदस्य फ्रांस का राष्ट्रपति नहीं बन सकेगा। 1884 में ही, पेरिस को छोड़कर फ्रांस की सभी कम्यूनों को अपना मेयर चुनने की स्वतन्त्रता दे दी गई। फ्रांस की राजनयिक सेवाओं के लिए प्रतियोगिता परीक्षा द्वारा चयन करने का नियम बनाया गया। मजदूरों को पहली बार ट्रेड यूनियन बनाने का अधिकार दिया गया।

जूल्स फेरी ने शिक्षा मन्त्री के रूप में अनेक महत्वपूर्ण सुधार किये। उसने 1882 में एक कानून द्वारा प्राथमिक शिक्षा को निःशुल्क और अनिवार्य कर दिया तथा उस पर चर्च का नियन्त्रण पूर्णतः समाप्त कर दिया। उसने शासकीय स्कूलों में धार्मिक शिक्षा पर प्रतिबन्ध लगा दिया। देश की औद्योगिक उन्नति के लिए भी प्रयास किया गया। नई सड़कों, रेलों तथा बन्दरगाहों का निर्माण किया गया। अंगूर की खेती को बढ़ावा देकर शराब के व्यापार को प्रोत्साहित किया गया।

इन कार्यों से गणतन्त्रवादियों की लोकप्रियता दिन प्रतिदिन बढ़ती गई। 1883 में कामते द शाम्बोर्द की मृत्यु हो जाने से गणतन्त्रवादियों का प्रभाव क्षीण हो गया। 1885 में जूल्स फेरी के मन्त्रिमण्डल का पतन हो गया।

गणतन्त्र पर संकट—1885 में फेरी मन्त्रिमण्डल का पतन होने के बाद गणतन्त्रवादी दल में कोई योग्य नेता नहीं रहा। इसी समय से फ्रांस की आर्थिक एवं राजनैतिक परिस्थितियां बदलने लगी, जिससे गणतन्त्र को संकट का सामना करना पड़ा। गणतन्त्रवादी दो दलों में विभाजित हो गये। एक दल 'अवसरवादियों'

का था और दूसरा दल उग्र गणतन्त्रवादियों का। अवसरवादी चाहते थे कि शासन को ऐसी नीति अपनानी चाहिये जिसे देश की अधिकांश जनता स्वीकार करले। इसके विरुद्ध उग्र गणतन्त्रवादी चाहते थे कि शासन को गणतन्त्रवादी सिद्धान्त पूर्ण रूप से अपनाना चाहिये तथा गणतन्त्रवादी कार्यक्रम का कोई अंश छोड़ना नहीं चाहिये। उग्र गणतन्त्रवादियों ने जूल्स फेरी की औपनिवेशिक नीति की आलोचना की थी। फेरी मन्त्रिमण्डल के पतन के बाद 'अवसरवादियों' और उग्र गणतन्त्रवादियों में समझौते की कोई सम्भावना नहीं रही। इससे मन्त्रिमण्डलों का जल्दी-जल्दी पतन होने लगा। इस काल में फ्रांस की आर्थिक स्थिति भी खराब हो गयी थी। 1873 से 1876 के बीच यूरोप में आर्थिक मन्दी का दौर आया। इस मन्दी के फलस्वरूप फ्रांस में अनाज व अन्य वस्तुओं की कीमतें गिरने लगी तथा बेकारी बढ़ने लगी। इस स्थिति का विरोधियों ने लाभ उठाया और उन्होंने किसानों और मजदूरों को यह समझाया कि उनकी शोचनीय दशा गणतन्त्रवादियों की नीति के कारण हुई है। 1885 के चुनाव में चेम्बर में तीन दल थे—अवसरवादी, अतिगणतन्त्रवादी और दक्षिण पंथी। तीनों में से किसी को स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं हो सका। किन्तु अतिवादियों की संख्या अधिक थी, परन्तु ग्रेवी अतिवादी नेता क्लीमेन्स को मन्त्रिमण्डल बनाने का अवसर देना नहीं चाहता था। अतः उसने जनवरी 1886 में फ्रेसीनेट (Frecynet) को मन्त्रिमण्डल बनाने के लिए आमन्त्रित किया।

ग्रेवी अपने व्यक्तिगत जीवन में बहुत पवित्र था किन्तु 1887 के अन्त में यह पता लगा कि उसके दामाद डेनियल विलसन ने अपने श्वसुर के पद का अनुचित लाभ उठाते हुए अवैध रूप से धन एकत्रित किया है। ग्रेवी का इसमें कोई हाथ नहीं था, फिर भी ग्रेवी बदनाम हो गया और लोकमत के विरोध के कारण दिसम्बर 1887 में उसे त्यागपत्र देना पड़ा। तत्पश्चात् सेदी कार्नो (Sadi Carnot) फ्रांस का नया राष्ट्रपति निर्वाचित हुआ। शिक्षा उपनिवेश तथा चर्च सम्बन्धी नीति के कारण गणतन्त्र का बहुत विरोध हो रहा था। इससे देश में अशांति फैल गई तथा गणतन्त्र भारी संकट में दिखाई देने लगा।

तृतीय गणतन्त्र के समक्ष कठिनाइयां—यद्यपि 1885 तक फ्रांस में गणतन्त्र सुदृढ़ आधार पर स्थापित हो चुका था और ऐसा प्रतीत होता था कि गणतन्त्रवादी दल की शक्ति कई वर्षों तक बनी रहेगी। किन्तु अभी उसके विरोधियों की कमी नहीं थी। राजतन्त्रवादी एवं कैथोलिक गणतन्त्र के कट्टर विरोधी थे। इसके अतिरिक्त किसान एवं मजदूर भी गणतन्त्र का विरोध कर रहे थे। गणतन्त्र के विरोधियों का कहना था कि गणतन्त्रवादी फ्रांस कभी भी राजतन्त्रवादी जर्मनी का मुकाबला नहीं कर सकता। उनका यह भी विश्वास था कि जिस प्रकार फ्रांस में पहले दो गणतन्त्रों का अन्त हुआ है, उसी प्रकार तृतीय गणतन्त्र का भी अन्त होगा। अतः उन्होंने गणतन्त्र के मार्ग में अग्रलिखित कठिनाइयां उत्पन्न की—

(1) **बूलान्जे (Boulanger) का उदय**—जनरल बूलान्जे एक योग्य सैनिक अफसर था। वह अल्जीरिया, इटली तथा 1870 के युद्धों में भाग ले चुका था। 1882 में उसे युद्ध विभाग में पैदल सेना का अध्यक्ष बनाया गया। 1884 में उसे ट्यूनिस की सेना का अध्यक्ष बनाया गया। एक वर्ष पश्चात वह पेरिस लौट आया। 1886 में फ्रेसीनेट ने, क्लीमेन्स के दबाव के कारण बूलान्जे को युद्ध मंत्री बनाया। उस समय उसकी आयु 49 वर्ष थी और सेनापति के रूप में वह काफी ख्याति प्राप्त कर चुका था। वह बड़ा ही महत्वाकांक्षी था तथा उसके विचार उग्रवादी थे।

युद्ध मन्त्री बनते ही बूलान्जे ने सेना में अनेक सुधार किये। उसने सैनिकों को प्रसन्न करने के लिये उनका वेतन बढ़ा दिया, उनकी आवास एवं भोजन व्यवस्था में सुधार किया, उनके लिये अधिक छुट्टियों की व्यवस्था की गई, उनकी सैनिक सेवा की अवधि कम कर दी तथा सेना के आर्मामेंट में सुधार किया। बूलान्जे का अनेक समाचार पत्रों पर अधिकार था, अतः उन समाचार पत्रों के माध्यम से अपने प्रत्येक सुधार का प्रचार कराया। बूलान्जे का व्यक्तित्व बहुत ही आकर्षक तथा प्रभावशाली था, अतः वह शीघ्र ही पेरिस की जनता का प्रिय पात्र बन गया। उसने अपने आपको गणतन्त्र का सच्चा सेवक एवं संरक्षक घोषित किया। वह जर्मनी से युद्ध करके 1870 की पराजय का प्रतिशोध लेने के पक्ष में था। उसके अनुसार यह कार्य उस समय तक सम्भव नहीं था जब तक कि संसदीय व्यवस्था समाप्त न कर दी जाय। गणतन्त्र के असन्तुष्ट व्यक्तियों ने एक राष्ट्रीय दल का निर्माण कर बूलान्जे को अपना नेता बनाया। इस दल ने शासन का स्वरूप निर्धारित करने के लिये जनमत संग्रह की मांग की। उनका उद्देश्य बूलान्जे की तानाशाही स्थापित करने का था। जर्मनी से प्रतिशोध लेने की प्रिय बातों ने फ्रांसीसियों के मर्मस्थल को छू लिया। देश में बूलान्जे के बहुत से अनुयायी हो गये।

अप्रेल 1887 में जर्मनी ने फ्रांस की सीमा रक्षक पुलिस के एक अफसर शेनावेल (Schnaebel) को कैद कर लिया। फ्रांस की सरकार ने इसका विरोध किया तथा शेनावेल को मुक्त करने की मांग की। इससे स्थिति अत्यन्त ही तनावपूर्ण हो गई तथा फ्रांस और जर्मनी के बीच युद्ध की आशंका उत्पन्न हो गई, किन्तु राष्ट्रपति ग्रेवी तथा विदेश मन्त्री फ्लोरेन की समझदारी से समस्या सुलझ गई। जर्मन सम्राट ने शेनावेल को मुक्त कर दिया। फ्रांस की जनता को इस घटना की वास्तविकता का ज्ञान नहीं था, इसलिए उन्हें यह विश्वास हो गया कि बूलान्जे के प्रभाव के कारण ही जर्मनी को झुकना पड़ा है। इस घटना के बाद बूलान्जे फ्रांस की जनता का लोकप्रिय नायक बन गया। उसकी प्रशंसा में अनेक गीत लिखे गये जिनमें उसे 'रेवाशे' (बदला लेने वाला) के नाम से सम्बोधित किया गया।

इन परिस्थितियों में 1857 में फ्रेसीनेट मन्त्रिमण्डल का पतन हुआ तथा रोवियर (Rowvier) ने नया मन्त्रिमण्डल बनाया। नई सरकार ने बूलान्जे को क्लेर-

मॉट फेरान्द के सुदूरवर्ती क्षेत्र में सेनापति बनाकर भेज दिया। पेरिस के लोगों ने इस आज्ञा का विरोध करते हुए प्रदर्शन किया। वर्ष के अन्त में वह बिना छुट्टी लिये वापिस पेरिस लौट आया तथा तत्कालीन राजनैतिक वातावरण, जो उसके पक्ष में था, से लाभ उठाने लगा। बूलान्जे की राजनैतिक गतिविधियों को देखते हुए सरकार ने उस पर सेना के अनुशासन को भंग करने का आरोप लगाकर उसे पदच्युत कर दिया। अब बूलान्जे पूर्णत: स्वतन्त्र हो गया और उसने नेशनल रिपब्लिकन पार्टी नामक एक राजनैतिक दल बनाया। उसने चेम्बर ऑफ डेप्यूटीज के लिए चुनाव लड़ने का निर्णय किया। अपने चुनाव अभियान में उसने गणतन्त्रीय संविधान में परिवर्तन करने तथा तत्कालीन संसद को भंग करने की मांग की। पांच महिनों के अल्पकाल में वह छः स्थानों से निर्वाचित हुआ। 1889 में वह पेरिस के निर्वाचन क्षेत्र से खड़ा हुआ, जो गणतन्त्रवादियों का अड्डा था। फिर भी वहां से भारी बहुमत से विजयी हुआ। गणतन्त्र को भारी खतरा उत्पन्न हो गया। 27 जनवरी 1889 को पेरिस के हजारों लोग उसके निवास स्थान पर एकत्रित हो गये और बूलान्जे का जयघोष करने लगे। यदि उस समय वह सेना को आदेश दे देता तो पेरिस पर उसका अधिकार हो जाता, किन्तु उसमें इतना साहस नहीं था।

इस संकट का सामना करने के लिए गणतन्त्रवादी अपने पारस्परिक मतभेदों को भूलकर एक हो गये। सरकार ने बूलान्जे पर राज्य के विरुद्ध षड़यन्त्र रचने का आरोप लगाया और उसे सीनेट के समक्ष उपस्थित होने का आदेश दिया। बूलान्जे कैद किये जाने के भय से देश छोड़कर बेल्जियम भाग गया। उनकी अनुपस्थिति में उस पर मुकदमा चलता रहा तथा उसे आजीवन कारावास का दण्ड दिया गया। 1891 में उसने बेल्जियम में ही आत्महत्या करली। इस प्रकार गणतन्त्र पर आया हुआ संकट दूर हो गया। गणतन्त्र के विरोधी बुरी तरह परास्त हुये, जिससे गणतंत्र अधिक सुदृढ़ हो गया।

बूलान्जे संकट का परिणाम—बूलान्जे के संकट से यह सिद्ध हो गया कि गणतन्त्र की जड़ें मजबूत नहीं है और कोई भी प्रभावशाली नेता उसको समाप्त कर सकता है। इससे गणतंत्रवादी सतर्क हो गये तथा उन्होंने जनता की इच्छा के अनुकूल नीति अपनाने का प्रयास किया। अब उग्र गणतन्त्रवादियों ने संविधान में संशोधन करने की मांग छोड़ दी। सरकार के शासन में ऐसे सुधार किये जिससे राजतन्त्रवादियों का प्रभाव न बढ़ सके। अनिवार्य सैनिक सेवा की अवधि पांच वर्ष से घटाकर तीन वर्ष कर दी तथा ऐसे सैनिक पदाधिकारियों को पदमुक्त कर दिया जो प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से बूलान्जे से सम्बन्धित थे। इस घटना से पोप लियो तेरहवां समझ गया कि गणतन्त्रीय शासन का अन्त सम्भव नहीं है। अत: 1892 में उसने घोषणा की कि अब वह गणतन्त्र के साथ सहयोग करेगा। सरकार ने देश की आर्थिक दशा सुधारने के लिए अधिक सक्रिय नीति अपनाई। 1893 तक

फ्रांस ने अपने एकाकीपन का अन्त कर रूस के साथ मैत्री सम्बन्ध स्थापित किये। इससे गणतन्त्र की शक्ति में वृद्धि हुई तथा राजतन्त्रवादियों की शक्ति को आघात पहुंचा। सितम्बर 1889 के चुनावों में गणतन्त्रवादियों को 366 स्थान प्राप्त हुए जबकि राजतन्त्रवादियों को केवल 210 स्थान प्राप्त हो सके। इससे यह प्रमाणित हो गया कि गणतन्त्र को फ्रांस की अधिकांश जनता का समर्थन प्राप्त है।

(2) **ड्रेफ़स का मामला**—1894 में फ्रांस के तृतीय गणतन्त्र को एक और संकट का सामना करना पड़ा जिसे ड्रेफस काण्ड कहते हैं। ड्रेफस एक यहूदी था तथा फ्रांसीसी सेना में केप्टिन था। यहूदी होने के साथ साथ वह गणतन्त्र का पक्षपाती था। अक्टूबर 1894 में उसे एकाएक गिरफ्तार करके उस पर यह आरोप लगाया गया कि उसने शत्रु देश जर्मनी को सेना के गुप्त दस्तावेज भेजे हैं। प्रमाण के रूप में दस्तावेज की एक सूची प्रस्तुत की गई। यद्यपि उस पर किसी के हस्ताक्षर नहीं थे। फिर भी यह कहा गया कि यह दस्तावेज ड्रेफस द्वारा लिखे गये हैं। ड्रेफस पर बन्द कमरे की सैनिक अदालत में मुकदमा चलाया गया तथा उसे दोषी ठहराया गया। पेरिस की सैनिक स्कूल के खुले आंगन में उसका सार्वजनिक रूप से अपमान किया गया। उसकी तलवार को तोड़ डाला गया और उसकी वर्दी को फाड़ डाला गया। तत्पश्चात् उसको आजीवन कारावास का दण्ड भुगतने के लिए डेविल्स आइलैंड (Devils Island) में निर्वासित कर दिया गया। ड्रेफस ने अपने आपको निर्दोष बताया, किन्तु फ्रांस में आम तौर पर उसके अपराध को स्वीकार कर लिया गया, क्योंकि यहूदियों के विरुद्ध सर्व साधारण में एक आम धारणा बन गई थी। फिर भी बहुत से लोगों को ड्रेफस की निर्दोषिता में विश्वास था।

1896 में कर्नल पिक्वार्ट (Coronel Picquart) को सेना में गुप्तचर विभाग का अध्यक्ष बनाया गया, जिसने पता लगाया कि जिन दस्तावेजों के आधार पर ड्रेफस को दण्डित किया गया है, वे जाली हैं तथा उन्हें एक सैनिक अधिकारी मेजर एस्टरहेज़ी ने तैयार किया है। कर्नल पिक्वार्ट ने सरकार को इसकी सूचना दे दी। किन्तु सरकार ने सेना की प्रतिष्ठा को बनाये रखने के लिए इस बात को दबाना चाहा। कर्नल पिक्वार्ट को सेना के साथ ट्यूनिस और अल्जीरिया भेज दिया गया तथा उसके स्थान पर कर्नल हेनरी को नियुक्त किया गया। किन्तु फ्रांस की जनता में यह बात फैल गई और जनता ड्रेफस काण्ड पर पुनर्विचार की मांग करने लगी। सेना, चर्च तथा राजतन्त्रवादी ड्रेफस को दोषी समझते थे तथा ड्रेफस के पक्षपातियों को गद्दार कहते थे। इस प्रकार ड्रेफस के मामले को लेकर एक भारी आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। इसी बीच ब्रीआं का नया मंत्रिमण्डल बना जिसमें केवेन्यू युद्ध मन्त्री बना। केवेन्यू ने चेम्बर आफ डेप्यूटीज में तीन ऐसे नये सबूत पेश किये जिनमें ड्रेफस अपराधी सिद्ध होता था। इन सबूतों के आधार पर चेम्बर आफ डेप्यूटीज को ड्रेफस के अपराधी होने का विश्वास हो गया।

इसके पश्चात् भी ड्रेफस का मामला ठण्डा नहीं पड़ा। कर्नल पिक्वार्ट ने युद्ध मन्त्री को लिखा कि उसने चेम्बर में जो तीन सूबत पेश किये हैं, उनमें से दो ड्रेफस-काण्ड से सम्बन्धित नहीं हैं और एक जाली है। इसी समय एक सनसनीपूर्ण बात और हुई। कर्नल हेनरी ने यह स्वीकार कर लिया कि वास्तव में तीसरा दस्तावेज जाली है और उसको उसने स्वयं ने तैयार किया था। इसके बाद कर्नल हेनरी ने आत्महत्या करली तथा केवेन्यू ने त्यागपत्र दे दिया। अगस्त 1899 में ड्रेफस काण्ड पर पुनर्विचार हुआ। न्यायालय ने इस बार भी सरकारी प्रभाव से ड्रेफस को अपराधी ठहराया, किन्तु उसकी आजीवन कारावास की सजा 10 वर्ष की सजा में परिवर्तित कर दी। इस समय तक यह स्पष्ट हो गया था कि ड्रेफस निर्दोष है। अतः जनता के दबाव में आकर राष्ट्रपति ल्यूबेट (Leubet) ने अपने विशेषाधिकारों के अन्तर्गत ड्रेफस को क्षमा कर दिया। जेल से बाहर आने पर ड्रेफस और उसके समर्थकों ने मांग की कि सर्वोच्च न्यायालय इस मामले पर विचार करे। अन्त में मामला सर्वोच्च न्यायालय में प्रस्तुत किया गया, जहां मामले की अच्छी तरह छानबीन की गई और 12 जुलाई 1906 को ड्रेफस को पूर्णतः निर्दोष घोषित कर दिया गया। सरकार ने ड्रेफस को पुनः सेना में नियुक्त कर लिया तथा उसे केप्टिन से मेजर बना दिया। पेरिस के जिस सैनिक स्कूल में उसका सार्वजनिक अपमान किया गया था, उसी आंगन में उसको सैनिक सम्मान से विभूषित किया गया। कर्नल पिक्वार्ट ने ड्रेफस के मामले को आगे बढ़ाया था, अतः उसकी भी पदोन्नति करके ब्रिगेडियर जनरल बना दिया गया और बाद में वह फ्रांस का युद्ध मन्त्री बना। सेना के जो अधिकारी इस षड़यन्त्र में दोषी पाये गये उन्हें पदच्युत कर दण्ड दिया गया तथा निर्दोष व्यक्तियों को इनाम दिया गया।

ड्रेफस काण्ड का महत्व—यद्यपि यह एक साधारण सा मामला था, किन्तु जनता में अधिक लोकप्रिय होने के कारण कालान्तर में इसका महत्व बहुत अधिक बढ़ गया। इस मामले को लेकर प्रतिक्रियावादी, गणतन्त्र के विरोधी में प्रचार करने लगे और उन्होंने गणतन्त्र को बदनाम करने का पूरा प्रयास किया। किन्तु ड्रेफस के निर्दोष सिद्ध होने से गणतन्त्र विरोधी तत्व बदनाम हो गये और गणतन्त्र की स्थिति दृढ़ हो गयी। इसके अतिरिक्त ड्रेफस काण्ड से सैनिक सत्ता पर राजनैतिक सत्ता की विजय हुई। ड्रेफस के निर्दोष सिद्ध होने से सैन्यवाद और पादरीवाद को भारी धक्का पहुंचा। फ्रांस में अब यह मान्यता प्रबल हो गई कि सेना को सार्वजनिक पदाधिकारियों के नियन्त्रण में रहना चाहिए तथा सैनिक अधिकारियों को चाहिए कि वे अपने आपको कानून से बढ़कर न समझें। अब जनता में यह धारणा भी दृढ़ होने लगी कि पादरियों को राजनीति से पृथक रहना चाहिए।

(3) राज्य और चर्च का संघर्ष—फ्रांस के तृतीय गणतन्त्र को चर्च के विरुद्ध भी संघर्ष करना पड़ा। फ्रांस के प्रसिद्ध गणतन्त्रवादी नेता गेम्बेता ने 1878

में यह घोषित किया था कि पादरीवाद (Clericalism) गणतन्त्र का शत्रु है। आगे चलकर बूलान्जे-संकट तथा ड्रेफस-कांड के समय यह स्पष्ट हो गया कि पादरी, गणतन्त्र के विरोधी हैं, क्योंकि इन अवसरों पर चर्च ने गणतन्त्र को बदनाम करने का प्रयास किया था। फ्रांस के कैथोलिक पादरी आरम्भ से ही राजतन्त्रवादियों के समर्थक थे तथा अपनी पाठशालाओं में अपने धार्मिक उपदेशों में गणतन्त्र की कटु आलोचना किया करते थे। चर्च के पास न केवल धार्मिक प्रभाव था बल्कि अपार सम्पत्ति भी थी, अतः वह गणतन्त्र का विरोध करने में अपने आपको पर्याप्त शक्तिशाली समझता था। अतः राज्य और चर्च का संघर्ष होना स्वाभाविक था।

फ्रांस की शिक्षा पर चर्च ने अधिकार कर रखा था। चर्च की पाठशालाओं में प्रतिक्रियावादी शिक्षा दी जाती थी। वहां बच्चों को गणतन्त्र से घृणा करने का पाठ पढ़ाया जाता था। फलतः नई पीढ़ी के नवयुवक चर्च के प्रभाव में आकर राजतन्त्रवादी होते जा रहे थे। अतः सरकार के लिए चर्च का दमन करना आवश्यक था। 1901 में फ्रेंच गणतन्त्र के प्रधान मन्त्री वाल्डेक रूसो (Waldeck Roussean) ने गणतन्त्र की रक्षा के लिए एक कानून बनवाया, जिसे संघ कानून (Law of Association) कहते हैं। इस कानून के द्वारा प्रत्येक धार्मिक संस्था के लिए सरकार से अधिकार पत्र प्राप्त करना अनिवार्य कर दिया। जो संस्था सरकारी आज्ञा प्राप्त नहीं करेगी अथवा जिस संस्था को सरकार आज्ञा प्रदान नहीं करेगी, ऐसी संस्था का कोई सदस्य न तो शिक्षालय खोल सकता था और न शिक्षा का कार्य ही कर सकता था। इस कानून के पश्चात् अनेक धार्मिक संस्थाओं ने सरकार से अधिकार पत्र मांगने से इन्कार कर दिया तथा अनेक धार्मिक संस्थाओं को सरकार ने अधिकार पत्र देने से इन्कार कर दिया। फलतः दस हजार धार्मिक विद्यालय बन्द हो गये। इस प्रकार कैथोलिक पादरियों के हाथ से शिक्षा का नियंत्रण निकल गया। 1904 में एक दूसरा महत्वपूर्ण कानून बनाया गया, जिसके अनुसार सभी धार्मिक संस्थाओं को (स्वीकृत संस्थाओं सहित) दस वर्ष के अन्दर शिक्षण कार्य बन्द कर देने का आदेश दिया गया। इस कानून के परिणामस्वरूप शिक्षा पर राज्य का एकाधिकार स्थापित हो गया। इससे चर्च तथा राज्य के बीच विरोध बढ़ता गया।

अब तक पोप तथा राज्य के पारस्परिक सम्बन्धों के विषय में कान्कॉर्डेट (Concordat) का समझौता चल रहा था, जो 1801 में नेपोलियन महान ने पोप पायस सप्तम् से किया था। इस समझौते के अनुसार चर्च के समस्त उच्च पदाधिकारियों की नियुक्ति राज्य द्वारा होती थी, किन्तु इस सम्बन्ध में पोप की सहमति ले ली जाती थी। चर्च के समस्त पदाधिकारियों को वेतन देने का दायित्व राज्य का था। पदारियों को राज्य के प्रति वफादारी की शपथ ग्रहण करनी पड़ती थी। चर्च की समस्त इमारतें राज्य की सम्पत्ति समझी जाती थी, किन्तु चर्च को उनके प्रयोग करने का अधिकार था। तृतीय गणतन्त्र के अन्तर्गत परिस्थितियों में परिवर्तन होने

लगा। अनेक ऐसे लोग जो कैथोलिकों धर्म को नहीं मानते थे, उनका कहना था कि किसी एक धर्म को राज धर्म घोषित करना अनुचित है तथा जो लोग कैथोलिक धर्म में विश्वास नहीं रखते उन पर इसके लिए कर देने का दायित्व नहीं होना चाहिए। अत: धर्म का राज्य से कोई सम्बन्ध नहीं होना चाहिए। इस प्रकार नेपोलियन के साथ हुए समझौते का विरोध होने लगा तथा धर्म निरपेक्ष राज्य की माँग होने लगी। अत: 1905 में पृथक्करण कानून (Act of Separation) पारित कर नेपोलियन एवं पोप पायस सप्तम् के बीच हुए समझौते को समाप्त कर दिया गया। इस कानून द्वारा चर्च तथा राज्य का सम्बन्ध विच्छेद हो गया। इस कानून में कहा गया कि 'तृतीय गणतन्त्र न तो किसी धर्म को स्वीकार करता है और न उसकी सहायता करता है।' अब सरकार ने पादरियों की नियुक्ति तथा उन्हें वेतन देने के कार्य को बन्द कर दिया, किन्तु वृद्ध पादरियों को वेतन देना राज्य ने स्वीकार कर लिया। धार्मिक संस्थाओं की चल एवं अचल सम्पत्ति के प्रबन्ध के लिए प्रत्येक जिले में 'उपासना समिति' (Association of Worship) की स्थापना की गई जिसमें पादरी सदस्य नहीं हो सकते थे। इसके अतिरिक्त इस कानून द्वारा चर्च और पादरियों के निवास स्थानों को छोड़कर चर्च की सभी सम्पत्ति पर सरकार ने अधिकार कर लिया।

चर्च ने सरकार की इस नीति का घोर विरोध किया। तत्कालीन पोप पायस दशम् ने पृथक्करण कानून को चर्च के अधिकारों पर प्रहार बताया तथा फ्रांस की कैथोलिक प्रजा को उसे ठुकरा देने का आदेश दिया। पादरी नये कानून के विरोध में आन्दोलन करने लगे तथा दो वर्ष तक फ्रांस में दंगे फसाद होते रहे। किन्तु सरकार ने उनके विरोध की ओर कोई ध्यान नहीं दिया तथा दृढ़तापूर्वक पादरियों की चुनौती का सामना करते हुए राज्य में शांति एवं व्यवस्था बनाये रखी। फ्रांस में पूर्णतया धर्म निरपेक्ष राज्य की स्थापना हो गयी। स्कूलों में धार्मिक शिक्षा पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। राष्ट्रीय सभा के अधिवेशन के प्रारम्भ होने पर जो धार्मिक प्रार्थना होती थी, उसे बन्द कर दिया गया। 1906 में जब चुनाव हुए तो उनमें पादरीवाद के विरोधियों को पुन: बहुमत प्राप्त हो गया, जिससे यह स्पष्ट हो गया कि फ्रांस की अधिकांश जनता, चर्च और राज्य के सम्बन्ध विच्छेद का समर्थन करती है।

कैथोलिकों के आन्दोलन को शांत करने के लिए 1907 में एक नया कानून बनाया गया, जिसके द्वारा कैथोलिकों को कुछ रियायतें दी गईं। इसमें सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि धार्मिक कार्यों के लिए चर्च को खुला रहने दिया गया जिससे अब भ्रष्टाचार और अन्याय के अवसर जाते रहे। यद्यपि पोप ने नये कानून का विरोध किया, किन्तु अब पादरियों ने सरकार का विरोध करना बन्द कर दिया।

फ्रांस के इतिहास में चर्च और राज्य का संघर्ष एक बहुत बड़ी धार्मिक क्रांति थी, जिसके महत्वपूर्ण परिणाम निकले। अब फ्रांस का राज्य एक लौकिक राज्य बन गया। चर्च का शिक्षा देने का अधिकार समाप्त हो जाने से पादरियों का राजनीतिक प्रभाव कम हो गया। यूरोप में यह परम्परा रही थी कि राज्य के धर्म को सरकारी मान्यता प्राप्त होती थी, किन्तु फ्रांस के तृतीय गणतन्त्र ने इस यूरोपीय परम्परा का अन्त कर दिया। यह व्यवस्था राज्य तथा चर्च दोनों के लिए हितकारी सिद्ध हुई। सरकार को अब धार्मिक झगड़ों में उलझने की जरूरत नहीं रही तथा चर्च को भी राज्य के निरन्तर हस्तक्षेप से मुक्ति मिल गई। यद्यपि कुछ समय तक तो चर्च तथा राज्य के बीच तनाव बना रहा, किन्तु धीरे-धीरे यह तनाव कम हो गया और समय के साथ कैथोलिकों ने नवीन व्यवस्था को स्वीकार कर लिया।

तृतीय गणतन्त्र की औपनिवेशिक नीति—फ्रांस के तृतीय गणराज्य को औपनिवेशिक नीति एक परम्परा के रूप में प्राप्त हुई थी। 1870 तक फ्रांस अफ्रीका में अल्जीरिया, सेनीगल का कुछ भाग तथा कुछ तटवर्ती क्षेत्रों पर अधिकार कर चुका था। एशिया में कोचीन चाइना पर उसका आधिपत्य था तथा कम्बोडिया पर उसका संरक्षण स्थापित हो चुका था। 1870 की पराजय के बाद अगले कुछ वर्षों तक फ्रांस उपनिवेशों की स्थापना की ओर ध्यान नहीं दे सका, क्योंकि उन वर्षों में फ्रांस के राजनीतिज्ञों का विचार था कि फ्रांस को औपनिवेशिक विस्तार की नीति का परित्याग कर अपनी शक्ति और साधनों का प्रयोग जर्मनी से बदला लेने के लिए करना चाहिए। 1878 में बर्लिन कांग्रेस के अवसर पर जब इङ्गलैण्ड ने साइप्रस पर अधिकार कर लिया तो इंगलैंड के प्रधान मन्त्री डिजरेली और विदेश मन्त्री सेलिसबरी ने फ्रांस के प्रतिनिधि को आश्वासन दिया कि यदि फ्रांस ट्यूनिस पर अधिकार करना चाहे तो ब्रिटेन उसका विरोध नहीं करेगा। इधर बिस्मार्क ने भी फ्रांस का ध्यान एल्सेस और लारेन के क्षेत्रों से हटाने के लिए फ्रांस को ट्यूनिस पर अधिकार करने हेतु प्रोत्साहित किया। अतः बर्लिन कांग्रेस के पश्चात् फ्रांस ने पुनः औपनिवेशिक विस्तार की ओर ध्यान दिया।

तृतीय गणतन्त्र का काल औपनिवेशिक विस्तार की दृष्टि से फ्रांस के लिए महत्त्वपूर्ण रहा। इस सम्बन्ध में सबसे महत्वपूर्ण कार्य जूल्स फेरी ने किया। जूल्स फेरी की यह दृढ़ मान्यता थी कि औपनिवेशिक साम्राज्य के विस्तार से ही फ्रांस की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ हो सकती है। जूल्स फेरी के प्रयत्नों के फलस्वरूप फ्रांसीसी साम्राज्य की गणना विश्व में दूसरे नम्बर पर होने लगी। इङ्गलैण्ड का साम्राज्य प्रथम नम्बर पर था।

फ्रांस के पास पहले से ही कुछ उपनिवेश थे, इस आधार को लेकर तृतीय गणराज्य ने उपनिवेशों को और आगे बढ़ाया। ट्यूनिस में विद्रोह को दबाने के बहाने फ्रांस ने अप्रैल-मई 1881 में ट्यूनिस पर अधिकार कर लिया। इसी वर्ष

मिस्र में भी विद्रोह हुआ और स्थिति ऐसी उत्पन्न हो गई कि इङ्गलैण्ड को हस्तक्षेप करना आवश्यक हो गया। इङ्गलैण्ड ने फ्रांस से सहयोग मांगा, किन्तु फ्रांस ने इङ्गलैण्ड का साथ नहीं दिया। इंगलैण्ड ने अपनी सेनाएं भेज कर मिस्र में विद्रोह का दमन कर दिया। जिससे वहां ब्रिटेन का प्रभाव स्थापित हो गया। फ्रांस ने इंगलैण्ड का साथ न देकर मिस्र में अपना प्रभाव स्थापित करने का अवसर खो दिया। आगे चलकर मिस्र पर प्रभाव स्थापित करने के सम्बन्ध में इंगलैण्ड और फ्रांस के सम्बन्ध बहुत बिगड़ गये तथा दोनों की प्रतिद्वन्द्विता कई वर्षों तक चलती रही। 1883 में फ्रांस ने मेडागास्कर की विदेश नीति पर नियन्त्रण स्थापित कर लिया। फेरी के समय में अनाम और टोन्किन फ्रांसीसी उपनिवेश बना लिये गये, जिससे कोचीन और कम्बोडिया की स्थिति सुदृढ़ हो गई। फेरी ने फ्रेंच कांगो पर भी अधिकार स्थापित किया। पश्चिमी अफ्रीका में फ्रांस ने सेनेगल, गिनी, डामोही, आइवरी कोस्ट तथा नाइजर प्रदेशों पर अधिकार कर लिया। 1904 में फ्रांस ने मोरक्को पर अपना प्रभाव स्थापित कर लिया तथा 1912 में मोरक्को को फ्रांसीसी साम्राज्य में मिला लिया गया।

इस प्रकार प्रथम विश्व युद्ध के पूर्व फ्रांस ने एक विशाल औपनिवेशिक साम्राज्य स्थापित कर लिया, जिसका क्षेत्रफल फ्रांस का लगभग चौदह गुना था। फ्रांसीसी साम्राज्य का अधिकांश भाग उत्तरी-पश्चिमी अफ्रीका में था। जूल्स फेरी और उसके सहयोगियों ने आन्तरिक विरोध के बावजूद फ्रांस ने औपनिवेशिक साम्राज्य में उल्लेखनीय वृद्धि की। फ्रांसीसी साम्राज्य में अल्जीरिया और ट्यूनिस सबसे अधिक महत्वपूर्ण थे। अल्जीरिया को तो एक उपनिवेश न मान कर फ्रांस का ही एक प्रान्त माना गया। यद्यपि उस समय इन उपनिवेशों से फ्रांस को कोई लाभ नहीं हुआ, किन्तु आगे चलकर इन उपनिवेशों से फ्रांस को अनेक लाभ हुए।

फ्रांस की विदेश नीति—1870 की पराजय से अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में फ्रांस की प्रतिष्ठा को भारी धक्का लगा था। फ्रांस की जनता इस राष्ट्रीय अपमान को कभी नहीं भूल सकती थी और उनके मन में प्रतिशोध की भावना निरन्तर धधकती रही। इसीलिए बिस्मार्क ने फ्रांस को मित्रहीन बनाये रखने का हर सम्भव प्रयास किया। फ्रांस के राजनीतिज्ञ, फ्रांस की मित्रहीन स्थिति से बड़े चिन्तित थे तथा वे कुछ राज्यों से मित्रता करने का प्रयास कर रहे थे। फ्रांस ने इंगलैण्ड, आस्ट्रिया, रूस तथा इटली से सहयोग प्राप्त करने का प्रयत्न किया, किन्तु बिस्मार्क की कूट-नीतिक चालों के कारण फ्रांस को सफलता नहीं मिली। इंगलैण्ड और रूस, फ्रांस से मित्रता करना चाहते थे, किन्तु वे जर्मनी के विरुद्ध फ्रांस की सहायता करने को तैयार नहीं थे। वस्तुतः इंगलैण्ड, रूस पूर्वी समस्या के सम्बन्ध में फ्रांस की मित्रता प्राप्त करने के इच्छुक थे। इंगलैण्ड, रूस के विरुद्ध फ्रांस का समर्थन चाहता था और रूस, इंगलैण्ड के विरुद्ध फ्रांस की मित्रता चाहता था। फ्रांस, रूस से मैत्री

करना चाहता था, किन्तु इंगलैण्ड की मित्रता को खोकर नहीं। इसी प्रकार वह इंगलैण्ड से मैत्री करने का इच्छुक था, किन्तु रूस को नाराज करना नहीं चाहता था। 1890 में विस्मार्क का पतन हो गया जिससे यूरोप की राजनैतिक परिस्थितियां वदल गई। फ्रांस जर्मनी से एल्सेस और लारेन लेने के लिए छटपटा रहा था, किन्तु फ्रांस अकेला यह कार्य करने में समर्थ नहीं था। अतः उसनें यूरोप में अपने मित्रों की खोज करना आरम्भ कर दिया। विस्मार्क के पतन के कारण उसके लिए यूरोप में मित्र प्राप्त करना सम्भव हो गया।

फ्रांस और रूस की मैत्री—अप्रैल 1875 में जब जर्मनी और फ्रांस के मध्य 'युद्ध की सम्भावना' उत्पन्न हुई तो रूस के विदेश मंत्री गार्शकाव और जार अलेक्जेण्डर द्वितीय वर्लिन गये तथा फ्रांस के विरुद्ध युद्ध करने की चेतावनी दी। इस प्रकार फ्रांस को प्रथम वार रूस की सहानुभूति प्राप्त हुई। 1878 में वर्लिन कांग्रेस में विस्मार्क ने आस्ट्रिया का पक्ष लिया तथा रूस के हितों की अवहेलना की। फलतः जर्मनी और रूस के सम्बन्ध विगड़ने लगे और रूस और फ्रांस की मित्रता की सम्भावना वढ़ने लगी, किन्तु बिस्मार्क ने अपनी कूटनीति द्वारा रूस के जार को सन्तुष्ट कर दिया और 1881 में रूस से मित्रता की सन्धि कर ली तथा 1887 में जर्मनी और रूस के वीच पुनर्आश्वासन की संधि हो गई। 1890 में इस संधि को पुनः दोहराया जाना था, किन्तु विस्मार्क के पतन के बाद जर्मन सम्राट विलियम द्वितीय ने इस सन्धि का नवीनीकरण करने से इन्कार कर दिया। फलतः अब फ्रांस की तरह रूस भी यूरोपीय राजनीति में अकेला रह गया। उधर वाल्कन प्रायद्वीप में रूस और आस्ट्रिया के हित परस्पर टकराते थे और जर्मनी, आस्ट्रिया का मित्र था। इसके अतिरिक्त जर्मनी अपने साम्राज्य विस्तार के लिए तुर्की को अपना मित्र वनाना चाहता था। इससे रूस और भी सशंकित हो उठा।

इस प्रकार रूस और जर्मनी के पारस्परिक सम्वन्ध दिन प्रतिदिन विगड़ते जा रहे थे। लेकिन दूसरी ओर रूस और फ्रांस के बीच मेल मिलाप का वातावरण तैयार हो रहा था। 1888 के आसपास रूस में आर्थिक संकट उपस्थित हुआ और उसे कर्ज की आवश्यकता पड़ी। फ्रांस ने रूस को मदद देकर उसकी सद्भावना प्राप्त करली। तत्पश्चात रूस ने फ्रांस में निर्मित पचास हजार राइफलें खरीदने हेतु समझौता किया। इससे दोनों एक दूसरे के निकट आ गये। 1891 में फ्रांस के जहाजी वेड़े ने रूस की यात्रा की, जहां फ्रांसीसी वेड़े का भव्य स्वागत किया गया। फेसी ने लिखा है कि जिस समय फ्रांसीसी वेड़ा रूस के किनारे लंगर डाल रहा था उसी समय रूस और फ्रांस के वीच संधि हो गयी थी, केवल उसे अब सरकारी भाषा में लिखना शेष था। रूस का जार और ज़रीना स्वयं फ्रांसीसी वेड़े के स्वागत के लिए आये। फ्रांस की नौ सेना के वैण्ड ने रूस के राष्ट्रीय गीत की धुन से जार का स्वागत किया। जार ने उसी समय फ्रांस के राष्ट्रीय गीत की धुन को वजाने की

आज्ञा दे दी, जिसका बजाना अभी तक रूस में प्रतिबन्धित था। जब जार ने फ्रांस का राष्ट्रीय गीत सुना तो भाव विभोर हो उठा तथा उसने अपनी टोपी उतार कर फ्रांस के राष्ट्रीय गीत के सम्मान में सिर झुका लिया। वास्तव में फ्रांसीसी जहाजी बेड़े की यह रूस यात्रा राजनीतिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण थी। रूस और फ्रांस के सम्बन्ध निरन्तर बढ़ने लगे। फ्रांस इस स्थिति का लाभ उठाना चाहता था। अत: फ्रांस ने रूस के समक्ष सन्धि का प्रस्ताव रखा। रूस ने भी सन्धि करने की इच्छा प्रकट की। अतः 1891 में दोनों के बीच एक समझौता हो गया, जिसके अनुसार—

(1) दोनों देशों ने अपनी सामान्य समस्याओं को पारस्परिक बातचीत द्वारा सुलझाने का वादा किया।

(2) यदि यूरोपीय शाँति के भंग होने की आशंका हुई और दोनों देशों में से किसी एक पर कोई आक्रमण हुआ तो आक्रमणकारी का मुकाबला करने के लिए वे मिलकर सम्मिलित प्रयास करेंगे।

इस समझौते की शर्तें अस्पष्ट और सीमित थी। फ्रांस रूस के साथ ऐसी संधि करना चाहता था जिसके सहारे वह जर्मनी से बदला ले सके। इस समझौते पर न तो रूस के जार के हस्ताक्षर हुए थे और न फ्रांस के राष्ट्रपति के। केवल दोनों राज्यों के विदेश मन्त्रियों ने समझौते के प्रारूप को स्वीकार किया था। रूस का जार अभी भी जर्मनी से अच्छे सम्बन्ध बनाये रखना चाहता था। किन्तु फ्रांस सन्धि के लिये निरन्तर प्रयत्न करता रहा। 1891 के अन्त में रूस की आर्थिक स्थिति पुनः बिगड़ गयी, अतः उसे फ्रांस से पुनः ऋण लेना पड़ा। अक्टूबर 1893 में रूस के जहाजी बेड़े ने तूलों की सद्भावना यात्रा की जहां रूसी नौ सेना के अधिकारियों का भव्य स्वागत किया गया। अन्त में मैत्रीपूर्ण वातावरण में 4 जनवरी 1894 में दोनों राज्यों के बीच सन्धि हो गई, जिसके अनुसार—

(1) यदि फ्रांस पर जर्मनी अथवा उसकी सहायता से इटली आक्रमण करे तो रूस अपनी सम्पूर्ण शक्ति से जर्मनी पर आक्रमण करेगा। इसी प्रकार यदि रूस पर जर्मनी अथवा उसकी सहायता से आस्ट्रिया आक्रमण करे तो फ्रांस अपनी सम्पूर्ण शक्ति जर्मनी के विरुद्ध करेगा।

(2) यदि त्रिगुट अथवा उसके किसी सदस्य राज्य ने अपनी सेनाएं एकत्रित करना आरम्भ किया तो रूस और फ्रांस बिना किसी आरम्भिक वार्ता के तुरन्त अपनी सेनाओं को सज्जित होने की आज्ञा दे देंगे।

(3) त्रिगुट की सैनिक तैयारियों के विषय में जो भी सूचना प्राप्त होगी, वे एक दूसरे के पास भेजेंगे।

(4) इस सन्धि की अवधि उतनी ही होगी, जितनी त्रिगुट की।

(5) सन्धि की सभी शर्तों को गुप्त रखा जायेगा।

फ्रांस और रूस की द्वैध मैत्री केवल फ्रांस और रूस के लिए नहीं अपितु सम्पूर्ण यूरोप के लिए एक महत्वपूर्ण घटना थी। इससे फ्रांस का एकाकीपन समाप्त हो गया। प्रोफेसर गूच ने लिखा है, "यूरोपीय राजनीति की दृष्टि से यह मैत्री इस बात की सूचक थी कि बिस्मार्क का युग समाप्त हो रहा था। यूरोप में विरोधी गुटों के निर्माण का भय, जिससे बिस्मार्क अपने कार्यकाल के अन्तिम वर्षों में चिन्तित था, अब साकार हो रहा था। इसके बाद यूरोप दो सशस्त्र शिविरों में बंट गया और उस मार्ग की ओर चल पड़ा, जो उसे 1914 के भयंकर विनाश की ओर ले जा रहा था।" इसमें कोई संदेह नहीं कि त्रिगुट इस नये द्विगुट से अधिक शक्तिशाली था और जब तक त्रिगुट को ब्रिटेन की सहानुभूति प्राप्त थी तब तक उसकी स्थिति काफी मजबूत थी। किन्तु यदि ब्रिटेन की सहानुभूति रूस और फ्रांस को प्राप्त हो जाये तो यूरोप का शक्ति संतुलन रूस और फ्रांस के पक्ष में होगा। ब्रिटेन के राजनीतिज्ञों को अब भय हुआ कि रूस का सहयोग प्राप्त कर अब फ्रांस उसे मिस्र में परेशान करेगा। अतः इसी समय से ब्रिटेन में परम्परा से चली आ रही शानदार पृथकता की नीति के परित्याग करने की बात चलने लगी। इस संधि की घोषणा से जर्मनी में कोई विशेष घबराहट नहीं हुई, क्योंकि कैसर जनता था कि इस नये द्विगुट की अपेक्षा त्रिगुट काफी मजबूत है। किन्तु भीतर ही भीतर कैसर इस सन्धि से काफी चिन्तित था, क्योंकि वह जानता था कि अब फ्रांस में प्रतिशोध की भावना तीव्र होगी जिससे जर्मनी की सुरक्षा खतरे में पड़ जायेगी। इधर फ्रांस में लोगों के खुशी का ठिकाना नहीं था और उधर बूढ़ा बिस्मार्क विलियम कैसर को कोस रहा था।

फ्रांस और रूस की मैत्री के आधार पर दोनों का सहयोग बढ़ता गया। 1896 में रूस का जार निकोलस द्वितीय और जरीना ने फ्रांस की यात्रा की, जहां उनका भव्य स्वागत किया गया। इसी प्रकार फ्रांस के राष्ट्रपति ने रूस की यात्रा की।

फ्रांस और इटली—उत्तरी अफ्रीका में ट्यूनिस नामक महत्वपूर्ण प्रदेश पर फ्रांस और इटली दोनों अधिकार करना चाहते थे। कूटनीतिज्ञ बिस्मार्क चाहता था कि फ्रांस का ध्यान एल्सेस और लारेन के क्षेत्रों से हटाने के लिए उसकी साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षा को प्रोत्साहित किया जाय। अतः उसने फ्रांस को ट्यूनिस पर अधिकार करने हेतु प्रोत्साहित किया। फलतः 1881 में फ्रांस ने ट्यूनिस पर अधिकार कर लिया। इससे इटली इतना क्रुद्ध हुआ कि वह अगले ही वर्ष (1882) में जर्मनी के त्रिगुट में सम्मिलित हो गया। किन्तु त्रिगुट में सम्मिलित होने पर भी इटली की साम्राज्यवादी आकांक्षा पूरी नहीं हुई। अतः 1896 में इटली ने फ्रांस के साथ सहयोग करने की नीति अपनाई तथा रूस ने ट्यूनिस पर फ्रांस का संरक्षण स्वीकार कर लिया। 1900 के अन्त में फ्रांस और इटली के मध्य एक गुप्त समझौता हुआ, जिसके अनुसार इटली ने मोरक्को में फ्रांस के प्रभाव को स्वीकार

कर लिया तथा फ्रांस ने इटली को ट्रीपोली में प्रभाव स्थापित करने की स्वीकृति दे दी। इसके बाद दोनों एक दूसरे के निकट आने लगे। फ्रांस का विदेश मन्त्री दलकासे (Dalcasse) इटली से तटस्थता के सम्बन्ध में लिखित आश्वासन प्राप्त करना चाहता था। अतः नवम्बर 1902 में फ्रांस के विदेश मंत्री एवं इटली के राजदूत के पत्र व्यवहारों द्वारा यह निश्चित हो गया कि "दोनों राज्यों में से किसी पर प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष आक्रमण होने पर दूसरा राज्य पूर्ण रूप से तटस्थ रहेगा। यद्यपि यह अनुबन्ध गुप्त रखा गया था, किन्तु जर्मनी और आस्टिया को इटली की मित्रता पर विश्वास नहीं रहा। 1904 में जब फ्रांस के राष्ट्रपति ने इटली की राजकीय यात्रा की तो सभी राज्यों को फ्रांस और इटली की मैत्री का आभास मिल गया। तदुपरान्त अल्जीसिराज सम्मेलन में इटली ने प्रत्यक्ष रूप से फ्रांस का समर्थन किया। फ्रांस का समर्थन प्राप्त कर इटली ने 1911–12 में ट्रिपोली पर अधिकार कर लिया।

फ्रांस और इंगलैण्ड की मैत्री—आरम्भ में फ्रांस और इंगलैण्ड के सम्बन्ध सामान्य रहे। 1875 में जर्मनी से युद्ध की सम्भावना के समय भी इंगलैण्ड ने फ्रांस के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित की। किन्तु विस्मार्क फ्रांस को उपनिवेश स्थापना के लिए बराबर प्रोत्साहित कर रहा था ताकि फ्रांस एल्सेस और लारेन की क्षति को भूल जाय। इधर फ्रांस भी औपनिवेशिक विस्तार की नीति अपना रहा था। अतः औपनिवेशिक विस्तार की होड़ में फ्रांस का इंगलैण्ड से संघर्ष होना स्वाभाविक ही था। मिस्र के शासक इस्माइल पासा की फिजूल खर्ची के कारण उस पर इंगलैण्ड तथा फ्रांस का भारी ऋण हो गया। 1875 में उसने स्वेज नहर के अपने हिस्से अंग्रेजों को बेच दिये, जिससे इंगलैण्ड का प्रभाव बढ़ गया। मिस्र की आर्थिक स्थिति दिनों दिन खराब होती जा रही थी, अतः 1879 में इस्माइल को गद्दी से उतार कर मिस्र पर द्वैध नियन्त्रण स्थापित किया गया, जिससे मिस्र पर फ्रांस और इंगलैण्ड दोनों का नियन्त्रण स्थापित हो गया। इस पर मिस्र के राष्ट्रपति नेताओं ने इन दोनों देशों के विरुद्ध आन्दोलन छेड़ दिया और 1881 में वहां विद्रोह हो गया। इस विद्रोह का दमन करने के लिए इंगलैण्ड ने फ्रांस से सहयोग मांगा, किन्तु फ्रांस ने सहयोग देने से इन्कार कर दिया। इस पर अकेले इंगलैण्ड ने कार्यवाही की तथा शान्ति स्थापित होने पर मिस्र पर इंगलैण्ड का पूर्ण प्रभाव स्थापित हो गया, किन्तु इससे फ्रांस अप्रसन्न हो गया। 1882 से मिस्र के कारण फ्रांस और इंगलैण्ड के सम्बन्ध विगड़ने लगे।

उधर सूडान के प्रदेश के सम्बन्ध में भी फ्रांस और इंगलैण्ड के बीच तनाव बढ़ रहा था। फ्रांस उत्तरी अफ्रीका में पूर्व से पश्चिम तक अपना साम्राज्य स्थापित करना चाहता था और इंगलैण्ड अपने उत्तरी तथा दक्षिणी उपनिवेशों को जोड़ने के लिए मध्य के प्रदेश सूडान पर अधिकार करना चाहता था। फ्रांस, सूडान तथा लाल सागर को जोड़ने के लिए नील नदी की उत्तरी घाटी पर भी अधिकार करना चाहता

था । 1897 में फ्रांस का मार्चण्ड नामक एक यात्री सूडान पहुंचा और वहां फसोदा नामक स्थान पर फ्रांस का झण्डा फहरा दिया । इंगलैंड ने इसका विरोध किया क्योंकि इंगलैंड इस प्रदेश को अपने अधिकार में समझता था । इस समय अंग्रेज सेनापति लार्ड किचनर सूडान में उत्पन्न विद्रोह को दबाने में व्यस्त था । जब किचनर फसोदा नामक स्थान पर पहुंचा तो उसने मार्चण्ड से फ्रांसीसी झण्डे को उतार देने का आग्रह किया । फ्रांस के लिए यह राष्ट्रीय अपमान था । इंगलैंड का लार्ड सेलिसबरी इस प्रश्न पर फ्रांस के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करने के पक्ष में था । अतः दोनों के बीच युद्ध छिड़ने की स्थिति पैदा हो गयी । किन्तु फ्रांस के विदेश मन्त्री दलकासे ने फसोदा से फ्रांसीसी सेना को हटाकर स्थिति को संभाल लिया । दलकासे के प्रयत्नों से मार्च 1899 में दोनों देशों के बीच एक समझौता हो गया । इस समझौते के अनुसार फ्रांस ने फसोदा पर इंगलैंड का प्रभाव स्वीकार कर लिया तथा इंगलैंड ने फ्रांस को पश्चिमी अफ्रीका में सहारा की ओर विस्तार करने का अधिकार दे दिया । इससे अब यह स्पष्ट हो गया कि फ्रांस और इंगलैण्ड के बीच अन्य क्षेत्रों के विषय में भी मतभेद हैं, उन्हें भी समझौते द्वारा सुलझाया जा सकता है ।

इस घटना के बाद दोनों देशों के बीच पारस्परिक सद्भावना का वातावरण तैयार हो गया । मई 1903 में ब्रिटिश सम्राट एडवर्ड सप्तम् ने फ्रांस की राजकीय यात्रा की और वहां जो भाषण दिया उससे फ्रांस की जनता बड़ी प्रभावित हुई । जुलाई 1903 में फ्रांस के राष्ट्रपति लूबे ने इंगलैण्ड की यात्रा की । राष्ट्रपति लूबे के साथ दलकासे भी इंगलैंड पहुंचा और उसने ब्रिटिश विदेश मन्त्री लार्ड लैंसडाउन से दोनों देशों के सहयोग के विषय में बातचीत की । दलकासे मोरक्को में फ्रांस का प्रभाव स्थापित करने हेतु इंगलैण्ड का सहयोग प्राप्त करना आवश्यक समझता था । मोरक्को में इटली और स्पेन भी अपने प्रभाव स्थापित करने के इच्छुक थे । 1900 में फ्रांस ने इटली से समझौता कर लिया जिसके अनुसार इटली को ट्रिपोली में प्रभाव स्थापित करने की स्वतन्त्रता दे दी और उसके बदले में इटली ने मोरक्को में फ्रांस के प्रभाव को स्वीकार कर लिया । 1902 में स्पेन के पास भी समझौते हेतु प्रस्ताव भेजा । स्पेन में तत्कालीन सगास्टा मंत्रिमण्डल ने तो समझौते का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया, किन्तु कुछ ही दिनों बाद सगास्टा मंत्रिमण्डल का पतन हो गया । इसके बाद सिल्वेला के मन्त्रिमण्डल ने ब्रिटेन के विरोध के डर के कारण समझौता करने से इन्कार कर दिया । अतः अब फ्रांस के लिए ब्रिटेन का सहयोग प्राप्त करना आवश्यक हो गया । दलकासे इस बात से भी परिचित था कि मन्चूरिया के प्रश्न पर रूस और जापान का संघर्ष होना अनिवार्य है । इस संघर्ष के समय रूस, फ्रांस से सहायता की मांग करेगा, जिससे फ्रांस की स्थिति दुविधाजनक हो जायेगी । यदि फ्रांस, रूस की सहायता करता है तो ब्रिटेन से संघर्ष अनिवार्य हो जायेगा, क्योंकि 1902 में इंगलैंड और जापान की संधि हो चुकी थी । यदि फ्रांस, रूस की सहायता

नहीं करता है तो रूस से सम्बन्ध बिगड़ जायेंगे। ऐसी स्थिति में इंगलैंड से मैत्री करके ही इस कठिनाई से मुक्ति प्राप्त की जा सकती थी। दूसरी ओर इंगलैंड के राजनीतिक भी जर्मनी की बढ़ती हुई नौ सैनिक शक्ति को देखकर चिन्तित थे, यद्यपि इंगलैंड ने 1902 में जापान से संधि करली थी, किन्तु यूरोपीय राजनीति में जापान की मित्रता का कोई विशेष महत्व नहीं था। यूरोपीय राष्ट्रों में इस समय ब्रिटेन का कोई संभावित मित्र हो सकता था तो वह फ्रांस था। इस प्रकार इस समय दोनों देश एक दूसरे से समझौते के लिए उत्सुक थे। अन्त में 8 अप्रेल 1904 को दोनों देशों के बीच एक समझौता हो गया, जो इतिहास में आंग्ल-फ्रांसीसी समझौता (Anglo-French-Entente) के नाम से प्रसिद्ध है। इस समझौते के अनुसार—

(1) इंगलैंड ने फ्रांस को वचन दिया कि वह मोरक्को में फ्रांस द्वारा की जाने वाली कार्यवाही का विरोध नहीं करेगा।

(2) फ्रांस ने मिस्र पर ब्रिटेन के आधिपत्य को स्वीकार कर लिया।

(3) मेडागास्कर पर फ्रांस का प्रभाव स्वीकार कर लिया गया।

(4) फ्रांस ने न्यूफाउण्डलैंड (Newfoundland) में, यूट्रेक्ट की सन्धि (1713 ई.) द्वारा प्राप्त, मछली पकड़ने के अधिकारों का परित्याग कर दिया।

(5) इसके बदले में फ्रांस को पश्चिमी अफ्रीका की ओर विस्तार करने का अधिकार मिल गया।

यूरोप के राजनयिक इतिहास में फ्रांस और इंगलैंड की मैत्री, अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना थी। दोनों देशों में बड़े उत्साह से इस समझौते का स्वागत हुआ। इससे फ्रांस का आत्मविश्वास बढ़ गया। अब पूर्व में रूस उसका मित्र था और पश्चिम में ब्रिटेन। अब दल्कासे एल्सेस और लारेन पुनः प्राप्त करने के स्वप्न देखने लगा। इस सन्धि के पश्चात मोरक्को के सम्बन्ध में उसने कहा था, "मोरक्को पके हुए फल की तरह फ्रांस के बगीचे में स्वयं गिर जायेगा।" इस प्रकार ब्रिटेन को भी इस समझौते से लाभ हुआ, क्योंकि अब फ्रांस का भय समाप्त हो गया और इस कारण अब इंगलैण्ड, जर्मनी के प्रति उग्र नीति का अवलम्बन कर सकता था।

आंग्ल-फ्रांसीसी समझौते से जर्मन सम्राट विलियम द्वितीय अत्यन्त ही चिंतित हुआ। उसने इस समझौते को फ्रांसीसी कूटनीति की बड़ी सफलता कहा। फ्रांस ने रूस की मित्रता को छोड़े बिना ही इंगलैंड की मित्रता प्राप्त करली और मिस्र में उसने केवल अपने सैद्धान्तिक दावे को त्याग कर मोरक्को में प्रभावशाली स्थिति प्राप्त करली थी। अब जर्मनी को अपने त्रिगुट में भी फूट पड़ने की संभावना प्रतीत होने लगी, क्योंकि यह समझौता अब इटली की नीति को भी प्रभावित करेगा और अब इटली जर्मनी से दूर हटने लगेगा। किन्तु जर्मन चान्सलर वूलो को विश्वास था कि

रूस-जापान संघर्ष के पश्चात् दोनों समझौते की वार्ता होते ही यह समझौता समाप्त हो जायेगा, क्योंकि फ्रांस, रूस का और इंगलैण्ड जापान का पक्ष लेगा। किन्तु यह उसका भ्रम था जो शीघ्र ही चूर-चूर हो गया। रूस-जापानी समझौते की वार्ता भी आरम्भ हुई और आंग्ल-फ्रांसीसी समझौता ज्यों का त्यों कायम रहा। ऐसी स्थिति में जर्मनी की प्रभावशाली स्थिति सदा के लिए समाप्त हो गई। इस स्थिति के लिये केवल एक ही व्यक्ति उत्तरदायी था और वह था जर्मनी का शासक विलियम द्वितीय।

मोरक्को संकट—आंग्ल-फ्रांसीसी समझौते द्वारा इंगलैण्ड ने तो मोरक्को में फ्रांस के प्रभाव को स्वीकार कर लिया, किन्तु जर्मनी ने चुनौती देते हुए कहा कि मोरक्को में जर्मनी के हित भी निहित हैं, अतः फ्रांस और इंगलैण्ड को इस सम्बन्ध में निर्णय करने का कोई अधिकार नहीं है। 1905 में जर्मन सम्राट विलियम द्वितीय ने मोरक्को के नगर टैन्जियर की यात्रा की और वहां उसने घोषणा की कि, "मोरक्को का सुल्तान स्वतन्त्र है तथा सुल्तान के प्रभुत्व के अधीन सभी राज्यों को समान अधिकार प्राप्त हैं। मेरी यात्रा का उद्देश्य मोरक्को में जर्मनी के हितों की रक्षा करना है।" जर्मनी के इस रुख से अन्तर्राष्ट्रीय संकट उत्पन्न हो गया। जर्मनी की मांग पर फ्रांस के विदेश मन्त्री दलकासे को त्याग पत्र देना पड़ा तथा फ्रांस को मोरक्को की समस्या पर विचार करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन के लिए सहमत होना पड़ा। 16 जनवरी 1906 को अल्जीसिरास में यह सम्मेलन आरम्भ हुआ। सम्मेलन में जर्मनी को यह स्पष्ट मालूम हो गया कि आस्ट्रिया के अतिरिक्त उसका कोई समर्थक नहीं है, यहां तक कि अमेरिका के प्रतिनिधियों ने भी फ्रांस की मांगों का समर्थन किया और जर्मनी को उन्हें स्वीकार करने की सलाह दी। 7 अप्रेल 1906 को अल्जीसिरास के समझौते पर हस्ताक्षर हुए। इस समझौते के अनुसार फ्रांस और स्पेन को मोरक्को की नीति संचालन का अधिकार दिया गया तथा मोरक्को में फ्रांस के विशेष हितों को मान्यता दे दी गई। यह फ्रांस की बहुत बड़ी कूटनीतिक सफलता थी। प्रोफेसर ब्रेडनबर्ग ने लिखा है, 'मोरक्को संकट तथा अल्जीसिराज के सम्मेलन ने त्रिगुट को निर्बल बना दिया, किन्तु उसने द्विगुट (फ्रांस और रूस की संधि, 1894) को किसी प्रकार की हानि पहुंचाये बिना फ्रांस और इंगलैण्ड की मैत्री को सुदृढ़ बना दिया।" फ्रांस को इस बात से सन्तोष मिला कि अल्जीसिरास सम्मेलन एक शक्ति की तानाशाही के विरुद्ध संयुक्त यूरोप के विरोध का सूचक था, जबकि जर्मनी को इस बात से संतुष्टि हुई कि उसने मोरक्को की समस्या को अन्तर्राष्ट्रीय रूप दिया।

अल्जीसिरास सम्मेलन में रूस और इंगलैण्ड दोनों ने फ्रांस का समर्थन किया था। अतः सम्मेलन के बाद रूस और इंगलैण्ड में समझौता करना, फ्रांस की विदेश नीति का मुख्य लक्ष्य हो गया। अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों से विवश होकर रूस और इंगलैण्ड एक दूसरे के समीप आ रहे थे और फ्रांस ने उन्हें सहारा दे दिया

फलतः अगस्त 1907 में रूस और इंगलैंड का समझौता हो गया, जिससे इंगलैंड, फ्रांस और रूस के 'ट्रिपल आंतान्त' का निर्माण हुआ। अब जर्मनी, आस्ट्रिया और इटली के त्रिगुट के विरुद्ध एक शक्तिशाली संगठन स्थापित हो गया। यद्यपि दोनों गुटों के उद्देश्य रक्षात्मक थे, किन्तु दोनों ही युद्ध के लिए तैयार थे तथा शक्ति परीक्षण के लिए वे किसी भी समय युद्ध की घोषणा कर सकते थे।

अल्जीसिरास सम्मेलन के बाद भी मोरक्को की समस्या का समाधान नहीं हुआ। 1911 में फ्रांस ने मोरक्को में अपनी स्थिति सुदृढ़ बनाने हेतु 'शान्ति और व्यवस्था' के नाम पर मोरक्को की राजधानी ने अपनी सेना भेज दी। इस पर जर्मनी ने भी मोरक्को के बन्दरगाह अगादीर में अपना पैंथर नामक युद्धपोत भेज दिया। इससे फ्रांस और जर्मनी के बीच युद्ध की आशंका उत्पन्न हो गई। किन्तु इंगलैण्ड, फ्रांस के साथ था। इंगलैण्ड के वित्त मंत्री लॉयड जार्ज द्वारा मैन्शन हाउस से की गई घोषणा से विवश होकर जर्मनी को फ्रांस से समझौता करना पड़ा। इस समझौते द्वारा जर्मनी ने मोरक्को में फ्रांस की प्रभुत्ता स्वीकार करली तथा फ्रांस ने जर्मनी को फ्रेंच कांगो का एक भाग दे दिया। नवम्बर 1911 के अन्त में जर्मनी ने पैंथर को अगादीर से हटा लिया और इस प्रकार मोरक्को का संकट समाप्त हो गया।

इस प्रकार अब यूरोपीय रंगमंच पर दो विरोधी गुट स्पष्ट दिखाई दे रहे थे। एक तरफ़ जर्मनी और आस्ट्रिया थे और दूसरी तरफ इंगलैण्ड, फ्रांस और रूस थे। दोनों गुट आमने सामने खड़े थे। ऐसी स्थिति में दोनों गुटों में युद्ध होना स्वाभाविक था।

अध्याय 13

इंगलैण्ड की विदेश नीति

(FOREIGN POLICY OF ENGLAND)

ब्रिटिश विदेश नीति का मूल आधार शक्ति सन्तुलन का सिद्धान्त रहा है। सामान्य स्थिति में ब्रिटेन यूरोपीय राजनीति में हस्तक्षेप नहीं करता था तथा यूरोपीय समस्याओं के प्रति तटस्थता की नीति का अवलम्बन कर रहा था। वह अपने व्यापार को बढ़ाने के लिए औपनिवेशिक साम्राज्य के विस्तार करने में रुचि ले रहा था। यदि वह यूरोपीय समस्याओं के प्रति रुचि लेने लगता तो उसके व्यापार को धक्का लग सकता था। इसलिए ब्रिटेन के राजनीतिज्ञ कहा करते थे, "हमारे स्थाई मित्र या शत्रु नहीं हैं, हमारे तो केवल स्थाई स्वार्थ हैं जिसके लिए मित्र या शत्रु भी बदले जा सकते हैं।" इसी प्रकार ब्रिटेन के लोग कहा करते थे, "ब्रिटेन तो समुद्र तरंगों पर राज्य करता है और उसका सूर्य कभी अस्त नहीं होता।" किन्तु जब कभी यूरोप में शक्ति संतुलन के बिगड़ने की संभावना प्रतीत होती, तब ब्रिटेन अपनी संपूर्ण शक्ति के साथ यूरोपीय राजनीति में कूद पड़ता था। इस नीति को लार्ड गॉशेन ने सर्वप्रथम 'शानदार पृथक्कता' (Splendid Isolation) की नीति की संज्ञा दी थी। यूरोपीय राजनीति से अलग रह कर ब्रिटेन अपने को ऐसी स्थिति में रखता था कि यूरोपीय शक्ति सन्तुलन यथावत् रहे।

1870 में यूरोप की व्यवस्था में आश्चर्यजनक उथल-पुथल मच गयी और जर्मनी जैसे शक्तिशाली राष्ट्र का प्रादुर्भाव हुआ। किन्तु ब्रिटेन पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा और वह शानदार पृथक्कता की नीति का अनुसरण करता रहा। ब्रिटेन को जर्मनी से कोई भय नहीं था, बल्कि ब्रिटेन में जर्मनी के लिए सहानुभूति थी। 19 वीं शताब्दी के आरम्भ से ही दोनों देशों के सम्बन्ध सौहार्द्र पूर्ण थे। बिस्मार्क के समय में भी दोनों देशों के सम्बन्ध अच्छे रहे, क्योंकि बिस्मार्क जानता था कि ब्रिटेन के विश्वव्यापी साम्राज्य को तथा उसके सामुद्रिक प्रभुत्व को चुनौती देने पर ही ब्रिटेन से सम्बन्ध बिगड़ सकते हैं। इसलिए वह ऐसा कोई काम करना नहीं चाहता था जिससे ब्रिटेन जर्मनी का विरोधी हो जाय। जर्मनी में असाधारण गति से औद्योगिक प्रगति के कारण बिस्मार्क ने प्रशान्त महासागर तथा अफ्रीका में कुछ उपनिवेश स्थापित किये, जिससे ब्रिटेन सशंकित हो गया था। किन्तु बिस्मार्क

ने अपनी कूटनीति से ब्रिटेन की शंका को दूर ही नहीं किया, वरन् जर्मनी के लिये ब्रिटेन की सहानुभूति भी प्राप्त कर ली।

शानदार पृथक्कता की नीति का परित्याग—इस शानदार पृथक्कता की नीति से ब्रिटेन दीर्घकाल तक अपने स्थायी स्वार्थों की पूर्ति नहीं कर सका। 19वीं शताब्दी के अन्तिम दशक में यूरोप की कूटनीतिक स्थिति कुछ ऐसी हो गयी थी कि ब्रिटेन के लोग यह सोचने लगे कि पृथक्कता की नीति भले ही 'शानदार' है, किन्तु सुरक्षा प्रदान करने वाली नहीं है। जर्मनी के त्रिगुट से तो ब्रिटेन को भय नहीं हुआ; किन्तु 1894 में रूस और फ्रांस के द्विगुट की स्थापना से उसकी विदेश नीति में परिवर्तन होना अवश्यंभावी हो गया, क्योंकि रूस और फ्रांस सदियों से ब्रिटेन के विरोधी थे। अपने विरोधियों को संगठित होते देखकर ब्रिटेन का भयभीत होना स्वाभाविक था। उस समय ब्रिटेन के समाचार-पत्र इस पृथक्कता की नीति की कड़ी आलोचना कर रहे थे तथा इस नीति को त्यागने के लिये प्रचार कर रहे थे। प्रधान मन्त्री सेलिसबरी इस नीति का प्रबल समर्थक था, किन्तु उपनिवेश मन्त्री चैम्बरलेन इस नीति को त्याग कर किसी गुट में सम्मिलित होने का समर्थन कर रहा था। अन्त में चैम्बरलेन की विजय हुई तथा ब्रिटिश सरकार ने पृथक्कता की नीति का परित्याग करने का निश्चय कर लिया। इस नीति का परित्याग करने के निम्नलिखित कारण थे।

(1) यूरोप का दो गुटों में विभाजन—19वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में यूरोप की कूटनीतिक स्थिति अत्यन्त ही नाजुक दौर से गुजर रही थी जर्मनी ने एक शक्तिशाली त्रिगुट का निर्माण कर लिया था तो उधर फ्रांस ने रूस के साथ मिलकर द्वैध संगठन की स्थापना करली थी। इस प्रकार यूरोप प्रत्यक्ष रूप से दो गुटों में विभाजित हो गया था। द्वैध संगठन से ब्रिटेन अत्यन्त ही भयभीत था, क्योंकि रूस और फ्रांस से ब्रिटेन की परम्परागत शत्रुता थी। वह गुप्त सन्धियों का युग था, अतः कौन कह सकता था कि द्वैध संगठन में ब्रिटेन के विरुद्ध कोई धारा नहीं है। इधर यूरोप के राज्य अपनी स्थिति को सुरक्षित करने के लिये गुटबन्दियों का जाल बिछा रहे थे। क्या इन घटनाओं को चुपचाप देखते रहने से ब्रिटेन के स्वार्थ पूरे हो सकते थे? क्या इन गुप्त सन्धियों के युग में ब्रिटेन अकेला अपने साम्राज्य की रक्षा कर सकता था? कदापि नहीं। इसके अतिरिक्त जर्मनी की विदेश नीति का संचालन कैसर विलियम द्वितीय के हाथों में आने के बाद वह ब्रिटेन के विरुद्ध यूरोपीय राज्यों का एक विशाल गुट स्थापित करने की योजना बना रहा था। अतः गुटबन्दियों की इस राजनीति में अपना उपयुक्त स्थान खोजने के लिये ब्रिटेन को अपनी पृथक्कता की नीति का परित्याग करने के लिये बाध्य होना पड़ा।

(2) विलियम द्वितीय की नीति—बिस्मार्क जर्मनी को तृप्त राज्य मानता था, जिसका उद्देश्य केवल आत्म-रक्षा था। बिस्मार्क यह भी जानता था कि ब्रिटेन

के सामुद्रिक आधिपत्य को आघात पहुंचाने पर ही ब्रिटेन और जर्मनी के सम्बन्ध खराब हो सकते हैं। अतः बिस्मार्क ने अपने काल में कभी ऐसा कार्य नहीं किया जिससे जर्मनी और ब्रिटेन के सम्बन्ध खराब होते हों। किन्तु बिस्मार्क के पतन के बाद जर्मनी की विदेश नीति का संचालन सम्राट विलियम द्वितीय के हाथों में आ गया। विलियम द्वितीय नौजवान था और अनुभवहीन भी था। वह कहा करता था कि, "जर्मनी एक विश्व शक्ति है, उसे अधिक से अधिक उपनिवेशों की स्थापना करनी चाहिये। उसकी सामुद्रिक शक्ति इतनी होनी चाहिये जितनी कि उसकी स्थल शक्ति है।" विलियम द्वितीय की यह घोषणाएं प्रत्यक्ष रूप से ब्रिटेन विरोधी थीं, क्योंकि समुद्र पर ब्रिटेन का अभी तक एकाधिपत्य था। नौ सेना में श्रेष्ठता ब्रिटेन के लिये जीवन-मरण का प्रश्न था। यह ब्रिटेन के लिये एक चुनौती थी, जिसका मुकाबला पृथक्कता की नीति का अवलम्बन कर नहीं किया जा सकता था।

(3) **रूस और फ्रांस से शत्रुता**—रूस तुर्की साम्राज्य का अंत करना चाहता था, जबकि ब्रिटेन भारतीय साम्राज्य की सुरक्षा के लिये तुर्की साम्राज्य को बनाये रखना चाहता था। ब्रिटेन के विरोध के कारण रूस ने अपनी साम्राज्यवादी नीति पूर्वी एशिया, मध्य एशिया और पश्चिमी एशिया की ओर केन्द्रित की। मंचूरिया, मंगोलिया, तिब्बत, फारस और अफगानिस्तान भी रूसी षड़यन्त्र के शिकार हुए। रूस के बढ़ते हुए प्रभाव से ब्रिटेन के उपनिवेशों की स्थिति असुरक्षित दिखाई देने लगी। अतः इन उपनिवेशों की सुरक्षा के लिये ब्रिटेन को यूरोप में मित्रों की आवश्यकता अनुभव हुई। इधर सूडान में स्थित फसौदा को लेकर, मिस्र और स्वेज नहर की समस्या के कारण ऐसा प्रतीत होता था कि फ्रांस और ब्रिटेन के बीच कभी भी युद्ध छिड़ सकता है। ऐसी संकटपूर्ण स्थिति में ब्रिटेन का साथ देने वाला कोई नहीं था। अतः ब्रिटेन को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अकेलेपन का कटु अनुभव होने लगा।

(4) **तुर्की साम्राज्य पर जर्मनी का प्रभाव**—ब्रिटेन अपने भारतीय साम्राज्य की सुरक्षा के लिये तुर्की साम्राज्य को कायम रखना चाहता था। किन्तु बर्लिन कांग्रेस में उसने तुर्की साम्राज्य के एक द्वीप साइप्रस पर अधिकार कर लिया, जिससे तुर्की के सुल्तान को बड़ा आघात पहुंचा, क्योंकि ब्रिटेन, जो अभी तक उसका रक्षक था, वह भी तुर्की साम्राज्य की लूट में शामिल हो गया। इसके विपरीत जर्मनी ने तुर्की के किसी भू-भाग को हथियाने का प्रयत्न नहीं किया। इस परिस्थिति में तुर्की और जर्मनी की मित्रता की नींव पड़ी। बर्लिन सन्धि के बाद ब्रिटेन ने अनुभव किया कि तुर्की के प्रति उसकी नीति दोषपूर्ण थी, क्योंकि तुर्की का विनाश अवश्यंभावी है। ब्रिटेन अब तुर्की के प्रति उदासीन रहने लगा। उधर कैसर ने इसका लाभ उठाया। अक्टूबर 1898 में उसने तुर्की की राजधानी की यात्रा की और सुल्तान को आश्वासन दिया कि संकट की स्थिति में जर्मनी के समर्थन का भरोसा कर सकता है। इसके बाद तुर्की पर जर्मनी का प्रभाव बढ़ने लगा। तुर्की को जर्मनी में

कई तरह की सुविधाएं प्राप्त हुई, जिसमें रेल लाइनें बनाने की सुविधा अत्यन्त महत्वपूर्ण थी। इन रेल लाइनों में बर्लिन-बगदाद रेल लाइन की योजना अत्यन्त महत्वपूर्ण थी, जो जर्मन पूंजी से बनने वाली थी। जर्मनी यह रेल लाइन बनाकर भारतीय साम्राज्य पर संकट उत्पन्न कर रहा था। यह स्थिति ऐसे समय में उत्पन्न हुई जबकि यूरोप दो गुटों में विभाजित हो चुका था तथा ब्रिटेन पृथक्कता की नीति का अवलम्बन कर रहा था। जिस प्रकार प्रत्येक क्षेत्र में जर्मनी से ब्रिटेन को चुनौती मिल रही थी उसको देखते हुए पृथक्कता की नीति खतरनाक प्रतीत हो रही थी। अतः ब्रिटेन को अपनी इस नीति का परित्याग करने के लिये बाध्य होना पड़ा।

(4) बोअर युद्ध के परिणाम—दक्षिणी अफ्रीका में ट्रांसवाल गणराज्य में बोअर जाति रहती थी, जो अत्यन्त ही स्वाभिमानी थी। ब्रिटेन इसे अपने दक्षिणी अफ्रीका साम्राज्य में मिलाना चाहता था। अंग्रेजों ने बोअर जाति पर आक्रमण कर दिया, किन्तु अंग्रेजों को पराजित होना पड़ा। यूरोप के सभी राज्यों की सहानुभूति बोअर जाति के साथ थी। सम्राट विलियम द्वितीय ने तो बोअर गण-राज्य के राष्ट्रपति क्रूगर को उसकी विजय पर बधाई का तार भेज दिया तथा जर्मनी के लोगों ने ब्रिटिश विरोधी मनोवृत्ति प्रदर्शित की। जब सारा यूरोप ब्रिटेन के विरुद्ध हो गया तो एक बार पुनः ब्रिटेन को अपने एकाकीपन का अनुभव हुआ। ऐसी नाजुक स्थिति में यदि कोई शक्तिशाली राज्य उसका मित्र होता तो ब्रिटेन इस संकटपूर्ण स्थिति का सामना कर सकता था। इसी धारणा ने उसे पृथक्कता की नीति त्यागने को बाध्य कर दिया।

(6) जर्मनी का नौ-सेना विधेयक—बिस्मार्क तो जानता था कि ब्रिटेन की सामुद्रिक शक्ति को चुनौती देना, उससे शत्रुता मोल लेना है। किन्तु अनुभवहीन कैसर उपनिवेश विस्तार के साथ-साथ जर्मन नौ-सेना का विस्तार भी करना चाहता था। इसलिए उसने जर्मन संसद में 1897 में तथा 1900 में नौ सेना विधेयक प्रस्तुत किये और उन्हें स्वीकृत कराया। जर्मनी पहले से ही विश्व की महान् थल शक्ति था और अब वह नौ सेना के क्षेत्र में ब्रिटेन से आगे बढ़ने की सोचने लगा। इन नौ सेना विधेयकों से ऐसी सम्भावना बन गयी कि अब जर्मनी के पास एक बड़ा बेड़ा हो जायेगा। इससे ब्रिटेन की नौ सेना की श्रेष्ठता को खतरा उत्पन्न हो चुका था। इन नौ सेना विधेयकों ने ब्रिटेन के मर्मस्थल को छू लिया। जर्मनी का यह अतिक्रमण इस बात का संकेत था कि ब्रिटेन उसका मुकाबला अलगाव की नीति से नहीं कर सकता।

उपर्युक्त परिस्थितियों के कारण ब्रिटेन ने अपनी शानदार पृथक्कता की नीति को त्यागने का निश्चय कर लिया। किन्तु अब ब्रिटेन अपने आपको किस शक्ति के साथ संलग्न करे, यह एक विचारणीय प्रश्न था। यद्यपि ब्रिटेन और रूस की परम्परागत शत्रुता थी, फिर भी उसने सर्वप्रथम रूस के साथ अपने मतभेदों को तय

करने का निश्चय किया। 19 जनवरी, 1898 को ब्रिटेन ने रूस के समक्ष अपने मतभेदों को सुलझाने के लिये एक प्रस्ताव भेजा, किन्तु रूस ने उसे अस्वीकार कर दिया।

आंग्ल-जर्मन सम्बन्ध—रूस द्वारा प्रस्ताव ठुकरा दिये जाने से ब्रिटेन की स्थिति अत्यन्त ही नाजुक हो गयी। अब उसका झुकाव जर्मनी की ओर हुआ। यद्यपि जर्मनी की विदेश नीति से दोनों के सम्बन्ध खराब होने लगे थे, फिर भी अभी तक उनमें कोई मौलिक मतभेद नहीं था। चेम्बरलेन जर्मनी के साथ समझौता करने का पक्षपाती था। अत: 29 मार्च, 1898 को चेम्बरलेन ने लन्दन स्थित जर्मन राजदूत को भोज के लिये आमन्त्रित किया तथा उसे सूचित किया कि ब्रिटेन जर्मनी के साथ रक्षात्मक सन्धि करने का इरादा रखता है। जर्मन राजदूत ने इस प्रस्ताव की सूचना बर्लिन भेज दी। जर्मन चान्सलर बूलो ने राजदूत को आदेश दिया कि वह न तो प्रस्ताव को स्वीकार करे और न इन्कार करे तथा टालमटूल की नीति अपनाये। इधर कैसर ने रूस के जार को लिखा कि "ब्रिटेन ने जर्मनी के समक्ष संधि के अनेक प्रस्ताव रखे हैं और वह जर्मनी को बहुत कुछ देने को तैयार है, किन्तु ब्रिटिश सरकार को जवाब देने से पूर्व मैं आपसे राय ले लेना चाहता हूं, क्योंकि निश्चय ही यह संधि रूस के विरुद्ध होगी। यदि हम ब्रिटेन के प्रस्ताव को अस्वीकृत करदें तो इसके बदले में हमें आप क्या देने को तैयार हैं?" यह पत्र कैसर की चाल थी, किन्तु जार स्वयं चालाक था। उसने उत्तर दिया कि ब्रिटेन ने उसके समक्ष भी ऐसे प्रस्ताव रखे थे किन्तु रूस की सरकार को ब्रिटेन पर भरोसा नहीं है, अत: उसका प्रस्ताव अस्वीकृत कर दिया गया है। आप ब्रिटिश प्रस्ताव को स्वीकार करें या अस्वीकार इसका निर्णय आप स्वयं कर सकते हैं। इस प्रत्युत्तर से कैसर चकित रह गया। इसका अर्थ यह लगाया कि ब्रिटेन, रूस व जर्मनी के समक्ष गुप्त प्रस्ताव रख कर दोनों में संघर्ष करवाना चाहता है तथा चेम्बरलेन का प्रस्ताव कूटनीतिक चाल है। अत: ब्रिटेन के प्रथम प्रस्ताव की अकाल मृत्यु हो गयी।

इस घटना के बाद बोअर युद्ध आरम्भ हो गया तथा स्वाभिमानी बोअर जाति ने अंग्रेजों को पराजित कर दिया। बोअर जाति की विजय के उपलक्ष में कैसर ने राष्ट्रपति क्रूगर को तार भेजा कि, "मैं इस बात के लिये आपको हार्दिक बधाई देता हूं कि आपको और आपकी जनता को, अपने मित्र राष्ट्रों से सहायता की मांग किये बिना ही अपने एकाकी प्रयत्नों से उन सशस्त्र लुटेरों से अपनी स्वाधीनता की रक्षा करने में सफलता मिली है।" इस तार से जर्मनी और ब्रिटेन के सम्बन्ध प्रत्यक्ष रूप से बिगड़ने लगे। ब्रिटेन के एक समाचार-पत्र 'मार्निंग पोस्ट' ने लिखा, "राष्ट्र इस तार को कभी नहीं भूलेगा और भविष्य की नीतियों का निर्धारण करते समय वह सदा ही उसे ध्यान में रखेगा।"

नवम्बर 1899 में जर्मन चान्सलर बूलो के साथ कैसर ब्रिटेन गया, जहां चेम्बरलेन ने पुन: संधि का प्रस्ताव रखा। किन्तु जर्मनी की ओर से कोई उत्साहजनक

उत्तर नहीं मिला। कुछ दिनों बाद चेम्बरलेन ने लेस्टर नामक स्थान पर सार्वजनिक रूप से जर्मनी के साथ संधि का प्रस्ताव रखा। किन्तु इस समय बोअर युद्ध के कारण जर्मनी में ब्रिटेन की निन्दा की जा रही थी। अतः बूलो ने इस प्रस्ताव को नामन्जूर कर दिया।

सन् 1900 में कुछ परिस्थितियां ऐसी उत्पन्न हुई कि ब्रिटेन और जर्मनी के सम्बन्धों में सुधार हुआ। बोअर युद्ध समाप्त होने के लक्षण प्रतीत होने पर क्रूगर भाग कर पेरिस गया, जहां उसका भव्य स्वागत हुआ। तत्पश्चात वह बर्लिन गया जहां कैसर ने ब्रिटेन के विरुद्ध उसे सहायता देने से इन्कार कर दिया। उसका ब्रिटेन पर अच्छा प्रभाव पड़ा। इसी समय महारानी विक्टोरिया बीमार पड़ी। कैसर अपनी नानी को देखने ब्रिटेन गया। कैसर के आगमन पर चेम्बरलेन ने पुनः संधि का प्रस्ताव रखा। किन्तु कैसर ने मांग की कि त्रिगुट के राज्यों को इस संधि में सम्मिलित किया जाय। क्रूगर तार के परिणामों को देखते हुए यह कहना मुश्किल था कि ब्रिटिश संसद ऐसी संधि का अनुमोदन कर देगी। ऐसी स्थिति में आंग्ल-जर्मन संधि के वार्तालाप सदा के लिये बन्द हो गये।

आंग्ल-जापान सन्धि—आंग्ल-जर्मन वार्तालाप की असफलता विश्व इतिहास में एक युगान्तकारी घटना थी। वार्तालाप की असफलता से ब्रिटेन को चिन्ता होने लगी। अब उसके लिए अन्य मित्र को ढूंढना अनिवार्य हो गया।

इधर जापान में द्रुत गति से औद्योगिक प्रगति हो रही थी, जिससे जापान को भी उपनिवेश स्थापित करने की लालसा उत्पन्न हुई। उस समय जापान का पड़ौसी राष्ट्र चीन सबसे कमजोर राष्ट्र था तथा यूरोप के अन्य राष्ट्र भी चीन में अपने पैर पसारने का प्रयत्न कर रहे थे। जापान भी चीन की ओर ललचायी दृष्टि से देखने लगा। 1894–95 में चीन-जापान युद्ध हुआ, जिसमें जापान की विजय हुई और दोनों में शिमोनेस्की की संधि हुई। इस संधि के द्वारा जापान को फार्मोसा, मंचूरिया, मंगोलिया, कोरिया आदि प्राप्त हुए। जापान के इस बढ़ते हुए प्रभाव से रूस अत्यन्त ही चिन्तित हुआ, क्योंकि सुदूर पूर्व में रूस भी अपना प्रभाव स्थापित करना चाहता था। अतः रूस ने शिमोनेस्की की संधि का विरोध किया। फ्रांस और रूस में मैत्री हो चुकी थी, अतः फ्रांस ने भी रूस का समर्थन किया। इधर जर्मनी भी सुदूर पूर्व में अपना प्रभाव स्थापपित करना चाहता था। अतः जर्मनी ने भी इस संधि का विरोध किया। इस प्रकार रूस, फ्रांस और जर्मनी ने जापान पर दबाव डाल कर संधि में संशोधन करवाया, जिससे जापान का राष्ट्रीय अपमान हुआ। ब्रिटेन ने इस दबाव में भाग लेने से इन्कार कर दिया, क्योंकि चीन-जापान युद्ध में ब्रिटेन की सहानुभूति जापान के साथ थी। इसके अतिरिक्त रूस के बढ़ते हुए प्रभाव को ब्रिटेन और जापान दोनों ही समाप्त करना चाहते थे। जापान एक सामुद्रिक शक्ति वाला राष्ट्र था, अतः ब्रिटेन का हित इसी में था कि वह जापान से

संधि करले जिससे कि वह प्रशांत महासागर में अपनी नौ सेना के खर्च में कमी कर उस शक्ति को दूसरी जगह लगा सके। जापान में जनसंख्या बड़ी तेजी से बढ़ रही थी, अतः वह चीन के विशाल प्रदेशों में जापानियों को बसाना चाहता था, किन्तु रूस इसमें बाधक था। रूस का बढ़ता हुआ प्रभाव ब्रिटेन और जापान दोनों को असह्य था। अतः दोनों का मेल मिलाप बढ़ने लगा।

जिस समय ब्रिटेन और जर्मनी में संधि की वार्ता चल रही थी, उस समय जर्मनी ने यह सुझाव दिया था कि प्रस्तावित संधि में जापान को भी सम्मिलित कर लिया जाय। किन्तु कुछ समय बाद स्वयं जर्मनी इस वार्ता से अलग हो गया, क्योंकि वह रूस के विरुद्ध कोई संधि नहीं करना चाहता था। किन्तु ब्रिटेन ने जापान के साथ वार्ता जारी रखी और इस वार्ता के फलस्वरूप 30 जनवरी 1902 को दोनों के बीच एक संधि हो गयी। इस संधि की मुख्य शर्तें निम्नलिखित थीं :—

(1) दोनों राज्यों ने चीन और कोरिया की स्वतन्त्रता को मान्यता प्रदान की, किन्तु दोनों राज्यों को अपने हितों की रक्षा के लिये हस्तक्षेप करने का अधिकार दिया गया।

(2) यदि अपने हितों की रक्षा के लिये दोनों में से किसी राज्य को युद्ध करना पड़ा तो दूसरा राज्य तटस्थ रहेगा और उस युद्ध को विश्व व्यापी युद्ध के रूप में परिणित होने से रोकेगा।

(3) यदि दोनों में से किसी राज्य को दो शक्तियों के विरुद्ध युद्ध करना पड़ा तो दूसरा मित्र भी उसकी सहायता करेगा।

(4) यह संधि पांच वर्ष के लिये की गई तथा समय-समय पर आगे बढ़ाई जा सकती थी।

आंग्ल-जापानी संधि विश्व के कूटनीतिक इतिहास की एक असाधारण घटना थी। आधुनिक युग में यह संधि ही प्रथम संधि थी, जो एक यूरोपीय एवं एक एशियाई देश के बीच समानता के स्तर पर की गई थी। इस संधि ने जापान को बड़े राज्यों की पंक्ति में खड़ा कर दिया और विश्व राजनीति के मंच पर उसे वह स्थान प्राप्त हो गया जो अभी तक किसी एशियायी राष्ट्र को नहीं मिल सका था। ब्रिटेन को भी प्रशांत महासागर के क्षेत्र में एक शक्तिशाली मित्र मिल गया, जो सुदूर पूर्व में रूस के प्रभाव को रोकने में सक्षम था। सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी कि ब्रिटेन ने अपनी शानदार पृथक्कता की नीति को त्याग कर एक नवीन शक्ति को मित्र के रूप में प्राप्त कर लिया।

आंग्ल-फ्रांसीसी समझौता—ब्रिटिश सम्राट एडवर्ड सप्तम फ्रांस से मैत्री करना चाहता था। इधर फ्रांस का विदेश मन्त्री दलकासे भी ब्रिटेन से मैत्री करने का इच्छुक था। फसोदा की घटना के बाद 1903 में सम्राट एडवर्ड सप्तम ने पेरिस की यात्रा की जहाँ उसका भव्य स्वागत किया गया। दूसरे वर्ष फ्रांस के राष्ट्रपति

लूबे और दलकासे ने लन्दन की यात्रा की और वहाँ उनका भी बड़े उत्साह से स्वागत किया गया। इसी समय दलकासे ने लार्ड लैंसडाउन से पारस्परिक समस्याओं के विषय में बातचीत की। इस वार्ता के फलस्वरूप सभी विवादग्रस्त मामलों के सम्बन्ध में समझौता हो गया। 8 अप्रेल 1904 को दोनों राज्यों के बीच विधिवत समझौता हो गया। इस समझौते के अन्तर्गत फ्रांस ने मिस्र पर ब्रिटेन का अधिकार स्वीकार कर लिया और इसके बदले में ब्रिटेन में मोरक्को ने फ्रांस के हितों को स्वीकार कर लिया। ब्रिटेन ने फ्रांस को पश्चिमी अफ्रीका में कुछ रियायतें दी और इसके बदले में फ्रांस ने न्यूफ़ाउण्डलैंड में अपने मछली पकड़ने के अधिकार को त्याग दिया। इस प्रकार ब्रिटेन और फ्रांस के बीच दृढ़ सौहार्द्र (Entente Cordiale) की स्थापना हुई।

जर्मन सम्राट कैसर विलियम द्वितीय ने ब्रिटेन और फ्रांस की मैत्री को तोड़ने का प्रयत्न किया, किन्तु उसे सफलता नहीं मिली। कैसर ने दोनों की मैत्री तोड़ने के लिये मोरक्को की समस्या के समाधान हेतु अल्जीसिरास में एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन आयोजित किया। इस सम्मेलन में ब्रिटेन ने फ्रांस का पूर्ण रूप से समर्थन किया जिससे दोनों के सम्बन्ध सुदृढ़ हो गये तथा ब्रिटेन और जर्मनी का तनाव बढ़ गया।

आंग्ल-रूस समझौता—20 वीं शताब्दी के प्रारम्भ में कोई भी कुशल प्रेक्षक इस बात की कल्पना नहीं कर सकता था कि एक दिन रूस और ब्रिटेन एक दूसरे के मित्र हो जायेंगे। इसका कारण यह था कि इन दोनों देशों की शत्रुता बहुत ही पुरानी थी, जो सदियों से चली आ रही थी। रूस का साम्राज्य ब्रिटिश उपनिवेशों की सीमाओं का आलिंगन कर रहा था तथा रूस की निकट पूर्व, मध्य पूर्व और सुदूर पूर्व में साम्राज्यवादी आकांक्षाओं के कारण ब्रिटेन अपने साम्राज्य की सुरक्षा के लिये चिंतित था। अतः रूस और ब्रिटेन की शत्रुता स्वाभाविक थी। इसके अतिरिक्त दोनों की शत्रुता के निम्नलिखित कारण थे—

(1) 1877 में रूस-तुर्की युद्ध हुआ, जिसमें तुर्की ने पराजित होकर रूस से सेनस्टीफेनो की सन्धि कर ली। ब्रिटेन ने इस सन्धि का इतना विरोध किया कि बर्लिन कांग्रेस में रूस को सेनस्टीफेनो की संधि से प्राप्त अनेक लाभों से वंचित रहना पड़ा। 1904 में रूस-जापान युद्ध हुआ जिसमें रूस की करारी हार हुई। जापान की इस विजय के पीछे ब्रिटेन था, क्योंकि ब्रिटेन और जापान की सन्धि हो चुकी थी तथा ब्रिटेन का समर्थन प्राप्त करके ही उसने रूस पर आक्रमण किया था।

(2) बर्लिन कांग्रेस के बाद रूस की कूटनीति पूर्वी एशिया में साम्राज्य विस्तार के लिये लग गई। रूस, भारत की सीमा पर स्थित अफगानिस्तान, फारस और तिब्बत पर अपना प्रभाव फैलाने का प्रयत्न करने लगा। किन्तु ब्रिटेन भारतीय साम्राज्य की सुरक्षा के लिए रूस के प्रसार को रोकना चाहता था। 19 में ब्रिटेन ने यंग हस्बैंड के नेतृत्व में एक शिष्टमंडल तिब्बत भेजा, जिसने

सरकार से एक सन्धि करके तिब्बत पर ब्रिटिश प्रभुत्व स्थापित कर दिया। रूस इससे क्रोधित हो उठा।

(3) 1901 में अफगानिस्तान में हबीबुल्ला नया अमीर बना, जिसका रूस की तरफ झुकाव था और इस बात की सम्भावना प्रतीत हुई कि नये अमीर ने रूस को अफगानिस्तान में रेल लाईन बनाने की अनुमति दे दी है। इस पर ब्रिटेन ने चेतावनी दी कि रूस निश्चित रूप से अफगानिस्तान की ओर बढ़ रहा है तथा ऐसी रेल लाइनें बनाई जा रही हैं जिनका उपयोग सामरिक दृष्टि से भी हो सकता है। यदि रेल लाइनें हमारे सीमा प्रदेशों के समीप तक बनने दी गई तो हमें एक विशाल सेना रखने के लिए विवश होना पड़ेगा। इस चेतावनी से दोनों के बीच तनाव अधिक बढ़ गया।

(4) काला सागर में जो अंग्रेजों के जहाज गुजरते थे, रूसी अफसर उनकी तलाशी लेते थे और ब्रिटेन इस कार्यवाही का विरोध करता था। इसी समय यह अफवाह फैली कि जापान के लड़ाकू जहाज रूस के पास-पड़ोस में चक्कर काट रहे हैं। रूसी नौ सेना के अधिकारियों ने कुछ ब्रिटिश जहाजों को जापानी जहाज समझ कर उन पर गोली चला दी, जिससे कुछ अंग्रेज और मछुए मारे गये व अंग्रेजी जहाजों को क्षति पहुंची। इससे दोनों के मतभेद तीव्र हो गये।

इतना विरोधी होते हुए भी उनके सम्बन्धों में सुधार हो रहा था। आंग्ल-फ्रांसीसी समझौते के बाद सम्राट एडवर्ड सप्तम ने डेनमार्क की यात्रा की और वहां उसने रूसी राजदूत इजवोल्सकी से कहा कि, "इस सन्धि से इस आशा को प्रोत्साहन दिया जा रहा है कि इस प्रकार का समझौता रूस के साथ भी किया जा सकता है। इससे दोनों राज्य के बीच सौहार्द्रपूर्ण वातावरण तैयार हुआ। 1905 में दोनों देशों के विदेश मंत्रियों में परिवर्तन हुआ। ब्रिटेन में लार्ड लैंसडाउन के स्थान पर एडवर्ड ग्रे की नियुक्ति हुई, जो रूस का कट्टर समर्थक था। अल्जीसिरास सम्मेलन में रूस और ब्रिटेन दोनों ने फ्रांस का समर्थन किया, जिससे रूस और ब्रिटेन का मेल मिलाप बढ़ने लगा। रूस-जापान युद्ध के कारण रूस की आर्थिक स्थिति अत्यन्त ही खराब हो चुकी थी और रूस को ऋण की आवश्यकता थी। ब्रिटेन ने बड़े उत्साह से रूस को ऋण दिया, जिससे रूस, ब्रिटेन का आभारी हो गया। एडवर्ड ग्रे और इजवोल्सकी दोनों ही समझौता करने के इच्छुक थे तथा फ्रांस इस समझौते के मार्ग को प्रशस्त कर रहा था। अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियां भी एक दूसरे को निकट ला रही थीं। अन्त में 31 अगस्त 1907 को दोनों के बीच एक सन्धि हो गयी। इस सन्धि के अनुसार—

(1) दोनों राज्यों ने तिब्बत की अखण्डता को बनाये रखने तथा उसके आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करने का वचन दिया।

(2) ब्रिटेन ने अफगानिस्तान को स्वतन्त्र राज्य के रूप में बनाये रखने तथा उसके आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करने का वचन दिया। रूस ने अफगानिस्तान की विदेश नीति पर ब्रिटेन का नियन्त्रण स्वीकार कर लिया।

(3) फारस को तीन प्रभाव क्षेत्रों में बांटा गया। उत्तरी फारस रूस के प्रभाव क्षेत्र में और दक्षिणी फारस ब्रिटेन के प्रभाव क्षेत्र में रखे गये। इन दोनों के बीच का क्षेत्र तटस्थ रखा गया, जहां दोनों को रियासतें प्राप्त करने का अधिकार दिया गया।

आंग्ल-रूसी सन्धि द्वारा ब्रिटेन अब सभी चिन्ताओं से मुक्त हो गया। जापान से सन्धि करके सुदूर पूर्व में और फ्रांस से समझौता करके वह उत्तरी अफ्रीका में निश्चित हो चुका था। उसे केवल निकटपूर्व में रूस का भय रह गया था। किन्तु आंग्ल-रूसी संधि के बाद यह डर भी समाप्त हो गया। अब ब्रिटेन जर्मनी का मुकाबला करने के लिए स्वतन्त्र था। इस सन्धि से फ्रांस और रूस, फ्रांस और ब्रिटेन तथा ब्रिटेन और रूस की मैत्री का त्रिकोण पूरा हो गया। इस प्रकार यूरोप में त्रिपल आतांन्त की स्थापना हुई। इस प्रकार जर्मनी, आस्ट्रिया और इटली के त्रिगुट के विरुद्ध ब्रिटेन, फ्रांस और रूस का एक शक्तिशाली गुट स्थापित हो गया जिससे यूरोप सशस्त्र दो गुटों में विभाजित हो गया। रूस ने अब बाल्कन प्रायद्वीप में अपनी मनमानी करने के लिये ब्रिटेन से 'ब्लेंक चेक' प्राप्त कर लिया। इस सन्धि का प्रथम परिणाम यह हुआ कि रूस और जापान के मतभेदों का समाधान हो गया। जापान, ब्रिटेन का मित्र था और रूस का दुश्मन। अब रूस और ब्रिटेन में मैत्री हो जाने से रूस और जापान के पारस्परिक मतभेदों का निबटारा भी आवश्यक हो गया। जुलाई 1907 में रूस और जापान के बीच एक समझौता हो गया। जिसके अनुसार दोनों देशों ने वादा किया कि वे सुदूर पूर्व में यथास्थिति बनाये रखने का प्रयास करेंगे। इस प्रकार अब रूस का सुदूर पूर्व में संघर्ष समाप्त हो गया, मध्यपूर्व में स्थिति दृढ़ हो गयी और निकट पूर्व में वह स्लावों के हितों की रक्षा करने के लिए हिमायती बन गया।

इस सन्धि द्वारा फ्रांस की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति अब अधिक सुरक्षित हो गयी। आंग्ल-फ्रांसीसी समझौते से द्विगुट (रूस-फ्रांसीसी समझौता) के टूटने का भय था, वह समाप्त हो गया। अब उसे किसी का भय नहीं रहा। फ्रांस अब बेझिझक जर्मनी से बदला ले सकता था। इससे फ्रांस में प्रतिशोध की भावना बलवती हो गयी और फ्रांस के राजनीतिज्ञ अब जर्मनी को आँख दिखाने लगे।

यह सन्धि जर्मनी के लिए हानिकारक सिद्ध हुई। जर्मनी महसूस करने लगा कि फ्रांस, रूस और ब्रिटेन उसको चारों ओर से घेर लेना चाहते हैं। बिस्मार्क ने जर्मनी को जिस सुरक्षित स्थिति में पहुंचाया था, वह नष्ट हो गयी। सम्पूर्ण विश्व में अब केवल आस्ट्रिया उसका साथी रह गया था। अतः आस्ट्रिया को खुश रखने के

लिये जर्मनी उसको बिना हिचक सहायता देने को तैयार था। फलतः बाल्कन प्रायद्वीप की समस्या नाजुक होती गई और अन्त में इसने प्रथम विश्व युद्ध को अवश्यम्भावी बना दिया। इस स्थिति के लिये स्वयं जर्मनी उत्तरदायी था। कैसर ने पुनर्आश्वासन की सन्धि की पुनरावृत्ति करने से इन्कार करके रूस की मित्रता को खो दिया। ब्रिटेन ने उससे सन्धि करने हेतु तीन बार प्रस्ताव रखे, जिन्हें उसने ठुकरा कर जो गलती की वही जर्मनी के लिये अभिशाप बन गयी। यूरोप का शक्ति संतुलन जो 1878 में जर्मनी के पक्ष में था, वह समाप्त हो गया। अनुभवहीन कैसर ने जर्मनी को विश्व युद्ध के दरवाजे पर लाकर खड़ा कर दिया। 1908 में ब्रिटेन ने जर्मनी से अपनी नौ सेना में कमी करने का प्रस्ताव रखा, किन्तु जर्मनी ने इस प्रस्ताव को भी ठुकरा दिया, जिससे दोनों के बीच तनाव बढ़ने लगा।

इसी वर्ष आस्ट्रिया ने बोस्निया और हर्जीगोविना को हड़प लिया, जिससे बाल्कन क्षेत्र में पुनः संकट उत्पन्न हो गया। रूस और सर्विया ने आस्ट्रिया की इस कार्यवाही का प्रबल विरोध किया। ब्रिटेन ने आस्ट्रिया की इस कार्यवाही को विश्वासघात की संज्ञा दी तथा रूस, फ्रांस और ब्रिटेन ने इस समस्या पर विचार करने के लिए यूरोपीय राज्यों का सम्मेलन आमन्त्रित करने की मांग की, किन्तु आस्ट्रिया और जर्मनी इसके लिये तैयार नहीं हुये। ब्रिटेन इस मामले को लेकर युद्ध करने के लिये तैयार नहीं था। अतः विवश होकर चुप रहना पड़ा।

अगादिर का संकट—अल्जीसिरास सम्मेलन द्वारा मोरक्को में शान्ति और व्यवस्था बनाये रखने के लिये फ्रांस और स्पेन के अधीन एक विदेशी पुलिस सेना की व्यवस्था की गई थी। इससे मोरक्को में फ्रांस विरोधी आन्दोलन जोर पकड़ने लगा और दिन दहाड़े फ्रांसीसी कर्मचारियों की हत्या एक साधारण बात हो गयी थी। मोरक्को में अराजकता की स्थिति को समाप्त करने के लिये फ्रांस ने अपनी सेनायें भेजी और मोरक्को की राजधानी फेज पर अधिकार कर लिया। जर्मनी ने, फ्रांस की इस कार्यवाही को अल्जीसिरास सम्मेलन में किये गये समझौते का उल्लंघन बताया और मोरक्को से फ्रांस की सेनाएं हटाने की मांग की। फ्रांस को इस मांग पर विचार करने का समय देने से पूर्व ही, जर्मनी ने पेन्थर नामक एक जंगी जहाज 'मोरक्को के जर्मन व्यापारियों की रक्षा हेतु' मोरक्को के अगादिर नामक बन्दरगाह पर भेज दिया। वस्तुतः अगादिर में जर्मन व्यापारियों की रक्षा करने का जर्मनी का उद्देश्य नहीं था, क्योंकि अगादिर में कोई विशेष जर्मन आबादी नहीं थी। जर्मनी का उद्देश्य यह था कि फ्रांस ने फेज पर अधिकार कर लिया है, इसके बदले में जर्मनी को भी कुछ मिलना चाहिये। जर्मनी फ्रांस को डरा धमका कर सम्पूर्ण फ्रांसीसी कांगो हड़पना चाहता था। पेन्थर के अगादिर पहुंचने से फ्रांसीसी सरकार की अपेक्षा ब्रिटिश सरकार को अधिक क्रोध आया। विदेश मन्त्री एडवर्ड ग्रे को सन्देह हुआ कि जर्मनी अटलाण्टिक महासागर के तट पर जहाजी अड्डा बनाने का

प्रयास कर रहा है। एडवर्ड ग्रे के विचार में फेज में फ्रांसीसी सेना का भेजा जाना बिल्कुल न्यायसंगत था, किन्तु अगादिर पर पेन्थर का आना एक ऐसा आक्रमणकारी कार्य था जिसके लिए किसी प्रकार जर्मनी को उत्तेजित नहीं किया गया था। उसी समय ब्रिटेन के वित्त मन्त्री लायड जार्ज ने मन्त्रिमण्डल की सहमति से, लन्दन के सुप्रसिद्ध मेंशन हाउस से घोषणा की कि, "ब्रिटेन सभी प्रकार के खतरों को उठाकर भी विश्व के बड़े राष्ट्रों में अपना स्थान और प्रतिष्ठा बनाये रखना चाहता है। हम शान्ति बनाये रखने के बहुत बड़े समर्थक हैं, किन्तु यदि हम पर ऐसी स्थिति लाद दी जाय जिससे शान्ति बनाये रखने के लिए ब्रिटेन को अपने उपयोगी स्थान छोड़ने पड़े और जिसके परिणामस्वरूप बड़े राष्ट्रों में ब्रिटेन का कोई स्थान ही न रह जाय तो इस कीमत पर शान्ति बनाये रखना एक ऐसा असहनीय अपमान होगा जिसे हमारा देश कभी बर्दाश्त नहीं करेगा।" लायड जार्ज की इस घोषणा से अगादिर संकट अपनी चरम सीमा तक पहुंच गया। किन्तु जिस उद्देश्य से यह घोषणा की गई थी, वह पूरा हो गया। यूरोपियन राजनीति का नभ मण्डल जो युद्ध के घने काले बादलों से आच्छादित था, फट गया। जर्मनी को अपनी मांग में काफी परिवर्तन करना पड़ा। 4 नवम्बर 1911 को फ्रांस और जर्मनी के बीच समझौता हो गया।

बाल्कन युद्ध—बाल्कन युद्धों के समय एडवर्ड ग्रे ने युद्ध की स्थिति समाप्त करने का भरसक प्रयत्न किया, किन्तु युद्ध नहीं रुक सका। बाल्कन संघ के राज्यों (बल्गेरिया, सर्बिया, यूनान और मान्टीनीग्रो) ने अक्टूबर 1912 में तुर्की पर आक्रमण कर दिया। एडवर्ड ग्रे ने युद्ध को सीमित रखने का प्रयत्न किया। यूरोप के बड़े राष्ट्रों ने प्रथम बाल्कन युद्ध से उत्पन्न स्थिति पर विचार करने के लिये लन्दन में एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन का आयोजन किया। दिसम्बर 1912 में एडवर्ड ग्रे के सभापतित्व में लन्दन में राजदूतों का सम्मेलन आरम्भ हुआ। सम्मेलन में अल्बानिया के कुछ भूभागों को लेकर बवण्डर उठ खड़ा हुआ। सर्बिया ने इन प्रदेशों को जीता था, अतः वह इन पर अपना दावा करता था, किन्तु आस्ट्रिया इसका घोर विरोध कर रहा था। ब्रिटेन, फ्रांस और रूस ने सर्बिया का पक्ष लिया और जर्मनी ने अपने मित्र आस्ट्रिया का पक्ष लिया। तीन महीने तक इस प्रश्न पर विचार विमर्श होता रहा। अन्त में एडवर्ड ग्रे के सुझाव पर स्वतन्त्र अल्बानिया के निर्माण को सिद्धान्त रूप में स्वीकार कर उसकी सीमा निर्धारण का काम भविष्य के लिये छोड़ दिया गया। इसके पश्चात् द्वितीय बाल्कन युद्ध (जून 1913) आरम्भ हो गया। इस समय भी ब्रिटेन ने युद्ध को समाप्त कराने का प्रयत्न किया।

ब्रिटेन ने जर्मनी से अपने सम्बन्धों को सुधारने का अथक प्रयत्न किया। 1913 में ब्रिटेन ने पुनः जर्मनी से अपनी नौ सेना की वृद्धि को रोकने का प्रस्ताव रखा। जर्मन चान्सलर बेथमेन-हालवेग ने कैसर तथा नौ सेना के मंत्री टरपित्स को जंगी जहाजों का निर्माण कम करने के लिये बहुत समझाया किन्तु वे नहीं माने। अब

ब्रिटेन और जर्मनी के समझौते की आशा पूर्णतः समाप्त हो गयी। इसके बाद 'ट्रिपल आतांन्त' के राज्य सैनिक सहयोग की तैयारी करने लगे।

जून 1914 में ब्रिटेन और जर्मनी के बीच बगदाद रेलवे के सम्बन्ध में एक समझौता हो गया, जिसके अनुसार ब्रिटेन ने बगदाद रेल योजना का विरोध न करने का आश्वासन दिया और जर्मनी ने टाइग्रिस एवं यूफ्रेटिस नदियों में ब्रिटेन के व्यापार करने के अधिकार को स्वीकार कर लिया। किन्तु इस समझौते के बाद ही 28 जून को सेराजेवो में आस्ट्रिया के राजकुमार फर्डीनेण्ड की हत्या हो जाने से स्थिति गम्भीर हो गयी। इस समय भी ब्रिटेन ने युद्ध को रोकने का अथक प्रयास किया, किन्तु उसके सभी प्रयत्न विफल हुए। अन्त में सम्पूर्ण यूरोप युद्ध की ओर अग्रसर हो गया और ब्रिटेन को भी जर्मनी के विरुद्ध महायुद्ध में प्रवेश करना पड़ा।

अध्याय 14

रूस

(1815—1914)

(RUSSIA)

पीटर महान् (1682–1725) ने रूस को पश्चिमी यूरोप के राष्ट्रों के समान सभ्यता के स्तर पर लाने का प्रयत्न किया था और केथरीन महान् (1762–1796) ने रूस को यूरोप में प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त कराने में सफलता प्राप्त की थी। नेपोलियन को परास्त करने में रूस ने महत्वपूर्ण योगदान दिया था, अतः यूरोप के राजनीतिक रंगमंच पर रूस को सम्मानित स्थान प्राप्त हो गया था। किन्तु 19 वीं शताब्दी के आरम्भ में रूस का सामाजिक एवं आर्थिक जीवन अत्यन्त ही पिछड़ा हुआ था। रूस का समाज दो वर्गों में विभाजित था—प्रथम वर्ग कुलीनों का और दूसरा किसानों का। कुलीन वर्ग विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग था तथा शासक एवं सेना में उच्च पद उन्हीं को दिये जाते थे। अधिकांश किसान जार के और कुलीनों के दास थे, जिन्हें कृषकदास कहा जाता था। कृषकदासों की दशा अत्यन्त शोचनीय थी तथा उनके साथ अमानुषिक व्यवहार किया जाता था। रूस के विशाल क्षेत्र में विभिन्न धर्मों को मानने वाली, विभिन्न भाषा-भाषी प्रजातियां (Races) रहती थी। अतः राष्ट्रीय एकता का सर्वथा अभाव था। रूस की सम्पूर्ण शासन व्यवस्था भ्रष्ट और अन्यायपूर्ण थी। शासकीय पदों पर नियुक्तियां, योग्यता के आधार पर नहीं वरन् राजनैतिक प्रभाव और रिश्वत के आधार पर होती थी। राज्य की आर्थिक स्थिति अत्यन्त ही खराब थी तथा राज्य पर कई करोड़ रुबल का कर्ज था। इस प्रकार की आन्तरिक स्थिति, किसी राज्य में क्रान्ति के लिए सर्वथा अनुकूल होती है, किन्तु फ्रांस के समान रूस में जागृत मध्यम वर्ग नहीं था। फ्रांसीसी क्रान्ति के पश्चात् रूस में क्रान्ति के विचार अंकुरित होने लगे, किन्तु क्रान्तिकारी विचारों का प्रभाव बहुत ही थोड़े लोगों तक सीमित था।

जार अलेक्जेण्डर प्रथम (1801–1825)—प्रारम्भ में जार अलेक्जेण्डर प्रथम उदारवादी प्रवृत्ति का शासक था। उसने एक सलाहकार समिति का गठन किया। इस समिति की सलाह से उसने कुछ सुधार किये। 1815 में उसने कृषकदासों

की मुक्ति और किसानों की दशा सुधारने की समस्या पर ध्यान दिया। 1818 में उसने कृपकदासों की मुक्ति के लिये एक योजना तैयार की, किन्तु उसे कार्यान्वित नहीं किया जा सका। 1820 में सैंट पीटर्सबर्ग में एक सैनिक विद्रोह के कारण उसने सुधारवादी नीति का परित्याग कर दिया और पूर्ण रूप से प्रतिक्रियावादी हो गया। उसने कृपकदासों की दशा सुधारने की योजनाएँ रद्द कर दी, पोलैण्ड को दिये गये वैधानिक अधिकार समाप्त कर दिये, गुप्त समितियों का दमन किया गया, उदारवादी विचारों की प्रगति को रोकने के लिए विश्वविद्यालयों पर अनेक प्रतिबन्ध लगाये और सैंट पीटर्सबर्ग विश्वविद्यालय के प्रगतिशील विचारों वाले अध्यापकों को सेवा निवृत कर दिया गया। 1 दिसम्बर 1825 को जार अलेक्जेण्डर प्रथम की मृत्यु हो गई।

जार निकोलस प्रथम (1825–1855)—जार अलेक्जेण्डर प्रथम के कोई सन्तान न थी। अतः रूसी उत्तराधिकार नियम के अनुसार उसके छोटे भाई कान्स्टेन्टाइन को सिंहासनारूढ़ होने का अधिकार था। किन्तु कान्स्टेन्टाइन ने अलेक्जेण्डर प्रथम के जीवन काल में ही, कुछ व्यक्तिगत कारणों से अपने अधिकार का परित्याग कर दिया था। अतः अलेक्जेण्डर प्रथम ने कान्स्टेन्टाइन के छोटे भाई निकोलस (Nicholas) को अपना उत्तराधिकारी मनोनीत किया। 26 दिसम्बर 1825 को निकोलस प्रथम ने विधिवत् जार का पद ग्रहण किया।

रूस के उदारवादियों ने 1814–16 के बीच कुछ गुप्त समितियों की स्थापना की थी, जो वैधानिक राजतंत्र स्थापित करना चाहते थे। 26 दिसम्बर 1825 को सेन्टपीटर्सबर्ग एवं मास्को की कुछ सैनिक टुकड़ियों ने निकोलस के प्रति राजभक्ति की शपथ नहीं ली और विद्रोह कर दिया। उन्होंने 'कान्स्टेन्टाइन और कान्सटीट्यूशन' (Constantine and Constitution) का नारा बुलन्द किया। विद्रोह दिसम्बर में आरम्भ हुआ था, अतः विद्रोहियों को 'दिसेम्ब्रिस्ट' (Decembrist) कहा गया। निकोलस ने विद्रोह को बड़ी सरलता से कुचल दिया। यह विद्रोह केवल कुछ सैनिक टुकड़ियों का विद्रोह था तथा इसमें शासकीय वर्ग एवं जनता ने भाग नहीं लिया था। जिन सैनिकों ने विद्रोह में भाग लिया था वे इतने अज्ञानी थे कि अपने नारे का आशय ही नहीं समझते थे। बहुत से सैनिकों का तो ख्याल था कि 'कान्सटीट्यूशन' तो कान्स्टेन्टाइन की पत्नी का नाम है। किन्तु विद्रोहियों का बलिदान व्यर्थ नहीं गया। विद्रोहियों ने यह दिखा दिया कि रूस की जनता के कष्टों की अब उपेक्षा नहीं की जा सकती और उनको दी गई यातनाएँ ऐसे देशभक्तों को जन्म दे सकती है, जो अपने देश के पुनरुद्धार के लिये अपना रक्त बहाने के लिये तैयार हों।

दिसम्बर विद्रोह के बाद निकोलस ने कठोर और दमनकारी नीति अपनाई ताकि रूस में प्रगतिशील विचारों का प्रसार न हो सके। 1826 में उसने गुप्त पुलिस का पुनर्गठन किया और उसे विशेष अधिकार दिये गये। गुप्त पुलिस के अध्यक्ष को इतनी अधिक शक्तियां दी गई कि वह किसी भी व्यक्ति को, सन्देह के आधार पर

क़ैद कर सकता था, साइबेरिया में निर्वासित कर सकता था अथवा गोली से उड़ा सकता था। इतिहास, राजनैतिक शास्त्र और दर्शन-शास्त्र की पुस्तकों पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया, विदेशों में शिक्षा प्राप्त करने पर प्रतिबन्ध लगाया गया और जार की अनुमति के बिना रूस का कोई नागरिक देश से बाहर नहीं जा सकता था। इस प्रकार निकोलस की प्रतिक्रियावादी एवं दमनकारी नीति के कारण रूस में भाषण, लेखन एवं विचारों की स्वतन्त्रता समाप्त कर दी गई। निकोलस ग्रीक चर्च का समर्थक था, अतः अन्य धार्मिक सम्प्रदायों के प्रति अत्याचार पूर्ण नीति अपनाई। निकोलस की दमनकारी नीति के कारण किसानों ने लगातार विद्रोह किये, किन्तु निकोलस ने सभी विद्रोहों का दमन कर दिया।

प्रतिक्रियावादी नीति के साथ-साथ निकोलस ने प्रजा की उन्नति और सुख के लिये भी कार्य किए 1833 में कृषकदासों के विक्रय पर प्रतिबन्ध लगा दिया, देश-द्रोह के अतिरिक्त अन्य अपराधों के लिए फांसी का दण्ड निषेध घोषित किया गया और रूस के समस्त कानूनों का एक संग्रह तैयार कर 1832 में प्रकाशित किया गया। रूस की मुद्रा पद्धति में सुधार किया गया, जिससे रुबल की कीमत में स्थिरता आ गयी। 1838 और 1851 के बीच अनेक रेल लाइनें बिछाई गई जिससे व्यापार एवं उद्योग को बड़ा प्रोत्साहन मिला। निकोलस के राज्यकाल में शिक्षा और साहित्य के क्षेत्र में भी प्रगति हुई। इतिहास, भूगोल और पुरातत्व विषय के कई मौलिक ग्रन्थों की रचनाएँ, शासन के माध्यम से प्रकाशित करवायी। किन्तु निकोलस ने जो भी सुधार योजनाएँ बनाई उन्हें सफलतापूर्वक लागू नहीं कर सका। फलतः जनता में असंतोष बढ़ता गया। 1855 के आरम्भ में निकोलस की मृत्यु हो गई।

जार अलेक्जेण्डर द्वितीय (1855—1881)—निकोलस प्रथम की मृत्यु के बाद उसका पुत्र अलेक्जेण्डर द्वितीय रूस का जार बना। अलेक्जेण्डर को इस प्रकार की शिक्षा दी गई थी, जिससे वह योग्य शासक बन सके। वह दयालु प्रकृति का सहृदय व्यक्ति था। उसने अपने शासन काल में सुधारवादी नीति अपनायी, क्योंकि वह जानता था कि बिना सुधारों के जन-असंतोष को दूर नहीं किया जा सकता। अतः उसका शासनकाल सुधारों के लिये प्रसिद्ध है। सर्वप्रथम उसने निष्कासित दिसेम्ब्रिस्टो को मुक्त किया। जो लोग जीवित बच गये थे वे साइबेरिया से लौट आये। उसने समाचार पत्रों और विश्वविद्यालयों पर लगे प्रतिबन्ध हटा लिये। इन आदेशों से जार की उदार नीति का संकेत प्राप्त हुआ।

कृषकदासों की मुक्ति—जार अलेक्जेण्डर के शासनकाल का सबसे महत्वपूर्ण सुधार कार्य कृषकदासों की मुक्ति था। रूसी साम्राज्य में लगभग 4½ करोड़ कृषकदास (Serfs) थे। इनमें से लगभग दो करोड़ दास जार की भूमि पर और शेष कुलीनों की भूमि पर काम करते थे। इन कृषकदासों की दशा अत्यन्त ही शोचनीय थी और इनकी दशा सुधारने की समस्या रूस की सबसे जटिल समस्या थी। कृषकदासों में

भी मुक्त होने की लालसा प्रबल होती जा रही थी और वे कई स्थानों पर विद्रोह कर चुके थे। जार अलेक्जेण्डर द्वितीय की यह मान्यता थी कि जब तक कृषकदासों की मुक्ति नहीं होगी तब तक रूस आधुनिक राष्ट्र के रूप में प्रगति नहीं कर सकेगा। 19 फरवरी 1861 को अलेक्जेण्डर द्वितीय ने एक राजाज्ञा द्वारा कृषकदास को समाप्त कर दिया। इसीलिए अलेक्जेण्डर द्वितीय को 'मुक्तिदाता जार' (Tsar the Liberator) कहा जाने लगा। इस राजाज्ञा के अनुसार कृषकदासों को नागरिक अधिकार दिये गये और उन्हें अपने स्वामियों के बंधन से मुक्त कर दिया गया। इन मुक्त किसानों को उनके भूमिपतियों से भूमि दिलवाने की व्यवस्था की गई। किसानों को जो भूमि हस्तान्तरित की गई उन पर किसानों का व्यक्तिगत स्वामित्व नहीं था वरन् वह भूमि ग्राम समुदाय के अधिकार में रखी गई। भूमि स्वामियों को उनकी भूमि की कीमत चुकाई गई। चूंकि किसानों के पास भूमि की कीमत चुकाने के साधन नहीं थे, अतः शासन ने अपनी ओर से भूमि स्वामियों को भूमि की कीमत चुकादी और किसानों को 49 वर्षों में 6 प्रतिशत ब्याज सहित यह ऋण चुकाने का दायित्व सौंपा गया।

इस राजाज्ञा से लगभग दो करोड़ कृषकदास मुक्त हो गये और उन्हें वैधानिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो गई। किन्तु इन सुधारों से किसानों को बड़ी निराशा हुई। वास्तव में उनकी दशा में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। किसानों को इतनी कम भूमि दी गई थी कि उनकी साधारण आवश्यकताओं की पूर्ति भी नहीं हो सकी। इसके अतिरिक्त उन्हें भूमि का लगान देना पड़ता था और भूमि की कीमत की वार्षिक किस्त चुकानी पड़ती थी। उन पर ऐसे नये कर लाद दिये गये जो लगान से भी अधिक थे। अब तक जमींदार उनका स्वामी था, किन्तु अब उनका स्थान ग्राम समुदाय ने ले लिया, जिनका नियन्त्रण उन्हें उतना ही अखरने लगा, जितना भूमि स्वामियों का। इन सुधारों से कुलीनों की स्थिति कमजोर होने के बदले अधिक सुदृढ़ हो गयी। वे कृषकदासों के प्रति उत्तरदायित्व से भी मुक्त हो गये और उन्हें मुआवजे की राशि भी प्राप्त हो गयी। कुल मिलाकर यह एक महत्वपूर्ण और आवश्यक सुधार था जिससे रूस की नैतिक उन्नति हुई।

स्थानीय शासन में सुधार—1864 में स्थानीय स्वायत्त शासन के विकास के उद्देश्य से भी कुछ सुधार किये गये और जनवरी 1864 में इस सम्बन्ध में एक राजाज्ञा प्रसारित की गई। प्रत्येक जिले और प्रान्त में स्थानीय परिषदें स्थापित की गई जिन्हें 'जेमस्तवो' (Zemstvo) कहा जाता था। इनमें किसानों, कुलीनों एवं व्यापारी वर्ग को प्रतिनिधित्व दिया गया। जिला परिषद के सदस्यों का चुनाव जनता द्वारा होता था और प्रान्तीय परिषदों का चुनाव जिला समितियां करती थी। इन्हें स्थानीय शासन से सम्बन्धित विशेष कार्य सौंपे गये, जैसे स्थानीय करों की वसूली, सड़कों और पुलों का निर्माण, शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य, अकाल, सहायता

आदि। इन परिषदों पर शासन का पर्याप्त नियन्त्रण रहता था। प्रांतीय गवर्नर को इन जेमस्तवो के निर्णय पर वीटो करने का अधिकार था। 1870 में नगरों में म्यूनिसिपल काउन्सिलों की स्थापना की गई। इन स्थानीय जेमस्तवो ने जिलों और प्रान्तों में बहुत ही उपयोगी कार्य किये।

न्याय सम्बन्धी सुधार—रूस की न्याय व्यवस्था अत्यन्त ही दूषित एवं भ्रष्ट थी। मुकदमें की सुनवाई गुप्त होती थी और घूंसखोरी का बाजार गर्म था। अतः न्याय, अमीरों एवं प्रभावशाली व्यक्तियों के लिये था। साधारण व्यक्ति के लिये न्याय प्राप्त करना अत्यन्त कठिन था। जार अलेक्जेण्डर द्वितीय ने विधि मन्त्रालय के उच्च अधिकारी जारुद्नी (Zarudny) की अध्यक्षता में एक आयोग गठित किया जिसके सुझावों पर 1865 में, जार ने एक नयी न्याय प्रणाली का सूत्रपात किया। न्यायपालिका को कार्यपालिका से पृथक कर दिया गया तथा न्यायालयों की स्वतंत्रता को स्वीकार कर लिया गया। अदालतों की कार्यवाही खुले रूप से होने लगी। फौजदारी मुकदमों में जूरी प्रथा आरम्भ की गई तथा नई दण्ड संहिता लागू की गई। गांवों में छोटे-छोटे मुकदमों का निर्णय 'शान्ति न्यायाधीश' (Justices of the Peace) द्वारा किया जाता था। प्रांतीय एवं उच्च न्यायालयों के न्यायाधीश की नियुक्ति सम्राट द्वारा की जाती थी तथा जब तक कोई खास दोष न पाया जाय, न्यायाधीशों को उनके पद से नहीं हटाया जा सकता था। इन सुधारों के फलस्वरूप भ्रष्टाचार कम होने लगा तथा लोगों में न्याय के प्रति विश्वास बढ़ने लगा।

सेना सम्बन्धी सुधार—क्रीमिया युद्ध की अपमानजनक पराजय ने तात्कालिक सैनिक व्यवस्था में मूलभूत सुधारों की ओर संकेत कर दिया था। अतः सेना के पुनर्गठन का कार्य जर्मन डिमिट्री मिल्यूतीन द्वारा किया गया, जो 1858 से रूस का सहायक युद्ध मंत्री तथा 1861 से 1881 तक युद्ध मन्त्री था। क्रीमिया युद्ध में जो अस्त्र-शस्त्र क्षतिग्रस्त हो चुके थे अथवा जो प्रभावशाली सिद्ध नहीं हुए थे, उनके स्थान पर आधुनिक उपकरणों की व्यवस्था की गई। 1 जनवरी 1874 को अनिवार्य सैनिक भर्ती कानून (Conscription Law) द्वारा 20 वर्ष के सभी नवयुवकों के लिए सैनिक सेवा अनिवार्य कर दी गई। 1875 में मिल्यूतीन ने सैनिक प्रशिक्षण के कार्यक्रम को भी कार्यान्वित किया, जिसके अनुसार सैनिक न केवल युद्ध कला का ही प्रशिक्षण प्राप्त करते थे, वरन् उन्हें प्रारम्भिक लिखना पढ़ना भी सिखाया जाता था। इन सुधारों के फलस्वरूप रूसी सेना की युद्ध क्षमता बढ़ गयी।

शिक्षा सम्बन्धी सुधार—अलेक्जेण्डर द्वितीय ने शिक्षा के क्षेत्र में भी सुधार किया। विश्वविद्यालय पर लगे पुराने प्रतिबन्धों को हटा लिया गया। 1864 के एक अधिनियम द्वारा विभिन्न संस्थाओं और व्यक्तियों को 'प्राथमिक शालाए' खोलने की अनुमति दे दी गई। कुछ माध्यमिक शालाओं में विज्ञान की शिक्षा का प्रबन्ध किया गया। 1870 के पश्चात स्त्रियों को उच्च शिक्षा प्राप्त करने की सुविधाए

प्रदान की गई। 24 मई 1870 को एक कानून द्वारा लड़कियों के स्कूलों का पुनर्गठन किया गया। लड़कियों की शिक्षा के लिए 7 वर्ष का पाठ्यक्रम निर्धारित किया गया और जो लड़कियां अध्यापक पद के लिए प्रशिक्षण प्राप्त करना चाहती थी उनके लिये 8 वर्ष का पाठ्यक्रम निर्धारित किया गया। स्त्री शिक्षा के लिए अलग विश्वविद्यालय स्थापित किये गये। 1872 में स्त्रियों के लिए प्रथम चिकित्सा विद्यालय (Medical School) स्थापित किया गया।

आर्थिक सुधार—अलेक्जेण्डर द्वितीय के काल में आर्थिक क्षेत्र में भी उन्नति हुई। आर्थिक विकास हेतु रेल निर्माण का महत्वपूर्ण कार्य किया गया। 1855 में रूस में 1,000 वर्स्ट (1 वर्स्ट = 0·66 मील) से भी कम रेल लाइन थी जो 1875 में 1,74,000 वर्स्ट हो गयी। व्यापारी जहाजों का निर्माण भी किया गया। 1860 में रूस में व्यापारी जहाजों की संख्या 400 थी, जो 1895 में 2,500 हो गयी। इन सुधारों से उद्योगों एवं व्यापार के विकास को प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। 1861 में बैंक आफ रशिया (Bank of Russia) की स्थापना की गई। डाक व तार व्यवस्था में भी सुधार किया गया। 1857 में घरेलू उपयोग के लिए डाक टिकट प्रस्तावित किये गये तथा 1864 में विदेशी डाक हेतु टिकिट प्रचारित किये गये। 1855 से 1880 के बीच तक तार लाइनें 2,000 वर्स्ट से बढ़कर 75,000 वर्स्ट हो गयी। 1866 में तार के उपकरणों का आयात बन्द कर दिया गया तथा सभी आवश्यक उपकरणों का निर्माण रूस में ही होने लगा।

सुधारों की प्रतिक्रिया—अलेक्जेण्डर द्वितीय को इन उदारवादी सुधारों के बावजूद भीषण विरोध और खुले क्रांतिकारी आन्दोलन का सामना करना पड़ा। फलतः वह निकोलस प्रथम के समान प्रतिक्रियावादी बन गया। इस प्रकार का परिवर्तन कई कारणों से हुआ। कृपकदासों की मुक्ति के बाद भी उनकी स्थिति में सुधार नहीं हुआ, क्योंकि दास मुक्ति कानून सिद्धान्त में तो अच्छा था, किन्तु उसका व्यवहारिक पक्ष अत्यन्त ही कमजोर सिद्ध हुआ। किसानों का यह कहना था कि "हम आपके हैं, किन्तु जमीन हमारी है" (We are yours, but the Land is ours) किन्तु दास मुक्ति के पश्चात भी कई किसानों के पास भूमि नहीं थी। स्थानीय स्वशासन में भी अनेक कठिनाइयां उत्पन्न हो गयी। 21 नवम्बर 1866 को जेमस्तवो के करारोपण के अधिकार को सीमित कर दिया गया। इसके विरोध में जेमस्तवो ने सरकारी आदेशों को मानने से इन्कार कर दिया। फलतः उन्हें भंग कर दिया गया तथा इन जेमस्तवो पर सरकारी अध्यक्ष नियुक्त कर दिया गया। न्यायिक सुधारों से भी जनता को कोई लाभ नहीं पहुंचा। इसलिए जो लोकमत पहले सुधारों के नाम पर खुशी से उछल रहा था, वह अब गहरी निराशा में डूब गया। सम्पूर्ण देश में पुनः असंतोष प्रकट होने लगा। इन प्रतिक्रियाओं को देखकर अलेक्जेण्डर द्वितीय प्रतिक्रियावादी नीति की ओर झुक गया, क्योंकि अब उसे इस बात का भय होने लगा

कि यदि लोगों को और अधिक रियायतें दी गई तो जारशाही की निरंकुशता में दुर्बलता आ जायेगी और अन्त में समाप्त हो जायेगी। इसके अतिरिक्त सम्राट में अपने निर्णयों पर अटल बने रहने की क्षमता नहीं थी। उसके सभी सलाहकार प्रतिक्रियावादी थे, जो कुछ समय तक तो शान्त रहे किन्तु शासन के विरुद्ध बढ़ते हुए असंतोष के कारण सम्राट पर उनका प्रभाव बढ़ गया।

पोलैंड में भी जार ने उदारवादी नीति अपनाई थी, किन्तु पोलैंड के लोग रूसी नियन्त्रण से मुक्त होकर स्वतन्त्र पोलैंड की मांग कर रहे थे। धार्मिक समानता की नीति से पोलैंड के रोमन-कैथोलिक नाराज हो गये। पोलैण्ड में रूसी साम्राज्य के विरुद्ध षड़यंत्र आरम्भ हो गये तथा राष्ट्रवादियों ने गुप्त विध्वंशक कार्यवाहियां आरम्भ कर दी। 1865 में सम्पूर्ण पोलैंड में विद्रोह हो गया। किन्तु रूसी सेना की सहायता से विद्रोह का दमन कर दिया गया। पोलैण्ड के प्रति पूर्णतः प्रतिक्रियावादी नीति अपनायी गयी। पोलैण्ड में रूसीकरण की वृहत् योजना लागू की गई। सम्पूर्ण पोलैण्ड में रूसी भाषा के माध्यम से शिक्षा अनिवार्य कर दी गई। पोल अधिकारियों को हटाकर वहां रूसी अधिकारी नियुक्त किये गये तथा पोलैण्ड की राजनैतिक गतिविधियों पर कठोर नियंत्रण स्थापित कर दिया गया।

शून्यवाद—पोलैण्ड के विद्रोह ने जार को प्रतिक्रियावादी बना दिया तथा 1864 के बाद सुधारों की योजना प्रायः समाप्त सी हो गयी। ऐसी स्थिति में रूस के बुद्धिजीवी वर्ग में बड़ा असन्तोष उत्पन्न हुआ और इस असन्तोष के कारण ही रूस में शून्यवाद (Nihilism) का जन्म हुआ। शून्यवाद का जन्मदाता तुर्गनेव (Turgenev) नामक एक लेखक था, जिसने अपने उपन्यास 'फादर्स एण्ड सन्स' (Father and Sons) में इसके सिद्धान्तों को प्रतिपादित किया था। उपन्यास में बताया गया कि शून्यवादी किसी के सत्ता के सामने झुकता नहीं है और वह किसी सामाजिक या राजनैतिक संस्था का आदर नहीं करता। वह न तो किसी सिद्धान्त में विश्वास रखता है और न किसी प्रकार का बन्धन मानता है। उसकी मान्यता है कि वर्तमान काल की सभी राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, पारिवारिक और धार्मिक संस्थाओं को समूल नष्ट कर, उसके स्थान पर एक सर्वथा नवीन समाज की रचना की जानी चाहिए। शून्यवादी के लिए मुख्य समस्या रोटी की है। उसका कहना था कि समाज में शेक्सपीयर से अधिक महत्व एक मोची का है, क्योंकि लोगों को कविता की अपेक्षा जूतों की अधिक आवश्यकता है। शून्यवादी यथार्थवादी थे और अपने लक्ष्य प्राप्ति के लिए किसी भी साधन या सिद्धान्त का प्रयोग करने को तैयार थे। वास्तव में शून्यवादी उग्रवादी थे। शून्यवाद मूलतः शिक्षित व्यक्तियों का आन्दोलन था। वे खुले रूप से जार के स्वेच्छाचार, चर्च की पवित्रता, राज्य की सत्ता और अभिजातवर्ग के विशेषाधिकारों को चुनौती देते थे तथा अन्याय, अत्याचार और कुरीतियों के विरुद्ध आवाज उठाते थे। आरम्भ में यह आन्दोलन शान्तिपूर्ण था

किन्तु शासन की दमनकारी नीति के कारण इसने हिंसात्मक रूप धारण कर लिया। ज्यों-ज्यों शासन का दमन चक्र तेज होता गया, त्यों-त्यों यह आन्दोलन बाधा प्राप्त प्रबल स्रोत की तरह बढ़ता गया। अब शून्यवादी यह नारा लगाने लगे, "अब हम हिंसा करेंगे।" सरकार ने भी इस आन्दोलन को कुचलने के लिए लोगों पर भयंकर अनुमाषिक अत्याचार किये। जिन लोगों पर जरा भी शून्यवादी का शक होता, उसे कठोर दण्ड दिया जाता। सारे देश में गुप्तचरों का जाल बिछा दिया गया। विश्वविद्यालयों पर पुराने कठोर प्रतिबन्ध लगा दिये गये। रूस का शासन पूर्णतः प्रतिक्रियावादी हो गया। एक ओर शासन की प्रतिक्रियावादी नीति का भीषण ताण्डव था तो दूसरी ओर शून्यवादियों की हिंसक कार्यवाहियां प्रचण्ड वेग से बढ़ती जा रही थी। कुछ ही दिनों में छः उच्च पदाधिकारी और नौ सरकारी गुप्तचरों की हत्या कर दी गई।

इतने कठोर नियन्त्रण के बाद भी शून्यवादियों की गतिविधियां समाप्त नहीं हो सकी। क्रांतिकारियों की कार्य समिति ने अब अपना ध्यान सम्राट अलेक्जेण्डर द्वितीय की हत्या करने की दिशा में केन्द्रित किया। एक विशेष रेलगाड़ी को, जिसमें जार यात्रा कर रहा था, उड़ाने का प्रयत्न किया गया। सेंट पीटर्सबर्ग में स्थित जार के महल को एक क्रांतिकारी ने बारूद से उड़ा दिया। इन घटनाओं से रूस में हलचल मच गयी। विवश होकर जार ने इन क्रांतिकारियों से समझौता करना ही उचित समझा। उसने लारिस मेलीकॉव (Loris Melikov) द्वारा तैयार किये गये एक प्रलेख पर हस्ताक्षर किये, जो रूस का तथाकथित संविधान था। मेलीकॉव का विचार था कि क्रांतिकारियों की गतिविधियों को केवल पुलिस की शक्ति द्वारा नहीं दबाया जा सकता। उसे इस बात की भी जानकारी थी कि क्रांतिकारियों को समाज के उदार वर्ग का, जो शासन की प्रतिक्रियावादी नीति से असंतुष्ट था, नैतिक समर्थन प्राप्त था। उसकी यह धारणा थी कि उदारवादियों को संविधान द्वारा संतुष्ट किया जा सकता है और इससे क्रांतिकारी, उदारवर्ग के नैतिक समर्थन से वंचित हो जायेंगे। किन्तु जिस दिन अर्थात 13 मार्च 1881 को सम्राट अलेक्जेण्डर ने इस प्रलेख पर हस्ताक्षर किये, उसी दिन जब वह एक सैनिक परेड से वापस लौट रहा था, किसी शून्यवादी ने उस पर दो बम फेंके, जिससे जार अलेक्जेण्डर द्वितीय की मृत्यु हो गयी। इस प्रकार जिस शासन का आरम्भ आशापूर्ण वातावरण में हुआ था उसका बड़ा करुण अन्त हुआ।

जार अलेक्जेण्डर तृतीय (1881–1894)—अलेक्जेण्डर द्वितीय की मृत्यु के बाद उसका पुत्र अलेक्जेण्डर तृतीय 36 वर्ष की आयु में रूस के सिंहासन पर बैठा। वह अपने दायित्वों के प्रति पूर्ण निष्ठावान था, किन्तु जिद्दी और संकुचित विचारों का व्यक्ति था। वह निरंकुशता में विश्वास रखता था तथा उसे बनाये रखना चाहता था। अपने पिता की हत्या देखकर सुधार की नीति में उसका विश्वास नहीं

रहा। उसकी मान्यता थी कि सरकार की निर्बल नीति के कारण ही उसके पिता की हत्या हुई थी। अतः उसने उदारवादियों का दमन करने तथा प्रतिक्रियावादी तत्वों को प्रोत्साहन करने की नीति अपनाई।

अलेक्जेण्डर तृतीय ने सुधारों की योजना को जिस पर उसके पिता ने हस्ताक्षर किये थे, वापस ले लिया और वह योजना कभी प्रकाशित ही नहीं की गई। क्रान्तिकारी नेताओं को पकड़ कर जेल में डाल दिया गया और उन्हें कठोर दण्ड दिया गया। समाचार पत्रों की स्वतन्त्रता समाप्त करदी गयी। 1884 में विश्वविद्यालयों की स्वतन्त्रता को समाप्त कर दिया गया। विद्यार्थियों और अध्यापकों की गतिविधियों पर कठोर नियंत्रण स्थापित किया गया। फिर भी विद्यार्थी गुप्त रूप से क्रांतिकारी विचारों का प्रचार करते रहे। प्रत्येक जिले में, प्रांतीय गवर्नर द्वारा स्थानीय सामन्तों में लैण्ड केप्टन (Land Captain) नामक नये अधिकारी की नियुक्ति की गई, जिसे प्रशासकीय एवं न्याय सम्बन्धी अधिकार दिये गये। वे किसी भी व्यक्ति को शासन विरोधी होने के संदेह मात्र पर बन्दी बना लेते तथा मनमाने ढंग से न्याय करते थे। न्यायालयों की स्वतन्त्रता और जूरी पद्धति को समाप्त कर दिया गया। जेमस्तवो की शक्ति को क्षीण कर दिया गया। इस प्रकार अलेक्जेण्डर तृतीय ने घोर प्रतिक्रियावादी नीति का अवलम्बन करके जनता पर भीषण अत्यचार किये। शासन की इस कठोर नीति के कारण क्रांतिकारियों का साहस समाप्त हो गया तथा कुछ वर्षों के लिये रूस में क्रांतिकारी संस्थाओं की गतिविधियों का अन्त हो गया।

अलेक्जेण्डर तृतीय को दमनकारी और प्रतिक्रियावादी नीति से ही संतोष नहीं मिला। उसने गैर रूसी लोगों का रूसीकरण करने की नीति अपनाई। गैर रूसी लोगों पर रूसी भाषा और रूसी कानून लाद दिये गये। फिनलैण्ड में रिक्त पदों पर रूसी लोगों को नियुक्त किया गया और रूसी भाषा को फिनिश भाषा के समकक्ष स्थान दिलाने का प्रयत्न किया गया। पोलैंड में तो रूसीकरण की नीति का आरम्भ अलेक्जेण्डर द्वितीय के शासन काल से ही हो चुका था। इस रूसीकरण की नीति के अन्तर्गत यहूदियों पर भीषण अत्याचार किये गये। रूसी जनता में भी यहूदी विरोधी भावना प्रबल थी। अतः यहूदियों का दमन करने के लिये अनेक नियम बनाये गये। यहूदियों को रूस के 15 प्रान्तों की सीमा, जिसे यहूदी क्षेत्र कहा जाता था, को छोड़ कर जाने की आज्ञा नहीं थी। माध्यमिक स्कूलों और विश्वविद्यालयों में प्रवेश के लिये यहूदी छात्रों की संख्या सीमित कर दी गई। शासन की अत्याचारपूर्ण नीति के कारण बहुत से यहूदी परिवार अन्य देशों में, विशेषकर अमेरिका में जाकर बसने लगे। जो यहूदी विदेश नहीं जा सके वे रूस के समाजवादी दलों के सदस्य बन गये तथा शासन की नीति का विरोध करने लगे।

इस दमनकारी नीति के बावजूद रूस की व्यावसायिक एवं औद्योगिक उन्नति की नींव उसने डाली थी। उसी ने किसानों से लिया जाने वाला 'व्यक्ति कर'

(Poll Tax) समाप्त कर दिया। 1883 में संरक्षण टेरिफ (Protective Tariff) की नीति द्वारा रूस के उद्योगों को प्रोत्साहन दिया गया। अलेक्जेण्डर तृतीय के काल में खनिज उद्योग एवं धातु उद्योग का भी विकास हुआ। लोहे और कोयले की उपलब्धि के कारण रूस के दक्षिणी भाग में एक औद्योगिक क्षेत्र का विकास हो गया। खनिज तेल का उत्पादन जो 1885 में 800 लाख टन था वह 1894 में इससे तीन गुना अधिक हो गया। उद्योगों के विकास के साथ-साथ श्रमिकों की समस्याएं उत्पन्न हुई। अतः शासन का ध्यान मजदूरों की समस्या की ओर आकर्षित हुआ। 1882 के एक कानून द्वारा 12 वर्ष से कम उम्र के बच्चों को कारखानों में काम करना निषेध कर दिया गया तथा 12 से 15 वर्ष के बच्चों से 8 घण्टे से अधिक काम नहीं लिया जा सकता था। 1884–1885 के एक कानून द्वारा 21 वर्ष से कम आयु की स्त्रियों एवं युवकों से रात्रि में काम नहीं लिया जा सकता था। 1886 के एक अधिनियम द्वारा मजदूरों को काम पर लगाने तथा उन्हें हटाने के सम्बन्ध में कुछ नियम बनाये गये। इस नीति के कारण वित्त मन्त्री बुंगे (Bunge) को अपना पद छोड़ना पड़ा, क्योंकि रूस के उद्योगपति इस नीति से नाराज हो गये थे। बुंगे के उत्तराधिकारी ने उद्योगपतियों के हितों का ध्यान रखा, जिससे श्रमिकों का असन्तोष बढ़ने लगा।

13 वर्ष तक अपना दमनकारी शासन करने के बाद नवम्बर 1894 में जार अलेक्जेण्डर तृतीय की मृत्यु हो गई।

जार निकोलस द्वितीय (1894–1917)—अलेक्जेण्डर तृतीय की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र निकोलस द्वितीय 26 वर्ष की आयु में रूस का सम्राट बना। यद्यपि वह अपने पिता के समान ही निरंकुश शासन का पक्षपाती था, किन्तु उसके चरित्र में अपने पिता के समान दृढ़ता का अभाव था। उसकी बौद्धिक क्षमता सीमित थी, अतः कोई भी व्यक्ति उसे सरलता से प्रभावित कर सकता था। उस पर उसकी पत्नी महारानी अलेक्जेन्ड्रा (Alexandra) का अत्यधिक प्रभाव था। उसमें योग्य व्यक्तियों का चुनाव करने की क्षमता नहीं थी, अतः उसके शासन काल में अयोग्य व्यक्तियों को शासन की नीति को प्रभावित करने का अवसर मिल गया। इन चारित्रिक दुर्बलताओं के कारण एक स्वेच्छाचारी शासक के रूप में उसकी सफलता आरम्भ से ही संदिग्ध प्रतीत हो रही थी और फिर उस समय रूस के समक्ष जिस प्रकार की गम्भीर समस्याएं उत्पन्न हुई थी, उनका सामना करने के लिये वह सर्वथा अयोग्य था। उसने घोषणा की कि वह स्वेच्छाचारी शासन को बनाये रखने के लिये दृढ़ संकल्प है तथा जनता के प्रतिनिधियों द्वारा शासन के कार्यों में भाग लेने की आकांक्षाओं को वह एक निरर्थक स्वप्न मानता है। इस घोषणा से उदारवादियों को बड़ी निराशा हुई।

स्वेच्छाचारी शासन—निकोलस द्वितीय के शासन काल में भी प्रतिक्रियावाद के प्रबल समर्थक पदाधिकारी अपने पदों पर बने रहे, जिनमें पोबीडानास्तसेव

(Pobedonastsev) प्रमुख था। वित्त एवं उद्योग मन्त्री विटे (Witte) तथा गृह मंत्रालय के बीच किसानों और मजदूरों की समस्याओं के सम्बन्ध में मतभेद इतने अधिक तीव्र हो गये कि वे एक दूसरे की नीति का खुले रूप से विरोध करने लगे। निकोलस इन मतभेदों को समाप्त नहीं कर सका, जिससे शासन की नीति में एकरूपता समाप्त हो गयी। शासन की प्रतिक्रियावादी नीति के कारण जनता में असंतोष बढ़ता जा रहा था तथा सुधारों की मांग प्रबल होती जा रही थी। 1902 में एक समाजवादी क्रांतिकारी ने गृहमन्त्री सीपयागिन (Sipyagin) की हत्या कर दी। तत्पश्चात प्लेहवे (Plehve) को गृहमन्त्री बनाया गया, जो कठोर दमनकारी नीति द्वारा विरोध को समाप्त करना चाहता था। प्लेहवे के समय में किसी भी व्यक्ति को बिना कारण बताये जेल में डाला जा सकता था अथवा निर्वासित किया जा सकता था। अतः पुलिस के अत्याचारों में वृद्धि हो गयी। प्रेस की स्वतन्त्रता तो पहले ही समाप्त की जा चुकी थी। अब विद्यार्थियों एवं अध्यापकों की गतिविधियों पर भी कठोर नियन्त्रण स्थापित किया गया। मास्को विश्वविद्यालय के सैकड़ों विद्यार्थियों को जेलों में डाल दिया गया तथा सैकड़ों को साइबेरिया के जंगलों में निर्वासित कर दिया गया। इस समय रूस में सामाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक असन्तोष अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच गया था। जुलाई 1904 में क्रान्तिकारियों ने गृहमंत्री प्लेहवे की हत्या कर दी। किन्तु निकोलस ने इस असंतोष को दूर करने के लिए कोई कदम नहीं उठाया।

गैर रूसियों पर हत्याचार—निकोलस द्वितीय ने गैर रूसी जातियों का 'रूसीकरण' करने की नीति का भी कठोरता से पालन किया। फिनलैण्ड के सेना सम्बन्धी नियमों में परिवर्तन किया गया तथा सेना में रूसी अधिकारियों की नियुक्ति की गई। फिनलैंड की विधान सभा के अधिकारों को भी संकुचित कर दिया गया और फिनलैंड के डाक विभाग को रूस के साथ संलग्न कर दिया गया। वहां पर कठोर पुलिस की व्यवस्था की गई जिससे फिनलैण्ड का स्वायत्त शासन लगभग समाप्त हो गया। फिनलैंड की जनता ने रूस की इस नीति का तीव्र विरोध किया और इसी असंतोष के कारण यहां समाजवादी दलों का प्रभाव बढ़ने लगा। यहूदियों पर अत्याचार अत्यधिक बढ़ गये। रूसियों ने सैकड़ों यहूदियों की हत्याएं कर दी तथा उनकी सम्पत्ति को नष्ट कर दिया। रूसी साम्राज्य में रहने वाले आर्मेनियनों का भी दमन किया गया जिससे उनका विरोध भी बढ़ता चला गया। 1903 में आर्मेनियनों एवं रूसी सैनिकों के बीच सशस्त्र संघर्ष आरम्भ हो गया। गैर रूसी जातियों पर रूसी भाषा और रूसी चर्च को लादने का प्रयत्न किया गया। इस नीति के फलस्वरूप गैर रूसी जातियों में विद्रोह की भावना बलवती होने लगी।

आर्थिक नीति—वित्त एवं उद्योग मन्त्री विटे अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में रूस की प्रतिष्ठा को पुनः स्थापित करने तथा रूस को शक्तिशाली बनाने के लिए आर्थिक

विकास को आवश्यक मानता था। अतः उसने देश की आर्थिक स्थिति सुधारने का प्रयत्न किया। 1897 में रूस की मुद्रा को स्थायित्व प्रदान करने के लिए स्वर्णमान को अपनाया गया। पूंजीपतियों को रूस में पूंजी लगाने हेतु प्रोत्साहित किया गया तथा रूस में उद्योगों के विकास हेतु विदेशों से ऋण भी प्राप्त किया। 1894 में मदिरा के विक्रय पर सरकारी नियन्त्रण स्थापित किया तथा रेलों के संचालन पर राज्य का एकाधिकार स्थापित किया गया जिससे राष्ट्रीय आय में वृद्धि हुई। रेलों के विकास से रूस के उद्योग एवं व्यापार के विकास को प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। यातायात के साधनों के विकास के साथ-साथ लोहे और कोयलों की खानों का पता लगाया गया तथा देश में अनेक बड़े कारखाने स्थापित किये गये। देश की औद्योगिक उन्नति के लिए फ्रांस से आर्थिक सहायता ली गई। ब्रिटेन के प्रयत्नों से रूस का औद्योगिक विकास हुआ तथा विदेशी व्यापार में वृद्धि हुई। किन्तु विटे की इस नीति की रूस के कुछ नेताओं ने कड़ी आलोचना की, क्योंकि विदेश से ऋण लेने के कारण राष्ट्रीय ऋण अत्यधिक बढ़ गया था।

जन असंतोष एवं सुधारों की मांग—यद्यपि शासन की दमनकारी नीति के फलस्वरूप रूस में राजनैतिक गतिविधियां लगभग समाप्त हो गयी थी, किन्तु जन असंतोष और विभिन्न राजनैतिक विचारधाराओं का प्रभाव कम नहीं हुआ। औद्योगीकरण के फलस्वरूप श्रमिकों एवं पूंजीपतियों के बीच संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो गयी। किसानों की स्थिति में भी कोई आवश्यक सुधार नहीं हुआ था। अतः स्थिति अत्यन्त ही विस्फोटक प्रतीत हो रही थी और ऐसी स्थिति में विभिन्न राजनैतिक विचारधाराओं को बल प्राप्त हो रहा था। इस समय रूस में दो प्रकार की विचारधाराएं प्रचलित थीं—प्रथम तो क्रांतिकारी समाजवादी (Revolutionary Socialists), जिसमें मार्क्सवादी (Marxist) तथा पापुलिस्ट (Populist) सम्मिलित थे, जो क्रांति द्वारा रूस में निरंकुश सत्ता का अन्त करना चाहते थे। और दूसरे उदारवादी थे, जो जार की सत्ता के अन्तर्गत संवैधानिक शासन एवं सुधारों की नीति के समर्थक थे। उदारवाद का प्रभाव जेमस्तवो में अधिक था। 1902 में उदारवादियों ने जर्मनी से 'लिबरेशन' (Liberation) नामक समाचार पत्र प्रकाशित करना आरम्भ कर दिया जिसके माध्यम से उदारवादी विचारों का प्रचार किया गया। 1904 में उदारवादियों का एक दल संगठित हो गया जो संवैधानिक शासन के साथ-साथ व्यक्तिगत स्वतंत्रता और अन्य सामाजिक सुधारों की मांग करने लगा। रूस की जनता इन विचारों से काफी प्रभावित हुई। क्रांतिकारी समाजवादी दल, जो क्रांति द्वारा जार की सत्ता समाप्त करना चाहता था, दो दलों में विभाजित हो गया। सोशल डेमोक्रेटिक दल तथा क्रांतिकारी समाजवादी दल। सोशल डेमोक्रेटिक दल मूलरूप से मार्क्सवादी था। 1898 में रूस के प्रमुख नगरों में कार्यरत मार्क्सवादी संगठनों ने मिलकर 'जनतंत्रीय समाजवादी दल' का गठन किया। इस दल का प्रमुख नेता लेनिन था। इस दल के प्रथम अधिवेशन के बाद कार्यकारिणी के

सदस्यों को गिरफ्तार कर लिया गया, जिससे अगले चार पांच वर्षों तक इसकी गतिविधियां समाप्त हो गयी।

लेनिन का पूरा नाम ब्लादिमीर उल्यानोव था। लेनिन और उसका भाई अलेक्जेण्डर बाल्यकाल से ही क्रांतिकारी गतिविधियों में भाग लेने लगे थे। लेनिन के भाई को जार अलेक्जेण्डर तृतीय की हत्या के एक षड़यन्त्र में उसका हाथ होने के कारण 1887 में फांसी दे दी गई थी। 1895 में लेनिन को भी सेंट पीटर्सबर्ग के मजदूरों में क्रान्तिकारी विचारों का प्रचार करने के आरोप में बन्दी बना लिया गया तथा तीन वर्ष के लिए साइबेरिया में निर्वासित कर दिया गया। अपने निर्वासित काल में भी लेनिन ने पत्र व्यवहार द्वारा रूस के मार्क्सवादियों से अपना सम्पर्क बनाये रखा। 1900 में यद्यपि लेनिन निर्वासन से लौट आया, किंतु उसने रूस छोड़ दिया तथा 1905 तक विदेश में ही रहा। विदेश में रहकर भी उसने अपने दल के कार्यक्रम को आगे बढ़ाने का प्रयत्न किया।

बोल्शेविक और मेन्शेविक—आरम्भ में प्लेखानोव, जो जनतंत्रीय समाजवादी दल का ही एक नेता था, लेनिन का निकटतम सहयोगी था और वह भी रूस में लोकतंत्रीय शासन की स्थापना का पक्षपाती था, किन्तु कई वर्षों तक विदेश में रहने के कारण वह उदारवादी हो गया था। इसके विपरीत लेनिन एक सुदृढ़ और सक्रिय क्रांतिकारी समूह के गठन का पक्षपाती था, ताकि इस समूह के मार्गदर्शन में मजदूर वर्ग द्वारा एक सामाजिक क्रांति सम्पन्न हो सके। 1903 में जनतन्त्रीय समाजवादी दल की तृतीय बैठक हुई जिसमें लेनिन के अनुयायियों और उसके विरोधियों में संघर्ष उत्पन्न हो गया। इस संघर्ष का कारण यह था कि लेनिन और उसके अनुयायी जारशाही को समाप्त कर पूर्णतः जनतन्त्रीय शासन व्यवस्था स्थापित करने के पक्ष में थे, जबकि उसके विरोधी जार के नेतृत्व में ही सुधारों के पक्षपाती थे। परिणामस्वरूप जनतन्त्रीय समाजवादी दल दो भागों में विभाजित हो गया। लेनिन तथा उसके अनुयायी बोल्शेविक कहलाये तथा उसके विरोधी मेन्शेविक कहलाये।

क्रान्ति की पृष्ठभूमि—1903 तक रूस की जनता में असंतोष और विरोध की भावना अपनी चरम सीमा पर थी। इस असंतोष के अनेक कारण थे। शासन की दमनकारी नीति से जन मानस उत्तेजित हो उठा था। किसानों की दशा भी निरन्तर बिगड़ती जा रही थी। अतः क्रान्तिकारी समाजवादी दल को किसानों में अपना प्रचार कार्य बढ़ाने का अवसर मिल गया। आर्थिक मन्दी के कारण मजदूरों की स्थिति भी बिगड़ने लगी। किसानों और मजदूरों के साथ विद्यार्थियों का आन्दोलन भी जोर पकड़ता जा रहा था। इन विद्यार्थी आन्दोलनों के विरुद्ध शासन ने पुलिस का प्रयोग किया जिससे उनकी उत्तेजना और भी बढ़ गयी। 1904 में रूस-जापान युद्ध हुआ। युद्ध में रूस की पराजय से शासन के विरुद्ध असंतोष और अधिक बढ़ गया तथा 1904 में गृह मन्त्री प्लेहवे (Plehave) की, क्रांतिकारियों ने हत्या कर

दी। उसके बाद प्रिन्स मिर्सकी (Prince Mirsky) गृह मन्त्री बना जो कुछ उदार प्रकृति का व्यक्ति था। उसने जन विरोध को कम करने का प्रयास किया तथा सुधारों के विषय में बातचीत करने के लिए जेमस्तवो के निर्वाचित प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन बुलाया। इस सम्मेलन ने शासन के समक्ष अपनी 11 मांगें रखी जिसमें नागरिक स्वतन्त्रता, सभी नागरिकों को कानून के समक्ष समानता, स्थानीय स्वशासन के चुनावों में मताधिकार का विस्तार, धर्म, भाषण, लेखन और प्रेस की स्वतन्त्रता तथा एक निर्वाचित राष्ट्रीय सभा की स्थापना की मांगें प्रमुख थी। इस पर जार ने सुधारों का एक प्रारूप तैयार करवाया। यद्यपि यह प्रारूप स्वयं जार की अध्यक्षता में सम्पन्न हुई उच्च अधिकारियों की बैठक में स्वीकार कर लिया गया था, किन्तु इस प्रारूप के प्रकाशन के अवसर पर जार ने निर्वाचित राष्ट्रीय सभा से सम्बन्धित प्रावधान हटा दिया। अतः सुधारों के लिए आन्दोलन चलता रहा। दूसरी ओर 19 दिसम्बर 1904 को रूस ने पोर्ट आर्थर जापान को समर्पित कर दिया, जिससे जनता की उत्तेजना और अधिक बढ़ गई। औद्योगिक नगरों में हड़तालें होने लगी। जनवरी 1905 में जार पर गोली चलाई गई, इस गोली से जार तो बच गया, किन्तु रूस में क्रान्ति की आग प्रज्ज्वलित हो उठी।

रूस में 1905 की क्रान्ति—इसी समय सेंट पीटर्सबर्ग के कारखाने में मजदूरों की हड़ताल प्रारम्भ हुई। पादरी जार्ज गेपन (George Gapon) जो मजदूरों का नेता था, ने कारखाने के मालिक के समक्ष कुछ मांगें प्रस्तुत की जिन्हें अस्वीकृत कर दिया गया। फलतः सेंट पीटर्सबर्ग के सभी कारखानों में हड़ताल हो गई। मजदूरों की मांगों में आर्थिक सुधारों की अपेक्षा राजनैतिक सुधारों पर अधिक बल दिया गया था। जार्ज गेपन ने इस सम्बन्ध में व्यक्तिगत रूप से सम्राट से मिलने का विचार किया। रविवार 22 जनवरी 1905 को गेपन के नेतृत्व में मजदूरों का एक विशाल जुलूस, सम्राट के समक्ष अपनी मांगें प्रस्तुत करने के लिए सेंट पीटर्सबर्ग के विंटर पेलेस (Winter Palace) की ओर बढ़ा। जार ने जुलूस को रोकने के लिए सभी रास्तों पर सैनिक तैनात कर दिये। यद्यपि मजदूरों का यह विशाल जुलूस शान्तिपूर्वक आगे बढ़ रहा था, किन्तु सैनिकों ने उन पर गोली चला दी, उससे सैकड़ों व्यक्ति मारे गये। यहां तक कि छोटे-छोटे बच्चे जो पेड़ों पर चढ़कर जुलूस देख रहे थे, उन्हें भी गोली का शिकार बनाया गया। इस दुर्घटना में कितने लोग मारे गये यह कोई नहीं जानता। सरकारी सूत्रों के अनुसार 150 व्यक्ति मारे गये तथा 200 घायल हुए। बोल्शेविकों के इतिहास के अनुसार 1000 व्यक्ति मारे गये तथा 2000 घायल हुए। जो लोग इस आन्दोलन से सम्बन्धित थे, उनके अनुसार 500 लोग मारे गये तथा 3000 घायल हुए। 22 जनवरी का वह रविवार का दिन रूस के इतिहास में जार की बर्बरता का प्रतीक बन गया और उसे 'खूनी रविवार' (Blood Sunday) कहा जाने लगा। खूनी रविवार का दिन श्रमिक आन्दोलन के इतिहास में एक परिवर्तन बिन्दु बन गया।

उपरोक्त घटना के पश्चात् सम्पूर्ण देश में जार की निरंकुशता समाप्त करने की मांग की जाने लगी। वारसा और रिगा में मजदूरों और सैनिकों के बीच संघर्ष हुआ जिसमें अनेक व्यक्ति मारे गये। मजदूरों के साथ किसानों ने भी विद्रोह कर दिया। उन्होंने अपने भूस्वामियों के मकानों को जला डाला, और भूस्वामियों एवं पुलिस अधिकारियों की हत्या कर दी। विद्यार्थियों ने भी उपद्रव आरम्भ कर दिये जिससे विश्वविद्यालयों को बन्द करना पड़ा। रेलवे कर्मचारियों की हड़ताल से गाड़ियों का चलना बन्द हो गया। रूस-जापान युद्ध के बाद यह अव्यवस्था सेना में फैल गई। शासन ने क्रांति को कुचलने के लिए सेना का प्रयोग किया। पुलिस विभाग ने क्रांतिकारी संगठनों में अपने जासूसों को भेजा ताकि नेताओं के विरुद्ध प्रमाण एकत्रित किये जा सकें। कभी-कभी यह जासूस क्रांतिकारी दलों के नेता बन जाते तथा आंदोलन में इतने सक्रिय हो जाते कि शासन के लिए यह निश्चित करना कठिन हो जाता कि वे जासूसी कर रहे हैं या क्रांतिकारियों के साथ मिल गये हैं। इस प्रकार सर्वत्र क्रांति की लपटें फैल गई।

रूस की इन घटनाओं का प्रभाव रूस की राजनीति, वित्त एवं विदेशी संबंधों पर भी पड़ा। रूस को इस समय विदेशी ऋण की आवश्यकता थी। अतः रूस ने फ्रांस से ऋण की मांग की, किन्तु फ्रांस ने कहा कि पहले रूस के शासन एवं रूस की जनता के बीच सौहार्द्रपूर्ण सम्बन्ध स्थापित किये जांय तथा भविष्य में अव्यवस्था उत्पन्न न होने की गारण्टी दी जाय तभी ऋण दिया जा सकता है। फ्रांस के इस प्रत्युत्तर से जार अत्यन्त ही क्रोधित हुआ और उसने अपने गृह मंत्री को आदेश दिया कि शासन की समस्त शक्ति क्रान्ति को कुचलने में लगा दी जाय। इधर रूस के विभिन्न भागों में हड़तालों एवं उपद्रव की घटनाएं बढ़ती जा रही थी। इस क्रान्ति का नेतृत्व करने वालों में मेन्शेविक प्रमुख थे तथा इसे संचालित करने वाला प्रमुख व्यक्ति जार्ज खुस्तालेव नौसार था। रूस के शासक ने इसे बन्दी बना लिया, किन्तु वह कैद से भाग खड़ा हुआ और सेंट पीटर्सबर्ग पहुंचा, जहां उसने 'मजदूर प्रतिनिधियों की परिषद्' (Council of Workman Deputies) की स्थापना की; जिसे 'सोवियत' (रूसी शब्द 'सोवियत' का अर्थ कौंसिल से है) कहा गया। इस सोवियत का अध्यक्ष खुस्तालेव नौसार था, किन्तु वास्तविक नेता उपाध्यक्ष लियो ब्रोन्स्तीन था, जो बाद में ट्राटस्की के नाम से विख्यात हुआ। दूसरे शहर में भी इसी प्रकार की सोवियतों का निर्माण किया गया। ये सोवियतें इतनी प्रभावशाली सिद्ध हुई कि स्वयं विटे तक को सरकारी तार भेजने के लिए इन सोवियतों की सहायता लेनी पड़ी। ये सोवियतें एक सरकार के रूप में कार्य करने लगी। रूस के एक समाचार पत्र ने तो यहां तक लिख दिया कि रूस में दो सरकारें काम कर रही हैं। एक तो काउन्ट विटे की सरकार और दूसरी खुस्तालेव नौसार की सरकार।

इस क्रांति के समक्ष जार निकोलस द्वितीय को झुकना पड़ा। उसने अपने प्रतिक्रियावादी मन्त्रियों को हटा दिया और विटे को प्रधान मन्त्री नियुक्त किया।

30 अक्टूबर 1905 को जार ने बड़ी अनिच्छा से एक घोषणा पत्र जारी किया। इस घोषणा पत्र द्वारा रूसी जनता को निम्नलिखित अधिकार प्रदान किये गये—

(1) नागरिक अधिकार एवं स्वतन्त्रता अर्थात विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता, सभाएं करने की स्वतन्त्रता और संगठन स्थापित करने की स्वतन्त्रता।

(2) निर्वाचन राष्ट्रीय सभा (ड्यूमा) की स्थापना।

(3) भविष्य में ड्यूमा की सहमति के बिना कोई कानून न बनाना।

इस घोषणा पत्र को क्रियान्वित करने का दायित्व काउन्ट विटे को सौंपा गया।

इस घोषणा की विभिन्न राजनैतिक दलों में भिन्न-भिन्न प्रतिक्रिया हुई। मध्यमवर्गीय उदारवादियों का दल, जो अक्टूबरिस्ट कहलाता था, इस घोषणा से सन्तुष्ट था। किन्तु समाजवादी दल ने इस घोषणा पत्र का विरोध किया। उनका कहना था कि शासन अपने वादों को ईमानदारी से पूरा नहीं करेगा तथा यह घोषणा पत्र क्रान्तिकारी आन्दोलन को दबाने का प्रयास मात्र है, जैसे ही परिस्थितियां अनुकूल होंगी यह घोषणा पत्र रद्द कर दिया जायेगा। इधर लेनिन भी अक्टूबर घोषणा के बाद रूस लौट आया था। वह रूसी शासन की नीति का कट्टर विरोधी था। अतः अक्टूबर घोषणा पत्र का परिणाम यह हुआ कि वह क्रान्ति को तत्काल रोक नहीं सका। बोल्शेविक नेताओं ने मजदूरों को सलाह दी कि रूस में निरंकुश सत्ता के अन्त होने तक उन्हें संघर्ष करते रहना चाहिए। अतः जार के घोषणा पत्र के बाद भी हड़तालें चलती रही। फिर भी रूस के अधिकांश लोग अक्टूबर घोषणा से संतुष्ट हो चुके थे, इसलिए उन्होंने क्रांतिकारियों को समर्थन देना बन्द कर दिया। शासन ने विरोधियों की पारस्परिक फूट का लाभ उठाया और उनका पृथक रूप से दमन करने की नीति अपनाई। सोवियतों को तोड़ दिया गया तथा दंगों का क्रूरता से दमन किया गया। कई शहरों में यहूदियों के विरुद्ध हिंसात्मक कार्यवाहियां हुई जो 'सच्चे रूसी' अथवा 'जनता संघ' नामक एक प्रतिक्रियावादी संगठन द्वारा, जिसकी विचारधारा जर्मन नाजीवाद के समान थी, सम्पन्न की गई थी।

इस काल में काउन्ट विटे को प्रधान मन्त्री के रूप में कठिन स्थिति का सामना करना पड़ा। उसने क्रान्तिकारियों को सन्तुष्ट करने के लिए समाचार पत्रों से प्रतिबन्ध हटाया, किसानों के लगान में कमी की तथा मताधिकार को विस्तृत बनाने की चेष्टा की। किन्तु विभिन्न राजनैतिक दलों के आपसी मतभेदों का लाभ उठाकर जार के प्रतिक्रियावादी सलाहकारों ने अक्टूबर के घोषणा पत्र को निष्प्रभाव करने का प्रयत्न किया। मार्च 1906 में जार ने कुछ मौलिक कानूनों की घोषणा की; जिसके अनुसार ड्यूमा को नियम बनाने या विचार-विमर्श करने का अधिकार नहीं था। बजट के सम्बन्ध में भी उसके अधिकार सीमित थे। इसके अतिरिक्त उच्च

सदन के आधे सदस्यों का मनोनयन (Nomination) सम्राट द्वारा किया जाता था। जार किसी भी विधेयक पर अपना वीटो कर सकता था। इस प्रकार जार की शक्तियां और अधिकार पूर्णवत् बने रहे और व्यावहारिक रूप में ड्यूमा के संवैधानिक अधिकारों को अत्यन्त ही सीमित बना दिया गया। वस्तुतः जार के प्रतिक्रियावादी सलाहकार पुनः निरंकुश सत्ता स्थापित करना चाहते थे, अतः विटे को उनके विरोध का सामना करना पड़ा।

1905 की क्रांति का महत्व—यद्यपि 1905 की क्रांति सफल नहीं हो सकी, किन्तु रूस के इतिहास में इस क्रांति का महत्वपूर्ण स्थान है। क्रांतिकारियों के दबाव के कारण जार को संवैधानिक शासन की स्थापना का प्रथम प्रयोग करने के लिए विवश होना पड़ा। इस क्रांति के काल में मजदूर संघों को संगठित होने का अवसर प्राप्त हुआ और मजदूरों ने राष्ट्रीय स्तर पर एक महासंघ बनाने का प्रयत्न किया। सेंट पीटर्सबर्ग के मजदूरों ने एक समानान्तर सरकार भी स्थापित करने का प्रयत्न किया। यद्यपि आगे चलकर शासन ने इन सोवियतों को, जो समानान्तर सरकार के रूप में कार्य कर रही थी, समाप्त कर दिया, किन्तु मजदूरों को अब शासन का संचालन करने की अपनी क्षमता पर विश्वास हो गया। अभी तक रूस के उद्योगपति राजनीतिक गतिविधियों से अलग रहे थे, किन्तु इस क्रांति के फलस्वरूप जब सरकार ने मजदूरों के हितों को ध्यान में रखकर कुछ सुधार किये, उन्हें तब भी राजनीति की ओर ध्यान देना पड़ा और वे भी संगठित होकर सरकार पर दवाव डालने लगे। इस क्रांति में किसानों ने सक्रिय भाग लिया था, अतः इस क्रांति से किसानों को भी राजनैतिक अनुभव प्राप्त हुआ। यदि 1905 की क्रांति के नेताओं ने मिलकर कार्य किया होता और उसमें आपसी फूट उत्पन्न नहीं होती तो 1917 की क्रांति न होती और जार की निरंकुश सत्ता इसी समय समाप्त हो जाती।

प्रथम ड्यूमा—मार्च 1906 में ड्यूमा के निर्वाचन कराये गये। ड्यूमा के चुनाव होने से पूर्व जार ने विटे को त्याग पत्र देने के लिए विवश किया, क्योंकि वह सुधारों का समर्थक था। विटे के स्थान पर गारेमाइकिन को प्रधान मन्त्री बनाया गया। ड्यूमा के आधे से अधिक सदस्य ऐसे चुने गये थे जो निरंकुश शासन के विरुद्ध थे। 10 मई 1906 को ड्यूमा का प्रथम अधिवेशन हुआ। ड्यूमा में संवैधानिक लोकतन्त्रीय दल, जिसे 'केडेट' कहा जाता था और जिसका ड्यूमा में बहुमत था, उत्तरदायी शासन स्थापित करना चाहता था, जबकि जार और उसके मन्त्री ड्यूमा को एक परामर्शदात्री परिषद् मानते थे। प्रथम अधिवेशन में ही मांग की गई कि राजनैतिक वंदियों को रिहा कर दिया जाय, उच्च सदन के अधिकार कम किये जाय, मृत्यु दण्ड को समाप्त किया जाय, भूस्वामियों से उनकी भूमि ग्रहण कर भूस्वामियों को मुआवजा दे दिया जाय और वह भूमि किसानों में वितरित कर दी जाय और जार के मन्त्री ड्यूमा के प्रति उत्तरदायी हो। जार ने अपने प्रधान मन्त्री गारे-

माइकिन को इन मांगों का प्रत्युत्तर देने ड्यूमा में भेजा। उसका प्रत्युत्तर एक प्रकार से ड्यूमा की मांगों की अस्वीकृति थी। अतः ड्यूमा ने मन्त्रियों के विरुद्ध निन्दा प्रस्ताव पास कर दिया। किन्तु इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा, न तो मन्त्रिमण्डल ने त्याग पत्र दिया और न सदन को भंग किया गया। तत्पश्चात् मन्त्रिमण्डल ने सुधार सम्बन्धी कुछ विधेयक ड्यूमा में प्रस्तुत करने की योजना तैयार की, किंतु इसी समय ड्यूमा के सदस्यों ने भी अपने विधेयक प्रस्तुत करने की सूचना दी, सरकार द्वारा प्रस्तुत विधेयकों को ड्यूमा अस्वीकृत करती रही और ड्यूमा द्वारा पारित विधेयकों को सम्राट अस्वीकृत करता रहा। अतः ड्यूमा और शासन के बीच दिन प्रतिदिन तनाव बढ़ता गया। 16 जुलाई को ड्यूमा ने मन्त्रिमण्डल को त्याग पत्र देने को कहा। अतः सम्राट ने उदारवादियों को प्रसन्न करने के लिए गारेमाइकिन से त्याग पत्र ले लिया और उसके स्थान पर स्टॉलीपिन को प्रधान मंत्री बनाया। स्टॉलीपिन की सलाह से, अचानक 21 जुलाई 1906 को सम्राट ने ड्यूमा को भंग कर नये चुनाव कराने का आदेश दे दिया। प्रथम ड्यूमा की केवल 40 बैठकें हुई थी।

अचानक ड्यूमा को भंग करने से ड्यूमा के सदस्य क्रोधित हो उठे। केडेट दल और मजदूर दल के सदस्य फिनलैंड पहुंचकर वायवर्ग नामक स्थान पर मिले। यहां से उन्होंने एक अपील प्रसारित की जिसे 'वायवर्ग अपील' कहा गया। इस अपील में ड्यूमा को पुनः बुलाने को कहा गया तथा जनता से कहा गया कि जब तक सरकार ड्यूमा को पुनः प्रतिष्ठित न कर दे, वे सरकार को कोई टैक्स अदा न करे। इस अपील का जनता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। इस अपील का इतना परिणाम अवश्य निकला कि जिन व्यक्तियों ने उस अपील पर हस्ताक्षर किये थे, उन्हें ड्यूमा के अगले निर्वाचनों में भाग लेने से अयोग्य करार दे दिया गया। स्टॉलीपिन ने कठोर एवं दमनकारी नीति द्वारा विरोधियों की शक्ति को नष्ट करने का प्रयास किया।

द्वितीय ड्यूमा—रूस में विरोध और अराजकतापूर्ण वातावरण में, फरवरी 1907 में ड्यूमा के लिये नये चुनाव हुए। शासन ने अपने समर्थकों को निर्वाचित कराने का भरसक प्रयत्न किया, किन्तु उसे सफलता नहीं मिली। यह ड्यूमा शासन के प्रति, ड्यूमा से भी अधिक शत्रुता पूर्ण सिद्ध हुई। अतः 1907 में शासन एवं ड्यूमा के बीच जो संघर्ष हुआ, वह 1906 के संघर्ष की अपेक्षा अधिक तीव्र था। मार्च 1907 में द्वितीय ड्यूमा का अधिवेशन आरम्भ हुआ। ड्यूमा के सदस्यों ने स्टॉलीपिन की भूमि सम्बन्धी नीति की कड़ी आलोचना की। तत्पश्चात् स्टॉलीपिन ने ड्यूमा के 55 समाजवादी लोकतन्त्रीय दल के सदस्यों के विरुद्ध यह आरोप लगाया कि उन्होंने सम्राट निकोलस द्वितीय की हत्या करने का प्रयास किया है और उन्हें ड्यूमा से वहिष्कृत कर दिया जाय। ड्यूमा ने इस पर विचार करने के लिए एक समिति नियुक्त की किंतु इस समिति की रिपोर्ट प्राप्त होने से पहले ही 3 जून 1907 को सम्राट ने द्वितीय ड्यूमा को भंग कर दिया।

तृतीय ड्यूमा के निर्वाचन से पूर्व स्टॉलीपिन ने निर्वाचन नियमों में भारी परिवर्तन कर उसकी घोषणा कर दी। इन नियमों के अनुसार मताधिकारक को संकुचित कर दिया गया, जिससे कि ड्यूमा में केवल उच्च वर्ग के लोग ही निर्वाचित हो सकें। यद्यपि यह कानून, 1906 के मौलिक कानूनों के विरुद्ध थे, किंतु जार एवं स्टॉलीपिन ने इसकी कोई परवाह नहीं की।

तृतीय ड्यूमा—नये निर्वाचन नियमों के अन्तर्गत तृतीय ड्यूमा के निर्वाचन हुए, जिसमें अक्टूबरिस्ट दल को बहुमत प्राप्त हुआ तथा शासन के विरोधियों की संख्या कम हो गयी। शासन एवं ड्यूमा का संघर्ष अब समाप्त हो गया। शासन के समर्थकों का बहुमत होने के कारण मंत्रिमण्डल एवं ड्यूमा के सदस्यों ने पारस्परिक सहयोग से कार्य किया। स्टॉलीपिन की पद्धति के अनुसार ड्यूमा ने कृषि में सुधार किया तथा भूबन्दोबस्त किया। ड्यूमा ने उच्च शिक्षा हेतु भी प्रयास किया। ड्यूमा के प्रयत्नों से निरक्षरता धीरे-धीरे समाप्त होने लगी। 1877 में शिक्षितों का प्रतिशत 28 प्रतिशत था जो 1914 तक 43 प्रतिशत हो गया। तृतीय ड्यूमा 1907 से 1912 तक अपनी पूरी अवधि तक बिना किसी बाधा के कार्य करती रही।

किन्तु इस काल में जन-असन्तोष निरन्तर प्रकट हो रहा था। शासकीय अधिकारियों की हत्याएं, शासकीय अधिकारियों का अपहरण, बैंकों पर डाके और पूंजीपतियों के यहां लूटमार जन-असन्तोष को प्रकट कर रहे थे। प्रधान मन्त्री स्टॉलीपिन ने इन आन्तकवादियों का निर्दयतापूर्वक दमन किया। आतंकवादियों को शान्त करने के बाद राजनैतिक संतुलन की स्थिति उत्पन्न हुई ही थी कि सितम्बर 1911 में स्टॉलीपिन की हत्या कर दी गई। उसके पश्चात् वित्त मंत्री कोकावत्साव को प्रधान मन्त्री बनाया गया।

चतुर्थ ड्यूमा—1912 में चतुर्थ ड्यूमा के चुनाव हुए, जिससे भी शासन के समर्थकों को बहुमत प्राप्त हुआ। प्रधान मन्त्री कोकोवत्साव में दृढ़ता का अभाव था, अतः उसके मन्त्री अनियन्त्रित हो गये। वे प्रधान मन्त्री की जानकारी के बिना ही सीधे सम्राट से मिलकर उससे आदेश प्राप्त करने लगे। इस प्रकार अब मन्त्रियों पर न तो ड्यूमा का नियन्त्रण रह गया था और न ही प्रधान मंत्री का। कुछ प्रशासकों को छोड़कर शेष सभी उच्च प्रशासक पूर्ण रूप से प्रतिक्रियावादी हो चुके थे। इधर देश में अराजकता बढ़ने लगी, विद्यार्थियों का आन्दोलन भी प्रबल होने लगा तथा श्रमिकों की हड़तालों की संख्या में वृद्धि होने लगी। ऐसी विषम परिस्थितियों में 1914 में विश्वयुद्ध आरम्भ हो गया और इस विश्व युद्ध के दौरान 1917 में रूस में पुनः क्रांति की ज्वाला प्रज्ज्वलित हो उठी, जिसका विस्तृत विवेचन यथा स्थान पर आगे किया जावेगा।

रूस की विदेश नीति (1815-1914)

1814 में रूस में जार अलेक्जेण्डर प्रथम ने मित्र राष्ट्रों के साथ मिलकर नेपोलियन को पराजित किया था, इसलिये वियना कांग्रेस में रूस को प्रमुख स्थान

प्राप्त हुआ। वियना कांग्रेस में अलेक्जेण्डर प्रथम ने 'पवित्र मैत्री' (Holy Alliance) का प्रस्ताव प्रस्तुत किया, जिसे आस्ट्रिया, प्रशा और फ्रांस ने स्वीकार कर लिया। यद्यपि पवित्र मैत्री, व्यावहारिक रूप से सफल नहीं हो सकी किन्तु सैद्धांतिक रूप से यह एक आदर्श योजना थी। रूस, यूरोप की संयुक्त व्यवस्था का भी महत्वपूर्ण सदस्य था। 1818 में एक्सलाशेपल का सम्मेलन हुआ, जिसमें जार ने क्रान्तिकारी विचारों का दमन करने के लिये यूरोप के समस्त शासकों का सहयोग मांगा तथा स्पेन के शासक को सैनिक सहायता देने की मांग की। 1820 में उसने ट्रोपो के सम्मेलन में ब्रिटेन के विरुद्ध मेटरनिख की हस्तक्षेप की नीति का समर्थन किया। संयुक्त व्यवस्था के अन्तर्गत होने वाली बैठकों का अन्तिम सम्मेलन 1824–25 में सेन्ट पीटर्सबर्ग में हुआ, किन्तु उदारवादी एवं प्रतिक्रियावादी सिद्धांतों के बीच संघर्ष के कारण संयुक्त व्यवस्था सफल नहीं हो सकी।

रूस और तुर्की—जार अलेक्जेण्डर प्रथम की मृत्यु के बाद निकोलस प्रथम रूस के सिंहासन पर बैठा, जो तुर्की साम्राज्य की पतनोन्मुख स्थिति का लाभ उठाकर बाल्कन क्षेत्र में रूस का प्रभाव बढ़ाना चाहता था। रूस ने यूनान के स्वतन्त्रता संग्राम में यूनान की सहायता की। तुर्की के सुल्तान ने मिश्र के पाशा मेहमत अली से सहायता प्राप्त की, किन्तु रूस की सेनाओं ने एड्रियानोपोल पर अधिकार कर लिया और कुस्तुन्तुनिया की ओर बढ़ी। विवश होकर तुर्की को 14 सितम्बर 1829 को एड्रियानोपोल की सन्धि स्वीकार करनी पड़ी। एड्रियानोपोल की सन्धि में रूस की शक्ति एवं प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई। 1831 में मेहमत अली ने तुर्की से सीरिया छीन लेने के लिए सीरिया पर आक्रमण किया। इस समय रूस ने तुर्की की सहायता की। ब्रिटेन, फ्रांस और आस्ट्रिया, तुर्की पर रूस का प्रभाव सहन करने को तैयार नहीं थे, अतः उन्होंने तुर्की के सुल्तान पर दबाव डाला कि वह मेहमत अली को सीरिया से दे तथा रूसी सेनाओं को लौटा दिया जाय। किन्तु रूस ने अपनी सेनाओं को वापस बुलाने के पहले तुर्की से अपनी सहायता का मूल्य वसूल किया तथा तुर्की से उंकियार स्केलेसी की सन्धि कर ली। यह रूस की भारी कूटनीतिक विजय थी, किन्तु जुलाई 1840 में, लंदन की सन्धि द्वारा, रूस ने उंकियार-स्केलेसी की सन्धि से जो लाभ प्राप्त किये थे, सभी लाभ छीन लिये गये।

रूस तुर्की साम्राज्य के विभाजन का पक्षपाती था। 1844 में रूस ने ब्रिटेन के समक्ष तुर्की के विभाजन का प्रस्ताव रखा, किन्तु ब्रिटेन ने इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया। तत्पश्चात् रूस ने तुर्की के सुल्तान से मांग की कि वह तुर्की साम्राज्य में रहने वाले यूनानी ईसाइयों का संरक्षक रूस को मान ले, किंतु तुर्की के सुल्तान ने रूस की मांग अस्वीकार कर दी। इस पर रूस ने तुर्की के माल्देविया तथा वेलेशिया के प्रांतों पर अधिकार कर लिया। ब्रिटेन और फ्रांस ने रूस की इस कार्यवाही का विरोध किया, किन्तु रूस ने इसकी कोई परवाह नहीं की। अतः ब्रिटेन और फ्रांस ने संयुक्त

रूप से 27 मार्च 1854 को रूस के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। फलतः इतिहास प्रसिद्ध क्रीमिया का युद्ध हुआ। युद्ध में रूस को बड़ी अपमानजनक पराजय का सामना करना पड़ा तथा पेरिस की सन्धि की अपमानजनक शर्तें स्वीकार करनी पड़ी। इससे रूस की प्रतिष्ठा को गहरा आघात पहुंचा।

क्रीमिया युद्ध के समय आस्ट्रिया ने रूस को धोखा दिया था, अतः रूस उससे बदला लेना चाहता था। पोलैण्ड के विद्रोह के समय प्रशा के चान्सलर बिस्मार्क ने रूस का समर्थन किया, अतः दोनों में मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित हुए। जब जर्मनी के एकीकरण के लिए प्रशा और आस्ट्रिया के बीच युद्ध हुआ, तब रूस ने तटस्थ होकर 1856 की आस्ट्रिया की गद्दारी का बदला ले लिया। 1870 में फ्रांस और प्रशा के बीच युद्ध से लाभ उठाकर रूस ने पेरिस की सन्धि में काले सागर सम्बन्धी शर्तों को अमान्य घोषित कर दिया। उसने काले सागर में जहाजी बेड़ा भेजकर अपनी नौसैनिक शक्ति को पुनर्गठित किया।

सर्व स्लाव आंदोलन—बाल्कन प्रायद्वीप की स्लाव जाति में राष्ट्रीयता की भावना जोर पकड़ती जा रही थी। स्लाव लोग रूस, पोलैण्ड और आस्ट्रिया के स्लाव लोगों के साथ जातीय एकता महसूस करने लगे। परिणामस्वरूप सर्वस्लाव आंदोलन का जन्म हुआ। रूस इस आन्दोलन का समर्थन करके तथा साम्राज्य के बाहर की स्लाव जातियों के हितों का संरक्षक बनकर तुर्की साम्राज्य में अपना प्रभाव बढ़ाना चाहता था। 1867 में मास्को में एक विशाल सर्वस्लाव सम्मेलन हुआ, जिसमें एक सर्वस्लाववादी समिति की स्थापना की गई और उसका केन्द्रीय कार्यालय मास्को में रखा गया। तत्पश्चात् बाल्कन क्षेत्रों में पुस्तक एवं पुस्तिकाओं के माध्यम से सर्वस्लाव आंदोलन का प्रचार किया गया। 1870 में जब रूस ने पेरिस की सन्धि की काले सागर से सम्बन्धित शर्तों को अमान्य कर काले सागर में अपनी नौसैनिक शक्ति को पुनर्गठित किया तो बाल्कन क्षेत्र की स्लाव जाति पर इसका बड़ा प्रभाव पड़ा और वे अब तुर्की के विरुद्ध विद्रोह करने को उतारू हो गये। जुलाई 1875 में हर्जीगोविना के किसानों ने तुर्की के विरुद्ध विद्रोह कर दिया और कुछ समय बाद बोस्निया में भी विद्रोह हो गया। सर्बिया और मान्टीनीग्रो ने उनकी सहायता की। 1876 में बल्गेरिया ने तुर्की के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। तुर्की के सुल्तान ने अमानुषिक क्रूरता से इन विद्रोहों का दमन कर दिया।

रूस-तुर्की युद्ध—बल्गेरिया के अत्याचारों से बाल्कन क्षेत्र के स्लाव लोगों का क्रोध उबल पड़ा। अतः जून-जुलाई 1876 में सर्बिया व मान्टीनीग्रो ने तुर्की के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। अप्रैल 1877 में रूस ने तुर्की के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। तुर्की की सेनाएं, रूस की सेनाओं का सामना नहीं कर सकी। अन्त में तुर्की के सुल्तान ने विवश होकर रूस से सेन स्टीफेनो की सन्धि कर ली। इस सन्धि के अनुसार तुर्की ने सर्बिया और मान्टीनोग्रो की स्वतन्त्रता को स्वीकार

कर लिया तथा बोस्निया और हर्जीगोविना में सुधार करने का वचन दिया। इस सन्धि द्वारा वृहत बल्गेरिया का निर्माण किया गया। सेन स्टीफेनो की सन्धि से तुर्की पर रूस का प्रभाव बढ़ गया।

ब्रिटेन और आस्ट्रिया ने इस सन्धि का तीव्र विरोध किया। उनका कहना था कि पूर्वी समस्या का सम्बन्ध केवल रूस और तुर्की से ही नहीं है, वरन् यूरोप के सभी देशों से है। अतः सेनस्टीफेनो की सन्धि पर, यूरोपीय राज्यों के सम्मेलन में पुनः विचार किया जाय। रूस पहले तो सन्धि पर पुनर्विचार करने को तैयार नहीं हुआ किन्तु वह उस समय युद्ध करने की स्थिति में नहीं था और इंगलैण्ड को युद्ध के लिये तैयार पाकर, सन्धि पर पुनर्विचार करने को तैयार हो गया। 1878 की वर्लिन कांग्रेस में, सेन स्टीफेनो की शर्तों को आस्ट्रिया और ब्रिटेन की इच्छानुसार बदल दिया गया, जिससे रूस की प्रतिष्ठा को बड़ा आघात पहुंचा। वर्लिन कांग्रेस के पश्चात् कुछ समय तक जर्मनी और रूस के सम्बन्ध तनावपूर्ण रहे, क्योंकि वर्लिन कांग्रेस की अध्यक्षता, जर्मन चांसलर विस्मार्क ने की थी और उसने रूस के हितों की तुलना में आस्ट्रिया के हितों को अधिक महत्त्व दिया था। बिस्मार्क, रूस की मित्रता को खोना नहीं चाहता था, अतः उसके प्रयत्नों से 1881 में रूस के जार को तीन सम्राटों के संघ का पुनः सदस्य बना लिया गया (तीन सम्राटों का संघ सर्वप्रथम 1873 में स्थापित हुआ था, किन्तु वर्लिन कांग्रेस के बाद यह एक प्रकार से समाप्त हो गया था) और 1884 में तीन सम्राटों के संघ का नवीनीकरण किया गया। यद्यपि विस्मार्क ने अपने प्रभाव से रूस को आस्ट्रिया के साथ संघ में सम्मिलित कर लिया था, किन्तु वाल्कन क्षेत्र में रूस और आस्ट्रिया के परस्पर विरोधी स्वार्थों के कारण संघर्ष की सम्भावना बनी रही।

बल्गेरिया की समस्या—वर्लिन संधि ने पूर्वी रूमेलिया को बल्गेरिया से अलग कर दिया था, जब कि पूर्वी रूमेलिया में बल्गेरियन भी रहते थे। अतः दोनों प्रदेश के निवासी आपस में संयुक्त होना चाहते थे। 1885 में पूर्वी रूमेलिया ने बल्गेरिया के साथ मिलने की घोषणा कर दी। रूस ने संयुक्त बल्गेरिया के निर्माण का विरोध किया, क्योंकि वह बल्गेरिया के शासक अलेक्जेण्डर से नाराज था। सितम्बर 1886 में अलेक्जेण्डर ऑफ वेटनवर्ग ने सिंहासन का परित्याग कर दिया। इसके बाद रूस के तीव्र विरोध के बावजूद फर्डीनेण्ड ऑफ सेक्सकावर्ग को बल्गेरिया का शासक बना दिया गया, जिससे बल्गेरिया पर आस्ट्रिया का प्रभाव बढ़ गया। बल्गेरिया की समस्या के कारण रूस और आस्ट्रिया के सम्बन्ध बिगड़ गये, जिससे तीन सम्राटों का संघ समाप्त हो गया।

पुनर्आश्वासन सन्धि—विस्मार्क नहीं चाहता था कि आस्ट्रिया के कारण रूस और जर्मनी के सम्बन्ध सदा के लिए समाप्त हो जाय। उधर फ्रांस और जर्मनी के सम्बन्ध दिनों दिन खराब होते जा रहे थे। उस समय यह अफवाह भी फैली कि फ्रांस

और रूस के बीच गुट स्थापित करने के लिए गुप्त वार्ता चल रही है। इससे बिस्मार्क की चिन्ता बढ़ने लगी। इधर रूस भी एकाएक जर्मनी की मित्रता को समाप्त करना नहीं चाहता था। अतः जून 1887 में दोनों के बीच पुनर्आश्वासन की सन्धि हो गयी। 1890 में बिस्मार्क के पतन के बाद कैसर विलियम द्वितीय ने इस सन्धि का नवीनीकरण करने से इन्कार कर दिया। परिणामस्वरूप रूस ने फ्रांस से मित्रता करली।

रूस और फ्रांस की मैत्री—1887 के बाद रूस के राजनीतिज्ञ फ्रांस से मित्रता करने के पक्ष में थे, क्योंकि जर्मनी का झुकाव आस्ट्रिया की ओर अधिक था। बाल्कन प्राय:द्वीप में रूस और आस्ट्रिया के हित परस्पर टकराते थे और जर्मनी आस्ट्रिया का मित्र था। अतः रूस को अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए कोई दूसरा रास्ता ढूंढना आवश्यक था। इस समय रूस को अपने औद्योगिक विस्तार तथा साम्राज्य विस्तार की विविध योजनाओं के लिए आर्थिक सहायता की आवश्यकता थी। ऐसे समय में जर्मनी ने रूस की कोई सहायता नहीं की किन्तु फ्रांस ने 1888 में रूस को एक बड़ी रकम ऋण के रूप में देकर उसकी सद्भावना प्राप्त करली। आर्थिक सहायता के बाद फ्रांस की सरकार ने, फ्रांस में निर्मित नवीन प्रकार की रायफलें भी रूस को भेजने की स्वीकृति दे दी। इससे रूस और फ्रांस एक दूसरे के निकट आ गये। 1890 में पुनर्आश्वासन की सन्धि समाप्त हो गयी, अतः अब रूस के राजनीतिज्ञों को फ्रांस की मैत्री आवश्यक प्रतीत होने लगी। इधर फ्रांस भी मित्रहीन था तथा वह अपनी निसंगता की स्थिति समाप्त करना चाहता था। 1891 में फ्रांस के एक जहाजी बेड़े ने रूस की यात्रा की, जहां फ्रांसीसी बेड़े का भव्य स्वागत किया गया। इस प्रकार रूस और फ्रांस के सम्बन्ध निरन्तर बढ़ने लगे। फलतः 4 जनवरी 1894 को दोनों राज्यों के बीच विधिवत् मैत्री-सन्धि हो गयी।

इस सन्धि से रूस और फ्रांस दोनों को लाभ हुआ। अब रूस ने बाल्कन प्रायद्वीप की राजनीति में नये जोश के साथ प्रवेश किया। 1897 में रूस और आस्ट्रिया के सम्बन्धों में सुधार हुआ तथा मई 1897 में रूस और आस्ट्रिया के बीच बाल्कन क्षेत्र के सम्बन्ध में एक समझौता हो गया जिसके अनुसार दोनों राज्यों ने बाल्कन क्षेत्र में यथास्थिति बनाये रखने का वचन दिया। फ्रांस और जर्मनी ने इस समझौते पर प्रसन्नता व्यक्त की।

सुदूर पूर्व में विस्तार—सुदूर पूर्व में रूस की नीति का लक्ष्य कोरिया में एक बन्दरगाह प्राप्त करना था। कोरिया चीन के अधीन था और चीन अत्यन्त ही निर्बल राष्ट्र था। चीन के पड़ोसी देश उसकी निर्बलता का लाभ उठाकर वहां अपने पैर जमाना चाहते थे। इस समय जापान में औद्योगिक विकास बड़ी तीव्र गति से हो रहा था तथा जनसंख्या बड़ी तेजी से बढ़ रही थी। अतः जापान अपने

उद्योगों के लिए कच्चा माल प्राप्त करने तथा जनसंख्या को बसाने के लिए अतिरिक्त भूभाग प्राप्त करना चाहता था। जापान की दृष्टि चीन पर पड़ी और 1895 में उसने चीन पर आक्रमण कर दिया। युद्ध में चीन पराजित हुआ और 1895 में दोनों के बीच शिमोनेस्की की सन्धि हो गयी। इस सन्धि के अनुसार लियाओतुंग प्रायद्वीप और पोर्ट आर्थर पर जापान का अधिकार हो गया। जापान की इस विजय से रूस घबरा गया, क्योंकि लियाओतुंग प्रायद्वीप पर जापान का अधिकार हो जाने से रूस के हितों को आघात पहुंचने की सम्भावना थी। अतः रूस ने शिमोनेस्की की सन्धि का विरोध किया। फ्रांस और रूस की मैत्री हो चुकी थी, अतः फ्रांस ने भी रूस का समर्थन किया। जर्मनी, रूस और फ्रांस की मैत्री को भंग करना चाहता था, तथा रूस को फ्रांस की मैत्री से विमुख कर अपनी ओर करना चाहता था, अतः जर्मनी ने भी रूस का समर्थन किया। इस प्रकार रूस, फ्रांस और जर्मनी ने जापान पर दबाव डाला कि वह लियाओतुंग प्रायद्वीप से अपना अधिकार त्याग दे। इन तीनों बड़े राज्यों के दबाव के कारण विवश होकर जापान ने लियाओतुंग प्रायद्वीप से अपना अधिकार त्याग दिया और उसे चीन को लौटा दिया। इसके लिए चीन रूस का आभारी हो गया और उसने पीकिंग में रूस-चीन बैंक की स्थापना की अनुमति दे दी। 1896 में रूस और चीन के बीच सन्धि हुई जिसके अनुसार चीन ने रूस को मन्चूरिया होकर ट्रांस-साइबेरियाई रेल मार्ग की अनुमति दे दी तथा युद्ध के समय चीनी बन्दरगाहों के प्रयोग करने का अधिकार दे दिया। इसके बदले में रूस ने चीन को आश्वासन दिया कि किसी तीसरी शक्ति के आक्रमण के विरुद्ध वह चीन की सहायता करेगा। रूस-चीनी बैंक तथा ट्रान्स-साईबेरियाई रेल निर्माण से रूस को चीन में अपना प्रभाव स्थापित करने का अवसर मिल गया।

रूस और जापान दोनों कोरिया पर अपना प्रभाव स्थापित करना चाहते थे, किन्तु अभी वे युद्ध के लिए तैयार नहीं थे। अतः दोनों ने समझौतावादी नीति अपनायी। 19 जून 1896 को दोनों के बीच एक समझौता हुआ जिसके अनुसार दोनों ने कोरिया में शान्ति और व्यवस्था बनाये रखने में कोरिया के शासक को सहायता देने का निश्चय किया। कोरिया की पुलिस व्यवस्था को पुनर्गठित करने तथा विदेशी हस्तक्षेप रोकने के लिए दोनों ने कोरिया को ऋण देने की व्यवस्था की। इस प्रकार अब कोरिया दोनों का संरक्षित राज्य बन गया। चीन में रूस की शान्तिपूर्ण प्रवेश की नीति पूर्ववत् चलती रही।

1900 में चीन में 'बाक्सर विद्रोह' का लाभ उठा कर रूस ने मंचूरिया पर अधिकार कर लिया। यद्यपि रूस ने अन्य देशों को आश्वासन दिया कि मंचूरिया में शान्ति स्थापित होते ही वह मंचूरिया से अपनी सेना हटा लेगा, किन्तु वह गुप्त रूप से मंचूरिया के सम्बन्ध में चीन से समझौता करने का प्रयत्न करता रहा। जापान ने मंचूरिया में रूस की सेनाओं के बने रहने का तीव्र विरोध किया तथा अन्य देशों ने

भी मंचूरिया से सेना हटाने के लिये रूस पर दबाव डाला। अतः 1902 में रूस ने आश्वासन दिया कि वह 18 महिनों में मंचूरिया से अपनी सेना हटा देगा। इससे रूस और जापान के बीच तनावपूर्ण स्थिति उत्पन्न हो गयी। जापान रूस के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकना चाहता था, किन्तु दुर्भाग्य से जापान का कोई शक्तिशाली मित्र नहीं था।

रूस-जापान युद्ध (1904–5)—शिमोनेस्की की संधि के बारे में रूस ने जो रुख अपनाया उससे जापान अत्यन्त ही क्रोधित हो उठा था। जापान, रूस के इस कृत्य को कभी नहीं भूल सकता था और अवसर मिलते ही वह रूस से बदला लेना चाहता था। प्रारम्भ में रूस, मंचूरिया को अपने साम्राज्य में मिलाना चाहता था, क्योंकि रूस के लिये मंचूरिया का प्रान्त आर्थिक, राजनैतिक एवं सामरिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण था। वहां विभिन्न प्रकार के अनाज के अतिरिक्त इमारती लकड़ी, लोहा, कोयला और सोना जैसे खनिज पदार्थ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध थे। इसलिये रूस ने चीन में बॉक्सर विद्रोह का लाभ उठाकर मंचूरिया पर अधिकार कर लिया था। इधर जापान कोरिया में अपना राजनैतिक और आर्थिक प्रभाव स्थापित करना चाहता था। किन्तु मंचूरिया में रूस की नौ सेना का केन्द्र स्थापित हो जाने से कोरिया में जापान की स्थिति को खतरा उत्पन्न हो गया था, क्योंकि जापान ने कोरिया में अपने व्यापार एवं उद्योग का प्रसार किया था। इसीलिये जापान ने मंचूरिया से रूसी सेनाओं को हटाने की मांग की थी और रूस के प्रसार को रोकने के लिये ब्रिटेन से समझौता किया था। इस आंग्ल-जापानी संधि (1902) के बाद रूस ने मंचूरिया से अपनी सेनाएँ हटाने का वादा किया, किन्तु उसने वहां से कोई सेनाएँ नहीं हटाईं। कुछ दिनों बाद उसने मंचूरिया से अपनी सेनाएं हटाने से साफ इन्कार कर दिया और चीन से मांग की कि उसे मंचूरिया में आर्थिक आधिपत्य स्थापित करने की अनुमति दी जाय।

1896 में रूस और जापान के बीच यामागाता लोबेनाव समझौता हुआ था जिसके अनुसार रूस को यालू नदी के तटवर्ती क्षेत्र में लकड़ी काटने का अधिकार दिया गया था। किन्तु रूस ने इस समझौते की शर्तों का उल्लंघन करना आरम्भ कर दिया था। उसने कोरिया की सेना का पुनर्गठन करने के लिए रूसी सैनिक सलाहकार नियुक्त किये तथा वहां आर्थिक प्रभाव स्थापित करने का प्रयत्न किया, जबकि उसने यामागाता लोबेनाव समझौते में यह आश्वासन दिया था कि वह कोरिया की अखण्डता को बनाये रखेगा। 1903 में उसने रूसी सैनिकों को कोरिया की उत्तरी सीमा पर यालू नदी के क्षेत्र में लकड़ी काटने के बहाने भेज दिया। यद्यपि यामागाता लाबेनाव समझौते के अनुसार रूस को इस क्षेत्र में लकड़ी काटने का अधिकार था, किन्तु अब तक रूस ने इस अधिकार का उपयोग नहीं किया था और पांच वर्ष की अवधि के बाद रूस का यह अधिकार समाप्त हो गया था। अतः जब

रूसी सेना लकड़ी काटने के बहाने कोरिया में घुसी तो जापान ने हस्तक्षेप किया। जापान ने मांग की कि दोनों में एक समझौता हो जाय जिसके अनुसार वे कोरिया और चीन की प्रादेशिक अखण्डता को बनाये रखेंगे, पूर्वी एशिया में खुले दरवाजे की नीति का अवलम्बन करेंगे तथा रूस इस बात को स्वीकार करले कि कोरिया में जापान के विशेष स्वार्थ हैं। इसके बदले में रूस ने यह प्रस्ताव रखा कि जापान यह स्वीकार करे कि मंचूरिया में रूस के विशेष स्वार्थ हैं तथा कोरिया में जापान के लिये तरह तरह के प्रतिबन्ध। यह स्थिति जापान को कभी मान्य नहीं थी। अतः फरवरी 1904 में रूस और जापान की कूटनीतिक वार्ता समाप्त हो गयी।

जापान के मन्त्रिमण्डल ने 1903 में ही यह निर्णय कर लिया था कि यदि वार्ता असफल रही तो सेना का प्रयोग किया जायेगा। अतः 6 फरवरी 1904 को जापान ने रूस के साथ कूटनीतिक सम्बन्ध तोड़ लिये। जापान को किसी प्रकार का भय तो था नहीं और उसकी सेनाएं सुसंगठित और व्यवस्थित थी। ब्रिटेन जैसा शक्तिशाली राष्ट्र उसका मित्र था, अतः 8 फरवरी 1904 को जापान ने अचानक पोर्ट आर्थर पर आक्रमण कर दिया और 10 फरवरी को विधिवत् युद्ध की घोषणा कर दी। वस्तुतः रूस के जार को यह विश्वास ही नहीं था कि जापान उसके विरुद्ध युद्ध की घोषणा करने का साहस करेगा।

यह प्रथम अवसर था जबकि जापान यूरोप के एक महान शक्तिशाली राष्ट्र से लोहा ले रहा था। ऐसा प्रतीत हो रहा था कि युद्ध दो असमान प्रतिद्विन्द्वियों के बीच है। किन्तु जापान पहले से ही तैयार था, अतः विभिन्न स्थानों पर रूस की सेनाएं पराजित हो गई। यह युद्ध मूल रूप से मंचूरिया और कोरिया के क्षेत्र में लड़ा गया था। 26 मई 1904 को जापान ने रूस को नानशान में पराजित किया और रूस को पोर्ट आर्थर तक पीछे हटना पड़ा। जनवरी 1905 में मुकदन के युद्ध में रूस की सेना पूर्णरूप से परास्त हुई और वहां से भी उसे पीछे हटना पड़ा। मई 1905 में रूस-जापान के बीच समुद्री युद्ध हुआ। रूस ने एक अपना जंगी जहाजी बेड़ा ब्लाडीवास्टक की ओर भेजा। जापान ने रूस के जहाजी बेड़े पर आक्रमण कर उसे नष्ट कर दिया। इसके बाद तो रूस की विजय की सम्भावना ही समाप्त हो गयी। विश्व इतिहास में ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता कि जिस राष्ट्र ने 50 वर्ष पूर्व तीर कमानों के अतिरिक्त किसी हथियार को देखा तक नहीं था, वह आधुनिक हथियारों से लैस एक यूरोपीय महाशक्ति को पराजित कर दे।

अमेरीकी राष्ट्रपति थियोडोर रूजवेल्ट के प्रयत्नों से दोनों पक्ष युद्धबन्दी के लिये तैयार हो गये। अमेरिकी राष्ट्रपति ने दोनों को पोर्टसमाउथ में समझौते हेतु बातचीत के लिये आमंत्रित किया। 5 सितम्बर 1905 को दोनों के बीच सन्धि हो गयी जिसे पोर्टसमाउथ की संधि कहते हैं। इस संधि के अनुसार—

(1) पोर्ट आर्थर और लियाओतुंग प्रायद्वीप जापान को प्राप्त हुए।

(2) कोरिया पर जापान का प्रभुत्व स्वीकार किया गया।

(3) मंचूरिया को दो भागों में बांटा गया—उत्तरी मंचूरिया पर रूस का तथा दक्षिणी मंचूरिया पर जापान का प्रभाव स्वीकार किया गया। दोनों ने यह आश्वासन दिया कि मंचूरिया में वे अपने अधीन रेल मार्गों का उपयोग केवल औद्योगिक एवं व्यापारिक उद्देश्यों से ही करेंगे।

रूस-जापान युद्ध के परिणाम—इस युद्ध के द्वारा जापान ने यह सिद्ध कर दिया कि वह भी विश्व के शक्तिशाली राष्ट्रों में से एक है। इस युद्ध से जापान को इतने लाभ प्राप्त हुये थे, जिसकी कल्पना युद्ध से पूर्व जापान के शासकों ने भी नहीं की थी। चीन से युद्ध में विजय प्राप्त करने के बाद तीन शक्तियों के हस्तक्षेप से उसके उद्देश्यों की पूर्ति नहीं हो सकी थी। किन्तु इस युद्ध ने जापान की पूर्व की भी क्षतिपूर्ति कर दी। अब उसे चीन में घुसने का अवसर मिल गया। मंचूरिया पर रूस का प्रभाव केवल नाम मात्र का रह गया तथा कोरिया से तो उसका प्रभाव सदा के लिये समाप्त हो गया। अब जापान कोरिया में निर्विरोध अपना प्रभाव फैला सकता था और हुआ भी यही, 1910 में जापान ने कोरिया को पूर्णतया अपने साम्राज्य में मिला लिया। वस्तुतः रूस-जापान युद्ध, जापान के लिये वरदान सिद्ध हुआ, जिसके फलस्वरूप अब उसकी प्रतिष्ठा बढ़ गयी। इससे जापान की साम्राज्य-वादी महत्वाकांक्षाओं को बड़ा प्रोत्साहन मिला।

इस युद्ध से रूस की अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा को बड़ा आघात पहुंचा तथा अब सुदूर पूर्व में उसकी विस्तारवादी प्रवृत्ति पर रोक लगा दी गयी। इसके पश्चात् उसे निकट पूर्व और मध्य पूर्व की ओर अधिक ध्यान देना पड़ा। इस युद्ध का रूस की आन्तरिक स्थिति पर भी गहरा प्रभाव पड़ा। उस समय रूस में आन्तरिक क्रान्ति की आग सुलग रही थी। अतः युद्ध काल में रूसी जनता की सहानुभूति देश के प्रति नहीं थी। रूस की पराजय से रूस के निरंकुश शासन की अयोग्यता प्रमाणित हो गयी। लोगों को सुधारों की मांग करने का अच्छा अवसर मिल गया। 1905 की रूसी क्रान्ति, भीषण हत्याकाण्ड, ड्यूमा की स्थापना और रूस में वैध राज सत्ता की स्थापना के विफल प्रयास रूस-जापान युद्ध के ही परिणाम थे। पूर्वी एशिया में करारी पराजय के बाद उसने निकट पूर्व और बाल्कन प्रायद्वीप को अपना लक्ष्य बनाया। 1912–13 के बाल्कन युद्ध, रूस की इस पराजय का ही परिणाम था।

रूस-जापान युद्ध का यूरोप की राजनीति पर भी प्रभाव पड़ा। रूस की निर्बलता का लाभ उठाकर जर्मनी ने मोरक्को में फ्रांस को चुनौती दी। 22 जुलाई 1905 को जर्मन सम्राट विलियम द्वितीय ने बजर्को नामक स्थान पर रूस के जार से भेंट की तथा उसे समझाकर जर्मनी के साथ सन्धि करने के लिए तैयार कर लिया। जार ने संधिपत्र पर हस्ताक्षर भी कर दिये। किन्तु जार के वापस लौटने पर उसके

मन्त्रियों ने उसे सन्धि को अस्वीकार करने की सलाह दी, जिससे यह सन्धि कार्यान्वित नहीं हो सकी।

रूस-जापान युद्ध ने 1911 की चीनी क्रान्ति की पृष्ठभूमि तैयार कर दी। जापान की विजय से चीन के राजनीतिज्ञों में नई जागृति उत्पन्न हुई। चीन के देश भक्त जापान की प्रगति और शक्ति को बड़ी उत्सुकता से देखने लगे। अब वे चीन को जापान के समान उन्नत और शक्तिशाली राज्य बनाने की सोचने लगे। चीन में एक नये आन्दोलन का सूत्रपात हुआ। 1911 में चीन में एक महान क्रान्ति हुई जिसके फलस्वरूप चीन में राजतन्त्र समाप्त होकर गणतन्त्र की स्थापना हुई।

रूस—जापान युद्ध के बाद रूस को पुनः यूरोपीय समस्याओं की ओर ध्यान देना पड़ा, क्योंकि अब तक यूरोप की राजनीति में महत्वपूर्ण परिवर्तन हो चुके थे। आंग्ल-फ्रांसीसी समझौता हो चुका था और रूस ने उसे मान्यता प्रदान कर दी थी। मार्च 1905 में जर्मनी मोरक्को में फ्रांस को चुनौती देकर गम्भीर स्थित उत्पन्न कर दी थी। उस समय रूस ने मोरक्को की समस्या की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया, क्योंकि उसका ध्यान आन्तरिक विद्रोह और जापान के साथ युद्ध की ओर लगा हुआ था, किन्तु 1906 में मोरक्को की समस्या पर विचार करने हेतु जब अल्जीसिरास में सम्मेलन हुआ तो रूस ने फ्रांस का समर्थन किया।

आंग्ल-रूसी समझौता (1907 ई.)—1905 तक रूस और ब्रिटेन में काफी शत्रुता थी। अफ़गानिस्तान, फारस और तिब्बत में दोनों राज्यों के परस्पर विरोधी हित थे। 1903 में ब्रिटेन ने रूस से समझौता करने का प्रयास किया था, किन्तु उस समय रूस, ब्रिटेन से मैत्री करने को तैयार नहीं हुआ। ब्रिटिश विदेश मन्त्री एडवर्ड ग्रे, जर्मनी की बढ़ती हुई नौ सैनिक शक्ति को देखते हुए रूस से मैत्री करना आवश्यक समझता था, क्योंकि रूस के साथ समझौता हो जाने के बाद ब्रिटेन निकट पूर्व और सुदूर पूर्व के झंझटों से मुक्त हो जायेगा और जर्मनी का सामना कर सकेगा। इधर फ्रांस और रूस में 1894 में ही संधि हो चुकी थी और 1904 में उसका ब्रिटेन से समझौता हो चुका था। अतः फ्रांस अपने दोनों मित्रों के बीच मेल मिलाप करना चाहता था। अल्जीसिरास सम्मेलन के बाद तो रूस और ब्रिटेन में समझौता कराना फ्रांस की विदेश नीति का मुख्य लक्ष्य हो गया। दूसरी ओर मई 1906 में रूस में इजवोलसकी विदेश मन्त्री नियुक्त हुआ, जो ब्रिटेन से समझौता करने का पक्षपाती था। इजवोलसकी की मान्यता थी कि 'ट्रिपल एलायन्स' (जर्मनी, आस्ट्रिया और इटली का त्रिगुट) का सामना करने के लिये ब्रिटेन की मित्रता आवश्यक है। अक्टूम्बर 1906 में दोनों राज्यों के बीच समझौता वार्ता आरम्भ हुई। समझौते के मार्ग में जापान को लेकर कुछ कठिनाई उत्पन्न हुई। ब्रिटेन चाहता था कि दोनों के बीच संधि पर हस्ताक्षर होने से पूर्व रूस, जापान के साथ अपने

मतभेदों को दूर करले। फलत: 30 जुलाई 1907 को रूस और जापान के बीच एक समझौता हो गया, जिसमें तय किया गया कि वे पूर्वी एशिया में यथास्थिति बनाये रखने का प्रयत्न करेंगे और पारस्परिक झगड़ों का समाधान शान्तिपूर्ण तरीकों से करेंगे। तत्पश्चात 31 अगस्त 1907 को रूस और ब्रिटेन के समझौते पर हस्ताक्षर हो गये। इस समझौते के द्वारा अफगानिस्तान, फारस और तिब्बत के सम्बन्ध में दोनों देशों ने अपने मतभेद समाप्त कर दिये।

बोस्निया संकट—6 अक्टूबर 1908 को आस्ट्रिया ने बोस्निया और हर्जीगोविना पर अपने आधिपत्य की घोषणा कर दी जिससे बालकन क्षेत्र में गम्भीर स्थिति उत्पन्न हो गयी। रूस और सर्बिया ने इसका प्रबल विरोध किया। रूस ने आस्ट्रिया की कार्यवाही पर विचार करने के लिए यूरोपीय राज्यों का सम्मेलन आमंत्रित करने की मांग की। किन्तु आस्ट्रिया ने सम्मेलन की मांग को अस्वीकार कर दिया। जर्मनी ने आस्ट्रिया का समर्थन किया। अन्त में जर्मनी के चान्सलर बूलो ने ऐसा कदम उठाया कि विवश होकर रूस को झुकना पड़ा तथा बोस्निया व हर्जीगोविना पर आस्ट्रिया के अधिकार को स्वीकार करना पड़ा। बोस्निया संकट के परिणामस्वरूप रूस और आस्ट्रिया के बीच निरन्तर तनातनी बढ़ती गयी। 1912 में रूस के प्रोत्साहन से बालकन संघ का निर्माण हुआ और दो बालकन युद्ध हुए। बालकन युद्धों के कारण तो रूस और आस्ट्रिया की शत्रुता अपने चरम बिन्दु पर पहुंच गई।

रूस और आस्ट्रिया के बीच अधिक तनातनी के बावजूद रूस और जर्मनी के सम्बन्ध सामान्य रहे। जर्मनी और रूस एक दूसरे से मित्रता बनाये रखना चाहते थे। 1910 में रूस और जर्मनी के बीच पोतसडाम में वार्ता हुई, जिसके फलस्वरूप बगदाद रेल लाइन और फारस के सम्बन्ध में समझौता हो गया। इस समझौते के कारण ही अगादिर संकट के समय रूस ने फ्रांस का सक्रिय समर्थन नहीं किया। किन्तु जर्मनी ने आस्ट्रिया को जो 'ब्लैंक चेक' दे दिया था, उसके परिणामस्वरूप आस्ट्रिया बालकन प्रायद्वीप में अधिक उछल कूद मचाने लगा। अन्त में आस्ट्रिया की नीति के कारण ही जर्मनी को रूस के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करनी पड़ी।

अध्याय 15

इटली

(1870—1914)

(ITALY)

1870 में इटली का रोम पर अधिकार हो जाने से उसका महान लक्ष्य पूरा हो गया। 27 नवम्बर 1871 को इटली के शासक विक्टर इमेनुअल ने इटली की संसद के अधिवेशन का उद्घाटन किया और इस प्रकार इटली के राजनैतिक एकीकरण का कार्य पूर्ण हुआ। संयुक्त इटली के निर्माता कैवूर ने पीडमान्ट में प्रजातन्त्र के सिद्धान्तों के आधार पर संवैधानिक राजतन्त्र पहले ही स्थापित कर दिया था। अतः पीडमान्ट का संविधान ही थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ संयुक्त इटली का संविधान बन गया। इस संविधान के अनुसार द्विसदनात्मक संसद प्रणाली की स्थापना की गई—पहला सदन सीनेट कहलाता था, जिसके कुछ सदस्य कुलीन वर्ग से चुने जाते थे और कुछ सम्राट द्वारा मनोनीत किये जाते थे। दूसरा सदन चेम्बर ऑफ डेप्यूटीज अथवा प्रतिनिधि सदन कहलाता था, जिसके सदस्य पांच वर्ष के लिये निर्वाचित होते थे। मंत्रियों की नियुक्ति सम्राट द्वारा की जाती थी और वे चेम्बर ऑफ डेप्यूटीज के प्रति उत्तरदायी होते थे। मताधिकार का आधार सम्पत्ति था, अतः किसान एवं मजदूर मताधिकार से वंचित थे। नागरिकों के मौलिक अधिकारों की घोषणा की गई तथा संसद की अनुमति के बिना कोई भी कर लगाना निषिद्ध कर दिया गया।

इटली की समस्याएं—नवनिर्मित इटली को अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ा। इटली का बाह्य एकीकरण तो हो चुका था, किन्तु अभी तक भावात्मक एकता का अभाव था। इटली के भिन्न-भिन्न राज्यों के लोग शताब्दियों से एक दूसरे से सर्वथा भिन्न आचार व्यवहार करते आ रहे थे, अकस्मात् ही उनका एकीकरण हो गया था। यद्यपि समाज के उच्च वर्ग के लोग तो राष्ट्रीयता का अर्थ समझते थे, किन्तु सर्वसाधारण में अभी इस प्रकार की चेतना जागृत नहीं हुई थी। इटली के

प्रदेशों में प्राचीन ईर्ष्या की भावना अभी समाप्त नहीं हुई थी। उदाहरणार्थ लोम्बार्डी, पीडमान्ट की ओर शंका की दृष्टि से देख रहा था, टस्कनी को सिसली के प्रति कोई सहानुभूति नहीं थी तथा उत्तरी एवं दक्षिणी इटली के लोगों में बड़ा अन्तर था। उत्तरी इटली में राजनैतिक और आर्थिक विकास थोड़ा बहुत हो चुका था, किन्तु दक्षिणी इटली में बिल्कुल नहीं हुआ था। दक्षिणी इटली पूर्णतया कृषि प्रधान देश था, जबकि उत्तरी इटली में कुछ औद्योगिक क्षेत्र भी थे। उत्तरी इटली के लोग संवैधानिक शासन का उपभोग कर चुके थे, जबकि दक्षिणी इटली के लोग वर्षों से बूर्बो शासकों के निरंकुश शासन में रहे थे। इटली की सरकार के समक्ष यह बड़ी विकट समस्या थी कि उत्तरी और दक्षिणी इटली का समन्वय किस प्रकार किया जाय। स्वयं कैवूर ने कहा था, "उत्तर और दक्षिण का समन्वय करना आस्ट्रिया से युद्ध करने अथवा रोम से संघर्ष करने से भी कठिन है।" इटली में साक्षरता बहुत ही कम थी, जिससे लोग सामाजिक एवं आर्थिक समस्याओं को ठीक तरह से समझ नहीं पाते थे। दक्षिण में उत्तर की अपेक्षा तिगुनी निरक्षरता थी। संसद के अधिकांश सदस्य अपने प्रादेशिक हितों को अधिक महत्व देते थे और राष्ट्रीय हितों की अपेक्षा करते थे। इटली में अनेक गुप्त संस्थाएं कार्य कर रही थीं, जो देश में आतंक उत्पन्न कर रही थीं। देश में अत्यधिक निर्धनता थी और जब इटली की नई सरकार ने जनता पर नये कर लगाये उससे जनता की कठिनाइयां बढ़ गयी। निर्धनता के कारण मजदूरों और किसानों में भारी असन्तोष था। अराजकतावादी और समाजवादी इस असंतोष को भड़का कर जनता को हिंसात्मक विद्रोहों के लिये प्रोत्साहित कर रहे थे।

पोप और राज्य के सम्बन्ध—यद्यपि रोम पर अधिकार हो जाने के बाद इटली के एकीकरण का कार्य पूरा हो गया था, किन्तु इसके फलस्वरूप राज्य और पोप के सम्बन्धों की जटिल समस्या उत्पन्न हो गयी थी। एक ही नगर में दो प्रधान बन गये थे। यदि रोम से पोप को हटाकर किसी दूसरे स्थान पर भेजने की व्यवस्था की जाती तो समस्त यूरोप की कैथोलिक जनता के विरोध का सामना करना पड़ता। अतः पोप और राज्य के सम्बन्धों को निर्धारित करने के उद्देश्य से सम्राट विक्टर इमेनुअल द्वितीय ने पायस नवम् से बातचीत की, किन्तु वार्ता असफल रही। अतः इटली की संसद ने अपनी ओर से पोप के अधिकारों को निश्चित करने के उद्देश्य से 13 मई 1871 को एक कानून बनाया जिसे 'ला ऑफ पोपाल गारण्टीज' (Law of Popal Guarantees) कहा गया। इसके अनुसार पोप को वेटीकन और आसपास के सीमित क्षेत्र में एक स्वतन्त्र शासक के रूप में मान्यता दी गई तथा उसके विशेषाधिकारों को सुरक्षित रखने का आश्वासन दिया गया। वह विदेशों में अपने राजदूत भेज सकता था और विदेशों के राजदूतों को अस्वीकार कर सकता था। चूंकि पोप के राज्य का अधिकांश भाग इटली में मिला लिया गया था, अतः उसे

32,25,000 फ्रैंक वार्षिक पेंशन देने का निर्णय लिया गया। इसके अतिरिक्त उसे इटली की रेलों एवं डाक-तार व्यवस्था का निशुल्क उपयोग करने का अधिकार दिया गया। पोप को यह आश्वासन दिया गया कि उसके धार्मिक अधिकारों पर किसी प्रकार का नियंत्रण नहीं रखा जायेगा तथा उसके क्षेत्र में इटली का कोई कानून लागू नहीं होगा।

पोप पायस नवम् ने इस कानून को अस्वीकार कर दिया तथा उसने पेन्शन की राशि भी नहीं ली। वह अपने आप को 'वेटीकन का बन्दी' कहने लगा तथा यूरोपीय राज्यों से हस्तक्षेप करने की मांग करता रहा। उसने एक आज्ञा पत्र जारी किया जिसके अनुसार समस्त कैथोलिकों को चुनाव में भाग न लेने तथा इटली के सरकारी पदों को स्वीकार न करने को कहा गया। अतः पोप और राज्य के बीच संघर्ष आरम्भ हो गया। इटली के अधिकांश कैथोलिकों ने पोप के आज्ञा पत्र के बावजूद राज्य के साथ सहयोग किया। पोप लियो 13 वें (1878–1903) और पोप पायस दशम् (1903–1914) के समय पोप और राज्य के बीच कटुता कुछ कम हुई। 1905 में पोप के आज्ञा पत्र के कुछ अंशों को वापिस ले लिया गया। धीरे-धीरे पोप और राज्य दोनों शक्तियों को साथ-साथ रहने का अभ्यास हो गया।

इटली के राजनैतिक दल—इस समय इटली की आन्तरिक राजनीति में प्रमुख दो राजनैतिक दल थे–प्रथम दक्षिण पन्थी और दूसरा वाम पन्थी। दोनों उदारवाद के समर्थक थे तथा पादरीवाद के विरोधी थे, किन्तु दक्षिण पंथी दल राजतन्त्र में विश्वास रखता था जबकि वाम पन्थी दल गणतन्त्र का समर्थक था। किन्तु इस काल में इटली में कोई उच्च कोटि का नेता नहीं हुआ जो कि इटली की तात्कालीन समस्याओं का सामना कर सके। 1870 से 1876 तक संसद में दक्षिण पन्थियों का बहुमत रहा। दक्षिण पथियों को सर्व प्रथम पोप के साथ सम्बन्धों की समस्या का सामना करना पड़ा। तत्पश्चात दक्षिण पंथी सरकार ने सम्पूर्ण देश में सामान्य प्रशासन एवं न्यायाययों के लिये एकीकृत नियमों को लागू किया। स्थानीय स्वशासन की समस्याओं को पुनर्गठित किया गया और क्षेत्रीय नियमों को धीरे-धीरे समाप्त कर सम्पूर्ण देश में राष्ट्रीय सेना का पुनर्गठित किया तथा नौ सेना का निर्माण किया। अनिवार्य सैनिक सेवा लागू की गई।

क्रांतिकारी संस्थाओं का दमन—नेपिल्स और सिसली में मेफिया और केमोरा नामक गुप्त क्रांतिकारी संस्थाएं बुर्बो शासकों का विरोध करने के लिये स्थापित हुई थी। इटली का एकीकरण हो जाने के बाद इन गुप्त संस्थाओं ने लूटमार करना आरम्भ कर दिया था, जिसके परिणामस्वरूप देश में शान्ति एवं व्यवस्था बनाये रखना कठिन हो गया। अतः इटली की सरकार ने इन संस्थाओं का कठोरतापूर्वक दमन कर दिया।

आर्थिक कठिनाइयां—नवनिर्मित इटली के समक्ष आर्थिक कठिनाइयां भी उपस्थित हुईं। एकीकरण के समय विभिन्न राज्यों के ऋणों का दायित्व सरकार ने अपने ऊपर ले लिया था और अब प्रशासन तथा विकास पर व्यय करने के लिये बहुत अधिक धन की आवश्यकता थी। 1876 में जब सरकार ने रेलों का नियंत्रण अपने हाथ में ले लिया तो उसका खर्च और भी बढ़ गया। इस व्यय को पूरा करने के लिये सरकार को नये-नये कर लगाने पड़े। इन नये करों में सर्वाधिक अप्रिय 'अनाज पीसने का कर' (Grist Tax) था। उस समय तक यूरोप के किसी भी राज्य में इतने भारी और विभिन्न कर संभवतः नहीं लगाये गये थे। इन आर्थिक कठिनाइयों के बावजूद दक्षिण पन्थी सरकार ने अनेक रेल मार्गों का निर्माण किया तथा अनेक नयी सड़कें बनवायी। तार व्यवस्था में वृद्धि की गई तथा बन्दरगाहों में उल्लेखनीय सुधार किया गया।

जब 1874 में तम्बाकू के व्यापार पर एकाधिकार स्थापित करने की घोषणा की गई तो इसका तीव्र विरोध किया गया। 1876 में देश की वित्तीय स्थिति बिगड़ने लगी। फलतः मार्च 1876 में दक्षिण पन्थी मंत्रिमंडल को त्याग पत्र देना पड़ा और इसके साथ ही इस दल का प्रभाव समाप्त हो गया। 1876 से 1896 तक संसद में वामपन्थी दल का बहुमत रहा। इस काल में दो प्रधान मंत्रियों के नाम उल्लेखनीय है—

डेप्रेटिस—यह 1876 से 1887 तक प्रधान मंत्री बना रहा। चुनाव के पहले डेप्रेटिस और उसके सहयोगियों ने मतदाताओं को अनेक वचन दिये, किन्तु इन वचनों को पूरा करना संभव नहीं था। फिर भी उसके शासन काल में अनेक महत्वपूर्ण कार्य हुये। करों की दरों में संशोधन किया गया, जिससे कम आय वाले लोगों पर करों का भार अधिक न पड़े। 1877 में अनिवार्य शिक्षा कानून पारित कराया, जिसके अनुसार 6 से 9 वर्ष की आयु के बच्चों के लिये प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य कर दी गई। पादरियों के शासन विरोधी प्रचार को रोकने के लिये अनेक प्रतिबन्ध लगाये जिससे भाषण और लेखन की स्वतन्त्रता समाप्त हो गयी। इससे देश में बड़ा असंतोष उत्पन्न हुआ और 1877 के अन्त में डेप्रेटिस ने त्याग पत्र दे दिया, किन्तु कुछ दिनों बाद वह पुनः प्रधान मन्त्री बन गया। 1882 में एक कानून के द्वारा 21 वर्ष की आयु वाले सामान्य शिक्षित नागरिकों को मताधिकार प्राप्त हो गया। 1884 में अनाज पीसने का कर समाप्त किया गया। डेप्रेटिस के प्रधान मन्त्रित्व काल में इटली के राजनैतिक दलों का अपने दल के सदस्यों पर अनुशासन समाप्त हो गया। संसद के एक ही दल के सदस्य विभिन्न गुटों में विभाजित हो गये। इसका बड़ा ही अनर्थकारी प्रभाव पड़ा। इससे अब संसद सदस्य व्यक्तिगत स्वार्थों की सिद्धि में लग गये तथा राष्ट्रीय हितों की उपेक्षा करने लगे। 1887 में डेप्रेटिस ने त्याग पत्र दे दिया और कुछ समय बाद उसकी मृत्यु हो गयी।

क्रिस्पी—डेप्रे टिस की मृत्यु के बाद 1887 में क्रिस्पी प्रधान मन्त्री बना। जनता को क्रिस्पी से बड़ी आशाएं थीं किन्तु उसकी अधिकारवादी प्रवृत्ति, आदेशपूर्ण स्वभाव और अपनी योग्यता पर गर्व उसकी सफलता में बाधक सिद्ध हुए। जिस समय क्रिस्पी प्रधान मन्त्री बना उस समय इटली की जनता में बड़ा असंतोष फैला हुआ था। शासन में भ्रष्टाचार का बोलबाला था तथा राजनीतिज्ञों का नैतिक पतन हो चुका था। फिर भी क्रिस्पी ने कुछ महत्वपूर्ण सुधार किये। एक कानून द्वारा प्रान्तों एवं कम्यूनों के प्रशासन सम्बन्धी अधिकारों में वृद्धि की गई। उसने राष्ट्रीय स्वास्थ्य एवं स्वच्छता कानून बनाया जिसमें जन साधारण के स्वास्थ्य सुधार हेतु अनेक उपयोगी कार्य किये जाने का प्रावधान रखा गया। उसने पोप से समझौते हेतु वार्ता की, किन्तु उसका कोई परिणाम नहीं निकला। इससे क्रुद्ध होकर उसने पादरीवाद विरोधी नीति अपनायी, जिससे कैथोलिक उससे अप्रसन्न हो गये। क्रिस्पी ने किसानों और मजदूरों की दशा सुधारने के लिये कुछ नहीं किया, प्रशासन में व्याप्त भ्रष्टाचार में कोई कमी नहीं हुई और उसके गर्व पूर्ण व्यवहार से अधिकांश संसद सदस्य उससे अप्रसन्न हो गये। 1891 में उसे त्याग पत्र देना पड़ा।

क्रिस्पी के त्याग पत्र के बाद रूडिनी ने दक्षिणपन्थी एवं वामपन्थी दलों का संयुक्त मन्त्रिमण्डल बनाया, किन्तु 1892 में रूडिनी को भी त्याग पत्र देना पड़ा। तत्पश्चात जियोलिटी ने मन्त्रिमण्डल बनाया, किन्तु बैंक काण्ड के मामले में वह बदनाम हो गया तथा 1893 में उसे भी त्याग पत्र देना पड़ा। 1893 में क्रिस्पी पुनः प्रधान मन्त्री बना।

समाजवाद का प्रभाव—इटली में किसानों और मजदूरों में असंतोष बढ़ता जा रहा था तथा लोगों का राजतन्त्र में विश्वास उठने लगा। ऐसी स्थिति में समाजवाद का प्रभाव बढ़ना स्वाभाविक ही था। 1891 में मिलान में समाजवादी दल की स्थापना हुई। सिसली में भी समाजवादी विचारधारा का प्रभाव बढ़ने लगा। समाजवादियों के बढ़ते हुये प्रभाव एवं किसानों और मजदूरों में असंतोष फैलने के फलस्वरूप जगह जगह विद्रोह फैलने लगे। 1887 में ट्यूरिन, मिलान और रोम में विद्रोह हुये। 1893 में सिसली में मजदूरों ने विद्रोह कर दिया। 1898 में इटली के विभिन्न भागों में खूनी विद्रोह हुए। दक्षिण और मध्य इटली में तो रोटी की समस्या को लेकर विद्रोह हुए किन्तु उत्तरी इटली में क्रांतिकारी भावनाओं के कारण विद्रोह हुआ। क्रिस्पी ने समाजवादियों का दमन करने की नीति अपनायी। उपद्रवग्रस्त क्षेत्रों में सैनिक कानून लागू किया तथा सेना भेजदी गई। 1894 में एक कानून द्वारा उन नागरिकों को मताधिकार से वंचित कर दिया गया, जो शासन के विरोधी थे। किन्तु इससे समाजवाद का प्रभाव कम नहीं हुआ। 1900 में क्रिस्पी का पतन हो गया। तत्पश्चात रूडिनी, पोलोक्स और सोरेको क्रमशः प्रधान मन्त्री बने। समाजवाद का प्रभाव निरन्तर बढ़ता गया। समाजवादी नेताओं को कठोर दण्ड दिये गये, इससे क्रुद्ध होकर एक अराजकतावादी ने जुलाई 1900 में इटली के

शासक हम्बर्ट प्रथम की हत्या कर दी। उसकी मृत्यु के बाद उसका पुत्र विक्टर इमेनुअल तृतीय इटली का शासक बना। इसी समय सोरेको मन्त्रिमण्डल का पतन हुआ तथा जेनारडेली प्रधान मन्त्री बना। उसने उदारवादी नीति अपनाई किन्तु रूढ़िवादियों के विरोध के कारण वह अपनी नीति कार्यान्वित नहीं कर सका। उसके समय में जगह-जगह मजदूरों की हड़तालें हुई तथा दक्षिण प्रांतों में किसानों और मजदूरों के उपद्रव हुए। अक्टूबर 1903 में जेनारडेली ने त्याग पत्र दे दिया।

जिओलिटी की प्रधानता—1903 से 1914 तक जिओलिटी इटली की राजनीति पर छाया रहा। वह बार बार प्रधान मंत्री बना। बीच बीच में कुछ अन्य व्यक्ति भी प्रधान मंत्री बने किन्तु उनकी नीतियों पर भी जिओलिटी का प्रभाव बना रहा। उसके काल में पोप ने कैथोलिकों पर इटली की राजनीति में भाग न लेने का प्रतिबन्ध हटा लिया। विदेशी व्यापार में अप्रत्याशित वृद्धि हुई, उद्योगों का विकास हुआ, जिससे राज्य की आय में वृद्धि होने लगी। महत्वपूर्ण वित्तीय सुधार किये गये जिससे राजकोष को अत्यधिक लाभ हुआ। 1906 में रेल मार्गों का नियंत्रण सरकार ने अपने हाथ में ले लिया। मजदूरों की समस्याओं का समाधान करने का प्रयत्न किया गया। मजदूर संघों को कानूनी मान्यता दी गई तथा मजदूर और मालिकों के झगड़ों को मध्यस्थता द्वारा सुलझाने का प्रयत्न किया गया। बीमारी तथा दुर्घटनाओं की स्थिति में मजदूरों के लिये अनिवार्य बीमा योजना चालू की गई। 1908 में सप्ताह में एक दिन के अवकाश की व्यवस्था की गई। फिर भी मजदूरों का असंतोष कम नहीं हुआ। 1912 में निजी बीमा कम्पनियों का राष्ट्रीकरण कर दिया गया तथा बैंकिंग के क्षेत्र में सहकारी साख समितियों को प्रोत्साहन दिया गया। 1912 के निर्वाचन कानून द्वारा वयस्क मताधिकार को स्वीकार कर लिया गया। इस काल में राष्ट्रवाद का प्रभाव बढ़ने लगा तथा राष्ट्रवादी सैनिक शक्ति को बढ़ाने, उपनिवेशों का विस्तार करने तथा उग्र विदेश नीति की मांग करने लगे। मार्च 1914 में जिओलिटी ने त्याग पत्र दे दिया।

औपनिवेशिक नीति—एकीकरण के पश्चात आन्तरिक समस्याओं के कारण इटली औपनिवेशिक विस्तार की ओर ध्यान नहीं दे सका, किन्तु कुछ समय बाद बढ़ती हुई जनसंख्या को बसाने के लिए, अपनी शक्ति को बढ़ाने के लिए तथा देश में निर्मित माल की बिक्री के लिए औपनिवेशिक विस्तार की ओर ध्यान देना आवश्यक हो गया। इटली ट्यूनिस पर अपना प्रभाव स्थापित करना चाहता था किन्तु बिस्मार्क ने फ्रांस को ट्यूनिस पर अधिकार करने हेतु प्रोत्साहित किया। 1881 में ट्यूनिस पर फ्रांस का संरक्षण स्थापित हो गया जिससे इटली की औपनिवेशिक महत्वाकांक्षा को बड़ा आघात पहुंचा तथा इटली ने फ्रांस से क्रुद्ध होकर फ्रांस के विरुद्ध 1882 में आस्ट्रिया व जर्मनी से मैत्री करली। किन्तु इस सन्धि में उसे औपनिवेशिक नीति का समर्थन करने का कोई स्पष्ट आश्वासन नहीं दिया गया।

1885 में इंगलैण्ड से प्रोत्साहित होकर इटली ने लाल सागर के समुद्रतटवर्ती क्षेत्र वेलुल और मेसोम्रा पर अधिकार कर लिया। 1889 में लाल सागर के तटवर्ती क्षेत्रों को मिलाकर इरीट्रिया का नया उपनिवेश स्थापित किया। 1890 में उसने सोमालीलैण्ड पर भी अपना प्रभुत्व स्थापित किया।

1889 में इटली ने एवीसिनिया के शासक मेनलिक से उक्कियाली की सन्धि की। इस सन्धि की शर्तें स्पष्ट नहीं थी, किन्तु इटली ने उसका अर्थ यह लगाया कि इस सन्धि द्वारा एवीसिनिया इटली का संरक्षित राज्य बन गया है। अतः इटली ने यह घोषणा कर दी कि एवीसिनिया इटली का संरक्षित राज्य है। इससे मेनलिक अत्यन्त ही अप्रसन्न हुआ और इटली की विस्तारवादी नीति का विरोध करने का निश्चय किया। इधर इटली ने एवीसिनिया के विभिन्न क्षेत्रों पर अधिकार करने की योजना बनाई। फलतः मार्च 1896 में इटली व एवीसिनिया के बीच एडोवा का युद्ध हुआ जिसने इटली परास्त हुआ और उसे एवीसिनिया के साथ आदिस अवावा की सन्धि करनी पड़ी। इटली ने एवीसिनिया पर संरक्षण के अधिकार को त्याग दिया तथा इरीट्रिया के उपनिवेश का विस्तार न करने का वचन दिया। इस पराजय से इटली की प्रतिष्ठा को भारी धक्का लगा तथा अफ्रीका में अपना साम्राज्य स्थापित करने की आकांक्षा चूर चूर हो गई। उसके बाद कुछ वर्षों तक इटली का औपनिवेशिक विस्तार स्थगित रहा।

इटली कई वर्षों से ट्रिपोली पर अपना प्रभाव स्थापित करना चाहता था, जो तुर्की के अधीन था। किन्तु यूरोप के बड़े राज्यों और विशेषकर फ्रांस के सहयोग बना उस पर अधिकार करना कठिन था। इसके लिए 1902 ये उसने फ्रांस से ोता किया जिससे फ्रांस ने इटली को ट्रिपोली में अपना प्रभाव बढ़ाने की न्त्रता दे दी। 1905 में इटली ने घोषणा कर दी कि सभी शक्तियों ने ट्रिपोली में हमारे अधिकारों का समर्थन किया है। किन्तु उस समय इटली, तुर्की से अपने सम्बन्धों को विगाड़ना नहीं चाहता था। 1908 के प्रारम्भ में इटली व तुर्की के सम्बन्ध बिगड़ने लगे। 1909 में इटली ने रूस से समझौता कर लिया जिसमें रूस ने इटली को ट्रिपोली पर अधिकार करने की स्वीकृति दे दी। इस पर इटली ने ट्रिपोली पर अधिकार करने की पूरी तैयारी कर ली, केवल उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा थी। 1911 में अगादिर संकट ने उसे अवसर प्रदान कर दिया। 29 सितम्बर 1911 को उसने तुर्की के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। अक्टूवर में इटली की सेनाओं ने ट्रिपोली पर अधिकार कर लिया और आस्ट्रिया ने इटली की नीति का विरोध किया, किन्तु 1912 में बाल्कन युद्धों के समय तुर्की ने इटली से लॉसान की सन्धि करली जिसमें ट्रिपोली पर इटली के अधिकार को स्वीकार कर लिया गया। ट्रिपोली का नाम लीबिया रखा गया।

लीबिया पर अधिकार हो जाने के बाद इटली को साम्राज्य विस्तार का कोई अवसर नहीं मिला।

इटली की विदेश नीति—इटली अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त करना चाहता था। अतः उसने एक सशक्त विदेश नीति का पालन किया। इटली, फ्रांस के प्रति संशंकित था कि कहीं पोप फ्रांस की सहायता से अपना राज्य पुनः प्राप्त न करले। अतः इटली ने जर्मनी के साथ मित्रता करने का प्रयत्न किया। 1873 में इटली का शासक विक्टर इमेनुअल द्वितीय बर्लिन गया, जहां बिस्मार्क ने उसे आश्वासन दिया कि यदि फ्रांस पोप को राज्य दिलवाने में सहायता करेगा तो वह फ्रांस के इस प्रयत्न का समर्थन नहीं करेगा। विक्टर इमेनुअल बर्लिन से वियना गया जहां आस्ट्रिया के सम्राट ने भी उसे ऐसा आश्वासन दिया। इनसे यह स्पष्ट हो गया था कि इटली का झुकाव तीन सम्राटों के संघ की ओर है।

इटली की राष्ट्रीयता की भावना भी प्रबल हो रही थी। लगभग 10 लाख इटालियन ऐसे थे जो अन्य विदेशी राज्यों के अधीन थे। नीस, सेवाय तथा कोर्सिका पर फ्रांस का अधिकार था, ट्रेन्टिनो, ट्रीस्ट और इस्ट्रीया के प्रदेश आस्ट्रिया के अधीन थे और माल्टा इंगलैंड के अधीन था। इटली के राष्ट्रवादी इन प्रदेशों को इटली में मिलाकर राष्ट्रीय एकता पूर्ण करना चाहते थे। अतः इटली में समुद्धरणवादी आंदोलन (Italian Irredenta) का सूत्रपात हुआ। समुद्धरणवादी आन्दोलन के फलस्वरूप इटली और आस्ट्रिया के बीच तनाव बढ़ने लगा। 1878 में बर्लिन कांग्रेस में भी इटली को कुछ प्राप्त नहीं हुआ। इटली को बड़ी निराशा हुई। इधर मई 1881 में जब फ्रांस ने ट्यूनिस पर अधिकार कर लिया तो इटली के राजनीतिज्ञ जर्मनी तथा आस्ट्रिया से मित्रता करने की मांग करने लगे। अतः इटली ने आस्ट्रिया व जर्मनी से सन्धि की वार्ता आरम्भ की। कई महीनों की वार्ता के बाद 20 मई 1882 को जर्मनी, आस्ट्रिया और इटली की मैत्री सन्धि पर हस्ताक्षर हो गये। इस सन्धि के द्वारा इटली को फ्रांस के आक्रमण के विरुद्ध जर्मनी और आस्ट्रिया की सहायता का वचन मिल गया। 1915 तक इटली त्रिगुट का सदस्य बना रहा। कुछ इतिहासकारों का कहना है कि इस सन्धि से इटली को कोई लाभ नहीं हुआ। किन्तु यह तो स्वीकार करना पड़ेगा कि फ्रांस के आक्रमण के विरुद्ध जर्मनी व आस्ट्रिया की सहायता के वचन के फलस्वरूप पोप की समस्या अब केवल नाम मात्र की रह गई तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में इटली का एकाकीपन समाप्त हो गया। किन्तु इससे इटली की औपनिवेशिक आकांक्षा पूरी नहीं हुई तथा उसे ट्रेन्टिनो और ट्रीस्ट की प्राप्ति के लिए समुद्धरणवादी आन्दोलन भी बन्द करना पड़ा।

1886 में त्रिराष्ट्रीय सन्धि का नवीनीकरण होने वाला था। अतः इस समय इटली ने इस सन्धि की शर्तों को अपने हितों के अनुकूल बनाना चाहा। इटली के विदेश मंत्री ने जर्मनी और आस्ट्रिया को सूचित किया कि वह सन्धि की शर्तों में कुछ संशोधन करना चाहता है। इटली चाहता था कि संधि में जर्मनी और आस्ट्रिया उसकी औपनिवेशक विस्तार की नीति का समर्थन करे तथा बाल्कन क्षेत्र में इटली

के हितों को सुरक्षित रखने हेतु कुछ शर्तें जोड़ी जाय। इस समय वल्गेरिया के संकट के कारण रूस और आस्ट्रिया के सम्बन्ध बिगड़ गये थे तथा रूस और फ्रांस की मैत्री की संभावना प्रतीत हो रही थी। ऐसी स्थिति में विस्मार्क ने इटली की मांग को ठुकराकर उसे अप्रसन्न करना ठीक नहीं समझा। यद्यपि आस्ट्रिया ने इटली की मांगों का तीव्र विरोध किया, किन्तु विस्मार्क के प्रभाव के कारण उसे झुकना पड़ा। अतः त्रिराष्ट्रीय सन्धि के साथ जर्मनी और इटली का एक पृथक् समझौता संलग्न किया गया, जिसमें जर्मनी ने इटली को आश्वासन दिया कि यदि फ्रांस मोरक्को और ट्रिपोली में अपना प्रभाव स्थापित करने का प्रयत्न करे तथा इटली को उसका प्रभाव रोकने के लिए फ्रांस से युद्ध करना पड़े तो जर्मनी, इटली का समर्थन करेगा। इस प्रकार इटली ने तात्कालिक परिस्थितियों का लाभ उठा कर त्रिराष्ट्रीय सन्धि को अपने हितों के अनुरूप बना दिया। फिर भी इटली की महत्वाकांक्षा कभी पूरी नहीं हो सकी, जिसके फलस्वरूप इटली त्रिराष्ट्रीय सन्धि का कभी वफादार सदस्य न रह सका।

ब्रिटेन से मित्रता—इटली और ब्रिटेन के सम्बन्ध प्रारंभ से ही मैत्रीपूर्ण थे। त्रिराष्ट्र सन्धि में इटली ने, मिस्र में ब्रिटेन के हितों का समर्थन किया तथा ब्रिटेन के आग्रह पर इस सन्धि में इटली ने स्पष्ट किया कि इस सन्धि का प्रयोग ब्रिटेन के विरुद्ध नहीं किया जायेगा। विस्मार्क के प्रोत्साहन पर फरवरी 1887 में इटली और ब्रिटेन के बीच भूमध्यसागरीय समझौता हुआ, जिसके अनुसार—

(1) भूमध्य सागर के क्षेत्र में यथास्थिति बनाये रखने हेतु दोनों ने एक दूसरे का सहयोग करने का वचन दिया।

(2) इटली ने मिस्र में ब्रिटेन की नीति का समर्थन करने का वचन दिया।

(3) ब्रिटेन ने अफ्रीका के तटवर्ती क्षेत्र, विशेष रूप से ट्रिपोली और साइरेनाइका में इटली की नीति का समर्थन करने का वचन दिया।

कुछ समय बाद आस्ट्रिया भी भूमध्यसागरीय समझौते में सम्मिलित हो गया।

इस समझौते के बाद ब्रिटेन निरंतर इटली की औपनिवेशिक नीति का समर्थन करता रहा। 1896 में एडोवा के युद्ध में इटली की पराजय के बाद ब्रिटेन ने इटली की सहायता की। बोअर युद्ध के समय लगभग सम्पूर्ण यूरोप ब्रिटेन की निन्दा कर रहा था, किन्तु एक मात्र इटली ही ऐसा देश था जिसने ब्रिटेन का विरोध नहीं किया और न ही उसकी निन्दा की। 1911 के ट्रिपोली युद्ध के समय जर्मनी और आस्ट्रिया ने इटली की कार्यवाही का विरोध किया, किन्तु ब्रिटेन ने इटली का विरोध नहीं किया। इस प्रकार प्रथम विश्वयुद्ध के आरंभ होने तक इटली और ब्रिटेन के सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण रहे।

इटली और फ्रांस के सम्बन्धों में सुधार—इटली में पोप की समस्या के कारण फ्रांस के प्रति अविश्वास उत्पन्न हो गया था और इसीलिए विक्टर इमेनुअल बर्लिन और वियना गया जहां उसने फ्रांस के विरुद्ध आश्वासन प्राप्त किया। 1881 में जब फ्रांस ने ट्यूनिस पर अधिकार कर लिया तब इटली और फ्रांस के बीच तनाव अत्यधिक बढ़ता गया और फ्रांस की इस कार्यवाही से वह इतना क्रुद्ध हुआ कि उसने जर्मनी और आस्ट्रिया के साथ त्रिराष्ट्रीय सन्धि कर ली। किन्तु इस सन्धि से इटली को कोई विशेष लाभ नहीं मिला। अतः 1895 में क्रिस्पी के पतन के बाद इटली में फ्रांस से पुनः मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित होने की मांग होने लगी, किन्तु इससे जर्मनी और इंगलैण्ड के नाराज होने का भय था। 1898 में इटली ने फ्रांस से एक व्यापारिक समझौता कर लिया, जिससे भविष्य में होने वाले राजनैतिक समझौते का आधार तैयार कर दिया। दिसम्बर 1900 में दोनों के बीच मोरक्को और इटली के सम्बन्ध में समझौता हो गया, जिससे दोनों देशों के बीच बीस वर्ष पुराना तनाव समाप्त हो गया। 1902 में त्रिराष्ट्रीय सन्धि के नवीनीकरण के समय इटली ने फ्रांस को सूचित किया कि इस सन्धि में ऐसी कोई शर्त नहीं है जिसके अनुसार इटली को फ्रांस के विरुद्ध युद्ध में भाग लेना पड़े। इस सूचना से फ्रांस और इटली के सम्बन्ध और अधिक प्रगाढ़ हो गये। 1904 में फ्रांस के राष्ट्रपति लूबे ने रोम की यात्रा की, जहां इटली के शासक विक्टर इमेनुअल तृतीय ने उसका हार्दिक स्वागत किया। इससे दोनों की सद्भावना को बल मिला। अल्जीसिरास सम्मेलन में इटली को सर्वप्रथम त्रिगुट के प्रति अभक्ति प्रदर्शित करने का अवसर मिला और यहां पर उसने दिल खोलकर जर्मनी के विरुद्ध फ्रांस के अधिकारों का समर्थन किया। 1914 में जब विश्व युद्ध आरम्भ हुआ तब उसने त्रिराष्ट्रीय सन्धि का सदस्य होते हुए भी जर्मनी और आस्ट्रिया का साथ नहीं दिया तथा कुछ समय तक तटस्थ रहा।

इटली और रूस की मित्रता—1908 में जब आस्ट्रिया ने बोस्निया और हर्जीगोविना पर अधिकार कर लिया तब जर्मनी ने आस्ट्रिया की इस कार्यवाही का कोई विरोध नहीं किया, यद्यपि आस्ट्रिया ने बर्लिन संधि की धारा का उल्लंघन किया था। इससे इटली में बड़ा असन्तोष फैला तथा इस घटना से इटली समझ गया कि त्रिराष्ट्रीय सन्धि के द्वारा उसके हित सुरक्षित नहीं हैं। अतः वह रूस की तरफ झुका। 1909 में सम्राट विक्टर इमेनुअल तृतीय ने रूस के सम्राट निकोलस द्वितीय से रैकोनिगी नामक स्थान पर भेंट की। यहां दोनों में एक समझौता हो गया, जिसके अनुसार दोनों ने बाल्कन क्षेत्र में यथास्थिति बनाये रखने का आश्वासन दिया। इटली ने बासफोरस और डार्डेनेलीस पर प्रभाव स्थापित करने की रूसी इच्छा के प्रति सहानुभूति प्रकट की जिसके बदले में रूस ने इटली को आश्वासन दिया कि यदि इटली ट्रिपोली पर अधिकार करने का प्रयत्न करेगा तो रूस उसका समर्थन करेगा। ब्रिटेन और फ्रांस ने रैकोगिनी समझौते को मान्यता प्रदान करदी। इस समझौते के

वाद यह स्पष्ट हो गया कि इटली धुरी राष्ट्रों की ओर से हटकर मित्र राष्ट्रों के निकट आ रहा था।

इटली और रूस के समझौते से आस्ट्रिया प्रसन्न नहीं हुआ। दिसम्बर 1909 में इटली और आस्ट्रिया के बीच नोवी वाजार के संजक के सम्बन्ध में समझौता हो गया, जिसके अनुसार आस्ट्रिया ने इटली को आश्वासन दिया कि वह इटली की पूर्व स्वीकृति के विना संजक पर पुनः अधिकार नहीं करेगा। 1911 में अगादिर संकट का लाभ उठाकर इटली ने तुर्की पर आक्रमण कर दिया। जर्मनी और आस्ट्रिया ने इटली की इस कार्यवाही का विरोध किया तथा आस्ट्रिया ने इटली को वाल्कन क्षेत्र में आक्रमण न करने की चेतावनी दी। फ्रांस ने स्पष्ट रूप से इटली का समर्थन किया। अतः 1911 के वाद जर्मनी और आस्ट्रिया को इटली पर विश्वास नहीं रहा। 1914 में जव जर्मनी और आस्ट्रिया ने फ्रांस और रूस के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की तव इटली ने त्रिराष्ट्रीय संधि का सदस्य होते हुए भी जर्मनी और आस्ट्रिया का साथ नहीं दिया और तटस्थ रहने की घोषणा की। यही नहीं इटली ने इसी समय आस्ट्रिया से मांग की कि वह परतन्त्र इटली (Italian Irredenta) को स्वतन्त्र करे। इटली की सहायता प्राप्त करने की दृष्टि से जर्मनी चाहता था कि आस्ट्रिया, इटली की मांग स्वीकार करले, किन्तु आस्ट्रिया ने इंकार कर दिया। इस पर मित्र राष्ट्रों ने 1915 में इटली के साथ लन्दन की सन्धि करली, जिसमें युद्ध के पश्चात् उसे अनेक प्रदेश दिलाने का वचन दिया। परिणामस्वरूप 3 मई 1916 को इटली ने त्रिराष्ट्रीय संधि से अपने सम्बन्ध विच्छेद की घोषणा करदी। 23 मई 1916 को उसने आस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी और तत्पश्चात 27 अगस्त 1916 को उसने जर्मनी के विरुद्ध भी युद्ध की घोषणा करदी।

अध्याय 16

कूटनीतिक गतिविधियां

(DIPLOMATIC ACTIVITIES)

पिछले चालीस वर्ष की घटनाओं के फलस्वरूप 1914 में यूरोप में महायुद्ध छिड़ गया और इसके बाद समस्त विश्व हथियारों की झंकार से गूंज उठा। यूरोप में अधिकांश ऐसे राष्ट्र थे जो यूरोपीय युद्ध से लाभ उठाकर अपनी राष्ट्रीय आकांक्षाओं को पूरा करना चाहते थे। सर्बिया अपने राष्ट्रीय एकीकरण को पूरा करना चाहता था। आस्ट्रिया राष्ट्रीय भावनाओं का दमन करके अपने साम्राज्य का अस्तित्व कायम रखना चाहता था। रूस, कान्सटेन्टीनोपोल पर रूसी ध्वज फहराना चाहता था और जर्मनी, फ्रांसीसी प्रतिशोध से बचना चाहता था। फ्रांस, ऐलसेस और लारेन पुनः प्राप्त करने हेतु लालायित था और ब्रिटेन, जर्मनी की बढ़ती हुई शक्ति को रोकना चाहता था। यद्यपि इन सभी राष्ट्रों की ये आकांक्षाएं युद्ध द्वारा ही पूरी हो सकती थी, किन्तु कोई भी राष्ट्र यह नहीं चाहता था कि विश्व युद्ध छिड़ जाय। वस्तुतः जब यूरोप का गगन मण्डल युद्ध के बादलों से आच्छादित होने लगा तब बहुत से राष्ट्रों ने युद्ध रोकने का प्रयास किया, किन्तु 1907 के बाद जो घटना चक्र चला उसके समक्ष सभी राष्ट्र असहाय हो गये और उनके प्रयत्नों के बावजूद यूरोप में एक विध्वंसकारी युद्ध का ताण्डव नृत्य आरम्भ हो गया।

बिस्मार्क ने अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर गुटबंदी को प्रारंभ किया था परन्तु इन गुटबन्दियों का निर्वाह करना अत्यन्त ही जटिल कार्य था। बिस्मार्क ही इस रंगमंच का ऐसा बाजीगर था जो इस जटिल कार्य को भी सरलता और सफलतापूर्वक संपन्न कर सकता था। बिस्मार्क के पतन के बाद यूरोपीय शांति का पटाक्षेप हो गया। बिस्मार्क के पतन के बाद यूरोप के शक्तिशाली राज्य किस प्रकार दो शक्तिशाली गुटों में विभक्त हो गये थे, इसका विवेचन पिछले अध्यायों में किया जा चुका है। वस्तुतः विश्व युद्ध का उद्‌गम यूरोप के दो सशस्त्र गुटों में विभाजित होने से हो गया था। दोनों गुट एक दूसरे की शक्ति और महत्वाकांक्षा पर जलते थे तथा दोनों पक्षों में शक्ति संचय निरंतर हो रहा था। सेना में बड़ी तीव्र गति से वृद्धि की जा रही थी

और शस्त्रीकरण की होड़ के कारण गुटबन्दी उग्ररूप धारण करती जा रही थी। साम्राज्यवाद की महत्वाकांक्षा और उग्र राष्ट्रीयता यूरोपीय राज्यों के जीवन का अभिन्न अंग बन चुकी थी। ऐसे विकृत वातावरण को यूरोप के समाचार पत्र और अधिक दूषित बना रहे थे। इन परिस्थितियों में महासमर छिड़ जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं कही जा सकती। 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही यूरोपीय राज्यों को अंतर्राष्ट्रीय संकट का सामना करना पड़ा और ये अन्तर्राष्ट्रीय संकट इतनी तीव्र गति से प्रकट होते गये कि संघर्ष अवश्यम्भावी हो गया। बाल्कन युद्धों से पूर्व यूरोप के शासकों के समक्ष शान्ति बनाये रखने की समस्या थी, किन्तु बाल्कन युद्धों के बाद उनके समक्ष युद्ध की तैयारी की समस्या थी। बाल्कन युद्धों के बाद तो यूरोप के शासकों को यह विश्वास हो गया कि युद्ध अवश्यंभावी है और इसे रोकना असंभव है।

आस्ट्रो-जर्मन गुट—जब यूरोप के राजनीतिज्ञों को यह विश्वास हो गया कि युद्ध अवश्यंभावी है तब वे युद्ध की तैयारी करने लगे। सेना में वृद्धि और शस्त्रीकरण के साथ-साथ अब यह भी आवश्यक था कि वे अपने-अपने गुटों को सुदृढ़ एवं शक्तिशाली बनायें। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जिस समय इन गुटों की स्थापना हुई थी उस समय इन गुटों का स्वरूप सुरक्षात्मक था और किसी राष्ट्र का यह इरादा नहीं था कि वे अपने विरोधी गुट पर आक्रमण करे। किन्तु जैसे-जैसे समय का चक्र चलता गया इन गुटों के स्वरूप में भी परिवर्तन होता गया। 1912 में त्रिगुट की संधि का अन्तिम बार नवीनीकरण हुआ, किन्तु इस समय तक यह संधि सुरक्षात्मक नहीं रह गई थी। अब जर्मनी हर प्रकार से आस्ट्रिया के ऊपर निर्भर रहने लगा। प्रारम्भ में जर्मनी निकट पूर्व की समस्या के प्रति कोई दिलचस्पी नहीं ले रहा था, किन्तु धीरे-धीरे इस क्षेत्र में भी जर्मनी की दिलचस्पी बढ़ती गई। फलस्वरूप उसे अनेक अन्तर्राष्ट्रीय संकटों का सामना करना पड़ा। मोरक्को संकट के समय एक मात्र आस्ट्रिया ने जर्मनी का समर्थन किया था, अतः अब जर्मनी किसी भी मूल्य पर आस्ट्रिया की मित्रता छोड़ने के लिए तैयार नहीं था। अल्जीसिरास सम्मेलन के बाद जर्मनी ने आस्ट्रिया को 'ब्लैंक चेक' दे दिया। अतः इसके बाद ज्यों-ज्यों अन्तर्राष्ट्रीय संकट आते गये जर्मनी की आस्ट्रिया पर निर्भरता बढ़ती गई। धीरे-धीरे आस्ट्रिया के विदेश मन्त्री एरेन्थाल (1906–1912) और उसके बाद बर्कटोल्ड (1912-1914) को यह पूर्ण विश्वास हो गया कि किसी भी संकट के समय जर्मनी आस्ट्रिया की सहायता करेगा, क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर उसका आस्ट्रिया ही एक मात्र सहयोगी रह गया था और अब जर्मनी के लिए आस्ट्रिया की सहायता एवं समर्थन करने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं रह गया था। कैसर विलियम द्वितीय ने एक बार बर्कटोल्ड से कहा भी था कि, "वियना के विदेश मन्त्रालय से जो कुछ प्राप्त होता है, वह मेरे लिए आदेश होता है।" इस कथन से यह स्वतः ही स्पष्ट हो जाता है कि किस सीमा तक जर्मनी की आस्ट्रिया पर निर्भरता बढ़ गई थी।

इटली का त्रिराष्ट्रीय सन्धि को छोड़ना—जर्मनी पर आस्ट्रिया की अत्यधिक निर्भरता का एक और कारण था और वह था त्रिराष्ट्रीय सन्धि से इटली का धीरे-धीरे विमुख होना। इटली का इस सन्धि से विमुख होने के भी कई कारण थे। इटली के हित एक मात्र त्रिराष्ट्रीय सन्धि में रहने से सुरक्षित न थे। परतन्त्र इटली के प्रश्न को लेकर आस्ट्रिया तथा इटली की शत्रुता थी। एड्रियाटिक सागर के समीप के इटालियन प्रदेश को स्वतन्त्र करने के लिए इटली बार-बार आस्ट्रिया से मांग कर रहा था, किन्तु आस्ट्रिया इस ओर कोई ध्यान नहीं दे रहा था। जर्मनी ने इस सम्बन्ध में इटली की कोई सहायता नहीं की। अतः जब विश्व युद्ध आरम्भ हुआ उस समय भी इटली ने आस्ट्रिया से मांग की कि वह परतन्त्र इटली को स्वतन्त्र कर दे। जर्मनी इटली की सहायता प्राप्त करने के लिए चाहता था कि आस्ट्रिया इटली की मांग स्वीकार करले, किन्तु आस्ट्रिया ने इटली की मांग को ठुकरा दिया। इटली अल्बानिया पर अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहता था, किन्तु आस्ट्रिया की दृष्टि भी अल्बानिया पर थी। आस्ट्रिया एड्रियाटिक सागर की ओर दक्षिण में बढ़ना चाहता था। इसलिए आस्ट्रिया ने बोस्निया और हर्जीगोविना पर अधिकार कर लिया था। इटली ने आस्ट्रिया की इस कार्यवाही का विरोध किया। आस्ट्रिया ने जब संजक-नोवीबाजार में रेल लाइन बनाने का प्रयत्न किया तो इटली ने इसका विरोध किया, किन्तु जर्मनी ने आस्ट्रिया का समर्थन किया। 1911 में जब इटली ने ट्रिपोली पर अधिकार किया तो मित्र राष्ट्रों ने इटली के पक्ष का समर्थन किया किन्तु विरोध करने वालों में थे उसके मित्र आस्ट्रिया और जर्मनी। इस प्रकार एक गुट में रहते हुए भी इटली और आस्ट्रिया की शत्रुता थी। 1908 में बोस्निया संकट के समय एक राजनीतिज्ञ ने इटली की संसद में कहा था, "आश्चर्य की बात तो यह है कि जो देश हमें युद्ध के लिए डराता है, वही हमारा मित्र है।"

जर्मनी यह भलीभांति जानता था कि इटली, उसका वफादार मित्र नहीं रह सकता और जब इटली ने आस्ट्रो-जर्मन संधि में सम्मिलित होने के लिए वार्ता आरंभ की थी, उस समय बिस्मार्क ने इटली की मित्रता पर सन्देह व्यक्त किया था। किन्तु प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि जर्मनी ने इटली को आस्ट्रो-जर्मन सन्धि में सम्मिलित क्यों किया? इसका एक मात्र उत्तर यही है कि जर्मनी ने यह अनुमान लगाया था कि युद्ध की स्थिति में यदि इटली उनकी सहायता नहीं करेगा तो कम से कम त्रिराष्ट्रीय सन्धि का सदस्य होने के नाते तटस्थ तो रहेगा ही। किन्तु इटली की कृतघ्नता पर जर्मनी में किसी को भी शक नहीं रह गया था। इधर जब इटली त्रिराष्ट्रीय सन्धि के प्रति धीरे-धीरे उदासीन हो रहा था तथा त्रिगुट की नींव कमजोर होती जा रही थी तो दूसरी तरफ जर्मनी के शत्रु उसके विरुद्ध संयुक्त मोर्चा बना रहे थे। 1907 में आंग्ल-रूसी संधि के हो जाने के बाद जर्मन सम्राट विलियम द्वितीय ने कहा था कि जर्मनी को चारों ओर से घेरा जा रहा है। ऐसी परिस्थितियों में जर्मनी क्या कर

सकता था ? जर्मनी का एकमात्र सहयोगी आस्ट्रिया ही रह गया था। अतः जर्मनी द्वारा आस्ट्रिया की नीति का बिना हिचकिचाहट के समर्थन करना स्वाभाविक था। जर्मनी, आस्ट्रिया को 'ब्लेंक चेक' देने लगा। आस्ट्रिया इस चेक पर मनचाही रकम भर सकता था और जर्मनी को उसकी अदायगी करनी ही पड़ती थी। अतः आस्ट्रिया ने बाल्कन प्रायद्वीप में उग्र नीति का अवलम्बन किया, जिससे निकट पूर्व में स्थिति संकटमय हो गई और अन्त में सारा विश्व विध्वंशकारी युद्ध की प्रचण्ड अग्नि की लपटों की चपेटे में आ गया।

त्रिगुट के विरुद्ध ट्रिपल आतान्त—बिस्मार्क के समय में ही रूस और जर्मनी के सम्बन्ध बिगड़ते जा रहे थे। रूस और आस्ट्रिया के हितों में तो इतना पारस्परिक विरोध था कि रूस तीन सम्राटों के संघ से अलग हो गया था। किन्तु बिस्मार्क ने रूस से मैत्रीपूर्ण संबंध बनाये रखने के लिए पुनर्आश्वासन संधि करली थी। बिस्मार्क के पतन के बाद सम्राट विलियम द्वितीय ने पुनर्आश्वासन सन्धि का नवीनीकरण करने से इन्कार कर दिया। अतः रूस का झुकाव फ्रांस की ओर हो गया, जिसके फलस्वरूप रूस और फ्रांस के द्विगुट की स्थापना हुई। जिस समय उसकी स्थापना हुई थी उस समय उसका स्वरूप भी रक्षात्मक था। किन्तु ज्यों ज्यों समय बीतता गया रूस और फ्रांस अपने-अपने हितों को दृष्टि में रखकर इसके स्वरूप का अर्थ लगाने लगे। बोस्निया काण्ड के समय फ्रांस ने सक्रिय रूप से रूस को मदद नहीं दी थी। किन्तु जब इसके बाद इजवोलसकी पेरिस आया और उसने प्रयास किया कि किसी तरह रूस के बाल्कन क्षेत्र के स्वार्थों में फ्रांस को दिलचस्प बना दिया जाय, तो फ्रांस भी बाल्कन प्रायद्वीप में इतनी दिलचस्पी लेने लगा कि वह हर तरह से रूस को मदद देने को तैयार हो गया। इस प्रकार धीरे-धीरे द्विगुट दृढ़ होने लगा। फ्रांस के मन्त्रिमण्डल में पोअन्करे के आ जाने से यह गुट और भी दृढ़ हो गया। पोअन्करे का जन्म लारेन में हुआ था और जब वह दस वर्ष का था तब जर्मनी ने लारेन पर आक्रमण करके उस पर अधिकार कर लिया था। अतः पोअन्करे के हृदय में प्रतिशोध की भावना बाल्यकाल से ही पनप रही थी। वह रूस की मित्रता का आरम्भ से ही समर्थक था, अतः उसने द्विगुट को दृढ़ बनाने का हर सम्भव प्रयास किया। पोअन्करे के फ्रांस के मंत्रिमंडल में आने से रूस अब बाल्कन क्षेत्र में फ्रांस की सहायता पर निर्भर रह सकता था। परिणामस्वरूप आस्ट्रिया की तरह रूस ने भी बाल्कन क्षेत्र में उग्र नीति का अवलम्बन किया, जिससे बाल्कन में स्थिति दिनों दिन बिगड़ने लगी।

इधर ब्रिटेन व फ्रांस के बीच समझौता हो चुका था और फ्रांस, रूस का मित्र था। अतः ब्रिटेन परोक्ष रूप से द्विगुट का सदस्य बन चुका था। मोरक्को संकट के बाद रूस और ब्रिटेन में विधिवत समझौता हो गया। इस प्रकार अब अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर त्रिराष्ट्रीय संधि के विरुद्ध ट्रिपल आतान्त का निर्माण हो गया। अगादिर

संकट के बाद इस समझौते के स्वरूप में भी परिवर्तन आने लगा। फ्रांस और ब्रिटेन के सैनिक विशेषज्ञों में सैनिक विषयों पर बातचीत आरम्भ हुई। आरम्भ में यह बातचीत पूर्णतः अनौपचारिक थी किन्तु ज्यों-ज्यों अन्तर्राष्ट्रीय संकट आने लगे वार्तालाप का स्वरूप बदलने लगा और आगे चलकर यह बातचीत इस आधार पर होने लगी कि जर्मनी के साथ निकट भविष्य में युद्ध होने की सम्भावना है और इसके लिये तैयार रहना चाहिये।

जर्मनी अपनी शक्ति को दिनों दिन बढ़ा रहा था, किन्तु जर्मनी का उद्देश्य युद्ध आरम्भ करने का नहीं था। यदि जर्मनी का उद्देश्य युद्ध आरम्भ करने का होता तो वह 1905 में ही युद्ध छेड़ सकता था, क्योंकि उस समय तक फ्रांग्ल-फ्रांसीसी समझौता सम्पन्न ही हुआ था लेकिन दृढ़ नहीं हुआ था और फ्रांस भी युद्ध के लिये पूरी तरह से तैयार नहीं था। फ्रांस का मित्र रूस भी जापान से पराजित हो चुका था और उस समय रूस में आन्तरिक विद्रोह की आग भी सुलग चुकी थी। किन्तु जर्मनी का उद्देश्य युद्ध आरम्भ करने का तो था ही नहीं, वह तो केवल अपने विरोधियों को भयभीत करके अपना काम निकालना चाहता था। विलियम द्वितीय ने जिस नीति का अवलम्बन किया था उससे ऐसा प्रतीत हो रहा था कि जर्मनी समस्त विश्व पर छा जायेगा। इसलिये अन्तर्राष्ट्रीय संकटों के समय जर्मनी को अपना रुख बदलना पड़ा, क्योंकि ब्रिटेन खुले दिल से अपने मित्रों की मदद करता था। अगादिर संकट के समय ऐसा ही हुआ। लायड जार्ज की मैंशन हाउस से की गई घोषणा ने जर्मनी को दबाने के लिए विवश कर दिया। यदि ऐसे संकट के समय ब्रिटेन अपने मित्रों की मदद नहीं करता तो इसका क्या परिणाम होता ? जर्मनी को अपनी शक्ति और प्रभाव बढ़ाने की छूट मिल जाती और यूरोप का शक्ति सन्तुलन बिगड़ जाता। किंतु ब्रिटेन शक्ति संतुलन में परिवर्तन देखने के लिये तैयार नहीं था। ऐसी परिस्थितियों में ब्रिटेन के लिये आवश्यक हो गया कि वह अपने मित्रों की दिलो जान से मदद करे जिससे यूरोप में शक्ति संतुलन बना रहे। शक्ति संतुलन को बनाये रखने के लिये यह भी आवश्यक था कि ट्रिपल आतान्त को शक्तिशाली बनाया जाय ताकि अवसर आने पर जर्मनी से मुकाबला किया जा सके। इस प्रकार ट्रिपल आतान्त का प्रत्येक सदस्य अपने गुट को शक्तिशाली बनाने के प्रयास में लग गया। त्रिराष्ट्रीय सन्धि का एक सदस्य इटली इस सन्धि से विमुख होने लगा, जिससे यूरोप का शक्ति संतुलन ट्रिपल आतान्त के पक्ष में हो गया। यूरोपीय शान्ति के लिए यह कोई शुभ लक्षण नहीं था।

इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर दो विरोधी गुट स्थापित हो चुके थे और धीरे-धीरे दोनों अपने मूल उद्देश्यों से दूर हटने लगे, परिणामस्वरूप उनके रक्षात्मक स्वरूप में परिवर्तन आने लगा। इन गुटों के बदलते हुए स्वरूप से यह स्पष्ट था कि यदि किसी अन्तर्राष्ट्रीय संकट के समय युद्ध छिड़ गया तो वह सीमित नहीं रहेगा,

वल्कि एक यूरोपीय महायुद्ध का रूप धारण कर सकता है, जिसमें जर्मनी और आस्ट्रिया एक तरफ होंगे और रूस, फ्रांस और ब्रिटेन दूसरी तरफ होंगे। 1907 में यद्यपि ट्रिपल आतान्त का निर्माण हो चुका था किन्तु स्थिति स्पष्ट नहीं थी। लेकिन ज्यों-ज्यों आगे चलकर अन्तर्राष्ट्रीय संकट आने लगे, प्रत्येक गुट अपने अपने मित्र की दिल खोल कर मदद करने लगा और स्थिति स्पष्ट होने लगी। स्मिट (Schmitt) ने अपनी पुस्तक 'द् कमिंग ऑफ द् वार' में लिखा है कि 1907 में ये दोनों गुट अगल वगल में खड़े थे, किन्तु 1911 आते आते वे दोनों मैदान में आमने सामने खड़े थे और एक दूसरे को युद्ध के लिए ललकार रहे थे।

गुटवन्दियों के स्वरूप में परिवर्तन होने से यूरोप के शक्ति सन्तुलन में भी काफी परिवर्तन आ गया था। 20वीं शताब्दी के आरम्भ में जर्मनी यूरोप का सबसे शक्तिशाली राष्ट्र था तथा यूरोप में उसकी प्रधानता स्थापित हो चुकी थी। तीन सम्राटों का संघ स्थापित हो जाने के बाद तो यूरोपीय राजनीति का नेतृत्व जर्मनी के हाथों में आ गया था। विस्मार्क के पतन के बाद जर्मनी की विदेश नीति का संचालन जर्मनी के नवयुवक सम्राट विलियम द्वितीय के हाथों में आ गया। विलियम द्वितीय की उग्र विदेश नीति के परिणामस्वरूप रूस, जर्मनी से अलग हो गया तथा इटली भी त्रिराष्ट्रीय सन्धि से विमुख होकर जर्मन के शत्रु राष्ट्रों के साथ प्रणय लीला करने लगा। आंग्ल-फ्रांसीसी और आंग्ल-रूसी समझौता सम्पन्न हो जाने के बाद जर्मनी के विरोधी गुट का पक्ष मजबूत होने लगा और धीरे-धीरे यह पक्ष इतना मजबूत हो गया कि मार्च 1914 में स्वयं कैसर ने विवश होकर कहा कि "आज हम अपने आपको असहाय पाते हैं।" रूस में युद्ध के लिए जोरदार तैयारियां होने लगी तथा फ्रांसीसी सेना भी आधुनिक अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित की जा रही थी। सैनिकवाद का प्रचण्ड रूप धीरे-धीरे सामने आ रहा था। बाल्कन प्रायद्वीप में रूस और आस्ट्रिया दोनों ने उग्र नीति का अवलम्बन किया जिससे वहां स्थिति दिनों दिन नाजुक होने लगी। सर्व जाति का नेता सर्विया और उसका संरक्षक रूस बाल्कन क्षेत्र में अपनी अपनी महत्वाकांक्षाओं को पूरा करने के लिये छटपटा रहे थे। बाल्कन प्रायद्वीप को लेकर रूस और आस्ट्रिया के सम्बन्ध धीरे-धीरे इतने विगड़ चुके थे कि वे कभी भी युद्ध में कूद सकते थे। ब्रिटिश विदेश मन्त्री एडवर्ड ग्रे ने अपने संस्मरण ('ट्वेन्टी फाईव इयर्स') में लिखा है, "सन् 1912-1913 में यूरोपीय राजनीति का प्रवाह युद्ध की दिशा में बहता हुआ जा रहा था। रूस और आस्ट्रिया अन्य यूरोपीय राज्यों को भी उसी प्राणघातक दिशा में अपने साथ घसीट कर लिये जा रहे थे। तूफान से बचने के लिए वे बीच प्रवाह में कभी कभी लंगर डाल देते थे, किंतु बाल्कन का तूफान प्रचण्ड रूप धारण करता जा रहा था।" एडवर्ड ग्रे का यह कथन बिल्कुल ठीक है। मार्च 1914 में यह स्पष्ट हो गया था कि युद्ध को अब अधिक दिन तक टाला नहीं जा सकता। अतः जर्मनी और आस्ट्रिया अपनी सैनिक तैयारियों को संतुलित कर रहे थे। यूरोप का शक्ति संतुलन दिन प्रतिदिन जर्मनी और आस्ट्रिया

के पक्ष में हल्का होता जा रहा था। दोनों को इस बात का भय था कि उनका पक्ष भविष्य में और भी हल्का न हो जाय और उस दुर्दशा के प्रकट होने के पूर्व ही वे कोई अन्तिम फैसला कर लेना उचित समझते थे।

यूरोपीय शासकों की राजकीय यात्राएं—यूरोप की इन परिस्थितियों को देखते हुए यूरोप के शासकों को अब पूर्ण विश्वास हो चुका था कि निकट भविष्य में युद्ध अवश्यंभावी है। अतः वे अपने मित्र राज्यो की राजकीय यात्राएं करने लगे ताकि व्यक्तिगत सम्पर्क द्वारा सामरिक योजना का प्रबन्ध किया जा सके। जून 1914 में ब्रिटिश सम्राट जार्ज पंचम पेरिस गया। इसी महीने में फ्रांसीसी राष्ट्रपति पोअंकरे रूस की राजकीय यात्रा पर गया। वहां उसका भव्य स्वागत हुआ। इस यात्रा के अवसर पर पोअंकरे ने रूसी शासकों को फ्रांस की मैत्री एवं सहायता का आश्वासन दिया। पोअन्करे ने रूस को वचन दिया कि यदि आस्ट्रिया ने सर्बिया पर आक्रमण किया और रूस ने इस मामले में हस्तक्षेप करना आवश्यक समझा तो फ्रांस निसंकोच भाव से अपने मित्रों की सहायता करेगा। पोअन्करे की इस यात्रा से और इस प्रकार के आश्वासनों से रूस काफी प्रोत्साहित हुआ।

यूरोप के शासकों की राजकीय यात्राओं में जर्मन सम्राट विलियम द्वितीय की कोनोपिस्ट की यात्रा सबसे महत्वपूर्ण थी। कोनोपिस्ट में आस्ट्रियन युवराज फ्रांसिस फर्डीनेण्ड का विशाल महल था और इस महल में गुलाब के फूलों का विश्व प्रसिद्ध बगीचा था। जब सम्राट विलियम द्वितीय कोनोपिस्ट की यात्रा पर रवाना हुआ, तब सरकारी तौर पर घोषणा की गई कि कैसर गुलाब के फूलों की शोभा देखने जा रहा है। विलियम द्वितीय अपनी इस यात्रा में अपने साथ नौ सेना के मंत्री टरपित्स को भी ले गया। उधर फ्रांसिस फर्डीनेण्ड आस्ट्रिया के सैनिक संगठन से सम्बन्ध रखता था। अतः विलियम द्वितीय की कोनोपिस्ट की यात्रा के अवसर पर की गई सरकारी घोषणा पर किसी को भी विश्वास नहीं हुआ। यूरोप के राजनीतिज्ञों ने स्पष्ट रूप से समझ लिया कि सम्राट की यह यात्रा गुलाब के फूलों की शोभा देखने के लिये नहीं हुई है वरन् कुछ मामला गड़बड़ अवश्य है। कोनोपिस्ट में फ्रांसिस फर्डीनेण्ड और सम्राट विलियम द्वितीय की मुलाकात अनेक बार हुई। उन लोगों में क्या बातचीत हुई, किन-किन समस्याओं पर विचारविमर्श हुआ, यह कहना कठिन है। किन्तु कोनोपिस्ट में स्थित 'लंदन टाइम्स' के संवाददाता विकहम स्टिड ने इस मुलाकात पर अनेक प्रकार के समाचार अपने पत्र को भेजे। स्टिड के अनुआर दोनों राजनीतिज्ञों ने सभी संभावनाओं पर विचारविमर्श किया और किसी निष्कर्ष पर पहुंच गये जिसे स्टिड ने 'कोनोपिस्ट की संधि' की संज्ञा दी। स्टिड के अनुसार दोनों राजनीतिज्ञों ने निर्णय लिया कि जर्मनी और आस्ट्रिया को शीघ्र ही प्रतिकारात्मक युद्ध (Preventive War) आरम्भ कर देना चाहिए। स्टिड द्वारा भेजे गये समाचार मनगढंत थे और केवल अफवाहें फैलाकर राजनीतिज्ञों को उत्तेजित करने वाले थे। अभी हाल ही में जो शोध कार्य हुआ है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि स्टिड ने अपने सभी समा-

चार अनुमान के आधार पर भेजे थे और वस्तुतः कोनोपिस्ट में दोनों राजनीतिज्ञों के बीच क्या बातचीत हुई उसका लेशमात्र भी ज्ञान उसको नहीं था। किंतु स्टिड का जहरीला प्रचार अपना काम कर गया। यूरोप में तरह-तरह की आशंकाएं व्यक्त की जाने लगी। अफवाहों में नमक मिर्च लगते भी देर नहीं लगती। सर्ब लोगों में यह अफवाह फैल गई कि फ्रांसिस फर्डीनेण्ड ने सर्ब आन्दोलन को सदा के लिए कुचलने का निर्णय ले लिया है और इस निर्णय से वियना के शासकगण पूर्णतः सहमत हैं। इस अफवाह के बाद दूसरी अफवाह यह फैली कि 1914 के ग्रीष्म में आस्ट्रिया, सर्बिया पर आक्रमण कर देगा। इससे सर्ब जाति में तहलका मच गया। देश भक्त सर्बों ने भी मरने और मारने का निर्णय कर लिया।

युवराज की सेराजवो यात्रा—आस्ट्रिया द्वारा बोस्निया और हर्जीगोविना पर आधिपत्य स्थापित कर लिया गया था किंतु इन प्रदेशों के निवासी सर्ब जाति के थे और वे आस्ट्रिया के अधीन नहीं रहना चाहते थे। वे सर्बिया के साथ मिल जाना चाहते थे। राष्ट्रवादी सर्ब सदैव इसी प्रयत्न में लगे रहते थे कि बाल्कन प्रायद्वीप के विभिन्न प्रदेशों में निवास करने वाले सर्ब जाति के लोग, सर्बिया को केन्द्र बनाकर एक विशाल एवं शक्तिशाली सर्ब राष्ट्र का निर्माण करे। सर्बिया के शासक भी समूचे सर्ब जगत को एक सूत्र में बांधने की अभिलाषा रखते थे। अतः सरकारी तौर पर सर्बिया सर्ब आन्दोलन को प्रोत्साहित कर रहा था। यद्यपि आस्ट्रिया, सर्बिया से इस विषय में अन्तिम फैसला कर लेना चाहता था, किन्तु सर्बिया पर चढ़ाई करने से आस्ट्रो-सर्बियन युद्ध, यूरोपीय युद्ध में परिवर्तित होने की संभावना थी, क्योंकि सर्बिया की पीठ पर रूस था और रूस के साथ ब्रिटेन और फ्रांस थे। लेकिन बोस्निया और हर्जीगोविना में सर्ब आन्दोलन का दमन करने में आस्ट्रिया को किसी का भय नहीं था। अतः उसने बड़ी क्रूरता से सर्ब आन्दोलनकारियों को यातनाएं देना आरम्भ किया। फलस्वरूप खुले रूप से आन्दोलन करना अब असम्भव हो गया। सर्ब देश-भक्तों ने गुप्त क्रांतिकारी समितियां संगठित की और उन्होंने आस्ट्रिया के अधिकारियों की हत्याएं करना शुरू कर दिया, जिससे सम्पूर्ण क्षेत्र में आतंक छा गया।

एक ओर सम्पूर्ण क्षेत्र में आतंक छाया हुआ था, दूसरी ओर अफवाहों पर अफवाहें फैल रही थी। ऐसी परिस्थितियों में 28 जून 1914 को आस्ट्रिया के युवराज फ्रांसिस फर्डीनेण्ड अपनी पत्नी सहित बोस्निया की राजधानी सेराजवो में आने वाला था। फर्डीनेण्ड आस्ट्रिया की गद्दी का उत्तराधिकारी था। सर्ब लोग उसे सर्ब आंदोलन का सबसे बड़ा शत्रु मानते थे। इस समय आस्ट्रिया का सम्राट फ्रांसिस जोसेफ वृद्ध हो चुका था तथा अधिक दिनों तक उसके जीने की सम्भावना नहीं थी। उसके मरने के बाद फर्डीनेण्ड ही गद्दी पर बैठने वाला था। देशभक्त सर्बों ने सोचा कि वियना में यदि सर्ब आंदोलन का कट्टर शत्रु आस्ट्रिया का सम्राट बन जायेगा तो सर्ब आंदोलन का भविष्य क्या होगा ? दूसरी तरफ सर्ब जगत में इस अफ़वाह से

तहलका मचा हुआ था कि 1914 की ग्रीष्म ऋतु में आस्ट्रिया, सर्बिया पर आक्रमण करने वाला है। ऐसी परिस्थितियों में सर्ब ऐसे अवसर की तलाश में थे कि मौका प्राप्त होते ही फर्डीनेण्ड की हत्या कर दी जाय। जब देशभक्त सर्बों ने फर्डीनेण्ड के सेराजवो में आने का समाचार सुना तो वे खुशी से झूम उठे। बोस्निया की गुप्त क्रांतिकारी समितियां, जिसे 'काला हाथ' कहा जाता था, युवराज की हत्या के लिये षड़यन्त्र करने लगी। संभवतः इस षड़यन्त्र की जानकारी सर्बिया को स्पष्ट रूप से नहीं थी, केवल उसने अपनी जिम्मेवारी से मुक्त होने के लिये आस्ट्रिया की सरकार को लिख दिया कि सर्ब क्रांतिकारी अनेक प्रकार के षड़यन्त्रों में लगे हुए हैं और यदि कहीं कोई दुर्घटना हो गई तो सर्बिया की सरकार उसकी जिम्मेवारी नहीं लेगी। आस्ट्रिया ने इसकी कोई परवाह नहीं की।

षड़यन्त्रकारियों ने अपने सारे कार्य पूरे कर लिये। 28 जून 1914 को प्रातः दस बजे युवराज सेराजवो पहुंचा। अपनी पत्नी के साथ गाड़ी में बैठकर वह टाउन हाल की तरफ जा रहा था। जिस समय उसकी गाड़ी एक पुल के पास पहुंच रही थी, तीन षड़यन्त्रकारियों में से एक चाब्रिनोविच ने युवराज की गाड़ी पर एक बम फेंका, किन्तु वह सड़क के दूसरी ओर गिरा और युवराज बच गया। टाउन हाल में मेयर ने युवराज का स्वागत किया। तत्पश्चात जब युवराज अपनी पत्नी सहित नगर के संग्रहालय (Museum) की ओर जा रहा था, रास्ते में उसकी गाड़ी को पीछे की ओर मुड़ना पड़ा। इसी समय प्रिंसिप नामक एक देशभक्त सर्ब ने अपनी पिस्तोल से दो गोलियां चलाई, एक गोली युवराज फर्डीनेण्ड की गर्दन में घुस गई और दूसरी गोली उसकी पत्नी को लगी और लगभग साढ़े ग्यारह बजे दिन के समय युवराज और उसकी पत्नी का प्राणान्त हो गया। प्रिंसिप के पिस्तोल से निकली गोली की आवाज वह संकेत थी जिसे सुनकर रंगमंच पर पर्दा खींचने वालों ने पर्दा उठा लिया और अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर विश्व युद्ध का विध्वंसक ताण्डव नृत्य आरम्भ हो गया।

अध्याय 17

प्रथम महायुद्ध

(1914-1918)

(FIRST WORLD WAR)

बीसवीं सदी के आरम्भ में लड़े गये प्रथम महायुद्ध को किसी एक कारण का परिणाम नहीं माना जा सकता। इसके लिए बहुत से कारण जिम्मेदार थे, जिन्हें ऊपर से नहीं देखा जा सकता।

दो गुटों का निर्माण—विस्मार्क की कूटनीति के कारण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में फ्रांस विल्कुल अकेला पड़ गया था। जर्मनी एक ओर तो 'त्रिगुट-सन्धि' (Triple Alliance) के द्वारा आस्ट्रिया-हंगरी तथा इटली के साथ मैत्री-सूत्र में बंधा था और दूसरी ओर जर्मनी ने आस्ट्रिया से छुपाकर रूस के साथ 'री इन्स्योरेन्स सन्धि' (Reinsurance Treaty) के द्वारा समझौता कर लिया था। 1890 ई. में जर्मनी ने फ्रांस को अकेला कर देने और रूस को अपनी ओर मिला लेने की नीति को छोड़ दिया। इससे फ्रांस और रूस को एक-दूसरे के निकट आने और मैत्री-सूत्र में बंध जाने का अवसर प्राप्त हुआ। कैसर विलियम द्वितीय की साम्राज्यवादी नीति ने ग्रेट-ब्रिटेन को भी जर्मनी से दूर धकेल दिया। इसके अलावा औद्योगिक उत्पादन और वाणिज्य में भी जर्मनी इंगलैण्ड का सबसे प्रवल प्रतिद्वन्द्वी बन चुका था। अतः इंगलैण्ड ने फ्रांस की ओर अपनी दृष्टि फेरी और 1904 ई. में दोनों देशों के मध्य सन्धि हो गई जो अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की एक महत्वपूर्ण घटना थी। इन दोनों की मैत्री ने इंगलैण्ड और रूस की संधि का मार्ग साफ कर दिया। इस प्रकार जर्मनी द्वारा निर्मित 'त्रिगुट' (Triple Alliance) के मुकावले में इंगलैण्ड, फ्रांस और रूस का त्रिगुट (Triple Entente) अस्तित्व में आ गया। ट्रिपल एलायंस और ट्रिपल आतांत एक-दूसरे के इतने विरुद्ध हो गये थे कि इन्हें खतरे से बचाना दुष्कर काम सिद्ध हुआ। प्रथम महायुद्ध के विशेषज्ञ प्रोफेसर एस. बी. फे. के अनुसार प्रथम विश्व युद्ध का मुख्य कारण गुप्त सन्धियां थी, जो 'फ्रेंको-प्रशा युद्ध' के बाद शुरू हुई थी। इन संधियों ने यूरोप को दो परस्पर विरोधी गुटों में विभाजित कर दिया। प्रथम महायुद्ध इन्हीं दो गुटों की शक्ति का प्रदर्शन मात्र था, जो शक्ति आजमाने के लिए उत्सुक थे।

बाल्कन-राजनीति में जर्मनी आस्ट्रिया-हंगरी को सहायता देने के लिए वचनबद्ध था, अन्यथा उसे अपने विश्वासी मित्र को खोने का डर था। रूस सर्विया

के हितों की रक्षा के लिए वचनबद्ध था। यद्यपि फ्रांस का बाल्कन राजनीति में कोई स्वार्थ नहीं था, परन्तु वह अपने मित्र रूस की सहायता के लिए वचनबद्ध था, अन्यथा द्वैध आतांत का अस्तित्व खतरे में पड़ जाता। त्रिगुट आतांत को बनाये रखने के लिए इंगलैण्ड भी चुपचाप नहीं बैठ सकता था। अवसर मिलते ही उसे फ्रांस और रूस की सहायता करनी ही थी।

यह ठीक है कि 1870 से 1914 ई. के मध्य की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति प्रथम विश्व युद्ध के लिए उत्तरदायी थी, फिर भी यह कहना अतिशयोक्ति होगी कि गुप्त सन्धि व्यवस्था युद्ध का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारण थी। यदि त्रिगुट सन्धि और त्रिगुट आतांत की शर्तों को प्रकाशित कर दिया जाता तो वातावरण में सुधार हो सकता था क्योंकि अपने मूल रूप में ये सन्धियां सुरक्षात्मक थीं। परन्तु जैसा कि ली बेन्स ने लिखा है कि "ये आतांत-संधियां और प्रति-संधियां अपने मूल रूप में सुरक्षात्मक थी परन्तु अन्तोगत्वा इन्होंने युद्ध के अनुकूल वातावरण का निर्माण किया।"

शस्त्रीकरण के लिये होड़—(Armament Race) : महायुद्ध का एक प्रमुख कारण शस्त्रीकरण के लिये होड़ थी। 1870 ई. में जर्मनी के हाथों पराजित होने के बाद से ही फ्रांस ने बड़े पैमाने पर अपनी सैनिक शक्ति को मजबूत बनाने का प्रयास शुरू कर दिया जिससे जर्मनी पर बुरा प्रभाव पड़ा और उसने भी अपनी सैन्यशक्ति का विकास जारी रखा। वैसे दोनों ही देश अपनी सुरक्षा के लिए अपनी सैन्यशक्ति को मजबूत बना रहे थे परन्तु दोनों एक-दूसरे की सैन्यवृद्धि को शंका की दृष्टि से देखते थे। इस प्रवृत्ति ने यूरोप के अन्य देशों को भी प्रभावित किया और वे भी शस्त्रीकरण की ओर अग्रसर हुए। जब कैसर विलियम द्वितीय ने जर्मन नौ सेना के विकास की तरफ विशेष ध्यान दिया तो इंगलैंड भी इस प्रतिस्पर्धा में सम्मिलित हो गया। परिणाम यह निकला कि यूरोप का वातावरण विषाक्त हो गया। चारों ओर संदेह, भय तथा घृणा का वातावरण फैल गया। प्रत्येक देश अपनी सैन्यवृद्धि को राष्ट्रीय प्रतिष्ठा का सवाल मान बैठा और ऐसी स्थिति में सैनिक अधिकारियों को अपनी-अपनी सरकारों पर हावी होने का अवसर मिल गया। इस मानसिक स्थिति को ही "सैनिकवाद" कहा जाता है। शेविल ने ठीक ही लिखा है कि "दिनों-दिन बढ़ते हुए युद्ध के उपकरणों के कारण आशंका और उसके तनाव का बढ़ना अनिवार्य हो गया, जिसके कारण वह विश्वास नष्ट हो गया, जो पड़ौसियों को सौम्य सौहार्द्रपूर्ण व्यवहार के लिए आवश्यक होता है।"

राष्ट्रीयता—महायुद्ध का एक मौलिक कारण 'राष्ट्रीयता' था। फ्रांसीसी क्रान्ति ने जिस राष्ट्रीयता की भावना को जन्म दिया था, वह भावना अब अपनी चरम सीमा पर पहुंच चुकी थी। यह ठीक है कि इस भावना ने जर्मनी तथा इटली के एकीकरण में महत्वपूर्ण योगदान दिया था, परन्तु अब यही भावना पड़ौसी देशों

के बीच घृणा की भावना पैदा करने लग गई थी। विशाल जर्मनी, विशाल फ्रांस, महान् स्लाव राष्ट्र आदि शब्द राष्ट्रीयता रूपी रोग से ग्रस्त थे। राष्ट्रीयता के इस रोग ने यूरोप के लिए अनेक समस्याएं पैदा कर दी थी। फ्रांस अपने उन प्रांतों (आल्सेस-लारेन) को फिर से लेने की आशा रखता था जो कि उसने 1870 में खो दिये थे। इन प्रान्तों की अधिकांश आबादी फ्रेंच थी और फ्रांस उसे परतन्त्रता की बेड़ियों से मुक्त करवाना चाहता था। आस्ट्रिया-हंगरी का विशाल साम्राज्य विभिन्न राष्ट्रीयताओं का संगम था। उसके साम्राज्य में आबाद पोल, चेक, सर्ब, बल्गर आदि जातियां अपने राष्ट्रीय राज्यों में मिलना चाहती थी अथवा अपना स्वतन्त्र अस्तित्व कायम करना चाहती थी। राष्ट्रीयता ने 'ऑटोमन-साम्राज्य' को टुकड़े-टुकड़े कर दिया और इन टुकड़ों में भी आपसी प्रतिस्पर्धा चल रही थी। इसी राष्ट्रीयता के नाम पर बाल्कन युद्ध लड़े गये जिन्होंने प्रथम महायुद्ध का मार्ग प्रशस्त किया था। सर्बिया में तुर्क प्रभुत्व की समाप्ति के बाद सर्बिया आस्ट्रिया के स्लाव प्रदेशों को अपने राज्य में सम्मिलित करने हेतु प्रोत्साहित कर रहा था और आस्ट्रिया के राजनीतिज्ञ अपने साम्राज्य के विकास को रोकने के प्रयत्न में लगे हुए थे। इस प्रकार राष्ट्रीयता ने सम्पूर्ण यूरोप में ऐसी समस्याएं उत्पन्न कर दी जिनका निवारण युद्ध के माध्यम से ही सम्भव हो सकता था। इतिहासकार शेपीरो ने ठीक ही लिखा है "राष्ट्रीयता की अन्ध भावना ने मानव जाति की शान्ति को हानि पहुंचाने के आसार स्पष्ट कर दिये।"

साम्राज्यवाद—पारकर टी. मून ने नया साम्राज्यवाद जिसे आर्थिक साम्राज्यवाद भी कहा जाता है, को प्रथम महायुद्ध का एक प्रमुख कारण माना है। उन्नीसवीं सदी जहां राष्ट्रीय आन्दोलनों से परिपूर्ण रही थी, वहां औद्योगिक विकास की जननी भी रही थी। औद्योगिक क्रांति ने यूरोपीय राष्ट्रों को समृद्धिशाली बनने की महत्वाकांक्षा से प्रेरित किया। इस प्रेरणा को कार्यान्वित करने के लिए उन्हें पिछड़े हुए देशों का अधिकार अथवा संरक्षण चाहिए था क्योंकि इसके बिना कच्चा माल प्राप्त करना और तैयार माल को खपाना असम्भव था। कच्चे माल और मंडियों के लिए जो खींचातानी शुरू हुई, उसे "नियो मर्केन्टिलिज्म" (Neo-Mercantilism) भी कहा जाता है। इसके अलावा सैनिक सुरक्षा, अतिरिक्त आबादी को बसाने का साधन और पिछड़े लोगों को सभ्य बनाने की बात साम्राज्यवाद के विकास के मूल कारण थे।

साम्राज्यवाद की इस दौड़ में ग्रेट-ब्रिटेन सबसे आगे रहा। कनाडा, आस्ट्रेलिया, भारत, न्यूजीलैण्ड, अफ्रीका एवं एशिया के अन्य कई देशों पर उसका राजनीतिक प्रभुत्व कायम हो चुका था। उसके साम्राज्य में सूर्य कभी अस्त नहीं होता था और अपनी नौ-शक्ति की श्रेष्ठता के कारण समुद्र की लहरों पर उसका बाध्य नियंत्रण था। फ्रांस ने भी अफ्रीका तथा एशिया में अपने साम्राज्य का काफी

विस्तार कर लिया था। रूस ने सम्पूर्ण उत्तरी एशिया पर अपना अधिकार जमा लिया था और निकट-पूर्व तथा मध्य-पूर्व में भी अपने पैर पसार रहा था। यूरोप के अन्य छोटे राष्ट्रों—हालैण्ड, बेल्जियम, स्पेन, पुर्तगाल आदि ने भी अपने से कई गुने अधिक क्षेत्रफल वाले प्रदेशों पर प्रभुत्व जमा रखा था। साम्राज्यवाद की इस दौड़ में जर्मनी और इटली सबसे अन्त में सम्मिलित हुए। अतः उन्हें अफ्रीका में कुछ प्रदेशों तथा छोटे-छोटे द्वीपों के अतिरिक्त और अधिक भूभाग प्राप्त न हो सका। इसीलिए जर्मनी को अन्य साम्राज्यवादी देशों, विशेषकर इंगलैण्ड तथा फ्रांस से जलन होने लगी। इसका एक कारण और भी था। जर्मनी ने अब तक औद्योगिक विकास, कृषि, व्यापार तथा वैज्ञानिक खोज आदि में भारी उन्नति कर ली थी और इसका उत्पादन काफी तेजी से बढ रहा था। इसको खपाने के लिए उसके पास आवश्यक उपनिवेश नहीं थे। इसके लिए पुराने साम्राज्यवादी देशों के उपनिवेश हड़पना अथवा उन उपनिवेशों में अपना प्रभाव स्थापित करना आवश्यक था। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर जर्मनी ने बर्लिन-बगदाद रेलमार्ग की योजना बनाई जिससे संघर्ष और बढ़ गया। वस्तुतः साम्राज्यवाद ने यूरोपीय शक्तियों के मध्य तनाव और वैमनस्य को बढ़ावा देकर प्रथम महायुद्ध का मार्ग प्रशस्त करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

अन्य कारण—प्रथम महायुद्ध के मौलिक कारणों में एक कारण समाचार पत्रों द्वारा लोकमत को उकसाने का था। ऐसा लगभग सभी देशों के समाचार पत्रों ने किया। उन्होंने राष्ट्रीय भावनाओं को उत्तेजित किया और दूसरे देशों की नीतियों के बारे में गलत प्रचार किया। इतना ही नहीं, समाचार पत्रों ने शांति कायम करने वाली बातों को दबाने का भी काम किया। आर्क ड्यूक फर्डीनेण्ड की हत्या के बाद आस्ट्रिया और सर्बिया में जो जबरदस्त तनाव पैदा हो गया था उसमें अखबारों की भूमिका सर्वाधिक महत्वपूर्ण रही थी।

इतिहासकार शेपीरों के अनुसार प्रजातंत्र की भिन्नता और निरंकुश शासकों की उपस्थिति भी इस महायुद्ध का एक कारण बन गई। रूस, जर्मनी, आस्ट्रिया-हंगरी तथा तुर्की में निरंकुश शासक थे। इन शासकों की परिवर्तनशील नीतियों के कारण सम्पूर्ण यूरोप की शांति खतरे में थी। उनका मानना है कि यदि इन राज्यों में निरंकुश शासन व्यवस्था नहीं होती तो शायद महायुद्ध इतना जल्दी घटित नहीं होता।

ऊपर वर्णित सभी कारणों ने मिलकर उस सौहार्द्र और सौजन्य की जड़ों को खोखला कर दिया जिसे सभ्यता एवं संस्कृति के अनेक साधनों धर्म, व्यापार, वाणिज्य, कला और विज्ञान ने मिलकर बढ़ाया था जो मानव समाज की समृद्धि के लिए अत्यावश्यक था। इसके स्थान पर आशंका और भय, द्वेष और वैमनस्य का विकास हुआ। जब कुछ स्वार्थी और आक्रामक व्यक्ति तथा राज्य शक्ति और आतंक के सहारे उन्नति करने में कामयाब हो गये तो लोगों में यह धारणा पुनः पुष्ट होने

लग गई कि संघर्ष जीवन का एक प्राकृतिक नियम है और अपने विकास के लिए यह जरूरी है। अर्थात् भौतिक उन्नति के लिए मानव धर्म को भुला दिया गया और हर सम्भव उपाय से स्वार्थ सिद्धि का प्रयत्न किया जाने लगा।

तात्कालीन कारण—28 जून, 1914 ई. के दिन सम्पूर्ण संसार आस्ट्रिया के युवराज आर्क ड्यूक फर्डिनेण्ड तथा उसकी पत्नी की हत्या के समाचार से विचलित हो उठा था। युवराज और उसकी पत्नी को, बोस्निया की राजधानी सोराजोवो की सड़क पर कत्ल कर दिया गया। इस हत्या का उद्देश्य राजनीतिक था। हत्या के अपराधी दो बोसनियन थे जिन्हें आस्ट्रिया की स्लाव-नीति पसन्द नहीं थी। आस्ट्रिया का दृढ़ विश्वास था कि यह हत्या सर्बियन सरकार की सहायता से की गई है और उसे इस हत्या के षड़यन्त्र की पूरी जानकारी थी। युद्धोपरांत की गई जांच से इतना तो स्पष्ट हो गया कि सर्बिया के कुछ उच्च अधिकारियों को हत्या के षड़यन्त्र की जानकारी था परन्तु इसमें सर्बिया सरकार का किसी प्रकार सहयोग नहीं था। आस्ट्रिया ने सर्बिया को भयंकर दण्ड देने और संभव हो सके तो उसका अस्तित्व ही मिटा देने का निश्चय कर लिया। आस्ट्रिया को यह भी मालूम था कि 1908 की भांति इस बार भी रूस सर्बिया की सहायता के लिए तैयार रहेगा। अतः आस्ट्रिया ने रूस के विरुद्ध जर्मन सहयोग का ठोस आश्वासन प्राप्त करने का प्रयत्न किया। 5 जुलाई, 1914 ई. को कैसर विलियम द्वितीय ने आस्ट्रिया को आने वाली हर परिस्थिति में पूर्ण सैनिक समर्थन देने का आश्वासन दे दिया।

जर्मनी द्वारा अपने प्रत्येक कार्य का समर्थन प्राप्त हो जाने पर आस्ट्रिया ने आगे की घटनाओं को युद्ध की स्थिति तक धकेलने का निश्चय कर लिया। 23 जुलाई को आस्ट्रिया ने सर्बिया को अल्टीमेटम पत्र भेजा। इस पत्र की भाषा तथा शैली इतनी कड़वी और शर्तें इतनी कठोर थीं कि कोई भी स्वाभिमानी राष्ट्र जिसे अपनी स्वतन्त्रता तथा आत्माभिमान से प्यार हो, कदापि स्वीकार नहीं कर सकता था। आस्ट्रिया ने सर्बिया को सोराजोवो हत्याकाण्ड के लिए उत्तरदायी ठहराया। पत्र में कई शर्तें भी थीं। सर्बिया को आस्ट्रिया के विरुद्ध किये जाने वाले प्रचार को तत्काल समाप्त करने को कहा गया। हत्या की जांच आस्ट्रियन अधिकारियों द्वारा करवाने और दोषी अधिकारियों को आस्ट्रिया के सुपुर्द करने की मांग की गई। इस पत्र का उत्तर 48 घण्टों में मांगा गया। सर्बिया ने अधिकांश शर्तों पर अपनी स्वीकृति दे दी परन्तु दो शर्तें जिनके मानने से उसकी सत्ता और सम्मान को ठेस पहुंचती थी, को मानने से इन्कार कर दिया। इन शर्तों के सम्बन्ध में सर्बिया ने अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का निर्णय स्वीकार करना मंजूर कर लिया। परन्तु आस्ट्रिया इसके लिए तैयार नहीं था।

आस्ट्रिया को जर्मनी का समर्थन प्राप्त था तो सर्बिया को रूस का। परन्तु न तो जर्मनी और न ही रूस इस समय युद्ध छेड़ने के पक्ष में थे। अतः जर्मनी और

रूस दोनों ने सर्बिया के उत्तर को सन्तोषजनक मान लिया। परन्तु आस्ट्रिया अपनी बात पर अड़ गया। उसे केवल कूटनीतिक विजय से ही सन्तोष न था। अतः उसने अपनी सेनाओं को सर्बिया की सीमा की तरफ लामबन्दी (Mobilization) की आज्ञा दे दी। इस पर रूस के जार ने आस्ट्रिया को चेतावनी दी कि अगर सर्बिया पर आक्रमण किया गया तो रूस आस्ट्रिया के विरुद्ध प्रयाण करेगा। इंगलैण्ड के मन्त्री एडवर्ड ग्रे ने स्थिति की नाजुकता को देखते हुए तथा युद्ध को रोकने की दृष्टि से एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन की मांग की। परन्तु जर्मनी ने इस मांग को ठुकरा दिया। कैसर विलियम ने स्पष्ट कह दिया कि आस्ट्रो-सर्ब समस्या दो राष्ट्रों का आपसी मामला है अर्थात् विलियम का अभिप्राय था कि आस्ट्रिया सर्बिया को समाप्त कर दे और जर्मनी आस्ट्रिया की कार्यवाही पर निगरानी रखे और रूस अथवा किसी अन्य शक्ति के बीच में आने पर उसे रोकने का प्रयास करे। विलियम की घोषणा से रूस का जार उत्तेजित हो उठा और उसने रूसी सेनाओं को लामबन्दी के आदेश दे दिये। अब जर्मनी भयभीत हो गया क्योंकि उसे विश्वास हो गया कि रूसी हस्तक्षेप से आस्ट्रो-सर्ब संघर्ष स्थानीय न रहकर यूरोपीय बन जायेगा। अतः उसने आस्ट्रिया को रूस से समझौता करने तथा इंगलैण्ड के प्रस्ताव को मान लेने की राय दी, परन्तु आस्ट्रिया युद्ध करने पर तुला हुआ था। 28 जुलाई, 1914 ई. को आस्ट्रिया ने सर्बिया के विरुद्ध युद्ध घोषित कर दिया।

आस्ट्रिया की युद्ध-घोषणा ने जार को भी उत्तेजित कर दिया। उसने सेनाओं की प्रयाण आज्ञा पर हस्ताक्षर कर दिये। इसका अर्थ था आस्ट्रिया से युद्ध। इसलिए विवश होकर जर्मनी को युद्ध की तैयारी करनी पड़ी। 31 जुलाई को कैसर विलियम ने रूस को प्रयाण आदेश वापस लेने के लिए चेतावनी पत्र भेजा। इसके साथ ही उसने फ्रांस से पूछा कि जर्मनी और रूस के मध्य युद्ध छिड़ने पर फ्रांस का क्या रुख रहेगा? रूस ने जर्मनी की चेतावनी का कोई जवाब नहीं दिया। तब 1 अगस्त को जर्मनी ने रूस के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। फ्रांस ने जर्मनी को उत्तर भिजवाया कि जर्मनी और रूस के मध्य युद्ध शुरू होने पर वह अपने हितों के अनुकूल कदम उठायेगा। जर्मनी को फ्रांस का यह उत्तर सन्तोषप्रद नहीं लगा और उसने 3 अगस्त को फ्रांस के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। इस प्रकार, आस्ट्रो-सर्ब संघर्ष यूरोपीय संघर्ष में परिवर्तित हो गया।

युद्ध में सम्मिलित शक्तियों को अब इंगलैण्ड के अगले कदम की प्रतीक्षा थी। एडवर्ड ग्रे अपने मित्रों (फ्रांस तथा रूस) का पक्ष लेकर तत्काल जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करना चाहता था परन्तु इंगलैण्ड की संसद जल्दबाजी में कोई कदम उठाना नहीं चाहती थी। परन्तु जर्मनी के अगले कदम ने संसद को एडवर्ड ग्रे की राय मानने के लिए मजबूर कर दिया। हुआ यह कि फ्रांस पर आक्रमण करने के लिए जर्मनी को बेल्जियम होकर अपनी सेनाएं भेजनी थी। जर्मनी ने बेल्जियम से जर्मन

फौजों के आने जाने के लिए रास्ता मांगा। बेल्जियम ने जर्मनी की मांग को ठुकरा दिया। इस पर जर्मनी ने बेल्जियम पर आक्रमण कर दिया। 1839 ई. की सन्धि के द्वारा इंगलैण्ड ने बेल्जियम की स्वतन्त्रता तथा तटस्थता की गारन्टी दे रखी थी। अतः बेल्जियम पर जर्मनी के आक्रमण ने इंगलैण्ड को उत्तेजित कर दिया और कुछ कूटनीतिक चेतावनियों के वाद 4 अगस्त की मध्य रात्रि को इंगलैण्ड ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध घोषित कर दिया।

कुछ दिनों वाद इंगलैण्ड, फ्रांस और रूस ने एक नई सन्धि की। इस सन्धि के द्वारा यह निर्णय किया गया कि उनमें से कोई भी जर्मनी तथा जर्मनी के साथियों के साथ कोई पृथक सन्धि नहीं करेगा। इसके वाद इटली को प्रलोभन देकर अपने पक्ष में मिलाने का प्रयत्न किया और मित्र राष्ट्रों को इसमें सफलता मिली। इटली ने त्रिगुट से सम्बन्ध विच्छेद करके जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। परन्तु तुर्की, मोण्टीनिग्रो और बल्गेरिया ने जर्मनी का साथ दिया। यूरोप का यह युद्ध एशिया में भी फैल गया। 23 अगस्त, 1914 को जापान ने इंगलैण्ड के साथ मित्रता निभाते हुए जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करदी। युद्ध के अन्तिम दिनों में संयुक्त राज्य अमेरिका भी जर्मनी के विरुद्ध मित्र राष्ट्रों के साथ शामिल हो गया।

युद्ध का उत्तरदायित्व

युद्ध के प्रारम्भ होने के तत्काल वाद ही युद्ध के उत्तरदायित्व के सम्बन्ध में वहुत कुछ लिखा गया। युद्ध में सम्मिलित राष्ट्रों ने भी अपने-अपने दृष्टिकोण और ढंग से युद्ध के उत्तरदायित्व के सम्बन्ध में सरकारी कागजात प्रकाशित करवाये जिसमें अपने को निर्दोष सिद्ध करते हुए दूसरों को दोषी सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया था। युद्धोपरान्त सम्पन्न वर्साय की संधि की धारा 231 के अन्तर्गत युद्ध का सम्पूर्ण दोष जर्मनी के सिर मंढ दिया गया और तभी से विद्वानों में यह विवाद चल पड़ा है कि क्या सचमुच सिर्फ जर्मनी ही इस युद्ध के लिए उत्तरदायी था? इस विवाद का सही समाधान आज तक भी नहीं हो पाया है। इसे ठीक से समझने के लिए प्रमुख देशों के उत्तरदायित्व पर विचार करना आवश्यक हो जाता है।

आस्ट्रिया—आस्ट्रिया को इस युद्ध के लिए सबसे पहले उत्तरदायी ठहराया जा सकता है। परन्तु इसके लिए हमें निम्न विन्दुओं को ध्यान में रखना होगा—(1) सर्विया के प्रति आस्ट्रिया की आक्रामक नीति, (2) सर्विया की आस्ट्रिया विरोधी नीति, (3) आस्ट्रिया की अपनी आन्तरिक कमजोरियां। आस्ट्रिया-हंगरी का विशाल साम्राज्य एक वहु जातीय राज्य था। उसके साम्राज्य में आवाद विभिन्न जातियां उसकी प्रभुसत्ता से स्वतन्त्र होने के लिए प्रयत्नशील थीं और राष्ट्रीयता के इस युग में अधिक समय के लिए उन्हें दवाये रखना दुष्कर कार्य था। सर्विया एक नवोदित राष्ट्र था। वह अपने आसपास के स्लाव प्रदेशों को अपने राज्य में सम्मिलित

करना चाहता था। इसका अर्थ था बालकन प्रदेश से आस्ट्रिया के प्रभाव को समाप्त करना। अतः युवराज की हत्या के फलस्वरूप जब आस्ट्रिया को मौका मिला तो उसने झंझट पैदा करने वाले इस छोटे से राष्ट्र सर्बिया को सबक सिखाने का निश्चय कर लिया। उसने सर्बिया के सामने कठोर शर्तें रखी और यद्यपि यूरोप के सभी देशों ने सर्बिया के उत्तर को संतोषजनक माना परन्तु आस्ट्रिया अड़ा रहा। वस्तुतः आस्ट्रिया का विश्वास था कि जर्मनी के समर्थन के कारण रूस सर्बिया की मदद नहीं करेगा और यदि रूस ने प्रयत्न भी किया तो जर्मनी उसे रोके रहेगा। इस प्रकार आस्ट्रो-सर्बियन संघर्ष अधिक व्यापक नहीं होगा। परन्तु उसका अनुमान गलत निकला। रूस ने तत्काल कार्यवाही कर दी। अतः आस्ट्रिया पर सर्बिया पर हमला करने और रूस को उत्तेजित करने का दायित्व आ जाता है। उसके आक्रमण ने विश्व युद्ध का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

सर्बिया—महायुद्ध के लिए सर्बिया भी दोषी माना जा सकता है। बाद में की गई जांच से यह स्पष्ट हो गया था कि सर्बिया के उच्चाधिकारियों को युवराज की हत्या करनें के षड़यंत्र की पहले से जानकारी थी और उन्होंने अपराधियों को पकड़ कर इस जघन्य कृत्य को रोकने का प्रयत्न नहीं किया। उल्टे उन्हें प्रोत्साहित किया गया। इसलिये युवराज की हत्या के लिए सर्बिया की सरकार अप्रत्यक्ष रूप से जिम्मेदार थी। हत्या के बाद जब आस्ट्रियन सरकार ने उसे अपराधियों को पकड़ने तथा सजा देने को कहा तो सर्बिया ने तत्काल कार्यवाही करना स्वीकार कर लिया था क्योंकि उस समय तक उसे रूस की तरफ से स्पष्ट आश्वासन या सैनिक समर्थन का वचन नहीं मिल पाया था। परन्तु जब आस्ट्रिया ने सर्बिया के सामने अपमान-जनक शर्तें प्रस्तुत कीं तो उसने उन्हें मानने से इन्कार कर दिया। यद्यपि इन शर्तों के संबंध में उसने अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का निर्णय मानना स्वीकार कर लिया था। इस दृष्टि से उसका उत्तर संतोषजनक था। फिर भी, युद्ध की सामग्री प्रस्तुत करने के दोष से सर्बिया को मुक्त नहीं किया जा सकता।

रूस—विश्व युद्ध का उत्तरदायित्व रूस पर भी आता है। आस्ट्रिया और रूस दोनों ही देश बालकन प्रायद्वीप में अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहते थे। सेन स्टीफेनो की संधि बालकन क्षेत्र में रूसी सफलता की चरम सीमा थी परन्तु आस्ट्रिया ने इंगलैंड, जर्मनी आदि के साथ मिलकर बर्लिन कांग्रेस के द्वारा रूस की व्यवस्था को न केवल तोड़ा-मरोड़ा ही अपितु रूस को अपमानित भी किया। इसके बाद रूस ने सर्बिया को समर्थन देना शुरू कर दिया। इसका एक कारण यह भी था कि सर्बिया विशाल स्लाव राष्ट्र का निर्माण करने का आकांक्षी था और बालकन क्षेत्र में आस्ट्रियन प्रदेशों की अधिकांश जनता स्लाव थी। यदि सर्बिया सफल हो जाता है तो उसका अर्थ होगा—आस्ट्रियन प्रभुत्व की समाप्ति। ऐसी स्थिति में आस्ट्रिया और रूस में संघर्ष होना स्वाभाविक था। परन्तु युवराज की

हत्या के वाद रूस ही पहली महान शक्ति था जिसने अपनी सेना को तैयार रहने के आदेश जारी किये। पहले उसने आस्ट्रिया के विरुद्ध और वाद में आस्ट्रिया-जर्मनी दोनों के विरुद्ध लामबन्दी के आदेश जारी किये। उसकी यह कार्यवाही ही उसका प्रमुख दोष माना जाता है। क्योंकि अभी तक यह निश्चित नहीं था कि जर्मनी आस्ट्रिया की सहायता करेगा ही ? रूस की सैनिक तैयारी ने स्थिति को अचानक वदल दिया। क्योंकि जर्मनी को पक्का विश्वास था कि रूस के युद्ध में कूदते ही फ्रांस उसकी सहायता को आ पहुंचेगा। इस प्रकार रूस पर यह दोप मंढा जाता है कि उसने युवराज की हत्या से उत्पन्न स्थिति का सभाधान कूटनीति के क्षेत्र से सैनिक क्षेत्र के हाथ में सौंप दिया। विद्वानों का मानना है कि यदि रूस ने जल्द-वाजी न की होती तो कूटनीतिक वार्तालाप के द्वारा समस्या का उचित हल ढूंढा जा सकता था।

जर्मनी—प्रथम महायुद्ध को शुरू करने के लिए जर्मनी को सबसे अधिक जिम्मेदार ठहराया जाता है। कैसर विलियम द्वितीय की विदेशी नीति तथा सैन्य वृद्धि से सभी राष्ट्र पहले से ही चिंतित थे। उसके स्थान पर यदि कोई संतुलित विचार वाला शासक होता तो यह महायुद्ध रोका जा सकता था। उसका सवसे वड़ा दोप आस्ट्रिया को बिना शर्त सहायता का वचन देना था। दूसरा दोष सैनिक अधिकारियों के परामर्श को अधिक महत्व देना था। तीसरा दोष इंगलैण्ड और फ्रांस के संभावित कदम पर विचार किये बिना अपनी कार्यवाहियों की योजना वनाना था। जर्मन अधिकारियों के अनुमान भी काफी गलत सिद्ध हुए। उनका विश्वास था कि जर्मनी की प्रचण्ड शक्ति से टकराने का साहस रूस कदापि नहीं करेगा। रूस के युद्ध में कूद पड़ने की स्थिति में भी जर्मन अधिकारियों को रूस के मित्रों, विशेषकर इंगलैण्ड के युद्ध में सम्मिलित होने की आशा नहीं थी। अत: युद्ध को शुरू करने तथा उसे व्यापक वनाने का दोप जर्मनी का रहा इसमें कोई संदेह नहीं। परन्तु यह मानना न्यायोचित नहीं होगा कि जर्मनी ने पहले से वेल्जियम और फ्रांस को हड़पने की योजना वना रखी थी। वस्तुस्थिति यह रही कि युद्ध के शुरू होने के पहले तक जर्मनी के नागरिक, अधिकारी और स्वयं कैसर विलियम द्वितीय युद्ध टालने के लिए प्रयत्नशील रहे थे। परन्तु जव सारा मामला सैनिक अधिकारियों के हाथ में चला गया तो उन्होंने आस्ट्रो-सर्वियन संघर्ष को विश्वव्यापी वनाने में अधिक विलंव नहीं किया। कई विद्वानों का मानना है कि सैनिक अधिकारियों के गुप्त सुझावों के कारण ही आस्ट्रिया ने सर्विया के संतोपजनक उत्तर को ठुकरा कर युद्ध घोपित किया था।

फ्रांस—फ्रांस को महायुद्ध का दोपी इसलिए माना जाता है कि उसने आंख मूंद कर अपने मित्र रूस का साथ दिया। वस्तु स्थिति यह थी कि फ्रांस अपने राष्ट्रीय अपमान को अभी तक भूला नहीं था। उसमें अभी तक जर्मनी से बदला लेने की भावना वनी हुई थी। परन्तु फ्रांस अपने उस मित्र को जिसे उसने वर्षों की

साधना तथा द्रव्य व्यय करके प्राप्त किया था, किसी भी कीमत पर खोना नहीं चाहता था। क्योंकि अगर वह रूस का समर्थन नहीं करता तो वह यूरोप में अकेला पड़ जाता। इसलिए जर्मनी द्वारा रूस के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करते ही फ्रांस ने अपनी आंतरिक सैनिक तैयारी शुरू कर दी। उसकी इस तैयारी से चिढ़कर जर्मनी ने उसके विरुद्ध भी युद्ध की घोषणा कर दी। फ्रांस रूस का समर्थन नहीं करता तो आस्ट्रो-सर्व संघर्ष ज्यादा से ज्यादा रूस और जर्मनी तक ही व्यापक हो पाता, विश्व-युद्ध की नौबत नहीं आती।

इंगलैण्ड—जर्मन इतिहासकारों ने इंगलैण्ड पर भी आरोप लगाये हैं। उनका मानना है कि रूस को उभाड़ने तथा फ्रांस को रूस की सहायता करने के लिए प्रोत्साहित करने में इंगलैण्ड का बहुत बड़ा हाथ था। इस पर भी इंगलैण्ड ने अपनी असली नियत किसी पर प्रकट नहीं की और सभी को अंधेरे में रखा। उनका यह भी मानना है कि इंगलैण्ड जर्मनी की औपनिवेशिक और नौ-शक्ति की होड़ तथा बलिन-बगदाद रेलमार्ग योजना से चिढ़ा हुआ था और पर्दे के पीछे रह कर वह जर्मनी को चारों तरफ से घेर कर उसका विनाश करना चाहता था। कुछ अन्य इतिहासकारों का यह भी मानना है कि इंगलैंड ने युद्ध घोषणा के पूर्व ही फ्रांस को सैनिक सहायता का वचन दे दिया था और इसीलिए फ्रांस रूस की सहायतार्थ तत्काल तैयार हो गया था। सत्य जो भी रहा हो, उपलब्ध साक्ष्यों से इतना तो स्पष्ट है कि इंगलैण्ड ने अन्तिम समय तक युद्ध को रोकने और आस्ट्रिया तथा रूस में सीधी बातचीत सम्पन्न कराने के लिए अथक प्रयत्न किया था। इससे अधिक भला वह कर भी क्या सकता था ?

इस प्रकार विश्व युद्ध का उत्तरदायित्व सभी प्रमुख शक्तियों पर आ जाता है। किसी एक ही देश पर सम्पूर्ण दायित्व थोपना न्यायोचित नहीं है। प्रत्येक देश को इससे कुछ न कुछ लाभ की आशा थी और पिछले कई वर्षों से वे ऐसे काम करते आ रहे थे जिनके परिणामस्वरूप उन्हें महायुद्ध में सम्मिलित होने के लिए विवश हो जाना पड़ा। परन्तु इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि इस युद्ध के लिए जर्मनी अन्य राष्ट्रों की अपेक्षा अधिक उत्तरदायी था।

महायुद्ध की घटनाएं

प्रथम विश्वयुद्ध इतना लम्बा और व्यापक रहा कि इस पुस्तक में इसका विस्तृत उल्लेख करना सम्भव नहीं है। हां, हम इस युद्ध की कुछ प्रमुख घटनाओं का अध्ययन अवश्य कर सकते हैं।

जर्मनी ने जिस समय रूस और फ्रांस के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की थी, उस समय उसकी योजना थी—फ्रांस को यथाशीघ्र पराजित करके रूस से निपटना। क्योंकि रूस एक विशाल देश था और उससे निपटने के लिए विशाल पैमाने पर

कार्यवाही करने की आवश्यकता थी। उस समय जर्मनी को इंगलैण्ड की तटस्थता की आशा थी। अतः उसने वाल्कन युद्ध क्षेत्र को आस्ट्रिया के भरोसे छोड़ दिया और फ्रांस पर टूट पड़ा। फ्रांस पर आक्रमण करने के लिए बेल्जियम के रास्ते से जाना पड़ता था और जब बेल्जियम ने जर्मन सेनाओं को रास्ता देने से मना कर दिया तो जर्मन फौजें बलपूर्वक उसकी सीमा में घुस गईं। इसी घटना ने इंगलैण्ड को भी युद्ध में सम्मिलित कर दिया।

जर्मनी ने केवल एक मास में फ्रांस को जीतने की योजना बनाई थी, परन्तु बेल्जियम की सेना ने उसकी योजना पर पानी फेर दिया। बेल्जियम की सेना ने बड़ी बहादुरी के साथ जर्मन फौजों का सामना किया और 24 अगस्त तक उन्हें फ्रांस की ओर नहीं बढ़ने दिया। इससे फ्रांस और इंगलैंड को युद्ध की तैयारी का थोड़ा समय मिल गया। 16 अगस्त तक इंगलैंड के 1,10,000 सैनिक फ्रांस पहुंच चुके थे। परन्तु मान्स के युद्ध में जर्मन फौजों ने इंगलैंड और फ्रांस की संयुक्त सेना को बुरी तरह से पराजित किया। अब पेरिस केवल 25 मील दूर रह गया था और सभी को आशा थी कि जर्मन फौजें बहुत जल्दी पेरिस पर अपना अधिकार जमा लेंगी। परन्तु "मार्न चमत्कार" ने जर्मनी की आशा को धूमिल कर दिया। 9 सितम्बर को अंग्रेजों की एक सेना ने मार्न नदी को पार करके जर्मन सेना को बुरी तरह से पराजित करके एन (Aine) नदी तक पीछे खदेड़ दिया। इस प्रकार, पेरिस खतरे से बच गया। जर्मन सेना एन नदी पर खाइयां खोदकर डट गई। मित्र राष्ट्रों ने भी वैसा ही किया। उन्होंने भी खाइयां खोदकर मोर्चाबन्दी कर ली। शीघ्र ही दोनों पक्षों की खाइयों की पंक्तियां स्विटजरलैंड की उत्तरी सीमा से लेकर बेल्जियम के उत्तरी किनारे तक फैल गई और कई महीनों तक दोनों पक्ष खाइयों की यह लड़ाई लड़ते रहे। 1918 ई. तक किसी भी पक्ष को कोई उल्लेखनीय सफलता नहीं मिली और इस प्रकार युद्ध का पश्चिमी मोर्चा अपेक्षाकृत शान्त बना रहा।

परन्तु बेल्जियम में प्रारम्भिक प्रतिरोध के बाद जर्मन सेना को पर्याप्त सफलता मिली। उसने संपूर्ण बेल्जियम को रौंद डाला। 10 अक्टूबर को जर्मन सेना ने एण्टवर्प पर अधिकार कर लिया। इसके बाद उसने केले के बन्दरगाह को लेने की योजना बनाई क्योंकि यह बन्दरगाह इंगलिश चैनल के नजदीक था और यहां से इंगलैंड पर आक्रमण करने की सुविधा थी। परन्तु एंग्लो-फ्रेंच सेनाओं ने सेर नदी के तट की सख्त नाकेबन्दी के द्वारा जर्मनी को अपनी योजना छोड़ने के लिए मजबूर कर दिया। इसी बीच, जर्मनी की एक अन्य सेना ने फ्रांस पर आक्रमण किया और फ्रांसीसी किलेबन्दी को नष्ट करके उत्तरी-पूर्वी फ्रांस के एक बहुत बड़े भाग पर अपना अधिकार जमा लिया। इस प्रदेश में फ्रांस की कच्चे लोहे तथा कोयले की खानें थीं। जर्मनी ने अब वर्दून, रैन्स तथा सेर नदी पर अपनी मोर्चा बन्दी जमा ली।

पूर्वी मोर्चा—युद्ध शुरू होते ही रूसी सेनाओं ने तेजी के साथ प्रयाण करके पूर्वी प्रशा पर आक्रमण कर दिया। प्रारम्भ में रूसी सेना को कुछ सफलता मिली परन्तु 26 अगस्त को प्रसिद्ध जर्मन सेनानायक हिण्डेनवर्ग ने टेननबर्ग के युद्ध में रूसियों को बुरी तरह से पराजित किया और रूसी सेना को भाग कर अपने ही सीमान्तों में जाना पड़ा। इस युद्ध में रूस के लगभग 80,000 सैनिक मारे गये। इसके उपरांत, रूस की एक अन्य सेना ने आस्ट्रिया पर आक्रमण किया और गेलेशिया के प्रदेश पर अधिकार कर लिया। इसके बाद, कोर्पोथियन के दर्रे पर भी रूसियों का अधिकार कायम हो गया। यहां से रूस की योजना हंगरी पर आक्रमण करने की थी। परन्तु जर्मन सेनापति मैकेन्सन ने रूसियों को पराजित करके गेलेशिया से भगा दिया। इसके पश्चात् आस्ट्रो-जर्मन सेनाओं ने बारसा पर आक्रमण किया और रूसियों को पराजित होना पड़ा। थोड़े ही समय में जर्मन सेना ने पोलैण्ड के कई प्रमुख नगरों पर अधिकार कर लिया और रूस के कूरलैंड, लिथोनिया, एस्थोनिया आदि प्रदेशों पर भी अधिकार जमा लिया।

नवम्बर 1914 में तुर्की भी मित्र राष्ट्रों के विरुद्ध जर्मनी का पक्ष लेकर युद्ध में सम्मिलित हो गया। इस पर अंग्रेजों ने मिस्र के खदीव को राजच्युत कर दिया और मिस्र को तुर्की से पृथक् कर दिया गया। अंग्रेजों ने अपनी कूटनीति तथा प्रलोभन के द्वारा अरबों को तुर्की के विरुद्ध भड़का दिया। डार्डेनेलीज के जल संजकों पर तुर्की का अधिकार था और उसने रूस तथा अन्य मित्र राष्ट्रों का यातायात बन्द कर दिया जिससे रूस अकेला पड़ गया और मित्र राष्ट्र उसे सहायता न पहुंचा सके। एंग्लो-फ्रेंच सेना ने डार्डेनेलीज पर अधिकार करने की योजना बनाई परन्तु इसमें मित्र राष्ट्रों को भारी क्षति उठानी पड़ी। उनके हजारों सैनिक मारे गये। वस्तुतः इस मार्ग से तुर्की पर आक्रमण करना भयंकर भूल थी जिसका परिणाम उनको भुगतना पड़ा।

सर्बिया की पराजय—युद्ध के शुरू में सर्बिया की अल्प संख्यक सेना ने बड़ी बहादुरी के साथ आस्ट्रियन सेना का मुकाबला किया और एक दो स्थानों पर उसे पराजित करने में सफल भी रही। परन्तु उसी समय बल्गेरिया ने जर्मनी के पक्ष में युद्ध की घोषणा कर दी और उसने दक्षिण की तरफ से सर्बिया पर आक्रमण कर दिया। दूसरी तरफ आस्ट्रो-जर्मन सेनाओं ने उत्तर की तरफ से सर्बिया पर आक्रमण कर दिया। छोटा सा सर्बिया तीन देशों की सेनाओं के सामने अधिक समय तक युद्ध में न टिक सका और सम्पूर्ण सर्बिया पर केन्द्रीय सत्ता (धुरी राष्ट्र) का शासन थोप दिया गया।

1916 की घटनाएं

पश्चिमी मोर्चा—एंग्लो-फ्रेंच सेनाओं को अलग-अलग करने की दृष्टि से जर्मन सेना ने 21 फरवरी 1916 को फ्रांस के मुख्य द्वार वर्दून पर आक्रमण कर

दिया। परन्तु फ्रांसीसी सेना भी डट गई। उसने जर्मन सेना की प्रगति को रोक दिया और फिर प्रत्याक्रमण कर उसे पराजित कर दिया। जर्मन सेना की इस पराजय से उसका वर्दून अभियान शिथिल पड़ गया और फ्रांसीसी सेना ने अपनी किलेबन्दी को मजबूत तथा सुरक्षित बना लिया। जुलाई से नवम्बर के मध्य साम् नदी के आस-पास दोनों पक्षों में विनाशकारी युद्ध चलता रहा जिसमें दोनों को ही भारी क्षति उठानी पड़ी और स्थिति में विशेष परिवर्तन भी नहीं हुआ। इस युद्ध की विशेष घटना है—अंग्रेजों द्वारा पहली बार टैंकों का प्रयोग करना।

इटालियन मोर्चा—इटली द्वारा मित्र राष्ट्रों का पक्ष लेकर युद्ध में सम्मिलित हो जाने पर आस्ट्रिया ने इटली पर आक्रमण करने का निश्चय किया। जिस समय जर्मन सेनाएं वर्दून पर आक्रमण कर रही थीं, उसी समय आस्ट्रियन सेना ने इटली पर आक्रमण कर दिया था। उसका उद्देश्य वेनेशिया प्रान्त पर अधिकार जमाना था। परन्तु इटली के सैनिक बहादुरी के साथ लड़े और अपार क्षति के उपरान्त भी उन्होंने आस्ट्रियन सेना की प्रगति को रोके रखा। उसी समय रूस ने पूर्व की तरफ से आस्ट्रिया पर आक्रमण कर दिया। अतः आस्ट्रिया को वेनेशिया विजय की योजना छोड़कर अपनी रक्षा करने के लिए जुट जाना पड़ा। इससे इटली को राहत मिल गई।

पूर्वी मोर्चा—जून 1916 तक रूस ने अपनी पिछली क्षति की पूर्ति कर ली और ब्रूसीलॉव के नेतृत्व में रूसी सेना पुनः आक्रमण के लिए तैयार हो गयी। इस बार रूसी सेना गेलीशिया में घुस पड़ी और बुकोविना पर अधिकार कर लिया और फिर लेम्बर्ग की ओर बढ़ने लगी। इस बार हजारों आस्ट्रियन सैनिकों को युद्ध बन्दी बनाया गया और आस्ट्रियन फौजों को अपने कई ठिकानों से पीछे हटना पड़ा। परन्तु जर्मन सेनानायक हिण्डेनबर्ग ने समय पर सहायता भेजकर रूसी प्रगति को रोक दिया। इससे रूसियों का हौंसला पस्त हो गया। इसी समय इटली ने अवसर का लाभ उठाकर गोरिजिया पर अधिकार कर लिया और उसकी सेनाएं ट्रिस्ट की तरफ बढ़ने लगी। परन्तु मित्र राष्ट्रों में निर्धारित योजनानुसार काम करने की कमी से इससे कोई विशेष लाभ नहीं हुआ।

रूमानिया युद्ध—रूस तथा इटली की सफलताओं से प्रोत्साहित होकर रूमानिया भी मित्र राष्ट्रों का पक्ष लेकर युद्ध में सम्मिलित हो गया। उसकी सेनाओं ने शीघ्र ही ट्रान्सिलवानिया के एक बड़े भाग पर अधिकार जमा लिया। परन्तु सितम्बर में मेकेन्सन डोब्रुजा जा पहुंचा और पश्चिम की तरफ हिण्डेनबर्ग भी आ पहुंचा। रूमानिया ने जर्मनी के इन दो प्रसिद्ध सेनानायकों का वीरतापूर्वक सामना किया परन्तु उसे परास्त होना पड़ा। 6 दिसम्बर तक उसकी राजधानी बुखारेस्ट पर जर्मन सेनाओं का अधिकार हो गया। रूमानिया की विजय से धुरी राष्ट्रों के अधिकार में रूमानिया के गेहूं तथा तेल के प्रचुर साधन प्राप्त हो गये।

सामुद्रिक लड़ाई—यद्यपि स्थल युद्ध में मित्र राष्ट्रों को कई बार अपमानित होना पड़ा परन्तु समुद्र पर इंगलैण्ड की नौ सेना ने अपना प्राधान्य अक्षुण्य रखा। जर्मन नौ-सेना ने जटलैंड के पास अवरोध को तोड़ने का प्रयत्न किया। 31 मई को एडमिरल बीटी ने जर्मन जहाजों पर आक्रमण किया। युद्ध अनिर्णायिक रहा परन्तु इंगलैंड के तीन जहाज डूब गये। उसके स्थान पर जान जेलिको को नियुक्त किया गया। इस बार जर्मन जहाजों को ऐसा सबक सिखाया गया कि भविष्य में उन्होंने अपने अड्डों से निकल कर ब्रिटिश नौ-सेना का मुकाबला करने का साहस नहीं किया। ब्रिटिश नौ-सेना तथा जापानी नौ-सेना के कारण जर्मनी को अपने सम्पूर्ण उपनिवेशों से हाथ धोना पड़ा। इंगलैण्ड ने जर्मनी तथा उसके साथियों की इतनी सख्त तटबन्दी की कि उपनिवेशों के साथ उनका सम्पूर्क ही टूट गया।

1917 की घटनाएं

पश्चिमी मोर्चा—1917 के प्रारम्भ में सेनाओं ने अपनी रक्षापंक्ति को सीमित बनाकर हिण्डेनबर्ग रक्षापंक्ति का निर्माण किया। एंग्लो-फ्रेंच सेनाओं ने इस रक्षा पंक्ति को तोड़ने का अथक प्रयत्न किया परन्तु लगभग 3 लाख सैनिकों को खोकर भी उन्हें केवल तीन हजार गज भूमि का टुकड़ा ही प्राप्त हो सका। यद्यपि इस मोर्चे पर ब्रिटिश टैंकों ने कुछ समय के लिये जर्मन फौजों को विचलित कर दिया था परन्तु जर्मन सेना अपने मोर्चे पर डटी रही।

इटालियन मोर्चा—जर्मनी का एक मुख्य उद्देश्य अपने विश्वासघातक मित्र इटली को बुरी तरह से पराजित करने का था। सर्बिया और रूमानिया पर धुरी राष्ट्रों का अधिकार हो चुका था। अतः अब इटली पर जबरदस्त प्रहार किया गया। इटली की सेना दुश्मन की इस मार का मुकाबला न कर सकी और परास्त होकर उसे अपने कई ठिकानों से पीछे हटना पड़ा। पियाव (Piave) नदी पर इटली की दृढ़ रक्षा पंक्ति तथा समय पर एंग्लो-फ्रेंच सेनाओं की सहायता से इटली की सुरक्षा हो गई और दुश्मन को पीछे धकेल दिया गया।

रूस की राज्य क्रांति—इस साल की प्रमुख घटना थी, रूस की राज्य क्रांति। शताब्दियों से चले आ रहे निरंकुश जारों का शासन समाप्त कर दिया गया और रूस में जनतांत्रिक शासन व्यवस्था कायम कर दी गई। यह मार्च 1917 में घटित हुआ। नई सरकार ने युद्ध को जारी रखा परन्तु लेनिन के नेतृत्व में बोल्शेविक दल युद्ध को बन्द करके रोटी-रोजी की समस्या को हल करना चाहता था। अतः क्रान्ति के बाद रूस में गृह-कलह का सूत्रपात हो गया जिसमें लेनिन और उसके दल को सफलता मिली। 7 नवम्बर 1917 को जनतांत्रिक सरकार का तख्ता पलट दिया गया और लेनिन के नेतृत्व में बोल्शेविक सरकार की स्थापना की गई जिसने दिसम्बर 1917 में जर्मनी के साथ ब्रेस्टलिटोवस्क की संधि करली। इस प्रकार, रूस प्रथम महायुद्ध

से अलग हो गया, यद्यपि इसके लिए उसे काफी बड़ी कीमत चुकानी पड़ी। मित्र राष्ट्रों के लिए यह सन्धि एक भयंकर आघात थी। इससे उनकी शक्ति कमजोर हो गई जबकि जर्मनी के हौसले बढ़ गये।

अमेरिका का युद्ध में शामिल होना—रूस के पृथक हो जाने से मित्र राष्ट्रों को जो क्षति पहुंची थी उसे अमेरिका ने दूर कर दिया। उसने मित्र राष्ट्रों का पक्ष लेकर जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। जब महायुद्ध शुरू हुआ था तब अमेरिका ने तटस्थ रहने की घोषणा की थी, परन्तु निम्न कारणों से उसे अपनी तटस्थता का त्याग करना पड़ा—

(1) जर्मन पनडुब्बियां प्रत्येक राष्ट्र के सैनिक तथा व्यापारी जहाजों को डुबो रही थीं। जब उन्होंने अमेरिका के लूसिटानिया जहाज को भी डुबो दिया तो अमेरिका को क्रोधित होना स्वाभाविक ही था। इस जहाज के साथ लगभग 100 अमेरिकन नागरिकों को भी अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ा था।

(2) बेल्जियम की तटस्थता को भंग करने तथा रैन्स के प्राचीन गिरजाघर को नष्ट कर देने से अमेरिकन जनता में जर्मनी के विरुद्ध काफी उत्तेजना फैल गई था।

(3) अमेरिकन लोगों को अभी यह बात याद थी कि उनके स्वतन्त्रता संघर्ष में लाखों फ्रेंच नागरिकों ने भाग लिया था। आज जब उन्हीं फ्रेंचजनों को जर्मन सेनाएं बर्बरतापूर्वक मौत के घाट उतार रही थीं तो वे फ्रांस की सहायता के लिए अपनी सरकार से मांग करने लगे।

(4) अमेरिका की मातृभूमि अथवा जननी ग्रेट ब्रिटेन जर्मनी के विरुद्ध युद्धरत था और रूस के पृथक हो जाने से ब्रिटेन तथा उसके साथियों की स्थिति नाजुक हो गई थी। ऐसी स्थिति में अमेरिका द्वारा उसकी सहायता करना स्वाभाविक ही था।

1918 की घटनाएं

रूस के पृथक हो जाने से जर्मनी पूर्वी मोर्चे से निश्चित हो गया और उसने अपनी सम्पूर्ण शक्ति पश्चिमी मोर्चे की तरफ लगा दी। हिण्डेनबर्ग रक्षा पंक्ति के दक्षिण की तरफ फ्रांसीसियों की और उत्तर की तरफ अंग्रेजों की मजबूत मोर्चाबन्दी थी। जर्मनी की योजना दोनों मोर्चाबन्दियों के मध्य आक्रमण करने की थी ताकि उन दोनों का सम्पर्क समाप्त किया जा सके। फलस्वरूप प्रथम अक्रमण अंग्रेजों की रक्षापंक्ति की तरफ किया गया और ब्रिटिश फौजों को आमीन तक पीछे हटना पड़ा। ऐसा प्रतीत होता था कि आमीन पर भी जर्मनी का अधिकार हो जायेगा परन्तु फ्रेंच सेना की सहायता से ब्रिटिश फौजों ने जर्मन सेना की प्रगति को रोक दिया। इसके बाद जर्मन सेनाओं ने दक्षिण की तरफ फ्रांसीसियों पर आक्रमण किया। फ्रांसीसियों को परास्त होकर पीछे हटना पड़ा और सोअरसो तथा शातोथियरी पर जर्मनी का

अधिकार हो गया। जर्मनी सेनाएं आगे बढ़ती गई और पेरिस केवल 40 मील दूर रह गया। परन्तु उसी समय फ्रांसीसियों ने पूरी शक्ति के साथ प्रत्याक्रमण किया और जर्मन सेना की प्रगति रोक दी गई।

जर्मनी की पराजय—जर्मनी की उपरोक्त सफलताओं ने मित्र राष्ट्रों को यह सबक सिखा दिया कि जब तक वे आपसी एकता तथा सहयोग से काम नहीं करेंगे तब तक जर्मनी को परास्त करना सम्भव नहीं होगा। फलतः अप्रेल 1918 में फर्डिनैंड फ्रांच को मित्र राष्ट्रों की सेनाओं का सर्वोच्च सेनापति नियुक्त किया गया। जुलाई तक लगभग 10 लाख अमेरिकन सैनिक भी फ्रांस पहुंच गये। इससे मित्र राष्ट्रों की शक्ति में चौगुनी वृद्धि हो गई। 15 जुलाई को जर्मन फौजों ने पेरिस की तरफ प्रस्थान किया परन्तु उन्हें बुरी तरह से परास्त होकर वापस लौटना पड़ा। इसके बाद मित्र राष्ट्रों ने प्रत्याक्रमण किया और जर्मन फौजों को भागकर हिण्डेनबर्ग रक्षापंक्ति का आश्रय लेना पड़ा।

जर्मनी के दुर्भाग्य का यही अन्त नहीं था। इसी समय उसके साम्राज्य में आंतरिक विद्रोह भी उठने लग गये। सर्वप्रथम यूक्रेनिया के लोगों ने विद्रोह का झंडा फहराया। इसके बाद फिनलैंड में भी गृह-युद्ध शुरू हो गया। उधर मित्र राष्ट्रों के सर्वोच्च सेनापति फ्रांच ने अपनी सेनाओं का पुनर्गठन किया और बाल्कन प्रायद्वीप में अपनी गतिविधियां बढ़ा दी। जर्मनी और आस्ट्रिया बाल्कन में सैनिक सहायता न पहुंचा सके और अकेले बल्गेरिया को मित्र राष्ट्रों का सामना करना पड़ा। वह अधिक समय तक मैदान में न टिक सका और 29 सितम्बर, 1918 को बल्गेरिया ने आत्मसमर्पण कर दिया। मध्यपूर्व में अरबों ने विद्रोह करके तुर्की की शक्ति को काफी कमजोर बना दिया। मित्र राष्ट्रों ने अरबों की सहायता से सीरिया, मेसोपोटामिया आदि प्रदेशों पर अपना अधिकार जमा लिया। जमनी अपने साथी तुर्की को किसी प्रकार की सहायता न पहुंचा सका और विवश होकर 31 अक्टूबर 1919 को तुर्की को मित्र राष्ट्रों के सामने आत्मसमर्पण करना पड़ा।

अब जर्मनी केवल आस्ट्रिया की सहायता पर निर्भर था। परन्तु आस्ट्रिया की आंतरिक स्थिति भी काफी नाजुक हो चुकी थी। उसके साम्राज्य की विभिन्न जातियां अपनी स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष की तैयारी कर रही थी और उनमें से कुछ को मित्र राष्ट्रों का सहयोग एवं समर्थन भी मिलना शुरू हो गया था। इधर इटली ने आस्ट्रिया पर जबरदस्त आक्रमण कर रखा था और इटालियन सेनाओं ने ट्रेन्ट तथा ट्रिस्ट पर अधिकार जमा लिया था। इस प्रकार आस्ट्रिया की स्वयं की स्थिति डगमगा रही थी और उसकी लड़खड़ाती स्थिति को संभालना जर्मनी की सीमा के बाहर था। परिणामस्वरूप 3 नवम्बर 1918 को आस्ट्रिया ने भी मित्र राष्ट्रों के सम्मुख आत्मसमर्पण कर दिया। 11 नवम्बर को आस्ट्रियन सम्राट ने सिंहासन त्याग दिया।

अब केवल जर्मनी बच गया। उसे सम्पूर्ण विश्व के सन्मुख अकेले लड़ना था और अकेले जर्मनी के लिए इस महान चुनौती का सामना करना असंभव था। अतः 9 नवम्बर, 1918 को जर्मन सम्राट कैसर विलियम द्वितीय ने भी राजसिंहासन त्याग दिया। 10 नवम्बर को जर्मनी में राजतंत्र का अन्त हो गया और समाजवादी नेता फ्रेडरिक के नेतृत्व में जर्मन जनतन्त्र की स्थापना की घोषणा की गई। जर्मनी में राजतन्त्र की समाप्ति के बाद मित्र राष्ट्रों ने जर्मनी को युद्ध बन्द करने का आदेश दिया। युद्ध-विराम के लिए मित्र राष्ट्रों की तरफ से निम्न शर्तें प्रस्तुत की गई थीं—

(1) जर्मन सेनाएं जीते हुए प्रदेशों तथा आल्सेस-लोरेन के प्रदेशों को दो सप्ताह में खाली कर देंगी।

(2) जर्मन सेनाएं राइन के पश्चिमी तट को खाली करके पूर्व की तरफ जर्मन सीमा में चली जायेंगी।

(3) आस्ट्रिया, रूस तथा तुर्की में स्थित जर्मन फौजों को तत्काल हटा लिया जायेगा।

(4) जर्मनी के अधिकार में मित्र राष्ट्रों की जो युद्ध-सामग्री है, उसे यथाशीघ्र वापस लौटा दिया जाय।

पराजित जर्मनी के सामने मित्र राष्ट्रों की शर्तें स्वीकार करने के अलावा अन्य कोई विकल्प नहीं था। अतः 11 नवम्बर, 1918 के दिन उसने युद्ध विराम सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिये। इसी के साथ प्रथम महायुद्ध का अन्त हुआ।

महायुद्ध के परिणाम

जन और धन हानि—चार वर्षों तक लड़े गये इस प्रथम विश्व युद्ध का परिणाम कितना घातक हुआ, इसकी सहज कल्पना नहीं की जा सकती। ऐसा अनुमान है कि लगभग 80 लाख सैनिक मारे गये और 1 करोड़ 90 लाख व्यक्ति घायल हुए। इसके अलावा लगभग 70 लाख लोग लापता हो गये। सैनिकों के अतिरिक्त असंख्य नागरिकों को भी अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ा। विश्व-इतिहास में इससे भीषण नृशंस हत्या काण्ड पहले कभी घटित नहीं हुआ था। युद्ध के तुरन्त बाद कई देशों में महामारी का प्रकोप हुआ जिसमें लगभग 40 लाख लोग मारे गये। कई यूरोपीय देशों में तो पुरुषों की कमी हो गयी जिससे जन शक्ति की भारी क्षति हुई।

धन हानि का अनुमान लगाना भी कठिन है। हर ओर आर्थिक असंतुलन पैदा हो गया जिसके परिणामस्वरूप नैतिक और राजनीतिक उथल-पुथल होने लगी। युद्धकाल में पोलैण्ड की खानें बर्बाद कर दी गई, फसल मारी गई, रेल मार्ग छिन्न-भिन्न कर दिये गये और मशीनों को तोड़ फोड़ दिया गया। फ्रांस का भी यही हाल हुआ—जमीन बियाबान हो गयी, कारखाने, मकान आदि ध्वस्त हो गये थे। जर्मनी को रूसी सेना ने रौंद डाला, हालांकि पोलैण्ड और फ्रांस की तुलना में जर्मनी को

कम क्षति उठानी पड़ी। आर्थिक क्षति से विश्व का आर्थिक संगठन भी डगमगा गया। युद्ध विराम के बाद पुनर्वास की समस्या आ खड़ी हुई। शरणार्थियों को रोजी देने का सवाल उठ खड़ा हुआ। वस्तुओं के भाव आसमान को छूने लगे। ऐसी स्थिति में कई देशों में चुंगी की दर बढ़ाकर स्वदेशी उद्योगों की रक्षा करने का प्रयत्न किया; परन्तु इससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार वाणिज्य को भारी धक्का लगा।

राजनीतिक उथल-पुथल—राजनीतिक उथल-पुथल इस महायुद्ध का एक मुख्य परिणाम हुआ। युद्धोपरान्त हमें एक नये यूरोपीय मानचित्र की झलक देखने को मिलती है जो 1914 के मानचित्र से काफी भिन्न था। नये यूरोप के राजनीतिक जीवन की आधारशिला अथवा आत्मा थी—राष्ट्रीयता। 1914 के पूर्व यूरोप में विशाल साम्राज्यों का प्रभुत्व था और छोटे-छोटे राज्य इन विशाल साम्राज्यों के अंग मात्र थे। महायुद्ध के बाद यूरोप छोटे-छोटे राज्यों का महाद्वीप बन गया। पूर्वी और मध्य यूरोप की जनता विशाल साम्राज्यों की अधीनता से मुक्त हो चुकी थी।

युद्ध के परिणामस्वरूप चार प्रमुख राजतन्त्रों एवं उनके राजवंशों का अन्त हो गया। आस्ट्रिया का हैप्सबर्ग, जर्मनी का होहेनजोलर्न, रूस का रोमनॉव और तुर्की का उस्मानिया राजवंश समाप्त हो गये। अब यूरोप में लोकतन्त्र का विकास हुआ। नव निर्मित राष्ट्रों में लोकतांत्रिक शासन व्यवस्थाएं लागू की गईं। जर्मनी तथा आस्ट्रिया के संविधानों में भी लोकतांत्रिक सिद्धांतों का समावेश किया गया। इंगलैंड में अब और अधिक लोगों को मतदान का अधिकार प्रदान किया गया। स्त्रियों को भी पुरुषों के समान अधिकार मिलने लगे।

महायुद्ध के परिणामस्वरूप फ्रांस में आत्मविश्वास की नई भावना का सृजन हुआ। उसके साम्राज्य की सीमाओं का भी विकास हुआ। इटली का एड्रियाटिक-सागर पर नियंत्रण कायम हो गया। ग्रेट ब्रिटेन की सामुद्रिक शक्ति काफी बढ़ गई। उसके संरक्षण में रखे गये प्रदेशों से उसके औपनिवेशिक साम्राज्य का भी विकास हुआ। इसीलिए कहा जाता है कि महायुद्ध से साम्राज्यवाद को नया प्रोत्साहन मिला। जापान का साम्राज्यवाद इसका ज्वलन्त उदाहरण है।

सामाजिक सुधारों का विकास—महायुद्ध के सामाजिक परिणाम भी महत्वपूर्ण सिद्ध हुए। युद्ध काल में सर्वहारा वर्ग ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की थी अतः युद्धोपरांत की राजनीतिक व्यवस्था में भी उसका महत्व स्वीकारा गया। अब श्रमिकों की स्थिति को सुधारने का कार्य जोर-शोर के साथ शुरू किया गया। इसका एक कारण यह भी रहा कि सोवियत रूस में पुरानी सामाजिक व्यवस्था का एकदम अन्त हो गया था। फ्रांस और जर्मनी के मजदूरों से प्रतिदिन आठ घंटे से अधिक काम न लेने का नियम बना दिया। कई देशों में बीमारी, आकस्मिक दुर्घटनाओं और वृद्धावस्था के लिए बीमा-व्यवस्था को मान्यता दे दी गई। श्रमिकों के हितों एवं अधिकारों की सुरक्षा के लिए ट्रेड-यूनियनें स्थापित की गई। राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत श्रमिकों की स्थिति को सुधारने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संगठन की स्थापना की गई।

कृषकों की सुरक्षा—विश्वयुद्ध के परिणामस्वरूप जहां श्रमिकों की स्थिति में सुधार हुआ, वहीं किसानों की स्थिति में भी महत्वपूर्ण सुधार किया गया। फ्रांस, जर्मनी, रूस आदि देशों में किसानों को भूमि बांट दी गई और उन्हें भूमि का मालिक बना दिया गया। पुरानी सामन्ती व्यवस्था का अन्त कर दिया गया। इससे किसानों की आर्थिक स्थिति में काफी सुधार आ गया और अब वे जीवनोपयोगी वस्तुओं को खरीदने में समर्थ हो गये।

अमेरिका का उत्कर्ष—प्रथम महायुद्ध ने अमेरिका को यूरोप का साहूकार बना दिया। यूरोप के विभिन्न राष्ट्रों पर उसका, 12,000,000,000 डालर कर्जा था। अमेरिका का विदेशी व्यापार दिन-दूना और रात-चौगुना होता गया। जर्मनी का व्यापार-वाणिज्य समाप्त हो गया था परन्तु अब इंगलैण्ड को उससे भी अधिक भयंकर एवं शक्ति सम्पन्न प्रतिद्वन्द्वी मिला जिसके पास इंगलैण्ड से भी अधिक साधन थे और जिसने शीघ्र ही सम्पूर्ण यूरोप के व्यापार-वाणिज्य को अपने नियंत्रण में ले लिया और यूरोप का साहूकार बन गया। एशिया में जापान ने भी अपनी स्थिति मजबूत बना ली थी।

उपरोक्त महत्वपूर्ण परिणामों के अतिरिक्त, रूस की राज्य क्रांति, शक्ति संतुलन के सिद्धान्त की समाप्ति, नवीन राज्यों की उत्पत्ति, अल्पसंख्यकों की समस्या आदि अन्य परिणामों पर अगले अध्यायों में विस्तार से चर्चा की गई है। ज्ञान-विज्ञान तथा साहित्य के क्षेत्र में काफी उन्नति हुई। कुल मिलाकर, इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि इस महायुद्ध के साथ एक युग की समाप्ति हो गयी। फिर भी, भविष्य की सुरक्षा के लिए कोई ठोस उपाय नहीं किया जा सका। न तो युद्ध को रोका ही जा सका और न लोकतन्त्र की सुरक्षा की जा सकी। केवल बीस वर्षों के बाद ही संसार को इससे भी अधिक विनाशकारी महायुद्ध का सामना करना पड़ा।

अध्याय 18

पेरिस शान्ति सम्मेलन

(PARIS PEACE CONFERENCE)

28 जुलाई, 1915 से प्रारम्भ होने वाले महायुद्ध का अन्त 11 नवम्बर, 1918 को हुआ जब दोनों पक्षों ने युद्ध विराम-सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिये। युद्ध समाप्ति के बाद मित्र राष्ट्रों के सामने सबसे बड़ा और जटिल प्रश्न—शान्ति की स्थायी व्यवस्था करना था। इसके लिए एक शान्ति सम्मेलन करने का निश्चय किया गया और पेरिस को इसका केन्द्र चुना गया।

पेरिस—महायुद्ध में फ्रांस ने अत्यधिक धैर्य तथा साहस का परिचय दिया था। अतः उसके सम्मानार्थ उसकी राजधानी पेरिस को शान्ति सम्मेलन का केन्द्र चुना गया। पेरिस को केन्द्र चुन कर मित्रराष्ट्रों ने गलती की। क्योंकि महायुद्ध की ज्वाला ने पेरिस के सौन्दर्य को नष्ट कर दिया था और पेरिस की जनता युद्ध की पीड़ा से कराह रही थी। पेरिस के उत्पीड़न, उत्तेजित एवं प्रतिशोधात्मक वातावरण का शान्ति सम्मेलन पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था और परिणामस्वरूप सन्धियों के प्रारूप विल्सन के आदर्शवाद से दूर होते गये। बैन्स का कथन है कि यदि पेरिस के स्थान पर जेनेवा या किसी अन्य शान्तिमय स्थान को सम्मेलन का केन्द्र चुना जाता तो शायद सम्मेलन के प्रतिनिधियों को शान्तिपूर्वक सन्धियों की धाराओं को निर्धारित करने का अवसर उपलब्ध हो जाता।

तीन महाशक्तियां निमंत्रित नहीं की गई—शान्ति सम्मेलन में पराजित राष्ट्रों जिनमें यूरोप की भूतपूर्व तीन महाशक्तियाँ भी सम्मिलित थीं, को निमंत्रित न करके मित्रराष्ट्रों ने दूसरी गलती की। एक आस्ट्रिया-हंगरी था जिसका संयुक्त अस्तित्व अब समाप्त हो चुका था। दूसरी महाशक्ति रूस थी जो कि युद्ध समाप्ति के एक वर्ष पूर्व ही युद्ध से पृथक हो चुकी थी और अब साम्यवादी सरकार और सरकार विरोधी शक्तियों के संघर्ष के कारण गृह-युद्ध का केन्द्र बनी हुई थी। तीसरी महाशक्ति जर्मनी थी। उसे सम्मेलन में सम्मिलित क्यों नहीं किया गया? भूतकाल में आयो-

जित सभी शान्ति सम्मेलनों में विजेता और पराजित दोनों ही देशों के प्रतिनिधि सन्धि वार्ता में सम्मिलित हुआ करते थे और पराजित देशों को अपने पक्ष की पैरवी करने की छूट दी जाती थी। परन्तु पेरिस शान्ति सम्मेलन के कर्णधारों ने आपस में ही मिलकर सन्धि के प्रारूप को तैयार करने और बाद में उसे जर्मन प्रतिनिधियों को स्वीकृति के लिये दिखलाने का निश्चय कर लिया था। उनके इस निर्णय के पीछे कई कारण थे। सन्धि की धाराओं को लेकर स्वयं मित्रराष्ट्रों में गहरे विवादों का उत्पन्न होना स्वाभाविक था परन्तु वे बाह्यरूप से अपनी एकता का प्रदर्शन भी करना चाहते थे। यदि जर्मनी को सम्मेलन में सम्मिलित किया जाता तो वे अपने इस उद्देश्य में सफल नहीं हो पाते और जर्मनी उनके विवादों से फायदा उठाने का तथा मित्रराष्ट्रों में फूट डालने का प्रयत्न करता। इसके अतिरिक्त जर्मन अपनी पराजय से बौखलाये हुये थे और वाद विवाद के तीव्र होने की संभावना थी। जिसके परिणामस्वरूप जर्मनों के प्रति पहले विद्यमान घृणा के अधिक बढ़ने की संभावना थी। फिर भी, जैसा कि सोमखेल ने लिखा है कि शांति सम्मेलन से जर्मनी को बहिष्कृत करना वास्तव में एक भूल थी। भावी युद्ध की भूमिका का निर्माण करने की दिशा में यह पहला कदम था।

सम्मेलन के प्रतिनिधि—पेरिस शांसि सम्मेलन में 32 राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। सम्मेलन के उद्घाटन के तुरन्त बाद ही यह अनुभव किया गया कि बत्तीस राष्ट्रों की समिति बहुत बड़ी है और इससे सुगमता व सफलता के साथ निर्णय पर नहीं पहुचा जा सकता। अतः प्रमुख समस्याओं के समाधान का काम 'दस की परिषद' को सौंप दिया गया। परन्तु बाद में यह संख्या भी अधिक अनुभव की गई और "चार बड़ों" की समिति का निर्माण किया गया। ये चार प्रमुख नेता थे—विल्सन, लॉयड जार्ज, क्लीमैन्शो और ओरलेण्डो। इन चार बड़े प्रतिनिधियों के दृष्टिकोण और व्यक्तित्व का सम्मेलन की कार्यवाही पर बड़ा प्रभाव पड़ा। अतः उनका विस्तृत अध्ययन आवश्यक हो जाता है।

विल्सन—संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति वुड्रो विल्सन का व्यक्तित्व अनोखा था। युद्ध काल में भी विल्सन युद्ध से पीड़ित विश्व युद्ध की समाप्ति के उपरान्त सुन्दर व सुखी संसार के निर्माण का आश्वासन देते रहे। वे एक आदर्शवादी पुरुष थे। युद्ध काल में उन्होंने अपने विख्यात "चौदह बिन्दुओं" (Fourteen Points) की घोषणा की थी और इसके आधार पर संसार के पुनःनिर्माण का प्रयत्न भी किया। विल्सन एक ऐसी आदर्श सन्धि करवाना चाहते थे जो सब राष्ट्रों के प्रति न्याय कर सके। परन्तु ऐसा नहीं हो सका। इसके बहुत से कारण थे। एक कारण विल्सन की अपनी कमियां थी। वह राजनीतिशास्त्र का प्राध्यापक, विश्व विद्यालय का प्रोफेसर एवं संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के राष्ट्रपति का अनुभव प्राप्त कर चुका था। वह भाषण दे सकता था, कानून बना सकता था परन्तु अपने समकक्षों

से अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करने की कला से अनभिज्ञ था। कीन्स के शब्दों में "वह कोई वीर पुरुष अथवा पैगम्बर नहीं था, वह एक तत्ववेत्ता भी नहीं था, परन्तु उदार विचारों का ऐसा व्यक्ति था जिसमें दूसरे मनुष्यों की अनेकों दुर्बलताएं थीं और जिसमें उस शासकीय बौद्धिक प्रखरता का अभाव था जो ऐसे चालाक और खतरनाक आकर्षणशील व्यक्तियों से निबटने के लिए आवश्यक थी जिन्हें शक्तियों और व्यक्तियों के एक भयंकर संघर्ष ने राजनीतिक सौदा करने के काम में निपुण बना दिया था और इस दिशा में सफल माने जाने वाले व्यक्तियों की श्रेणी में एक ऊंचे शिखर तक पहुंचा दिया था।" दुर्भाग्यवश, विल्सन यूरोप की जटिल एवं अंतर्मिश्रित समस्याओं के स्वरूप से भी अपरिचित था। इन समस्याओं के बारे में उसने पहले से कुछ नहीं सोच रखा था। जब समस्याएं उसके सामने आई तो यह देखा गया कि उसके विचार अपरिपक्व और अधूरे थे। उसके पास आदर्शवाद के अलावा और कोई कार्यक्रम नहीं था। इतना ही नहीं, बल्कि कभी कभी वह उन रिपोर्टों-जो विशेषज्ञों द्वारा कठिन परिश्रम के उपरान्त तैयार की गई थीं, पर भी ध्यान नहीं देता था। वह अपने आदर्शवाद पर डटा रहना चाहता था और इसके लिए सब कुछ, यहां तक कि घनिष्ठ मित्रता को भी छोड़ने को तैयार था। जेकसन ने ठीक ही लिखा है कि, "वह मोजेज (Moses) की भांति पहाड़ से नियम की सारिका लेकर उतरा, परन्तु मोजेज की भांति उसने देखा कि जिनका नेतृत्व करने वह आया था, वे युद्ध की मूर्ति के उपासक थे।"

विल्सन अपने उद्देश्य की प्राप्ति में असफल रहा। इच्छा न होते हुए भी उसने सारघाटी फ्रांस को देना स्वीकार कर लिया। इसी प्रकार क्षतिपूर्ति तथा अन्य विषयों पर भी विल्सन को बाध्य होकर अपने सिद्धांतों का गला घोंटना पड़ा। जब जर्मनी ने शांति समझौते में संशोधन की प्रार्थना की तो विल्सन को बाध्य होकर प्रार्थना अस्वीकार करनी पड़ी। फिर भी, विल्सन का विश्वास था कि यदि राष्ट्रसंघ की स्थापना हो गयी तो उसके द्वारा सारी बुराइयां दूर की जा सकेंगी।

लॉयड जार्ज—ग्रेट ब्रिटेन का प्रधानमंत्री लॉयड जार्ज एक यथार्थवादी, सावधान, तेज और चतुर कूटनीतिज्ञ था। वह विचारों और सिद्धान्तों का पुजारी नहीं था। उसकी नीति परिस्थितियों के अनुसार बदलती रहती थी। अतः उसके निकटतम साथी भी कई बार कूटनीति में उसकी अगली चाल का अनुमान नहीं लगा पाते थे। लैन्सिग के शब्दों में, "उसके पास एक अद्भुत सजग मस्तिष्क था जो अथक स्फूर्ति से छलकता रहता था। वह बड़ी तेजी के साथ निर्णय कर लिया करता था और उसमें न तो बारीकियों का ध्यान रखता था और न मूलभूत प्रश्नों का। जीवन से उत्फुल्ल, व्यवहार से शिष्ट और स्वभाव से सरल, वह सामाजिक दृष्टि से बहुत ही आकर्षक व्यक्ति था।"

यद्यपि लॉयड जार्ज और उसकी राष्ट्रीय सरकार ने 1918 का निर्वाचन "जर्मनी से पूर्ण हर्जाना लो", "शिलिंग के बदले शिलिंग और टन के बदले टन"

('Make Germany pay', 'Shiliing for Shilling and Ton for Ton') जैसे नारों के आधार पर जीता था, परन्तु पेरिस शांति सम्मेलन में जर्मनी के प्रति उसका व्यवहार काफी उदार रहा था। वस्तुतः लॉयड के सामने तीन मुख्य उद्देश्य थे—(1) एक नाविक प्रतिद्वन्द्वी के रूप में जर्मनी का सर्वनाश करना (2) फ्रांस को अधिक शक्तिशाली बनने से रोकना ताकि यूरोप का शक्ति संतुलन बना रहे और (3) इंगलैण्ड के लिये अधिक से अधिक सुविधाएं प्राप्त करना। लॉयड अपने उद्देश्यों की पूर्ति में सफल रहा।

क्लीमेन्शो—पेरिस के शान्ति समझौतों के स्वरूप को निश्चित करने में सबसे अधिक प्रभाव का उपयोग करने वाला, फ्रांस का प्रधानमंत्री जार्ज क्लीमेन्शो था। वह इस समय अस्सी वर्ष का वृद्ध पुरुष था। फ्रांसीसी जनता उसे "वृद्ध केसरी" तथा "महान विजेता" आदि नामों से सम्बोधित करती थी। यूरोप की तत्कालीन समस्याओं की जितनी विस्तृत जानकारी और गहरा ज्ञान उसको प्राप्त था, उतना अन्य किसी नेता को नहीं था। क्लीमेन्शो आदर्शवादी नहीं था, वह एक व्यवहारिक कार्यकर्त्ता था। उसे विल्सन के चौदह बिन्दुओं अथवा राष्ट्रसंघ में कोई रुचि नहीं थी। उसका प्रमुख उद्देश्य था—फ्रांस की सुरक्षा। उसके मस्तिष्क में संधि का उद्देश्य, विजय को फ्रांस की स्थायी सुरक्षा में परिवर्तित करने का था। अन्य तथ्यों के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं था। कीन्स ने लिखा है कि फ्रांस के प्रति उसका वही दृष्टिकोण था जो पेरीक्लीज का एथेन्स के सम्बन्ध में था। परंतु सैद्धांतिक रूप से राजनीति में वह बिस्मार्क का अनुगामी था। लैंसिन्ग के शब्दों में, "वह शांति सम्मेलन पर छा गया था, उसमें महान नेतृत्व के सभी आवश्यक गुण थे, वह जानता था कि कब अपने प्रतिपक्षी की बात को काटा जा सकता है, और कब उसे संतुष्ट करना आवश्यक होता है।" जर्मनी को पंगु बना देने की उसमें कितनी उत्कट अभिलाषा थी इसका उल्लेख कर्नल हाऊस ने इन शब्दों में किया है, "उसे इस बात का दृढ़ विश्वास था कि जर्मनी शक्ति के अतिरिक्त कुछ नहीं समझता। उस का एक मात्र उद्देश्य जर्मनी का इतना दमन करना था कि वह फिर कभी फ्रांस के लिए संकट न बन सके।"

आरलैण्डो—इटली के प्रधान मंत्री आरलैण्डो की गणना भी "चार बड़ों" में होती थी। वह एक विद्वान, अच्छा वक्ता और कुशल कूटनीतिज्ञ था, परन्तु उसे अंग्रेजी भाषा का अधिक ज्ञान नहीं था। अतः सम्मेलन की कार्यवाहियों में वह अपने देश के स्वार्थों को अधिक प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत नहीं कर पाया। उसका मुख्य ध्येय 1915 की लन्दन संधि की पूर्ति करवाना था। परन्तु उसके इसी उद्देश्य से विल्सन उससे नाराज हो गया और आरलैण्डो ने भी सम्मेलनों की बैठकों में अधिक भाग नहीं लिया।

कठिनाइयां—शान्ति सम्मेलन को आरम्भ से ही अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। एक तरफ विल्सन का आदर्शवाद था—एक सुखी संसार की

कल्पना। दूसरी तरफ यूरोपीय राजनीतिज्ञों का यथार्थवाद था—पराजित देशों का अधिक से अधिक शोषण करने की मनोवृति। इन दोनों परस्पर-विरोधी विचारधाराओं में सामंजस्य स्थापित करना कठिन कार्य था। इसके अतिरिक्त निम्न समस्याएं भी सम्मेलन के कार्य में रोड़े अटका रही थी—(1) राष्ट्रसंघ के घोषणा पत्र का मसविदा। (2) फ्रांस की सुरक्षा का सवाल और राइन के दायें तट का भविष्य। (3) इटली और पोलैण्ड के दावे। (4) जर्मनी के उपनिवेशों तथा तुर्की के सीमान्तों का निर्णय। (5) क्षतिपूर्ति की समस्या। (6) अल्पसंख्यकों की सुरक्षा की समस्या और (7) गुप्त संधियों के वचनों को कार्यान्वित करने की समस्या। ये सब समस्याएं ऐसी थीं जिन पर एकमत होना असम्भव नहीं तो कठिन कार्य अवश्य था।

शांति समझौते—पराजित देशों के साथ शान्ति समझौते सम्पन्न करने में मित्र राष्ट्रों को पांच वर्ष लग गये। 28 जून, 1919 को सर्वप्रथम जर्मनी के साथ वर्साय की संधि सम्पन्न की गई, 10 सितम्बर 1919 को आस्ट्रिया के साथ सेन्ट-जर्मन की संधि, 27 नवम्बर 1919 को बल्गेरिया के साथ न्यूइली की संधि, 4 जून 1920 को हंगरी के साथ ट्रियनों की संधि, 10 अगस्त, 1920 को टर्की के साथ सेव्रे की संधि और 23 जुलाई, 1923 को लोसान की संधि सम्पन्न की गई। इन समझौतों के बाद ही सारे संसार में पुनः विधिवत् शान्ति स्थापित हो सकी। वर्साय की सन्धि से लेकर बाद में की गयी उपरोक्त सभी संधियां अपने संयुक्त रूप में "शांति समझौता" कहलाती है।

वर्साय की सन्धि

वर्साय की सन्धि का प्रारूप 7 मई को जर्मन प्रतिनिधिओं को सौंपा गया था। जर्मन प्रतिनिधिमण्डल अपने विदेश मंत्री वॉन ब्रोकडोर्फ-राजाओं के नेतृत्व में 30 अप्रेल को वर्साय पहुंचा था। जर्मन प्रतिनिधियों को 'ट्रायनन पैलेस होटल' में ठहराया गया और इस होटल को कांटेदार तारों से घेर दिया गया तथा जर्मन प्रतिनिधियों को किसी भी देश के प्रतिनिधि अथवा पत्रकार से सम्पर्क स्थापित करने से मना कर दिया गया। एक प्रकार से उन्हें नजरबन्द कैदियों की भांति रखा गया। सन्धि के प्रारूप को तैयार देखकर जर्मन प्रतिनिधियों को बड़ी निराशा हुई क्योंकि वे इस विश्वास के साथ आये थे कि सन्धि की शर्तें आमने-सामने की वार्तालाप के बाद ही तय होंगी। जर्मन प्रतिनिधियों को कहा गया कि वे तीन सप्ताह के भीतर संधि प्रस्तावों पर अपना लिखित वक्तव्य दे दें। संधि की शर्तों ने समस्त जर्मन-जनता को विचलित कर दिया। जर्मनी के राष्ट्रपति ने इन शर्तों को असह्य, घातक एवं पूर्ति के अयोग्य बताया। इस पर ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री लॉयड जार्ज ने धमकी भरे स्वर में कहा, "जर्मन लोग कहते हैं कि वे सन्धि पर हस्ताक्षर नहीं करेंगे। जर्मनी के राजनीतिज्ञ भी यही बात करते हैं। लेकिन हम लोग कहते हैं महानुभावों! आपको इस पर हस्ताक्षर करना ही है। अगर आप वर्साय में ऐसा नहीं करते हैं तो आपको

वर्लिन में ही करना होगा।" 29 मई को जर्मन प्रतिनिधिमण्डल ने अपनी आलोचना मित्र राष्ट्रों को प्रस्तुत कर दी। मित्र राष्ट्रों ने मामूली संशोधन स्वीकार कर लिया और सन्धि का प्रारूप वापस लौटा दिया और धमकी भी दी गई कि यदि जर्मनी ने पांच दिन के अन्दर सन्धि पर हस्ताक्षर नहीं किये तो पुनः युद्ध छेड़ दिया जायेगा। जर्मनी की तत्कालीन शिडमान सरकार ने सन्धि को अस्वीकार करते हुए त्याग पत्र दे दिया। अन्त में गुस्टाववौर ने नई सरकार वनाई और सन्धि को स्वीकार किया। 28 जून, 1919 को नई सरकार के प्रतिनिधियों ने वर्साय के शीश-महल में सन्धि पर हस्ताक्षर किये। हस्ताक्षर करने के वाद जर्मन प्रतिनिधि ने कहा "हमारे प्रति फैलाई गई उग्र घृणा की भावना से हम आज सुपरिचित हैं। मेरा देश दबाव के कारण आत्म-समर्पण कर रहा है; किन्तु वह यह कभी नहीं भूलेगा कि यह अन्यायपूर्ण सन्धि है।"

वर्साय की सन्धि में 15 भाग, 439 धाराएं और 80,000 शब्द थे। इस सन्धि पत्र में जर्मनी के साथ की गई व्यवस्थाओं के अतिरिक्त राष्ट्रसंघ, अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संगठन और अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का संविधान तथा उससे सम्वन्धित व्यवस्थाएं भी सम्मिलित थीं।

प्रादेशिक व्यवस्था—सन् 1870–71 के फ्रेंको-प्रशियन युद्ध में फ्रांस को जर्मनी से पराजित होना पड़ा था और परिणामस्वरूप अलसास और लारेन के प्रदेशों से हाथ धोना पड़ा। वर्साय सन्धि के द्वारा जर्मनी को इन दोनों प्रान्तों से हाथ धोना पड़ा और ये प्रान्त पुनः फ्रांस को सौंप दिये गये। सार (Saar) के औद्योगिक प्रदेश पर जर्मनी की सर्वोच्च सत्ता को तो स्वीकार किया गया परन्तु उसका शासन प्रवन्ध राष्ट्रसंघ के एक आयोग को सौंपा गया। सार प्रदेश की कोयले की खानों का स्वामित्व 15 वर्ष की अवधि के लिये फ्रांस को सौंपा गया। इसके वाद सार के निवासियों को यह तय करने का अधिकार दिया गया कि वे फ्रांस के साथ रहना चाहते हैं अथवा जर्मनी के साथ। चूंकि अधिकांश लोग जर्मन थे; अतः यह पक्की सम्भावना थी कि वे जर्मनी के साथ मिलेंगे और 1935 में ऐसा ही हुआ। मार्सनेट, यूपेन तथा मालमेडी नामक जर्मन प्रदेश वेल्जियम को जर्मन आक्रमण से हुई क्षति की एवज में दिये गये।

1864 ई० में जर्मनी ने डेनमार्क से श्लेसविग प्रान्त छीन कर अपने राज्य में मिला लिया था। वर्साय की संधि के अनुसार इस प्रान्त में जनमत संग्रह किया गया और परिणामस्वरूप यह प्रान्त डेन्मार्क को वापस लौटा दिया गया। इस प्रकार युद्ध में सम्मिलित हुये विना ही डेनमार्क को प्रादेशिक लाभ प्राप्त हो गया।

जर्मनी के पूर्वी सीमान्त को तय करना सवसे अधिक कठिन कार्य सिद्ध हुआ। क्योंकि वाल्टिक सागर से लेकर चेकोस्लोवाकिया तक, एक दूसरे के विरोधी और एक दूसरे से घृणा करने वाले जर्मन और पोल लोग वसे हुए थे। वर्साय सन्धि के

अनुसार पश्चिमी प्रशिया, पोजन तथा साइलीशिया के कुछ भाग पोलैंड को देने पड़े। इससे पोलैंड को बाल्टिक सागर तक पहुंचने तक एक गलियारा मिल गया परन्तु पूर्वी जर्मनी का शेष जर्मनी से सम्बन्ध टूट गया। डेन्जिग जर्मन आबादी प्रधान नगर था परन्तु पोलैंड का प्राकृतिक सामुद्रिक द्वार भी था। इसलिए डेन्जिग को जर्मनी से पृथक करके राष्ट्रसंघ के संरक्षण में रखा गया। डेन्जिग नगर का शासन जर्मन जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियों की संस्था को सौंप दिया गया और डेन्जिग बन्दरगाह का प्रबन्ध पोलैण्ड को सौंप दिया गया। पूर्व में जर्मनी को मेमल बन्दरगाह और उसकी पार्श्वभूमि लिथुआनिया को देनी पड़ी।

ब्रेस्ट लिटोवस्क की संधि के द्वारा जर्मनी ने एक बहुत बड़ा भू-भाग रूस से छीनकर अपने राज्य में मिला लिया था। वर्साय सन्धि के अनुसार इस विस्तृत भू-भाग से जर्मनी को हटने के लिए विवश किया गया और तीन नवीन राज्यों एसथोनिया, लटाविया और लिथुआनिया की स्थापना की गई। सुदूर उत्तर में फिन लोगों का निवास था जिन्होंने युद्ध समाप्ति के पूर्व जर्मनी की सहायता से रूसी प्रान्तों को हड़प कर स्वतन्त्र फिनलैण्ड की स्थापना कर ली थी। वर्साय की सन्धि ने उनकी स्वतंत्रता को मान्यता दे दी।

6 जर्मनी के उपनिवेश मैंडेट प्रणाली के अन्तर्गत ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, बेल्जियम, दक्षिण अफ्रीकन संघ, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड और जापान को सौंप दिये गये। मैंडेट प्रणाली का अर्थ यह था कि पिछड़े हुए देशों का समुचित कल्याण एवं विकास करना सभ्य देशों का पवित्र कर्त्तव्य है। अतः विभिन्न देशों को राष्ट्रसंघ की ओर से ये देश पवित्र धरोहर के रूप में सौंपे गये हैं। इस प्रणाली के अन्तर्गत जर्मन दक्षिणी-पश्चिमी अफ्रीका, दक्षिण अफ्रिकन संघ को प्राप्त हुआ। जर्मन पूर्वी अफ्रीका ग्रेट ब्रिटेन को सौंपा गया। टोगोलैण्ड तथा कैमरून फ्रांस और ग्रेट ब्रिटेन को सौंपे गये। प्रशान्त महासागर में भूमध्यरेखा के दक्षिण के जर्मन टापू आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड को सौंपे गये और भूमध्य रेखा के उत्तर के टापू और चीन के शान्टुंग प्रदेश में जर्मन अधिकार जापान को प्रदान किये गये।

वर्साय की प्रादेशिक व्यवस्था के अनुसार जर्मनी को यूरोप में 25,000 वर्ग मील से भी अधिक भूमि और लगभग 70 लाख नागरिकों से वंचित होना पड़ा। लगभग 65 प्रतिशत कच्चे लोहे, 45 प्रतिशत कोयले, 72 प्रतिशत जस्ते, 57 प्रतिशत रांगे के कच्चे माल से हाथ धोना पड़ा। उसे अपने सारे उपनिवेशों से भी हाथ धोना पड़ा।

2 **सैनिक व्यवस्थाएं**—विल्सन का मत था कि भविष्य में सभी देश निशस्त्रीकरण की दिशा में सक्रिय प्रयत्न करेंगे। इंगलैण्ड के अधिकांश विचारक भी इससे सहमत थे। परन्तु फ्रांस की हठधर्मी के कारण इस समस्या को भविष्य के लिये छोड़ दिया गया। अभी केवल जर्मनी को निःशस्त्र करना ही पर्याप्त समझा गया। वर्साय

की सैनिक व्यवस्था के अन्तर्गत जर्मनी की जल, स्थल और वायुसेना पर अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध लगाये गये। जर्मनी में अनिवार्य सैनिक सेवा को समाप्त कर दिया गया और यह व्यवस्था की गई कि आगामी बारह वर्ष तक जर्मनी की स्थल सेना एक लाख से अधिक नहीं होगी। सैनिक अधिकारियों को कम से कम 25 वर्ष तक और साधारण सैनिकों को 12 वर्ष तक सेना में रहना होगा। जर्मनी के प्रधान सैनिक कार्यालय को उठा दिया गया और अस्त्र-शस्त्र, गोला-बारूद तथा अन्य युद्ध-सामग्री का उत्पादन सीमित कर दिया गया। सभी प्रकार के टैंकों, लोहे की सैनिक कारों तथा लड़ाकू हवाई जहाजों पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। वायु सेना से सम्बन्धित समस्त सामग्री को नष्ट कर दिया गया। जर्मन नौ-सेना को काफी कम कर दिया गया। अब जर्मनी दस हजार टन के 6 युद्धपोतों, 6 क्रूजरों, 12 विध्वंसक पोतों और 12 टारपीडो नौकाओं से अधिक नहीं रख सकता था। पनडुब्बियां रखने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया और उसके पास जो पनडुब्बियां थीं उन्हें या तो मित्र राष्ट्रों ने अपने अधिकार में ले लिया या फिर नष्ट कर दिया गया। जर्मन नौ सेना की संख्या 15,000 तक सीमित कर दी गई। जर्मनी के सभी नौ सैनिक अड्डों को समाप्त कर दिया गया। फ्रांस की सुरक्षा की दृष्टि से राइन नदी के बायें किनारे पर जर्मन प्रदेश में तथा दायें तट पर 50 किलोमीटर के भीतर असैनिकीकरण कर दिया गया। इस क्षेत्र में सेना रखने अथवा किलेबन्दी करने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया।

इस प्रकार वर्साय सन्धि के द्वारा सैनिक दृष्टि से जर्मनी को एकदम पंगु बना दिया गया। ई. एच. कार ने लिखा है कि "जर्मनी का जिस कठोरतापूर्वक और सम्पूर्ण रूप से निःशस्त्रीकरण किया गया, उतना और किसी देश का कभी नहीं किया गया था। वस्तुतः जर्मनी जैसे देश के लिए यह घोर अपमान था।

3 **आर्थिक व्यवस्था**—युद्ध बन्दी के सम्बन्ध में होने वाली प्रारम्भिक वार्तालाप के समय ही मित्र राष्ट्रों ने जर्मनी को स्पष्ट रूप से बता दिया था कि जल, थल और नभ की लड़ाई के परिणामस्वरूप नागरिकों को हानि उठानी पड़ी है, उसकी पूर्ति जर्मनी को करनी पड़ेगी। इससे फ्रांस तथा अन्य देशों के वीरान प्रान्तों को फिर से आबाद करने का व्यय, डुबोये गये जहाजों के पुनर्निर्माण का व्यय आदि भी सम्मिलित था। वर्साय सन्धि की धारा 231 में क्षतिपूर्ति के आधार को स्पष्ट करते हुए कहा गया है—'क्योंकि यह युद्ध जर्मनी और उसके साथियों द्वारा प्रारम्भ किया गया, अतः जर्मनी यह स्वीकार करता है कि इससे होने वाली क्षति के लिए वह तथा उसके साथी देश उत्तरदायी हैं। परन्तु क्षतिपूर्ति की धनराशि का निर्धारण कठिन काम था, अतः यह काम एक क्षति-पूर्ति आयोग (Reparation Commission) को सौंप दिया गया। इस आयोग को 1 मई 1921 तक अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करनी थी।

आयोग की रिपोर्ट के आने तक की अवधि के लिए यह तय किया गया कि जर्मनी अपने सोना, जहाज, जमानत, माल आदि के रूप में 5 अरब डालर की धन-

राशि मित्र राष्ट्रों की देगा। इसके अलावा जर्मनी को 5 वर्षों तक मित्र राष्ट्रों के लिए 20 लाख टन के जहाज प्रतिवर्ष बनाने होंगे। जर्मनी को 1600 अथवा उससे अधिक टनों के सभी व्यापारिक जहाज मित्र राष्ट्रों को सौंपने होंगे। जर्मनी को आगामी 10 वर्षों तक फ्रांस को 70 लाख टन, बेल्जियम को 80 लाख टन और इटली को 77 लाख टन कोयला प्रतिवर्ष देना होगा। इसके अतिरिक्त यह भी निश्चित किया गया कि मित्र राष्ट्रों के क्षतिग्रस्त क्षेत्रों के पुनर्निर्माण के लिए जर्मनी को पर्याप्त मात्रा में मशीनें, औजार, पत्थर, ईंट, लकड़ी, स्टील, सीमेन्ट, चूना आदि सामान देना होगा। जर्मन उपनिवेशों तथा मित्र राष्ट्रों में जो भी सरकारी अथवा गैर सरकारी जर्मन पूंजी थी उसे जब्त कर लिया गया। मिस्र, मोरक्को और चीन में जर्मनी के विशेष व्यापारिक अधिकारों को भी समाप्त कर दिया गया।

श्री हेम्पडन जेक्सन ने लिखा है कि वर्साय सन्धि का प्रमुख अभिप्राय जर्मनी का आर्थिक ध्वंस करना था। वस्तुतः यह कथन काफी सही है। क्योंकि एक तरफ तो उसके औद्योगिक तथा औपनिवेशिक क्षेत्र छीन लिये गये, दूसरी तरफ उसके बड़े-बड़े कारखाने नष्ट कर दिये गये और तीसरी तरफ हर्जाने की रकम लाद दी गई। ऐसी परिस्थिति में उसका आर्थिक पतन नहीं होता तो और क्या होता?

अन्य व्यवस्थाएं—अन्य व्यवस्थाओं में सर्वप्रथम धारा 231 है, जिसमें अकेले जर्मनी को यह मानना पड़ा कि वह सारी तबाही और बरबादी के लिये दोषी था। इस युद्ध की दोष-सम्बन्धी युद्ध अपराध (War-guilt) धारा ने जिम्मेदारी-सम्बन्धी विवाद की ओर बढ़ा दिया। वस्तुतः जर्मन जनता ने इस बात को स्वीकार नहीं किया कि युद्ध का वास्तविक उत्तरदायित्व जर्मन नेताओं पर था। वर्साय सन्धि में राष्ट्रसंघ की स्थापना सम्बन्धी प्रावधान रखे गये जिन पर आगे के अध्याय में विचार किया गया है। रूस और जर्मनी के मध्य सम्पन्न ब्रेस्ट लिटोवस्क की सन्धि को अमान्य ठहराया गया। इस सन्धि के द्वारा बेल्जियम, पोलैण्ड, यूगोस्लाविया और चेकोस्लोवाकिया की स्वतंत्रता को मान्य ठहराया गया।

वर्साय की सन्धि की आलोचना

वर्साय की सन्धि अलग-अलग लोगों के लिए अलग-अलग अर्थ है। एक ओर मित्र राष्ट्रों के पक्षपाती इसमें लोकतंत्र, राष्ट्रीय आत्म-निर्णय, न्याय, कानून का शासन और सैनिकवाद के विरुद्ध सुरक्षा की विजय समझते थे; दूसरी ओर कुछ लोग इसे प्रतिशोध की प्रवृत्ति, आर्थिक अवास्तविकता और राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों पर जुल्म का प्रतीक समझते थे। वस्तुतः यह शान्ति सन्धि आदर्शवादिता और यथार्थवादिता दोनों का सम्मिश्रण था और इसके साथ इसमें पुरानी शक्ति-प्रतिद्वन्द्विता (Power Politics) का भी पुट था। इस सन्धि से जिन लोगों को लाभ हुआ उन्होंने इसमें राष्ट्रीय आत्म निर्णय के स्वप्न को साकार होते देखा और जिन्हें नुकसान हुआ, उन्होने इसे दुःखपूर्ण एवं लादी गयी सन्धि कहा।

लॉयड जार्ज ने ब्रिटिश संसद में कहा था कि "प्रस्तावित सन्धि को जर्मनी के साथ किसी प्रकार का अन्याय नहीं कहा जा सकता। इस सन्धि पर केवल वही अन्याय का आरोप लगा सकता है जो जर्मनी के युद्ध कार्यों को भी न्याय संगत ही समझता हो।" गैथोर्न हार्डी ने तो यहां तक कहा है कि "ऐसे आदर्श स्वरूप की शान्ति-सन्धि आज तक कभी नहीं की गई।" इसके विपरीत अनेक विद्वान वर्साय सन्धि की कटु आलोचना करते हैं। पंडित जवाहरलाल नेहरू के शब्दों में. "मित्र राष्ट्र घृणा और प्रतिशोध की भावना से भरे हुए थे और वे पौंड भर मांस (Pound of Flesh) ही नहीं चाहते थे अपितु जर्मनी के अधमरे शरीर से खून की आखिरी बूंद तक ले लेना चाहते थे।" इसी प्रकार, फिलिप स्नोडेन ने कहा है कि "यह एक शान्ति सन्धि नहीं वरन् दूसरे युद्ध की घोषणा है। यह जनतन्त्र तथा युद्ध में वीर गति पाने वालों के साथ विश्वासघात है।" वस्तुतः वर्साय की सन्धि में अनेक दोष थे।

1. अपमानजनक एवं कठोर शर्तें—वर्साय की सन्धि की शर्तें अत्यधिक कठोर एवं अपमानजनक थीं और उनकी पूर्ति होना असम्भव था। सन्धि-निर्माताओं का मूल उद्देश्य जर्मनी को सदैव के लिए पंगु बना कर उसे एक सबक सिखाना था। लॉयड जार्ज ने स्पष्ट कहा था कि "इस सन्धि की धाराएँ युद्ध में मृत शहीदों के खून से लिखी गई हैं। जिन लोगों ने इस युद्ध को शुरू किया था उन्हें दुबारा ऐसा न करने की शिक्षा अवश्य देनी है।" इससे साफ जाहिर है कि सन्धि की शर्तें प्रतिशोध की भावना से प्रेरित होकर बनाई गई थीं। जर्मनी पर हर्जाने की विशाल धनराशि थोपी गई जिसे वह अदा नहीं कर सकता था। जर्मनी को अपमानजनक रूप में निशस्त्र किया गया जबकि मित्र राष्ट्र सशस्त्र बने रहे। उसके समस्त उपनिवेश छीन लिये गये। यूरोप में भी उसका बहुत बड़ा भू-भाग छीन लिया गया। 15 वर्ष के लिए उसका सार का प्रदेश भी ले लिया गया और राइनलैण्ड में मित्रराष्ट्रों की सेनाएं रख दी गईं। वर्साय की सन्धि में प्रथम विश्व युद्ध का सारा दोष जर्मनी के मत्थे थोप कर उसका प्रबल राष्ट्रीय अपमान किया गया। ऐसी अपमानजनक एवं कठोर शर्तें दुनिया का कोई भी स्वाभिमानी राष्ट्र अधिक समय तक सहन नहीं कर सकता था और इससे मुक्त होने का एक ही रास्ता था—युद्ध में सफलता प्राप्त करना। इस प्रकार, वर्साय की सन्धि में द्वितीय महायुद्ध के बीज भी दिये गये थे।

2. एक पक्षीय समझौता—वर्साय की सन्धि का एक प्रमुख दोष यह था कि इसकी शर्तें एक पक्षीय थीं। सन्धि की शर्तें मित्रराष्ट्रों के द्वारा तैयार की गई थीं और जर्मन प्रतिनिधियों से विचार-विमर्श नहीं किया गया। उन्हें केवल हस्ताक्षर करने अथवा युद्ध को पुनः छेड़ने की धमकी भरा आदेश दिया गया था। जर्मनी पर जो शर्तें लादी गईं उन शर्तों से मित्रराष्ट्रों को मुक्त रखा गया। उदाहरणार्थ, निःशस्त्रीकरण केवल जर्मनी के लिए था, मित्रराष्ट्रों के लिए नहीं। इसी प्रकार,

युद्धकाल में दोनों पक्षों के द्वारा क्रूर कृत्य किये गये परन्तु केवल जर्मन लोगों पर ही अभियोग चलाये गये। जर्मनी के समस्त उपनिवेश छीन लिये गये परन्तु मित्रराष्ट्रों के पास उपनिवेश बने रहे। इस प्रकार की एक पक्षीय शर्तों के कारण जर्मन जनता में यह भावना व्याप्त हो गई कि वर्साय की संधि में उसके साथ अन्याय किया गया है और अन्याय का प्रतिकार भावी युद्ध में सफलता प्राप्त करके ही किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में एडम्स गिबन्स ने लिखा है कि "पारस्परिकता के अभाव में वह एक शक्ति की शान्ति थी।"

3. **आरोपित संधि**—वर्साय की संधि को एक आरोपित संधि कहा जाता है। यह संधि मित्रराष्ट्रों द्वारा जर्मनी पर थोपी गई थी। यह एक प्रकार का आदेश था जिस पर हस्ताक्षर करने के अतिरिक्त जर्मनी के पास कोई विकल्प नहीं था। संधि पर विचार-विमर्श करना तो दूर रहा, हस्ताक्षर करवाने के लिए भी जर्मन प्रतिनिधियों को अपराधियों की भांति पहरे में लाया-ले जाया गया। इस सार्वजनिक अपमान से पीड़ित जर्मन जनता वर्साय की संधि को प्रारम्भ से ही आरोपित संधि मानती रही और नैतिक दृष्टि से इसका पालन करने के लिए अपने आपको बाध्य अनुभव नहीं किया। इस संदर्भ में ई. एच. कार ने लिखा है, "इन अनावश्यक अपमानों के, जिनका औचित्य केवल यही हो सकता है कि युद्ध की तीव्र कटुता अब भी अवशिष्ट थी, जर्मनी में व अन्यत्र व्यापक मनोवैज्ञानिक परिणाम हुए।" लार्ड ब्राइस ने भी ब्रिटिश-संसद में कहा था कि "शान्ति केवल संतोष से ही हो सकती है किन्तु इन संधियों के परिणाम राष्ट्रों को असंतुष्ट बनाना है। फलस्वरूप इनके स्वाभाविक परिणाम क्रांतियां और युद्ध होंगे।"

4. **राजनीतिज्ञों की शान्ति**—वर्साय की संधि द्वारा स्थापित शान्ति की चर्चा करते हुए जनरल स्मट्स ने कहा था कि यह संधि राजनीतिज्ञों की शान्ति थी, जन-साधारण की नहीं। इस संधि में नवीन जीवन का आश्वासन, महान् मानवीय आदर्शों, नवीन अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था तथा न्याय संगत एवं श्रेष्ठ विश्व के निमित्त जन आकांक्षाओं की पूर्ति का उल्लेख नहीं था। इसमें ऐसी प्रादेशिक व्यवस्थाएँ थीं जिनमें संशोधन की सख्त आवश्यकता थी। इसमें ऐसी क्षति-पूर्तियों का समावेश किया गया जिन्हें यूरोप के औद्योगिक पुनरुत्थान को गम्भीर हानि पहुंचाये बिना पूरा करना सम्भव नहीं था। इससे जन साधारण को वास्तविक शान्ति उपलब्ध नहीं हो पाई। संधि के द्वारा स्थापित आर्थिक व्यवस्था को चर्चिल ने "मूर्खता पूर्ण" कहा। मार्शल फौच ने तो भविष्यवाणी कर दी थी कि "वर्साय की संधि शान्ति संधि नहीं बल्कि बीस वर्षों के लिए एक युद्ध विराम संधि है।"

5. **कमजोर राजनीतिक व्यवस्था**—वर्साय की संधि के परिणामस्वरूप यूरोप में जो एक नवीन राजनीतिक व्यवस्था अस्तित्व में आई वह काफी कमजोर सिद्ध हुई। आत्म निर्णय के आधार पर अनेक छोटे-छोटे नवीन राष्ट्रों का निर्माण

किया गया। परन्तु इन राष्ट्रों के पास अपनी स्वतन्त्रता को बनाये रखने अथवा अपनी आंतरिक समस्याओं को हल करने योग्य साधन तथा सामर्थ्य नहीं थी। आस्ट्रिया, चेकोस्लोवाकिया, एसथोनिया, लटाविया, लिथुआनिया आदि राष्ट्र शुरू से ही अनेक प्रकार की समस्याओं से उलझे रहे। हंगरी, बल्गेरिया, रूमानिया आदि देश काफी निर्बल हो चुके थे। इन छोटे राष्ट्रों के दोनों तरफ दो बड़े असंतुष्ट देश जर्मनी और रूस थे। चूंकि छोटे राष्ट्रों के पास इन बड़े राष्ट्रों का मुकाबला करने की शक्ति नहीं थी अतः अवसर मिलते ही इन बड़े राष्ट्रों ने उन्हें हड़पने तथा उन पर हावी होने का प्रयत्न शुरू करके वर्साय की व्यवस्था को मृतप्रायः बना दिया।

6. विश्वासघाती संधि—जर्मनी का कहना था कि उसने विलसन के चौदह बिन्दुओं को आधार मान कर आत्म समर्पण किया था परन्तु वर्साय की संधि में इनका उल्लंघन करके जर्मनी के साथ जबरदस्त विश्वासघात किया गया। इस आरोप को ठीक से समझने के लिए हमें कुछ विस्तार में जाना होगा।

8 जनवरी, 1918 को राष्ट्रपति विलसन ने अपने 14 बिन्दुओं की घोषणा की थी जिनमें युद्धोपरान्त संसार की व्यवस्था का चित्र विद्यमान था। ये चौदह बिन्दु इस प्रकार थे—

(1) खुले ढंग से किये गये खुले करार। (2) सामुद्रिक यातायात की स्वतन्त्रता। (3) आर्थिक अवरोधों की समाप्ति। (4) निःशस्त्रीकरण। (5) निष्पक्षता के साथ उपनिवेशों का बंटवारा। (6) रूसी प्रदेशों को खाली करना और उसकी सार्वभौम सत्ता को स्वीकार करना। (7) फ्रांसीसी प्रदेशों को मुक्त करना तथा अल्सेस-लोरेन फ्रांस को लौटाना। (8) इटली की सीमाओं में राष्ट्रीयता के आधार पर संशोधन करना। (9) आस्ट्रिया-हंगरी की विभिन्न राष्ट्रीयताओं को स्वतन्त्रता प्रदान करना। (10) रूमानिया, सर्बिया और मोन्टीनीग्रो को खाली करना; सर्बिया को समुद्री द्वार प्रदान करना और बाल्कन राज्यों की सीमा निर्धारित करना। (11) ओटोमन साम्राज्य को उसकी तुर्की सीमाओं के लिए सम्पूर्ण प्रभु सत्ता का आश्वासन देना; (12) तुर्क साम्राज्य के अन्तर्गत निवास करने वाली राष्ट्रीयताओं को असंदिग्ध सुरक्षा और स्वाधीन विकास का अवसर प्रदान करना तथा डार्डेनेल्ज को सभी राष्ट्रों के लिए स्थायी रूप से खोलना। (13) स्वतन्त्र पोल राज्य की स्थापना करना तथा उसे समुद्री द्वार प्रदान करना और उसकी अखण्डता का आश्वासन देना। (14) राष्ट्रसंघ की स्थापना।

विलसन ने इस चौदह-सूत्री योजना के आधार पर शत्रु राष्ट्रों से संधि करने की अपील की थी। परन्तु जब तक जर्मनी को अपनी पराजय का पूर्ण विश्वास नहीं हो गया तब तक उसने विलसन की अपील पर ध्यान ही नहीं दिया। चौदह बिन्दुओं के प्रति जर्मनी का रुख आरम्भ से ही नकारात्मक रहा और प्रत्यक्ष प्रमाण रूस के साथ की गई ब्रेस्ट-लिटोवस्क की संधि और रूमानिया के साथ की गई

संधि है। इस प्रकार जर्मनी ने विल्सन और मित्र राष्ट्रों की उदारता और सहानुभूति को ठोकर मार कर उन्हें क्रोधित कर दिया था और उन्होंने यह तय कर लिया था कि उनके हितों के लाभ की दृष्टि से चौदह सूत्रों में आवश्यक संशोधन किये जा सकेंगे। अतः जब जर्मनी ने चौदह बिन्दुओं को स्वीकार किया तब तक चौदह बिन्दुओं का कायाकल्प हो चुका था।

सामान्य समीक्षा—वर्साय की संधि विश्व के प्रमुख प्रजातान्त्रिक देशों के चुने हुए प्रतिनिधियों का काम था और उन्होंने जहाँ तक सम्भव हो सका अपने उत्तरदायित्व को निभाने का प्रयत्न किया। उनके कार्यों की आलोचना करने के पूर्व हमें उन परिस्थितियों को विस्मृत नहीं करना चाहिए जिनके अन्तर्गत उन्हें कार्य करना पड़ा था। यहीं पर हमारे सामने एक प्रश्न भी उठ खड़ा होता है कि क्या 1919 में निर्धारित की जाने वाली, किसी भी स्वरूप और चरित्र वाली संधि के द्वारा एक स्थायी शान्ति की व्यवस्था की आशा की जा सकती थी?

किसी भी प्रसंग में यह अवश्य याद रखना चाहिए कि 1919 का संसार अन्तर्राष्ट्रीय घृणा से ग्रस्त था—ऐसी घृणा जिससे संसार अभी तक अनभिज्ञ था। क्योंकि इससे पूर्व विश्वव्यापी पैमाने पर इतना भारी विनाशकारी महायुद्ध नहीं लड़ा गया। इस विनाश ने मानव समाज की सम्पूर्ण बौद्धिक प्रतिभा को अपने जाल में उलझा लिया था और वह युद्ध को आहूत करने वालों के सर्वनाश के लिए तैयार हो चुकी थी। इस नाते हम शान्ति संधियों को दोषी नहीं ठहरा सकते।

परन्तु दूसरे पक्ष के लोग वर्साय की संधि का दूसरा ही चित्र प्रस्तुत करते हैं। उनका कहना है कि शान्ति समझौते अस्थायी आश्वासनों से परिपूर्ण थे। वे यत्रतत्र बिखरे आदर्शवाद और प्रभावकारी भौतिकवाद के मिश्रित रूप के प्रतीक थे। लैन्सिग के शब्दों में, "शर्तें बहुत अधिक कड़ी और अपमानजनक थीं और उनमें से अधिकांश शर्तें ऐसी थी जिन्हें कार्यान्वित किया जाना, मेरी दृष्टि में असम्भव था।" इसी प्रकार, कीन्स ने क्षति-पूर्ति की कठोर शर्तों के कारण ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल से अपना त्याग पत्र देते हुए इसे "नृशंसतापूर्ण प्रतिशोधात्मक शान्ति" की संज्ञा दी। संधियों पर हस्ताक्षर करने के बाद जनरल स्मट्स ने कहा था कि, "मैंने संधि पर इस कारण हस्ताक्षर नहीं किये कि मैं उसे समस्याओं का एक संतोषजनक समाधान मानता हूं; पर इस कारण कि युद्ध को किसी न किसी प्रकार समाप्त कर देना आवश्यक हो गया था। हमने अब तक उस वास्तविक शान्ति को प्राप्त नहीं किया है जिसकी ओर हमारे नागरिक टकटकी लगाए देख रहे हैं।"

शान्ति संधियों पर कई दोषों का आरोप लगाया गया है। एक तो यह कि शांति व्यवस्था में उन कई आश्वासनों और सिद्धान्तों, जिनको ठीक ढंग से व्यवहार में नहीं लाया जा सकता था, को सम्मिलित करके बुद्धिमानी का काम नहीं किया गया है। उदाहरणार्थ, सैद्धांतिक दृष्टि से जनता के आत्म-निर्णय के अधिकार की

प्रशंसा की जा सकती है परन्तु व्यावहारिक क्षेत्र में इस सिद्धांत ने जितनी समस्याओं का समाधान किया उससे कहीं अधिक नूतन समस्याओं को जन्म भी दिया और ये समस्याएँ प्रतिशोध लेने वाले राष्ट्रों के नारे बन गई। इसी प्रकार, शान्ति व्यवस्था में मित्र राष्ट्रों ने अपने ऊपर जो प्रतिबन्ध लगाये थे और जिनको निभाना कठिन था, उन्हें सम्मिलित नहीं किया जाना चाहिए था जैसे कि निःशस्त्रीकरण। आर्थिक धाराओं की कठोरता की चर्चा हम कई बार कर चुके हैं। इन सबसे एक बात स्पष्ट हो जाती है कि केवल धमकी के द्वारा किसी देश पर कोई भी संधि अधिक समय के लिए सफलतापूर्वक नहीं लादी जा सकती।

सेण्ट जर्मेन की संधि—10 सितम्बर, 1919 को आस्ट्रिया के साथ सेण्ट जर्मेन की संधि की गई। इस संधि की मुख्य बात आस्ट्रिया हंगरी के पुराने विशाल साम्राज्य का विभाजन करना और विभाजन में हिस्सा मांगने वाले पांच देशों—चेकोस्लोवाकिया, पोलैण्ड, यूगोस्लाविया, इटली और रूमानिया के दावों को संतुष्ट करना था।

सेन्ट जर्मेन की संधि के अनुसार आस्ट्रिया एवं हंगरी में एकतन्त्र शासन समाप्त करके लोकतांत्रिक शासन की स्थापना की घोषणा की गई। संधि में एक महत्वपूर्ण व्यवस्था यह रखी गई कि भविष्य में आस्ट्रिया जर्मनी के साथ किसी प्रकार का संघ नहीं बनायेगा। इस संधि के परिणामस्वरूप आस्ट्रिया के भूतपूर्व साम्राज्य के अनेक हिस्से दूसरे देशों को प्राप्त हुए। आस्ट्रिया के बोहेमिया और मोराविया के प्रदेशों को पृथक् करके चेकोस्लोवाकिया नामक एक नये देश का निर्माण किया गया। इस नये देश को लगभग समस्त आस्ट्रियन साइलीशिया और निम्न आस्ट्रिया का क्षेत्र भी दिया गया। बोस्निया, हरजेगोविना तथा डालमेशियन किनारे के कुछ अंश और टापू जिनमें सर्वों की प्रधानता थी, सर्बिया के साथ मिला कर "यूगोस्लाविया" का निर्माण किया गया। दक्षिणी टिरोल, ट्रीस्टे, इस्ट्रिया, ब्रेनर-दर्रा तथा डालमेशियन किनारे पर दो द्वीप इटली को प्राप्त हुए। पोलैण्ड को आस्ट्रियन-गैलीशिया का क्षेत्र दिया गया और रूमानिया को बुकोविना तथा ट्रांसिलवानिया दिये गये। इस संधि के परिणामस्वरूप आस्ट्रियन साम्राज्य का क्षेत्रफल 1 लाख 15 हजार वर्गमील से घटकर केवल 32 हजार वर्गमील रह गया। उसकी आबादी 3 करोड़ से घटकर केवल 65 लाख रह गयी। इस प्रकार वह एक बड़े साम्राज्य से एक छोटे से देश के रूप में परिवर्तित हो गया।

जर्मनी की भांति आस्ट्रिया की सैनिक शक्ति को भी कमजोर बना दिया गया। अब यह 30 हजार से अधिक सैनिक नहीं रख सकता था। नई भर्ती का निषेध कर दिया गया तथा युद्ध सामग्री की मात्रा और लड़ाकू जहाजों की संख्या कम कर दी गई। नौ-सेना के नाम पर उसे केवल तीन नौकाएं रखने की स्वीकृति दी गई। इसके अतिरिक्त उस पर भी क्षतिपूर्ति की भारी रकम लाद दी गई और

उसकी राष्ट्रीय कला की निधियाँ 20 वर्ष के लिए जब्त कर ली गई। इस सन्धि ने आस्ट्रिया की आर्थिक रीढ़ तोड़ दी।

न्यूइली की सन्धि—27 नवम्बर 1919 को बल्गेरिया के साथ न्यूइली (Neuilly) की सन्धि सम्पन्न की गई। इस सन्धि के अनुसार बल्गेरिया के पश्चिमी भाग के चार छोटे क्षेत्र यूगोस्लाविया को दे दिये गये। यहाँ आत्म निर्णय का गला घोंट दिया गया क्योंकि इन क्षेत्रों में बल्गर लोगों का बहुमत था। परन्तु यूगोस्लाविया अपने निश-सलोनिका रेल मार्ग को सुरक्षित रख सके, इस दृष्टि से इन क्षेत्रों को यूगोस्लाविया को दिया गया था। सन्धि के अनुसार उसे पश्चिमी थ्रेस यूनान को देना पड़ा। इस प्रदेश को खो देने से बल्गेरिया समुद्र तट पर पहुँचने के मार्ग से वंचित हो गया। डोब्रूजा का भाग रूमानिया को देना पड़ा।

अन्य पराजित देशों की तरह बल्गेरिया की सेना को भी कम कर दिया गया। अब उसकी सेना की संख्या बीस हजार तक सीमित कर दी गई और जल तथा वायु सेना लगभग नष्ट कर दी गई। सन्धि के अनुसार बल्गेरिया पर 45 करोड़ डालर की क्षतिपूर्ति लाद दी गई जो कि उसे 37 वार्षिक किश्तों में अदा करनी थी। इस सन्धि ने बल्गेरिया को बाल्कन क्षेत्र का सबसे निर्बल देश बना दिया जिसे अपने अस्तित्व के लिए हर समय बाह्य सहायता पर निर्भर रहना पड़ा।

ट्रायनों की संधि—4 जून, 1920 को हंगरी के साथ ट्रायनों (ट्रियनों) की सन्धि की गई। यह संधि हंगरी की नवनिर्मित 'राष्ट्रीय सरकार' के साथ सम्पन्न की गई थी। हंगरी के 'फ्यूम' क्षेत्र को लेकर इटली और यूगोस्लाविया में काफी तनाव पैदा हो गया और अन्त में दोनों ने फ्यूम को एक स्वतन्त्र नगर मान लिया। 1924 में दोनों देशों में पुनः सन्धि हुई जिसके अनुसार फ्यूम इटली को और फ्यूम का उपनगर सूशाक यूगोस्लाविया को प्राप्त हुआ। ट्रियनों की सन्धि के अनुसार हंगरी को आस्ट्रिया से पृथक कर दिया और हंगरी का बुर्जेनलैण्ड का क्षेत्र आस्ट्रिया को प्रदान किया गया। ट्रांसिलवानिया और उसके पड़ौस का कुछ क्षेत्र रूमानिया को दिया गया। क्रोशिया यूगोस्लाविया को और स्लोवाकिया का क्षेत्र चेकोस्लोवाकिया को दिये गये। यूगोस्लाविया को स्लावोनिया और बानात (Banat) का लगभग आधा भाग भी मिला।

सन्धि के अनुसार हंगरी को भी युद्ध के लिए दोषी ठहराया गया और उसकी सैनिक शक्ति को भी कमजोर बना दिया गया। अब वह 35 हजार से अधिक सैनिक नहीं रख सकता था। उसकी जल सेना भंग कर दी गई और अस्त्र शस्त्रों को काफी सीमित कर दिया गया। अन्य पराजित देशों की भांति हंगरी पर भी क्षतिपूर्ति की एक बहुत बड़ी रकम थोप दी गई। इस सन्धि ने हंगरी को एक कमजोर देश बना दिया। उसकी आबादी 2 करोड़ 10 लाख से घटकर केवल 75 लाख रह गई। उसका क्षेत्रफल 1 लाख 25 हजार वर्गमील से घटकर 35 हजार वर्गमील रह गया।

सेव्रे की सन्धि—10 अगस्त, 1920 को मित्र राष्ट्रों ने तुर्की की भगोड़ी सरकार के साथ सेव्रे की सन्धि की। तुर्की के सुल्तान के प्रतिनिधियों को भी इस सन्धि पर विवश होकर हस्ताक्षर करने पड़े थे क्योंकि तुर्की की राजधानी तथा विभिन्न महत्वपूर्ण सामरिक क्षेत्रों पर मित्र राष्ट्रों की सेनाओं का अधिकार बना हुआ था। इस सन्धि के अनुसार—(1) तुर्की ने मिस्र, सूडान, साइप्रस, ट्रिपोलीटानिया, मोरक्को, ट्यूनिशिया, अरब, फिलिस्तान, मेसोपोटामिया और सीरिया पर अपने सभी अधिकारों और हितों को त्याग दिया। (2) एशिया माइनर, थ्रेस का कुछ भूभाग, एड्रियानोपल और गैलीपोली यूनान को दिये गये। (3) सीरिया फ्रांस के संरक्षण में और फिलिस्तीन, मेसोपोटामिया इंगलैण्ड के संरक्षण में रखे गये। (4) हेजाज (Hejjaj) के राजा को स्वतन्त्र मान लिया गया। (5) इटली को रोड्स तथा डोडेकनीज द्वीप समूह मिले। (6) आर्मीनिया को स्वतन्त्र बना दिया गया और कुर्दिस्तान की स्वतन्त्रता का आश्वासन दिया गया। (7) दर्रे दानियाल के जलडमरूमध्य को किलेबन्दी रहित बनाकर अन्तर्राष्ट्रीय प्रदेश मान लिया गया। (8) तुर्की को सैनिक शक्ति को 50 हजार सैनिकों तक सीमित कर दिया गया। उसकी नौ-सेना को भंग कर दिया गया और वायु सेना पूरी तरह से नष्ट कर दी गई। (9) कुस्तुन्तुनिया, अलेक्जेण्ड्रिया, स्मर्ना आदि बन्दरगाहों को अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण के अन्तर्गत रख दिया गया। तुर्की की दयनीय आर्थिक स्थिति को देखते हुए उस पर क्षतिपूर्ति की रकम नहीं थोपी गई। परन्तु उसे युद्ध के लिए दोषी अवश्य ठहराया गया।

लोसाने की सन्धि (Treaty of Lausanne)—सेव्रे की सन्धि तुर्की के लिये घोर राष्ट्रीय अपमान था। तुर्की के विलासी सुल्तान ने इसे स्वीकार कर लिया था परन्तु मुस्तफा कमालपाशा के नेतृत्व में राष्ट्रवादियों ने इस सन्धि का घोर विरोध किया और इसे मानने से इन्कार कर दिया। जब सेव्रे की सन्धि के अनुसार यूनानी फौजों ने तुर्की के प्रदेशों पर अपना अधिकार जमाना शुरू किया तो कमालपाशा के नेतृत्व में तुर्की सेना ने यूनानियों को बुरी तरह से पराजित करके एशिया माइनर से खदेड़ दिया। इस समय तक मुस्तफा कमालपाशा की नई सरकार भली-भांति जम चुकी थी और इंगलैण्ड के अलावा अनेक यूरोपीय राष्ट्रों ने चुपके चुपके उसे मान्यता भी दे दी। 1 नवम्बर 1922 को तुर्की के सुल्तान का पद ही समाप्त कर दिया गया। आखिरकार 20 नवम्बर, 1922 को मित्र राष्ट्रों ने तुर्की की नई सरकार के साथ सेव्रे के स्थान पर लोसाने की नई सन्धि की बातचीत शुरू की और 24 जुलाई, 1923 को इस सन्धि पर हस्ताक्षर किये गये।

सन्धि के अनुसार अनातोलिया पर तुर्की की सार्वभौम सत्ता को स्वीकार कर लिया गया और आर्मीनिया तथा कुर्दिस्तान को स्वतन्त्रता देने की बात रद्द कर दी गई। कुस्तुन्तुनिया, पूर्वी थ्रेस, गैलीपोली साइलीशिया, अदालिया और स्मर्ना पर

तुर्की की प्रभुसत्ता स्वीकार कर ली गई। सेव्रे की सन्धि से उपरोक्त प्रदेश तुर्की से छीन लिये गये थे। इंगलैण्ड और फ्रांस के संरक्षण में रखे गये प्रदेश तुर्की को वापस नहीं लौटाये गये। दर्रे-दानियाल और बासफोरस के जल डमरुओं को पहले की भांति किलेबन्दी रहित तथा अन्तर्राष्ट्रीय प्रदेश बने रहने दिया गया। तुर्की ने अपने मुस्लिम और गैर-मुस्लिम नागरिकों को समान अधिकार देने का वचन दिया। नई सन्धि के अनुसार तुर्की की सैन्य शक्ति पर किसी प्रकार का कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया गया और न ही उससे किसी प्रकार की क्षति-पूर्ति मांगी गई। इस प्रकार, लोसाने की सन्धि के द्वारा तुर्की अपनी खोई प्रतिष्ठा को लौटाने तथा सम्मानजनक सन्धि करवाने में कामयाब रहा।

नये संसार की रूपरेखा

चार प्रमुख शक्तियों का अन्त—पेरिस शान्ति सम्मेलन के परिणामस्वरूप विश्व के नये मानचित्र का रूप निखर गया। नया मानचित्र पुराने से भिन्न था। युद्ध के पूर्व की चार प्रमुख साम्राज्यवादी शक्तियां-जर्मनी, रूस, आस्ट्रिया, हंगरी और तुर्की का गौरव समाप्त हो चुका था। इनके साथ ही चार प्रमुख राजवंशों-होहेनजोलर्न, रोमनोव, हैप्सवर्ग और आटोमन का भी अन्त हो गया। जर्मनी अब एक समाजवादी राष्ट्रपति की अध्यक्षता में एक लोकतांत्रिक राज्य बन गया। रूस के परम प्रतापी जार और उसके परिवार के सदस्यों की हत्या कर दी गई थी और क्रेमलिंथन में साम्यवादी सरकार ने अपने पैर मजबूती के साथ जमा लिये थे। आस्ट्रिया हंगरी के विशाल साम्राज्य के टुकड़े-टुकड़े किये जा चुके थे और इन टुकड़ों को मिला कर कई नवीन राज्यों का निर्माण कर दिया गया था। तुर्की अपने पूर्व आकार की छायामात्र रह गया था।

नवीन राज्यों की उत्पत्ति—पेरिस शान्ति सम्मेलन ने कई नवीन राज्यों का निर्माण किया। पोलैण्ड, लिथुआनिया और बोहेमिया के कंकालों को कब्र से निकाल कर उन्हें नवजीवन प्रदान किया गया। फिनलैण्ड की स्वतन्त्रता को भी मान्यता दे दी गई। सर्बिया ने "यूगोस्लाविया" का विशाल स्वरूप ग्रहण कर लिया। मोन्टीनिग्रो मानचित्र से अदृश्य हो गया। चेकोस्लोवाकिया एक नया स्वतन्त्र राज्य बन गया। मिस्र, सीरिया, फिलिस्तीन, मेसीपोटामिया आदि तुर्की के हाथ से निकलकर इंगलैण्ड और फ्रांस के संरक्षण में चले गये।

प्रजातंत्र की प्रधानता—पेरिस शान्ति सम्मेलन को प्रजातन्त्र के विकास का द्योतक माना जा सकता है। 1914 ई. में यूरोप में प्रजातांत्रिक राज्यों की संख्या केवल पांच तक सीमित थी जबकि 1919 के बाद इस संख्या में वृद्धि होती गई और 1932 ई. में यह संख्या 16 तक पहुंच गई। परन्तु बहुत से देशों की जनता पर प्रजातांत्रिक संस्थाएं बलपूर्वक लादी गई थीं। परिणाम यह हुआ कि इन देशों में

बहुत शीघ्र तानाशाही शासन की स्थापना हो गई। इसीलिए कुछ विद्वान् तानाशाही की उत्पत्ति का कारण पेरिस शान्ति व्यवस्था को मानते हैं।

शक्ति संतुलन की समाप्ति—पेरिस शांति व्यवस्था ने जिस नवीन यूरोप का निर्माण किया उससे यूरोप का परंपरागत "शक्ति-संतुलन" (Balance of Power) का सिद्धांत समाप्त हो गया। महायुद्ध के पूर्व यूरोप में जो दो प्रमुख गुट बने थे अब उनका अस्तित्व मिट गया। फ्रांस यूरोपीय महाद्वीप पर छा गया था। ग्रेट-ब्रिटेन सात समुद्रों की लहरों के शासन से आत्म संतुष्ट था। अमेरिका ने आकस्मिक रूप से शान्ति समझौतों से हाथ खींचकर यूरोप को उसके भाग्य पर छोड़ दिया था और साम्यवादी रूस अभी अपनी नूतन व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने में संलग्न था। इस प्रकार शक्ति संतुलन अस्तित्वहीन हो चुका था।

सामान्य—युद्ध समाप्त हो चुका था और शान्ति सन्धियों पर भी हस्ताक्षर किये जा चुके थे फिर भी विश्व की सामान्य जनता सुखी नहीं थी। उसे कुछ भी लाभ नहीं हुआ। उसकी आर्थिक स्थिति में सुधार नहीं हो पाया और विभिन्न सरकारें रोटी-रोजी की समस्या का उचित समाधान ढूंढने में असफल रहीं। फलस्वरूप कुछ वर्षों बाद ही सम्पूर्ण संसार को 'आर्थिक संकट' में फंस जाना पड़ा जिससे बड़ी मुश्किल से मुक्ति मिल सकी। भावी युद्धों को रोकने तथा शांति को बनाये रखने के लिए राष्ट्र संघ की स्थापना भी की गई परन्तु अपने दोषों और कमजोरियों के कारण वह सफल नहीं हो सका। पेरिस शांति सम्मेलन द्वारा निर्मित मानचित्र स्थायी नहीं हो पाया और दो दशकों के भीतर ही संसार को दूसरे महायुद्ध का सामना करना पड़ा।

अध्याय 19

राष्ट्रसंघ

(LEAGUE OF NATIONS)

भूमिका—राष्ट्रसंघ, पेरिस शान्ति सम्मेलन का एक महत्वपूर्ण रचनात्मक कार्य था। इसे एक अच्छे विश्व संगठन की प्रगति की दिशा में एक सफल कदम कहा जा सकता है। यह पहला संगठन था जिसके पास वैधानिक अस्तित्व था, एक संविधान था और एक कार्यपालिका थी। इसी स्थापना को विश्व इतिहास का एक क्रान्तिकारी मोड़ विन्दु कहा जा सकता है। राज्यों के बीच, राजनीतिक सम्बन्धों के क्षेत्र में, अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की प्रणाली को विकसित करने के लिए अब तक किये गये प्रयत्नों में सर्वाधिक महत्वाकांक्षी प्रयत्न था। यह ठीक है कि पवित्र संघ की स्थापना से लेकर प्रथम महायुद्ध के पूर्व तक अनेक विचारकों तथा राजनीतिज्ञों ने अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को उन्नत करने का प्रयास किया था, परन्तु बड़े-बड़े राजनीतिक प्रश्नों को शांतिपूर्वक आपसी सहयोग द्वारा सुलझाने की दृष्टि से एक विश्वव्यापी संगठन के निर्माण की दिशा में किसी प्रकार का सक्रिय प्रयास नहीं किया गया था।

अवधारणा—प्रथम महायुद्ध ने अनेक देशों के असंख्य राजनीतिज्ञों एवं विचारकों को विक्षुब्ध कर दिया था और संपूर्ण संसार युद्ध की विभिषिका से उत्पन्न परिणामों की पीड़ा से कराह रहा था। युद्धोपरान्त मानव समाज सोचने लगा कि क्या धुरी राष्ट्रों के सैनिकवाद के विरुद्ध सामूहिक सहयोग से कार्य करने वाली शक्तियों का विश्वशांति की स्थापना के लिए उपयोग नहीं किया जा सकता? प्रत्येक देश में इन विचारों की अभिव्यक्ति हुई और वह व्यर्थ नहीं रही। वर्साय संधि में समाविष्ट राष्ट्रसंघ का प्रतिश्रव (Covenant) इसी अभिव्यक्ति का द्योतक था।

विश्वयुद्ध के सूत्रपात के तुरन्त बाद ही इंगलैण्ड और अमेरिका में विश्व संगठन की सम्भावना के सम्बन्ध में, विश्वशांति की स्थापना के लिए, आशावादी और शांतिवादी आन्दोलन की झलक देखने में आने लगी थी। युद्धकाल में इस विचारधारा को और बल मिला। अमेरिका के भूतपूर्व राष्ट्रपति टैफ्ट के नेतृत्व में

"शांति स्थापित करने वाले संघ" की स्थापना की गई। संघ के लिए चार-सूत्री कार्यक्रम—अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का मध्यस्थता के द्वारा निपटारा, अन्य झगडों को कौंसिल के सामने रखना, संघ निर्णय का उल्लंघन करने वाले राष्ट्र के विरुद्ध सैनिक तथा आर्थिक कार्यवाही करना और विश्व शांति की स्थापना के लिए सदस्यों का समय-समय पर एक स्थान पर मिलते रहना तैयार किया गया। इस योजना को लोक प्रिय समर्थन मिला। राष्ट्रपति विल्सन भी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का प्रमुख समर्थक था। 22 जनवरी, 1917 को विल्सन ने अमेरिकन सीनेट को सम्बोधित करते हुए "शान्ति के लिए विश्वसंघ" की चर्चा की। 8 जनवरी, 1918 को युद्ध विराम के सम्वन्ध में विल्सन ने अपने "चौदह विन्दुओं" की घोषणा की जिसका अन्तिम विन्दु एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना से संबंधित था। इंगलैंड में शांति आंदोलन की झलक गैर सरकारी प्रयत्नों पें दृष्टिगत होती है। फरवरी, 1915 में लार्ड ब्राइस के नेतृत्व में कुछ वर्गों के मनुष्यों ने "युद्ध को टालने के लिए प्रस्ताव" नामक लेख प्रकाशित करवाया और जनमत का विचार जानने के लिए इसे वितरित किया गया। 1917 में इसी दल ने 'भावी युद्धों को रोकने के लिए प्रस्ताव' नामक लेख प्रकाशित करवाया। लार्ड रावर्ट सेसिल ने भी शांतिवादियों की कार्यवाही में गहरी रुचि ली। फेवियन सोसायटी और फिलमोर की अध्यक्षता में नियुक्त की गई कमेटी ने भी विश्व संगठन की स्थापना के सम्वन्ध में महत्वपूर्ण सुझाव दिये। फ्रांस में लियोवुर्जिओस इस दिशा में प्रचार कर रहा था। दक्षिण अफ्रीका के प्रधानमन्त्री जनरल स्मट्स ने भी इन कार्यों की सराहना की और अपनी तरफ से भी महत्वपूर्ण सुझाव प्रस्तुत किये। इस प्रकार, पेरिस शांति सम्मेलन के पूर्व ही राष्ट्रसंघ से सम्वन्धित विचार प्रसिद्ध राजनीतिज्ञों और विचारकों के मस्तिष्क में अपना स्थान वना चुके थे।

राष्ट्रसंघ का जन्म—राष्ट्रसंघ की नींव राष्ट्रपति विल्सन के द्वारा रखी गई थी। यह ठीक है कि राष्ट्रसंघ योजना उसका निजी आविष्कार नहीं थी; परन्तु फिर भी उसने इस दिशा में अन्य व्यक्तियों से अधिक परिश्रम किया था इसमें कोई संदेह नहीं है। राष्ट्रपति विल्सन, राष्ट्रसंघ की स्थापना का दृढ़ संकल्प लेकर अमेरिका से रवाना हुआ था। वह संघ के प्रतिश्रव को शांति सन्धियों का प्रथम भाग वनाने का निश्चय कर चुका था। जवकि इंगलैण्ड और फ्रांस आदि देशों के नेता पहले शांति सन्धियों की धाराओं को निर्धारित करना चाहते थे और इससे निवृत्त होने के वाद राष्ट्रसंघ के मामले को हाथ में लेना चाहते थे। विल्सन अपने विचार पर डटा रहा और उसके प्रभावशाली व्यक्तित्व के कारण ही राष्ट्रसंघ की योजना को प्राथमिकता प्राप्त हो सकी।

जनवरी, 1919 में पेरिस शान्ति सम्मेलन का अधिवेशन शुरू हुआ। इस समय तक विभागीय और गैर-विभागीय दोनों ही क्षेत्रों से संघ के निर्माण सम्बन्धी अनेक योजनायें प्रस्तुत की जा चुकी थीं। मार्च 1918 में ब्रिटिश विदेश विभाग द्वारा निदेशित एवं लार्ड फिलीमोर की अध्यक्षता में 'नियुक्त एक कमेटी ने राष्ट्रसंघ

की योजना का एक प्रारूप तैयार किया। तीन मास बाद, विलसन के प्रमुख सलाहकार कर्नल हाउस ने, विलसन के आदर्शों के अनुकूल एक पृथक प्रारूप तैयार किया। जुलाई 1918 में विलसन ने अपने प्रथम प्रारूप को अन्तिम रूप दिया। दिसम्बर 1918 में दक्षिण अफ्रीका के जनरल स्मट्स ने कौंसिल और मेंडेट पद्धति को सम्मिलित करके एक नया प्रारूप तैयार किया। इसी समय लार्ड सेसिल ने फिलीमोर रिपोर्ट के आधार पर एक नया प्रारूप तैयार किया। 10 जनवरी, 1919 को विलसन ने अपना दूसरा प्रारूप तैयार किया और दस दिन बाद ही तीसरा प्रारूप तैयार किया। इसी बीच, प्रतिनिधि मण्डल ने सेसिल और स्मट्स के प्रारूपों को मिलाकर एक नया प्रारूप तैयार किया। शांति सम्मेलन में राष्ट्रपति विलसन के अन्तिम प्रारूप और ब्रिटेन द्वारा प्रस्तावित अन्तिम प्रारूप को मौलिक माना गया। परन्तु चूंकि दोनों में काफी भिन्नता थी इसलिए ब्रिटिश प्रतिनिधि मण्डल के कानूनी सलाहकार सेसिल हर्स्ट और अमेरिकन सलाहकार डेविड हन्टर मिलर को संशोधन का काम सौंपा गया। दोनों ने मिलकर एक नया प्रारूप तैयार किया जिसे 3 फरवरी 1919 को शांति सम्मेलन के सन्मुख प्रस्तुत किया गया। शांति सम्मेलन ने इस नवीन प्रारूप का अध्ययन करने के लिए 19 सदस्यों का एक आयोग नियुक्त किया और विलसन को इस आयोग का अध्यक्ष मनोनीत किया। आयोग ने अपना काम पूरा करके 14 फरवरी को प्रारूप सम्पूर्ण धाराओं सहित शांति सम्मेलन के सामने रखा। इस अवसर पर विलसन ने कहा था कि "एक जीवित वस्तु पैदा हुई है।" सम्मेलन ने राष्ट्रसंघ के प्रतिश्रव में कुछ संशोधनों को स्वीकार किया और 28 अप्रेल, 1919 को संशोधित प्रारूप सर्व सम्मति से स्वीकृत कर लिया गया। वर्साय की सन्धि की प्रथम 26 धाराओं में राष्ट्रसंघ के प्रतिश्रव की व्याख्या है। अन्य शांति समझौतों में भी राष्ट्रसंघ के प्रतिश्रव को सम्मिलित किया गया है। 10 जनवरी 1920 ई. को राष्ट्रसंघ ने वैधानिक दृष्टि से अपने अस्तित्व को प्राप्त किया।

श्री हार्डी ने राष्ट्रसंघ के प्रतिश्रव की व्याख्या करते हुए लिखा है कि, "यह संलेख उस प्रयत्न का एक प्रशंसनीय नमूना था जो राष्ट्रवाद और अन्तर्राष्ट्रवाद में सामंजस्य लाने के लिए किया गया था।" सर ए. जिमर्न के शब्दों में, "राष्ट्रसंघ हर सूरत में दो पृथक विचारधाराओं के समागम से उत्पन्न हुआ था।"

उद्देश्य—राष्ट्रसंघ के प्रतिश्रव की प्रस्तावना में राष्ट्रसंघ के उद्देश्यों की व्याख्या भी सम्मिलित है। इसके अनुसार मुख्य उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की वृद्धि तथा अन्तर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा को प्राप्त करना था। परन्तु इसकी पूर्ति तभी सम्भव थी जब कि सभी राष्ट्र यह मान लें कि वे युद्ध को बिलकुल तिरस्कृत कर देंगे; उनके मध्य स्पष्ट, उचित एवं प्रतिष्ठापूर्ण सम्बन्ध बने रहेंगे, सभी सरकारें अपने वास्तविक आचरण में अन्तर्राष्ट्रीय कानून एवं न्याय का पालन करेंगी

और सभी संगठित राष्ट्र एक दूसरे के साथ अपने व्यवहार में सन्धि की शर्तों का विवेकपूर्ण पालन करेंगे।

उपरोक्त प्रस्तावना से स्पष्ट है कि राष्ट्रसंघ के मुख्य उद्देश्य इस प्रकार थे—(1) आपसी विवादों को सुलझाकर सुरक्षा की व्यवस्था करना और राज्यों की यथास्थिति को बनाये रखकर अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को कायम रखना। (2) संसार के सभी राष्ट्रों के मध्य भौतिक एवं मानसिक सहयोग को प्रोत्साहन देना और (3) पेरिस शांति समझौते द्वारा सौंप गये कर्त्तव्यों को पूरा करना।

स्थिति—राष्ट्रसंघ की स्थिति की व्याख्या करना एक कठिन कार्य है। असंख्य लोगों ने संघ के सम्बन्ध में ऐसा सम्बोधित किया है जैसे कि वह एक अति-राष्ट्रीय लोक सभा (Super National Parliament) हो। परन्तु वह ऐसी नहीं थी। वह कभी भी अतिराष्ट्रीय या अतिराज्य (Super State) नहीं हो सकती थी, क्योंकि उसके सदस्य-राष्ट्र सार्वभौम राज्य बने रहे और वे अपने अतिरिक्त किसी अन्य सत्ता के आदेश को मानने के लिए कभी तैयार नहीं थे। अतः यह एक लोक सभा नहीं हो सकती थी। यह न तो राज्य ही था और न अतिराज्य ही। यह तो सन्धि के द्वारा निर्मित संगठित राज्यों का एक ऐसा संघ था जो विश्वव्यापी था, जिसे कानूनी व्यक्तित्व प्राप्त था और जिसके पास कुछ सम्पत्ति भी थी। परन्तु इसके पास न तो अपनी भूमि थी और न कोई सेना थी। यह एक नम्र संगठन था। कानून की दृष्टि से राष्ट्रसंघ सदस्य राष्ट्रों के सहयोग पर आश्रित था। अर्थात् इसका जीवन पराश्रित था। फिर भी, संघ ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक जीवन को एक नया स्वरूप दिया और क्रियात्मक राजनीति को सूत्रबद्ध करने का प्रयास किया।

राष्ट्रसंघ के प्रमुख अंग

राष्ट्रसंघ के तीन प्रमुख अंग थे–असेम्बली, कौंसिल और सचिवालय। इसके दो स्वायत्त अंग थे–अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय और अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संगठन।

असेम्बली—असेम्बली या साधारण सभा राष्ट्रसंघ की प्रतिनिध्यात्मक एवं व्यापक अंग थी। इसमें संघ के सभी सदस्य राष्ट्र सम्मिलित थे और प्रत्येक राष्ट्र को समान रूप से एक मत देने का अधिकार था; यद्यपि प्रत्येक सदस्य राष्ट्र अपने तीन प्रतिनिधि भेज सकता था। असेम्बली का अधिवेशन प्रतिवर्ष सितम्बर मास में जेनेवा नगर में होता था। वार्षिक अधिवेशन के अतिरिक्त असाधारण अधिवेशन बुलाने की भी व्यवस्था थी। राष्ट्रसंघ के प्रतिश्रव के अनुसार असेम्बली अपने कार्याधिकारियों को अपने आप चुनती थी और इस सम्बन्ध में नियम भी बनाती थी। यह प्रतिवर्ष एक अध्यक्ष एवं आठ उपाध्यक्षों का निर्वाचन करती थी। असेम्बली की सहायता के लिए स्वयं असेम्बली द्वारा गठित छह स्थायी समितियां बनी हुई थीं जो इस प्रकार थीं—(1) संवैधानिक और कानूनी प्रश्नों के सम्बन्ध में,

(2) टेकनिकल संगठनों के सम्बन्ध में, (3) निःशस्त्रीकरण के सम्बन्ध में, (4) बजट के सम्बन्ध में, (5) सामाजिक और मानववादी प्रश्नों के सम्बन्ध में और (5) राजनैतिक प्रश्नों के सम्बन्ध में। इसके अतिरिक्त अन्य विशिष्ट समस्याओं के समाधान हेतु समितियां बनाने के लिए भी असेम्बली स्वतन्त्र थी। असेम्बली में मतदान की चार पद्धतियां थीं। कुछ विषयों के लिए दो तिहाई बहुमत की और कुछ के लिए पूर्ण बहुमत की आवश्यकता होती थी।

असेम्बली का कार्यक्षेत्र काफी व्यापक था। राष्ट्रसंघ के क्षेत्राधिकार में आने वाले किसी भी विषय पर अथवा अन्तर्राष्ट्रीय शांति को प्रभावित करने वाले किसी भी विषय पर असेम्बली विचार कर सकती थी। मोटे तौर पर उसके तीन कार्यक्षेत्र थे—निर्वाचन सम्बन्धी, अंगीभूत सम्बन्धी और परामर्श संबंधी। निर्वाचन सम्बन्धी कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत असेम्बली (1) दो-तिहाई मतों से संघ के नये सदस्यों का चुनाव, (2) साधारण बहुमत द्वारा कौंसिल के अस्थायी सदस्यों का निर्वाचन; अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के 15 न्यायाधीशों का निर्वाचन और (3) कौंसिल द्वारा नियुक्त राष्ट्रसंघ के महासचिव की नियुक्ति की पुष्टि करना। अंगीभूत कार्यों के अन्तर्गत असेम्बली संविदा के नियमों में संशोधन कर सकती थी परन्तु ऐसे संशोधन कौंसिल तथा प्रभावित देशों द्वारा स्वीकार्य होने जरूरी होते थे। परामर्श सम्बन्धी कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत असेम्बली अन्तर्राष्ट्रीय हितों से सम्बन्धित किसी भी सामान्य प्रश्न पर विचार कर सकती थी और कौंसिल को अपना परामर्श भेज सकती थी; परन्तु असेम्बली स्वयं कोई कार्य नहीं कर सकती थी; केवल परामर्श दे सकती थी।

प्रथम असेम्बली को विल्सन ने आहूत किया था और 15 नवम्बर 1920 को इसका प्रथम अधिवेशन हुआ। असेम्बली का अन्तिम अधिवेशन 18 अप्रेल, 1946 को हुआ था। इस अधिवेशन में उपस्थित 34 सदस्यों ने सर्वसम्मति से राष्ट्रसंघ को विघटित करने का प्रस्ताव पारित किया था।

कौंसिल—कौंसिल अथवा परिषद् राष्ट्रसंघ की एक लघु समिति के समान थी। इसे प्रायः संघ की कार्यकारिणी भी कहा जाता है। कौंसिल में दो प्रकार के सदस्य थे—स्थायी और अस्थायी। प्रारम्भ में स्थायी सदस्यों की संख्या 5 और अस्थायी सदस्यों की संख्या 4 रखी गई थी परन्तु बाद में अस्थायी सदस्यों की संख्या बढ़ाकर 9 करदी गई। अमेरिका, इंगलैण्ड, फ्रांस, इटली और जापान को स्थायी सदस्यता प्रदान की गई थी परन्तु अमेरिका द्वारा शांति-समझौतों का अनुसमर्थन न किये जाने से अमेरिका राष्ट्रसंघ का सदस्य नहीं बन पाया। असेम्बली प्रति वर्ष तीन वर्ष की अवधि के तीन अस्थायी सदस्यों का निर्वाचन करती थी।

परिषद् के निर्णय प्रायः निर्विरोध होते थे। केवल रीति विषयक मामलों, अल्प संख्यकों से सम्बन्धित धाराओं के संशोधन, संघ के सदस्य राष्ट्रों के आपसी

विवादों के सम्बन्ध में सिफारिश सम्बन्धी मामलों में कौंसिल बहुमत से निर्णय ले सकती थी। संयुक्त राष्ट्रसंघ की भांति राष्ट्रसंघ के स्थायी सदस्यों को "निषेधाधिकार" (वीटो) प्राप्त नहीं था। कौंसिल की अध्यक्षता, कौंसिल के सदस्यों में से, प्रति सम्मेलन पर, सदस्यों की फ्रेंच नामावली के क्रमानुसार बदलती रहती थी। कौंसिल में जब कोई ऐसा वाद-विवाद चल रहा हो, जिसमें किसी राष्ट्र का स्वार्थ प्रभावित होता है, तो उसके प्रतिनिधि को कौंसिल की बैठक में भाग लेने के लिए आमन्त्रित किया जा सकता था। कौंसिल एक वर्ष में तीन-चार बार अपनी बैठक करती थी परन्तु विशेष समस्या उपस्थित होने पर वह किसी भी समय अपनी बैठक कर सकती थी।

असेम्बली की भांति कौंसिल का कार्यक्षेत्र भी असीमित था। उसके मुख्य कार्य इस प्रकार थे—(1) महासचिव द्वारा की गई विभागीय नियुक्तियों को स्थायी करना। (2) नि:शस्त्रीकरण के लिए योजनाएं बनाना तथा युद्ध के खतरों को टालना तथा उन देशों को सहयोग देना जो युद्ध-सामग्री का निर्माण करने में असमर्थ हों। (3) आक्रामक कार्यवाही के समय सम्बन्धित देशों को कर्त्तव्य पालन करने का सुझाव देना। (4) प्रतिश्रव की सुरक्षा के लिए यदि सैनिक कार्यवाही की आवश्यकता आ पड़े, तो कौन देश कितनी सैनिक सहायता देगा—इसका निर्णय करना। (5) प्रतिश्रव के नियमों का उल्लंघन करने वाले सदस्य को सदस्यता से पृथक करना। (6) मैंडेट पद्धति के अन्तर्गत बड़े राज्यों के संरक्षण में रखे गये देशों के बारे में वार्षिक रिपोर्ट मंगवाना तथा उस पर विचार करना। इसके अतिरिक्त, कौंसिल का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य झगड़ों को निपटाना था। कौंसिल को इन झगड़ों को असेम्बली के पास भी भेजना पड़ता था। इसके अलावा, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय, सार घाटी, डेन्जिग और मिश्रित आयोगों की नियुक्ति के सम्बन्ध में भी अनेक काम करने पड़ते थे। असेम्बली के साथ मिलकर कौंसिल को निम्न कार्य भी करने पड़ते थे—(1) कौंसिल के अतिरिक्त स्थायी सदस्यों की नियुक्ति। (2) अतिरिक्त अस्थायी सदस्यों की संख्या निर्धारित करना। (3) राष्ट्रसंघ के महासचिव की नियुक्ति। (4) शांति संधियों में संशोधन। (5) अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयों के सदस्यों का निर्वाचन। (6) न्यायालय के अन्य कर्मचारियों की नियुक्ति। इन सभी कार्यों के लिए असेम्बली और कौंसिल का मिला-जुला क्षेत्राधिकार था। इस प्रकार, कौंसिल वास्तव में राष्ट्रसंघ का एक शक्तिशाली और महत्वपूर्ण अंग थी।

सचिवालय—सचिवालय (Secretariat) राष्ट्रसंघ का स्थायी प्रशासनिक अंग था। इसका केन्द्र जेनेवा में था। इसे राष्ट्रसंघ का "सर्वाधिक उपयोगी और सबसे कम विवादास्पद अंग" कह कर पुकारा गया है। इसमें लगभग 600 अधिकारी, कर्मचारी और विशेषज्ञ काम करते थे और उनकी नियुक्तियां अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक सेवा के सिद्धांत पर की जाती थी। सचिवालय का प्रधान अधिकारी "महासचिव"

कहलाता था। इसकी नियुक्ति असेम्बली की स्वीकृति के साथ कौंसिल करती थी। ग्रेट ब्रिटेन के सुयोग्य राजनीतिज्ञ सर ड्यूमण्ड ने 1920 से लेकर 1933 तक इस पद पर कार्य किया था। महासचिव की सहायता के लिए दो उपसचिव और दो सहायक सचिव होते थे। सचिवालय के 11 विभाग थे। प्रत्येक विभाग एक निदेशक के अधिकार में रहता था।

सचिवालय असेम्बली और कौंसिल दोनों के लिए कार्य करता था। उसका कार्य अपनी विविध सेवाओं के द्वारा संघ के सभी अंगों की सहायता करना था। सचिवालय असेम्बली तथा कौंसिल के विचारणीय विषयों की सूची तैयार करता था; बैठकों की कार्यवाही का विवरण रखता था; बैठकों की व्यवस्था करता था; विविध विषयों के मसौदे तैयार करता था; संधियों को पंजीबद्ध करता था और इसी प्रकार के अनेक प्रशासनिक कार्य करता था।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय—प्रारंभ में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के लिए असेम्बली और कौंसिल द्वारा 9 वर्ष की अवधि के लिए नियुक्त 11 न्यायाधीशों की व्यवस्था की गई थी; परन्तु कुछ समय बाद न्यायाधीशों की संख्या को बढ़ाकर 15 कर दिया गया। न्यायालय के अध्यक्ष का चुनाव स्वयं न्यायाधीशों द्वारा किया जाता था। अध्यक्ष की अवधि तीन वर्ष होती थी। हेग नगर को अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का केन्द्र चुना गया। न्यायालय का वार्षिक बजट लगभग पांच लाख डालर था जो कि राष्ट्र संघ द्वारा चुकाया जाता था। न्यायालय का क्षेत्राधिकार दो प्रकार था—ऐच्छिक और अनिवार्य। जब कोई राज्य विशिष्ट समझौते के अन्तर्गत किसी झगड़े को इस न्यायालय के निर्णयार्थ प्रस्तुत करता था, तो वह न्यायालय के ऐच्छिक क्षेत्राधिकार में आता था। इसका अधिकार अनिवार्य तब होता था, जब सन्धि के द्वारा राज्यों के बीच यह समझौता होता कि सन्धि सम्बन्धी झगड़ों को इसी न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत किया जाना चाहिए और सन्धि करने वाले राज्यों ने साफ तौर से इस न्यायालय के अधिकार क्षेत्र को अपने ऊपर अनिवार्य मान लिया हो।

न्यायालय का अधिकार क्षेत्र तो ऐसे मामलों से था जो कानूनी प्रकृति के हों। इसके अन्तर्गत संधियों, अन्तर्राष्ट्रीय कानून सम्बन्धी किसी भी प्रश्न, अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व का उल्लंघन, उल्लंघन के लिए क्षतिपूर्ति का रूप एवं उसकी सीमा की व्याख्या करना शामिल था। न्यायालय में अभियोग के वादी-प्रतिवादी के रूप में केवल राज्य ही (जिनमें स्वतन्त्र उपनिवेश भी सम्मिलित थे) उपस्थित हो सकते थे। मूलतः न्यायालय का कार्य तो केवल उन्हीं मामलों के विचार तक सीमित कर दिया गया था जो राष्ट्रसंघ के सदस्यों के बीच में होते थे; परन्तु बाद में गैर-सदस्य राष्ट्रों के लिए भी इस न्यायालय का द्वार खोल दिया गया। न्यायालय को कौंसिल तथा असेम्बली को मांगने पर सलाह देने का भी अधिकार था। यद्यपि न्यायालय के सुझाव अनिवार्य नहीं होते थे परन्तु प्रायः उन्हें स्वीकार कर लिया जाता था।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संगठन (I.L.O.)—अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संगठन यद्यपि एक स्वायत्त संस्था थी, फिर भी यह राष्ट्रसंघ का एक अंग थी। इसका केन्द्र जेनेवा में था और इसका संगठन राष्ट्रसंघ के संगठन से मिलता-जुलता था। इसकी एक साधारण सभा, एक शासकीय परिषद् और एक अन्तर्राष्ट्रीय कार्यालय था। इसका निर्माण पेरिस शांति सम्मेलन द्वारा, संगठित श्रमिकों की मांगों को संतुष्ट करने तथा अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक समस्याओं को हल करने के लिए एक समान प्रयास का परिणाम था। इस संगठन का प्रमुख उद्देश्य सम्पूर्ण संसार में श्रमिक सम्बन्धी कानूनों के निर्माण में एकरूपता लाने का प्रयत्न करना था। निःसंदेह संगठन ने समय-समय पर सदस्य राष्ट्रों तथा अन्य राष्ट्रों को सुझाव भेजे परन्तु इसके कार्यों को केवल सुझाव मान लिया गया और इन सुझावों को कार्यान्वित करने की दिशा में कोई कारगर कदम नहीं उठाया गया। संगठन के कार्यों में समय और परिश्रम लगा, उसको देखते हुए उसकी उपलब्धियां नगण्य कही जा सकती हैं।

राष्ट्रसंघ के कार्य

राष्ट्रसंघ का मुख्य कार्य विश्व शांति को बनाये रखना तथा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की वृद्धि करना था। अपने इस मूल कार्य की पूर्ति के सम्बन्ध में राष्ट्रसंघ को जो विभिन्न कार्य करने पड़ते थे, वे इस प्रकार थे—(1) प्रशासनात्मक कार्य। (2) मैंडेट अथवा संरक्षण प्रथा सम्बन्धी कार्य। (3) अल्प संख्यकों के हितों की सुरक्षा सम्बन्धी कार्य। (4) आर्थिक, सामाजिक और मानवता सम्बन्धी कार्य और (5) अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा सम्बन्धी कार्य।

प्रशासनात्मक कार्य—वर्साय की सन्धि के अनुसार जर्मनी की सार घाटी का प्रशासन 15 वर्षों के लिए राष्ट्रसंघ को सौंपा गया था। राष्ट्रसंघ ने पांच सदस्यों का एक आयोग गठित किया और सार का प्रशासन इस आयोग को सौंप दिया। प्रारम्भ में आयोग पर फ्रांस का प्रभाव रहा और इसके कारण सार के निवासियों को काफी संकटों का सामना करना पड़ा। इस स्थिति से राष्ट्रसंघ को बार-बार अवगत कराया गया परन्तु राष्ट्रसंघ ने अपनी आंखें बन्द ही रखी। बहुत वाद-विवाद के बाद आयोग में कुछ परिवर्तन किया गया। 1935 ई. में राष्ट्रसंघ के निरीक्षण में वहां जनमत संग्रह किया गया और जनता ने भारी बहुमत से जर्मनी के साथ मिलने का निर्णय दिया। परिणामस्वरूप एक मार्च, 1935 को सार घाटी जर्मनी को लौटा दी गई। सार घाटी के प्रशासन के सम्बन्ध में राष्ट्रसंघ अधिक सक्रिय भूमिका अदा नहीं कर पाया।

सार घाटी के समान डेन्जिग के स्वतन्त्र नगर का प्रशासन भी राष्ट्रसंघ को सौंपा गया था। राष्ट्रसंघ ने डेन्जिग के शासन प्रबन्ध के लिए एक कमीश्नर नियुक्त किया। बाद में एक संविधान बनाया गया और प्रतिनिध्यात्मक विधान सभा का

गठन किया गया। चूंकि डेन्जिग बन्दरगाह का नियन्त्रण पोलैंड के हाथ में था, अतः डेन्जिग नगर और बन्दरगाह के बीच कई प्रकार के झगड़े उठे, परन्तु राष्ट्रसंघ द्वारा नियुक्त कमिश्नर के प्रयत्नों से उन झगड़ों को शान्तिपूर्ण ढंग से निपटा लिया गया। इस स्वतन्त्र नगर के प्रशासन में राष्ट्रसंघ को महत्वपूर्ण सफलता मिली, परन्तु 1939 ई. में राष्ट्रसंघ को दुर्भाग्यपूर्ण कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

मैंडेट-प्रथा संबंधी कार्य—मैंडेट प्रथा जिसे आदेश पद्धति, समादेश प्रथा, संरक्षण-प्रथा आदि विभिन्न नामों से पुकारा जाता है, राष्ट्रसंघ का एक महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व था। राष्ट्रसंघ के प्रतिश्रव की 22 वीं धारा के अन्तर्गत समुद्र पार जर्मन उपनिवेशों (किओचाओं को छोड़कर) तथा ओटोमन साम्राज्य के भूतपूर्व एशियाई प्रान्तों में निवास करने वाले लोगों की उन्नति और विकास का उत्तरदायित्व राष्ट्रसंघ को सौंपा गया था। राष्ट्रसंघ के द्वारा कुछ अधिक उन्नत राष्ट्रों को तथा-कथित पिछड़े हुए क्षेत्रों पर संघ के नाम पर शासन करने के लिये समादेश शक्तियां प्रदान की गई। समावेश शक्ति प्राप्त राज्यों के लिये अपने प्रशासन-सम्बन्धी कार्यों की वार्षिक रिपोर्ट कौंसिल को पेश करनी आवश्यक थी और इन रिपोर्टों की जांच के लिये तथा कौंसिल को इस कार्य में सहायता देने के लिये एक स्थाई मैंडेट-आयोग (समादेश आयोग) की स्थापना की गई।

समादिष्ट क्षेत्रों को उनकी राजनीतिक, भौगोलिक तथा आर्थिक परिस्थितियों के आधार पर तीन वर्गों में विभाजित किया गया। 'अ' वर्ग के अन्तर्गत तुर्की साम्राज्य की वे जातियां सम्मिलित थीं; जिनके बारे में यह धारणा निश्चित की गई थी कि वे उन्नति की उस स्थिति तक पहुंच चुकी हैं जिसमें अस्थाई तौर पर इनकी स्व-तन्त्रता के अस्तित्व को माना जा सकता है, परन्तु ऐसा तभी सम्भव हो सकता है जब कि समादेश राज्य उन्हें प्रशासकीय सुझाव और सहयोग देकर उन्हें पैरों पर खड़ा होने की शिक्षा दे। 'ब' वर्ग के अन्तर्गत मध्य अफ्रीका में स्थित जर्मनी के भूतपूर्व प्रदेश थे। इनके लिये निश्चित सरकारी निरीक्षण की आवश्यकता अनुभव की गई और इन प्रान्तों को स्वायत्त शासन प्रदान करने की बात भविष्य के लिये टाल दी गई। 'स' वर्ग के अन्तर्गत दक्षिण–पश्चिमी अफ्रीका और प्रशान्त महासागर में स्थित द्वीप जिन पर एक समय जर्मनी का अधिकार था, सम्मिलित थे। कम आबादी, कम क्षेत्रफल तथा सभ्यता के केन्द्रों से दूर होने के कारण यह सोचा गया कि इनका शासन प्रबन्ध समादेश प्राप्त राज्यों के प्रदेशों के एक भाग की भांति किया जाय परन्तु इस शर्त के साथ कि इन क्षेत्रों के निवासियों की उन्नति का ध्यान रखा जायेगा तथा उनके हितों की रक्षा की जायेगी।

'स' वर्ग में जर्मन दक्षिण-पश्चिम अफ्रीका को, दक्षिण अफ्रीकन संघ राज्य को; जर्मन सेमोआ न्यूजीलैंड को; नारू द्वीप ब्रिटिश साम्राज्य को, विषवत् रेखा के दक्षिण के अन्य जर्मन द्वीप आस्ट्रेलिया को और विषवत् रेखा के उत्तर में स्थित जर्मन द्वीप जापान को दे दिये गये। 'ब' वर्ग के क्षेत्रों को इस ढंग से विभाजित किया

गया कि ब्रिटेन को केमरून का 1/6 भाग, तोगोलैंड का 1/3 भाग और जर्मन पूर्वी अफ्रीका का अधिकांश भाग मिला, जब कि फ्रांस को केमरून का 5/6 भाग और तोगोलैंड का 2/3 भाग मिला और बेल्जियम को जर्मन पूर्वी अफ्रीका का उत्तर-पश्चिमी किनारा प्राप्त हुआ। 'अ' वर्ग के क्षेत्रों का विभाजन इस प्रकार किया गया—ईराक (मेसोपोटामिया), फिलिस्तीन और ट्रान्सजोर्डन इंगलैंड को और सीरिया तथा लेबनान फ्रांस को मिले।

1920 के अन्त में, स्थायी समादेश आयोग (Permanent Mandates Commission) की स्थापना की गई। इसका मुख्य कार्य समादेश प्राप्त राज्यों से भेजे जाने वाली वार्षिक रिपोर्टों की जांच करना तथा कौंसिल को अपनी सिफारिशें भेजना था। इस आयोग में 11 सदस्य थे जिन्हें उनकी व्यक्तिगत योग्यता के आधार पर अनिश्चित अवधि के लिये चुना गया था। आयोग के अधिकार पूर्ण रूप से सलाहकारी मात्र थे। परन्तु यह कौंसिल को सूचित करता रहता था कि समादिष्ट क्षेत्रों का शासन प्रबन्ध वहां के निवासियों के कल्याण तथा उन्नति की दृष्टि से तथा प्रतिश्रव की धाराओं के अनुसार चलाया जा रहा है अथवा नहीं। दुर्भाग्यवश, आयोग को समादिष्ट क्षेत्रों की अपीलों को सुनने का अथवा उन क्षेत्रों का निरीक्षण करने का अधिकार नहीं दिया गया था।

मैंडेट पद्धति बहुत ही मूल्यवान सिद्ध हुई। इसके द्वारा औपनिवेशिक प्रशासन की ओट में साम्राज्यवादी शोषण का अन्त किया गया और पिछड़े हुए क्षेत्रों के निवासियों को उन्नत बनाने का प्रयत्न किया गया। इंगलैण्ड ने शताब्दियों से पीड़ित यहूदियों को उनका राष्ट्रीय घर-जेरूसलम देने का आश्वासन दिया। 1932 ई. में इराक को स्वतन्त्र कर दिया गया। इंगलैण्ड और फ्रांस ने यथासमय फिलिस्तीन और सीरिया से भी हट जाने का आश्वासन दिया। अफ्रीका में भी इस प्रणाली के अच्छे परिणाम निकले। इसने संयुक्त राष्ट्रसंघ की ट्रस्टीशिप की बुनियाद रखी।

अल्प संख्यकों की सुरक्षा—पेरिस शान्ति समझौतों के अन्तर्गत अल्प संख्यकों के हितों की सुरक्षा के लिए की गई सन्धियों के निरीक्षण का उत्तरदायित्व राष्ट्रसंघ को सौंपा गया था। इस प्रकार, राष्ट्रसंघ के संरक्षण में मध्य और पूर्वी यूरोप के लगभग तीन करोड़ अल्प संख्यक व्यक्ति रख दिये गये। उपरोक्त सन्धियों में यह व्यवस्था की गयी थी कि यदि कोई राज्य अल्प संख्यकों के सम्बन्ध में स्वीकृत कर्तव्यों का उल्लंघन करता है तो कौंसिल का कोई भी सदस्य कौंसिल का ध्यान आकर्षित कर सकता था। अल्पसंख्यकों के सम्बन्ध में राष्ट्रसंघ का उत्तरदायित्व बहुत भारी था; क्योंकि यह व्यवस्था अन्तर्राष्ट्रीय नहीं थी और जिन देशों ने इस प्रकार की सन्धियों पर हस्ताक्षर नहीं किये थे उन्हें अल्पसंख्यकों पर अत्याचार करने से रोकना सरल काम नहीं था। पोलैंड और रूमानिया ऐसे ही देश थे। पोलैंड ने स्पष्ट रूप से राष्ट्र संघ के सुझावों को ठुकरा दिया। कालांतर में जर्मनी ने भी यहूदियों पर अमा-

नुषिक अत्याचार किये और राष्ट्रसंघ अल्पसंख्यकों की सुरक्षा करने में असफल रहा। कौंसिल को बहुत ही सतर्कता के साथ कदम उठाना पड़ता था। एक तरफ तो अल्पसंख्यकों के साथ होने वाले दुर्व्यवहार को रोकना और दूसरी तरफ बहुसंख्यकों के राष्ट्रीय अभियान को ठेस न पहुंचाना। संघ की इस नीति की कटु आलोचना की गई, क्योंकि इसमें सख्त कार्यवाही के लिए कोई स्थान न था।

आर्थिक, सामाजिक और मानवीय कार्य—यद्यपि राष्ट्रसंघ मुख्यतः एक राजनीतिक संस्था थी, फिर भी इसने आर्थिक, सामाजिक और मानवीय क्षेत्रों में महत्वपूर्ण कार्य किया और इन क्षेत्रों में भी अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का विकास किया। आर्थिक क्षेत्र में इसने विश्व के सभी देशों को स्वस्थ आर्थिक नीतियां अपनाने के लिए प्रेरित किया ताकि महायुद्ध से विध्वंसित संसार का पुनर्निर्माण किया जा सके। इस दिशा में उसने कई अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों का आयोजन किया जिसमें 1920 का ब्रूसेल्स सम्मेलन, 1923 का अन्तर्राष्ट्रीय चुंगी सम्मेलन, 1927 का जेनेवा सम्मेलन आदि प्रमुख हैं। इन सम्मेलनों के परिणामस्वरूप एक अन्तर्राष्ट्रीय सहायता संघ का जन्म हुआ जिसने संकटग्रस्त देशों को अनेक बार आर्थिक सहायता प्रदान की।

महायुद्ध के परिणामस्वरूप बहुत देशों की आर्थिक स्थिति दयनीय हो चुकी थी, विशेषकर आस्ट्रिया और हंगरी की। आस्ट्रिया के नागरिकों को जीवित रखने के लिए मित्र राष्ट्रों ने 4 करोड़ पौण्ड की आर्थिक सहायता दी परन्तु जब इस सहायता से आस्ट्रिया की स्थिति में सुधार नहीं हो पाया तो राष्ट्रसंघ से अनुरोध किया गया। राष्ट्रसंघ ने बड़े पैमाने पर आस्ट्रिया को अन्तर्राष्ट्रीय ऋण दिलवाया और उसकी आर्थिक स्थिति की देखभाल के लिए एक वित्तीय आयुक्त भी नियुक्त किया। 1930–31 की विश्व-व्यापी आर्थिक मन्दी के कारण जब आस्ट्रिया की आर्थिक स्थिति पुनः बिगड़ गई तो राष्ट्रसंघ ने आस्ट्रिया को पुनः मदद दी। इसी प्रकार, हंगरी की दयनीय आर्थिक स्थिति को सुधारने की दिशा में भी राष्ट्रसंघ ने महत्वपूर्ण कार्य किया। इसके अलावा, राष्ट्रसंघ ने यूनान तथा बल्गेरिया की आर्थिक स्थिति सुधारने में भी समय-समय पर महत्वपूर्ण सहयोग प्रदान किया।

महायुद्ध के परिणामस्वरूप यूरोप में एक गम्भीर शरणार्थी समस्या उत्पन्न हो चुकी थी। शरणार्थियों को बसाने में राष्ट्रसंघ ने अत्यधिक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। इस सम्बन्ध में राष्ट्रसंघ ने पृथक आयोग की स्थापना की जिसका अध्यक्ष डा. नानसेन को बनाया गया। यूनान के लगभग दस लाख शरणार्थियों को बसाने के लिए राष्ट्रसंघ ने 5 करोड़ डालर की सहायता दी और दूसरे देशों से भी सहायता दिलवाई। इसी प्रकार बल्गेरिया को भी अपने शरणार्थियों को बसाने के लिए विदेशी ऋण तथा सहायता दिलवाई गई। केवल चार वर्षों में संघ के आयोग के तत्वावधान में दो लाख शरणार्थियों को बसाया गया। युद्ध बन्दियों को वापस अपने देश भेजने के सम्बन्ध में भी संघ ने महत्वपूर्ण कार्य किया। डा. नानसेन के प्रयत्नों से लगभग

5 लाख युद्धबन्दियों को बंधन मुक्त किया गया और उनके दुःखों को दूर करने में सहायता दी गई। संघ के प्रयत्नों से 1921 के अन्त तक लगभग सभी युद्धबन्दियों को अपने-अपने घरों को वापस भेज दिया गया।

दास प्रथा एवं वेगार की समस्याओं के उन्मूलन के लिए भी राष्ट्रसंघ ने अथक प्रयत्न किया। इन पर विचार करने के लिए 1924 में एक विशेष समिति नियुक्त की गई जिसकी रिपोर्ट पर 1926 में साधारण सभा ने "दासता के दमन के अन्त-र्राष्ट्रीय अभिसमय" को स्वीकार किया। संघ के सचिवालय ने इस विषय पर विभिन्न राज्यों द्वारा किये गये कार्यों का वार्षिक प्रकाशन करवाकर अन्य देशों को प्रोत्साहित किया। लीबिया, इथोपिया, नेपाल, बर्मा आदि देशों में दासता को समाप्त करने के प्रश्न पर संघ ने बड़ी लगन से कार्य किया।

नारी-कल्याण और बाल-कल्याण की दिशा में भी संघ ने महत्वपूर्ण कार्य किया। उसने अपने सदस्य राष्ट्रों से अपील की कि वे अपने-अपने देश में स्त्रियों और बच्चों के व्यापार को रोकने का प्रयास करें। 1921 में संघ द्वारा नियुक्त परामर्शदात्री आयोग ने अनैतिक उद्देश्यों के लिए होने वाले स्त्रियों के व्यापार को रोकने के नियम बनाये। इसके अलावा अश्लील साहित्य के प्रकाशनों को रोकने और वेश्यावृत्ति का अन्त करने तथा अवैध बच्चों की समस्या को सुलझाने की दिशा में भी महत्वपूर्ण कार्य किया।

राष्ट्रसंघ ने अफीम और कोकीन जैसी मादक वस्तुओं के व्यापार को रोकने की तरफ भी विशेष ध्यान दिया। उसका उद्देश्य इन मादक पदार्थों पर नियन्त्रण करके उन्हें केवल औषधियों और वैज्ञानिक प्रयोगों की जरूरतों तक सीमित करना था। इस सम्बन्ध में बनाये गये 'जेनेवा नियम' प्रसिद्ध हैं।

स्वास्थ्य सम्बन्धी कार्यों की दिशा में 1923 में एक स्थायी स्वास्थ्य संगठन की स्थापना की गई। इसका उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के जन स्वास्थ्य की सुरक्षा को विकसित करना था। संगठन का मुख्य कार्य संक्रामक रोगों की रोकथाम तथा निवारण के लिए अपनी सेवाएं अर्पित करना था। 1923 ई. में मलेरिया रोग का निराकरण करने के लिए एक मलेरिया आयोग की स्थापना की गई। तपेदिक, कैंसर, आतशक आदि रोगों की रोकथाम के लिए भी कार्य किया गया। पूर्वी यूरोप में टाइफस बुखार को फैलने से रोकने का भी प्रयत्न किया गया।

बौद्धिक सहयोग के क्षेत्र में राष्ट्रसंघ ने उल्लेखनीय कार्य किये। उसका मुख्य उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय वैज्ञानिकों, साहित्यकारों, कलाकारों, लेखकों और शिक्षकों में पारस्परिक—सहयोग को विकसित करना था। राष्ट्रसंघ मानव समाज को एकता के सूत्र में बांधना चाहता था ताकि सम्मिलित ज्ञान शक्ति से मानव जीवन सुखी एवं सम्पन्न बन सके और अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा का भी विकास हो सके। इस दृष्टि से बौद्धिक सहयोग के लिए अन्तर्राष्ट्रीय समिति की स्थापना की गई। 1926 ई. में पेरिस में "बौद्धिक सहयोग के संस्थान" की स्थापना की गई। इस संगठन ने अपने

ढंग से साहित्य का प्रकाशन करवाया, सेमिनारों और वाद-विवादों का आयोजन किया और विश्व शांति की स्थापना में अपना सहयोग प्रदान किया।

अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा सम्बन्धी कार्य

राष्ट्रसंघ का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को बनाये रखना था। परन्तु उसे इस काम में सफलता नहीं मिल सकी। जहां तक छोटे-छोटे राज्यों के झगड़ों का सम्बन्ध था, राष्ट्रसंघ कुछ सीमा तक सफल रहा, परन्तु जहां बड़े राज्यों का सवाल आया वहां राष्ट्रसंघ उनकी कार्यवाहियों को रोकने अथवा उन्हें नियन्त्रित करने में बुरी तरह असफल रहा। छोटे राज्यों के झगड़ों को निपटाने में भी संघ को जो सफलता प्राप्त हुई थी, उसका मुख्य कारण महाशक्तियों के आतंक का वह भय था जो छोटे राज्यों में समाया हुआ था। अब हम राष्ट्रसंघ के सामने आने वाले कुछ महत्वपूर्ण विवादों का उल्लेख करेंगे।

1. अलबानिया का सीमा विवाद—अलबानिया एक छोटा सा देश था जो कि यूनान और यूगोस्लाविया के पश्चिम में स्थित था। यूनान और यूगोस्लाविया दोनों ही इस देश को हड़पना चाहते थे परन्तु राष्ट्रसंघ ने उसे एक स्वतन्त्र राज्य की मान्यता दे दी। 1921 ई. में अलबानिया और यूगोस्लाविया में सीमा-विवाद उठ खड़ा हुआ और यूगोस्लाविया के कुछ सैनिक दस्ते अलबानिया की सीमा के भीतर तक जा पहुंचे। अलबानिया ने राष्ट्रसंघ से अपील की और संघ के हस्तक्षेप से दोनों देशों के मध्य समझौता हो गया।

2. आलैंड द्वीप समूह की समस्या—बाल्टिक सागर में स्थित आलैंड द्वीप समूह के स्वामित्व के प्रश्न पर फिनलैंड और स्वीडन के मध्य विवाद उठ खड़ा हुआ। ब्रिटिश प्रतिनिधि मंडल ने राष्ट्रसंघ का ध्यान इस तरफ आकर्षित किया। कौंसिल ने तीन सदस्यों की एक जांच समिति नियुक्त की। इस समिति ने फिनलैंड के पक्ष में निर्णय दिया। कौंसिल ने आलैंड द्वीप समूह पर फिनलैंड की सार्वभौम सत्ता को स्वीकार किया। स्वीडन ने भी कौंसिल के निर्णय को स्वीकार कर लिया। इस प्रकार, विवाद का अन्त हुआ।

3. ऊपरी साइलेशिया विवाद—1921 में पोलैण्ड और जर्मनी के मध्य ऊपरी साइलेशिया की सीमांत रेखा को लेकर विवाद उत्पन्न हो गया। इस विवाद को राष्ट्रसंघ के सामने रखा गया। कौंसिल ने दोनों देशों में समझौता करवाकर इस विवाद को हल किया।

4. यूनान-बल्गेरिया का विवाद—1925 ई. में यूनानी सैनिक दस्ते यूनान-बल्गेरियन सीमांत पर एकत्र हो गये और कुछ सैनिक दस्ते वास्तव में बल्गेरिया सीमा में घुस गये जिससे सशस्त्र संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो गई। बल्गेरियन सरकार ने इस विवाद को राष्ट्रसंघ के सामने रखा। कौंसिल ने फ्रेंच, ब्रिटिश और इटालियन सेनाधिकारियों को घटनास्थल पर भेजा और दोनों देशों को अपनी-अपनी सेनाए

अपनी-अपनी सीमा में हटा लेने को कहा गया। दोनों देशों ने इसे स्वीकार कर लिया। बाद में संघ ने एक जांच समिति नियुक्त की। समिति की रिपोर्ट के आधार पर कौंसिल ने उत्तरदायित्व के प्रश्न का निर्णय किया; हर्जाना निश्चित किया और भविष्य में ऐसी घटनाओं को रोकने के लिए दोनों देशों को आवश्यक निर्देश भी दिये।

5. पेरू और कोलम्बिया का विवाद—1932 ई. में पेरू और कोलम्बिया सशस्त्र झड़प पर उतर आये। पेरू ने कोलम्बिया के लौटिशया नगर पर बलपूर्वक अधिकार कर लिया। कोलम्बिया के अनुरोध पर राष्ट्रसंघ ने इसमें हस्तक्षेप किया। राष्ट्रसंघ ने इस नगर को अपने एक आयोग को सौंप दिया। 1934 ई. में संघ के प्रयत्नों से दोनों देशों में समझौता हो गया। पेरू ने अपने कार्य के लिए क्षमा मांग ली और यह नगर पुनः कोलम्बिया को लौटा दिया गया।

6. मौसुल की समस्या—1926 ई. में मौसुल के सम्पन्न तेल क्षत्र के स्वामित्व को लेकर इराक और तुर्की में झगड़ा उठ खड़ा हुआ। इराक पर इस समय ग्रेट ब्रिटेन का संरक्षण था। यह प्रथम अवसर था जबकि राष्ट्रसंघ के सम्मुख आने वाली राजनीतिक समस्याओं में एक महान् शक्ति सम्मिलित थी। संघ का निर्णय ग्रेट ब्रिटेन के पक्ष में रहा। निर्बल और कमजोर तुर्की को कुछ छोटी-छोटी सुविधाएं देकर संतुष्ट कर दिया गया। इस प्रकार राष्ट्रसंघ महान् शक्ति से टक्कर लेने से बच गया और समस्या का समाधान भी हो गया।

7. विलना विवाद—उपरोक्त उदाहरण उन झगड़ों के थे जिन्हें सुलझाने में राष्ट्रसंघ सफल रहा। परन्तु उन झगड़ों को जिन्हें सुलझाने में संघ असफल रहा वे बहुत महत्वपूर्ण थे और उनकी संख्या भी अधिक थी। 1921 ई. में विलना नगर को लेकर पोलैंड और लिथुआनिया में झगडा हो गया। पोलैंड को फ्रांस का समर्थन प्राप्त था। संघ ने समस्या को सुलझाने का प्रयत्न किया परन्तु उसे सफलता नहीं मिल सकी क्योंकि महाशक्तियां पोलैंड के पक्ष में थीं और तथ्य उसके विरुद्ध थे। पोलैण्ड ने विलना नगर पर बलपूर्वक अधिकार कर लिया था और इंगलैण्ड, फ्रांस तथा इटली ने संघ द्वारा प्रस्तुत मध्यस्थता के प्रस्ताव को ताक पर रखकर, पोलैण्ड की कार्यवाही को समर्थन दिया।

8. कोर्फ्यू द्वीप—इसी साल, संघ के सीमान्त आयोग के इटालियन प्रतिनिधियों की यूनान की भूमि पर कुछ उपद्रवी यूनानियों द्वारा हत्या कर दी गई। इटली ने इस मामले को संघ के सन्मुख प्रस्तुत न करके स्वयं कार्यवाही करने का निश्चय किया। उसने यूनान को क्षमा मांगने तथा हर्जाने की भारी धनराशि अदा करने को कहा। जब यूनान ने उसके प्रस्तावानुसार कार्य नहीं किया तो इटालियन जहाजी बेड़े ने यूनान के कोर्फ्यू द्वीप पर अधिकार जमा लिया। यूनान ने इस मामले को संघ के सामने रखा और कहा कि वह अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के निर्णय को मानने को तैयार है और हर्जाने की रकम भी पहले से ही न्यायालय में जमा करवाने

को तैयार है। इटली ने इन सुझावों को अस्वीकार कर दिया और हर्जाने की रकम सीधे इटली को दिये जाने की मांग की। उसके बाद इंगलैंड और फ्रांस की मध्यस्थता के कारण इटालियन सैनिकों ने कोर्फ्यू द्वीप को खाली किया। इस घटना से राष्ट्र-संघ के प्रति महान् शक्तियों के स्वार्थपूर्ण रवैये का पर्दाफाश हो जाता है।

9. **मंचूरिया का विवाद**—सुदूरपूर्व की समस्याओं को सुलझाने में तो राष्ट्र संघ पूर्णरूप से असफल रहा। जापान ने संधि-व्यवस्था का उल्लंघन करते हुए, अचानक चीन के मुकदन नगर और मंचूरिया के अन्य स्थानों पर अधिकार कर लिया। चीन ने राष्ट्रसंघ से अपील की। संघ चीन को मंचूरिया वापस दिलवाने में असफल रहा। चीन की निरन्तर अपीलों पर राष्ट्रसंघ ने घटना स्थल पर एक जांच आयोग भेजा और इस आयोग ने अपनी रिपोर्ट में जापान को आक्रामक घोषित किया और उसके कार्यों को अवैधानिक ठहराया। संघ ने इस सम्बन्ध में प्रस्ताव भी पास किये। परन्तु केवल प्रस्तावों को पारित करने के अतिरिक्त संघ इस दिशा में सक्रिय कदम उठाने में असफल रहा और तब तक जापान ने लगभग सम्पूर्ण मंचूरिया पर अधिकार कर लिया और अपने संरक्षण में एक स्वतन्त्र "मंचूको" राज्य की स्थापना भी कर दी। संघ एक दर्शक की भांति तमाशा देखता रहा। 1935 ई. में जापान ने राष्ट्रसंघ की सदस्यता से इस्तीफा दे दिया और 1937 ई. में उसने बड़े पैमाने पर चीन में अपनी आक्रामक कार्यवाही प्रारम्भ कर दी। जुलाई 1937 ई. में चीन ने जापानी कार्यवाहियों का चिट्ठा भेजते हुए संघ से हस्तक्षेप करने की प्रार्थना की। परन्तु राष्ट्रसंघ न तो चीन को उसकी भूमि ही दिलवा सका और न उसकी प्रादेशिक अखण्डता को कायम रख सका; न युद्ध बन्द करवा सका और न जापान को दण्डित कर सका। 28 सितम्बर को राष्ट्रसंघ ने एक प्रस्ताव पास करके जापान द्वारा चीन में की जाने वाली कार्यवाहियों की निन्दा अवश्य की। जापान की कार्य-वाही ने राष्ट्रसंघ की निर्बलता को स्पष्ट कर दिया और इससे हिटलर और मुसोलिनी जैसे अधिनायकों को अत्यधिक प्रोत्साहन मिला।

10. **बोलीविया-पेरागुए विवाद**—1928 ई. में दक्षिण अमेरिका के दो राज्यों—बोलीविया और पेरागुए जो कि संघ के सदस्य भी थे, के मध्य स्थित चाको प्रांत को लेकर युद्ध छिड़ गया। पेरागुए ने चाको प्रान्त के अधिकांश भाग पर अधिकार कर लिया। यह मामला राष्ट्रसंघ के सामने लाया गया। संघ ने विचार-विमर्श के उपरान्त घटनास्थल पर एक आयोग भेजा। परन्तु इससे कोई लाभ नहीं हुआ। लगभग तीन साल तक युद्ध जारी रहा। नवम्बर 1934 में संघ ने फिर कई सुझाव भेजे। बोलीविया ने तो इन सुझावों को स्वीकार कर लिया परन्तु पेरागुए ने इन सुझावों को ठुकरा दिया। जब संघ ने उस पर अधिक दबाव डाला तो उसने संघ की सदस्यता ही त्याग दी। दोनों राज्यों के बीच तनावपूर्ण स्थिति का अन्त तभी हो सका जबकि अमेरिका के 6 राज्यों ने सामूहिक हस्तक्षेप किया।

11. इथोपिया का अन्त—इथोपिया (अबीसीनिया) में इटली की आक्रामक कार्यवाही को नियन्त्रित करने में राष्ट्रसंघ की असफलता ने राष्ट्रसंघ के खोखलेपन को और भी अधिक स्पष्ट कर दिया। चीन में जापान की कार्यवाही को नियन्त्रित करने में असफल रहने पर राष्ट्रसंघ की तरफ से यह दलील दी गई थी कि अमेरिका के सहयोग के बिना प्रशान्त महासागर में जापान के विरुद्ध कोई कार्यवाही करना सम्भव नहीं है। परन्तु अब इटली के मामले में इस प्रकार की दलील के लिए कोई स्थान नहीं था। इटली और इथोपिया दोनों ही राष्ट्रसंघ के सदस्य थे। इटली ने इथोपिया को हड़पने की तैयारी आक्रमण की तिथि से बहुत समय पहले ही कर रखी थी। स्वेजनहर के मार्ग से इटालियन सैनिक और अस्त्र-शस्त्र इटालियन सोमालीलैण्ड में पहुंचते रहे और राष्ट्रसंघ में कोई भी ऐसा न था जो इस तरफ ध्यान दे सके। 3 अक्टूबर 1935 को इटली की सेना ने इथोपिया की सीमा में प्रवेश किया और इथोपिया ने उसी समय राष्ट्रसंघ को इसकी सूचना भेज दी। 5 अक्टूबर को इथोपियाई प्रतिनिधि ने संघ से हस्तक्षेप करने तथा इटली को रोकने की प्रार्थना की। 7 अक्टूबर को राष्ट्रसंघ ने एक प्रस्ताव पास किया और इटली की निन्दा की परन्तु किसी प्रकार की अनुशास्तियां नहीं लगाई गई और आर्थिक घेराबन्दी की गई परन्तु उसमें भी युद्ध में काम आने वाली आवश्यक वस्तु तेल पर छूट दे दी गई। फ्रांस और इंगलैण्ड में एक दूसरे के प्रति अविश्वास होने के कारण ये अनुशास्तियां भी प्रभावकारी सिद्ध न हो सकीं। जब इटली ने सम्पूर्ण इथोपिया को निगल लिया तो ये अनुशास्तियां भी हटाली गई और इटली का इथोपिया पर अधिकार भी स्वीकार कर लिया गया। राष्ट्रसंघ के लिए इससे बढ़कर अनैतिक एवं अपमानजनक बात और क्या हो सकती थी?

12. जर्मनी की कार्यवाहियां—पेरिस शांति समझौतों की व्यवस्था को बनाये रखना–राष्ट्रसंघ का एक मुख्य उद्देश्य था। परन्तु जर्मनी ने संधियों की धाराओं को तोड़-मरोड़ कर खुले रूप से अपना शस्त्रीकरण प्रारम्भ कर दिया और संघ में इतनी शक्ति नहीं थी कि वह उसे रोक सके। संघ निःशस्त्रीकरण के सम्बन्ध में बुरी तरह असफल रह चुका था, अतः जर्मनी को किस मुंह से आदेश देता। शस्त्रीकरण के साथ ही जर्मनी का उत्थान होता गया और उसके भय ने अन्य राष्ट्रों को सन्धियों का निर्माण करने को बाध्य किया। एक बार यूरोप पुनः दो सशस्त्र गुटों में विभाजित हो गया। जर्मनी ने आस्ट्रिया को हड़प लिया, चेकोस्लाविकया का अंग-भग कर डाला परन्तु राष्ट्रसंघ कुछ न कर सका। परिणामस्वरूप तानाशाहों की हिम्मत बढ़ती गई और संसार का वातावरण तनावपूर्ण होता गया। यूरोप में नित्य प्रति नये संकटों का सूत्रपात हुआ जिन्हें हल करना राष्ट्रसंघ के लिए कठिन था।

13. स्पेन का गृह-युद्ध—स्पेन के मामले में भी राष्ट्रसंघ को बुरी तरह से असफल होना पड़ा। जनरल फ्रांको के नेतृत्व में प्रतिक्रियावादी तत्वों ने स्पेन की

उदारवादी गणतन्त्रीय सरकार के विरुद्ध सशस्त्र विद्रोह कर दिया जिससे स्पेन में गृह-युद्ध शुरू हो गया। हिटलर और मुसोलिनी ने जनरल फ्रांको को सहायता देनी शुरू कर दी। तब गणतन्त्रीय सरकार ने संघ को सहायता का अनुरोध किया परन्तु संघ ने तटस्थता की नीति अपनाई और सदस्य राष्ट्रों से दोनों पक्षों को अस्त्र-शस्त्र न देने का अनुरोध किया। हिटलर और मुसोलिनी ने संघ के सुझाव का पूर्ण रूप से बहिष्कार करते हुए जनरल फ्रांको को मदद जारी रखी। इसके बाद संघ ने सभी देशों को आदेश दिया कि वे स्पेन से अपनी फौजें हटा ले। परन्तु इटली और जर्मनी की सेनाएं फ्रांको की सहायता के लिए स्पेन में जमी रही। परिणामस्वरूप स्पेन की गणतन्त्रीय सरकार का पतन हो गया और संघ कुछ न कर सका। इतना ही नहीं, संघ के प्रमुख सदस्यों ने फ्रांको की सरकार को मान्यता देकर संघ की घोर उपेक्षा की।

14. रूसी-फिनिश युद्ध—अपने पतन के पूर्व राष्ट्रसंघ को एक और विफलता का मुंह देखना पड़ा। 1939 के अन्त में सोवियत रूस ने फिनलैण्ड पर आक्रमण कर दिया। फिनलैण्ड ने राष्ट्रसंघ से सहायता की मांग की। राष्ट्रसंघ ने सोवियत रूस को संघ से निष्कासित तो कर दिया परन्तु फिनलैण्ड को बचाने के लिए ठोस कार्यवाही न कर पाया। 1940 के शुरू में फिनलैण्ड पर रूस का अधिकार हो गया।

राष्ट्रसंघ की असफलता के कारण

संघ की कमजोरियां—राष्ट्रसंघ पूर्ण रूप से असफल रहा। परन्तु क्या इसका पतन अवश्यम्भावी था? क्या इस प्रकार की कोई अन्य संस्था दो महायुद्धों के मध्य विश्व शांति को बनाये रख सकती थी? क्या कोई अन्य संस्था द्वितीय महायुद्ध को रोक सकती थी? ये प्रश्न ऐसे हैं जिनका हम उचित उत्तर नहीं दे सकते। परन्तु इतना तो कहा जा सकता है कि राष्ट्रसंघ का ढांचा अमेरिका और इंगलैण्ड के शांतिवादियों की आशा के अनुकूल बन नहीं पाया था। इसमें कई प्रकार की कमजोरियां रह गई जो संघ के पतन के लिए उत्तरदायी सिद्ध हुई।

फ्रांस की हठधर्मी के कारण जर्मनी को राष्ट्रसंघ से पृथक रखना, प्रथम दुर्भाग्य था। राष्ट्रसंघ शान्तिकाल के प्रथम चरण में, विजताओं और पराजितों के मध्य व्याप्त वैमनस्य और मतभेद को दूर करने में असफल ही नहीं रहा अपितु उसे और अधिक बढ़ाने में सहयोगी रहा। पराजित देश सोचने लगे थे कि राष्ट्रसंघ मित्र राष्ट्रों की संस्था है। पराजित राष्ट्रों की नहीं।

अमेरिका के द्वारा शान्ति सन्धियों की पुष्टि न करना, दूसरा दुर्भाग्य था। क्योंकि इसके परिणामस्वरूप अमेरिका राष्ट्रसंघ का सदस्य नहीं बन सका क्योंकि संघ शान्ति सन्धियों का ही एक अंग था। साम्यवादी रूस को निमन्त्रित न करना,

राष्ट्रसंघ के लिये तीसरा दुर्भाग्य था। इस प्रकार, राष्ट्रसंघ ने अपना कार्य संसार की तीन प्रमुख शक्तियों के सहयोग के बिना प्रारम्भ किया। राष्ट्रसंघ में सम्मिलित अधिकांश राष्ट्र छोटे-छोटे थे और उन्हें अपनी उन्नति तथा सुरक्षा के लिये राष्ट्रसंघ के सहयोगी की आशा थी, न कि वे इस योग्य थे कि राष्ट्रसंघ की शक्ति और अधिकार में वृद्धि करने में योगदान दे सकें।

संवैधानिक निर्बलता—उपरोक्त कमियों के अलावा राष्ट्रसंघ के संविधान में भी कई दोष थे जिनके परिणामस्वरूप संघ का पतन होकर रहा। सबसे बड़ा दोष तो यह था कि संघ के पास अपने निर्णयों को लागू करवाने के लिये कोई अन्तर्राष्ट्रीय सेना नहीं थी। जिस समय राष्ट्रसंघ के संविधान को बनाया जा रहा था तब बहुत से राजनीतिज्ञों ने इस बात पर जोर दिया था कि संघ को अपने निर्णयों को लागू करवाने के लिये एक अन्तर्राष्ट्रीय सेना रखने का अधिकार होना चाहिये। परन्तु इस प्रकार की व्यवस्था नहीं की गई। इसके स्थान पर धारा 16 के अन्तर्गत अनुशास्तियों का उल्लेख किया गया। ये दो प्रकार की थीं—(1) वित्त और वाणिज्य सम्बन्धी और (2) सेना सम्बन्धी। संघ के पास अपनी सेना तो थी नहीं। एक अड़ियल राष्ट्र को सही रास्ते पर लाने के लिए संघ को अपने सदस्यों की सेना पर निर्भर करना पड़ता था। आर्थिक प्रतिबन्धों को लागू करने के लिये भी सेना की आवश्यकता थी और इस दिशा में भी राष्ट्रसंघ को महाशक्तियों पर निर्भर रहना पड़ता था। क्या महान् शक्तियां राष्ट्रसंघ के लिये उसकी आवश्यकतानुसार सेना देने तथा अड़ियल राष्ट्र से युद्ध छेड़ने को सहमत हो सकती थी? निःसंदेह यदि ऐसा हुआ होता तो संसार को द्वितीय महायुद्ध का दुःखद अनुभव नहीं करना पड़ता। परन्तु हुआ इसके प्रतिकूल। इससे एक बात स्पष्ट हो गई कि अच्छे विचार और पवित्र इच्छाएं हमें अधिक दूर तक नहीं ले जा सकती और एक ऐसे संसार का जो कि युद्ध के भय से मुक्त हो निर्माण नहीं किया जा सकता।

दूसरा महत्वपूर्ण दोष यह था कि संघ के संविधान में कोई ऐसी प्रभावकारी धारा नहीं थी जिसके द्वारा सदस्यों को अपने आप राष्ट्रसंघ की सिफारिशों को लागू करने के लिये बाध्य किया जा सके। सिर्फ एक धारा थी जिसके अन्तर्गत सदस्य को संघ से पृथक किया जा सकता था। परन्तु संघ राष्ट्रों का एक ऐसा संगठन था जिसकी सदस्यता 'ऐच्छिक' थी और कोई भी राष्ट्र अपनी इच्छानुसार सदस्यता को त्यागने में स्वतन्त्र था और एक बार सदस्यता छोड़ने के बाद उस देश को राष्ट्रसंघ के आदेशों का पालन करने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता था।

तीसरा महत्वपूर्ण दोष यह था कि किसी भी देश को अपराधी घोषित करने का निर्णय कौंसिल को सर्वसम्मति से लेना होता था। राजनीतिक प्रतिद्वन्द्विता के युग में सर्वसम्मत निर्णय पर पहुंचना दुष्कर काम था। राष्ट्रसंघ की कार्य पद्धति भी काफी जटिल थी और किसी भी समस्या पर तुरन्त कार्यवाही करना सम्भव नहीं

था। इससे आक्रामक देशों को अपने स्वार्थ सिद्ध करने के लिये पर्याप्त समय मिल जाता था। अन्तिम दोष यह था कि संघ के संविधान में सभी प्रकार के युद्धों का निषेध नहीं किया गया था। कोई भी देश रक्षात्मक युद्ध को जारी रख सकता था। परन्तु यह तय करना कठिन काम था कि कौन रक्षात्मक युद्ध लड़ रहा है और कौन आक्रामक। इससे संघ की कायरता तथा आत्मविश्वास की कमी स्पष्ट झलकती है।

संघ के संविधान तथा शान्ति सन्धियों में संशोधन करने की प्रक्रिया भी अत्यधिक जटिल थी। संविधान में इसके लिये सर्वसम्मत निर्णय पर जोर दिया गया। इतनी बड़ी संख्या वाले संघ में सर्वसम्मत निर्णय पर पहुँचना बहुत ही दुष्कर था।

उत्तरदायित्व का अभाव—राष्ट्रसंघ के पतन का एक कारण उसके सदस्यों द्वारा अपने कर्तव्यों से विमुख होना था; उत्तरदायित्व से मुंह मोड़ना था। यह देखा गया कि सदस्य राष्ट्रों ने अपने वचनों को पूरा करने का प्रयत्न नहीं किया। अपना उत्तरदायित्व नहीं निभाया। इतना ही नहीं, उन्होंने इस बात का भी प्रयत्न किया कि सही तथ्य संघ के सामने न लाये जा सकें ताकि उन्हें अपना उत्तरदायित्व निभाने के लिये अड़ियल राष्ट्रों के विरुद्ध अपनी सेनाएँ न भेजनी पड़े। जब आक्रामक देशों को विश्वास हो गया कि बड़ी शक्तियाँ संघ के आदेशों को लागू करवाने के लिये अपनी सेनाएँ भेजने की जोखिम लेने को तैयार नहीं हैं, तब ही वे छोटे-छोटे राष्ट्रों को हड़पने का साहस कर सके। जापान द्वारा मंचूरिया पर आक्रमण के समय इंगलैण्ड के प्रतिनिधि जोन सीमन ने स्पष्ट कहा था "मेरी नीति का उद्देश्य मेरे देश को संकट से दूर रखना है।" इसी प्रकार, इथोपिया के मामले में उसने कहा था कि "इथोपिया के लिये मैं एक भी ब्रिटिश जहाज को खोने का खतरा उठाना नहीं चाहूंगा।" 1934 में आस्ट्रिया की भूमि पर आस्ट्रिया के राष्ट्रपति डाल्फस की हत्या कर दी गई। इस मामले को संघ के सामने रखना था। परन्तु मुसोलिनी द्वारा इस शर्त पर कि यदि यह मामला संघ के सामने उपस्थित नहीं किया गया तो मैं आस्ट्रिया को बचाने का प्रयत्न करूंगा, आश्वासन देने पर मामला दबा दिया गया। ग्रेट ब्रिटेन ने वर्साय की सन्धि का उल्लंघन करते हुए जर्मनी के साथ नौ-सन्धि की। इसी प्रकार, फ्रांस ने इंगलैण्ड को सूचित किये बिना इटली के साथ व्यक्तिगत समझौता कर लिया, राइनलैण्ड का पुनः शस्त्रीकरण किया गया, आस्ट्रिया को हड़प लिया गया, यहूदियों का कत्ले आम किया गया, स्पेनिश जनतन्त्र का गला घोंट दिया गया, चेकोस्लोवाकिया का अंग-भंग किया गया, परन्तु राष्ट्रसंघ कुछ भी न कर सका। क्योंकि कोई भी सदस्य इन घटनाओं के सम्बन्ध में संघ के प्रस्तावों को लागू करवाने को उत्सुक नहीं था। जब तक पश्चिम के बड़े देशों को प्रयत्क्ष संकट का सामना नहीं करना पड़ा तब तक उन्होंने आक्रामक देशों के विरुद्ध किसी प्रकार की कार्यवाही करना ठीक नहीं समझा, चाहे राष्ट्रसंघ का पतन ही क्यों न हो जाये।

शूमैन ने सत्य ही लिखा है—"संघ की सफलता के लिए यह आवश्यक था कि सदस्य-राज्यों में इसके सिद्धान्तों के प्रति निष्ठा, बुद्धिमता और साहस होता किन्तु इनमें इसका सर्वथा अभाव था।"

असमानता—राष्ट्रसंघ के प्रति सामान्य जनता का और छोटे राज्यों का रुख उत्साहजनक नहीं था। संघ के सदस्य राज्यों के प्रतिनिधि थे जनता के नहीं। अतः संघ का सदस्यराष्ट्रों की जनता के साथ किसी प्रकार का कोई सम्पर्क नहीं था। इसके अतिरिक्त संघ के सभी सदस्यों की संघ में न तो समान स्थिति ही थी और न समानाधिकार ही प्राप्त थे। सच पूछा जाय तो संघ महान् शक्तियों का राजनीतिक अखाड़ा था। कौंसिल जो कि संघ की प्रमुख शक्तिशाली अंग थी, में महान् शक्तियों को स्थायी स्थान प्राप्त थे जबकि संघ के शेष सदस्यों को केवल 9 स्थान प्रदान किये गये थे। अतः यह स्वाभाविक ही था कि इन छोटे राज्यों के मन में बड़े राज्यों के प्रति वैमनस्य बढ़े।

वर्साय सन्धि की उत्पत्ति—वर्साय की सन्धि से राष्ट्रसंघ का जन्म हुआ और यही बात संघ के लिए अभिशाप बन गयी। समझौतों के द्वारा राष्ट्रसंघ को कई कार्य सौंपे गये थे जिनमें से एक काम था शान्ति व्यवस्था द्वारा स्थापित यथास्थिति को बनाये रखना। शान्ति समझौतों ने पराजित राष्ट्रों के गौरव को समाप्त कर दिया था, उनकी सैनिक शक्ति को पंगु बना दिया था और उनकी आर्थिक स्थिति को दयनीय बना दिया था। अतः उन्हें शान्ति सन्धियों तथा इस पर आधारित और इसके कर्त्तव्यों को निभाने वाली संस्था-राष्ट्रसंघ से घृणा थी। नार्मन वेन्टविच के शब्दों में "राष्ट्रसंघ एक कुख्यात माता की कुप्रतिष्ठित पुत्री थी।" अतः राष्ट्रसंघ पराजित देशों का विश्वास अर्जित करने में असफल रहा।

अधिनायकवाद का उदय—राष्ट्रपति विल्सन का विश्वास था कि राष्ट्रसंघ के सभी सदस्य सामूहिक रूप से विश्व शान्ति, स्वतन्त्रता और लोकतांत्रिक व्यवस्था के विकास के लिये प्रयत्नशील रहेंगे। परन्तु यूरोप में इसके विपरीत अधिनायकवादी सरकारों का उदय हुआ। इटली, जर्मनी, स्पेन, पुर्तगाल आदि देशों में अधिनायकवाद के उदय ने राष्ट्रसंघ की प्रगति में भारी रुकावटें पैदा करदी। अधिनायकवादी सरकारें हर सम्भव उपाय से तथा हर कीमत पर अपने स्वार्थों की पूर्ति चाहती थी। उनकी नीतियों ने संघ को पंगु बना दिया।

संतुष्टिकरण की नीति—अधिनायकवाद के उदय तक रूस का साम्यवाद पश्चिम के पूंजीवादी राष्ट्रों के लिए सिर-दर्द बन चुका था। अधिनायकों ने अवसर का लाभ उठाया और अपने आपको साम्यवाद विरोधी घोषित कर दिया और अपनी आक्रामक कार्यवाही तथा साम्राज्यवादी लिप्सा पर साम्यवाद-विरोधी चादर डाल दी। पश्चिमी देशों ने उनका स्वागत किया। उनके प्रति तुष्टिकरण की नीति

अपनाई। उनके छोटे-मोटे आक्रामक कार्यों की उपेक्षा की और उनकी धमकियों को भी सहन किया। क्योंकि वे चाहते थे कि साम्यवाद और अधिनायकवाद एक-दूसरे से टकराकर चकनाचूर हो जाय, परन्तु हुआ इसके प्रतिकूल। शक्ति सम्पन्न होते ही तानाशाहों ने अपना असली रूप भी प्रगट कर दिया और अन्त में द्वितीय महायुद्ध का सूत्रपात हुआ।

राष्ट्रसंघ का मूल्यांकन

गेथोर्न हार्डी ने लिखा है—"राष्ट्रसंघ शान्ति सम्मेलन का एक महान् रचनात्मक कार्य था। इसकी आत्मा पूर्णतः अन्तर्राष्ट्रीय थी; और उन सदस्यों के हाथों में, जो निःस्वार्थ भाव से इसका उपयोग संकल्प करते, यह शान्ति का एक शानदार उपकरण बन सकती थी।" यद्यपि राष्ट्रसंघ को राजनीतिक क्षेत्र में सफलता नहीं मिल सकी; फिर भी, इसमें कोई सन्देह नहीं है कि राष्ट्रसंघ ने अपने आपको एक महत्वपूर्ण संस्था प्रमाणित किया। आर्थिक, सामाजिक और मानवीय क्षेत्रों में संघ को आशातीत सफलता मिली और संघ के प्रयत्नों के परिणामस्वरूप विश्व में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की भावना को अभूतपूर्व बल भी मिला। यही कारण है कि द्वितीय महायुद्ध के बाद अधिकांश राष्ट्रों ने राष्ट्रसंघ से मिलती-जुलती संयुक्त राष्ट्र-संघ की स्थापना की। इस सम्बन्ध में वाल्टर महोदय ने लिखा है कि "संयुक्त राष्ट्रसंघ के उद्देश्यों, सिद्धान्तों, संस्थाओं और ढंगों पर, इसकी प्रत्येक बात पर, राष्ट्रसंघ की स्पष्ट छाप है। दरअसल 18 अप्रैल 1946 को राष्ट्रसंघ का अन्त्येष्टि संस्कार नहीं हुआ बल्कि उसका पुनर्जन्म हुआ था।" लैंगसम के शब्दों में "राष्ट्रसंघ की सबसे बड़ी देन अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के विचार को उन्नत करना था।" वस्तुतः राष्ट्रसंघ ने विश्व इतिहास में पहली बार दुनियाँ के राजनीतिज्ञों को एक ऐसा प्लेटफार्म प्रदान किया जिसके माध्यम से वे अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर अपने विचार एवं सुझाव अभिव्यक्त कर सकते थे और जिसके माध्यम से एक दूसरे के बौद्धिक ज्ञान का लाभ भी उठा सकते थे।

अध्याय 20

रूसी क्रान्ति और विदेश नीति

(1917—1945)

(RUSSIAN REVOLUTION & FOREIGN POLICY)

1789 की फ्रांसीसी क्रान्ति के बाद 1917 की रूसी क्रान्ति विश्व इतिहास की सबसे महत्वपूर्ण घटना थी। फ्रांसीसी क्रान्ति ने स्वतन्त्रता, समानता तथा भ्रातृत्व की भावना का संदेश दिया और रूसी क्रान्ति ने सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्र में भी समानता का संदेश दिया। प्रथम विश्वयुद्ध के काल में रूसी क्रान्ति ऐसी परिस्थितियों में हुई थी, जबकि रूस की सेनाएँ निरन्तर पराजित होती जा रही थीं। यद्यपि यह क्रान्ति रूस की सैनिक पराजय का परिणाम नहीं थी, फिर भी युद्ध ने क्रान्ति की प्रक्रिया को तीव्र बना दिया था। क्रीमिया युद्ध और रूस-जापान युद्ध में रूस की सैनिक पराजय के बाद जार के निरंकुश राजतंत्र को प्रबल आन्तरिक विरोध का सामना करना पड़ा था, तथा विरोधियों को सन्तुष्ट करने के लिये सुधारों की योजना भी कार्यान्वित करनी पड़ी थी, किन्तु सुधारों से विरोधी सन्तुष्ट नहीं हुए। 1905 की रूसी क्रान्ति में 1917 की क्रान्ति के सभी लक्षण प्रकट हो गये थे, किन्तु जार निकोलस द्वितीय ने अपने स्वेच्छाचारी शासन के अन्तर्गत समृद्ध हो रहे भ्रष्टाचार एवं विघटनकारी प्रवृत्तियों को रोकने का कोई प्रयास नहीं किया। फलस्वरूप 1917 की क्रान्ति ने रूस की निरंकुश जारशाही को समाप्त कर दिया और रूस को सदा के लिये एक साम्यवादी देश बना दिया। 1917 में रूस में दो क्रान्तियाँ हुई—एक मार्च 1917 में तथा दूसरी नवम्बर 1917 में। लिप्सन महोदय का कहना है कि क्रान्ति तो एक ही थी, किन्तु इसके अध्याय दो थे। क्रान्ति का राजनैतिक अध्याय मार्च की क्रान्ति कहलाती है, जिसमें निरंकुश जार को सिंहासन छोड़ना पड़ा। क्रान्ति का दूसरा अध्याय नवम्बर की क्रान्ति कहलाती है, जिसे बोल्शेविक क्रान्ति भी कहते हैं, जिसके फलस्वरूप रूस में जनतन्त्र का उदय हुआ।

अन्य क्रान्तियों की भाँति 1917 की रूसी क्रान्ति के कुछ मौलिक कारण तो उसके पिछले एक शताब्दी के इतिहास के गर्भ में छिपे थे और कुछ तात्कालिक परिस्थितियों ने रूस में व्याप्त असंतोष का एकाएक विस्फोट कर दिया था।

(1) जारशाही की निरंकुशता—रूस में जार का निरंकुश शासन था। जार अलेक्जेण्डर प्रथम के समय से ही रूस के जार स्वेच्छाचारी शासन एवं सम्राट के दैवी सिद्धान्त में विश्वास करते थे। शासन की सम्पूर्ण शक्ति सम्राट में ही निहित थी। जार अलेक्जेण्डर द्वितीय ने कुछ उदारवादी नीति का अवलम्बन किया था, किन्तु उसके उदारवादी दृष्टिकोण के विरुद्ध तीव्र प्रतिक्रिया हुई, जिसके परिणामस्वरूप वह पुनः प्रतिक्रियावादी हो गया। अन्त में किसी आतंकवादी ने उसकी हत्या करदी। उसके उत्तराधिकारी अलेक्जेण्डर तृतीय ने अपने पिता की हत्या के बाद अनुभव किया कि स्वेच्छाचारी एवं निरंकुश शासन के द्वारा ही सम्राट की सत्ता सुरक्षित रह सकती है। अलेक्जेण्डर तृतीय के पश्चात निकोलस द्वितीय ने भी कठोर और दमनकारी नीति का अवलम्बन किया। अतः उसी के काल में 1905 की क्रान्ति हुई तथा उसे ड्यूमा के निर्वाचन की घोषणा करनी पड़ी। किन्तु ड्यूमा के हाथ में कोई वास्तविक शक्ति नहीं थी। वह सम्राट के प्रति उत्तरदायी थी तथा उसका एकमात्र कार्य सम्राट को सलाह देना था। सम्राट को अधिकार था कि वह ड्यूमा की सलाह को स्वीकार करे या ठुकरा दे। सम्राट स्वयं अपने कर्मचारियों की नियुक्ति करता था और वही उन्हें पदमुक्त कर सकता था। सम्राट ही जल और थल सेना का सेनापति होता था। रूस के नागरिकों को किसी प्रकार की स्वतन्त्रता नहीं थी। समाचार पत्रों पर कठोर प्रतिबन्ध लगे हुए थे। ऐसे जन विरोधी शासन के नीचे जनता कराह रही थी। क्रीमिया युद्ध और रूस-जापान युद्ध में रूस की अपमानजनक पराजय से रूस की प्रतिष्ठा को भारी आघात पहुंचा था। प्रथम विश्व युद्ध में भी रूस को भारी क्षति उठानी पड़ रही थी और इन पराजयों के परिणामस्वरूप रूस के अयोग्य व भ्रष्ट शासन का पर्दाफाश हो गया। जनता स्वेच्छाचारी एवं निरंकुश शासन की विरोधी हो गयी। जनता का यह असन्तोष अन्त में क्रान्ति का कारण बना।

(2) सामाजिक असमानता—1789 के पूर्व जिस प्रकार फ्रांस में सामाजिक असमानता की स्थिति थी, ठीक वैसी ही इस समय रूस में विद्यमान थी। रूसी समाज को दो भागों में विभाजित किया जा सकता था। प्रथम तो अधिकारयुक्त वर्ग और दूसरा अधिकारविहीन वर्ग। अधिकारयुक्त वर्ग में सम्राट के कृपापात्र कुलीन वर्ग था जो सम्राट की स्वेच्छाचारिता एवं निरंकुशता को आवश्यक मानता था। यह वर्ग सम्पन्न व्यक्तियों का था तथा शासन के सभी महत्वपूर्ण पदों पर और अधिकांश भूमि पर इसी वर्ग का अधिकार था। अधिकारविहीन वर्ग में किसान और मजदूर थे जिनकी स्थिति दयनीय थी।

(3) किसानों की दयनीय स्थिति—19 वीं शताब्दी के अन्तिम दशक तक यूरोप के प्रमुख राज्यों में औद्योगिक विकास हो चुका था, किन्तु रूस अभी तक पिछड़ा हुआ कृषि प्रधान देश था, जहां किसानों की बड़ी दयनीय स्थिति थी। कृषकदासों की मुक्ति के बाद भी किसानों की दशा में कोई सुधार नहीं हुआ था,

क्योंकि इसके बाद भी लगभग एक तिहाई किसान भूमिहीन बने रहे। जिन किसानों को भूमि प्राप्त हुई थी वहां पैदावार कम होती थी तथा उन पर अनेकों कर लगे हुए थे। फलतः अधिकांश किसानों को गरीबी का जीवन व्यतीत करना पड़ता था। जिन किसानों के पास भूमि नहीं थी उन्हें जमींदारों की भूमि पर काम करना पड़ता और जमींदार उनका मनमाने ढंग से शोषण करते थे। इसके अतिरिक्त किसानों पर अनेक प्रतिबन्ध लगे हुये थे। कोई भी किसान पुलिस की अनुमति के बिना गाँव छोड़कर कहीं नहीं जा सकता था। किसानों में दरिद्रता निरन्तर बढ़ती जा रही थी अतः उनमें शासन के विरुद्ध असंतोष बढ़ता रहा। 1905 में अनेक स्थानों पर किसानों के दंगे हुए। किसानों ने जमींदारों की भूमि पर अधिकार कर लिया तथा उनके मकानों को जला दिया। 1905 के बाद किसानों की स्थिति सुधारने का प्रयत्न किया गया किन्तु भूमिहीनों की समस्या का समाधान नहीं हुआ। ड्यूमा में 'केडेट' दल ने भूमि का विसम्पत्तिकरण करने का सुझाव दिया, किन्तु शासन ने इस सुझाव को अस्वीकृत कर दिया। अतः किसानों के पास शासन के विरुद्ध उठ खड़े होने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं था। कुछ समय तक तो जार की दमनकारी नीति के भय के कारण उनमें विद्रोह करने का साहस नहीं हुआ, किन्तु युद्ध में रूस की दयनीय स्थिति का लाभ उठाते हुए उन्होंने विद्रोह कर दिया।

(4) मजदूर वर्ग में असन्तोष—रूस में जार अलेक्जेण्डर के समय से व्यवसायिक क्रान्ति होने के कारण अनेक कल-कारखाने स्थापित हुए। इन कारखानों में काम करने के लिये लाखों मजदूर गांव छोड़कर शहरों में आ बसे थे तथा उनकी संख्या निरन्तर बढ़ती जा रही थी। ये मजदूर अधिकांशतः भूमिहीन किसान थे, अतः कारखानों के मालिकों ने उनकी असहाय एवं दयनीय स्थिति का लाभ उठाया और उन्हें कम से कम मजदूरी देकर अधिक से अधिक काम लिया। मजदूरी इतनी कम थी कि उनका जीवन निर्वाह भी नहीं हो पाता था और फिर उन्हें रहने के लिये गंदी बस्तियों में तंग कोठरियाँ दी, जहाँ साधारण व्यक्ति का तो दम घुटने लग जाय। इन कठिनाइयों को दूर करने के लिये वे अपने मालिकों से कुछ भी नहीं कह सकते थे और न 'मजदूर संघ' ही बना सकते थे। शासन सदैव उद्योगपतियों का पक्ष लेता था। अतः समाजवादी दल ने मजदूरों को पूंजीपतियों के विरुद्ध संगठित होने की प्रेरणा दी। मजदूर इस दल से अत्यधिक प्रभावित हुए तथा वे संघर्ष के लिये तैयार हो गये। 1902–3 से ही मजदूरों की हड़तालें आरम्भ हो गयी। 1905 की क्रान्ति के समय तो उन्होंने सेन्टपीटर्सबर्ग में समानान्तर सरकार बना डाली। 1905 के बाद सरकार ने मजदूरों की स्थिति में सुधार करने का प्रयत्न किया, किन्तु मजदूरों में असंतोष समाप्त नहीं हो सका। वस्तुतः मजदूरों पर समाजवादी दल का अत्यधिक प्रभाव था और मजदूरों का आन्दोलन जो प्रारम्भ में आर्थिक सुधारों के लिये था, वह अब राजनैतिक सुधारों की मांग में परिवर्तित हो गया।

मजदूर, रूस में जारशाही की निरंकुशता एवं पूंजीवादी व्यवस्था को समाप्त कर 'सर्वहारा वर्ग' का शासन स्थापित करना चाहते थे।

(5) **जार की रूसीकरण की नीति**—रूस में अनेक अल्प संख्यक जातियां रहती थीं और रूसी साम्राज्य के अधीन वे पराधीनता का अनुभव करती थीं। 1863 में पोलैण्ड ने रूसी शासन के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। सम्राट अलेक्जेण्डर द्वितीय ने इस विद्रोह का दमन करने के लिये कठोर एवं दमनकारी नीति अपनायी और विद्रोह का दमन कर दिया। विद्रोह का दमन करने के पश्चात सम्राट ने पोलैण्ड में रूसीकरण की नीति अपनाई, जिससे उनकी राष्ट्रीय भावना का दमन करने का प्रयत्न किया गया। शिक्षा का माध्यम रूसी भाषा कर दिया गया तथा सभी उच्च पदों पर रूसी अधिकारियों की नियुक्ति की गई। इसी प्रकार आर्मेनियनों का भी दमन किया गया। यहूदियों की सामूहिक हत्या की गई। इस प्रकार रूस के प्रशासन ने ज्यों ज्यों इन अल्पसंख्यक जातियों की राष्ट्रीय भावनाओं का दमन करने का प्रयास किया, उनके हृदय में राष्ट्रीयता की भावना उतनी ही उग्र होती गयी और रूसी प्रशासन के विरुद्ध असन्तोष बढ़ने लगा और 19वीं शताब्दी के अन्त में कुछ अल्पसंख्यक जातियों ने विद्रोह कर दिया। 1905 में जार्जिया, पोलैण्ड और बाल्टिक सागर में भयानक विद्रोह हुए। जार निकोलस द्वितीय ने जिस प्रकार इन विद्रोहों को कुचलने के लिये इन पर अमानुषिक अत्याचार किये, उससे उनका विद्रोही बनना स्वाभाविक ही था। जार की रूसीकरण की नीति ने सभी अल्प-संख्यक (गैर रूसी) जातियों को शासन विरोधी बना दिया और इन्होंने भी जार के विरुद्ध आन्दोलन में सक्रिय भाग लिया।

(6) **जार निकोलस की अयोग्यता**—जार निकोलस द्वितीय आकर्षक व्यक्तित्व एवं मिलनसार स्वभाव का शासक था, किन्तु उसकी बौद्धिक क्षमता सीमित थी। कोई भी व्यक्ति उसे सरलता से प्रभावित कर सकता था। उस पर उसकी पत्नी, महारानी अलेक्जेण्ड्रा का बहुत अधिक प्रभाव था। महारानी अलेक्जेन्ड्रा स्वयं निरंकुश एवं स्वेच्छाचारी शासन में विश्वास रखती थी और साथ ही वह एक महत्वाकांक्षिणी स्त्री थी। सम्राट में दृढ़ता का अभाव एवं चारित्रिक दुर्बलताएँ थीं। चारित्रिक दुर्बलता और अस्थिरता के कारण स्वेच्छाचारी शासक के रूप में उसकी सफलता आरम्भ से ही संदिग्ध थी। जार निकोलस द्वितीय के राज्यकाल के अन्तिम वर्षों में सम्राट और महारानी पर रासपुटिन नामक एक कुख्यात साधु का प्रभाव हो गया, जिसके परिणामस्वरूप प्रशासन में रासपुटिन का प्रभाव सर्वोपरि हो गया। अब दरबार में रासपुटिन के विरोधियों का एक दल तैयार होने लगा, जिसने दिसम्बर 1916 में रासपुटिन की हत्या कर दी। यदि जार निकोलस द्वितीय में थोड़ी बहुत शासन करने की योग्यता होती तो वह राजदरबार एवं शासन की व्यवस्था पर नियन्त्रण प्राप्त कर सकता था, जिससे संभव है 1917 की क्रान्ति या तो होती ही

नहीं या कुछ समय के लिये टल जाती, किन्तु निकोलस द्वितीय ने अपनी मूर्खता से क्रांति को अनिवार्य बना दिया।

(7) **रूस में बौद्धिक क्रान्ति**—फ्रांस की भांति रूस में भी 1917 की क्रांति से पूर्व एक बौद्धिक क्रांति हुई थी। रूस में पश्चिमी यूरोप के उदारवादी विचारों का प्रवेश होने लग गया था। जार ने इन विचारों के आगमन पर रोक लगाने का भरसक प्रयत्न किया, किन्तु उसे सफलता नहीं मिली। रूस का मध्यम वर्ग पश्चिमी विचारों से अत्यधिक प्रभावित हुआ। टॉलस्टाय, तुर्गनेव तथा दोस्तोविस्की के उपन्यासों ने रूस की शिक्षित जनता को बहुत प्रभावित किया। इसी प्रकार मार्क्स, मैक्सिमगोकी और बाकुनिन के समाजवादी विचारों ने रूसी समाज में भारी बौद्धिक क्रांति को प्रोत्साहन दिया।

(8) **समाजवाद का विकास**—1860 के बाद, किसानों की दयनीय स्थिति से प्रभावित होकर कुछ बुद्धिजीवियों ने समाजवादी विचारधारा को आधार बनाकर एक आन्दोलन आरम्भ किया। इस आन्दोलन के समर्थकों को 'नारोदनिकी' कहा जाता था। वे चाहते थे कि किसानों को भूमि का स्वामी स्वीकार किया जाय। कुछ नारोदनिकी लोगों ने आतंकवादी उपायों से अपने उद्देश्यों की प्राप्ति का प्रयत्न किया। 1883 में रूस में मार्क्सवादी विचारधारा का प्रभाव बढ़ने लगा। कुछ समय बाद समाजवादी दो दलों में विभाजित हो गये-एक क्रांतिकारी समाजवादी दल और दूसरा समाजवादी लोकतन्त्र दल। 1903 में समाजवादी लोकतन्त्र दल भी दो भागों में विभाजित हो गया—बोल्शेविक और मेन्शेविक। बोल्शेविक दल का नेता लेनिन था, जो रूस में सर्वहारा वर्ग का अधिनायकतन्त्र स्थापित करना चाहता था। मेन्शेविक दल मजदूर वर्ग के साथ-साथ अन्य वर्गों के सहयोग से रूस में जनतन्त्र स्थापित करना चाहता था। सम्राट ने समाजवादी विचारों के प्रसार को रोकने के लिये अनेक समाजवादी नेताओं को वन्दी बनाया, किन्तु किसानों और मजदूरों में बढ़ते हुए असन्तोप के कारण रूस में समाजवादी विचारों का बड़ी तीव्र गति से प्रसार हुआ। समाजवादी विचारधारा ने क्रांति को अवश्यम्भावी बना दिया।

(9) **रूसी नौकरशाही की अयोग्यता**—पीटर महान् (1683–1721) ने शासन संचालन के लिये एक विशाल नौकरशाही का निर्माण किया था। नौकरशाही के उच्च पदाधिकारी कुलीन वर्ग के व्यक्ति थे जो स्वेच्छाचारी एवं निरंकुश शासन में विश्वास करते थे। जनता के प्रति उनकी कोई सहानुभूति नहीं थी। निकोलस द्वितीय में योग्य व्यक्तियों के चुनाव करने की क्षमता नहीं थी। अतः उसके समय में कई अयोग्य व्यक्तियों को शासन की नीति को प्रभावित करने का अवसर मिल गया। वे अयोग्य व्यक्ति मनमाने ढंग से शासन करते थे तथा जनता का शोषण करते थे। रूसी नौकरशाही के उच्च पदों पर जर्मन पदाधिकारी भी नियुक्त थे, जिन्हें रूसी

जनता के प्रति कोई सहानुभूति नहीं थी। नौकरशाही न केवल अयोग्य ही थी वरन् पूर्णतः भ्रष्ट भी थी। प्रथम विश्वयुद्ध में इस भ्रष्ट नौकरशाही ने सेना की आवश्यकताओं को भी पूरा नहीं किया। रसद तथा युद्ध सामग्री के अभाव में रूसी सैनिक बेमौत मारे जाने लगे। युद्ध के लिए एकत्र की जाने वाली धनराशि का वे दुरुपयोग करने लगे। फलस्वरूप युद्ध में रूसी सेना को भारी क्षति उठानी पड़ी और रूस की प्रतिष्ठा को भारी आघात पहुंचा। इससे जनता के असन्तोष में बहुत वृद्धि हुई तथा सर्वत्र क्रान्ति के चिन्ह दिखाई देने लगे।

मार्च की क्रान्ति का प्रारम्भ—अगस्त 1914 में रूस ने विश्व युद्ध में प्रवेश किया। प्रारम्भ में रूस की सेनाओं को सफलता मिली, किन्तु कुछ ही समय बाद जर्मनी के विरुद्ध रूस की सेनाएं पराजित होने लगी। सेना को पर्याप्त युद्ध सामग्री नहीं मिल पा रही थी क्योंकि रूस के कारखाने पर्याप्त युद्ध सामग्री का उत्पादन नहीं कर सकते थे। अतः युद्ध सामग्री के लिए विदेशों पर निर्भर रहना पड़ता था। विदेशों से आये हुए हथियार भी बन्दरगाहों पर पड़े रहते थे और उन्हें मोर्चे पर नहीं भेजा जा रहा था। यातायात का समुचित विकास न होने के कारण भी समय पर रसद पहुँचाने में कठिनाई हो रही थी। रूसी सरकार ने प्रारम्भिक तीन वर्षों में लगभग 15 लाख सैनिक मोर्चे पर भेज दिये, जिससे खेतों में काम करने वालों की कमी हो गयी और कृषि उत्पादन कम हो गया। अतः सेना एवं नागरिकों के लिए खाद्य सामग्री की कमी हो गयी। दैनिक जीवन के लिये आवश्यक वस्तुओं के भावों में इतनी अधिक वृद्धि हो गयी कि लोगों का निर्वाह होना भी कठिन हो गया। इससे किसानों और मजदूरों में उत्तेजना बढ़ने लगी। युद्ध क्षेत्र से वापिस भेजे गये निराश और क्रुद्ध सैनिकों ने भी उनका साथ दिया। जार पर उसकी पत्नी का प्रभाव था और वह जर्मन थी, अतः रूस के प्रति उसकी कोई सहानुभूति नहीं थी। फलस्वरूप उस समय यह अफवाह फैली कि जार अपनी पत्नी के प्रभाव में आकर जर्मनी से सन्धि करना चाहता है। इससे सर्वत्र उत्तेजना फैल गयी। शासन में अनुचित हस्त-क्षेप करने वाले 'पवित्र साधु' रासपुटिन की, दिसम्बर 1916 में हत्या कर दी गई। इस हत्या से स्पष्ट हो गया कि राज दरबार में भी एकता का अभाव है। इसके बाद भी जार निकोलस द्वितीय की नीति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ और उसका अयोग्य शासन पूर्ववत् गल्तियां करता रहा।

एक ओर तो सेनाओं की निरन्तर हार से जनता क्रुद्ध थी, दूसरी ओर अनाज, ईंधन, कपड़े आदि की कमी होने लगी, जिससे इन वस्तुओं के भाव अत्यधिक बढ़ गये। जनता को यह विश्वास था कि देश में इन वस्तुओं की कमी नहीं है वरन् पूंजीपतियों ने इन वस्तुओं का भारी स्टाक कर रखा है। जनता ने शासन की अयोग्यता और भ्रष्टाचार को इस स्थिति के लिये उत्तरदायी ठहराया। ऐसी स्थिति में रूस में अचानक क्रान्ति हो गयी जिसकी कल्पना नहीं की गई थी और जिसके लिये

क्रान्तिकारी दल भी तैयार नहीं था। क्रान्ति का तात्कालिक कारण रोटी की कमी थी। 8 मार्च 1917 को मजदूरों ने भूख से व्याकुल होकर पेट्रोग्राड में हड़ताल कर दी। मजदूरों की भीड़ ने सड़कों पर रोटी के नारे लगाना प्रारम्भ कर दिया तथा लूटमार प्रारम्भ कर दी। दूसरे दिन भी उग्र प्रदर्शन होते रहे। वे 'रोटी दो' के साथ-साथ 'अत्याचारी शासन का नाश हो' के नारे भी लगाने लगे। 10 मार्च को पेट्रोग्राड के सभी कारखानों में हड़ताल हो गयी। मजदूरों ने पुलिस के हथियार छीन लिये। सम्राट ने उनका दमन करने के लिये सेना भेजी, किन्तु सेना ने भी आन्दोलनकारियों का साथ दिया। सर्वत्र क्रान्ति के चिन्ह दृष्टिगोचर होने लगे। सम्राट ने क्रोधित होकर 12 मार्च को ड्यूमा को भंग कर दिया तथा सैनिक टुकड़ियों को आदेश दिया कि उपद्रवकारियों पर गोली चला दी जाय, किन्तु सैनिकों ने गोली चलाने से इन्कार कर दिया और उपद्रवकारियों से जा मिले। हड़ताली मजदूरों और सैनिकों ने मिलकर 'सैनिकों एवं मजदूरों के प्रतिनिधियों की क्रांतिकारी सोवियत' बना ली तथा शासन की वास्तविक शक्ति अपने हाथ में ले ली। 14 मार्च को क्रांतिकारी परिषद् एवं ड्यूमा के सदस्यों की एक समिति ने मिलकर एक अस्थायी सरकार का निर्माण कर लिया जिसका प्रिन्स ल्वॉव (Prince Lvov) था। अस्थायी सरकार के मंत्री बड़े योग्य थे। क्रान्तिकारी समाजवादी दल का नेता केरेन्स्की न्याय मंत्री था, अक्टूबरिस्ट दल का नेता गुचकाव युद्ध मंत्री था और संवैधानिक लोकतन्त्रीय दल का नेता मिल्यूकॉव विदेश मंत्री था। 15 मार्च को निकोलस द्वितीय ने अपने भाई माइकेल के पक्ष में सिंहासन त्याग दिया, किन्तु अस्थायी सरकार के सदस्य राजतन्त्र बनाये रखने अथवा गणतन्त्र की स्थापना के बारे में एकमत न हो सके। अतः माइकेल ने भी सिंहासन अस्वीकार कर दिया। इस प्रकार मार्च 1917 की क्रान्ति के फलस्वरूप रूस के निरंकुश सम्राटों के शासन का अन्त हो गया। पेट्रोग्राड की क्रांति को सम्पूर्ण देश ने स्वीकार कर लिया।

अस्थायी सरकार के कार्य—अस्थायी सरकार संवैधानिक तरीकों में विश्वास करती थी अतः उसने निम्नलिखित कार्य किये—

(1) भाषा और प्रेस की स्वतन्त्रता घोषित करदी। जनता अपनी इच्छानुसार विभिन्न संघों का निर्माण कर सकती थी, भाषण दे सकती थी तथा समाचार पत्रों का प्रकाशन कर सकती थी।

(2) राजनैतिक बन्दियों को मुक्त कर दिया। जिन राजनीतिक बन्दियों को निर्वासित कर दिया था, उन्हें पुनः देश में आने की अनुमति प्रदान कर दी गयी।

(3) यहूदियों के विरुद्ध जितने कानून बनाये गये थे, उन्हें रद्द कर दिया गया।

(4) पोलैण्ड को स्वायत्त शासन का वचन दिया गया तथा फिनलैण्ड के वैध अधिकारों को मान्यता दे दी गयी।

(5) देश का नया संविधान बनाने के लिए एक नवीन संविधान सभा की स्थापना की घोषणा की गयी।

इस प्रकार अस्थायी सरकार ने लोकतन्त्रवादी सिद्धान्तों के आधार पर अपना कार्य आरम्भ किया। किन्तु अस्थायी सरकार को अनेक जटिल परिस्थितियों का सामना करना पड़ा—

(1) अस्थायी सरकार को एक ओर असफल युद्ध को संचालित करना था और दूसरी ओर आन्तरिक व्यवस्था स्थापित करनी थी। अस्थायी सरकार मित्र राष्ट्रों के सहयोग से युद्ध जारी रखना चाहती थी। किन्तु मजदूरों और सैनिकों की सोवियत चाहती थी कि युद्ध बन्द कर दिया जाय, भूमिपतियों की भूमि बिना मुआवजा के ग्रहण करके किसानों में वितरित कर दी जाय और सभी महत्वपूर्ण उद्योगों का राष्ट्रीयकरण कर दिया जाय।

(2) जब विदेश मन्त्री मिल्यूकाव ने मित्रराष्ट्रों को सूचित किया कि रूस की सरकार युद्ध को जारी रखेगी तब पेट्रोग्राड की सोवियत ने इसका विरोध किया। फलत: विदेश मन्त्री को त्यागपत्र देना पड़ा और इसके साथ ही गुचकाव ने भी त्याग पत्र दे दिया। ल्वॉव की पुनर्गठित सरकार में केरेन्स्की को युद्ध मन्त्री बनाया गया।

(3) पेट्रोग्राड की सोवियत तथा उसके नेता अस्थायी सरकार में विश्वास नहीं रखते थे। अत: उन्होंने गाँव गाँव में स्वतन्त्र सोवियतों का निर्माण कर लिया था। अस्थायी सरकार और सोवियतों में तीव्र मतभेद था।

जून 1917 में पेट्रोग्राड की सोवियत ने 'अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस' का सम्मेलन आयोजित किया जिसमें बोल्शेविक और मेन्शेविक दल के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। यहाँ पर 300 सदस्यों की अखिल रूसी सोवियत कार्यकारिणी समिति गठित की गई तथा वास्तविक कार्यकारिणी शक्ति 20 सदस्यों की एक प्रेसीडियम को दी गई। इस समय लेनिन ने बोल्शेविक एवं मेन्शेविक दल को सलाह दी कि वे ल्वॉव की सरकार को समाप्त करके अपना खुद का मन्त्रिमण्डल गठित करे। 1 जुलाई को इसके लिए मजदूरों का प्रदर्शन आयोजित किया गया, मजदूरों ने 'युद्ध बन्द करो', 'पूँजीवादी मन्त्रियों को हटाओ', 'सभी अधिकार सोवियत को दो' के नारे लगाये। 3 जुलाई को एक बड़ा विद्रोह हुआ, किन्तु इसे दबा दिया गया। सरकार को ऐसा लगा कि विद्रोह को भड़काने में बोल्शेविकों का हाथ था, अत: बोल्शेविकों को कैद करने की आज्ञा दे दी। लेनिन को रूस छोड़कर भागना पड़ा।

केरेन्सकी का सत्ता प्राप्त करना—सोवियत और सरकार के बीच मतभेद बढ़ते गये। राजनीतिक सुधारों के किसी को कोई सन्तोष नहीं मिला। अस्थायी ल्वॉव की सरकार रोटी की समस्या हल नहीं कर सकी। युद्ध बन्द करके स्थायी शान्ति स्थापित करने में भी इसे सफलता नहीं मिली। फलस्वरूप ल्वॉव सरकार का पतन हो गया। केडेट दल के पतन के पश्चात मेन्शेविक दल के हाथ में सत्ता आ

गयी। इस दल का नेता केरेन्स्की था। वह क्रांति तथा रक्तपात का विरोधी था। वह युद्ध को यथाशीघ्र सम्मानपूर्वक स्थिति में समाप्त करना चाहता था। किन्तु बोल्शेविक दल उसका निरन्तर विरोध करता रहा। इधर समाजवादियों में पारस्परिक मतभेद बढ़ने लगे। इसी समय केरेन्स्की और प्रधान सेनापति कार्नीलाव के बीच भी मतभेद बढ़ने लगे। उधर जर्मनी निरन्तर आगे बढ़ता जा रहा था। 3 सितम्बर को जर्मनी ने रीगा पर अधिकार कर लिया। इस स्थिति का लाभ उठाकर कार्नीलाव ने सेना की सहायता से सत्ता हथियाने का प्रयत्न किया। किन्तु केरेन्स्की ने बोल्शेविकों की सहायता से कार्नीलाव के प्रयत्न को विफल कर दिया। इससे बोल्शेविकों को अपना प्रभाव बढ़ाने का अच्छा अवसर मिल गया। लेनिन ने फिनलैण्ड से बोल्शेविक दल की कार्यकारिणी को गुप्त पत्र लिखे जिसमें उसने लिखा कि अब सशस्त्र क्रान्ति द्वारा सत्ता हथियाने का समय आ गया है।

बोल्शेविक क्रान्ति—लेनिन के आदेशानुसार बोल्शेविक कार्यकारिणी ने 23 अक्टूबर को सशस्त्र क्रान्ति द्वारा सत्ता हथियाने का निर्णय किया। बोल्शेविकों के प्रचार के फलस्वरूप सेना ने युद्ध करने से इन्कार कर दिया तथा किसानों ने जमींदारों की भूमि पर अधिकार करना आरम्भ कर दिया। मजदूरों ने भी अपने काम के घण्टों में कमी करना तथा वेतन बढ़ाने की मांग को लेकर हड़ताल कर दी। इससे देश में अराजकता छा गयी। 5 नवम्बर को केरेन्स्की ने सभी बोल्शेविकों को कैद करने की आज्ञा दे दी, किन्तु इस समय तक बोल्शेविक नेता क्रान्ति की तैयारी पूरी कर चुके थे। 6 नवम्बर की रात्रि को बोल्शेविक स्वयंसेवकों ने, जिन्हें लाल रक्षक (Red Guards) कहा जाता था तथा नियमित सैनिक टुकड़ियों ने पेट्रोग्राड के समस्त सरकारी भवनों, टेलीफोन केन्द्र, रेल्वे स्टेशन आदि प्रमुख स्थानों पर अधिकार कर लिया। 7 नवम्बर को प्रातः केरेन्स्की देश छोड़कर भाग गया। अस्थायी सरकार के सभी मंत्रियों को बन्दी बना लिया गया। इस प्रकार बिना रक्त की एक बूंद गिराये रूस की राजधानी पर बोल्शेविक दल का अधिकार हो गया। मार्च 1917 की क्रांति ने जारशाही निरंकुश शासन का अन्त कर मध्यम वर्ग के शासन की स्थापना की थी, किन्तु नवम्बर 1917 की क्रान्ति ने रूस में मजदूर वर्ग की सरकार की स्थापना की। 8 नवम्बर 1917 को नयी सरकार का प्रथम मन्त्रिमण्डल गठित किया गया। लेनिन को मन्त्रिपरिषद् का अध्यक्ष बनाया गया और ट्राट्स्की विदेश मन्त्री बना। नयी सरकार ने सर्वप्रथम संविधान सभा के चुनाव कराने की घोषणा की। 15 नवम्बर को देश की संविधान सभा के लिये चुनाव हुए, किन्तु बोल्शेविक दल को बहुमत प्राप्त नहीं हो सका। अतः लेनिन ने इस सभा को 'प्रतिक्रियावादी सभा' कह कर इसे भंग कर दिया तथा देश में पूर्णतया सर्वहारा वर्ग का अधिनायकतन्त्र स्थापित कर दिया।

रूस का युद्ध से अलग होना—सत्ता ग्रहण करने के कुछ ही दिन बाद बोल्शेविक सरकार ने सभी राज्यों से युद्ध बन्द करने की अपील की, किन्तु मित्र राष्ट्रों ने इस

प्रस्ताव की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। अतः रूस ने केन्द्रीय राज्यों से पृथक सन्धि करने का निश्चय किया, क्योंकि देश में आन्तरिक व्यवस्था स्थापित करने तथा विकास की योजनाएँ कार्यान्वित करने के लिये शांति आवश्यक थी। दिसम्बर 1917 में युद्ध विराम हुआ और कुछ ही समय बाद ब्रेस्टलिटोवस्क में सन्धिवार्ता आरम्भ हुई जिसमें जर्मनी, आस्ट्रिया, बल्गेरिया, तुर्की और रूस के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। रूस किसी भी शर्त पर शांति चाहता था, अतः उसे जर्मनी की सभी शर्तें स्वीकार करनी पड़ी। 3 मार्च 1918 को ब्रेस्टलिटोवस्क की सन्धि हो गयी। इस सन्धि के अनुसार—

(1) रूस ने एस्टोनिया, लिथोनिया, लिटेविया, फिनलैण्ड और आलैण्ड से अपने अधिकार त्याग दिये तथा केन्द्रीय शक्तियों को वहां जनता की इच्छानुसार नवीन व्यवस्था स्थापित करने का अधिकार दिया गया।

(2) रूस ने अर्दहान, कार्स तथा बाटुम के प्रदेश तुर्की को दे दिये।

(3) पोलैंड, लिथुआनिया और कोरलैंड से रूस ने अपने अधिकार त्याग दिये। रूस ने यूक्रेन से भी अपनी सेनाएँ हटाली। यूक्रेन सरकार एवं केन्द्रीय शक्तियों के बीच की गई सन्धियों को मान्यता दे दी।

(4) रूस ने यह वचन दिया कि खाली किये गये क्षेत्र में रूस, बोल्शेविक विचारधारा का प्रचार नहीं करेगा।

(5) रूस ने जर्मनी को तीन करोड़ पौण्ड युद्ध का हर्जाना देने का वचन दिया।

इस सन्धि के अनुसार रूस को विशाल क्षेत्र तथा लगभग साढ़े छः करोड़ जनसंख्या से वंचित होना पड़ा। इस प्रकार यह सन्धि रूस के लिये बहुत अपमान-जनक थी, किन्तु इस सन्धि के सम्पन्न होने पर रूस युद्ध से अलग हो गया जिससे बोल्शेविक सरकार को देश की आन्तरिक समस्याओं की ओर अधिक ध्यान देने का अवसर मिल गया। बोल्शेविक सरकार ने निम्नलिखित कार्यक्रम अपनाया—

(1) राज्य में बड़े पैमाने पर राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन करना।

(2) सर्वहारा वर्ग का अधिनायकतन्त्र उस समय तक बनाये रखा जाय जब तक कि देश की सम्पूर्ण जनता साम्यवादी शासन में भाग लेने के योग्य न हो जाय।

(3) सर्वहारा वर्ग की क्रांति का विश्व में प्रचार करना।

गृह युद्ध और विदेशी हस्तक्षेप—बोल्शेविक दल ने जिस प्रकार सत्ता ग्रहण की थी और जो नीति अपनायी थी उससे रूस की जनता के कुछ वर्ग असन्तुष्ट थे। बोल्शेविकों के विरोधियों में तीन प्रकार के लोग थे। प्रथम तो वे लोग जिनकी भूमि छीन ली गई थी, जारशाही के पुराने अधिकारी और सामन्त वर्ग जो क्रांति को

विफल करके जार शासन को पुनः स्थापित करना चाहते थे। दूसरे वे लोग जो फ्रांस और अमरीका के नमूने का लोकतन्त्र स्थापित करना चाहते थे और तीसरे मेन्शेविक दल के लोग जो समाज के आर्थिक संगठन को क्रांतिकारी उपायों द्वारा बदलने के विरोधी थे। इन सभी के विरुद्ध बोल्शेविक सरकार को तीन वर्ष तक (1917–20) घोर संघर्ष करना पड़ा। इन विरोधियों को प्रारम्भ में जर्मनी से और तत्पश्चात मित्रराष्ट्रों से सहायता प्राप्त हुई जिससे बोल्शेविक सरकार को घोर संकट का सामना करना पड़ा। मित्र राष्ट्र रूस में पुनः मध्यवर्गीय सरकार स्थापित करना चाहते थे, ताकि जर्मनी के विरुद्ध पूर्वी मोर्चा पुनः खोला जा सके। बोल्शेविक सरकार ने जार के समय लिये गये समस्त ऋणों को अस्वीकार कर दिया था, जिससे मित्र राज्यों में बोल्शेविक सरकार के विरुद्ध रोष उत्पन्न हो गया और उन्होंने रूस पर सैनिक आक्रमण कर दिया। हजारों चैक और स्लोवाक, जो पहले आस्ट्रिया की सेना को छोड़कर रूस से जा मिले थे अब बोल्शेविकों के विरुद्ध मित्र राष्ट्रों का साथ देने लगे। मित्रराष्ट्रों की सेनाओं ने बोल्शेविक विरोधी दलों के सहयोग से प्रति-क्रांतिवादी अथवा 'श्वेत' सरकारें स्थापित कीं। प्रारम्भ में ऐसा प्रतीत हो रहा था कि बोल्शेविक सरकार आन्तरिक विरोध और बाह्य शत्रुओं की संयुक्त शक्ति का सामना नहीं कर सकेगी। किन्तु लेनिन के नेतृत्व में बोल्शेविक निराश नहीं हुए। बोल्शेविकों की 'लाल' सेना तथा प्रतिक्रांतिकारियों की 'श्वेत' सेना के बीच भयंकर संघर्ष हुआ। इस संघर्ष के काल में बोल्शेविक सरकार ने जार और उसके परिवार को पेट्रोग्राड से हटाकर यूराल प्रदेश के इक्टेरिनबर्ग नामक स्थान पर भेज दिया। किन्तु जब श्वेत सेनाएँ उस क्षेत्र में आगे बढ़ने लगी तब 16 जुलाई 1918 को बोल्शेविकों ने जार और जरीना को गोली से उड़ा दिया। बोल्शेविकों ने 'चेका' नामक एक गुप्त क्रांतिकारी न्यायालय की स्थापना की, जिसे किसी भी व्यक्ति को कैद कर मृत्यु दण्ड देने का अधिकार था। 'चेका' ने हजारों प्रतिक्रांतिकारियों को पकड़ कर गोली से उड़ा दिया और एक प्रकार से आतंक का राज्य स्थापित कर दिया। ट्राट्स्की ने शक्तिशाली 'लालसेना' (Red Army) का गठन किया जिसके सैनिक पूर्ण रूप से प्रशिक्षित थे। लाल सेना के कारण बोल्शेविक सरकार की शक्ति मजबूत हो गई। फलस्वरूप मित्रराष्ट्रों ने धीरे धीरे अपने सैनिक दल वापिस बुला लिये। लाल सेना ने प्रतिक्रांतिकारियों को पूर्ण रूप से कुचल दिया। इस प्रकार विदेशी राज्यों के सैनिक हस्तक्षेप से उत्पन्न संकट समाप्त हो गया।

प्रतिक्रांतिकारियों और विदेशी सेना की असफलता के मुख्य रूप से दो कारण थे। प्रथम तो विदेशी सेनाओं के हस्तक्षेप से रूस के देश भक्तों की राष्ट्रीय भावना जागृत हो उठी और उन्होंने बोल्शेविकों का साथ दिया। दूसरा कारण यह था कि बोल्शेविक सरकार ने जमींदारों से बिना मुआवजा दिये भूमि छीनकर किसानों में वितरित की थी अतः उन किसानों ने बोल्शेविक सरकार का पूर्ण समर्थन किया। इस संघर्ष काल में उद्योगों का राष्ट्रीयकरण किया जा चुका था। अतः मजदूरों के

गृह युद्ध के फलस्वरूप रूस की आर्थिक स्थिति अत्यन्त ही दयनीय हो गयी। लेनिन के कुशल नेतृत्व में रूस में पुनः आर्थिक दृढ़ता आने लगी। लेनिन ने रूस में साम्यवाद को व्यवहारिक रूप देने का प्रयत्न किया।

रूसी क्रांति का महत्व—1917 में रूस में दो क्रान्तियाँ हुई। प्रथम मार्च की क्रांति थी जिसने जार के निरंकुश शासन के स्थान पर प्रजातंत्र की स्थापना की, जो उदारवादी सिद्धान्तों पर आधारित था। किन्तु यह प्रजातन्त्र सफल नहीं हो सका और नवम्बर में बोल्शेविक क्रांति हुई जिसने रूस में सर्वहारा वर्ग का अधिनायकतन्त्र स्थापित किया। इस क्रांति के फलस्वरूप विश्व में पहली बार मार्क्सवादी सिद्धान्तों पर आधारित सरकार बनी जिसने रूस की राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था में आमूल चूल परिवर्तन किया। जमींदारों एवं पूजीपतियों को समाप्त कर दिया, उद्योगों का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया और किसानों को उनकी आवश्यकतानुसार भूमि प्रदान की गयी। बोल्शेविकों के निजी लाभ की भावना को समाप्त कर दिया तथा उच्च वर्ग द्वारा निम्न वर्ग के लोगों के शोषण का अन्त कर दिया। किन्तु इस क्रान्ति से रूस के नेताओं की सभी आकांक्षाएँ पूर्ण नहीं हो सकीं। लेनिन को आशा थी कि रूस की क्रान्ति के पश्चात पश्चिमी यूरोप में भी क्रान्ति भड़क उठेगी तथा सम्पूर्ण यूरोप में सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व स्थापित हो जायेगा। इसके लिए बोल्शेविकों ने 1919 में 'कम्यूनिस्ट इन्टरनेशन' की स्थापना की। किन्तु इसे अधिक सफलता प्राप्त नहीं हुई। स्वयं बोल्शेविकों द्वारा शुद्ध साम्यवादी सिद्धांतों के आधार पर राजनैतिक एवं आर्थिक ढांचा तैयार करने का प्रयोग भी सफल नहीं हुआ। फलतः परिस्थितियों के अनुसार उन्हें अपने सिद्धान्तों में परिवर्तन करना पड़ा। फिर भी बोल्शेविक क्रान्ति सम्पूर्ण मानव जाति के इतिहास में एक युगान्तकारी घटना थी। इससे रूस की प्रगति का मार्ग प्रशस्त हो गया और वह एक विश्व शक्ति बन गया।

सोवियत रूस की विदेश नीति—बोल्शेविक क्रान्ति के पश्चात रूस की विदेश नीति विभिन्न सात अवस्थाओं से होकर गुजरी है। प्रथम अवस्था में पश्चिमी शक्तियों के साथ उग्र विरोध रहा। दूसरी अवस्था रक्षात्मक पृथक्कत्व (Defensive Isolation) की थी, जिसमें रूस ने आत्म रक्षा के लिये विभिन्न राज्यों से संधियां कीं, विभिन्न राज्यों से व्यापारिक सम्बन्ध बढ़ाये, दूसरे देशों में साम्यवाद का प्रचार करना कम कर दिया, किन्तु वह पश्चिमी देशों की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति से अलग रहा और राष्ट्रसंघ में सम्मिलित नहीं हुआ। तीसरी अवस्था में वह राष्ट्रसंघ का सदस्य बना तथा पश्चिमी देशों के साथ सहयोग किया। चौथी अवस्था संकट पूर्ण पृथक्कता (Dangerous Isolation) की थी। पांचवीं अवस्था जर्मनी के साथ मित्रता की थी। छठी अवस्था पश्चिमी देशों के साथ घनिष्ठ मित्रता की थी। सातवीं अवस्था द्वितीय विश्व युद्ध के बाद पश्चिमी राष्ट्रों के साथ तनाव और शीत युद्ध की स्थिति

है। प्रस्तुत पुस्तक के आलोच्य काल में प्रथम छः अवस्थाओं का विवेचन इस प्रकार किया जा सकता है—

1. पश्चिमी शक्तियों से विरोध (1917–1921)—बोल्शेविक क्रान्ति के पश्चात रूस के प्रारम्भिक चार वर्ष विदेश नीति की दृष्टि से पश्चिमी देशों के साथ उग्र संघर्ष के थे। इस संघर्ष के प्रमुख कारण निम्नलिखित थे—

(1) रूस समस्त विश्व में साम्यवादी क्रान्ति को फैलाना चाहता था। बोल्शेविक नेताओं का वास्तविक ध्येय सभी देशों में पूंजीवाद और साम्राज्यवाद का विध्वंश, वर्तमान सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्था की समाप्ति और सभी देशों में सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व स्थापित करना था। मार्च 1919 में रूसी सरकार के सहयोग से 'थर्ड इन्टरनेशनल' अथवा कॉमिण्टर्न नामक संस्था का गठन हुआ। इस संस्था का मुख्य कार्य दूसरे देशों में साम्यवादी दलों का गठन करना, उन्हें वित्तीय सहायता देना, साम्यवादी साहित्य के प्रचार के लिये प्रचारकों को भेजना और किसानों को एवं मजदूरों को वर्तमान सरकारों के विरुद्ध क्रांति के लिये भड़काना था। इससे विदेशी सरकारें भयभीत हो गयीं और उन्होंने इस संस्था का विरोध किया। अनेक देशों में साम्यवादी लाल झण्डे को फहराना अपराध घोषित किया गया। अतः रूस और पश्चिमी शक्तियों के बीच तीव्र विरोध और उग्र संघर्ष बना रहा।

(2) रूस ने मित्र राष्ट्रों से अलग होकर जर्मनी से ब्रेस्टलिटोवस्क की संधि (3 मार्च 1918) करली थी। इस संधि के पश्चात् रूस युद्ध से अलग हो गया। पूर्वी मोर्चे पर लड़ाई बन्द होने से पश्चिमी मोर्चे पर युद्ध का दवाव बढ़ गया। मित्र राष्ट्रों ने इसे रूस द्वारा जान बूझ कर उन्हें हराने के लिए किया गया विश्वासघात समझा। इस प्रकार रूस व पश्चिमी राष्ट्रों के बीच शत्रुता का बीजारोपण हुआ।

(3) रूस की साम्यवादी सरकार ने 24 दिसम्बर 1917 को विदेशी ऋणों को रद्द कर दिया तथा विदेशी पूंजी द्वारा स्थापित औद्योगिक संस्थानों का राष्ट्रीयकरण कर दिया। 22 अप्रेल 1918 को विदेशी व्यापार पर राज्य का एकाधिपत्य स्थापित किया गया। इससे भी रूस व पश्चिमी देशों के बीच सम्बन्ध कटु एवं शत्रुतापूर्ण हो गये।

(4) बोल्शेविक क्रान्ति के पश्चात् हुए रूस के गृह युद्ध में पश्चिमी राष्ट्रों ने सैनिक हस्तक्षेप किया तथा प्रतिक्रान्तिकारियों को रणसामग्री प्रदान की। 1918 में उन्होंने प्रतिकान्तिकारियों के सहयोग से रूस के विभिन्न प्रदेशों पर अधिकार कर वहां 'श्वेत' सरकारें स्थापित कर दीं। किन्तु ट्राट्स्की द्वारा गठित लाल सेना ने विदेशी सेनाओं को परास्त कर दिया तथा 1921 में बोल्शेविक शासन सुदृढ़ हो गया। मित्रराष्ट्रों द्वारा क्रान्ति को कुचलने के प्रयासों ने रूस को पश्चिम का कट्टर विरोधी बना दिया। पश्चिमी राष्ट्र यह समझते थे कि रूस विभिन्न देशों की

सरकारों को उलटने का प्रयत्न कर रहा है, सभी देशों में विद्रोह कराने के लिये कम्युनिस्ट पार्टियों का गठन कर रहा है और उसके दूतावास जासूसी के केन्द्र हैं, अतः रूस की साम्यवादी सरकार को समूल नष्ट कर देना चाहिये।

रूस और पश्चिमी राष्ट्रों की इस रस्साकशी में दोनों पक्ष बराबर रहे। न तो पश्चिमी राष्ट्र रूस की साम्यवादी सरकार को समूल नष्ट कर सके और न रूस पश्चिम की पूंजीवादी सरकारों का अन्त कर पाया। किन्तु पश्चिम के राष्ट्रों ने चिरकाल तक रूस की साम्यवादी सरकार को मान्यता प्रदान नहीं की।

2. रक्षात्मक पृथक्कता की नीति (1921–1934)—1921 में रूस की विदेश नीति एवं गृह नीति में बड़ा महत्वपूर्ण परिवर्तन आया। गृह युद्ध और विदेशी आक्रमण के कारण रूस की आर्थिक स्थिति बहुत ही बिगड़ चुकी थी। अतः लेनिन ने 'नयी आर्थिक नीति' का श्री गणेश किया, जिसका अर्थ कुछ दिनों के लिए पूंजीवादी व्यवस्था की ओर वापिस लौटना था। इसके अनुसार विदेशी व्यापार, बैंकिंग, बड़े उद्योगों और सार्वजनिक उपयोगिता की वस्तुओं के सम्बन्ध में साम्यवाद के राष्ट्रीयकरण के सिद्धान्त को मानते हुए, आन्तरिक व्यापार, कृषि तथा लघु उद्योगों के लिये पूंजीवाद को स्वीकार किया गया। लेकिन रूस के पुनर्निर्माण के लिये विदेशी पूंजी की सहायता चाहिये थी। इधर दूसरे देश भी अपनी आर्थिक स्थिति सुधारने के लिये रूस के साथ व्यापार बढ़ाने को उत्सुक थे। अतः साम्यवादी रूस और विभिन्न देशों के बीच व्यापारिक समझौते होने लगे।

1921 में रूस ने कर्जदार राज्यों को सूचित किया कि यद्यपि वह जारशाही शासन द्वारा लिये गये ऋणों को वापिस करने के लिये बाध्य नहीं है, फिर भी वह इस समस्या को सुलझाने का इच्छुक है। रूस ने प्रस्ताव रखा कि उसको मान्यता देने, उसका आर्थिक पुनर्निर्माण करने तथा विदेशी ऋणों पर समझौता करने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन होना चाहिये। इस पर अप्रेल 1922 में जेनोआ में सम्मेलन आरम्भ हुआ। रूस का प्रतिनिधित्व उसका विदेश मन्त्री चिचेरिन कर रहा था। सम्मेलन में फ्रांस और वेल्जियम ने मांग की कि रूस की सरकार किसी प्रकार की वार्ता करने से पूर्व, युद्ध के पूर्व लिये गये विदेशी ऋण को चुकाना स्वीकार करे। किन्तु रूस का कहना था कि यद्यपि उसे मित्र राष्ट्रों को 13 अरब डालर देना था, लेकिन आर्थिक प्रतिरोध (Blockade) और सैनिक हस्तक्षेप द्वारा रूस को पहुंचाई गयी क्षति के बदले उनसे 60 अरब डालर लेना भी है। दोनों पक्ष अपनी बात पर अड़े रहे, जिससे कोई समझौता नहीं हो सका।

पूंजीवादी देश अभी तक रूस का बहिष्कार कर रहे थे। उधर युद्ध के बाद मित्र राष्ट्रों ने जर्मनी के साथ जो दुर्व्यवहार किया था उससे क्रुद्ध होकर वह रूस के साथ मैत्री स्थापित करना चाहता था। अतः जेनोआ सम्मेलन के एक सप्ताह बाद रूस और जर्मनी के प्रतिनिधि जेनोआ से कुछ ही मील की दूरी पर स्थित रेपोलो

नामक स्थान पर मिले। 16 अप्रेल 1922 को दोनों के बीच रेपोलो की सन्धि हो गयी, जिसके द्वारा जर्मनी ने रूस के ऋणों को रद्द करने की बात स्वीकार करली तथा रूस से व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित कर लिये। अब दूसरे देश भी रूस की मण्डियों की उपेक्षा नहीं कर सकते थे। अतः उन्होंने भी रूस की साम्यवादी सरकार को मान्यता देते हुए उससे आर्थिक संधियां करनी शुरू कर दी। 1 फरवरी 1924 को ब्रिटेन ने, 7 फरवरी को इटली ने, 28 अक्टूबर को फ्रांस ने तथा 21 फरवरी 1925 को जापान ने रूस की सरकार को मान्यता प्रदान कर दी। केवल अमेरिका ने ही 1933 तक रूस की सरकार को मान्यता नहीं दी थी।

21 फरवरी 1924 को लेनिन की मृत्यु हो गयी और उसके बाद बोल्शेविक दल में फूट पड़ गयी। बोल्शेविक दल दो गुटों में विभाजित हो गया—एक गुट का नेता ट्राट्स्की था और दूसरे गुट का नेता स्टालिन था। स्टालिन साम्यवादी क्रान्ति को रूस में ही सुदृढ़ करने का पक्षपाती था, किन्तु ट्राट्स्की विश्व क्रान्ति का समर्थक था। दोनों के मतभेद दिन प्रतिदिन उग्र होते गये और अन्त में स्टालिन की विजय हुई। बोल्शेविक दल ने ट्राट्स्की को देशद्रोही और साम्यवाद का शत्रु ठहराया और उसे देश से निर्वासित कर दिया। ट्राट्स्की 1929 में रूस छोड़कर चला गया तथा शासन की समस्त शक्ति स्टालिन के हाथों में आ गयी। स्टालिन अपने देश में साम्यवाद को सुदृढ़ करने के लिये शान्ति का प्रबल समर्थक था। अतः रूस ने अपने पड़ोसी राज्यों के साथ अनाक्रामक समझौते किये। तुर्की (1925, 1935), जर्मनी (1926), अफगानिस्तान (1926), लिथुआनिया (1926), ईरान (1927), फिनलैण्ड, इस्टोनिया, पोलैण्ड (1931), लैटविया, चेकोस्लोवाकिया (1933) यूगोस्लाविया, इटली (1933) के साथ रूस ने अनाक्रामक समझौते किये। हिटलर के उत्कर्ष से भयभीत होकर रूस ने जर्मनी के कट्टर शत्रु फ्रांस के साथ भी 1932 में तटस्थता की सन्धि करली। इस प्रकार 1934 तक रूस ने पूंजीवादी राज्यों से समझौते करने की नीति अपनायी। किन्तु कॉमिण्टर्न द्वारा अन्य देशों में साम्यवादी क्रान्ति फैलाने के प्रयत्नों के कारण पश्चिमी देश को अविश्वास और सन्देह की दृष्टि से देखते रहे।

1933 तक अमेरिका ने रूस को वैधानिक मान्यता नहीं दी, क्योंकि उसने अमेरिका का 80 करोड़ डालर का ऋण नहीं चुकाया था और रूस कॉमिण्टर्न द्वारा लोकतन्त्रीय सरकरों का उन्मूलन करना चाहता था। किन्तु परिस्थितिवश उसे इस नीति को छोड़ना पड़ा। 1932 में रूस में अमेरिका के माल की बिक्री घट गयी, अतः अमेरिका के व्यापारी अपनी सरकार से रूस के साथ सम्बन्ध बढ़ाने पर बल देते रहे। जापान अमेरिका के लिये एक शक्तिशाली प्रतिद्वन्द्वी बन गया था। जापान रूस का भी शत्रु था, अतः अमेरिका ने रूस से मित्रता करना ही उचित समझा। 17 नवम्बर 1933 को एक सन्धि के द्वारा अमेरिका ने रूस की साम्यवादी सरकार

को क्रान्ति के 16 वर्ष बाद मान्यता प्रदान करदी। दोनों सरकारों ने एक दूसरे की प्रादेशिक अखण्डता की सुरक्षा का तथा विरोधी प्रचार करने वाले दलों का दमन करने का वचन दिया। इस सन्धि के परिणामस्वरूप रूस की साम्यवादी सरकार को विश्व की सभी महाशक्तियों ने मान्यता प्रदान करदी। रूस ने ये सभी समझौते अपनी आत्मरक्षा के लिये तथा साम्यवादी क्रान्ति को रूस में सुदृढ़ करने के लिये किये थे।

3. पश्चिम के साथ सहयोग (1934–1938)—1933 में जर्मनी में हिटलर के उत्कर्ष के साथ ही रूस की विदेश नीति में एक नई क्रान्ति हुई। हिटलर साम्यवाद का कट्टर शत्रु था। उसने जर्मनी में साम्यवादियों को समूल नष्ट कर दिया था। हिटलर की योजना पूर्व की ओर बढ़ने की थी तथा रूस को एशिया में खदेड़ना था। इससे रूस का भयभीत होना स्वाभाविक ही था। अतः रूस ने हिटलर के विरुद्ध सुरक्षा पाने के लिये पश्चिमी राष्ट्रों से सहयोग करने की नीति अपनायी। राष्ट्रसंघ का सदस्य न होते हुए भी रूस ने राष्ट्रसंघ की विविध गतिविधियों में सहयोग देना आरम्भ कर दिया था। इससे पहले रूस राष्ट्रसंघ को 'रूस के विरुद्ध पश्चिमी राष्ट्रों का षड्यंत्र' कहा करता था। इधर फ्रांस को भी हिटलर के प्रसार का भय था। अतः रूस और फ्रांस दोनों नजदीक आने लगे। फ्रान्स राष्ट्रसंघ का प्रभावशाली सदस्य था। अतः फ्रांस के प्रयत्नों से 18 सितम्बर 1934 को रूस राष्ट्रसंघ का सदस्य बना लिया गया और उसे कौंसिल की स्थायी सदस्यता भी प्राप्त हो गयी। उस समय से रूस, राष्ट्रसंघ का सबसे बड़ा समर्थक बन गया। रूसी प्रतिनिधि लिटविनोव राष्ट्रसंघ में बराबर सामूहिक सुरक्षा का समर्थन करता रहा। राष्ट्रसंघ को सफल बनाने के लिये जितना प्रयास रूस ने किया उतना प्रयास किसी दूसरे राष्ट्र ने नहीं किया। 2 मई 1935 को रूस ने फ्रांस से एक सन्धि करली, जिसमें कहा गया कि यदि दोनों राष्ट्रों पर किसी तीसरी शक्ति द्वारा आक्रमण किया जाता है तो वे दोनों मिलकर उसका मुकाबला करेंगे। 16 मई 1935 को चेकोस्लोवाकिया भी इसमें सम्मिलित हो गया। इस प्रकार रूस ने, फ्रांस और चेकोस्लोवाकिया के सहयोग से नाजी आक्रमण के विरुद्ध संघ स्थापित कर लिया।

विश्व क्रान्ति के प्रतिकूल अब रूस ने पश्चिम के सभी उदारवादी, समाजवादी आदि दलों के साथ मिलकर संयुक्त मोर्चा बनाने को कहा। यह रूस की विदेश नीति में सर्वथा नया परिवर्तन था, क्योंकि अब तक ये दल 'पूंजीवाद के पिट्ठू' कहे जाते थे। किन्तु 1934 के बाद वे 'साम्राज्य के विरुद्ध किये जाने वाले अभियान में बहुमूल्य सहयोगी' समझे जाने लगे। 1933 में रूस ने चीन से भी राजनैतिक सम्बन्ध स्थापित किये। इसके पूर्व वह जापान का समर्थन प्राप्त करने के लिये चीन का विरोध करता रहा था, किन्तु जब जापान ने मंचूरिया पर आक्रमण कर दिया और मंगोलिया की तरफ बढ़ने की सोचने लगा, तब रूस की नीति जापान विरोधी हो गयी। 1933 के पूर्व रूस पेरिस के शान्ति समझौते में परिवर्तन चाहता था,

किन्तु हिटलर के उत्थान के बाद वह यथास्थिति बनाये रखने का पक्षपाती हो गया। इसी समय हिटलर ने जापान के साथ 'एण्टीकॉमिण्टर्न पेक्ट' किया (25 नवम्बर 1936) जिसमें दोनों देशों ने विदेशों में कार्य कर रही कॉमिण्टर्न के कार्यों के सम्बन्ध में एक दूसरे को आवश्यक सूचनाएँ देने, कॉमिण्टर्न के एजेन्टों के विरुद्ध सख्त कार्यवाही करने तथा रूस के साथ राजनैतिक सन्धियां न करने का वचन दिया। 5 नवम्बर 1937 को इटली ने भी इस समझौते पर हस्ताक्षर कर दिये और इस प्रकार रोम-बर्लिन-टोकियो धुरी का निर्माण हुआ।

पश्चिमी राष्ट्रों के साथ रूस के सहयोग का उद्देश्य अपनी आत्मरक्षा के लिये सामूहिक सुरक्षा की व्यवस्था को सुदृढ़ बनाना तथा फासिस्ट शक्तियों के आक्रमणों का सफल विरोध करना था, किन्तु तीन अवसरों पर पश्चिमी राष्ट्रों की नीति से स्पष्ट हो गया कि वे संकट की स्थिति में रूस का साथ देने को तैयार नहीं हैं। प्रथम अवसर इटली-अबीसीनिया युद्ध (1934–36) था। मुसोलिनी ने अबीसीनिया पर आक्रमण करके उसे अपने राज्य में मिला लिया। इस समय रूस ने राष्ट्रसंघ के माध्यम से मुसोलिनी के आक्रमण से आदिस अबाबा की रक्षा करने का भरसक प्रयत्न किया किन्तु ब्रिटेन और फ्रांस ने अबीसीनिया और राष्ट्रसंघ की बलि देकर मुसोलिनी की रक्षा की। दूसरा अवसर स्पेन का गृह युद्ध (1936–39) था। स्पेन के फासिस्टवादी फ्रेंको ने स्पेन की जनतन्त्रीय सरकार को उलटने का प्रयास किया। इस अवसर पर हिटलर और मुसोलिनी ने फ्रेंको की सशस्त्र सहायता की, किन्तु फ्रांस ने फ्रेंको के आक्रमणों से स्पेन के गणराज्य की रक्षा करनी चाही तथा इसमें पश्चिम का सहयोग मांगा तो फ्रांस और ब्रिटेन ने इसमें कोई सहयोग नहीं दिया। फलस्वरूप स्पेन के गणराज्य का अन्त हो गया और फ्रेंको की अधिनायकवादी सरकार की स्थापना हुई। तीसरा अवसर म्युनिक समझौता (1938 ई.) था। हिटलर, चेकोस्लोवाकिया के सुडेटनलैण्ड पर अधिकार करना चाहता था। हिटलर ने अपनी कूटनीति द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में तनाव उत्पन्न कर दिया जिससे ऐसा प्रतीत होने लगा कि युद्ध होने ही वाला है। ब्रिटेन और फ्रांस हिटलर के प्रति तुष्टीकरण की नीति अपना रहे थे। अतः इस समस्या पर विचार करने के लिये 28 सितम्बर 1938 को म्युनिक में अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ। इस अवसर पर हिटलर के विरोध के कारण रूस को इस सम्मेलन में निमन्त्रित तक नहीं किया गया। म्युनिक समझौता ब्रिटेन और फ्रांस की हिटलर के प्रति तुष्टीकरण की नीति की पराकाष्ठा थी। म्युनिक समझौते के बाद भी 28 मार्च 1939 को रूस ने हिटलर के आक्रमण को रोकने के लिए छः राष्ट्रों का सम्मेलन बुलाने का प्रस्ताव रखा, किन्तु ब्रिटेन ने उसे अस्वीकार कर दिया। इन घटनाओं से रूस को यह विश्वास हो गया कि पश्चिमी राष्ट्र जापान, जर्मनी और इटली के आक्रमणों को रोकना नहीं चाहते बल्कि उन्हें शक्तिशाली बनाकर रूस पर आक्रमण करवाना

चाहते हैं। वस्तुतः पश्चिमी राष्ट्रों को साम्यवादी रूस पर विश्वास ही नहीं था, वे तो जर्मनी, जापान और इटली के आक्रमणों को रोकने की अपेक्षा रूसी साम्यवाद को रोकने में अधिक दिलचस्पी ले रहे थे।

(4) **संकटपूर्ण पृथक्कता (1938-39)**—पश्चिमी राष्ट्रों को साम्यवादी रूस पर विश्वास नहीं था और हिटलर एवं मुसोलिनी भी साम्यवाद के विरुद्ध विषवमन कर रहे थे। यह स्थिति रूस के लिये संकटपूर्ण पृथक्कता की थी। म्युनिक समझौता, रूस की विदेश नीति की विभाजन रेखा कहा जा सकता है। इसके पहले रूस की नीति पश्चिम के साथ सहयोग की थी किन्तु अब उसकी नीति जर्मनी के साथ सहयोग और तटस्थता की थी, जो अधिक खतरनाक थी। 3 मई 1939 को पश्चिमी राष्ट्रों के पक्षपाती लिटवीनोव को विदेश मन्त्री पद से हटाना, पश्चिम के साथ सहयोग की नीति समाप्त करने की सूचना थी। नये विदेशमन्त्री मोलोतोव ने जर्मनी के साथ मैत्री बढ़ाई, जिसका उद्देश्य भावी नाजी आक्रमण से रूस को सुरक्षित रखना था। 23 अगस्त को जर्मन परराष्ट्र मन्त्री रिबनट्रोप मास्को पहुंचा। रिबनट्रोप और मोलोतोव बहुत समय तक गुप्त वार्ताएं करते रहे। उसी दिन दोनों ने एक अनाक्रमक समझौते पर हस्ताक्षर किये। पश्चिमी देशों का कहना था कि यह समझौता पश्चिमी लोकतन्त्रों के साथ उसके मित्र का विश्वासघात और रूसी कूट-नीति के दुरंगेपन का परिचायक था। इसके विपरीत रूस का कहना था कि सामूहिक सुरक्षा के सभी प्रयास निष्फल होने पर उसे आत्मरक्षा के लिए यह समझौता करना पड़ा। रूस ने हिटलर के आक्रमण रोकने के लिये कई प्रस्ताव रखे थे, किन्तु तुष्टीकरण की नीति के अन्धभक्त ब्रिटेन और फ्रांस ने उन पर कोई ध्यान नहीं दिया। 31 मार्च 1939 को ब्रिटेन ने पोलैण्ड की रक्षा की गारण्टी दी, किन्तु रूस से कोई परामर्श नहीं किया। 17 अप्रेल 1939 को रूस ने ब्रिटेन और फ्रांस के साथ मिलकर एक गुट बनाने का प्रस्ताव रखा किन्तु पश्चिम ने इसका संतोषजनक उत्तर नहीं दिया। अतः रूस ने जर्मनी से सन्धि वार्ता चलाई। रूस ने अपनी सुरक्षा को दृष्टि में रखते हुए जर्मनी से अनाक्रमक समझौता किया। इसे रूस की दुरंगी नीति नहीं कहा जा सकता। क्योंकि जब पश्चिम ने रूस के किसी प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया तभी उसने जर्मनी से समझौता किया था। इस समझौते से उसे कई लाभ हुए। वह पश्चिम और जर्मनी के युद्ध के समय तटस्थ रहा और जब जून 1941 में जर्मनी ने रूस पर आक्रमण कर दिया तो उसे पश्चिम का सहयोग प्राप्त हो गया। इस समझौते ने रूस के विरुद्ध किये गये एण्टी-कॉमिण्टर्न पैक्ट को निष्फल बनाया और जापान को युद्ध में रूस के विरुद्ध बहुत समय तक तटस्थ रखा।

(5) **जर्मनी के साथ सहयोग और तटस्थता (1939-1941)**—1 सितम्बर 1939 को जर्मनी ने पोलैण्ड पर आक्रमण कर दिया और इसके साथ ही द्वितीय विश्वयुद्ध छिड़ गया। इस समय रूस की नीति पूर्ण तटस्थता रखते हुए जर्मनी के

विरुद्ध अपनी सुरक्षा व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने की थी। इस दृष्टि से उसने पूर्वी पोलैण्ड पर, बाल्टिक राज्यों पर तथा फिनलैण्ड और रूमानिया के कुछ प्रदेशों पर अधिकार कर लिया। रूस के इस कार्य के सम्बन्ध में पश्चिम में कहा गया कि उसने पोलैण्ड के साथ विश्वासघात करते हुए उसकी पीठ में छुरा घोंपा है, फिनलैण्ड जैसे निरीह देश पर आक्रमण किया है और बाल्टिक राज्यों में जारशाही का अनुसरण करते हुए साम्राज्यवादी नीति का परिचय दिया है। किन्तु रूसी विदेश नीति की यह आलोचना उचित प्रतीत नहीं होती। पोलैण्ड ने रूसी क्रान्ति का लाभ उठाते हुए 1921 में ये प्रदेश जबर्दस्ती रूस से छीन लिये थे, अब यदि रूस ने उन्हें बल-पूर्वक वापिस ले लिया तो उसमें रूस को दोष देना व्यर्थ है। आत्मरक्षा की दृष्टि से रूस का यह कदम उचित था, क्योंकि अब भावी रूस-जर्मन संघर्ष में जर्मनी को पहले इन प्रदेशों को जीतना आवश्यक हो गया। 1940 में जर्मनी द्वारा नार्वे, डेनमार्क, हालैण्ड, बेल्जियम और फ्रांस की विजयों से भयभीत हो गया और उसने अपनी स्थिति सुदृढ़ करने के लिये लिथुआनिया, लैटविया और इस्टोनिया पर अधिकार कर लिया। 28 जून 1940 को उसने बेसरेबिया और बुकोविना पर भी अधिकार कर लिया। इससे स्पष्ट है कि इस समय रूस की विदेश नीति तटस्थ रहते हुए भावी नाजी आक्रमण से अपने को सुरक्षित बनाना थी। रूस की बढ़ती हुई शक्ति से हिटलर भयभीत हो गया और उसने ब्रिटेन को जीतने से पहले रूस को जीतने का निश्चय किया। हिटलर का अनुमान था कि साम्यवादी रूस के विरुद्ध युद्ध छेड़ने से वह ब्रिटेन और अमेरिका के साम्यवादी विरोधी तत्वों को प्रसन्न करेगा, उनमें फूट पैदा करेगा तथा उनके नाजीवाद को नष्ट करने के निश्चय को निर्बल बनायेगा। अतः 22 जून 1941 को नाजी सेनाओं ने सोवियत रूस पर आक्रमण कर दिया।

6. पश्चिमी राष्ट्रों के साथ सहयोग (1941–1945)—हिटलर के इस अप्रत्याशित आक्रमण ने रूस को पश्चिमी देशों का मित्र बना दिया। चर्चिल और रुजवेल्ट ने रूस को पूरी सहायता का आश्वासन दिया। रूस ने अपने पुराने कट्टर शत्रु ब्रिटेन और अमेरिका से साथ घनिष्ठ मैत्री स्थापित करके हिटलर को हराना शुरू कर दिया। रूस ने इन दोनों द्वारा प्रस्तावित अटलाण्टिक चार्टर पर तथा अन्य युद्ध घोषणाओं पर हस्ताक्षर किये। पश्चिम को प्रसन्न करने के लिये मई 1943 में रूस ने, पश्चिम के साथ झगड़े की जड़, कॉमिण्टर्न को भंग करने की घोषणा करदी। उसने ब्रिटेन (12 जुलाई 1941), फ्रान्स (1944 ई.) तथा अमेरिका (11 जून 1942) के साथ सन्धियां कीं। इस घनिष्ठ सहयोग के बावजूद युद्ध के समय ही कई कारणों से दोनों पक्षों के बीच मतभेद उत्पन्न हो गये। पश्चिमी राष्ट्र यह समझते थे कि रूस को भारी सैनिक सहायता देने पर भी वह पश्चिम के साथ मिल-कर जर्मनी पर संयुक्त आक्रमण की योजनाएं नहीं बनाता, उन्हें अपने सैनिक रहस्य

नहीं बताता, अपने सैनिक अड्डों का उपयोग नहीं करने देता और प्राग एवं बर्लिन जैसे महत्वपूर्ण स्थान अपने अधिकार में रखना चाहता है। किन्तु रूस का कहना था कि मित्र राष्ट्रों द्वारा दी गयी सैनिक सहायता; रूस की युद्ध सामग्री का केवल चार प्रतिशत है। वस्तुतः मित्रराष्ट्रों की आन्तरिक इच्छा यह थी कि रूस, जर्मनी के साथ संघर्ष में बिल्कुल नष्ट हो जाए। अतः उन्होंने सहायता विलम्ब से और अल्पमात्रा में केवल दिखाने के लिये दी। हिटलर के विरुद्ध पश्चिम में दूसरा मोर्चा खोलने में जान बूझकर देर की गई। ब्रिटिश सरकार अपनी सेनाओं में सोवियत विरोधी साहित्य का प्रचार करती रही। इससे दोनों पक्षों में कटुता बढ़ती रही। जापान में अणुबम के विस्फोट ने रूस को पश्चिम के प्रति अधिक सशंकित कर दिया। युद्ध काल की समाप्ति तक ये मतभेद दबे रहे। जर्मनी के विरुद्ध रूस, मित्रराष्ट्रों से सहयोग करता रहा, किन्तु युद्ध की समाप्ति पर ये मतभेद उग्ररूप में प्रकट हो गये और उन्होंने शीतयुद्ध को जन्म दिया।

रूस की विदेश नीति का मूल्यांकन—रूस की विदेश नीति अनेक रूपों वाली रही है। कभी वह पश्चिम की विरोधी, कभी समर्थक और कभी हिटलर की शत्रु और कभी उसकी मित्र रही। रूस के विरोधियों का कहना है कि रूस की विदेश नीति अवसरवादी तथा जारशाही की साम्राज्यवादी नीति का विकास मात्र थी। जिस प्रकार जार कालीन रूस पश्चिम का विरोधी और साम्राज्य का विस्तारक था, वर्तमान सोवियत रूस भी वैसा ही है। किन्तु इन आलोचनाओं में सत्यता नहीं है। साम्यवादी शासन, पूंजीवाद और साम्राज्यवाद का उन्मूलन करने वाला होता है। लेनिन ने साम्राज्यवाद विरोधी नीति के कारण ही बाल्टिक राज्यों तथा पूर्वी पोलैण्ड के स्वतन्त्र होने में कोई बाधा नहीं डाली। किन्तु बाद में भौगोलिक परिस्थितियों के कारण ही रूस ने इन प्रदेशों पर अधिकार किया था। जर्मनी में हिटलर के उत्थान ने उसकी सुरक्षा को खतरे में डाल दिया था। फिनलैण्ड के टापुओं और बन्दरगाहों से हिटलर लेनिनग्राद को नष्ट कर सकता था, बाल्टिक राज्यों और पोलैण्ड के अड्डों से रूस पर चढ़ाई करना आसान था, अतः रूस के लिये इन प्रदेशों पर अधिकार करना आवश्यक था। जारशाही का मुख्य ध्येय रूस की शक्ति में वृद्धि करने के लिए साम्राज्य का विस्तार करना तथा रूसी माल को बाहर भेजने के लिए बाल्टिक सागर पर बन्दरगाह प्राप्त करना था। किन्तु साम्यवादी रूस के लिये यह आत्मरक्षा का प्रश्न था। अतः साम्यवादी रूस के विस्तार की तुलना जारशाही के साम्राज्य-वादी विस्तार से नहीं की जा सकती।

रूस के पक्षपातियों का कहना है कि उसकी नीति शान्तिपूर्ण सह अस्तित्व में विश्वास रखने वाली तथा साम्यवादी सिद्धांतों का प्रसार करने वाली थी। यह पक्ष भी पूर्ण रूप से सत्य नहीं है। साम्यवाद का प्रमुख सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीयता, विश्वक्रांति और पूंजीवादी शासनों का उन्मूलन है, किन्तु लेनिन की मृत्यु के बाद

स्टालिन ने विश्वक्रांति के विचार का परित्याग कर दिया था। वस्तुतः रूस की विदेश नीति का उद्देश्य अपने हितों की सुरक्षा करना था। यदि उसने अगस्त 1939 में अपने प्रबल शत्रु जर्मनी से; 13 अप्रैल 1941 को जापान से और 12 जुलाई 1941 को ब्रिटेन से परस्पर विरोधी सन्धियां की तो उसका प्रधान लक्ष्य रूसी हितों की सुरक्षा था, न कि विश्व में साम्यवाद का प्रसार करना। जब तक जर्मनी निर्बल रहा, उसे पश्चिमी देशों से मैत्री करने की कोई आवश्यकता नहीं थी, किन्तु हिटलर के उत्थान से जब रूस की स्थिति संकटमय दिखाई देने लगी तो उसने पश्चिमी राष्ट्रों से मैत्री बढ़ाने में संकोच नहीं किया। जब उसे यह विश्वास हो गया कि पश्चिमी राष्ट्र हिटलर के आक्रमणों के विरुद्ध उसकी कोई सहायता नहीं करेंगे तो उसने जर्मनी के साथ मैत्री करना ही उचित समझा। इससे स्पष्ट है कि वह अपनी सुरक्षा को दृष्टि में रखते हुए अपनी विदेश नीति का संचालन करता रहा। संस्कृत की एक कहावत है 'वारांगनेव नृपनीतिनेकरूपा' अर्थात् राजनीति वेश्या की तरह अनेक रूप बदलने वाली होती है। ठीक इसी प्रकार भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में रूस की विदेश नीति के भी अनेक रूप रहे हैं। किन्तु उसका मूल उद्देश्य रूस के हितों की सुरक्षा करना था।

अध्याय 21

इटली में फासीवाद

(FASCISM)

28 जुलाई 1914 को विश्व रंगमंच पर विध्वंशकारी नाटक आरम्भ हुआ। इस युद्ध में इटली अपने साथियों की ओर से युद्ध में शामिल नहीं हुआ। किन्तु 1915 में एक गुप्त सन्धि हुई जिसमें मित्रराष्ट्रों ने इटली को ट्रिस्टे, टाइरोल और अफ्रीका के कुछ उपनिवेश देने का वादा किया। इस प्रलोभन में आकर 23 मई 1915 को इटली मित्रराष्ट्रों की ओर से युद्ध में शामिल हो गया। युद्ध में उसे भारी हानि उठानी पड़ी, क्योंकि स्वयं इटली की तो औद्योगिक क्षमता थी नहीं, इंगलैण्ड और फ्रांस से माल आता था। लीबिया युद्ध से वह अभी सम्भल नहीं पाया था कि विश्वयुद्ध में कूद पड़ा। इटली युद्ध के लिए तैयार नहीं था। उसने अपनी सुरक्षा व्यवस्था, इंगलैण्ड और फ्रांस के खतरे से बचने के लिए की थी, क्योंकि जर्मनी और आस्ट्रिया तो उसके मित्र थे। अतः वह आस्ट्रिया के आक्रमण का मुकाबला न कर सका। इटली के सैनिक अधिकारी भी अयोग्य थे, जिससे इटली की निरन्तर पराजय होती गई। अक्टूबर 1917 में केप्रिटो के स्थान पर इटली बुरी तरह पराजित हुआ और उसे बहुत ही अपमानित होना पड़ा। इस युद्ध में इटली के छः लाख सैनिक मारे गये, दस लाख घायल हुये, 12 अरब डालर खर्च हुए तथा 3 अरब डालर की सम्पत्ति नष्ट हो गयी। इटली की जनता अत्यन्त ही क्रुद्ध हो उठी। अतः युद्ध की समाप्ति पर इटली के सैनिक जब स्वदेश लौटे तो उनका वहां कोई स्वागत नहीं किया गया।

इटली और शान्ति समझौता—युद्ध की समाप्ति पर पेरिस में शान्ति सम्मेलन आरम्भ हुआ। यहां इटली ने अपने साथ किये गये धोखे को अनुभव किया। लन्दन की गुप्त सन्धि में दिये गये वादे पूरे नहीं किये गये। अमेरिका के राष्ट्रपति विल्सन का आदर्शवाद, सर्विया की राष्ट्रवादी आकांक्षाएं और भूमध्यसागर में इटली के प्रभुत्व को स्वीकार करने में ब्रिटेन और फ्रांस की अनिच्छा के कारण इटली का प्रतिनिधिमंडल पूर्णतया निराश होकर पेरिस से लौटा। उसकी घोर निराशा फ्यूम से सम्बन्धित थी। उसकी निराशा उपनिवेशों के सम्बन्ध में थी। अफ्रीका में जहां

उसे एक साम्राज्य बनाने की आशा थी, ब्रिटेन, फ्रांस और बेल्जियम ने आपस में राष्ट्रसंघ की मेण्डेटों के रूप में बांट लिया। सेवें की सन्धि के अन्तर्गत स्मर्ना, जिसके लिये इटली ललचा रहा था, यूनान को दे दिया गया। 1912 में उसके अधिकार में चले आ रहे डार्डेक्नीज द्वीप भी यूनान को प्रदान करने के लिए सहमत होना पड़ा। अतः इन शान्ति सम्मेलन से इटली को कोई लाभ नहीं हुआ। इसके अतिरिक्त इटली को अल्बानिया से सेना हटाकर उसकी स्वतन्त्रता स्वीकार करनी पड़ी। इटली के देशभक्तों ने इसे इतिहास का काला पृष्ठ कह कर विरोध किया। अतः पेरिस के शान्ति समझौते से इटली सन्तुष्ट नहीं था। उसे दुख तो इस बात का था कि युद्ध में इतनी क्षति उठाने पर भी उसे कोई लाभ नहीं हो सका, जिसकी उसने आशा की थी।

आर्थिक संकट—इटली शान्ति सम्मेलन से तो निराश लौटा ही था कि उसे युद्ध के कुप्रभाव दृष्टिगोचर होने लगे। युद्ध का इटली पर बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ा। युद्ध के बाद अनेक समस्याएं उठ खड़ी हुईं। प्रथम बेरोजगारी की समस्या थी। युद्ध की समाप्ति पर सैनिकों की संख्या कम कर दी गई, जिससे सैंकड़ों लोग बेकार हो गये। इधर अमेरिका ने 'इमीग्रेशन एक्ट' (Imigration Act) पास किया, जिससे इटली के लोगों का अमेरीका में प्रवेश रोक दिया गया। अतः बेरोजगारी की समस्या और भी अधिक जटिल हो गई। युद्ध के बाद एक भयंकर आर्थिक संकट आया। मुद्रा का मूल्य 70 प्रतिशत गिर गया। बजट में घाटे की व्यवस्था रहने लगी, उत्पादन कम हो गया, जिससे लोगों को भुखमरी व मूल्य वृद्धि का सामना करना पड़ा। बजट में घाटे की व्यवस्था के परिणामस्वरूप अधिक कर लगाये गये, किन्तु जनता उसे अदा नहीं कर सकी, जिससे राष्ट्रीय घाटा बढ़ने लगा। कीमतें बढ़ने लगी। यद्यपि वेतन में कुछ बढ़ोतरी की गयी, किन्तु वह कीमतों के अनुपात में नहीं की गई। इस स्थिति में साम्यवादियों का प्रभाव बढ़ने लगा। साम्यवादियों के प्रोत्साहन से जगह-जगह हड़तालें होने लगी। इसके अतिरिक्त साम्यवादियों ने फैक्ट्रियों और औद्योगिक संस्थानों पर अधिकार करना आरम्भ कर दिया।

राजनैतिक संकट—इटली की राजनैतिक स्थिति भी अच्छी नहीं थी। इटली कभी भी प्रजातान्त्रिक राज्य नहीं रहा था और न ही वहां ऐसी कोई प्रथा थी। केवल 1870 में वह एक नया राष्ट्र बना था तथा उसने इंगलैण्ड की प्रजातान्त्रिक प्रणाली को अपनाया था। किन्तु सदियों से गुलाम रहने वाला इटली ऐसी प्रजातान्त्रिक प्रणाली को सम्हाल नहीं सका। यहां पर भी बहुपार्टी प्रथा थी। एक राजनैतिक दल दूसरे राजनैतिक दल को तथा एक नेता दूसरे नेता को समाप्त करने पर तुले हुये थे। किसी दल को संसद में बहुमत प्राप्त नहीं होता था, जिससे मिली जुली सरकारें बनती थीं, जो स्थाई नहीं थी। 23 जून 1919 से 19 अक्टूबर 1922 तक इटली में छः सरकारें बनी। सभी मंत्रिमंडल धोखाधड़ी से काम चला रहे थे। राष्ट्र पर इसका बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ा। सरकार नौकरशाही के नियन्त्रण में थी, जो पूर्णतः भ्रष्ट थी। पूंजीपतियों का सरकार पर पूर्ण प्रभाव था। अतः मध्यम एवं

गरीब वर्ग की जनता निराश और असन्तुष्ट थी। सरकार इतनी कमजोर व शक्तिहीन थी कि, डी-एनुन्जो (D-Annunzio), जो कि एक कवि था, कुछ स्वयं सेवकों को ले कर फ्यूम पहुंच गया और उस पर अधिकार कर लिया। यूगोस्लाविया ने इसका घोर विरोध किया, किन्तु इटली की सरकार अपने ही आदमियों को वहां से हटाने में असमर्थ रही। नवम्बर 1920 में इटली को यूगोस्लाविया के साथ रेपेलो की सन्धि करनी पड़ी, जिसमें इटला को अपने सभी दावे समाप्त करने पड़े। उसको यह भी स्वीकार करना पड़ा कि फ्यूम का स्वतन्त्र नगर घोषित कर दिया जाय। इटली के राष्ट्रवादियों ने इस समझौते के कारण सरकार की दुर्बलता की भर्त्सना की। रैपेलों की सन्धि इटली का राष्ट्रीय अपमान था, अतः लोग सरकार का विरोध करने लगे। इटली में लूटपाट होने लगी, कानून तोड़ने वालों के विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं की जा सकी। किसानों ने भूमि कर देना बन्द कर दिया। कारखानों पर मजदूर अपना प्रभाव जमा रहे थे। अतः वर्साय की सन्धि के बाद इटली अत्यन्त ही कष्टप्रद स्थिति से गुजर रहा था।

ऐसी कष्टप्रद स्थिति को समाप्त करने के लिए तथा इटली को पुनः प्रतिष्ठा प्रदान करने के लिये इटली में फासिज्म (Fascism) अथवा फासीवाद का उत्कर्ष हुआ, जिसका नेता मुसोलिनी था। फासीवाद वस्तुतः इटली में किसानों और मजदूरों की साम्यवादी क्रान्ति को विफल बनाने के लिए जमींदारों और पूंजीपतियों द्वारा समर्पित और सहायता पाने वाला आन्दोलन था। इटली में फासीवाद के उदय एवं उत्कर्ष के निम्नलिखित कारण थे—

(1) **जनता का असन्तोष**—पेरिस के शान्ति सम्मेलन के बाद इटली ने स्वयं को असन्तुष्ट राज्यों की श्रेणी में पाया। लन्दन की गुप्त सन्धि में जो प्रदेश उसे देने को कहा गया था पेरिस सम्मेलन में उनमें से अधिकांश उसे प्रदान नहीं किये गये। इटली को इस बात से विशेष दुख हुआ कि फ्रांस को 60 लाख आबादी वाली 2 लाख 53 हजार वर्ग मील भूमि मिली और ब्रिटेन को 90 लाख से अधिक आबादी वाली 9 लाख 90 हजार वर्ग मील भूमि मिली जबकि उनके साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर जर्मनी के विरुद्ध युद्ध करने वाले इटली को केवल 15 लाख 72 हजार आबादी वाली 8 हजार 9 सौ वर्ग मील भूमि ही प्राप्त हुई। फ्यूम के न मिलने से तो जनता में अत्यधिक असंतोष था। इसी असंतोष के कारण डी-एनुन्जो की वीरता से इटलीवासी बहुत प्रभावित हुये। जनता ने इटली की कमजोर स्थिति के लिये सरकार को उत्तरदायी ठहराया। फासिस्ट दल ने जनता में यह प्रचार करना आरम्भ कर दिया कि सरकार की अयोग्यता के कारण हमें फ्यूम नगर छोड़ना पड़ा है। फासिस्ट दल के इस प्रचार से युद्ध में भाग लेने वाले सैनिक भी फासिस्ट दल में सम्मिलित हो गये। इससे फासिस्ट दल की शक्ति में वृद्धि हो गई तथा जनतन्त्रीय सरकार बदनाम हो गई। इस प्रकार संसदीय शासन के स्थान पर शक्तिशाली तानाशाही शासन स्थापित होने का मार्ग प्रशस्त हो गया।

(2) **आर्थिक असंतोष**—विश्वयुद्ध के कारण इटली को अपार जन-धन की हानि उठानी पड़ी थी। उसने अपनी सेना तथा युद्ध सामग्री पर बहुत व्यय किया था। इससे उसका राष्ट्रीय ऋण बहुत बढ़ गया तथा देश के उद्योग एवं व्यापार अव्यवस्थित हो गये। मुद्रा का मूल्य गिरने लगा और बेरोजगारों की फौज खड़ी हो गयी। बाजारों की कमी के कारण विदेशी व्यापार भी बहुत कम हो गया था। इटली की जनसंख्या में वृद्धि हो रही थी, किन्तु विदेशी राज्यों के प्रतिबन्धों के कारण वे दूसरे राज्यों में जाकर बस नहीं सकते थे। इटली ने ये सभी कठिनाइयां इसलिए मोल ली थीं कि युद्ध के पश्चात उसे लाभ भी होगा। किन्तु जब युद्ध के बाद इटली को कुछ भी प्राप्त नहीं हुआ तो ये आर्थिक कठिनाइयां जनता को बुरी तरह अखरने लगीं। आर्थिक असन्तोष ने सम्पूर्ण देश में अशान्ति और अव्यवस्था फैलादी। इटलीवासी अपनी इन कठिनाइयों का कारण जनतन्त्रीय सरकार को मानते थे और अब वे एक शक्तिशाली शासन की कामना करने लगे।

(3) **राष्ट्रीयता पर आघात**—19 वीं शताब्दी में यूरोपीय देश अपने आर्थिक हितों की पूर्ति के लिये साम्राज्य का विस्तार कर रहे थे। इटली भी ट्यूनिस पर अधिकार करना चाहता था, किन्तु 1881 में जर्मनी के प्रोत्साहन पर फ्रांस ने उस पर अधिकार कर लिया। तत्पश्चात् इटली ने अबिसीनिया पर अधिकार करने के लिए उस पर आक्रमण किया, किन्तु आडोवा के युद्ध में इटली को अपमानजनक पराजय का सामना करना पड़ा। इस पराजय से इटली के राष्ट्रीय सम्मान को बड़ा आघात पहुंचा। अपने इस राष्ट्रीय अपमान के लिये इटली के लोग जनतन्त्रीय सरकार को दोषी मानते थे। अतः इटली के लोग जनतन्त्रीय सरकार के स्थान पर एक ऐसी सरकार की स्थापना चाहते थे जो इटलीवासियों की राष्ट्रीय आकांक्षाओं की पूर्ति कर सके तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में इटली की प्रतिष्ठा को पुनः स्थापित कर सके। फासिस्ट दल इटलीवासियों की इन आकांक्षाओं की पूर्ति करने की घोषणा कर रहा था। अतः फासिस्ट दल को जनता का समर्थन मिलना स्वाभाविक ही था।

(4) **हीगल के सिद्धान्तों का प्रचार**—हीगल का जन्म जर्मनी में हुआ था तथा वह बहुत ही उग्र विचारों वाला व्यक्ति था। वह राज्य को ईश्वर का रूप मानता था, जो कभी गलती नहीं कर सकता था। हीगल के अनुसार नागरिक और राज्यों के अधिकारों में कभी संघर्ष नहीं हो सकता, क्योंकि नागरिकों के वे ही अधिकार हैं जो राज्य प्रदान करता है। नागरिक राज्य के आदर्शों का पालन करके ही उन्नति कर सकता है। हीगल के इन सिद्धान्तों का जेण्टिल तथा प्रोजोलीन नामक दो विद्वान इटली में खूब प्रचार कर रहे थे। हीगल के सिद्धान्तों के प्रचार से इस मत की प्रतिष्ठा हुई कि राज्य में व्यक्ति का महत्व कुछ भी नहीं है, सब कुछ राज्य के लिये है। हीगल के सिद्धान्तों में और फासिस्ट दल के सिद्धान्तों में काफी समानता थी। अतः फासिस्ट दल को बड़ा प्रोत्साहन मिला।

(5) साम्यवाद का प्रभाव—इटली में असन्तोष और निराशा का वातावरण छाया हुआ था। ऐसे असन्तोषपूर्ण वातावरण में मार्क्सवाद और संघवाद के उदय से किसानों तथा मजदूरों में उग्र राष्ट्रीयता की भावना का प्रादुर्भाव हुआ और इटली में साम्यवाद जोर पकड़ने लगा। जगह-जगह हड़तालें और तोड़-फोड़ की घटनाएं होने लगीं। इटली के साम्यवादी, रूस की तरह इटली में भी क्रांति करा कर किसानों और मजदूरों का शासन स्थापित करना चाहते थे। देश में कई समाजवादी दल स्थापित हो गये। किन्तु जनता में तात्कालिक सामाजवादी सरकार से प्रबल असन्तोष था। दुकानदार सरकार से इसलिये नाराज थे कि समाजवादी सरकार मूल्य निश्चित नहीं कर रही थी और कर बढ़ा रही थी। जमींदारों को कृषक संघों से तथा भूमि के वितरण से अनेक आशंकाएं थी। मिल मालिक मजदूरों की हड़तालों से तथा मजदूरों की बढ़ती हुई शक्ति से भयभीत थे। पूंजीपति सरकार से इसलिये नाराज थे कि वे उनकी वैयक्तिक सम्पत्ति की रक्षा करने में असमर्थ थी तथा साम्यवाद के बढ़ते हुए प्रभाव से भयभीत थे। फासिस्ट दल उस समय जनता को अन्धकार में आशा की किरण तथा ऐसा साधन प्रतीत होता था जो उस समय की अराजकता का अन्त कर सकता था और साम्यवाद के प्रभाव को समाप्त करके एक सुदृढ़ शासन की स्थापना कर सकता था। फासिस्ट दल साम्यवाद का कट्टर विरोधी होने के कारण उसको जमींदारों और पूंजीपतियों ने मुक्त हस्त से आर्थिक सहायता दी। इस प्रकार प्रत्येक वर्ग के लोग फासिस्ट दल में सम्मिलित होने लगे।

(6) राजनैतिक दलों की आपसी फूट—इटली में अनेक राजनैतिक दल थे। अनुपातिक निर्वाचन प्रणाली के कारण प्रायः प्रत्येक दल के प्रतिनिधि लोक सभा में पहुंच जाते थे, किन्तु किसी भी दल को इतना बहुमत प्राप्त नहीं होता था कि वे स्वतन्त्र रूप से अपना मन्त्रिमण्डल बना सके। अतः मिलेजुले दलों का मन्त्रिमण्डल बनाया जाता था। मन्त्रिमण्डल के सदस्य देश की समस्याओं के सम्बन्ध में विचार न करके केवल जोड़ तोड़ की राजनीति अपना कर किसी तरह सत्ता अपने हाथों में रखने का प्रयास किया करते थे। सत्ता हथियाने के प्रयासों में वे आपस में लड़ा करते थे। इन राजनैतिक दलों की पारस्परिक फूट के कारण वे संयुक्त रूप से उग्रवादियों का विरोध नहीं कर सकते थे।

(7) सरकार की अकर्मण्यता—एक ओर इटली में इस प्रकार की अराजकता फैल रही थी और दूसरी ओर सरकार सर्वथा निष्क्रिय होकर बैठी थी। जनता की सामूहिक निर्धनता के कारण समाजवादी दल की बहुत ही उन्नति हुई। 1919 के निर्वाचन में इसको चेम्बर ऑफ डेपूटीज में एक तिहाई स्थान प्राप्त हुए। उन्होंने गांव-गांव में अपनी सभाएं स्थापित करली। उन्होंने किसानों और मजदूरों को जमींदारों से जमीन छीन कर उसको परस्पर छोटे-छोटे टुकड़ों में बांटने के लिये प्रोत्साहित किया। 1920 तक मजदूरों ने 100 कारखानों पर अधिकार कर लिया

श्रौर उन्हें वे स्वयं चलाने लगे। इस प्रकात समाजवादियों का प्रभाव वहुत श्रधिक वढ़ गया था। फलस्वरूप 1921 में जियालिटी ने प्रधान मन्त्री पद से त्याग पत्र दे दिया। इसके वाद वनने वाले मन्त्रिमण्डलों में साम्यवादियों तथा फासिस्टवादियों का संघर्ष वहुत वढ़ गया। सरकार ने इस वढ़ते हुए संघर्ष को रोकने का कोई प्रयास नहीं किया तथा इससे संवन्धित श्रपराधियों को दण्डित करने का प्रयास नहीं किया। इससे फासिस्ट दल को शक्ति सम्पन्न होने का श्रवसर मिल गया। जियालिटी का श्रनुमान था कि समाजवादी श्रौर फासिस्टवादी श्रापस में संघर्ष करके नष्ट हो जायेंगे तथा उसे पुनः सत्ता प्राप्त करने का श्रवसर मिल जायेगा। किन्तु जियालिटो का श्रनुमान गलत सिद्ध हुश्रा। मुसोलिनी के कुशल नेतृत्व में फासिस्टवादियों ने समाजवादियों पर विजय प्राप्त करली श्रौर श्रन्त में मुसोलिनी ने शासन की समस्त सत्ता श्रपने हाथ में ले ली। यदि इस समय शासन सत्ता किसी योग्य नेता के हाथ में होती तो परिस्थिति पर नियन्त्रण किया जा सकता था। किन्तु सरकार ने इन परिस्थितियों के प्रति उदासीनता प्रदर्शित की, जिससे इटली में जनतन्त्र का श्रन्त हो गया।

इन परिस्थितियों में फासिस्ट दल उत्तरोत्तर प्रगति करता गया। फासिस्ट दल का जन्मदाता मुसोलिनी था। देश के सभी वर्गों ने श्रपनी परम्परागत संस्थाश्रों की रक्षा करने के लिये, शक्तिशाली सरकार की स्थापना के लिये तथा देश को विनाश से वचाने के लिये एक संगठन स्थापित किया, जिसके सदस्य फेसियो (Fascio) कहलाते थे। श्रारम्भ में यह दल शक्तिशाली नहीं था, किन्तु धीरे-धीरे देश की परिस्थितियों ने उसे प्रोत्साहित किया। भाग्यवश उसे मुसोलिनी जैसा एक कुशल नेता मिल गया। फलस्वरूप इटली में फासीवाद का जन्म हुश्रा, जिसने इटली के शासन का स्वरूप ही वदल दिया।

मुसोलिनी का उदय—मुसोलिनी का जन्म 1883 में रोमानिया नामक गांव में एक लोहार परिवार में हुश्रा था। उसका पूरा नाम वेनिटो मुसोलिनी था। वह वचपन से ही श्रपने पिता के उग्र विचारों से वहुत श्रधिक प्रभावित रहा। वह शिक्षा प्राप्त कर एक छोटी सी पाठशाला में श्रध्यापक हो गया। उसने श्रपने जीवन निर्वाह के लिये श्रनेक कार्य किये। उसने सीमेंट के वोरे ढोने, लोहे की छड़ों को मोड़ने तथा खेतों में फावड़े से पत्थर हटाने का कार्य किया। तत्पश्चात वह इटली में पत्रकारिता का कार्य करने लगा। इटली सरकार ने उसकी गतिविधियां देखकर उसके पीछे गुप्तचर लगा दिये। श्रतः मुसोलिनी वहां से स्विट्जरलैण्ड चला गया। वहां उसने मजदूर संघों की स्थापना के लिये वहुत कार्य किया। वहां के समाजवादी समाचार पत्रों में उसने क्रान्तिकारी लेख लिखने श्रारम्भ कर दिये। उसके उग्र विचारों से स्विट्जरलैण्ड की सरकार घवरा गई श्रौर उसे स्विट्जरलैण्ड से निकाल दिया गया। इसके वाद वह पुनः इटली लौट श्राया। 1911 में ट्रिपोली युद्ध के समय उसने सरकार का विरोध किया। श्रतः उसे वन्दी वना लिया गया, किन्तु कुछ ही

दिनों पश्चात उसे मुक्त कर दिया गया। 1912 में वह 'अवन्ति' (Avantai) नामक समाजवादी पत्रिका का सम्पादक हो गया। इस समय उसके विचारों में मार्क्सवाद और संघवाद का मिश्रण था। 1914 में प्रथम विश्व युद्ध आरम्भ हो गया। इस समय अधिकांश समाजवादी तटस्थता की नीति के समर्थक थे। अतः मुसोलिनी भी तटस्थता की नीति का समर्थक था। किन्तु शीघ्र ही उसने अपने इन विचारों का परित्याग कर दिया और युद्ध में शामिल होने का प्रचार करने लगा। उसका कहना था कि इटली को मित्र राष्ट्रों का पक्ष लेकर युद्ध में शामिल हो जाना चाहिए। उसके इन विचारों के कारण उसे समाजवादी पत्रिका 'अवन्ति' के सम्पादक पद से हटा दिया गया। तत्पश्चात उसने अपने विचारों का प्रचार करने के लिए 'पोपोलो डी इटेलिया' (Popolo d' Italia) नामक पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ कर दिया। 1915 में वह सेना में भर्ती हो गया, किन्तु युद्ध में घायल हो जाने के बाद उसे फौज से छुट्टी दे दी गई। ठीक होने पर वह पुनः अपनी पत्रिका का सम्पादन करने लगा। 1917 में रूस की बोल्शेविक क्रांति से इटली के साम्यवादी भी प्रभावित हुए और वे भी इटली में इस प्रकार की क्रांति करना चाहते थे, किन्तु मुसोलिनी ने साम्यवाद के विरोध में तीव्र प्रचार करना आरम्भ कर दिया।

फासिस्ट दल—युद्ध की समाप्ति पर 1919 में मुसोलिनी ने एक सम्मेलन बुलाया जिसमें अवकाश प्राप्त सैनिकों को आमन्त्रित किया गया। इसके अतिरिक्त उन सभी लोगों को भी निमन्त्रित किया गया जो इटली की समस्याओं को हल करने के इच्छुक हों। इस सम्मेलन में मार्च 1919 में एक नवीन फासिस्ट दल का निर्माण किया गया। इस दल ने अपने आपको अर्द्ध सैनिकों की तरह संगठित किया। मुसोलिनी का कहना था कि 'फासिस्ट लोग न पार्टी है, न पार्टी बना सकते हैं और न पार्टी बनाना चाहते हैं। वास्तव में फासिस्ट पार्टी विरोधी आन्दोलन है। इससे इस दल का खूब प्रचार हुआ। इस दल में अवकाश प्राप्त सैनिक, मजदूर, समाजवादी, विद्यार्थी, जमींदार, पूंजीपति और मध्यम वर्ग के लोग सम्मिलित हो गये। इस दल के स्वयंसेवक काली कमीज पहनते थे, अस्त्र-शस्त्र धारण करते थे और अनुशासन प्रिय थे। उनका अपना अलग झण्डा था। मुसोलिनी दल का प्रधान कमाण्डर था जिसे डूस (Duce) कहा जाता था। उसके ओजस्वी भाषण से जनता अत्यधिक प्रभावित होती थी। उसनें अपने घोषणा पत्र में निम्नलिखित कार्यक्रम प्रस्तुत किया—

(1) हथियार बनाने वाले कारखानों का राष्ट्रीयकरण किया जाय।

(2) कुछ उद्योगों पर मजदूरों का नियन्त्रण स्थापित किया जाय।

(3) मजदूरों से 8 घण्टे से अधिक काम न लिया जाय।

(4) युद्धकाल में पूंजीपतियों ने जो मुनाफा कमाया है उसका 85 प्रतिशत जब्त कर लिया जाय।

(5) चर्च की सम्पत्ति जब्त कर ली जाय।

(6) देश का नया संविधान बनाने के लिए संविधान सभा गठित की जाय तथा वयस्क मताधिकार को स्वीकार किया जाय।

(7) इटली राष्ट्रसंघ की सदस्यता ग्रहण करे। फ्यूम तथा डलमेशिया पर इटली का अधिकार स्वीकार कराया जाय।

इस घोषणा पत्र का जनता में खूब प्रचार हुआ और इससे फासिस्ट दल के सदस्यों की संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई। 1921 में इसके सदस्यों की संख्या तीन लाख हो गई। इसके बाद मुसोलिनी ने देश में एक आन्दोलन चलवाया जिसका उद्देश्य आतंकपूर्ण साधनों से विरोधी दलों को समाप्त करना था। इसके फलस्वरूप फासिस्ट दल ने समाजवादियों और साम्यवादियों की सभाओं पर आक्रमण किये तथा उनके कार्यालयों पर अधिकार कर लिया। सरकार फासिस्टवादियों की इस कार्यवाही को रोकने में असमर्थ रही। फलस्वरूप मुसोलिनी का हौसला बढ़ गया।

अक्टूबर 1922 में नेपिल्स में फासिस्ट दल का सम्मेलन हुआ जिसमें लगभग 40 हजार स्वयंसेवकों ने काली कमीज धारण करके और अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित होकर भाग लिया। इस सम्मेलन में मुसोलिनी ने घोषणा की कि यदि उसकी निम्नलिखित मांगों को स्वीकार नहीं किया गया तो 27 अक्टूबर 1922 को वह अपने स्वयं सेवकों की सहायता से रोम पर चढ़ाई कर देगा—

(1) मंत्रिमंडल में फासिस्ट दल के पांच सदस्यों को सम्मिलित किया जाय।

(2) नये चुनाव कराने की शीघ्र घोषणा की जाय।

(3) सरकार विदेश नीति में दृढ़ता का पालन करे।

सरकार ने मुसोलिनी की इन मांगों को अस्वीकार कर दिया। अतः 27 अक्टूबर 1922 को फासिस्ट दल के 50 हजार स्वयं सेवकों ने रोम पर चढ़ाई कर दी तथा रेल्वे स्टेशन, डाक घर तथा अन्य सरकारी भवनों पर अधिकार कर लिया। सरकार ने राजा से मांग की कि देश में 'मार्शल ला' लागू कर दिया जाय। किन्तु राजा ने सरकार के इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। राजा का अनुमान था कि यदि मुसोलिनी को मंत्रिमंडल में शामिल कर लिया जाय तो वह कानून का अनुयायी हो जायेगा। 30 अक्टूबर को मुसोलिनी बिना किसी विरोध के रोम में प्रविष्ट हो गया और बड़ी ही सरलता से रोम पर अधिकार कर लिया।

फासिस्ट शासन की स्थापना—रोम पहुंच कर मुसोलिनी ने सम्राट विक्टर-इमेनुअल तृतीय से मांग की कि वह शासन सत्ता उसे सौंप दे। सम्राट के आदेश पर मंत्रिमंडल ने त्याग पत्र दे दिया तथा मुसोलिनी को मंत्रिमंडल बनाने का अधिकार दे दिया। 31 अक्टूबर 1922 को मुसोलिनी ने अपना मंत्रिमंडल बनाया। उस समय अधिकांश जनता तात्कालिक शासन प्रणाली से असन्तुष्ट थी, अतः जनता ने इस

परिवर्तन को सहर्ष स्वीकार कर लिया। अब मुसोलिनी को इटली का सर्वेसर्वा बनने का अवसर मिल गया। सत्ता प्राप्त करने के बाद मुसोलिनी ने शासन को पुनर्गठित करने के लिए निम्नलिखित कार्य किये—

(1) उसने संसद को भयभीत कर शासन की समस्त शक्ति अपने हाथ में ले ली और सभी महत्वपूर्ण पदों से अपने विरोधियों को हटाकर अपने विश्वासपात्र व्यक्तियों को नियुक्त कर दिया। 1923 में उसने एक नया निर्वाचन कानून पास कराया जिसके अनुसार जिस दल को निर्वाचन में बहुमत प्राप्त हो उसे चेम्बर ऑफ डेपूटीज में दो-तिहाई स्थान प्रदान कर दिये जाय ताकि बहुमत प्राप्त दल शासन का संचालन अच्छी तरह से कर सके। शेष एक तिहाई स्थान अन्य दलों में बांट दिये जाय। इस नये कानून के अनुसार अप्रेल 1924 में नया चुनाव कराया गया, जिसमें फासिस्ट दल को बहुमत प्राप्त हुआ। समाजवादी नेता मेटीओटी ने सरकार पर चुनाव कानून को भंग करने का आरोप लगाया तथा नये निर्वाचन की मांग की। किन्तु इस घटना के तीन दिन पश्चात मेटीओटी का वध कर दिया गया। 1925 के प्रारम्भ में मुसोलिनी के हाथ में पूर्ण सत्ता आ गयी और अब उसने विरोधी दलों को कुचलने का प्रयास किया।

(2) 1926 में इटली के समस्त विरोधी दलों को अवैध घोषित कर दिया गया। इसी वर्ष मंत्रिमण्डल प्रणाली का अन्त कर दिया गया तथा यह निश्चय किया गया कि प्रधानमंत्री संसद के प्रति उत्तरदायी न होकर सम्राट के प्रति उत्तरदायी होगा। इस समय सम्राट के हाथ में कोई वास्तविक सत्ता नहीं थी।

(3) राजद्रोहियों को गिरफ्तार करने के लिए पुलिस को व्यापक अधिकार दिये गये। बन्दी बनाये गये व्यक्तियों को अनिश्चित काल तक जेल में बन्द रखा जा सकता था। इस नियम के अनुसार विरोधी दल के नेताओं को बन्दी बनाकर जेलों में ठूंस दिया गया। बहुत से नेता अपने प्राणों की रक्षा हेतु विदेशों में भाग गये।

(4) समाचार पत्रों पर कठोर प्रतिबन्ध लगा दिये गये तथा अनेक समाचार पत्रों का प्रकाशन बन्द कर दिया गया।

(5) विद्यालयों में फासिस्ट सिद्धान्तों की शिक्षा देना अनिवार्य कर दिया गया।

(6) राजनैतिक अपराधियों पर मुकदमा चलाने के लिए विशेष न्यायालय स्थापित किये गये।

मुसोलिनी इटली का तानाशाह—मुसोलिनी आरम्भ से ही जनतन्त्र का विरोधी था। उसके अनुसार राज्य सर्वोपरि है, समस्त वस्तुएं राज्य में निहित हैं और राज्य से बाहर कुछ भी नहीं है। वह राज्य को साध्य और व्यक्ति को साधन मानता था। अतः वह राज्य के समक्ष व्यक्ति की सत्ता को स्वीकार नहीं करता था। इसके लिए उसने शासन संचालन के लिए निम्नलिखित अंगों की व्यवस्था की—

(1) **मन्त्रिमण्डल**—इसका गठन मन्त्रिमण्डल की भांति ही किया गया था। मुसोलिनी ने अपने विश्वासपात्र समर्थकों को ही इसमें स्थान दिया था।

(2) **फासिस्ट दल की महा परिषद**—यह फासिस्ट दल की एक समिति थी जिसमें दल के प्रमुख 25 व्यक्ति इसके सदस्य थे। मुसोलिनी इसका नेता था।

(3) **संसद**—संसद के दो भवनों की व्यवस्था की गई—प्रथम सीनेट तथा दूसरा चेम्बर ऑफ डेपूटीज। सीनेट के सदस्यों की नियुक्ति स्वयं मुसोलिनी करता था तथा इसके सदस्य जीवन भर के लिए बनाये जाते थे। चेम्बर ऑफ डेपूटीज के सदस्यों की नियुक्ति मन्त्रिमण्डल तथा फासिस्ट दल की महापरिषद द्वारा होती थी।

इस प्रकार शासन की सम्पूर्ण शक्ति अब मुसोलिनी के हाथों में केन्द्रित हो गयी। इटली की जनतंत्रीय सरकार जिन कार्यों को करने में असफल रही थी, उन्हें पूरा करने का मुसोलिनी आश्वासन दे रहा था। अतः मुसोलिनी को जनता का भी समर्थन प्राप्त था।

फासीवाद के सिद्धान्त—फासीवाद सर्वसत्तात्मक राज्य का समर्थक था अर्थात एक दल और एक नेता में विश्वास करता था। इसीलिए मुसोलिनी ने शासन की समस्त शक्ति अपने हाथों में केन्द्रित कर ली थी। राजनैतिक, सैनिक तथा आर्थिक सत्ता पर उसका पूर्ण नियन्त्रण स्थापित हो गया था। फासीवाद व्यक्तिवाद का भी विरोधी था। मुसोलिनी का कहना था कि राज्य का मुख्य उद्देश्य राष्ट्र को शक्तिशाली बनाना है न कि व्यक्ति के कल्याण के लिए प्रयास करना। राज्य में रहकर व्यक्ति राज्य के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन करे। राज्य के बाहर उसके व्यक्तित्व का विकास नहीं हो सकता। राज्य में व्यक्ति को उतनी ही स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए जितनी राज्य की सुविधा में बाधा न पड़े। राज्य के हित के लिए व्यक्ति का बलिदान किया जा सकता है। फासीवाद जनतन्त्र को पश्चिम यूरोप के धनी देशों के आमोद-प्रमोद का एक साधन मानता था। अतः वह जनतन्त्र का विरोधी था। वह मूर्खों की बात की अपेक्षा एक बुद्धिमान की बात को अधिक महत्व देता था। राज्य में जनमत को कोई स्थान नहीं था, केवल नेता का आदेश ही सर्वोपरि माना जाता था। इसीलिए मुसोलिनी ने लोकतन्त्रात्मक निर्वाचनों का अन्त कर दिया, समाचार पत्रों पर कठोर प्रतिबन्ध लगा दिये तथा देश में गुप्तचरों का जाल बिछा दिया। फासीवाद, साम्यवाद का भी विरोधी है। साम्यवाद के अनुसार मानव जाति के इतिहास का निर्माण आर्थिक आधार पर हुआ है, किन्तु फासीवाद का मत है कि इतिहास के निर्णय में राजनैतिक घटनाओं का भी महत्व है। साम्यवाद वर्ग संघर्ष को स्वीकार करता है, जबकि फासीवाद वर्ग संघर्ष के स्थान पर सभी वर्गों के सहयोग पर जोर देता है। फासीवाद शांति का विरोधी है। उसके अनुसार शांति की बातें करना कायरता का द्योतक है तथा इसमें बलिदान की भावना समाप्त हो जाती है। युद्ध मनुष्य की शक्ति का परिचायक है। युद्ध से साहस, शक्ति एवं बलिदान की

भावना जागृत होती है, अतः युद्ध आवश्यक है। मुसोलिनी नागरिकों को आगे बढ़ने तथा प्रत्येक संकट का सामना करने की शिक्षा देता था। फासीवाद शासन में बच्चों को प्रारम्भ से ही खतरनाक शिक्षा दी जाती थी। फासीवाद तर्क में विश्वास नहीं करता। उसके अनुसार राज्य जो भी कहे वह ठीक है। जनता का एक मात्र कर्त्तव्य अपने नेता की आज्ञा मानना है।

फासीवाद स्वतन्त्र व्यापार का विरोधी है। उसका कहना है कि आर्थिक व्यवस्था में सरकार का हस्तक्षेप आवश्यक है। वह देश के हित के लिये पूंजीवादी वर्ग तथा मजदूर वर्ग दोनों को आवश्यक मानता है। वह यह नहीं चाहता था कि पूंजीपति मजदूरों का शोषण करे। मजदूरों व पूंजीपतियों पर सरकार को नियंत्रण रखना चाहिये। फासीवाद मजदूरों के हड़ताल करने तथा पूंजीपतियों के कारखाने बन्द करने के अधिकार को मान्यता नहीं देता। देश के हित में निजी उद्योग आवश्यक हैं। सरकार उन्हीं निजी उद्योगों में हस्तक्षेप करती है, जहां व्यवस्था अपर्याप्त होती है। मजदूरों की साप्ताहिक छुट्टी, अवैतनिक अवकाश, बीमा तथा मनोरंजन आदि के अधिकार को मान्यता देता है। इसी सिद्धान्त के आधार पर 1926 में इटली में सिण्डीकेटों की स्थापना की गई। इसमें छः पूंजिपतियों के, छः मजदूरों के प्रतिनिधि होते थे और एक स्वतन्त्र व्यक्ति होता था। ये सिण्डीकेट राष्ट्रव्यापी थे। इन पर निगम मंत्री का नियन्त्रण होता था। इस व्यवस्था का उद्देश्य मजदूरों तथा मालिकों के सघर्ष का अन्त करना था। मजदूरों व मालिकों के झगड़ों के समाधान के लिये विशेष प्रकार की अदालतें स्थापित की गई, जिनका निर्णय दोनों पक्षों को मानना पड़ता था। इस प्रकार फासीवाद के आर्थिक सिद्धान्त कुछ अंशों तक सिण्डीकालिज्म (Syndicalism) और गिल्ड समाजवाद (Guild Socialism) के निकट है, किन्तु वर्ग संघर्ष में विश्वास नहीं करता।

फासिस्ट युवक संगठन—मुसोलिनी और उसके दल ने युवकों को अपना समर्थक बनाने के लिये फासिस्ट युवक संगठन की स्थापना की और प्राथमिक एवं माध्यमिक स्कूलों में फासिस्टवादी सिद्धान्तों की शिक्षा देना अनिवार्य कर दिया ताकि बच्चों को प्रारम्भ से ही फासिस्टवादी सिद्धान्तों का ज्ञान हो जाय और आगे चलकर वे युवक कट्टर फासिस्टवादी बन सकें। आठ वर्ष से कम आयु के लड़कों के लिये प्रि-बालिला (Pre-Ballila) और आठ से चौदह वर्ष की आयु के लड़कों के लिये बालिला (Ballila) नामक संस्थाओं का संगठन किया गया। इन संस्थाओं में लड़कों को बालचरों की भांति प्रशिक्षित किया जाता था और उन्हें निर्भीक एवं साहसी बनाने का प्रयास किया जाता था। चौदह से अठारह वर्ष की आयु के लड़कों के लिये अवानगार्डिया (Avanguardia) नामक संस्था की स्थापना की गई थी। उपर्युक्त तीन श्रेणियों के पश्चात् युवकों को युवक फासिस्ट (Giavoni Fascist)

नागरिक सेना (Fascist Militia) में भर्ती कर लिया जाता था। प्रारम्भ में तो जो व्यक्ति फासिस्टवादी सिद्धांतों में आस्था रखता था, वह दल का सदस्य बन सकता था। किन्तु आगे चलकर यह नियम बना दिया गया कि उक्त प्रशिक्षण प्राप्त किये बिना कोई भी व्यक्ति फासिस्ट दल का सदस्य नहीं बन सकता। लड़कियों के लिये भी प्रशिक्षण की व्यवस्था की गई। बारह वर्ष से कम आयु की लड़कियों के लिये 'पिकोले इटालियाने' (Petcole Italiane) और इससे अधिक आयु की युवतियों के लिये 'युवती इटालियाने' (Giovani Italiane) नामक संस्थाओं की स्थापना की गई। इन संस्थाओं में लड़कियों को फासिस्टवादी सिद्धांत एवं राष्ट्र प्रेम की शिक्षा और व्यायाम द्वारा शरीर के विकास का प्रशिक्षण दिया जाता था।

पोप पायस 11 वें ने सरकार के इस कार्य की कटु आलोचना की थी। उसका कहना था कि बच्चों को इस प्रकार की शिक्षा देकर उन्हें राज्य को देवता मानने की शिक्षा दी जाती है, जो ईसाई धर्म के विरुद्ध है।

इटली में फासीवाद की स्थापना का यूरोप पर प्रभाव—इटली में फासीवाद की स्थापना से यूरोप के अन्य देशों में प्रजातन्त्र विरोधी भावना फैलने लगी तथा जर्मनी और स्पेन में अधिनायकवाद की स्थापना हुई। विश्व में शान्ति विरोधी वातावरण उत्पन्न हुआ। राष्ट्रसंघ शान्ति के पक्ष में था, अतः फासीवाद राष्ट्रसंघ का विरोधी था। फासीवाद ने राष्ट्रसंघ के सामूहिक सुरक्षा के सिद्धांत को आघात पहुंचाया। विश्व के साम्यवाद विरोधी लहर में तीव्रता आ गई। साम्यवाद के भय से ही प्रेरित होकर इटली में फासीवाद की स्थापना हुई थी। फासिस्टों ने इटली में सत्ता ग्रहण करने के पश्चात्, रूस और उसके अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी आन्दोलन के विरुद्ध विषवमन करना आरम्भ कर दिया। फलतः ब्रिटेन और फ्रांस ने जो पूंजीवादी राष्ट्र होने के कारण साम्यवाद के कट्टर शत्रु थे, इटली व जर्मनी के प्रति तुष्टीकरण की नीति अपनाई। ब्रिटेन और फ्रांस राष्ट्रसंघ के अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा के बड़े भारी समर्थक थे किन्तु यह सोचकर कि इटली और जर्मनी साम्यवाद को नष्ट कर देंगे, ऊपर से उनकी अनुचित कार्यवाहियों के प्रति अप्रसन्नता का झूठा प्रदर्शन करते रहे, जबकि अन्दर ही अन्दर इन दोनों राष्ट्रों को प्रसन्न रखने के लिये उन्हें हर कार्य में स्वतन्त्रता प्रदान कर दी। इटली ने जब स्पेन के गृह युद्ध में जनतन्त्र विरोधी फ्रेंको की सशस्त्र सहायता की और अबीसीनिया का अपहरण किया तब दोनों देश केवल तमाशा देखते रहे और उन्होंने शांति विरोधी शक्तियों को बल पहुंचाया। जर्मनी ने जब सूडेटनलैंड की मांग की तब तो इन पश्चिमी देशों की तुष्टीकरण की नीति अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच गयी और म्यूनिक समझौते में सूडेटनलैंड पर जर्मनी का आधिपत्य सहर्ष स्वीकार कर लिया। इस तुष्टीकरण की नीति के परिणाम विश्वशांति के लिये घातक सिद्ध हुए।

मुसोलिनी की गृह नीति—अपने फासीवादी सिद्धांतों के आधार पर मुसोलिनी ने अग्रलिखित गृह नीति अपनायी—

(1) मुसोलिनी द्वारा सत्ता ग्रहण करने के समय देश की आर्थिक स्थिति अत्यन्त दयनीय थी। बजट में करोड़ों रुपयों का घाटा चल रहा था तथा मुद्रा का मूल्य गिरता जा रहा था। मुसोलिनी ने व्यय में कमी की तथा कुछ नये कर लगाकर बजट को संतुलित किया।

(2) देश में व्याप्त बेरोजगारी को दूर करने के लिये मुसोलिनी ने सार्वजनिक निर्माण कार्यों को प्रोत्साहन दिया। इससे अनेक बेरोजगारों को रोजगार मिल गया।

(3) मुसोलिनी ने कृषि की उन्नति की ओर ध्यान दिया। श्रेष्ठ किस्म की खाद और औजारों का आविष्कार किया गया, किसानों को वैज्ञानिक ढंग से खेती करने का तरीका बताया गया और बंजर भूमि को कृषि योग्य बनाया गया। इससे कृषि उत्पादन में आशातीत वृद्धि हुई।

(4) मुसोलिनी ने इटली के औद्योगिक विकास की ओर भी ध्यान दिया। विद्युत उत्पादन में वृद्धि करके कोयले की कमी को पूरा किया गया। देश में अनेक नये कारखाने खोलकर देश को स्वावलम्बी बनाने का प्रयास किया।

(5) देश में जनतन्त्र को पूर्णतः समाप्त कर दिया। विरोधी दलों को अवैध घोषित किया तथा अपने विरोधियों को बन्दी बनाकर अनिश्चित काल के लिये जेल में ठूंस दिया। समाचार पत्रों पर अनेक प्रतिबन्ध लगा दिये गये, जिससे अनेक समाचार पत्रों का प्रकाशन बन्द हो गया। निर्वाचन कानून में परिवर्तन किया गया और नये कानून के अन्तर्गत कराये गये चुनाव द्वारा चेम्बर ऑफ डेपूटीज में फासिस्ट दल का एकाधिकार स्थापित हो गया। अब चेम्बर ऑफ डेपूटीज का कार्य एक मुसोलिनी के प्रस्तावों का समर्थन करना ही रह गया था।

(6) शिक्षा संस्थानों में फासिस्टवादी सिद्धान्तों की शिक्षा देना अनिवार्य कर दिया। गैर फासिस्ट शिक्षकों को पदच्युत कर उनके स्थान पर फासिस्ट शिक्षकों को नियुक्त किया गया। सैनिक शिक्षा पर अत्यधिक बल दिया गया। वस्तुतः शिक्षा का उद्देश्य युवकों को प्रशिक्षित सैनिक बनाना था।

(7) मुसोलिनी ने पोप के साथ भी समझौता किया। पोप और राज्य के बीच इटली के एकीकरण के समय से ही संघर्ष चल रहा था, क्योंकि पोप के समस्त प्रदेश छीन लिए गये थे। अतः पोप राज्य विरोधी हो गया और उसने इटली की कैथोलिक जनता को राज्य से सम्बन्ध विच्छेद करने का आदेश दिया। इससे राज्य को यह भय उत्पन्न हुआ कि कहीं यूरोप के कैथोलिक राज्य संयुक्त रूप से इटली सरकार के विरुद्ध हस्तक्षेप न करदें। मुसोलिनी की धर्म में श्रद्धा न होते हुए भी उसने पोप से समझौता करना ही उचित समझा। अतः 11 फरवरी 1929 को पोप के साथ समझौता कर लिया जिसे 'लेटरन समझौता' (Lateran Accord) कहते हैं। इस समझौते के अनुसार पोप ने रोम नगर से अपना अधिकार त्याग दिया

तथा मुसोलिनी ने पोप को वेटिकन नगर का सार्वभौम राजा स्वीकार कर लिया और इटली सरकार ने पोप को 10 करोड़ डालर वार्षिक देना स्वीकार किया। पोप को विदेशों से सम्बन्ध रखने, अपना रेडियो स्टेशन चलाने तथा डाक टिकट प्रसारित करने का अधिकार मिल गया। कैथोलिक धर्म को इटली का राज्य-धर्म स्वीकार कर लिया। शिक्षा संस्थानों में धार्मिक शिक्षा अनिवार्य कर दी गई। धार्मिक विवादों को कानूनी विवादों के समान मान्यता प्रदान कर दी गई। चर्च के पादरियों को नियुक्त करने का अधिकार पोप को दिया गया, किन्तु नियुक्ति से पूर्व इटली सरकार की अनुमति आवश्यक थी। क्योंकि पोप ऐसे किसी व्यक्ति को नियुक्ति कर सकता था जो फासिस्टवादी सिद्धांतों के विरुद्ध हो। चर्च के सभी पदाधिकारियों को वेतन देने का दायित्व सरकार का ठहराया गया।

इस प्रकार मुसोलिनी ने देश में शान्ति और व्यवस्था स्थापित की और इटली के आर्थिक विकास द्वारा देश को स्वावलम्बी बनाने का प्रयास किया। मुसोलिनी की विवेकशील गृह नीति के फलस्वरूप इटली जनता उसकी समर्थक बन गयी। जनता का समर्थन प्राप्त कर मुसोलिनी ने सशक्त विदेश नीति अपनायी।

मुसोलिनी की विदेश नीति—1919 से 1922 तक इटली की स्थिति अत्यन्त ही दयनीय थी। वर्साय सन्धि के समय इटली की उपेक्षा की गई। इटली फ्यूम पर अधिकार करना चाहता था, किन्तु वह उसे प्राप्त नहीं हुआ। 1920 में उसे अल्बानिया से अपनी सेना हटानी पड़ी। स्पा सम्मेलन में इटली के लिये क्षतिपूर्ति की रकम केवल 10 प्रतिशत निश्चित की गई। अगस्त 1920 में सेर्वे की संधि हुई, किन्तु इससे भी इटली को कुछ प्राप्त नहीं हुआ। 12 नवम्बर 1920 को रेपोलो की सन्धि द्वारा फ्यूम को स्वतन्त्र नगर घोषित कर दिया गया। रेपोलो की सन्धि इटली का राष्ट्रीय अपमान था। इससे इटली में चारों ओर असन्तोष व्याप्त था। मुसोलिनी उस असन्तोष की लहर के कारण ही शक्ति सम्पन्न हुआ था। अतः मुसोलिनी ने उग्र विदेश नीति का अनुसरण किया, जिसका लक्ष्य इटली को अन्तर्राष्ट्रीय जगत में गौरवपूर्ण स्थान दिलाना, भूमध्यसागर को इटली की झील बनाना, अफ्रीका में विशाल साम्राज्य स्थापित करना तथा वर्साय सन्धि में संशोधन करना था।

(1) भूमध्य सागर पर प्रभुत्व का प्रयास—पेरिस के शान्ति सम्मेलन में इटली ने भूमध्यसागर के पूर्वी भाग में स्थित रोहड्स तथा डोडिकेनीज द्वीप समूहों को प्राप्त करने का प्रयास किया था, किन्तु वहां इटली की मांग को अस्वीकृत कर दिया गया था और सेर्वे की सन्धि द्वारा इन द्वीप समूहों पर से इटली को अपने दावे का परित्याग करना पड़ा था। मुसोलिनी भूमध्यसागर में पूरी प्रभुसत्ता स्थापित कर उसे 'रोमन झील' के रूप में परिवर्तित करना चाहता था। फलत: 24 जुलाई 1923 को ल्यूसेन की सन्धि हुई, जिसके द्वारा सेर्वे की सन्धि में संशोधन किया गया तथा

इटली को रोहड्स और डाडिकेनीज द्वीप समूह प्रदान किये गये। यह मुसोलिनी की विदेश नीति की प्रथम सफलता थी। इन द्वीप समूहों में उसने सुदृढ़ किलेबन्दी की और एक अच्छा नौ सैनिक अड्डा तैयार कर लिया।

(2) **कोर्फ्यू कांड**—अल्बानिया और यूनान की सीमा निर्धारण के लिये एक अन्तर्राष्ट्रीय आयोग नियुक्त किया गया था। 23 अगस्त 1923 को यूनान की सीमा पर झगड़ा हो गया और गोली चल गयी, जिससे एक इटालियन सैनिक अधिकारी तथा चार अन्य इटालियन मारे गये। मुसोलिनी ने यूनान को 24घन्टे का अल्टीमेटम दिया कि वह इटालियन अधिकारियों की सहायता से मामले की जांच करे,पांच दिन के अन्दर दोषी व्यक्तियों को मृत्यु दण्ड दिया जाय, यूनानी झण्डा इटली के झण्डे के समक्ष झुकाया जाय और पांच करोड लीरा इटली को क्षतिपूर्ति के रूप में दिया जाय। यूनान ने इन मांगों को अस्वीकार कर दिया तथा मामले को राष्ट्रसंघ में प्रस्तुत किया। किन्तु मुसोलिनी ने राष्ट्रसंघ की उपेक्षा करते हुए 31 अगस्त 1923 को यूनान के कोर्फ्यू टापू पर बम वर्षा करके उस पर अधिकार कर लिया। जब इटली ने इस मामले में राष्ट्रसंघ के हस्तक्षेप का विरोध किया तो मामला राजदूतों के सम्मेलन को सौंप दिया गया। इस सम्मेलन ने यूनान को मामले की जांच करके दोषी अपराधियों को दण्ड देने को कहा। सम्मेलन ने यूनान को क्षमा याचना एवं पांच करोड़ लीर क्षतिपूर्ति देने को भी कहा और इटली को कोर्फ्यू से अपनी सेनायें हटाने को कहा। मुसोलिनी ने इन निर्णयों को स्वीकार करने में आनाकानी की,किंतु ब्रिटेन द्वारा इटली को चेतावनी देने पर उसने इन निर्णयों को स्वीकार कर लिया और 27 सितम्बर को टापू खाली कर दिया। राष्ट्रसंघ की उपेक्षा ने तथा विशाल क्षतिपूर्ति की प्राप्ति ने मुसोलिनी को इटली में लोकप्रिय बना दिया।

(3) **फ्यूम की प्राप्ति**—पेरिस के शान्ति सम्मेलन में फ्यूम बन्दरगाह तथा यूनान के प्रश्न पर इटली व यूगोस्लाविया के बीच घोर मतभेद उत्पन्न हो गया था। मित्र राष्ट्रों के प्रयत्नों से 1920 में रेपोलो की संधि हुई, जिसके द्वारा फ्यूम को एक स्वतन्त्र बन्दरगाह घोषित कर दिया गया। मुसोलिनी ने 27 जनवरी 1924 को यूगोस्लाविया के साथ रोम की सन्धि की। इस संधि के अनुसार फ्यूम का नगर तो इटली को प्राप्त हो गया तथा एक छोटी नदी द्वारा पृथक होने वाला फ्यूम का उप-नगर वारोस बन्दरगाह तथा सूशाक की बस्ती यूगोस्लाविया को प्राप्त हुई। इस प्रकार मुसोलिनी ने फ्यूम का प्रश्न हल करके बहुत ही लोकप्रियता प्राप्त की।

(4) **अल्बानिया पर प्रभुत्व**—मुसोलिनी एड्रियाटिक सागर पर पूरा अधिकार स्थापित करना चाहता था, किन्तु इसके लिए ओट्रेण्टो के जलडमरुओं पर नियंत्रण प्राप्त करना आवश्यक था। अतः 27 नवम्बर 1926 को अल्बानिया की राजधानी टिराना में एक सन्धि हुई, जिसके द्वारा अल्बानिया ने यह स्वीकार कर लिया कि वह दूसरे देशों के साथ इटली को हानि पहुंचाने वाला कोई राजनैतिक या सैनिक

समझौता नहीं करेगा। 1927 में इटालियन सैनिक अधिकारियों द्वारा अल्वानिया की सेना का पुनर्गठन किया गया तथा इटली ने अल्वानिया के साथ 20 वर्ष का एक रक्षात्मक समझौता कर लिया जिससे अल्वानिया इटली का संरक्षित राज्य वन गया। मुसोलिनी धीरे-धीरे अल्वानिया में अपना प्रभुत्व बढ़ाता रहा और अन्त में 1939 में उसने इस पर आक्रमण करके उसे अपने साम्राज्य का अंग बना लिया।

(5) **टैंजियर संकट**—मोरक्को के टैंजियर वन्दरगाह में अन्तर्राष्ट्रीय शासन था। अक्टूवर 1917में इस शासन में संशोधन करने के प्रश्न पर विचार करने के लिये यहां फ्रांस व स्पेन के प्रतिनिधि एकत्र हुए। इसी समय तीन इटालियन युद्धपोत भी वहां पहुंच गये और रोम से घोषणा की गई कि भूमध्यसागर की एक शक्ति के रूपमें टैंजियर के विषय में इटली को भी गहरी दिलचस्पी है। मुसोलिनी की यह कार्यवाही जर्मन सम्राट विलियम द्वितीय द्वारा 1905 में इसी प्रकार का संकट उत्पन्न करने की घटना की पुनरावृत्ति थी। रोम से हुई घोषणा के फलस्वरूप इटली को भी इस सम्मेलन में आमन्त्रित किया गया और 1928 में टैंजियर के सम्बन्ध में हुए नये समझौते में इटली को इस नगर के प्रशासन में अधिक अधिकार प्रदान किये गये। इस प्रकार अव इटली महाशक्तियों की पंक्ति में आ गया। यह मुसोलिनी की भारी कूटनीतिक विजय थी। 1930 में लन्दन के नौसैनिक सम्मेलन में इटली ने भूमध्य-सागर में फ्रांस के समान नौ सेना रखने की मांग की।

(6) **रूस से मित्रता**—मुसोलिनी ने अव भूमध्य सागर में अपनी स्थिति सुदृढ़ करने का प्रयास आरम्भ कर दिया। वह अपना पक्ष सवल वनाने के लिए यूरोप में एक शक्तिशाली मित्र प्राप्त करना चाहता था। यूरोप के अधिकांश देश यथास्थिति के समर्थक एवं शान्ति समझौते के संशोधन के विरोधी थे। केवल आस्ट्रिया, हंगरी और वुल्गेरिया ही ऐसे राज्य थे जो संधि में संशोधन चाहते थे। यद्यपि जर्मनी भी सन्धि में संशोधन चाहता था, किन्तु उसकी दशा अत्यन्त ही क्षीण हो रही थी। आस्ट्रिया, हंगरी और वुल्गेरिया, इटली से घनिष्ठता स्थापित करने लगे। किन्तु ये सभी छोटे राज्य थे। वड़े राष्ट्रों में केवल रूस वचा था जो सन्धि में संशोधन का पक्षपाती था। अतः मुसोलिनी ने फरवरी 1924 में रूस की साम्यवादी सरकार को मान्यता प्रदान करके उसके साथ व्यापारिक सन्धि करली। इटली अव रूस को राष्ट्रसंघ का सदस्य वनाने का प्रयत्न करने लगा। इसके वाद मुसोलिनी ने अप्रेल 1927 में हंगरी के साथ, 23 दिसम्वर 1928 को यूनान के साथ और 6 फरवरी 1930 को आस्ट्रिया के साथ मित्रता की संधियां की।

(7) **हिटलर का उत्कर्ष एवं फ्रांस-ब्रिटेन से सहयोग**—1933 के आरम्भ में जर्मनी में हिटलर सत्तारूढ़ हुआ जिससे समस्त विश्व में एक राजनैतिक क्रांति हुई। मुसोलिनी भी हिटलर के उत्थान से भयभीत हुआ, क्योंकि हिटलर आस्ट्रिया को जर्मनी साम्राज्य में मिलाना चाहता था, किन्तु मुसोलिनी चाहता था कि आस्ट्रिया पर इटली का प्रभाव वना रहे। यदि आस्ट्रिया का जर्मनी में विलय हो जाता है तो

दक्षिणी टाइरोल को जो वर्साय सन्धि द्वारा इटली को प्राप्त हुआ था, खतरा पैदा हो सकता था। अतः जर्मनी में हुई नाजी क्रान्ति के फलस्वरूप इटली की विदेश नीति में भी परिवर्तन आया। 1933 तक इटली और फ्रांस के बीच बड़ा वैमनस्य था फिर भी हिटलर के उत्थान से भयभीत होकर मुसोलिनी ने इंगलैण्ड, फ्रांस, जर्मनी और इटली की चार शक्तियों का समझौता (Four Power Pact) किया (15 जुलाई 1933)। मुसोलिनी, आस्ट्रिया के नाजी विरोधियों को हर प्रकार से सहायता देने लगा। जुलाई 1934 में हिटलर ने आस्ट्रिया में राजनैतिक विद्रोह कराकर आस्ट्रिया से विलय की योजना बनाई, किन्तु मुसोलिनी ने आस्ट्रिया की सीमा पर अपनी सेना तैनात करके घोषणा की कि यदि जर्मनी ने आस्ट्रिया को अपने साम्राज्य में मिलाने का प्रयत्न किया तो इसका अर्थ होगा इटली के साथ युद्ध। इससे हिटलर भयभीत हो गया और उसने घोषणा की कि इस घटना में जर्मनी का कोई हाथ नहीं था। इस प्रकार मुसोलिनी ने हिटलर की 'आस्ट्रिया विलय' की योजना पर पानी फेर दिया। युद्ध के बाद यूगोस्लाविया के दावों का समर्थन करने के कारण फ्रांस और इटली के सम्बन्ध निरन्तर बिगड़ते जा रहे थे, किन्तु आस्ट्रिया पर हिटलर की गिद्ध दृष्टि एक ऐसा खतरा था, जिससे दोनों ही देश अब समझौता करना ही श्रेयस्कर समझते थे। अत: 7 जनवरी 1935 को फ्रांस और इटली के बीच एक समझौता हो गया। इस समझौते के अनुसार—

(1) फ्रांस ने अफ्रीका में सुमालीलैंड तथा लीबिया के पास का कुछ क्षेत्र इटली को दे दिया तथा इटली को यह आश्वासन दिया कि वह ट्यूनिस में रहने वाले इटालियनों के साथ अच्छा व्यवहार करेगा और उन्हें नागरिकता के अधिकार प्रदान करेगा।

(2) समझौते में यह निर्णय लिया गया कि यदि जर्मनी अपना शस्त्रीकरण करेगा तो दोनों देश मिलकर इस सम्बन्ध में विचार करेंगे। दोनों मिलकर मध्य यूरोप के राज्यों से यह प्रार्थना करेंगे कि वे अपने पड़ोसी राज्यों की घरेलू समस्याओं में हस्तक्षेप न करे।

इस अवसर पर फ्रांस का विदेश मन्त्री लावल रोम आया था और मुसोलिनी से व्यक्तिगत रूप से बातचीत की थी। ऐसा विश्वास किया जाता है कि इस भेंट में मुसोलिनी ने अबीसीनिया पर अधिकार करने की इच्छा प्रकट की थी और लावल ने मुसोलिनी को यह आश्वासन दिया था कि अबीसीनिया में फ्रांस का कोई हित नहीं है। इस प्रकार फ्रांस ने परोक्ष रूप से इटली को अबीसीनिया पर अधिकार करने की छूट दे दी। मार्च 1935 में हिटलर ने वर्साय संधि का उल्लंघन करते हुए जर्मनी के शस्त्रीकरण की घोषणा कर दी। अत: स्विट्जरलैण्ड के स्ट्रेसा नामक स्थान पर मित्र राष्ट्रों का सम्मेलन हुआ, जिसमें फ्रांस, इटली, इंगलैंड आदि देशों के प्रति-

निधियों ने भाग लिया और जर्मनी के इस कार्य की निन्दा की। राष्ट्रसंघ ने भी स्ट्रेसा सम्मेलन की रिपोर्ट का अनुमोदन कर दिया। स्ट्रेसा में उन्होंने हिटलर के विरुद्ध एक संयुक्त मोर्चा कायम किया। वस्तुतः स्ट्रेसा सम्मेलन के प्रतिनिधियों में एकता नहीं थी। एक ओर हिटलर के विरुद्ध सयुक्त मोर्चा बनाया जा रहा था और दूसरी ओर संयुक्त मोर्चे का एक सदस्य इंगलड जर्मनी के साथ ही नौ सेना सम्बन्धी समझौता करने के लिये वार्ता कर रहा था।

(8) **अबीसीनिया पर आक्रमण**—मुसोलिनी अभी तक अपने देश का गौरव बढ़ाने के लिये कोई चमत्कारपूर्ण कार्य नहीं कर पाया था। अभी तक उसकी सेनाओं को विजय प्राप्त करने का अवसर नहीं मिला था। इसके अतिरिक्त 1930-32 की विश्व व्यापी आर्थिक मन्दी के कारण इटली की आर्थिक स्थिति भी बिगड़ती जा रही थी तथा 1934 तक लगभग ढाई लाख लोग बेकार हो गये थे। अतः जनता का इस आर्थिक समस्या से ध्यान दूसरी तरफ बंटना आवश्यक था। इसके लिए उसने अफ्रीका के एक मात्र स्वतन्त्र, किन्तु निर्बल देश, अबीसीनिया को चुना। 1816 में इटली ने अबीसीनिया पर आक्रमण कर उसे अपने साम्राज्य में मिलाने का प्रयत्न किया था, किन्तु अडोवा के युद्ध में इटली को बुरी तरह पराजित होना पड़ा था। मुसोलिनी अडोवा की पराजय का प्रतिशोध लेना चाहता था। इरिट्रिया, लीबिया और सोमालीलैंड में इटली का प्रभुत्व पहले ही स्थापित हो चुका था और अब यदि अबीसीनिया भी उन में सम्मिलित हो जाता है तो अफ्रीका में इटली का विशाल साम्राज्य स्थापित हो सकता था। अबीसीनिया में तरह-तरह के खनिज पदार्थ उपलब्ध थे जिससे इटली का औद्योगिक विकास हो सकता था। इसके अतिरिक्त इटली की जनसंख्या में निरन्तर वृद्धि हो रही थी। अतः बढ़ती हुई आबादी को बसाने के लिए उसे अतिरिक्त क्षेत्र की आवश्यकता थी और इसके लिए अबीसीनिया एक अच्छा प्रदेश था। अतः मुसोलिनी उस पर आक्रमण करने की सोचने लगा।

मुसोलिनी की इस इच्छा में सबसे बड़ा बाधक फ्रांस था, किन्तु हिटलर के उत्कर्ष के कारण अब दोनों में मित्रता हो चुकी थी। 1931 में जापान ने मंचूरिया पर आक्रमण कर दिया और इस अवसर पर राष्ट्रसंघ का खोखलापन प्रकट हो चुका था, जिससे मुसोलिनी का हौंसला बढ़ गया। उधर हिटलर में वर्साय की संधि को अमान्य घोषित कर उसकी धाराओं को तोड़ना आरम्भ कर दिया था, किन्तु उसके विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं की जा सकी थी। इन परिस्थितियों से मुसोलिनी को प्रेरणा मिली और उसने अबीसीनिया पर आक्रमण करने का निश्चय कर लिया।

5 दिसम्बर 1934 को इटालियन सोमालीलैंड और अबीसीनिया की अनिश्चित सीमा पर वालवाल (Walwal) नामक स्थान पर हुए एक सैनिक झगडे

में तीस इटालियन मारे गये। मुसोलिनी के लिये यह स्वर्ण अवसर था। उसने अबीसीनिया से 'क्षमा याचना करने और क्षतिपूर्ति' की मांग की। किन्तु अबीसीनिया ने यह मामला मध्यस्थ को सौंपने पर बल दिया और 14 दिसम्बर को उसने राष्ट्र-संघ में इटली के आक्रमण की शिकायत की। राष्ट्रसंघ ने कुछ समय तक इस पर कोई कार्यवाही नहीं की, क्योंकि राष्ट्रसंघ का एक प्रभावशाली सदस्य फ्रांस जर्मनी के विरुद्ध, इटली को अपना मित्र बनाने को उत्सुक था। 3 जनवरी 1935 को कौंसिल की बैठक में अबीसीनिया ने यह प्रश्न पुनः उठाया और इटली इस मामले को पंच निर्णय के लिये सौंपने को तैयार हो गया। 3 सितम्बर 1935 को इन पंचों के कमीशन ने निर्णय दिया कि वालवाल की घटना के लिये इटली और अबीसीनिया दोनों उत्तरदायी नहीं हैं। जब कौंसिल की बैठक में पंचों के कमीशन की रिपोर्ट पर विचार हो रहा था तब इटली के प्रतिनिधि ने अबीसीनिया पर विश्वासघात और सन्धि भंग करने का आरोप लगाया और कहा कि 'हम इन असभ्यों के साथ बैठना भी पसन्द नहीं करते'। यह कहते हुए इटली के प्रतिनिधि ने कौंसिल की बैठक का परित्याग कर दिया। 4 सितम्बर 1935 को कौंसिल ने उक्त रिपोर्ट के साथ इस प्रश्न पर विचार समाप्त कर दिया। किन्तु मुसोलिनी अबीसीनिया पर अधिकार करने पर तुला हुआ था 'चाहे यह कार्य जेनेवा की सहायता से हो, उसकी बिना सहायता के हो अथवा उसका विरोध करके हो'।

मुसोलिनी ने अबीसीनिया की सीमा पर सेनायें एकत्र करना आरम्भ कर दिया। इस पर अबीसीनिया ने पुनः राष्ट्रसंघ में शिकायत की। इस पर कौंसिल ने इस विवाद को हल करने के लिये पांच देशों (ब्रिटेन, फ्रांस, पौलैंड, स्पेन और टर्की) की एक समिति नियुक्त की। इसने इटली को सन्तुष्ट करने के लिये अबीसीनिया में इटली के विशेष आर्थिक अधिकार को मानते हुए अबीसीनिया के कुछ प्रदेश इटली को देने का प्रस्ताव किया। किन्तु मुसोलिनी ने कहा, "यदि सम्पूर्ण अबीसीनिया भी मुझे चांदी की थाली में भेंट किया जाय तो मैं उसे अस्वीकार कर दूंगा, क्योंकि मैंने इसे शक्ति से लेने का निर्णय कर लिया है।" इसी बीच मुसोलिनी ने अबीसीनिया की सीमा पर भारी मात्रा में सेनाएं एकत्र कर ली। अतः 29 सितम्बर को अबीसीनिया के सम्राट हेलीसिलेसी ने आत्म रक्षा के लिये लामबन्दी की आज्ञा दे दी। इस पर मुसोलिनी ने कहा कि अबीसीनिया ने इटली पर हमला कर दिया है अतः हम भी अपनी आत्म रक्षा के लिये युद्ध करेंगे और 1 अक्टूबर 1935 को अपनी सेनाओं को अबीसीनिया पर आक्रमण करने की आज्ञा दे दी।

6 अक्टूबर 1935 को इटली की सेनाओं ने अबीसीनिया पर आक्रमण कर दिया। 7 अक्टूबर को कौंसिल की एक समिति ने इटली पर युद्ध आरम्भ करने का उत्तरदायित्व डाला। 9 अक्टूबर से 11 अक्टूबर तक राष्ट्रसंघ के लगभग 50 सदस्य इस समस्या पर विचार करते रहे। अन्त में कौंसिल के प्रस्ताव पर इटली को आक्रामक घोषित किया गया तथा इटली के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबंध लगाने के लिये 18

व्यक्तियों की एक समिति गठित कर दी। इस समिति ने ऐसी वस्तुओं की एक सूची तैयार की जिन्हें इटली में भेजने पर प्रतिवन्ध लगा दिया। इस सूची में जानबूझ कर तेल को सम्मिलित नहीं किया गया, जिससे इटली को बराबर तेल प्राप्त होता रहा। इन प्रतिवंधों को तुरन्त लागू करने की बात कही गई थी किन्तु ये प्रतिवंध 18 नवम्वर से लगाये गये। वस्तुतः फ्रांस की सहानुभूति इटली के साथ थी, अतः इटली के विरुद्ध आर्थिक प्रतिवन्ध पूर्ण शक्ति के साथ नहीं लगाये गये।

ब्रिटेन और फ्रांस दोनों ही मुसोलिनी के प्रति तुष्टीकरण की नीति अपना रहे थे। सितम्वर 1935 में फ्रांस के विदेश मन्त्री लावल तथा ब्रिटेन के विदेश मंत्री सेमुअल होर ने यह गुप्त समझौता किया कि यदि राष्ट्रसंघ इटली के विरुद्ध आर्थिक प्रतिवंध लगायेगा तो वे सिद्धान्त रूप से इसका समर्थन करते हुए भी इटली के लिए स्वेज नहर वन्द करने का तथा सैनिक कार्यवाही का विरोध करेंगे। नवम्वर-दिसम्वर 1935 में जब संघ तेल भेजने पर प्रतिवंध लगाने के प्रश्न पर विचार कर रहा था तब इन दोनों राजनीतिज्ञों ने पेरिस में एकत्र होकर 7 दिसम्वर 1935 को एक गुप्त समझौता किया, जिसमें कहा गया कि अवीसीनिया के प्रश्न पर इटली से युद्ध मोल लेना उचित नहीं है, अतः इटली को तेल भेजने के प्रतिवंध को लागू करने की कार्यवाही में विलम्व करना चाहिये। इस समझौते में यह भी कहा गया कि अवीसीनिया को कहा जाय कि वह इटली का इरिट्रिया व सोमालीलैंड के पास का कुछ प्रदेश दे दे, दक्षिणी अवीसीनिया को इटली के आर्थिक विस्तार एवं वस्ती के लिए सुरक्षित रखा जाय और इसके वदले में इटली, अवीसीनिया को समुद्र तट तक निकास के लिए लाल सागर पर एक वन्दरगाह दे दे। होर-लावल समझौता राष्ट्रसंघ के महान आदर्शों के प्रति विश्वासघात था। यह समझौता अत्यन्त ही गुप्त रखा गया था, किन्तु दुर्भाग्यवश यह गुप्त समझौता समाचार पत्रों में प्रकाशित हो गया। ब्रिटेन में इस पर इतना रोष हुआ कि विदेश मन्त्री होर को त्याग पत्र देना पड़ा।

जनवरी 1936 में इटली की सेनायें अवीसीनिया में निरन्तर आगे वढ़ती गई। इटली ने केवल आक्रमण ही नहीं किया वल्कि अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध सम्वन्धी नियमों का खुले आम उल्लंघन किया। विमान से ऐसी विषैली गैसें गिरायी गई तथा ऐसी गोलियों का प्रयोग किया गया जिनका प्रयोग युद्ध नियम के अनुसार निषिद्ध था। परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक स्थान पर अवीसीनिया की सेना पराजित होने लगी। 1 मई 1936 को इटली की सेनाओं ने अवीसीनिया की राजधानी आदिम अवावा पर अधिकार कर लिया। सम्राट हेलीसिलेसी राजधानी छोड़कर भाग खड़ा हुआ। 9 मई 1936 को अवीसीनिया को इटली के साम्राज्य में शामिल कर लिया गया।

30 जून 1936 को अवीसीनिया से भाग कर आये सम्राट हेलीसिलेसी ने राष्ट्रसंघ की असेम्वली की वैठक में उपस्थित होकर इटली के वर्वरतापूर्ण दुष्कृत्यों का रोमांचकारी वर्णन किया तथा राष्ट्रसंघ के सदस्यों से सहायता की

प्रार्थना की। किन्तु राष्ट्रसंघ के किसी सदस्य पर हेलीसिलेसी की प्रार्थना का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। केवल रूस ने अबीसीनिया के प्रति मानवीय दृष्टिकोण अपनाते हुए उसका समर्थन किया, किन्तु रूस की सभी मांगों को अस्वीकार करते हुए 15 जुलाई को इटली के विरुद्ध लगाये गये आर्थिक प्रतिबन्ध हटा लिये गये। फ्रांस और ब्रिटेन के प्रयास से अबीसीनिया को राष्ट्रसंघ से निकाल दिया गया। नवम्बर 1938 में ब्रिटेन और फ्रांस ने अबीसीनिया पर इटली के आधिपत्य को मान्यता देते हुए राष्ट्रसंघ के मौलिक सिद्धांतों को तिलाञ्जली दे दी। केवल 19 महीनों बाद मुसोलिनी ने दोनों देशों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करके इस मान्यता का समुचित उत्तर दे दिया।

अबीसीनिया युद्ध के परिणाम—अबीसीनिया युद्ध, दो विश्व युद्धों के बीच के काल की महत्वपूर्ण घटना थी। अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से इस युद्ध के अनेक महत्वपूर्ण परिणाम निकाले। इसने राष्ट्रसंघ की निर्बलता को प्रदर्शित कर दिया। इससे स्पष्ट हो गया कि राष्ट्रसंघ प्रबल राष्ट्रों के आक्रमण से छोटे और निर्बल राष्ट्रों की रक्षा करने में असमर्थ है अतः अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में आक्रामक प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिला। इस युद्ध से इटली और जर्मनी की घनिष्ठता बढ़ने लगी, क्योंकि इटली के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध लागू होने के बाद जर्मनी ने शस्त्र देकर इटली की संकटमय स्थिति में सहायता की थी। राष्ट्रसंघ की निर्बलता से लाभ उठाकर हिटलर ने वर्साय सन्धि तथा लोकार्नो सन्धि को भंग कर राइन प्रदेश में किलेबन्दी आरम्भ कर दी। स्पेन के गृह युद्ध में जर्मनी और इटली ने खुलकर हस्तक्षेप किया। हिटलर ने आस्ट्रिया का अपहरण कर लिया, चेकोस्लावाकिया का अंग भंग कर दिया और अन्त में पौलैंड पर आक्रमण करके द्वितीय विश्वयुद्ध का श्री गणेश कर दिया। अबीसीनिया युद्ध में मुसोलिनी की सफलता के कारण उसके सिर पर लगे लोकप्रियता के मुकुट में ख्याति एवं लोकप्रियता की एक और पंखुड़ी लग गई। राष्ट्रसंघ ने इटली के विरुद्ध निन्दा का प्रस्ताव पास किया तथा उसके विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध लगाये। यद्यपि राष्ट्रसंघ की इन कार्यवाहियों का इटली पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा, किन्तु इटली ने राष्ट्रसंघ से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया।

(9) रोम–बर्लिन धुरी—अबीसीनिया युद्ध के अवसर पर इटली, इंगलैण्ड, फ्रांस और रूस से अत्यधिक नाराज हुआ। इस संकट के समय हिटलर आदि से अन्त तक तटस्थ रहा तथा इटली को अस्त्र शस्त्रों से सहायता करता रहा। हिटलर की तटस्थता मुसोलिनी के लिये बहुत बड़ी नैतिक सहायता सिद्ध हुई। अतः जर्मनी की ओर उसका झुकाव स्वभाविक था। हिटलर और मुसोलिनी का मेल मिलाप बढ़ने लगा। फलतः 26 अक्टूबर 1936 को इटली तथा जर्मनी के बीच एक समझौता हो गया जो इतिहास में रोम-बर्लिन धुरी (Rome-Berlin Axis) के नाम के प्रसिद्ध है। समझौते में दोनों ने तय किया कि दोनों अपने समान हितों की पूर्ति के लिये

समय-समय पर परस्पर वार्ता करेंगे, दोनों देश साम्यवाद का विरोध करेंगे और दोनों स्पेन की रक्षा करेंगे। इस सन्धि के परिणामस्वरूप मुसोलिनी ने आस्ट्रिया और चेकोस्लावाकिया पर हिटलर के आक्रमण का कोई विरोध नहीं किया।

(10) **स्पेन का गृह युद्ध**—स्पेन का गृह युद्ध यद्यपि उसके आन्तरिक स्थिति का विषय है, फिर भी इसे द्वितीय विश्व युद्ध का पूर्वाभिनय कहा जाता है, क्योंकि इसके द्वारा यूरोपीय शक्तियों के संगठन का आभास पहले ही मिल गया था। प्रथम विश्व युद्ध में स्पेन तटस्थ रहा था। युद्ध के बाद एक भयंकर आर्थिक संकट आया जिससे बेकारी की समस्या गम्भीर हो गयी। मजदूरों में असंतोष बढ़ गया, हड़तालें होने लगी और दंगे फसाद आरम्भ हो गये। जनता सरकार के कुशासन से काफी परेशान थी। यद्यपि नाम के लिये वहां वैध राजसत्ता थी किन्तु वास्तव में वहां का राजा अलफान्सो पूर्णत: तानाशाह था। जनता में विद्रोह की भावना देखते हुए अलफान्सो ने रिवेरा नामक सेनापति की सहायता से देश में सैनिक कानून लागू कर दिया जिससे रिवेरा का स्वेच्छाचारी शासन आरम्भ हो गया। 1923 से 1930 तक वह अपना स्वेच्छाचारी शासन करता रहा, किन्तु देश में दंगे, विद्रोह और हड़तालें होती रही। जन असंतोप को देखते हुए 1930 में रिवेरा ने पद त्याग कर दिया। तत्पश्चात अलफान्सो ने पुन: वैधानिक शासन स्थापित करने की घोषणा कर दी। किन्तु जनता विधान परिषद की मांग करने लगी और अलफान्सो इस मांग को टालता रहा। फलत: 1930 में वहां राजतन्त्र के विरुद्ध विद्रोह हो गया और अलफान्सो स्पेन छोड़कर भाग गया। इसके बाद स्पेन में गणतन्त्रीय सरकार की स्थापना हुई।

गणतन्त्र स्थापित होने के बाद वहां सत्ता प्राप्त करने के लिए विभिन्न दलों में संघर्ष होने लगा। 1936 के आम चुनावों में उदार तथा अनुदार दोनों दलों को प्राय: बराबर स्थान प्राप्त हुए। जब उदार दल ने सत्ता अपने हाथ में लेनी चाही तो जनरल फ्रेंको के नेतृत्व में 18 जुलाई 1936 को अनुदार दल ने गृह युद्ध प्रारंभ कर दिया। सम्पूर्ण स्पेन में एकाएक गृह युद्ध की आग भड़क उठी। सैनिक अधिकारियों द्वारा निर्देशित यह गृह युद्ध पूर्णतया योजनाबद्ध था और इसकी तैयारी बहुत पहले से हो रही थी। जनरल फ्रेंको ने विदेशी शक्तियों से सहायता मांगी। जर्मनी और इटली यह समझते थे कि स्पेन में यदि उनके जैसी (अधिनायकवादी) शासन प्रणाली स्थापित हो जाय तो उसकी सहानुभूति सदा उनके साथ रहेगी। अत: उन्होंने जनरल फ्रेंको को सहायता देना अपना कर्त्तव्य समझा। किन्तु फासिस्टवाद के विरुद्ध गणतन्त्र को मदद देना रूस ने अपना कर्त्तव्य समझा। किन्तु उस समय रूस उतना शक्तिशाली नहीं था तथा रूस और स्पेन की सीमाएं मिली जुली नहीं थी। अत: वह स्पेन की गणतांत्रिक सरकार को उस मात्रा में मदद नहीं कर सका, जिस मात्रा में फ्रेंको को हिटलर और मुसोलिनी से सहायता प्राप्त हो रही थी। फ्रांस और ब्रिटेन को यह भय था कि कहीं यह गृह युद्ध यूरोपीय विश्व युद्ध में परिवर्तित न हो जाय,

क्योंकि फासिस्ट देश फ्रैंको की सफलता के लिये कटिबद्ध थे और यदि दूसरे देशों ने इसका विरोध किया तो विश्व युद्ध का हो जाना असंभव नहीं था। अतः ब्रिटेन और फ्रांस तटस्थता का ढोल पीटकर खामोश बैठे रहे। फलस्वरूप इटली तथा जर्मनी की सहायता से जनरल फ्रैंको को विजय प्राप्त हो गयी। 28 मार्च 1939 को स्पेन की राजधानी मेड्रिड का पतन हो गया और गृह युद्ध भी समाप्त हो गया। स्पेन में जनरल फ्रैंको की तानाशाही स्थापित हो गयी।

युद्ध के परिणाम—यद्यपि यह युद्ध स्पेन का आंतरिक मामला था किन्तु विदेशी शक्तियों के हस्तक्षेप से इसे अन्तर्राष्ट्रीय महत्व प्राप्त हो गया। इस युद्ध ने इटली व जर्मनी की मित्रता को प्रगाढ़ बना दिया, जर्मनी तथा जापान के साथ इटली भी एण्टी-कॉमिन्टर्न पेक्ट में सम्मिलित हो गया और यूरोप में फासिस्ट शक्तियों की स्थिति मजबूत हो गयी। हिटलर और मुसोलिनी को यह विश्वास हो गया कि ब्रिटेन और फ्रांस साम्यवाद के हौवे से बुरी तरह आशंकित हैं और उन्हें यह भय दिखाकर कुछ भी कराया जा सकता है। इससे उन्हें यह ज्ञान हो गया कि उनके आक्रमणों को रोकने का साहस पश्चिमी लोकतंत्र में नहीं है। राष्ट्रसंघ की सामूहिक सुरक्षा योजना अन्तिम रूप से विफल हो गयी। स्पेन की सरकार ने इस मामले को राष्ट्रसंघ में उठाने का कई बार प्रयत्न किया, किन्तु संघ की असेम्बली ने केवल 2 अक्टूबर 1937 को यह प्रस्ताव पास किया कि स्पेन की भूमि पर निश्चित रूप से विदेशा सैनिक दल हैं और उन्हें तत्काल और पूर्णरूप से स्पेन से हट जाना चाहिये। किन्तु जर्मनी और इटली अपने स्वयं सेवक हटाने के लिये तैयार नहीं थे। अतः राष्ट्रसंघ अपने इस प्रस्ताव को कार्यान्वित नहीं कर सका। शूमैन ने तो यहां तक लिखा है कि इंगलैण्ड और फ्रांस ने अहस्तक्षेप की नीति के आधार पर तथा अमेरिका ने तटस्थता के नाम पर स्पेन को शस्त्र बेचना और भेजना बन्द कर दिया और इस प्रकार धुरी राष्ट्रों द्वारा स्पेन के लोकतन्त्र की हत्या में सहयोग दिया गया। इस युद्ध ने धुरी राष्ट्रों की तुलना में ब्रिटेन और फ्रांस की दुर्बलता बड़े प्रबल व स्पष्ट शब्दों में व्यक्त कर दी। अब धुरी राष्ट्रों को ब्रिटेन और फ्रांस पर धौंस जमाने और अधिक रियायतें प्राप्त करने का स्वर्ण अवसर मिल गया। इसके अतिरिक्त इस गृह युद्ध में जर्मनी को लड़ने के नये तरीकों का प्रयोग करने का अवसर मिल गया।

(11) सज्जन समझौता—इंगलैण्ड, इटली को मित्र बनाने के लिये प्रयत्नशील था। अतः 2 जनवरी 1937 को दोनों के बीच एक समझौता हुआ, जिसे इतिहास में सज्जन समझौता (Gentlemens Agreement's) कहते हैं। इसमें दोनों ने स्पेन की तटस्थता और अखण्डता को स्वीकार किया और भूमध्यसागर में गुजरने की स्वाधीनता के सिद्धांत को मान्यता दी। किन्तु इसके बाद मुसोलिनी ने ब्रिटेन और फ्रांस के विरुद्ध प्रबल प्रचार आरम्भ कर दिया। उसने अपनी नौ सेना बढ़ाने की विशाल योजना की घोषणा की, जिससे इंगलैंड का भयभीत होना स्वाभाविक ही

था। जर्मनी द्वारा आस्ट्रिया का अपहरण किया गया, किन्तु मुसोलिनी ने इसका विरोध नहीं किया। चेकोस्लावाकिया के संकट के समय मुसोलिनी ने हिटलर को म्यूनिक समझौते के लिये तैयार किया। इस समय ब्रिटेन इटली को संतुष्ट करने तथा उसे हिटलर से पृथक रखने का प्रयत्न कर रहा था। फलतः 16 नवम्बर 1938 को ब्रिटिश-इटालियन पेक्ट हुआ, जिसमें ब्रिटेन ने अबीसीनिया पर इटली की सर्वोच्च सत्ता स्वीकार की। इसके बदले में इटली ने स्पेनिश प्रदेश में युद्ध की समाप्ति पर अपने स्वयं सेवक हटाने तथा निकट पूर्व में ब्रिटिश विरोधी प्रचार न करने का आश्वासन दिया।

(12) **फौलादी समझौता**—फ्रांस ने भी अबीसीनिया पर इटली के आधिपत्य को स्वीकार कर लिया, किन्तु इटली की संसद में फ्रांस से कोर्सिका तथा ट्यूनिसिया लेने की प्रबल मांग की गई। इससे फ्रांस और इटली का वैमनस्य बढ़ने लगा। अतः इटली ने 22 मई 1939 को जर्मनी के साथ एक राजनैतिक और सैनिक समझौता किया। इसी समझौते को फौलादी समझौता (Steel Pact) कहते हैं। क्योंकि इसमें दोनों ने एक दूसरे को सैनिक सहायता देने का निश्चय किया था। इटली की भौगोलिक स्थिति इस प्रकार थी कि उस पर जर्मनी की अपेक्षा ब्रिटेन और फ्रांस अधिक सुगमता से आक्रमण कर सकते थे और वह जर्मनी की तुलना में अभी निर्बल भी था। अतः मुसोलिनी ने, युद्ध का समर्थक होते हुए भी पोलैण्ड के मामले में शांतिपूर्ण समझौते का प्रयास किया।

मुसोलिनी के प्रयासों के बावजूद जब हिटलर ने 1 सितम्बर 1939 को पोलैण्ड पर आक्रमण कर दिया तो फौलादी समझौते के विपरीत वह तटस्थ रहा। वह युद्ध में कूदने के लिये अनुकूल अवसर की प्रतीक्षा करने लगा। इटली के लिये आक्रमण करने और युद्ध में कूदने का उपर्युक्त अवसर वही था, जब कि मित्र राष्ट्रों की पराजय लगभग निश्चित हो चुकी हो, किन्तु उन्होंने आत्मसमर्पण न किया हो अतः हिटलर ने जब फ्रांस को लगभग परास्त कर दिया तब 10 जून 1940 को इल डूचे ने हर्षोन्मत जन समुदाय को संबोधित करते हुए कहा, "भाग्य द्वारा निश्चित की गई घड़ी आ पहुंची है। हम समुद्र में बांधने वाली प्रादेशिक और सैनिक शृंखलाओं को तोड़ना चाहते हैं। हम अवश्य ही विजयी होंगे ताकि इटली में, यूरोप में और विश्व में शांति स्थापित हो सके।" 11 जून 1940 को इटली ने ब्रिटेन और फ्रांस के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। कौन जानता था कि इस युद्ध में मुसोलिनी की न केवल हार होगी अपितु उसके स्वदेशवासी उससे रुष्ट होकर 28 अप्रेल 1945 को उसकी प्रेयसी सहित गोली का शिकार बना देंगे।

अध्याय 22

जर्मनी-नाजीवाद का उत्कर्ष

(RISE OF GERMANY-NAZISM)

पृष्ठ भूमि—प्रथम महायुद्ध के परिणामस्वरूप जर्मनी के होहेनजोलर्न राजवंश का अन्त हो गया और उसके स्थान पर हरएबर्ट के नेतृत्व में प्रजातांत्रिक शासन की स्थापना की गई। 19 जनवरी, 1919 के दिन जर्मन रीष्टाग (लोकसभा) के चुनाव हुए। 6 फरवरी को एबर्ट ने वाइमर (वीमर) नामक नगर में नव-निर्वाचित लोकसभा को आहूत किया। लोकसभा में किसी भी राजनीतिक दल को पूर्ण बहुमत प्राप्त नहीं था। 394 सदस्यों की लोकसभा में समाजवादी दल के 163, कैथोलिक दल के 90 एवं डेमोक्रेटिक दल के 70 सदस्य थे। अत: इन तीनों दलों ने मिलकर संयुक्त सरकार बनाई। एबर्ट को राष्ट्रपति चुना गया तथा शीडमैन को चांसलर (प्रधान मन्त्री) नियुक्त किया गया। नवीन सरकार ने मित्रराष्ट्रों के साथ सन्धि सम्पन्न करने तथा जर्मनी के लिये एक नये संविधान बनाने का कार्य हाथ में लिया। लोकसभा में मित्र राष्ट्रों द्वारा प्रस्तुत सन्धि की शर्तों की भरपूर निन्दा की गई। स्वयं शीडमैन शर्तों के पक्ष में नहीं था। अत: उसने चान्सलर पद से त्याग पत्र दे दिया। उसके स्थान पर गुस्टाव बेवर चांसलर बनाया गया। उसकी सरकार ने 28 जून, 1919 को वर्साय की आरोपित सन्धि पर हस्ताक्षर किये। इस सन्धि पर हस्ताक्षर करने से 'वाइमर सरकार' कभी लोकप्रिय न हो सकी।

31 जुलाई तक नवीन संविधान भी तैयार हो गया। इसके अनुसार जर्मन संघीय राज्य की व्यवस्था की गई थी। इस संघ के अन्तर्गत 18 राज्य थे। इन राज्यों को उनकी शक्ति के अनुसार अधिकार प्रदान किये गये। परन्तु संविधान की मुख्य विशेषता केन्द्रीय सरकार को शक्तिशाली बनाना था। नवीन संविधान के अनुसार दो सदनों की व्यवस्था की गई (1) रीष्टाग (2) रीष्राट। रीष्टाग के सदस्यों के कार्यकाल की अवधि चार वर्ष रखी गई और सदस्यों का निर्वाचन वयस्क मताधि-

कार एवं गुप्त मतदान के द्वारा कराये जाने की व्यवस्था की गई। रीष्टाट में संघ के सदस्य राज्यों का प्रतिनिधित्व होता था। दस लाख की आबादी पर राज्य को एक प्रतिनिधि भेजने का अधिकार दिया गया। दस लाख से कम आबादी वाले राज्य को भी एक प्रतिनिधि भेजने का अधिकार प्रदान किया गया। संघ की कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित थी जिसका निर्वाचन वयस्क मताधिकार के आधार पर जनता करती थी। उसकी पदावधि सात वर्ष रखी गई थी। उसकी सहायता के लिए चांसलर की व्यवस्था की गई। चान्सलर पद के लिए रीष्टाग के बहुमत वाले दल के नेता को चुना जाता था क्योंकि वह राष्ट्रपति के प्रति उत्तरदायी न होकर रीष्टाग के प्रति उत्तरदायी होता था।

आर्थिक संकट—वाइमर प्रजातन्त्र को प्रारम्भ से ही आर्थिक संकटों का सामना करना पड़ा। युद्धकाल में जर्मनी की आर्थिक स्थिति अस्त-व्यस्त हो चुकी थी। वर्साय की सन्धि के कारण जर्मनी को भारी आर्थिक क्षति हुई थी जिसका विवरण हम पढ़ चुके हैं। इस पर भी, उस पर भारी हर्जाना लाद दिया गया। ऐसी स्थिति में जर्मनी की मुद्रा की कीमत गिरती गई। उसके सिक्के 'मार्क' की गिरती स्थिति का अनुभव निम्न तालिका से हो जाता है—

दिसम्बर, 1921,	1 पौंड=700 मार्क
अगस्त, 1922,	1 पौंड=3000 मार्क
दिसम्बर, 1922,	1 पौंड=34,000 मार्क

जर्मनी ने अपनी शोचनीय आर्थिक स्थिति का हवाला देते हुये मित्र राष्ट्रों से दो वर्ष तक हर्जाना न लेने की प्रार्थना की। इंगलैण्ड ने प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया परन्तु फ्रांस और बेल्जियम ने प्रस्ताव को ठुकरा दिया। जब जर्मनी निश्चित अवधि में निर्धारित किस्म अदा नहीं कर पाया तो फ्रांस-बेल्जियम आदि ने मिलकर जर्मनी के समृद्ध रूर प्रदेश पर अधिकार जमा लिया। विवश जर्मनी को यह अपमान भी सहन करना पड़ा। परन्तु उसने सक्रिय असहयोग की नीति अपनाई जिससे जनता को तो भारी कष्ट उठाने ही पड़े परन्तु फ्रांस को भी कोई लाभ नहीं हुआ। अन्त में इस समस्या को हल करने के लिए डावस कमेटी नियुक्त की गई। फ्रांस ने कुछ संशोधनों ने साथ डावस कमेटी द्वारा प्रस्तुत रिपोर्ट को स्वीकार कर लिया।

डावस कमेटी की योजनानुसार जर्मनी की आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए उसे 80 करोड़ गोल्ड मार्क का विदेशी कर्जा दिया गया। इसके अतिरिक्त जर्मनी में 'रीश मार्क' नाम का नया सिक्का जारी किया गया। इस सिक्के की व्यवस्था के लिये राजकीय बैंक की स्थापना की गई तथा इस बैंक को सरकारी नियन्त्रण से पृथक रखा गया। कमेटी की सिफारिश के अनुसार रूर का

प्रदेश जर्मनी को वापस लौटा दिया गया। हर्जाने की रकम के बदले में जर्मनी की रेलवे आय, आयकर से होने वाली आय आदि को अमानत के रूप में रख लिया गया। डावस कमेटी की योजना से मृत जर्मनी में जीवन की नई आशा दृष्टिगोचर होने लगी और जर्मन जनता भी अदम्य साहस तथा आत्मविश्वास के साथ अपने आर्थिक पुर्ननिर्माण की ओर बढ़ी। कोयला तथा इस्पात का उत्पादन बढ़ने लगा। इससे जर्मनी की साख जमने लगी और संयुक्त राज्य अमेरिका से उसे भारी ऋण मिलने लगा। विदेशी ऋण की सहायता से जर्मनी हर्जाने की वार्षिक किस्तों को अदा करने लगा। यह स्थिति 1924 तक कायम रही। इसका अच्छा परिणाम निकला। जर्मनी में प्रजातन्त्र की जड़ें मजबूत होने लगी। 1925 ई. में प्रजातन्त्रिक दलों का उम्मीदवार एबर्ट भारी बहुमत से पुनः राष्ट्रपति चुना गया। 1925 में उसकी मृत्यु के बाद पुनः चुनाव हुए और इस बार भी प्रजातान्त्रिक उम्मीदवार हिन्डेनबर्ग विजयी हुआ। 1929 में जर्मनी की आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए यंग-कमेटी नियुक्ति की गई और उसकी सिफारिशों को स्वीकार कर लिया गया।

दुर्भाग्यवश 1930–31 में सम्पूर्ण संसार आर्थिक मन्दी के गम्भीर संकट में उलझ गया। अमेरिका जैसे समृद्ध राष्ट्र का आर्थिक ढांचा भी चरमरा उठा। जर्मनी की स्थिति तो बहुत अधिक शोचनीय हो गई। उद्योग धन्धे ठप्प हो गये, चारों तरफ रोटी-रोजी की विकराल समस्या फ़ैलती जा रही थी, वस्तुओं के भाव बढ़ते जा रहे थे और सामान्य लोग अपनी थोड़ी सी पूंजी को खोकर निर्धनों की श्रेणी में सम्मिलित होने को विवश होने लगे। जर्मनी को कहीं से अन्तर्राष्ट्रीय ऋण भी न मिल सका। यद्यपि प्रजातान्त्रिक सरकार ने स्थिति को सुधारने का अथक प्रयास किया परन्तु उसे सफलता नहीं मिल पाई जिससे जर्मन जनता का लोकतंत्र से विश्वास जाता रहा। ऐसी परिस्थिति में नाजी दल को अपनी लोकप्रियता तथा शक्ति बढ़ाने का अपूर्व अवसर मिल गया।

प्रजातान्त्रिक सरकार की विदेश नीति—जर्मनी में नाजी दल के उत्कर्ष में प्रजातांत्रिक सरकार की कमजोर विदेश नीति का भारी योगदान रहा है। 1919 से 1932 तक जर्मन राजनीति का मुख्य ध्येय जर्मनी के लिये यूरोप तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सम्मानपूर्वक स्थान प्राप्त करना था। इस सम्बन्ध में भी जर्मन राजनीतिज्ञ एक मत नहीं थे। एक वर्ग रूस से मित्रता करने के पक्ष में था तो दूसरा वर्ग मित्र राष्ट्रों के साथ सहयोग के पक्ष में था। प्रथम वर्ग का कहना था कि रूस के साथ मित्रता स्थापित करके सन्धि के अपमानजक अनुच्छेदों को अस्वीकार करना चाहिये। दूसरे वर्ग का कहना था कि पुराने शत्रुओं (मित्रराष्ट्र) के साथ सहयोग से सन्धि की शर्तों में धीरे-धीरे परिवर्तन के लिए प्रयास करना चाहिए।

शुरू में प्रथम वर्ग का पलड़ा भारी रहा जबकि रूस के साथ जर्मनी ने 1922 में रैपोलो की संधि सम्पन्न की। चार वर्ष बाद, इसी सन्धि के आधार पर रूस से एक

नई संधि की गई परन्तु इसके बाद दूसरे वर्ग का प्रभाव बढ़ गया और रूसी झुकाव धीरे-धीरे कम हो गया। दूसरे वर्ग का नेता था—डा. स्ट्रेसमान। 1923 में कुछ महीनों के लिए डा. स्ट्रेसमान जर्मनी का चांसलर रहा परन्तु उसे त्याग पत्र देना पड़ा। इसके बाद वह विदेश मन्त्री नियुक्त किया गया और अपनी मृत्यु पर्यन्त (अक्टूबर 1929) इसी पद बना रहा। स्ट्रेसमान की विदेश नीति का मूल ध्येय राष्ट्रों के परिवार में जर्मनी के लिए सम्मानित स्थान प्राप्त करना तथा मित्रराष्ट्रों, विशेषत: फ्रांस के साथ मैत्री-सम्बन्ध बढ़ाना था। उसने रूर में चलने वाले निष्क्रिय आंदोलन को बन्द कर दिया। डावस योजना का स्वागत किया और विभिन्न देशों के साथ व्यापारिक सन्धियां करके उनका विश्वास अर्जित करने के सफल रहा। उसके सर्वोच्च महत्वपूर्ण कार्य लोकार्नो समझौता और जर्मनी के लिये राष्ट्र संघ की सदस्यता प्राप्त करना थे। इसका परिणाम अच्छा निकला। 1927 में मित्रराष्ट्रों ने जर्मनी से अपनी सेनाएं हटाली। 1928 में जर्मनी ने सम्मान सहित अन्य राष्ट्रों के साथ पेरिस समझौते पर हस्ताक्षर किये। 1929 में क्षतिपूर्ति का नया हल निकाला गया और यंग-योजना अमल में लाई गई। 1930 में मित्रराष्ट्रों ने राइनलैण्ड को भी खाली कर दिया। परन्तु उसके बाद प्रजातांत्रिक सरकार की विदेश नीति बुरी तरह से असफल होने लगी और बिना किसी ध्येय के अन्धेरे में भटकती रही।

इस प्रकार, वर्साय की आरोपित सन्धि, वर्साय सन्धि के साथ वाइमर सरकार का सहयोग, जर्मनी का नि:शस्त्रीकरण, उपनिवेशों की क्षति, राइनलैण्ड पर मित्र राष्ट्रों का आधिपत्य, सार की घाटी पर फ्रेंच-नियन्त्रण और रूर पर फ्रांस का बलात् अधिकार, 1930-31 का विश्व व्यापी संकट आदि ने सामूहिक रूप से वाइमर प्रजातन्त्र के भविष्य को अन्धकारमय बना दिया और जर्मनी में नाजीवाद के उत्कर्ष का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

नाजी दल की प्रगति

एडोल्फ हिटलर—नाजी दल जिसका मूल नाम "राष्ट्रीय समाजवादी जर्मन मजदूर दल" था, का संस्थापक एडोल्फ हिटलर था। उसका जन्म आस्ट्रिया और बवेरिया की सीमा पर 'इन' नदी के किनारे ब्रौनी नाम गांव के एक मोची के घर हुआ था। उसकी जन्म तिथि है 20 अप्रेल, 1889 ई.। हिटलर एक सामान्य बुद्धि का बालक था। माता के प्रति उसे काफी स्नेह था। परन्तु अपने पिता के साथ उसकी कभी नहीं पटी। उसका किशोर काल ध्येयहीन तथा रंगहीन था। वह चित्रकार बनना चाहता था, परन्तु इस क्षेत्र में उसे सफलता नहीं मिली। उसकी युवावस्था का प्रारम्भिक काल इधर-उधर भटकते गुजर गया था। प्रथम महायुद्ध ने उसके भाग्य की दिशा बदल दी। वह जर्मन सेना मे भर्ती हो गया। उसकी वीरता के कारण उसे "प्रथम वर्ग का लौह-पदक" (आइरन क्रॉस) प्रदान किया गया। इस युद्ध में वह बुरी तरह से घायल भी हो गया था।

प्रथम महायुद्ध में जर्मनी को पराजय का मुंह देखना पड़ा और उसे मित्र-राष्ट्रों द्वारा आरोपित वर्साय की सन्धि पर हस्ताक्षर करने के लिए विवश किया गया जिससे सम्पूर्ण जर्मनी में सन्धि के विरुद्ध असन्तोष व्याप्त हो गया था। एलन बुल्लोक के शब्दों में "इस संधि ने जर्मनी को क्षेत्रीय दृष्टि से लंगड़ा, आर्थिक दृष्टि से खाली, भौतिक दृष्टि से कमजोर और भावात्मक दृष्टि से बेइज्जत कर दिया था।" अत: स्वभाविक था कि हिटलर को भी इससे भारी सदमा पहुंचा। उसने भी अन्य जर्मनों की भांति इस पराजय और कलंकित सन्धि का बदला लेने का निश्चय कर लिया। परन्तु अभी उसके पास साधनों का अभाव था। वह इस समय म्युनिक नगर में था। उसने "जर्मन-मजदूर संघ" की सदस्यता ग्रहण कर ली और कभी-कभी साम्यवादी दल की समस्याओं में जासूसी का काम भी करता था।

1920 ई. में हिटलर ने अपने कुछ सैनिक साथियों की सहायता से 'जर्मन-मजदूर संघ' दल का कायाकल्प कर दिया। अब इसका नया नाम रखा गया—"राष्ट्रीय समाजवादी जर्मन मजदूर दल" जिसे सामान्य बोलचाल की भाषा में "नाजीदल" कहा जाता था। इस दल का 25 सूत्री कार्यक्रम भी घोषित किया गया। कुछ प्रमुख कार्यक्रम इस प्रकार थे—(1) वर्साय की सन्धि को अस्वीकार करना, (2) जर्मनी से छीने गये प्रदेशों को पुन: प्राप्त करना। (3) जर्मन सैन्य शक्ति का विकास करना। (4) जर्मनकरण को पूरा करना तथा विदेशी हस्तक्षेप को रोकना। (5) समाजवादियों और साम्यवादियों का दमन करना। (6) भ्रष्टाचार पर आधारित लोकतान्त्रिक शासन व्यवस्था को समाप्त करना। दल के कार्यक्रम तथा उसकी गतिविधियों का प्रसार करने की दृष्टि से दल का एक समाचार-पत्र भी निकाला गया। म्यूनिक को दलों का मुख्य कार्यालय बनाया गया। 1921 ई. में दल की स्वयंसैनिक टुकड़ी का गठन किया जिसके सदस्य भूरी कुर्ती पहनते थे, दाहिने भुजवन्द पर स्वास्तिक का चिन्ह धारण करते थे और अपने नेता का "हेल हिटलर" कह कर अभिवादन करते थे। इन टुकड़ियों का काम नाजी दल की सभाओं की सुरक्षा करना तथा अन्य दल की सभाओं में अव्यवस्था पैदा करके उन्हें भंग करना था। इस समय तक हिटलर ने अपनी वक्तृत्वकला को काफी विकसित कर लिया था और वह घण्टों भाषण दे सकता था।

1923 ई. में फ्रांस द्वारा रूर प्रदेश पर अधिकार जमा लेने से जर्मनी की आर्थिक व्यवस्था को भारी धक्का लगा और चारों ओर असंतोष तथा अव्यवस्था का दौर चल पड़ा था। हिटलर और उसके एक मित्र लूडेनडोर्फ ने मौजूदा परिस्थिति का लाभ उठाकर जर्मन सरकार का एकाएक तख्त पलटने का प्रयास किया। यद्यपि उसका प्रयास सफल नहीं हो पाया। परन्तु उसने जिस नाटकीयता के साथ प्रयास किया था, उसके फलस्वरूप बहुत से जर्मन लोग उसे पहचान गये। प्रजातान्त्रिक सरकार ने हिटलर के प्रयास को "मदिरालय का विप्लव" नाम देकर कुचल दिया

और हिटलर को पांच वर्ष की साधारण कैद की सजा मिली। परन्तु लगभग 8½ मास बाद ही उसे जेल से रिहा कर दिया गया। अपने कारावास काल में हिटलर ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक "मीन कैम्फ" (मेरा संघर्ष) लिखी जो आगे चलकर नात्सी-दल के लिए पवित्र बाईबिल बन गई।

1923 से 1929 की अवधि में नात्सीदल ने अपना सम्पूर्ण ध्यान दल को संगठित करने की तरफ केन्द्रित किया। 1925 ई. में दल के प्रमुख नेता "फ्यूहरर" के प्रति व्यक्तिगत निष्ठा रखने वाली सैनिक टुकड़ियां गठित की गई जिन्हें एस. एस. या "काली कुर्ती वाले" कहा जाता था। नात्सीदल के सदस्यों को लोकसभा के चुनाव लड़ने तथा जीतने की विशेष ट्रेनिंग दी जाने लगी। इससे दल में कई अच्छे नेताओं का विकास हुआ। उदाहरणार्थ, रोएम एक वीर सेनानायक, गोटफ्रिड फेडर, एक अर्थशास्त्री और हरमैन गोएरिंग एक प्रसिद्ध हवाबाज सिद्ध हुए। डा. जोसेफ गोएबेल्स प्रचार मन्त्री के रूप में विख्यात हुआ तो रूडोल्फहेस दल के संगठनकर्ता के रूप में प्रसिद्ध हुआ। इनके अलावा विल्हेमफ्रिक, अल्फ्रेड रोजेनबर्ग, हिमलर, रिबेनट्रोप आदि अन्य नेताओं का विकास हुआ। फिर भी इस दल को 1924 के चुनाव में केवल 13 स्थान ही प्राप्त हो सके और 1928 के चुनाव में केवल 12 स्थान ही प्राप्त हो सके। यदि जर्मनी की आर्थिक स्थिति अचानक फिर खराब नहीं हो गई होती तो शायद इस दल का प्रभाव ही समाप्त हो जाता।

1928 के बाद नाजी दल का उत्तरोत्तर विकास होता गया। उसकी सदस्य संख्या तेजी से बढ़ने लगी। चूंकि आर्थिक अव्यवस्था का सबसे अधिक घातक परिणाम मध्यम श्रेणी के लोगों को भुगतना पड़ा था अतः इस श्रेणी के लोगों ने नाजी दल को पूरा-पूरा समर्थन दिया। वैसे मुसोलिनी की भांति हिटलर ने भी प्रारम्भ में बड़े-बड़े उद्योगपतियों तथा राजतन्त्रवादियों से सांठ-गांठ कर रखी थी क्योंकि ये लोग साम्यवाद से भयभीत थे और नाजीदल भी साम्यवाद विरोधी था।

1930 के चुनावों में नात्सीदल को आश्चर्यजनक सफलता मिली। उसे 107 स्थान प्राप्त हुए। फिर भी, हिटलर का उत्थान इतना आकस्मिक रहा कि उस युग के अनुभवी राजनीतिज्ञों, इतिहासकारों एवं पत्रकारों की धारणाएं असत्य सिद्ध हुई। उदाहरणार्थ, अक्टूबर 1932 में जर्मन विद्वान अर्नोल्ड वुल्फर्म ने कहा था कि जर्मनी में एक दल द्वारा तानशाही की आशंका समाप्त हो चुकी है। दिसम्बर, 1932 में विश्व विख्यात इतिहासकार टायनबी ने विचार प्रकट किया था कि, "एक बात निश्चित है कि नाजी दल पतनोन्मुखी है।" हिटलर को चांसलर नियुक्त करने के कुछ दिनों पूर्व स्वयं राष्ट्रपति हिन्डेनबर्ग ने कहा था कि "वह बोहेमियन सिपाही (हिटलर) कभी भी जर्मनी का चांसलर नहीं बनेगा।" फिर भी हिटलर जर्मनी का भाग्य विधाता बन ही गया। यह सब कुछ बहुत ही आकस्मिक ढंग से हुआ।

1932 के मार्च-अप्रेल में राष्ट्रपति का चुनाव हुआ। तीन उम्मीदवार मैदान में थे—मौजूदा राष्ट्रपति हिन्डेनबर्ग, नात्सीदल का संस्थापक एडोल्फ हिटलर और साम्यवादी नेता थौलमेन। हिन्डेनबर्ग विजयी हुआ। परन्तु हिटलर को उसके मुकाबले में 37% वोट अर्थात् 1 करोड़ 34 लाख वोट मिले। यह हिटलर और उसके दल की बढ़ती हुई लोकप्रियता का प्रमाण था। जुलाई 1932 में लोक सभा के चुनावों में नात्सी दल को 230 स्थान मिले। परन्तु इसके बाद जर्मनी की आर्थिक स्थिति में थोड़ा सुधार हो गया और नवम्बर 1932 के चुनावों में नात्सी-दल को केवल 196 स्थान ही मिल पाये। अर्थात् तीन चार महिनों में ही उसके प्रभाव में कमी आ गई। ऐसी स्थिति में किसी को भी यह उम्मीद नहीं थी कि हिटलर सत्तारूढ़ हो पायेगा। परन्तु उसका भाग्य प्रवल था। 30 जनवरी 1933 को राष्ट्रपति हिन्डेनबर्ग ने तत्कालीन चान्सलर श्लीचर को पदच्युत करके हिटलर को चांसलर नियुक्त किया। इस प्रकार लम्बे संघर्ष के बाद हिटलर सत्ता प्राप्त करने में सफल रहा और यह सब कुछ वैध उपायों से प्राप्त किया गया।

सत्ता का दृढ़ीकरण

हिटलर चांसलर तो बन गया परन्तु रीष्टाग (लोकसभा) में नात्सीदल का बहुमत नहीं था। अतः उसे अपने 11 सदस्यों वाले मन्त्रिमण्डल में 8 राष्ट्रवादियों को मन्त्री बनाना पड़ा। नाजीदल के केवल तीन लोगों को मन्त्री बनाया जा सका। अतः हिटलर ने लोक सभा को भंग करके 5 मार्च 1933 को नवीन चुनावों की घोषणा की। चुनावों के कुछ दिन पूर्व नात्सी सरकार ने अपने विरोधियों की धर-पकड़ शुरू कर दी। इसी अवधि में रहस्यमय परिस्थितियों में रीष्टाग के भवन में आग लग गई। सरकार ने इसका सारा दोष साम्यवादियों के मत्थे मंढ दिया और इस आरोप में साम्यवादी दल के सैकड़ों कार्यकर्ताओं तथा नेताओं को जेल में ठूंस दिया गया। इतना ही नहीं, एक विशेष आदेश के द्वारा उन्हें निर्वाचन में भाग लेने से भी वंचित कर दिया गया। इसके विपरीत साम्यवादियों का आरोप था कि रीष्टाग भवन में आग लगाने का काम नात्सीदल ने ही किया था। आधुनिक युग के कुछ प्रमुख इतिहासकार भी साम्यवादी दल के आरोप को सही बतलाते हैं। जो भी हो चुनाव बहुत ही उत्तेजित वातावरण में सम्पन्न हुआ। परिणाम भी हिटलर के पक्ष में रहा। रीष्टाग के 647 स्थानों में 288 स्थान नात्सी दल को, 52 स्थान नात्सी दल के सहयोगी राष्ट्रवादियों को, 120 स्थान सोशल डेमोक्रेटों को, 81 साम्यवादियों को और शेष स्थान अन्य दलों को प्राप्त हुए। इस प्रकार नाजियों और राष्ट्रवादियों को सदन में स्पष्ट बहुमत मिल गया।

23 मार्च 1933 को रीष्टाग ने 94 मतों के विरुद्ध 441 मतों से एक विशेष नियम पास करके हिटलर के मन्त्रिमण्डल को चार वर्ष के लिए पूर्ण अधिकार प्रदान

कर दिये। इस प्रकार हिलटर की तानाशाही पर वैधानिकता की मोहर लगा दी गई। 1 दिसम्बर 1933 के एक अन्य नियम द्वारा राज्य और नात्सीदल की एकता की घोषणा की गई। अगस्त, 1934 में राष्ट्रपति हिन्डेनबर्ग की मृत्यु हो गई। इस पर 14 अगस्त, 1934 को हिटलर ने 'राष्ट्रपति' और 'चान्सलर' दोनों पदों को मिलाने की व्यवस्था की। जनता ने 90% मतों से हिटलर के कार्य को मान्यता प्रदान की। अब हिटलर ने "इम्पीरियल लीडर" की पदवी धारण की। इस प्रकार, हिटलर जर्मनी का एक मात्र शासक बन गया।.अब नाजी दल राष्ट्र का और हिटलर नाजी-दल का प्रतीक बन गया। इसके साथ ही, जर्मनी में प्रजातन्त्र का अन्त हो गया।

उत्कर्ष के कारण

नात्सीदल और उसके प्रमुख नेता हिटलर ने जो आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त की, उसके मूल में अनेक राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक कारण निहित थे। उसमें कुछ निम्नलिखित थे:—

1 हिटलर का व्यक्तित्व—नात्सीदल के उत्कर्ष का एक प्रमुख कारण हिटलर का असाधारण व्यक्तित्व था। उसमें जननायक होने के सभी गुण थे। वह एक मंजा हुआ राजनीतिज्ञ, एक प्रतिभावान एवं महान वक्ता और एक वीर सैनिक था। उसमें परिस्थितियों के अनुसार राजनीतिक दाव-पेचों को अपने अनुकूल कार्यान्वित करने की अद्भुत योग्यता थी। उसकी वक्तृत्व-शक्ति वेमिशाल थी। उसकी वाणी में एक विचित्र मोहिनी शक्ति थी जो श्रोताओं को मंत्र-मुग्ध कर देती थी। बैन्स ने उसके सम्बन्ध में लिखा है, "हिटलर एक कुशल मनोवैज्ञानिक था, एक चतुर जन नेता था और एक श्रेष्ठ अभिनेता था। वह एक साधन सम्पन्न आन्दोलनकारी तथा एक योग्य संगठन कर्ता था।" अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण वह उस राष्ट्र का अधिनायक बन गया जिसका वह मूल नागरिक भी नहीं था। इससे भी अधिक आश्चर्य की बात यह है कि उसकी उन्नति में जनमत का बहुत बड़ा हाथ रहा था।

2 वर्साय की आरोपित सन्धि—जर्मन जनता वर्साय की आरोपित सन्धि को भूल नहीं पाई। इस सन्धि ने उनके देश को नैतिक और भौतिक दृष्टि से मृतप्राय बना दिया था। वर्साय की संधि के बाद की घटनाओं-फ्रांस का सतत् विरोधी रुख, रूर आधिपत्य, राइन आधिपत्य, सार आधिपत्य, क्षतिपूर्ति की भारी रकम, जर्मनी का एक पक्षीय निःशस्त्रीकरण आदि ने जर्मनों के क्रोध को भड़काने का काम किया। 1924 से 1929 के अस्थायी आर्थिक पुनरुत्थान के काल में असन्तोष एवं प्रतिशोध के ये तत्व पृष्ठभूमि में धकेल दिये गये परन्तु उनका अस्तित्व कायम रहा। 1930–31 के आर्थिक संकट के समय में ये तत्व अपनी पूर्ण शक्ति के साथ आ धमके और एक बार पुनः वर्साय की संधि के प्रति विद्यमान आक्रोश फूट पड़ा। नात्सीदल ने "वर्साय का अन्त हो" का नारा लगा कर लाखों संतुष्ट जर्मनों का समर्थन प्राप्त कर

लिया। वस्तुतः नात्सीदल के उत्कर्ष का एक प्रमुख कारण वर्साय की संधि के प्रति जर्मन जनता का क्रोध था। परन्तु इतिहासकार लिप्सन इसे सही नहीं मानते हैं।

जातीय उत्कृष्टता का प्रचार—नात्सीदल के उत्कर्ष का एक कारण जर्मन जनता में उग्र राष्ट्रीयता का पुनर्जागरण था। हिटलर ने इसे और भी उग्र बनाने के लिये जातीय उत्कृष्टता का विचार प्रतिपादित किया। उसका कहना था कि ईश्वर ने जर्मन जाति को अन्य जातियों पर शासन करने के लिए बनाया है। चूंकि जर्मन जाति शुरू से ही सैनिक मनोवृत्ति एवं वीर पूजा की भावना से प्रेरित होती आई है। अतः अब उसे हिटलर के रूप में एक वीर नायक मिल गया और अपनी स्वाभाविक भावना के साथ जनता ने उसे अपना "फ्यूहरर" मान लिया।

प्रजातांत्रिक शासन व्यवस्था—हिटलर और नात्सीदल के उत्कर्ष का एक कारण जर्मन जनता में प्रजातांत्रिक लोकसभात्मक शासन पद्धति के विरुद्ध अरुचि होना था। बहुत से जर्मन, संसदात्मक शासन प्रणाली, जिस अंग से वह कार्य कर रही थी, से ऊब गये थे, क्योंकि उन्हें वे दिन याद थे जबकि लोकसभा में अनुशासन और व्यवस्था की दृढ़ व्यवस्था थी और वाद-विवाद तथा फजीतियों का वातावरण नहीं था। तत्कालीन जर्मन राजनीतिज्ञ केवल थोथे वचन और प्रतिज्ञाएँ करते रहते थे। इससे सामान्य जनता को भारी आघात पहुंचता था। वह एक ऐसे शक्तिशाली व्यक्ति को जर्मनी का भाग्य विधाता देखना चाहती थी जो कि जनता को मौजूदा शोचनीय स्थिति से मुक्ति दिलवा सके।

साम्यवाद का भय—1917 ई. में रूस में साम्यवादियों को जो अभूतपूर्व सफलता मिली उसका प्रभाव यूरोप के कई देशों पर पड़ा। जर्मनी में यह प्रभाव अधिक रहा। नवम्बर 1932 के चुनावों में साम्यवादी दल को 100 स्थान मिले। साम्यवादियों की इस सफलता ने नात्सीदल के भाग्योदय का मार्ग प्रशस्त कर दिया। जो लोग एक शक्तिशाली व्यक्ति को जर्मनी का भाग्य-विधाता देखना पसंद करते थे वे तो नात्सीदल के अनुयायी बन ही चुके थे परन्तु साम्यवादी भय ने उद्योगपतियों तथा पूंजीपतियों को भी नात्सीदल का समर्थन करने के लिए विवश कर दिया। हिटलर ने सामान्य जनता में भी साम्यवाद का हौवा खड़ा कर दिया। जब रीष्टाग भवन को जलाने का सारा दोष साम्यवादियों के मत्थे मंढा गया तो लोग यह अनुभव करने लगे कि इनको दबाने के लिए नात्सी दल को समर्थन देना आवश्यक है क्योंकि साम्यवादी दल से टक्कर लेने लायक यदि कोई दल है तो वह नात्सी दल ही है।

मनोवैज्ञानिक कारण—नात्सी दल के उत्कर्ष का एक कारण मनोवैज्ञानिक था। ऐसा प्रतीत होता था कि प्रजातन्त्र अधिकांश जर्मनों की रुचि के प्रति अपेक्षित ध्यान देने में अनिच्छुक है अथवा समर्थ है। साम्राज्यवादी जर्मनी के महान पुरुषों एवं उनके आदर्शों की हत्या करने वाले प्रयत्नों के सम्बन्ध में प्रजातांत्रिक सरकार

की सहिष्णु नीति, साम्राज्यवादी ध्वज को तत्परता से त्यागना तथा सोवियत रूस के साथ मैत्री गठबन्धन—इन सब कार्यों ने जर्मन जनता को प्रजातन्त्र से विमुख कर दिया। सामन्तवादी तत्वों, नवयुवकों, आदर्श किसानों और सैनिकों जिन्हें मौजूदा राजनीतिज्ञों से घृणा थी, ने इस असन्तोष को और अधिक फैलाने में सहयोग दिया। नात्सी दल और हिटलर ने इस असन्तोष का महत्व समझा और इसका लाभ उठाने का पूरा-पूरा प्रयास किया। लीवेन्स ने ठीक ही कहा है कि हिटलर एक कुशल मनोवैज्ञानिक था और उसमें संघर्ष और संगठन करने की अपूर्व क्षमता थी। उसमें असन्तुष्ट लोगों के मन की बात जानने की क्षमता थी और तत्कालीन परिस्थितियों को अपने ध्येयों की पूर्ति के लिए मोड़ने की भी क्षमता थी।

नात्सी दल का कार्यक्रम—नात्सीदल के उत्कर्ष का एक प्रमुख कारण उसका आकर्षक कार्यक्रम था। जर्मनी के अधिकांश दलों ने इस कार्यक्रम में अपने कार्यक्रम की झलक देखी। नात्सी कार्यक्रम में, सम्पत्ति की सुरक्षा का आश्वासन तथा साम्यवादियों का दमन, श्रमिकों को शोषितों से मुक्ति का, उपभोक्ताओं को उत्पादकों के शोषण से बचाने का, छोटे-छोटे व्यापारियों को बड़े-बड़े मुनाफाखोरों से बचाने का आश्वासन दिया गया। हिटलर के इस कूटनीतिक कार्यक्रम ने सबको संतुष्ट कर दिया। इसके अलावा, इस कार्यक्रम का जोर शोर के साथ प्रचार किया गया। नात्सी दल के तूफानी दस्तों की सैनिक शक्ति के प्रदर्शन से जहां अन्य दलों के कार्यकर्ता भयभीत हो गये थे, वहीं सामान्य लोगों को यह विश्वास होने लगा कि नात्सी दल ही जर्मनी को स्थाई शान्ति तथा व्यवस्था प्रदान कर सकेगा।

हिटलर की गृह-नीति

विरोधियों का सफाया—प्रशासनिक सत्ता हस्तगत करने के तुरन्त बाद ही हिटलर ने नात्सीदल के प्रमुख विरोधियों को जर्मनी के राजनीतिक रंगमंच से पूर्ण रूप से हटा देने का निश्चय किया। इस समय नात्सी दल के दो प्रमुख विरोधी थे। एक मार्क्स के अनुयायी साम्यवादी और दूसरे यहूदी, चाहे वे किसी भी दल से सम्बन्धित क्यों न हों। इन दोनों वर्गों के प्रमुख नेताओं को पकड़ लिया गया और हजारों की संख्या में उनके अनुयायियों को कारागार में ठूंस दिया गया। कारागार में उन पर नाना प्रकार के अत्याचार किये गये तथा हर सम्भव उपाय से उन्हें आतंकित किया गया ताकि वे साम्यवाद को छोड़ कर नात्सी दल की सदस्यता ग्रहण कर लें। यहूदी जाति से नाजी शासन अत्यधिक असन्तुष्ट था और चाहता था कि यहूदी लोग जर्मनी से चले जायें। हिटलर के सहायक गोएरिंग ने यहूदियों को नेस्तनाबूद करने के लिए 'गेस्टापो' और "समाधि-स्थलों" (Concentration Camps) की स्थापना की जहां यहूदियों पर अमानवीय अत्याचार किये गये। परिणाम यह निकला कि जर्मनी के अनेक यहूदी करोड़पति, विद्वान, कलाकार आदि लोग जर्मनी छोड़ कर

भाग गये। इसके उपरान्त उन लोगों पर जुल्म ढाये गये जो अपनी परम्परागत संस्कृति को त्याग कर नात्सी दल की सदस्यता ग्रहण करने को तैयार न थे।

अपने विरोधियों का सफाया करने के सम्बन्ध में नात्सीदल ने उन सभी राजनैतिक दलों को समाप्त कर दिया जिन्हें मार्क्स के सिद्धान्तों से प्रेरणा मिलती थी। उनके साथ काफी कड़ाई की गई। उनकी सभाओं और अखबारों पर प्रतिबन्ध लगा दिये गये। उनके कोषों को जब्त कर लिया गया और उनके नेताओं को जेलों में ठूँस दिया गया। नात्सी सरकार की इस नीति को देखकर कई राजनैतिक दलों ने स्वयं अपने आपको भंग कर दिया। अब केवल एक दल, एक नेता और एक साम्राज्य के सिद्धान्त का अनुकरण किया गया।

जर्मनी का केन्द्रीयकरण—अपने विरोधियों का सफाया करने के पश्चात् हिटलर ने जर्मनी की केन्द्रीय सत्ता को संगठित तथा मजबूत बनाने का प्रयास किया। मौजूदा प्रजातन्त्र एक संघीय राज्य था जबकि नात्सी दल केन्द्रीयकरण में विश्वास रखता था। केन्द्रीयकरण की दिशा में प्रथम कदम था—जर्मन संघ के राज्यों की विधानसभाओं को भंग करना। इसके उपरान्त उन राज्यों को केन्द्रीय सरकार के प्रान्तों में परिवर्तित करना। यद्यपि नात्सी दल ने प्रशा, बवेरिया, सक्सोनी, बाडेन आदि राज्यों को राजनीतिक इकाइयों के रूप में एकदम से मिटाने का विधिवत् प्रयास किया था, परन्तु इसमें उसे पूर्ण सफलता नहीं मिल सकी।

जर्मनी के इस पुनर्निर्माण में जो राजनीतिक विचारधारा काम कर रही थी, वह इटली के फासिस्टवाद से मिलती-जुलती थी। फासिस्टों की भांति नाजियों ने भी समष्टिवादी राज्य की घोषणा की, जिसकी सत्ता स्वयं अपने विकास के लिए है और नागरिक का प्रत्येक कार्य, प्रत्येक स्थिति में उसी की हित-कामना से प्रेरित होना चाहिए। प्रजातांत्रिक राज्य में नागरिकों को जो मूल अधिकार उपलब्ध होते हैं, नात्सी शासन उनका घोर विरोधी था। समष्टिवादी प्रजातन्त्र की इन परम्परागत स्वतन्त्रताओं को सिद्धान्ततः और व्यापक रूप में निराकृत करते हैं।

श्रमिक नीति—महायुद्ध के उपरान्त से ही जर्मनी के श्रमिकों पर मार्क्स के सिद्धान्तों का गहरा प्रभाव पड़ने लग गया था और उनकी संस्थाएँ साम्यवादी सिद्धांतों से प्रभावित हो चुकी थी। हिटलर साम्यवाद का घोर शत्रु था। अतः नात्सी शासन काल में श्रमिक संघों को भंग कर दिया गया और उनकी निधियों (Funds) को सरकार ने जब्त कर लिया। इसके बाद सम्पूर्ण जर्मन श्रमिकों को उजड्ड तथा असंयत नाजी नेता डाक्टर 'ले' के नेतृत्व में संगठित किया गया। उद्योग और श्रमिकों के बीच सहयोग स्थापित किया गया। सरकार की ओर से मजदूर-कल्याण बीमा, बचत, पेशे की ट्रेनिंग आदि की व्यवस्था की गई। हिटलर अपनी नई नीति को राष्ट्रीय समाजवाद की स्थापना की दिशा में पहला कदम कहता था।

आर्थिक उत्थान—यद्यपि हिटलर ने अपने दल का नाम राष्ट्रीय समाजवादी दल रखा था परन्तु उसकी कार्यवाहियों से स्पष्ट हो गया कि यह राष्ट्रीय अधिक है और समाजवादी कम। यह भी सत्य है कि उसने बेकार श्रमिकों को शीघ्र ही काम दिया। इसका मूल कारण यह है कि हिटलर ने प्रारम्भ में गुप्त रूप से और बाद में खुले तौर पर शस्त्रों का निर्माण शुरू कर दिया था। इसके अतिरिक्त नाजियों ने सार्वजनिक निर्माण योजना को कार्यान्वित करने का निश्चय किया और साम्यवादी रूस का अनुकरण करते हुए चतुर्वर्षीय योजना (Four year plan) का सूत्रपात किया। हिटलर का लक्ष्य जर्मनी को आर्थिक दृष्टि से पूर्णत: स्वावलम्बी बनाना था। उसने देश के कच्चे माल को भारी मात्रा में उपयोग में लाने की दिशा में महत्वपूर्ण कदम उठाये। रसायन शास्त्रियों तथा वैज्ञानिकों की सहायता से रवड़, तेल, कपास, ऊन, शक्कर आदि का काम देने वाले कृत्रिम दृव्यों (Ersatz) का विकास किया गया। क्योंकि इन वस्तुओं को प्राप्त करने के लिए जर्मनी को विदेशों का मुखापेक्षी होना पड़ता था।

शिक्षा और साहित्य—स्कूलों और विश्वविद्यालयों के अध्ययन में ताल-मेल वैठाया गया। जन्म से मृत्यु तक की शिक्षा के द्वारा एक नये समाज की स्थापना का प्रयास किया गया। इस दिशा में उसका सम्पूर्ण ध्यान जर्मनी के विशुद्ध जर्मन नागरिकों का विकास करने की तरफ केन्द्रित था। अत: गैर आर्यों को शिक्षक पदों से हटा दिया गया। गैर आर्य छात्रों को किसी प्रकार की सुविधाएँ नही दी गई। 1933 से 1938 की अवधि में विश्वविद्यालयों के लगभग एक तिहाई पदों को परिवर्तित किया गया। पाठ्य-पुस्तकों को भी नये ढंग से लिखा गया जिससे विद्यार्थियों तथा शिक्षकों में नात्सी सिद्धान्तों के प्रति निष्ठा और श्रद्धा का विकास हो सके। जियोपोलिटिक्स, जीव विज्ञान आदि की पढ़ाई में जाति वंश के विषय में नयी बात पढ़ायी जाने लगी और विद्यार्थियों में शुरू से ही यह भावना भरी जाने लगी कि जर्मन जाति अन्य जातियों से श्रेष्ठ है और इसकी श्रेष्ठता को बनाये रखना प्रत्येक जर्मन का पवित्र कर्तव्य है। इस दृष्टि से नये तरह के नात्सी स्कूल खोले गये, जिनमें चुने हुए छात्रों को नात्सी दल के नेतृत्व के लिए ट्रेनिंग दी जाती थी। इसी तरह कला और साहित्य में भी ताल-मेल स्थापित किया गया। "राइच कल्चर चैम्बर" (Reich Culture Chamber) की स्थापना की गई और गोएबेल्स को इसका प्रधान नियुक्त किया गया। इसका काम साहित्य के सभी अंगों—पत्रकारिता, रेडियो, फिल्म, नाटक, संगीत, चित्रकारिता एवं साहित्य पर नियन्त्रण रखना था।

इस प्रकार, नात्सी दल के प्रथम वर्ष में ही हिटलर ने जर्मनी का स्वरूप बदल दिया। सभी राजनीतिक दलों का लगभग सफाया कर दिया गया और गैर राजनीतिक संस्थाओं को एकदम बदल दिया गया।

धार्मिक नीति—नात्सी दल ने जब धार्मिक क्षेत्र में भी अपने समष्टिवाद के

सिद्धान्त को लागू करने का प्रयत्न किया तो भेदभाव और पृथकता के वातावरण से उसे यह काम काफी जटिल लगा। क्योंकि धार्मिक क्षेत्र में ये भेदभाव शताब्दियों से चले आ रहे थे। फिर भी नात्सी शासन ने समता के तीव्र औषधोपचार के द्वारा इन भेदों को मिटाने का प्रयास किया। जर्मनी में एक 'राष्ट्रीय' चर्च की स्थापना की गई जिसमें केवल विशुद्ध जर्मन मूल के पादरियों को नियुक्त किया गया। नात्सी प्रचारकों ने ईसा मसीह को एक आर्य शहीद बतलाया जिसे यहूदियों ने मार डाला था। यहूदियों को दगाबाज, सूदखोर, ठग, बदमाश आदि के रूप में बदनाम किया गया। धार्मिक और सामाजिक एवं आर्थिक जीवन में यहूदियों का बहिष्कार किया गया। प्रशासनिक सेवाओं से सभी यहूदियों को हटा दिया गया और उन्हें जर्मनी से बाहर खदेड़ने का योजनाबद्ध तरीका अपनाया गया। द्वितीय महायुद्ध के समय में लाखों यहूदियों को मौत के घाट उतार दिया गया। जहां तक कैथोलिक और प्रोटेस्टेन्ट शाखाओं का सम्बन्ध है, नात्सी दल को विशेष सफलता नहीं मिली। विवश होकर हिटलर को पोप के साथ समझौता करना पड़ा। पोप ने कैथोलिकों द्वारा राजनीति में किसी प्रकार का हिस्सा न लेने देने का वचन दिया। इसी प्रकार का समझौता प्रोटेस्टेन्ट वालों से भी करने का निश्चय किया गया, परन्तु प्रोटेस्टेन्ट सम्प्रदाय की एक शाखा ने समझौता प्रस्ताव ठुकरा दिया और उसने नात्सी दल के प्रति अपना विरोध जारी रखा।

हिटलर की विदेश नीति

मुख्य उद्देश्य—हिटलर के नेतृत्व में नात्सी शासन ने जो विदेश नीति अपनाई वह राष्ट्रीय समाजवादी दल द्वारा 1920 में स्वीकृत कार्यक्रम की नीति से भिन्न थी। उसकी विदेश नीति मीन कैम्फ पर आधारित थी और इसके मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित थे—

(1) जर्मन मूल वंश के सब लोगों को आत्म-निर्णय के सिद्धान्त के आधार पर एक वृहत्तर जर्मन साम्राज्य में संगठित करना। वैसे बिस्मार्क ने प्रशा के नेतृत्व में जर्मन राज्यों का एकीकरण किया था परन्तु वह जर्मन आबादी वाले प्रदेशों को जर्मन साम्राज्य के अन्तर्गत नहीं ला सका था। आस्ट्रिया के अधिकांश निवासी जर्मन भाषा-भाषी थे। इसी प्रकार डेन्जिग, स्विट्जरलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया और बाल्टिक राज्यों के कई प्रदेशों में जर्मन भाषा-भाषी लोगों की प्रधानता थी। हिटलर इन सभी जर्मन भाषा-भाषी प्रदेशों को जर्मन साम्राज्य में सम्मिलित करना चाहता था।

(2) हिटलर की विदेश नीति का दूसरा मुख्य उद्देश्य वर्साय तथा अन्य शान्ति समझौतों को रद्द करना था। वह इन्हें जर्मनी के लिए अपमानित तथा कलंकित मानता था। हिटलर ने एक बार कहा था कि "इसकी (वर्साय) प्रत्येक बात को जर्मन जाति के दिल और दिमाग में इस तरह भर दिया जाय कि अंततः 6 करोड़ नर-नारियों के हृदय की लज्जा और घृणा की संयुक्त भावनाओं का एक जाज्वल्य-

मान सागर बन जाये और उस भट्टी में से मजबूत फौलाद का एक ऐसा संकल्प पैदा हो, ऐसी भावना विकसित हो कि 'हम फिर से हथियार लेंगे।"

(3) हिटलर की विदेश नीति का एक मुख्य ध्येय गुप्त रूप से अपने को सुसज्जित करके दूसरे देशों पर वार करने का था। उसके सामने जर्मनी की बढ़ती हुई आबादी को बसाने की समस्या थी। इसके लिए जर्मनी का प्रादेशिक विस्तार करना आवश्यक था। प्रादेशिक विस्तार के लिए हिटलर की विदेश नीति का मूल लक्ष्य जर्मनी के लिए महाद्वीपीय आधार प्राप्त करना था; अर्थात् विस्तृत प्रदेशों को जर्मनी के आस-पास ही प्राप्त करना था न कि उपनिवेशों को प्राप्त करना था। इसके लिए पूर्व की ओर अर्थात् रूस की दिशा में प्रादेशिक विस्तार अधिक सुगम माना गया। दूसरे शब्दों में हिटलर जर्मनी की पूर्व की ओर अग्रसर होने की परम्परागत विदेश नीति को पुनर्जीवित करना चाहता था। इसे पूरा करने के लिए इंगलैण्ड तथा इटली के साथ अच्छे सम्बन्ध बनाये रखने तथा फ्रांस को मित्रविहीन रखने की आवश्यकता थी।

(4) हिटलर की विदेश नीति का एक मुख्य ध्येय प्रथम महायुद्ध के बाद जर्मनी द्वारा खोये हुये कुछ क्षेत्रों को वापस लेना था। इन्हें केवल युद्ध के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता था। प्रार्थना अथवा विरोध प्रदर्शन से इन्हें वापस नहीं लिया जा सकता था।

(5) मीन कैम्फ में हिटलर ने अपनी विदेश नीति का उल्लेख करते हुये लिखा है, "यूरोप में कभी दो शक्तियों को उठने न दिया जाय; जर्मनी की सीमा पर जब भी दूसरी शक्ति के उदय की सम्भावना हो, तभी जर्मनी को उसे कुचल देने का प्रयास करना चाहिए।" शायद हिटलर की विदेश नीति का ध्येय यूरोप की अन्य सभी सैनिक शक्तियों पर आक्रमण करके उन्हें कमजोर बनाने तथा जर्मनी को विश्व शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित करने का रहा हो।

इस प्रकार की विदेशी नीति को कार्यान्वित करने के लिए उत्तम टेकनीक की आवश्यकता थी। हिटलर ने निम्न साधनों का प्रयोग किया—(1) पुनः शस्त्रीकरण—हिटलर युद्ध को मानव जाति के कल्याण के लिए आवश्यक मानता था। उसका मानना था कि संघर्ष के द्वारा ही अच्छी चीज का सृजन होता है। संघर्ष में सफलता के लिए उत्तम कोटि के अस्त्र-शस्त्र होने आवश्यक हैं। अतः उसने शस्त्रीकरण की तरफ विशेष ध्यान दिया और इसके लिये जर्मनी को राष्ट्रसंघ की सदस्यता छोड़नी पड़ी। (2) प्रचार—हिटलर का मानना था कि विजय केवल तलवार के द्वारा ही प्राप्त नहीं होती है। इसके लिये लेखनी और प्रचार की भी आवश्यकता है। उसने पश्चिमी देशों को यह आश्वासन दिया कि वह साम्यवाद रोकने का अथक प्रयत्न कर रहा है। इसी चक्कर में इंगलैण्ड और फ्रांस ने जर्मनी द्वारा शान्ति सन्धियों का उल्लंघन सहन कर लिया था। जब तक पश्चिमी देशों को

साम्यवादी भूत का भय बना रहा हिटलर निश्चिंत रहा। (3) मतभेद उत्पन्न करना—हिटलर हमेशा किसी भी समस्या को इस ढंग से प्रस्तुत करने में विश्वास रखता था जिससे पश्चिमी देशों में आपसी मतभेद उत्पन्न हो जाय। उदाहरणार्थ जर्मनी और जापान का समझौता पश्चिमी देशों के विरुद्ध किया गया था परन्तु हिटलर ने उसे साम्यवाद विरोधी रूप दिया। इसी प्रकार स्पेन के गृह-युद्ध में उसने साम्यवादियों के विरुद्ध कैथोलिकों को सहयोग देने की बात कह कर जनरल फ्रांको को मदद दी और प्रजातांत्रिक सरकार का गला घोंट दिया।

विदेश नीति के प्रमुख कार्य

राष्ट्र संघ से अलग होना—4 अप्रेल, 1933 को हिटलर के निर्देशन में जर्मन सुरक्षा परिषद की स्थापना की गई और इसे गुप्त रूप से युद्ध के लिए लाम बन्दी की योजनाएं बनाने का तथा शस्त्रों के निर्माण का अधिकार दे दिया गया। हिटलर की यह नीति राष्ट्रसंघ के उद्देश्यों के प्रतिकूल थी; क्योंकि राष्ट्रसंघ शस्त्रों को कम करना चाहता था और जर्मनी को निःशस्त्रीकरण में कोई रुचि नहीं थी। इसलिए 14 अक्टूबर 1933 ई. को हिटलर निःशस्त्रीकरण सम्मेलन से अलग हो गया और राष्ट्रसंघ की सदस्यता भी त्याग दी। उसने अपनी नीति को निम्न शब्दों में स्पष्ट किया—'जर्मनी की भूतपूर्व सरकार ने राष्ट्रसंघ की सदस्यता इस विश्वास के साथ ग्रहण की थी कि वहां पर सभी को समानाधिकार एवं सुविधाएं प्रदान की जायेगी और जर्मनी अपने भूतपूर्व शत्रुओं के साथ अच्छे सम्बन्ध बना सकेगा। परन्तु राष्ट्रसंघ में न तो समानता है और न समानाधिकार। अतः इस प्रकार के असम्मान-नीय वातावरण में रहना जर्मन जाति के गौरव के विरुद्ध हो जाता है।" इसके तुरन्त बाद ही हिटलर ने राष्ट्रसंघ छोड़ने के अपने निर्णय को जर्मन मतदाताओं के सम्मुख प्रस्तुत किया और 95% मतदाताओं ने उसके निर्णय का समर्थन किया। यह इस बात की स्पष्ट चेतावनी थी कि स्ट्रेसमान की सहयोगी नीति का अन्त हो चुका है और हिटलर आक्रामक नीति को अपनाने का दृढ़ संकल्प कर चुका है।

पोलैण्ड के साथ अनाक्रमण समझौता—वर्साय की सन्धि द्वारा पोलैण्ड को जर्मनी के बहुत से क्षेत्र—डेन्जिग बन्दरगाह, साइलेशिया, पोसेन आदि प्राप्त हुए थे। हिटलर का सत्तारूढ़ होना पोल राजनीतिज्ञों के लिए सरदर्द बन गया था क्योंकि हिटलर कई बार सार्वजनिक तौर पर जर्मनी द्वारा खोये हुए प्रान्तों को लेने की बात कह चुका था। राष्ट्र संघ का परित्याग करने के कारण सारा संसार भी हिटलर को अविश्वास की निगाह से देखने लगा था। ऐसी स्थिति में संसार को अपनी शान्ति प्रियता का प्रमाण देने हेतु हिटलर ने 26 जनवरी, 1934 ई. को पोलैण्ड के साथ दस वर्ष के लिए एक अनाक्रमक समझौता सम्पन्न कर लिया। परन्तु उसका वास्त-विक उद्देश्य फ्रांस की सुरक्षा-प्रणाली को निर्बल बनाना था जिसका पोलैण्ड एक महत्वपूर्ण सदस्य था। इस समझौते के बाद पोलैण्ड, सामूहिक सुरक्षा नीति के

मार्ग से दूर खिसकने लगा और फ्रांस की यह आशा धूमिल पड़ गई कि पोलैण्ड, रूस और जर्मनी के मध्य सन्तुलन बनाए रखने में सफल होगा।

अपनी इस कूटनीतिक चाल से हिटलर जर्मनी के प्रबल शत्रु पोलैण्ड को अपना मित्र बनाने में सफल हो गया। हिटलर की इस नीति के पीछे कुछ अन्य कारण भी निहित थे। चूंकि हिटलर ने अपने कार्यों के द्वारा पश्चिमी देशों और साम्यवादी रूस–दोनों को असन्तुष्ट बना दिया था, अतः इस समय जर्मनी अकेला पड़ गया था और उसे दिखावे के लिए ही एक मित्र की आवश्यकता थी। दूसरा कारण यह था कि अगले वर्ष सार घाटी में जनमत संग्रह होने वाला था। एक कारण यह भी था कि पोलैण्ड के साथ समझौता करके वह पूर्व की तरफ से निश्चित होकर अन्य दिशाओं में अपनी विस्तारवादी योजना को कार्यान्वित कर सकता था। पोलैण्ड ने भी अपने स्वार्थों की वजह से समझौता किया था। उसके दोनों पड़ौसी-रूस और जर्मनी उसके शत्रु थे। दोनों शत्रुओं के साथ अधिक समय तक शत्रुता बनाये रखना उसके हित में अच्छा नहीं था। लोकार्नो की सन्धि से पोलैण्ड का अपने मित्र फ्रांस से विश्वास उठ गया था। क्योंकि फ्रांस को अपनी सुरक्षा की चिन्ता पहले थी और इसके लिए वह अपने मित्रों के हितों के प्रति उदासीन रुख अपना सकता था। इधर जर्मनी काफी शक्ति सम्पन्न हो गया था। अतः पोलैण्ड ने एक शत्रु की चिन्ता से मुक्त होने के लिए जर्मनी से समझौता कर लेना उचित समझा।

आस्ट्रिया को हड़पने का प्रयास—सेंट जर्मेन की सन्धि के द्वारा आस्ट्रिया के साथ जर्मनी का एकीकरण वर्जित कर दिया गया था। फिर भी 1919 के बाद कई वर्षों तक अधिकांश आस्ट्रियन जनता जर्मनी के साथ एकीकरण की इच्छुक थी। परन्तु जर्मनी के नात्सी दल के सत्तारूढ़ होने के बाद अधिकांश आस्ट्रियन लोगों का यह मत बदल गया था। केवल जर्मनी के थोड़े से अनुयायी नाजी लोग ही इसके लिए प्रयत्नशील थे। हिटलर अपनी मातृभूमि आस्ट्रिया का जर्मनी के साथ एकीकरण करने को अधिक उत्सुक था। उसने आस्ट्रियन नाजियों को अस्त्र-शस्त्र तथा सैनिक प्रशिक्षण दिलवाया तथा गुप्त रूप से उनकी पूरी मदद की। इसके बाद हिटलर के इशारे पर आस्ट्रियन सरकार का तख्ता पलटने का प्रयास किया गया। आस्ट्रिया के चांसलर डालफस को कत्ल करवा दिया गया और आस्ट्रियन नाजियों ने कई महत्वपूर्ण सरकारी इमारतों पर अधिकार कर लिया। आस्ट्रियन जनता ने नाजियों को समर्थन नहीं दिया। आस्ट्रियन सेना ने यथाशीघ्र नाजियों के विद्रोह को कुचल दिया। डालफस की हत्या की सूचना मिलते ही इटली के मुसोलिनी ने आस्ट्रियन सीमान्त पर अपनी फौजों को तैनात कर दिया और जर्मनी को चेतावनी दे दी कि आस्ट्रिया में हस्तक्षेप करने का अर्थ–इटली से युद्ध छेड़ना होगा। हिटलर को इस प्रकार की परिस्थिति के उत्पन्न हो जाने की आशंका नहीं थी और फिलहाल वह किसी भी बड़े युद्ध के लिए तैयार नहीं था। अतः उसने इस समूची कार्यवाही से

अपने किसी भी प्रकार के सम्बन्ध को अस्वीकार कर दिया। इस प्रकार, आस्ट्रिया को हड़पने का प्रयास विफल रहा। परन्तु इसके महत्वपूर्ण परिणाम निकले। हिटलर को मुसोलिनी की मित्रता का महत्व मालूम हो गया। अतः अब उसने मुसोलिनी की मित्रता प्राप्त करने की तरफ विशेष ध्यान दिया। हिटलर की कार्यवाहियों से शंकित होकर रूस ने राष्ट्रसंघ की सदस्यता स्वीकार करली। फ्रांस ने भी इटली के प्रति मित्रता का हाथ बढ़ाया और दोनों में 1935 में समझौता हो गया। इतना ही नहीं, आस्ट्रिया ने भी फ्रांस के साथ मैत्री-समझौता कर लिया।

सार पर अधिकार—वर्साय की संधि के अनुसार 13 जनवरी 1935 को राष्ट्रसंघ के तत्वावधान में सार क्षेत्र में यह जानने के लिए जनमत संग्रह किया गया कि वहां की जनता फ्रांस के साथ अथवा जर्मनी के साथ मिलना चाहती है। सार की जनता ने भारी बहुमत से जर्मनी के पक्ष में मतदान किया। परिणामस्वरूप राष्ट्रसंघ की कौंसिल ने 17 जनवरी को सम्पूर्ण सार क्षेत्र जर्मनी को सौंप दिया और 1 मार्च, 1935 को औपचारिक विधि भी अदा करदी गई। पश्चिम देशों को संतुष्ट करने के लिये हिटलर ने सार पर अधिकार करने के उपरान्त घोषणा की कि उसे पश्चिम में और अधिक प्रान्तों की आकांक्षा नहीं है।

शस्त्रीकरण—सार प्रदेश पर अधिकार होते ही हिटलर ने शस्त्रीकरण के काम को तेजी से आगे बढ़ाने का निश्चय कर लिया। इसी समय फ्रांस ने अपने यहां अनिवार्य सैनिक सेवा की अवधि दुगुनी करदी और इंगलैण्ड ने भी वायु सेना की वृद्धि शुरू करदी। इससे हिटलर को शस्त्रीकरण का स्वर्ण अवसर मिल गया। 16 मार्च 1935 को हिटलर ने जर्मनी के पुनःशस्त्रीकरण की घोषणा की, जिसमें कहा गया कि चूंकि मित्रराष्ट्र वर्साय सन्धि के अन्तर्गत निःशस्त्रीकरण का पालन करने में असमर्थ रहे हैं, अतः जर्मनी सन्धि के एक पक्षीय पहलू या दायित्व का पालन करने के लिए बाध्य नहीं है। जर्मन रीस्टाग तत्काल की अनिवार्य भर्ती के द्वारा अपनी शांति कालीन सेना में 5 लाख सैनिकों की वृद्धि करेगी। हिटलर ने इस कदम के विरुद्ध ब्रिटिश, फ्रेंच और इटालियन सरकारों ने विरोध पत्र भेजे। राष्ट्रसंघ ने भी हिटलर की भर्त्सना की। परन्तु जर्मनी को अपने दायित्व से मुंह मोड़ने के लिए सजा देने सम्बन्धी कोई कदम नहीं उठाया गया जिससे हिटलर का उत्साह बढ़ गया और वह जर्मनी की सैन्य शक्ति की वृद्धि में जुट गया।

एंग्लो-जर्मन नौसेना समझौता—हिटलर द्वारा जर्मनी के पुनःशस्त्रीकरण की घोषणा से फ्रांस और रूस-दोनों ही विशेष रूप से भयभीत हो गये और उन दोनों ने जर्मनी के विरुद्ध "फ्रेंच–सोवियत पेक्ट" पर हस्ताक्षर कर दिये। परन्तु हिटलर ने इंगलैण्ड के साथ समझौता करके इस पेक्ट को अर्थहीन बना दिया। 25 मार्च, 1935 को हिटलरने इङ्गलैण्डके सामने एंग्लो-जर्मन नौ सैनिक समझौते का प्रस्ताव रखा था जो कुछ विशेष कूटनीतिक दांव-पेंच के उपरान्त 18 जन, 1935 ई. को

सम्पन्न हो गया। इस समझौते के अनुसार जर्मनी को ग्रेट ब्रिटेन की जल सेना के 35 प्रतिशत के अनुपात से जल सेना रखने की स्वीकृति मिल गई। इस सन्धि के द्वारा जर्मनी को पनडुब्बियां बनाने का भी अधिकार मिल गया जिसका वर्साय की सन्धि में निषेध किया गया था। जो भी हो, यह समझौता हिटलर की एक महान कूटनीतिक सफलता थी। इंगलैंड ने अपने साथी राष्ट्रों से सलाह लिये बिना यह समझौता किया था जिससे वे इंगलैण्ड को अविश्वास की दृष्टि से देखने लगे। इससे मित्र राष्ट्रों में मतभेद बढ़ने लगा और यहीं से जर्मनी को संतुष्ट करने की नीति का सूत्रपात हुआ जिसे किसी भी आधार पर न्यायोचित नहीं ठहराया जा सकता। इस समझौते की टीका करते हुए जर्मन राजदूत रिब्बनट्राप ने लिखा था कि "इस समझौते का सबसे बड़ा महत्व यह था कि इससे ब्रिटेन वर्साय की संधि की शस्त्रास्त्र सम्बन्धी व्यवस्थाएं तोड़ने के लिए तैयार हो गया।"

राइन प्रदेश का सैन्यीकरण—हिटलर लोकार्नो सन्धि को समाप्त करके राइन प्रदेश को पुनः सामरिक दृष्टि से सुसज्जित करना चाहता था। उसे शीघ्र ही अवसर प्राप्त हो गया। मई 1935 में फ्रांस और चेकोस्लोवाकिया ने रूस के साथ पारस्परिक सुरक्षा संधि सम्पन्न करली। हिटलर ने इस सन्धि का विरोध किया। 2 मार्च, 1936 ई. को उसने राइन प्रदेश पर अधिकार कर लिया और घोषणा की कि फ्रेंको-रशियन समझौते ने लोकार्नो संधि की आत्मा को ही समाप्त कर दिया है। अतः अब जर्मनी लोकार्नो को मानने के लिये कटिबद्ध नहीं है। इस प्रकार, उसने फ्रांस के ऊपर आरोप लगा कर पश्चिमी देशों को जर्मनी के विरुद्ध किसी प्रकार की कार्यवाही करने से रोक दिया। जर्मन रीष्टाग ने उसकी कार्यवाही का समर्थन नहीं किया। हिटलर ने रीष्टाग को भंग कर अपनी नीति को जनता के सामने रखा। 28 मार्च 1936 को जनता ने 88.8 प्रतिशत मतों से उसकी नीति का समर्थन किया।

लोकार्नो संधि के अन्त ने वर्साय संधि पर आधारित सुरक्षा-प्रणाली को पूर्णतः नष्ट कर दिया। जर्मन सेनाओं को आक्रमण का मार्ग मिल गया। इसके परिणामस्वरूप, फ्रांस और चेकोस्लोवाकिया के मध्य स्थापित सैनिक सहयोग भी व्यर्थ हो गया और आस्ट्रिया की स्वतन्त्रता को बचाना अब और भी दुष्कर कार्य हो गया। हिटलर के इस कदम से छोटे राष्ट्रों का इंगलैंड और फ्रांस से विश्वास जाता रहा और जर्मनी की तरफ मैत्री का हाथ बढ़ाने लगे। राजनीतिक दृष्टि से रूस अकेला पड़ गया और वह राष्ट्रसंघ को अधिक शक्तिशाली बनाने के लिए निरर्थक हाथ-पैर मारता रहा।

रोम-बर्लिन धुरी—यह शायद स्वाभाविक ही था कि तीन असंतुष्ट महान शक्तियां—जर्मनी, जापान और इटली, जो कि 1931–36 के काल में अपनी आक्रामक

कार्यवाहियों के द्वारा शेष संसार को विक्षुब्ध किए हुई थी, आपसी समर्थन के लिए एक दूसरे के समीप आ जाय। क्योंकि 1936 के आरम्भ में प्रत्येक देश पृथक खड़ा था और संसार की सहानुभूति को खो चुका था। सर्व प्रथम जर्मनी ने अपने अकेलेपन को तोड़ने का प्रयत्न किया। इसका एक कारण यह भी था कि 1934 में मुसोलिनी के विरोध के कारण ही जर्मनी आस्ट्रिया को हड़पने में विफल रहा था। अतः इटली की मित्रता को प्राप्त करना बहुत आवश्यक था। इधर इथोपियन संकट ने इटली को इंगलैंड और फ्रांस से दूर फेंक दिया था और मुसोलिनी हिटलर की तरफ झुकने लगा था क्योंकि हिटलर ने राष्ट्रसंघ द्वारा इटली के विरुद्ध लगाये गये आर्थिक प्रतिबन्धों का मुकावला करने में मुसोलिनी को पूरी पूरी सहायता दी थी। इतना ही नहीं, इटली की इथोपिया विजय को मान्यता देने वाला पहला देश भी जर्मनी ही था। जुलाई 1936 में हिटलर के गुप्त सुझावों के अनुकूल आस्ट्रिया ने अपने आपको एक जर्मन राज्य घोषित कर दिया। हिटलर ने आस्ट्रिया की प्रभुसत्ता को स्वीकार करते हुए यह मान लिया कि आस्ट्रिया का राजनीतिक ढांचा उसका घरेलू मामला है और वह प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से इसमें हस्तक्षेप नहीं करेगा। हिटलर की इस नीति के पीछे मुसोलिनी की मित्रता को प्राप्त करने की भावना मुख्य थी। इस सम्पूर्ण प्रसंग में मुसोलिनी चुप्पी साधे रहा जिसका अर्थ था—हिटलर का समर्थन। संयोगवश, इसी समय स्पेन का गृह-युद्ध शुरू हो गया जिसमें एक तरफ प्रतिक्रियावादी जनरल फ्रांको था तो दूसरी तरफ लोकतांत्रिक सरकार थी। मुसोलिनी जनरल फ्रांको की मदद कर रहा था। उसे खुश करने के लिए हिटलर ने जनरल फ्रांको को पूरा-पूरा सहयोग एवं समर्थन प्रदान किया जब कि फ्रांस मुसोलिनी से चिढ़ गया था और इंगलैंड का रुख भी मुसोलिनी के अनुकूल नहीं रहा। ऐसी स्थिति में मुसोलिनी और हिटलर का नजदीक आना स्वाभाविक ही था। 21 अक्टूबर 1936 को इटली के विदेशमन्त्री ने बर्लिन की यात्रा की और 25 अक्टूबर 1936 को इटली और जर्मनी में एक समझौता हो गया। इसमें यह व्यवस्था की गई—(1) समान हितों से सम्बन्धित सभी मामलों में दोनों के मध्य सहयोग। (2) साम्यवाद के विरुद्ध यूरोपीय सभ्यता की सुरक्षा। (3) डेन्यूब नदी क्षेत्र में आर्थिक सहयोग, और (4) स्पेन की प्रादेशिक तथा औपनिवेशिक अखण्डता को बनाये रखना। 1 नवम्बर 1936 को मुसोलिनी ने प्रथम बार संसार को 'रोम-बर्लिन धुरी' के बारे में जानकारी दी।

बर्लिन-टोकियो धुरी—मुसोलिनी से मैत्री सम्बन्ध हो जाने पर हिटलर को सोवियत रूस के विरुद्ध एक और शक्तिशाली मित्र की आवश्यकता थी। 25 नवम्बर 1936 को जर्मनी ने जापान के साथ "एन्टीकोमिन्टर्न पेक्ट (Anti-Commintern Pact) पर हस्ताक्षर कर दिये। इस समझौते का उद्देश्य साम्यवादी रूस का विरोध करना था परन्तु वास्तव में यह रूस और पश्चिमी देशों, दोनों के विरुद्ध किया गया

था। इसके अनुसार दोनों देशों ने कोमिन्टर्न की कार्यवाहियों को एक-दूसरे को सूचित करने तथा इसके विरुद्ध कदम उठाने के सम्बन्ध में आपसी सलाह एवं सहयोग देने का वचन दिया गया। इस सम्बन्ध में बर्लिन-टोकियो धुरी का निर्माण हुआ। 6 नवम्बर 1937 को इटली भी इस समझौते में सम्मिलित हो गया। इस प्रकार तीन प्रमुख असंतुष्ट शक्तियां 'कोमिन्टर्न-विरोधी गुट'' की चादर ओढ़ कर एकता के सूत्र में बंध चुकी थी और रोम-बर्लिन-टोकियो धुरी की रचना पूर्ण हो चुकी थी। महाशक्तियां पुनः दो गुटों में विभाजित होने की तैयारी में लग चुकी थी।

रोम-बर्लिन टोकियो-गुट का सहयोग कई अवसरों पर उनकी संयुक्त नीति से शीघ्र ही स्पष्ट हो गया। 1937 ई. में इटली ने घोषणा की कि वह जर्मनी द्वारा आस्ट्रिया को अपने संघ में मिलाने के प्रयत्न के विरुद्ध आस्ट्रिया की सुरक्षा के लिए सैनिक सहायता नहीं देगा। इसी प्रकार, जर्मनी ने जापान द्वारा स्थापित "मंचूको" राज्य को मान्यता देकर आपसी सहयोग का परिचय दिया।

आस्ट्रिया को हड़पना—स्पेन के गृह-युद्ध, चीन पर जापान के नये आक्रमण तथा नवीन सन्धि समझौतों के परिणामस्वरूप 1938 तक यूरोप की राजनीतिक स्थिति इतनी संदिग्ध बन चुकी थी कि हिटलर को आस्ट्रिया हड़पने की अपनी चिर अभिलाषा को पूर्ण करने का अवसर मिल गया। मुसोलिनी जिसने कि पहले उसका इस सम्बन्ध में विरोध किया था, अब हिटलर का मित्र बन चुका था। फ्रांस इस समय मंत्रिमंडलों की अस्थिरता के दौर से गुजर रहा था और एक निश्चित प्रभावकारी कदम उठाने की स्थिति में नहीं था। ग्रेट ब्रिटेन की सरकार जर्मनी के प्रति तुष्टिकरण की नीति को अपना रही थी अतः हिटलर के लिए यह उपयुक्त अवसर था।

हिटलर ने आस्ट्रिया के सम्बन्ध में अपना प्रथम कदम 12 जनवरी 1938 को बढ़ाया जब कि आस्ट्रिया का चांसलर शुशनिग (Schuschnigg) हिटलर से मिलने आया। हिटलर की धमकियों के कारण शुशनिग को आस्ट्रियन नाजी नेता आर्थर सेइस इनक्वार्ट को गृहमंत्री तथा अन्य नेताओं को न्याय तथा विदेश मंत्री नियुक्त करने का वचन देना पड़ा। शुशनिग ने स्वदेश आकर घोषणा की कि वह यह प्रश्न जनता के सामने रखेगा और चार दिन बाद इस पर जनमत संग्रह लिया जायेगा। शुशनिग को यह विश्वास था कि इतने कम समय में नाजी लोग अपने प्रचार कार्य में सफल नहीं होंगे और जनमत उसके पक्ष में रहेगा तथा संसार को मालूम हो जायेगा कि आस्ट्रिया की जनता जर्मनी के साथ मिलना नहीं चाहती।

परन्तु हिटलर जनमत संग्रह के पक्ष में नहीं था। उसने शुशनिग को मतसंग्रह को रद्द करने तथा त्याग पत्र देने को कहा और यह धमकी भी दी कि यदि ऐसा नहीं किया गया तो जर्मन सेना आस्ट्रिया पर आक्रमण कर देगी और संसार की कोई

शक्ति आस्ट्रिया को नहीं बचा सकेगी। अपने देशवासियों को संभावित रक्तपात से बचाने की दृष्टि से शुशनिग ने हिटलर की दोनों मांगें स्वीकार कर ली। सेइस-इनक्वर्ट चांसलर बनाया गया और उसने तत्काल ही जर्मनी से प्रार्थना की कि आस्ट्रिया में शांति बनाये रखने के लिए जर्मन सेना भेजी जाये। 13 मार्च को जर्मन रीष्टाग ने एक कानून बनाया जिसके अनुसार आस्ट्रिया को जर्मन संघ का एक राज्य स्वीकार कर लिया गया। आस्ट्रियन राष्ट्रपति मिकलास को त्याग पत्र देना पड़ा। 14 मार्च को हिटलर ने सशस्त्र जर्मन सेना के साथ वियना में प्रवेश किया। जनता ने भारी उत्साह के साथ आस्ट्रिया में जन्मे हिटलर का शानदार स्वागत किया। इस प्रकार आस्ट्रिया को जर्मन साम्राज्य में मिला लिया गया।

आस्ट्रिया के सम्बन्ध में जर्मनी की कार्यवाही की प्रतिक्रिया बड़ी रुचिपूर्ण रही। इंगलैण्ड में यह माना गया कि साम्यवादी तूफान को रोकने के लिए जो बांध बन रहा था वह अब और अधिक मजबूत हो गया। कुछ लोगों ने इसे आत्म-निर्णय का सुन्दर उदाहरण माना। मुसोलिनी भी घबड़ा गया परन्तु उसने अपनी घबड़ाहट प्रकट नहीं की। फ्रांस को इससे सख्त अफसोस हुआ। पोलैण्ड को अपनी सुरक्षा की चिंता लग गई। दूसरी तरफ, मध्य यूरोप में अब जर्मनी की स्थिति मजबूत हो गई और हिटलर को अपनी "पूर्व की तरफ प्रसार" (Drang nach osten) की नीति को सार्थक करने का मार्ग मिल गया। आस्ट्रियन प्रभुत्व ने जर्मनी को दक्षिण-पूर्वी यूरोप के सम्पूर्ण यातायात का वास्तविक नियन्त्रण प्रदान कर दिया। चेकोस्लोवाकिया अकेला पड़ गया। उसके व्यापारिक मार्ग जर्मनी में से होकर जाते थे, जो अब जर्मनी की कृपा पर निर्भर करते थे।

चेकोस्लोवाकिया का अंग-भंग—हिटलर की अगली योजना चेकोस्लोवाकिया का अंग-भंग थी। इस योजना को कार्यान्वित करने के कई कारण थे—(1) चेकोस्लोवाकिया लोकसभात्मक राष्ट्र था। (2) राष्ट्र संघ का कट्टर समर्थक था। (3) फ्रांस और रूस का मित्र था। (4) वर्साय की सन्धि से इसकी उत्पत्ति हुई थी। (5) शक्तिशाली चेक सेना का अस्तित्व कभी भी संकट का कारण बन सकता था। (6) सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण था और (7) हिटलर को विश्वास था कि इस समय कोई भी राष्ट्र उसकी सहायता को नहीं आ सकेगा। इसके अतिरिक्त, चेकोस्लोवाकिया विविध जातियों का घर था। 1930 की जनगणना के अनुसार उसकी आबादी में 74,47,000 चेक, 32,31,600 जर्मनी, 26,09,000 स्लोवाक, 6,91,000 मगयार, 4,49,000 रूथीनियन और 81,000 पोल लोग थे। यदि आत्म-निर्णय के सिद्धांत को लागू किया जाता तो चेकोस्लोवाकिया का अंग भंग निश्चित था।

चेकोस्लोवाकिया के मामले में भी हिटलर ने अपने पुराने नुस्खे का उपयोग किया। चेकोस्लोवाकिया के जर्मन आबादी वाले सूडेटन प्रदेश के जर्मनों की ओट में

काम शुरू किया गया। जर्मनों का नेता था कोनर्ड हेनलिन। उसने चेकोस्लोवाकिया में स्थित सभी जर्मनों से अपने दल में सम्मिलित होने की प्रार्थना की और चेकोस्लोवाकिया में मंत्रिमंडल के जर्मन सदस्यों से त्यागपत्र दिलवाने में भी सफल रहा। इसके बाद हेनलिन की मांगें बढ़ती गई। मई 1938 में आम चुनावों के समय स्थिति इतनी विगड़ चुकी थी कि बहुतों को यह सन्देह हुआ कि चुनाव के परस्पर विरोधी राष्ट्रीय वर्गों के आपसी झगड़े की ओट में, कहीं जर्मनी, सूडेटन जर्मनों का पक्ष लेकर चेकोस्लोवाकिया में न घुस जाये। परन्तु ऐसा नहीं हुआ।

यद्यपि फ्रांस ने अपने मित्र चेकोस्लोवाकिया से अनुरोध किया था कि कुछ सीमा तक सूडेटन जर्मनों को सुविधाएं प्रदान करके उन्हें सन्तुष्ट करने का प्रयास करे, परन्तु फिर भी उसने स्पष्ट कर दिया कि यदि चेकोस्लोवाकिया पर जर्मनी ने आक्रमण किया तो वह अपने मित्र की सहायता को पहुँच जायेगा। ब्रिटिश सरकार ने पेरिस के साथ निरन्तर सम्पर्क कायम रखा और बर्लिन तथा प्राग दोनों को शांति पूर्वक झगड़े को निपटाने की सलाह दी। इधर जर्मनी ने राइन के किनारे-किनारे स्विट्‌जरलैण्ड से लेकर नीदरलैण्ड तक किलेबन्दी शुरू कर दी। इसे "पश्चिमी-दीवार" कहा जाता है और इसका उद्देश्य पश्चिम में फ्रांस को रोकना था, यदि पूर्व में जर्मनी चेकोस्लोवाकिया पर आक्रमण करे।

जुलाई में, ब्रिटिश सरकार ने, चेक सरकार की स्वीकृति के साथ, सूडेटन जर्मनों के विवाद को निपटाने में, चेक सरकार की सहायता के लिए लार्ड रन्सीमैन को प्राग भेजा। 7 सितम्बर 1938 को चेक सरकार ने रन्सीमैन की सलाह से तैयार की गई एक योजना हेनलिन को भेजी। यह योजना सूडेटन जर्मनों की समस्त प्रारम्भिक मांगों को वास्तविक रूप में पूरा करने वाली थी। परन्तु 12 सितम्बर को हिटलर ने एक सार्वजनिक भाषण में कहा कि सूडेटन जर्मनों को आत्म-निर्णय का अधिकार दिया जाना चाहिये। यदि वे अपनी सुरक्षा आप नहीं कर सकते तो उन्हें हम से सहायता मिलेगी। इस घोषणा से स्थिति और भी खराब हो गई और उपद्रव बढ़ते ही गये।

इस प्रकार की संकटकालीन स्थिति से इंगलैण्ड के प्रधानमंत्री चेम्बरलेन ने हिटलर को संतुष्ट करने तथा भावी युद्ध को टालने की दृष्टि से 15 सितम्बर को हिटलर से व्यक्तिगत मुलाकात की। यहाँ चेम्बरलेन को मालूम हुआ कि हिटलर यह तय कर चुका है कि यदि सूडेटन जर्मन जर्मनी में मिलना चाहें तो उन्हें ऐसा करने की सुविधा दी जानी चाहिये और वह उन्हें यूरोपीय युद्ध की जोखिम पर भी सहायता देने को कटिबद्ध है। ब्रिटिश और फ्रेंच सरकारों के सामने युद्ध को टालने का एक मात्र मार्ग रह गया—आत्म-निर्णय के सिद्धान्त को स्वीकार कर लेना। 19 सितम्बर को दोनों सरकारों ने अपने निर्णय चेक सरकार को भेज दिये और यह

स्पष्ट कर दिया कि यदि वह इस पर अमल नहीं करेगी तो उसे किसी प्रकार की सहायता नहीं दी जायेगी।

इंगलैण्ड और फ्रांस के विश्वासघात का कोई भी कारण रहा हो, निर्बल चेकोस्लोवाकिया को उनके आदेश को स्वीकार करना पड़ा। चेक नेताओं की यह इच्छा नहीं थी कि संसार उन्हें दूसरे महायुद्ध के लिए दोषी ठहराये। अतः 21 सितम्बर को चेक सरकार ने एंग्लो-फ्रेंच प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। चेम्बरलेन इस खुशखबरी के साथ हिटलर से मिलने गया। हिटलर ने अब अपनी मांगों को और भी बढ़ा दिया जो इस प्रकार थी—(1) जर्मनी को सौंपा जाने वाला सम्पूर्ण क्षेत्र 1 अक्टूबर तक जर्मनी को सौंप दिया जाय; (2) इस क्षेत्र में किसी प्रकार की सम्पत्ति नहीं हटायी जाय और न नष्ट की जाय; (3) चेक सेना या पुलिस के सूडेटन जर्मनों को रिहा कर दिया जाय और अन्य जर्मन कैदियों को भी छोड़ दिया जाय और (4) अन्तिम निपटारा जर्मन-चेक या अन्तर्राष्ट्रीय आयोग के नियन्त्रण में मत संग्रह द्वारा हो। मतसंग्रह 25 नवम्बर तक हो जाना चाहिये।

म्यूनिख समझौता—24 सितम्बर को चेक सरकार ने हिटलर की मांगों को "सर्वथा और बिना शर्त अस्वीकार्य" कहकर ठुकरा दिया। इंगलैण्ड और फ्रांस ने भी हिटलर की उपर्युक्त मांगों को अनुचित बतलाया। चेम्बरलेन तथा अन्य नेताओं ने मुसोलिनी से अनुरोध किया कि वह हिटलर को शक्ति उपयोग से रोकने के लिए अपने प्रभाव का सद् उपयोग करे। मुसोलिनी ने फोन पर हिटलर से बातचीत की और हिटलर ने इस प्रश्न पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाने की बात को स्वीकार कर लिया। उसने मुसोलिनी, चेम्बरलेन और दिलादिये (फ्रेंच विदेशमंत्री) को 29 सितम्बर को म्यूनिख आने का निमंत्रण दिया।

निश्चित दिन पर हिटलर उन तीनों से म्यूनिख स्थान पर मिला और एक समझौता हो गया जो कि हिटलर की मांगों का ही दूसरा रूप था। यह ध्यान देने की बात है कि इस सम्बन्ध में न तो चेकोस्लोवाकिया को और न उसके हिमायती रूस को ही बुलाया गया था। विवश चेक सरकार के सामने म्यूनिख समझौते को स्वीकार करने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं था। म्यूनिख समझौते की शर्तें इस प्रकार थीं—(1) चेक सरकार सूडेटन प्रदेश को खाली कर देगी और यह काम 10 अक्टूबर तक पूरा हो जायेगा। चेक सरकार इस क्षेत्र की किलेबन्दी को नष्ट नहीं करेगी। (2) सूडेटन प्रदेश को खाली करने की शर्तों का निर्धारण एक अन्तर्राष्ट्रीय आयोग करेगा जिसमें जर्मनी, ब्रिटेन, फ्रांस, इटली और चेकोस्लोवाकिया का एक एक प्रतिनिधि होगा। (3) जनमत संग्रह किन प्रदेशों में किया जाय, इसका निर्णय 5 सदस्यों का उपर्युक्त अन्तर्राष्ट्रीय आयोग करेगा। जनमत संग्रह की तिथि भी आयोग निर्धारित करेगा परन्तु वह नवम्बर के अन्त तक ही होनी चाहिये। (4) सीमाओं का अन्तिम निर्धारण भी [illegible]

महीने तक दिये गये प्रदेशों को छोड़ने या उनमें बसने की स्वतन्त्रता होगी। जनसंख्या की इस अदला-बदली का काम जर्मन–चेकोस्लोवाकिया आयोग करेगा। (6) चेक सरकार 4 सप्ताह के भीतर-भीतर जर्मन राजनीतिक बन्दियों को रिहा कर देगी। (7) ब्रिटेन और फ्रांस ने चेकोस्लोवाकिया को नये सीमान्तों की सुरक्षा की गारन्टी दी।

1 अक्टूबर 1938 को प्रातःकाल जर्मन सैनिकों ने सूडेटन प्रदेश पर अधिकार कर लिया। इसी अवसर पर चेकोस्लोवाकिया को तेसचेन के आसपास का लगभग 400 वर्ग मील का क्षेत्र पोलैण्ड को सौंपना पड़ा, क्योंकि पोल सेनाएं इस क्षेत्र की सीमा तक बढ़ आई थीं। हंगरी ने भी मगयार आबादी वाले क्षेत्र का दावा किया और 2 नवम्बर को 4800 वर्गमील का क्षेत्र हंगरी को सौंपना पड़ा। इस प्रकार चेकोस्लोवाकिया का अंग-भंग हो गया।

म्यूनिख समझौते का यूरोप की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा।–इसमें मोटे तौर पर फ्रांस द्वारा निर्मित महाद्वीपीय सुरक्षा-पंक्ति को नष्ट कर दिया। पोलैण्ड, रूमानिया और यूगोस्लाविया, जिनके साथ फ्रांस दीर्घ समय से यथा-स्थिति को बनाये रखने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध था, सामान्य रूप से सामूहिक सुरक्षा और विशेषकर फ्रेंच दायित्व के प्रश्न पर संदिग्ध हो उठे। मास्को से अफवाहें आती रही कि सोवियत सरकार फ्रांस के साथ सम्बन्ध विच्छेद करने वाली है। यह बात ठीक भी थी। म्यूनिख समझौते से रूस को विश्वास हो गया कि इंगलैण्ड और फ्रांस ने जान बूझ कर हिटलर को संतुष्ट करने का प्रयत्न किया है ताकि वह पूर्व की तरफ प्रसार की नीति को लागू कर सके और सोवियत रूस से उलझ जाय। वास्तव में यह समझौता तुष्टिकरण की नीति का चरमोत्कर्ष था और सामूहिक सुरक्षा प्रणाली के अवसान का प्रतीक था। इससे इंगलैण्ड और फ्रांस की कायरतापूर्ण नीति का पर्दाफाश हो गया। चेकोस्लोवाकिया के लिए यह समझौता न केवल फांसी का हुक्म था अपितु एक भयंकर विश्वासघात था। फिर भी, म्यूनिख से लौटकर चेम्बर-लेन ने कहा था कि मैं "सम्मान सहित शान्ति" लेकर आया हूं। इस पर विस्टन चर्चिल ने कहा था कि युद्ध एवं अपमान में से एक को चुनना था। आपने अपमान को चुना है अब शीघ्र ही युद्ध करना पड़ेगा। वस्तुतः म्यूनिख समझौता हिटलर के कूट-नीतिक जीवन की सबसे बड़ी विजय और चेम्बरलेन की सबसे बड़ी पराजय थी।

चेकोस्लोवाकिया का अन्त—म्यूनिख समझौते के समय हिटलर ने यह विश्वास दिलाया था कि सूडेटन प्रदेश के बाद यूरोपमें उसकी कोई प्रादेशिक महत्वा-कांक्षा नहीं है। परन्तु यह विश्वास भी पहले की भांति दिखावा मात्र था। उसका ध्यान सम्पूर्ण चेकोस्लोवाकिया को हड़पने की तरफ लगा हुआ था। बोहेमिया और मोरेविया के हवाई अड्डों की प्राप्ति, चेकसेना के अस्त्र-शस्त्रों को प्राप्त करने की अभिलाषा, चेक विदेशी स्वर्ण और मुद्रा का प्रलोभन, कृषि भूमि और मानवीय शक्ति

को प्राप्त करने तथा सामरिक दृष्टि से जर्मनी को सुदृढ़ बनाने की इच्छा से हिटलर ने चेकोस्लोवाकिया का अन्त करने का निश्चय कर लिया था। सर्वप्रथम उसने चेकोस्लोवाकिया प्रान्त के नाजी जर्मनों को चेक सरकार से पृथक एवं स्वतन्त्र होने के लिए उकसाया। फलस्वरूप 14 मार्च 1939 को स्लोवाकिया की स्वतन्त्रता स्वीकार कर ली गई। परन्तु हिटलर की तृष्णा का अन्त नहीं हुआ। उसने चेक राष्ट्रपति हृच्चा को बर्लिन बुलाया और उसे डरा-धमका कर चेक शासन की बागडोर जर्मन नाजी दल को सौंपने के लिए विवश किया। 15 मार्च 1939 को जर्मन सेनाओं ने चेकोस्लोवाकिया में प्रवेश किया और सम्पूर्ण देश को अपने अधिकार में ले लिया। हिटलर के इस कदम ने इंगलैण्ड और फ्रांस के भ्रम को दूर कर दिया। मुसोलिनी भी काफी क्रोधित हो उठा परन्तु अब हिटलर का साथ छोड़ने का समय नहीं था।

मेमल—हिटलर का अगला शिकार लिथुआनिया बना। 21 मार्च को हिटलर ने उससे मेमल प्रदेश को पुनः जर्मन रोष्टाग को सौंपने की मांग की। लिथुआनिया हिटलर की मांग को ठुकराने की स्थिति में नहीं था और न ही उसे पश्चिमी देशों की सहायता का विश्वास था। अतः उसने तुरन्त ही बर्लिन सरकार के साथ समझौता कर लिया। 23 मार्च को हिटलर ने मेमल में प्रवेश किया। तब तक लिथुआनिया ने इस क्षेत्र को पूर्ण रूप से खाली करके जर्मन अधिकारियों को सौंप दिया था। मेमन आधिपत्य पश्चिमी राष्ट्रों की सामूहिक सुरक्षा नीति की विफलता का एक ज्वलन्त उदाहरण था।

सोवियत रूस के साथ सन्धि—हिटलर की उपरोक्त कार्यवाहियों से इंगलैण्ड और फ्रांस का विश्वास समाप्त हो गया था और अब उन्हें यह आशंका उत्पन्न हो गई कि हिटलर का अगला शिकार पोलैण्ड होगा। यह आशंका निर्मूल नहीं थी। वास्तव में हिटलर ने पोलैण्ड पर आक्रमण करने की योजना बना ली थी। 31 मार्च 1939 को इंगलैण्ड और फ्रांस ने पोलैण्ड को अपनी स्वतन्त्रता को बनाये रखने में पूरी-पूरी सहायता का आश्वासन दिया। इसी प्रकार का आश्वासन यूनान, रूमानिया आदि देशों को भी दिये गये। परन्तु इसके लिए सोवियत रूस की मैत्री आवश्यक थी। क्योंकि पूर्वी यूरोप में तत्काल ही सैनिक सहायता पहुंचाना पश्चिमी देशों के लिए सम्भव नहीं था। अतः सोवियत रूस के साथ बात-चीत शुरू की गई जो अगस्त तक चलती रही और जिसका कोई ठोस परिणाम नहीं निकला।

दूसरी तरफ, हिटलर भी अपने प्रबल शत्रु सोवियत रूस के सहयोग के महत्व से अपरिचित नहीं था। अतः उसने रूस के साथ समझौता करके उसे पश्चिमी देशों से विमुख करने की शानदार कूटनीतिक चाल खेली और इसमें वह सफल भी रहा। 23 अगस्त 1939 को हिटलर सोवियत रूस के साथ अनाक्रमक सन्धि करने में सफल रहा। सन्धि के अनुसार यह तय हुआ कि जर्मनी और रूस के मध्य शान्तिपूर्ण सम्बन्ध बने रहेंगे और कोई देश एक दूसरे पर आक्रमण नहीं करेगा और न ही

किसी दूसरे देश को एक-दूसरे के विरुद्ध आक्रमणों में ही सहायता देगा। परन्तु इससे भी अधिक महत्व दोनों देशों में सम्पन्न "गुप्त समझौते" का है। इस गुप्त समझौते के द्वारा जर्मनी और रूस ने पूर्वी यूरोप को आपस में निम्न तरह से बांट लिया—(1) फिनलैण्ड, एसथोनिया और लटेविया को रूसी प्रभाव क्षेत्र में मान लिया गया। लिथुआनिया और वियना जर्मन प्रभाव क्षेत्र में माने गये। (2) पोलैण्ड की नरू, विस्थुला और सेन नदियों को रूस और जर्मनी की सीमा मानी गई। पोलैण्ड को स्वतन्त्र रखना तय हुआ या बाद में परिस्थितियों के अनुकूल कार्य करने का तय किया गया। (3) रूमानिया का बसारविया प्रान्त रूसी प्रभाव के अन्तर्गत माना गया।

यह कहना कठिन है कि इस समझौते के लिए हिटलर और स्टालिन को कौन कौन से तत्वों ने प्रेरित किया होगा? शायद हिटलर ने सोचा हो कि इस समझौते से घबड़ा कर इंगलैण्ड और फ्रांस, पोलैण्ड को दिये गये आश्वासन से मुंह मोड़ लें या फिर उसका यह विचार रहा हो कि पहिले पश्चिमी यूरोप को अपने अधिकार में ले लिया जाय और फिर रूस से निपट लिया जाय। स्टालिन, शायद इस निर्णय पर पहुँच चुका था कि इंगलैण्ड और फ्रांस से उसे किसी प्रकार की सहायता नहीं मिल सकती। इसके अतिरिक्त यदि जर्मनी एक लम्बे समय तक पश्चिमी देशों से युद्ध में उलझा रहा तो रूस को अपनी सैनिक तैयारी करने का अवसर मिल जायेगा और तब जर्मन आक्रमण जिसे वह अवश्यंभावी समझता था, का डटकर प्रतिरोध किया जा सकेगा। युद्ध के फलस्वरूप पश्चिमी देशों के निर्बल हो जाने की संभावना भी थी और उस स्थिति में साम्यवाद का प्रसार सुगमता से किया जा सकता था। जो कुछ भी हो, इतना निश्चित है कि रूस से मित्रता करके हिटलर ने पश्चिमी देशों को करारी कूटनीतिक शिकस्त दे दी।

पोलैण्ड का आक्रमण—1934 ई. में हिटलर ने परिस्थितिवश पोलैण्ड के साथ दस वर्षीय अनाक्रमण सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिये थे परन्तु हिटलर की आन्तरिक इच्छा अवसर मिलते ही पोलैण्ड से जर्मनी के उन प्रदेशों को वापस लेने की थी जिन्हें वर्साय की सन्धि के द्वारा पोलैण्ड को दिये गये थे। पोलैण्ड भी हिटलर के इरादों से सर्वथा अनभिज्ञ नहीं था और इसलिए अपने को निरापद अनुभव नहीं कर रहा था। 1934 के प्रारम्भ से ही पोलैण्ड को विक्षोभ के चिन्ह दिखलाई देने पड़ गये। मार्च 1938 में जर्मन समाचार-पत्रों में पोलिश गलियारे में आबाद जर्मन लोगों पर होने वाले अत्याचारों को बढ़ा-चढ़ा कर छापना शुरू कर दिया गया और पोलैण्ड की कड़ी भर्त्सना की जाने लगी। 28 अप्रेल 1939 को हिटलर ने पोलैण्ड से डेन्जिग बन्दरगाह को पुनः वापस लौटाने की मांग की जिसे पोलैण्ड ने ठुकरा दिया। पोलैण्ड पर आक्रमण करने के पूर्व हिटलर ने कूटनीतिक खेल खेलना पसन्द किया और उसने रूस के साथ अनाक्रमण सन्धि सम्पन्न कर ली। इस सन्धि को सम्पन्न करने के पीछे हिटलर का एक उद्देश्य यह भी था कि इंगलैण्ड और फ्रांस घबड़ा जाय और वे पोलैण्ड को दिये गये आश्वासन को पूरा न करे।

परन्तु हिटलर की धारणा गलत निकली। इंगलैण्ड और फ्रांस अपने आश्वासन पर डटे रहे और उन्होंने बार-बार अपनी बात को दोहराया कि वे किसी भी स्थिति में पोलैण्ड की सहायता करने से पीछे नहीं हटेंगे। 1 सितम्बर 1939 को प्रातःकाल बिना विधिवत युद्ध की घोषणा किये ही जर्मन सेनाओं ने पोलैण्ड पर आक्रमण कर दिया। जर्मन वायुसेना ने भी पोलैण्ड पर बम वर्षा शुरू कर दी। कुछ ही घन्टों के बाद हिटलर ने डेन्जिग पर अधिकार करने का आदेश प्रसारित कर दिया और उस नगर के नाजी नेता को वहां का प्रशासक भी नियुक्त कर दिया गया। ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस ने तत्काल ही जर्मनी को चेतावनी दी कि यदि जर्मनी ने पोलैण्ड के विरुद्ध अपनी कार्यवाही को तत्काल ही बन्द नहीं किया और जर्मन सेनाओं को नहीं हटाया गया तो तत्काल ही अपने दायित्व को पूरा करने के लिए पोलैण्ड की सहायता को आ पहुंचेंगे।

3 सितम्बर, 1939 के प्रात: 9 बजे तक उपरोक्त चेतावनी का उत्तर न आने पर बर्लिन स्थित ब्रिटिश राजदूत ने जर्मनी को सूचित किया कि यदि 11 बजे तक उत्तर नहीं दिया गया तो दोनों देशों में युद्ध शुरू हो जायेगा। इस पर जब भी जर्मनी ने कोई उत्तर नहीं दिया तो 11 बजकर 15 मिनट पर चेम्बरलेन ने जर्मनी के साथ युद्ध की घोषणा कर दी। 5 बजे सायंकाल फ्रांस ने भी जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। इस प्रकार, द्वितीय महायुद्ध शुरू हो गया। कुछ समय के उपरान्त जापान और इटली भी जर्मनी के पक्ष में आ डटे। 1941 ई. तक रूस जर्मनी के साथ सम्पन्न गुप्त समझौते के अनुसार पूर्वी यूरोप के इलाकों पर अधिकार करता रहा परन्तु जब जर्मनी ने उसके विरुद्ध भी युद्ध की घोषणा कर दी तो वह भी मित्र राष्ट्रों के पक्ष में आ गया।

इस प्रकार, हिटलर ने अपनी विदेश नीति के द्वारा सम्पूर्ण संसार को द्वितीय महायुद्ध की ओर धकेल दिया। परन्तु इसके लिए केवल हिटलर को दोषी ठहराना उचित नहीं होगा। द्वितीय महायुद्ध का दायित्व मित्र राष्ट्रों पर भी है। उन्होंने शुरू में युद्ध को टालने की इच्छा से तानाशाहों को संतुष्ट करने की नीति अपनाई। साम्यवादी रूस के प्रभाव को रोकने के लिए वर्साय व्यवस्था के विरुद्ध छोटे-मोटे राष्ट्रों को तानाशाहों की स्वार्थ वेदी पर अर्पित कर दिया। यदि तानाशाहों का सही समय पर उपचार कर दिया गया होता तो द्वितीय महायुद्ध की नौबत नहीं आती।

अध्याय 23

अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएँ एवं गतिविधियाँ
(1919–1939)
(INTERNATIONAL PROBLEMS AND ACTIVITIES)

युद्धोपरान्त विश्व शान्ति को बनाये रखने के लिए, भावी युद्धों को रोकने के लिए राष्ट्रसंघ की स्थापना की गई थी। फिर भी, यूरोपीय राज्यों को अपनी सुरक्षा का भय बना रहा और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान के लिए वे सामूहिक सुरक्षा के उपाय खोजने के प्रयत्न में जुटे रहे। यद्यपि अधिकांश घटनाओं का उल्लेख उनसे सम्बन्धित अध्यायों में किया जा चुका है, फिर भी उन्हें दोहराना अनुचित न होगा। युद्धोपरान्त जिन अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं ने सर्वाधिक ध्यान आकर्षित किया था उनमें से कुछ इस प्रकार थी–क्षति पूर्ति की समस्या, विश्व की आर्थिक व्यवस्था का भंग होना, सामूहिक-सुरक्षा की समस्या, निःशस्त्रीकरण की समस्या, तानाशाहों के प्रति संतुष्टिकरण की नीति, चीन-जापान संघर्ष आदि-आदि।

क्षतिपूर्ति की समस्या

वर्साय की सन्धि के प्रसंग में हम क्षतिपूर्ति की समस्या का प्रारम्भिक स्वरूप पढ़ चुके हैं और इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि इस समस्या का अन्तिम समाधान एक क्षतिपूर्ति आयोग (Reparation Commission) को सौंप दिया गया और आयोग को 1 मई 1921 तक अपनी रिपोर्ट दे देने का निर्देश दिया गया था। इस अन्तरिम अवधि में जर्मनी को 5 अरब डालर का भुगतान करने को कहा गया। यह भुगतान कोयले तथा अन्य वस्तुओं के रूप में किया जाना था।

विभाजन अनुपात—जर्मनी से प्राप्त होने वाली क्षतिपूर्ति को मित्रराष्ट्रों में किस अनुपात में बांटा जाय—इस प्रश्न पर काफी विवाद रहा और अन्त में जुलाई 1920 के स्पा सम्मेलन में निम्न अनुपात तय किया गया—फ्रांस=62%, ग्रेट ब्रिटेन=22%, इटली=10%, बेल्जियम=8%, यूनान, रूमानिया और यूगोस्लाविया=6·4%, जापान=0·75%, और पुर्तगाल=0·75%। इस सम्मेलन में यह

भी तय किया गया कि जर्मनी से मिलने वाली क्षतिपूर्ति में सर्व प्रथम बेल्जियम को उसका हिस्सा देने में प्राथमिकता दी जाय।

अन्तरिम भुगतान—वर्साय सन्धि के अनुसार जर्मनी ने अगस्त 1919 से भुगतान करना शुरू कर दिया और जनवरी 1921 में जर्मनी ने घोषणा की कि कोयले तथा अन्य वस्तुओं के रूप में उसने 5 अरब डालर की क्षतिपूर्ति चुका दी है और जब तक क्षतिपूर्ति आयोग निश्चित राशि तथा उसके भुगतान की व्यवस्था की घोषणा नहीं करेगा तब तक जर्मनी भुगतान बन्द रखेगा। मित्रराष्ट्रों ने जर्मनी के दावे को झूठा बतलाया। उसके हिसाब से अभी तक 2 अरब डालर का ही भुगतान किया गया था। 24 मार्च, 1921 को क्षतिपूर्ति आयोग ने भी जर्मनी को जानबूझ कर अपने दायित्व से मुंह मोड़ने के लिए दोषी ठहराया। मित्रराष्ट्रों ने राइन के पूर्व में स्थित रूहरोर्ट, डुइसबर्ग और डसेलडोर्फ नामक औद्योगिक केन्द्रों पर अधिकार जमा लिया।

क्षतिपूर्ति आयोग की घोषणा—इस घटना के लगभग पांच सप्ताह बाद 27 अप्रेल 1921 को क्षतिपूर्ति आयोग ने क्षतिपूर्ति की कुल राशि की घोषणा कर दी। इसके अनुसार बेल्जियम के युद्ध ऋण के अलावा जर्मनी को लगभग 33 अरब डालर अथवा 660 करोड़ पौंड का भुगतान करना था। इस सम्पूर्ण राशि को तीन हिस्सों में विभाजित किया गया। प्रथम भाग जिसमें 1/3 क्षतिपूर्ति की राशि सम्मिलित थी, का भुगतान एक अरब पौंड प्रतिवर्ष के हिसाब से करना था। शेष 2/3 राशि की वसूली अनिश्चित काल के लिए स्थगित कर दी गई। क्षतिपूर्ति आयोग ने एक बात यह भी स्पष्ट कर दी कि अब तक जर्मनी ने जो कुछ चुकाया है वह मित्र राष्ट्रों की जर्मन स्थित सेनाओं के व्यय के बराबर भी नहीं है। अतः उसको नहीं गिना जायेगा।

अदायगी की कठिनाइयाँ—मित्रराष्ट्रों को क्षतिपूर्ति वसूल करने में तथा जर्मनी को अदा करने में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। जर्मनी को इस समय कहीं से विदेशी ऋण मिलने की आशा नहीं थी। मित्रराष्ट्रों की दीर्घ घेराबन्दी ने जर्मनी को कच्चे सामान के साधनों से वंचित कर रखा था और उसका व्यापार वाणिज्य चौपट हो चुका था। अपनी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी उसे स्वर्ण के माध्यम से विदेशों से कच्चा माल खरीदना पड़ रहा था। इस स्वर्ण की सहायता से क्षतिपूर्ति अदा की जा सकती थी परन्तु जर्मनी के पास स्वर्ण का स्टाक भी काफी कम रह गया था। जर्मन पूंजीपतियों और उद्योगपतियों ने अपनी पूंजी को विदेशी बैंकों में विनियोजित करके जर्मन सरकार के संकट को और अधिक बढ़ा दिया। युद्ध के बाद, जर्मन जनता में इस दायित्व को पूरा करने का उत्साह अथवा रुचि भी नहीं रह गई थी। ऐसी परिस्थितियों में जर्मनी क्षतिपूर्ति की अदायगी में विफल रहा।

निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार जर्मनी ने अगस्त 1921 में 25 करोड़ डालर की प्रथम किश्त अदा कर दी। परन्तु इस अदायगी के साथ ही उसके "मार्क" की कीमत में गिरावट आ गई। कुछ महीनों बाद ही जर्मनी को विश्वास हो गया कि वह विदेशी ऋणों की सहायता के बिना क्षतिपूर्ति की किश्तों की अदायगी नहीं कर पायेगा। इसलिए जर्मनी को भुगतान के सम्बन्ध में मोहलत की याचना करनी पड़ी। इंगलैण्ड जर्मनी की प्रार्थना को स्वीकार करना चाहता था परन्तु फ्रांस जर्मनी का अन्तिम पौंड लेने को उत्सुक था। इस सम्बन्ध में काफी विचार-विमर्श तथा पत्र व्यवहार चलता रहा। अन्त में फ्रांस ने बल प्रयोग करने का निश्चय किया। जनवरी 1923 में फ्रांस, बेल्जियम और इटली के सैनिक दस्तों ने जर्मनी के रूर जिले पर अधिकार कर लिया। रूर जर्मन उद्योगों का कलेवर था। यहां से जर्मनी की कोयला, लोहा और फौलाद की 80% आवश्यकता पूरी होती थी और जर्मन रेलों का व्यापारिक यातायात भी इसी क्षेत्र पर निर्भर था। रूर आधिपत्य युद्धोपरान्त इतिहास की रोमांचकारी घटना मानी जाती है। अपमानित एवं क्रोधित जर्मन जाति ने इस घटना का शान्तिपूर्ण ढंग से निष्क्रिय प्रतिरोध किया और विजेताओं के साथ किसी प्रकार का सहयोग नहीं किया। परिणाम यह निकला कि फ्रांस को हर सम्भव उपाय के उपरान्त भी रूर से कोई लाभ नहीं मिल पाया। इस अवसर पर फ्रांस ने जर्मनों पर जो अमानवीय अत्याचार किये उनका वर्णन करना कठिन है। रूर आधिपत्य ने शेष जर्मनी के आर्थिक जीवन को भी ठप्प कर दिया। पौंड के बदले में 20 मार्क का अनुपात था। अब एक पौंड में हजारों मार्क खरीदे जा सकते थे। अन्त में फ्रांस को भी अपनी नीति से पीछे हटना पड़ा और इस समस्या के समाधान का नया रास्ता खोजा जाने लगा।

डावस योजना—क्षतिपूर्ति की समस्या का समाधान ढूंढने के लिए जनवरी 1924 में जनरल डावस की अध्यक्षता में एक समिति गठित की गई जिसमें अमेरिका, इंगलैण्ड, फ्रांस, इटली और बेल्जियम के प्रतिनिधियों को नियुक्त किया गया। अप्रैल मास में समिति ने अपनी योजना प्रस्तुत कर दी। 1 सितम्बर 1924 को इस योजना को लागू कर दिया गया। इस योजना की रूपरेखा इस प्रकार थी—(1) रूर क्षेत्र को खाली किया जाय। (2) एक केन्द्रीय बैंक की स्थापना की जाय और उसे सिक्का जारी करने का एकाधिकार दिया जाय। (3) प्रथम वर्ष में क्षतिपूर्ति की राशि 5 करोड़ पौंड हो और अगले चार वर्षों तक इसी हिसाब से की जाय। (4) जर्मनी को यथाशीघ्र 40 मिलियन पौंड का ऋण दिया जाय। (5) अदायगी की जमानत में कर, रेलवे तथा औद्योगिक डिबेंचर रखे जांय। (6) योजना के निरीक्षण के लिए एक एजेन्ट की नियुक्ति की जाय।

योजना के सुझावानुसार एक अमेरिकन सिमोर पारकर गिलबर्ट को एजेन्ट नियुक्त किया गया। शीघ्र ही जर्मनी में प्रगति के लक्षण दिखलाई देने लगे। जर्मन

उद्योग फिर से उन्नत होने लगे और क्षतिपूर्ति का भुगतान भी नियमानुसार होने लगा। यह सब कुछ अमेरिका तथा इंगलैण्ड से मिलने वाले ऋणों के द्वारा ही सम्भव हो पाया था।

यंग योजना—1928 ई. में क्षतिपूर्ति समस्या और राइनलैण्ड की व्यवस्था को और अधिक संतोषजनक ढंग से हल करने की आवश्यकता का अनुभव किया गया और डी. यंग की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की गई जो "यंग समिति" के नाम से प्रसिद्ध हुई। यंग समिति ने क्षतिपूर्ति का एक नया चित्र प्रस्तुत किया। इसके अनसार जर्मनी को $58\frac{1}{2}$ वर्षों में 5750 मिलियन पौंड अदा करना था। प्रथम 37 किश्तों के लिए प्रति किश्त 100 मिलियन पौंड की राशि निर्धारित की गई और शेष किश्तों में क्षतिपूर्ति की शेष राशि अदा करने की व्यवस्था की गई। जर्मनी पर सभी राजनैतिक तथा आर्थिक नियन्त्रण समाप्त करने का सुझाव दिया गया और क्षतिपूर्ति के लिए जर्मन सरकार को उत्तरदायी मान लेने का सुझाव दिया गया। कूटनीतिक क्षेत्रों में यंग योजना का अच्छा स्वागत किया गया। जर्मनी ने भी इस योजना को स्वीकार कर लिया। मित्र राष्ट्रों ने सद्भावना का परिचय देते हुये राइनलैण्ड को खाली कर दिया।

सितम्बर 1930 से सम्पूर्ण संसार की आर्थिक स्थिति कुछ विचित्र करवट लेने लगी और कुछ महीनों बाद ही सम्पूर्ण संसार आर्थिक संकट के जाल में उलझ गया। इस आर्थिक मंदी ने जर्मनी की आर्थिक स्थिति को भारी धक्का पहुंचाया। कुछ ही सप्ताहों में विदेशियों ने जर्मन रीश बैंक से लगभग 20 करोड़ डालर निकाल लिया जिससे जर्मनी के सिक्के की कीमत फिर गिरने लगी। समृद्ध जर्मन नागरिकों ने भी अपनी पूंजी विदेशों में लगानी शुरू कर दी। जून 1931 के प्रथम तीन सप्ताहों में ही जर्मन रीश बैंक को अपने स्वर्ण कोष का 41% भाग लौटा देना पड़ा। विवश होकर जर्मनी को क्षतिपूर्ति की अदायगी के लिए मुहलत मांगनी पड़ी। अमेरिका के राष्ट्रपति हूवर ने भी संसार की आर्थिक स्थिति के पुनरुद्धार के लिए प्रस्ताव रखा कि—1 जुलाई 1931 से 1 वर्ष के लिए सभी क्षतिपूर्ति और ऋणों की अदायगी स्थगित कर दी जाय। फ्रांस ने काफी समय बाद प्रस्ताव स्वीकार किया।

हूवर प्रस्ताव से जर्मनी को क्षणिक राहत ही मिल पाई। उसकी आर्थिक स्थिति बिगड़ती गई और जुलाई में जर्मनी की प्रसिद्ध बैंक "डार्मस्टेडर एण्ड नेशनल बैंक" फेल हो गई। इस पर सरकार ने अन्य बैंकों को भी बन्द कर दिया और जर्मन चांसलर ब्रूनिंग ने घोषणा की कि जर्मनी क्षतिपूर्ति का भुगतान करने में असमर्थ है। इस समस्या को सुलझाने के लिए मित्र राष्ट्रों ने लासेन पर सम्मेलन किया जो अमेरिका की हठधर्मी के कारण सफल नहीं हो पाया परन्तु जर्मनी ने इसके बाद क्षति-

पूर्ति अथवा विदेशों से लिए गये ऋणों का एक धेला भी नहीं चुकाया और इस प्रकार समस्या का अन्त हुआ।

विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी

1931 में सम्पूर्ण संसार तेजी से तेजी-मन्दी (Sulmp-Boom) के चक्कर में उलझ गया जिससे संसार की आर्थिक व्यवस्था ही डगमगा गई। प्रथम महायुद्ध ने यूरोप के अधिकांश देशों की आर्थिक कमर तोड़ दी थी और वे अमेरिकन ऋणों की सहायता से अपनी इज्जत बचाये हुए थे। परन्तु 1929 के शरद् में उन्हें अमेरिका से ऋण मिलना बन्द हो गया और इसी के साथ आर्थिक संकट का सूत्रपात हुआ और एक महामारी की भांति सारे संसार में फैल गया। संकट के शुरू होते ही क्रय-शक्ति का ह्रास होता गया और मुद्रा की कीमत में विनाशकारी गिरावट आ गई। इससे कर्जदार देशों पर घातक प्रभाव पड़ा। एक तो उन्हें अमेरिका के ऋण चुकाने थे (पराजित देशों को क्षतिपूर्ति का भुगतान करना था) और दूसरे मूल्यों की गिरावट से वे जिन वस्तुओं के विक्रय से कर्ज चुकाने का विश्वास रखते थे, वह विश्वास भी टूट गया। अब भुगतान अदा करने का केवल एक मार्ग बचा था और वह था स्वर्ण हस्तान्तरण (Transfer of gold)। कुछ दिनों इस मार्ग पर चलने का प्रयत्न किया गया और परिणामस्वरूप संसार का स्वर्ण अमेरिका में संचित हो गया और संसार में स्वर्ण का कृत्रिम अभाव उत्पन्न हो गया। इससे कीमतें और भी गिर गईं। बाध्य होकर यह रास्ता छोड़ना पड़ा और आयात-निर्यात पर कई प्रकार के प्रतिबन्ध लगा दिये गये। इसका परिणाम यह निकला कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार ठप्प हो गया।

चरम सीमा—इस स्थिति का सबसे घातक प्रभाव जर्मनी पर पड़ा। स्थिति को सुधारने के लिए कई प्रयत्न किये गये परन्तु कोई लाभकारी परिणाम नहीं निकला। इसी समय हूवर प्रस्ताव आया। एक वर्ष के लिए सभी प्रकार के विदेशी ऋणों तथा क्षतिपूर्ति के भुगतान को स्थगित कर दिया गया। परन्तु इससे भी स्थिति में सुधार नहीं हुआ। इसी समय आस्ट्रिया की विख्यात बैंक "क्रेडिट एन-स्टाल्ट बैंक" फेल हो गई। जर्मनी के अधिकांश बैंकरों की पूंजी इसी में लगी हुई थी। इसका परिणाम यह निकला कि जर्मनी की प्रसिद्ध बैंक "डार्मस्टेडर एण्ड नेशनल बैंक" भी फेल हो गई। नतीजा यह निकला कि जर्मनी का निर्यात कम हो गया। उसकी हालत दयनीय हो गई। लाखों लोग बेकार हो गये और रोटी-रोजी की समस्या विकराल बन गई।

कारण—ऐसा क्यों हुआ? इस प्रश्न पर अर्थशास्त्रियों में आज भी मतैक्य नहीं है। कुछ का मानना है कि कीमतों की गिरावट का अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर विनाशकारी प्रभाव पड़ा। कुछ की मान्यता है कि चांदी के मूल्य के गिर जाने से चांदी के माध्यम से सामान खरीदने वाले देशों विशेषकर भारत और चीन की क्रय-

शक्ति के कमजोर पड़ जाने से यह संकट उपस्थित हुआ। कुछ लोग आस्ट्रियन और जर्मन बैंकों के फेल हो जाने को प्रमुख कारण मानते हैं। आस्ट्रेलिया और अर्जेन्टीना जो कि कृषि प्रधान देश हैं, को कृषि वस्तुओं के मूल्य में गिरावट आ जाने से काफी क्षति उठानी पड़ी और उन्हें स्वर्ण में भुगतान बन्द कर देना पड़ा। कॉफी बाजार में गिरावट आ जाने से ब्राजील को भी यही मार्ग अपनाना पड़ा। फिर भी, इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस संकट का मूल कारण अमेरिकन ऋण का बन्द होना था। अमेरिका ने अरबों डालर का ऋण दे रखा था और इसमें अमेरिकन नागरिकों की भी पूंजी सम्मिलित थी। जब ऋणों की अदायगी ठीक ढंग से नहीं हो पाई तो अमेरिका को ऋण देना बन्द करना पड़ा। एक कारण यह भी था कि अमेरिकन उद्योगपतियों ने बहुत बड़े पैमाने पर सामान तैयार कर रखा था परन्तु वे इसको खपाने में सफल नहीं हो पाये थे। उनकी पूंजी इसमें फंस गई थी। युद्ध की समाप्ति के बाद लाखों सैनिक बेकार हो गये थे जिससे बेकारी की समस्या विकराल बन गई। इन सभी के सामूहिक परिणामस्वरूप आर्थिक संकट का जन्म हुआ था।

उपाय—इस संकट को दूर करने के लिए जून 1932 में लासेन में एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन किया गया परन्तु अमेरिका की हठधर्मी के कारण सम्मेलन विफल रहा। 1933 में राष्ट्रसंघ के तत्वावधान में लन्दन में एक सम्मेलन आयोजित किया गया जिसमें अमेरिका और सोवियत रूस ने भाग लिया। परन्तु "स्वर्ण-मान" को समाप्त करने के प्रश्न पर अमेरिका और फ्रांस में तीव्र मतभेद पैदा हो गया जिससे यह सम्मेलन भी विफल रहा। बाध्य होकर जर्मनी, जापान और इटली आदि देशों ने एक नवीन नीति अपनाई जिसे "मक्खन के स्थान पर बन्दूक" भी कहा जाता है। शक्ति का सहारा लेने के अतिरिक्त इस नवीन नीति के अन्तर्गत वैज्ञानिक साधनों की सहायता से कृत्रिम वस्तुओं का उत्पादन शुरू किया गया जिससे कि देश अपनी घरेलू आवश्यकताओं को पूरा करने में आतम निर्भर हो सके। दूसरा उपाय शक्ति का सहारा था।

परिणाम—आर्थिक संकट के महत्वपूर्ण परिणाम निकले जो इस प्रकार हैं—(1) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के नष्ट हो जाने से आर्थिक राष्ट्रवाद का प्रादुर्भाव हुआ। अर्थात् प्रत्येक देश में आत्मनिर्भरता की भावना का विकास हुआ और विदेशी आयात पर करों की मात्रा को बढ़ा दिया गया जिससे स्वदेशी वस्तुओं को किसी प्रकार की प्रतिस्पर्धा न करनी पड़े। (2) बेकारों को काम देना आवश्यक था। चूंकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार लगभग ठप्प हो चुका था अतः उद्योगों को विकसित करने का सवाल ही नहीं उठता था। अतः अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण शुरू किया गया ताकि लोगों को काम मिल सके। परन्तु इसका परिणाम और भी घातक निकला। (3) इस संकट ने इटली और जर्मनी में फासिस्टवाद तथा नात्सीवाद को उन्नति करने का अवसर प्रदान किया। (4) फ्रांस में लोकतन्त्र की नींव खोखली हो गई और आये दिन मन्त्रिमण्डलों पर संकट मंडराने लगा। (5) इससे साम्यवाद को अपना प्रसार

करने का अवसर मिला। (6) अप्रत्यक्ष रूप में इस संकट ने राष्ट्रसंघ के पतन में महत्वपूर्ण योगदान दिया। (7) सर्वाधिक महत्वपूर्ण परिणाम जापान द्वारा सैनिकवाद को अपनाना था। प्रोफेसर टायनवी के शब्दों में "विश्व मन्दी के लम्बे मार्ग में आर्थिक प्रतियोगिता की विफलता से परेशान होकर अन्त में जापानी लोगों ने जापानी सेना के नेतृत्व का अनुसरण किया और वाणिज्य प्रसार की नीति को छोड़कर सैनिक विजय की नीति अपना ली—वे तलवार से जीविका कमाने का यत्न करने के आदिकालीन भद्दे उपाय पर लौट आये, जिसका एकमात्र कारण यह था कि तलवार चाहे कितनी भी भद्दी और अपरिष्कृत उपकरण हो पर वह कम से कम एक ऐसा उपकरण तो थी जिसे मानवीय लक्ष्यों की शक्य प्राप्ति के लिए सम्भालने और चलाने में मानवीय हाथ समर्थ प्रतीत होता है।

सामूहिक सुरक्षा की समस्या

विश्व शांति को बनाये रखने के लिए तथा युद्धों को रोकने के उद्देश्य से राष्ट्रसंघ की स्थापना की गई थी। इसके उपरान्त भी यूरोपीय राज्यों को अपनी सुरक्षा का भय बना रहा और इस भय से मुक्ति पाने के लिए सामूहिक सुरक्षा को खोजने का प्रयास भी किया जाता रहा। इसके लिये प्रधानतः तीन प्रकार के प्रयास किये गये—

(1) राष्ट्रसंघ से बाहर फ्रांस आदि विभिन्न राष्ट्रों द्वारा सम्पन्न सन्धियाँ और समझौते।

(2) राष्ट्रसंघ के माध्यम से किये गये प्रयास और

(3) निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी प्रयास।

(1) फ्रांस के सुरक्षा प्रयत्न

ई. एच. कार के शब्दों में "सन् 1919 के बाद यूरोपीय घटनाचक्र का सबसे महत्वपूर्ण और स्थाई तथ्य फ्रांस की सुरक्षा की मांग था।" वस्तुतः इस कथन में काफी वजन है। यह ठीक है कि प्रथम महायुद्ध में फ्रांस ने अपने साथियों की सहायता से जर्मनी को परास्त करके 1870 की पराजय का प्रतिशोध ले लिया था परन्तु फिर भी फ्रेंच लोग विजयी जर्मन सैनिकों की पदचाप ध्वनि को भूले नहीं थे। दुर्भाग्यवश, फ्रांस की जनसंख्या 4 करोड़ के अंक पर स्थिर हो चुकी थी जबकि जर्मनी की जनसंख्या 7 करोड़ थी और प्रतिवर्ष तेजी के साथ बढ़ती जा रही थी। अतः फ्रांस को अपनी सुरक्षा खतरे में दिखाई दे रही थी। फ्रांस के भय के कारण यह भी था कि राइन नदी के दोनों किनारों पर जर्मनी का अधिकार था और जर्मनी ने हमेशा इसी मार्ग से फ्रांस पर आक्रमण किया था। पेरिस शान्ति सम्मेलन के अवसर पर फ्रांस ने राइन के किनारे तक अपना प्रभाव क्षेत्र बढ़ाये जाने की जोरदार वकालत

की थी, परन्तु उसको सफलता नहीं मिली। इसके बाद फ्रांस ने राष्ट्रसंघ को शान्ति व्यवस्था बनाये रखने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सेना के रूप में 'दांत' प्रदान करने का सुझाव दिया। परन्तु उसका यह सुझाव भी नहीं माना गया। इंगलैण्ड और अमेरिका ने संयुक्त रूप से जर्मनी द्वारा किये जाने वाले आक्रमण के विरुद्ध फ्रांस को सहायता देने का वचन दिया, परन्तु अमेरिका द्वारा शान्ति संधियों का अनुसमर्थन न करने से इस वचन का महत्व जाता रहा। ऐसी स्थिति में फ्रांस को अपनी सुरक्षा की चिन्ता होना स्वाभाविक ही था। अतः अब उसने यूरोप के छोटे-छोटे राष्ट्रों के साथ सुरक्षात्मक समझौते करने का निश्चय किया।

1920 ई. में उसने बेल्जियम के साथ एक सैनिक समझौता किया। इसी प्रकार के समझौते उसने पोलैण्ड और चेकोस्लोवाकिया के साथ क्रमशः 1921 और 1924 में किये। इस बीच यूरोप के छोटे देशों—रूमानिया, चेकोस्लोवाकिया और यूगोस्लाविया ने हंगरी के विरुद्ध एक समझौता कर लिया जिसे "लघुमैत्री संघ" कहा गया। फ्रांस ने चेकोस्लोवाकिया के साथ समझौता करके "लघुमैत्री संघ" से भी नाता जोड़ लिया और बाद में रूमानिया और यूगोस्लाविया के साथ भी सन्धियां कर ली। इस प्रकार, फ्रांस ने अपनी स्थिति सुदृढ़ करली और अपने परम्परागत शत्रु जर्मनी को चारों तरफ से घेर लिया। फ्रांस के ये समझौते गुण और दोष—दोनों से युक्त थे। गुण यह था कि फ्रांस की सुरक्षा सीमा में वृद्धि हो चुकी थी और दोष यह था कि इस गुट में अकेला फ्रांस ही एक महान शक्ति था और उसे अपने कमजोर साथियों को आर्थिक सहायता देनी पड़ती थी तथा बालकन क्षेत्र के विवादों में भाग लेने के लिए विवश होना पड़ा।

अन्य देशों के प्रयत्न—बालकन राज्यों के साथ फ्रांस के समझौतों को इटली में संदिग्ध दृष्टि से देखा जाने लगा और उसे अपनी सुरक्षा की चिन्ता लग गई। अतः उसने अपनी सुरक्षा के लिए समझौतों का नया जाल बुनने की तैयारी कर ली। यह कार्य मुसोलिनी के सत्तारूढ़ होने के बाद ही शुरू हो सका। इटली ने हंगरी, आस्ट्रिया और बलगेरिया के साथ मैत्री सम्बन्धों का विकास किया। उधर रूस भी चुपचाप नहीं बैठा। उसने जर्मनी के साथ रेपोलो की सन्धि की। इसके बाद उसने टर्की के साथ अपने सम्बन्ध मजबूत किये और फिर अफगानिस्तान, लिथुआनिया और ईरान के साथ समझौते किये। इस प्रकार, पेरिस शान्ति सम्मेलन के कुछ वर्षों बाद ही सुरक्षा सम्बन्धी प्रयास शुरू हो गये थे।

(2) राष्ट्रसंघ के माध्यम से किये गये प्रयास

राष्ट्रसंघ विश्वशांति को बनाये रखने के महान दायित्व को निभा पायेगा या नहीं, इस सम्बन्ध में फ्रांस सहित अनेक देशों को शंका ही थी। क्योंकि कर्त्तव्य-विमुख राष्ट्र के विरुद्ध केवल आर्थिक प्रतिबन्ध अपर्याप्त थे और सैनिक कार्यवाही के

लिए कौंसिल का निर्णय सर्वसम्मत होना आवश्यक था। यही कारण था कि फ्रांस संघ के संविधान को कमजोर समझता था और उसका प्रयत्न यह रहा कि आक्रमण की निश्चित परिभाषा और आक्रमणकारी के विरुद्ध की जाने वाली कार्यवाही का स्पष्टीकरण किया जाय। राष्ट्रसंघ की इस कमजोरी को दूर करने के लिए विभिन्न देशों द्वारा समय-समय पर विविध प्रयत्न किये गये जिनमें से मुख्य निम्नलिखित हैं–

1. पारस्परिक सहायता की सन्धि का मसविदा (Draft Treaty of Mutual Assistance) :—

1922–23 की अवधि में राष्ट्रसंघ द्वारा नियुक्त अस्थाई मिश्रित आयोग के सामने पारस्परिक सहायता संधि का प्रारूप रखा गया। इस प्रारूप में चार बातों पर जोर दिया गया—(1) सभी देशों को निःशस्त्रीकरण पर जोर देना चाहिए। (2) सुरक्षा का संतोषजनक आश्वासन मिलते ही शस्त्रों में कमी की जाय। (3) सुरक्षा सम्बन्धी आश्वासन सामान्य होने चाहिये और इस प्रकार के आश्वासन उन्हीं देशों को दिये जाये जो निःशस्त्रीकरण के लिए तैयार हों।

पारस्परिक सहायता की संधि का यह प्रारूप जैसा कि गेथोर्न हार्डी ने लिखा है, "एक आम गारण्टी और स्थानीय मैत्रियों की प्रणाली के अपने-अपने लाभों को समन्वित करने और उनकी त्रुटियों को दूर करने का एक अत्यधिक बुद्धिमतापूर्ण यत्न था।" प्रस्तावित प्रारूप में व्यवस्था की गई थी कि किसी भी युद्ध के शुरू होने के चार दिन के भीतर ही कौंसिल उस पर विचार करेगी और यह तय करेगी कि युद्ध का दायित्व किस पक्ष पर है। इस सम्बन्ध में कार ने लिखा है, "इस व्यवस्था का उद्देश्य न केवल प्रतिश्रव की धारा 16 की मिट्टी खराब होने से बचाना था अपितु सैनिक अनुशास्तियों को अपने आप लागू होने योग्य और अनिवार्य बनाकर उस धारा को शक्तिशाली बनाना था।" परन्तु ग्रेट ब्रिटेन, हालैण्ड तथा कुछ अन्य देशों के द्वारा प्रारूप का समर्थन न करने से सम्पूर्ण प्रयत्न ही विफल हो गया।

जेनेवा प्रोटोकल—1924 ई. में राष्ट्रसंघ की एक सभा में तथाकथित 'जेनेवा प्रोटोकल' अथवा जेनेवा उप सन्धि का प्रारूप तैयार किया गया और सदस्यों से अपील की गई कि वे इसे सर्वसम्मति से स्वीकार करे। इसके द्वारा राष्ट्रसंघ के प्रतिश्रव के अनुच्छेदों की सीमा का विस्तार करना था। इसके अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का पंच निर्णय (Arbitration) या शान्ति समझौते (Conciliation) के द्वारा अनिवार्य रूप से व्यवस्था करने वाले 'यन्त्र' की व्यवस्था की गई थी। इसमें कहा गया था कि एक राज्य जो कि पंच निर्णय को स्वीकार करने से इन्कार करता है अथवा विवाद को शांतिपूर्ण ढंग से सुलझाये जाने वाले प्रयासों के विरुद्ध कार्यवाही करता है, तो वह 'स्वरूप से ही' (Ispofacto) आक्रान्त माना जायेगा और इस

प्रकार के आक्रान्ता के विरुद्ध इस सन्धि पर हस्ताक्षर करने वाला प्रत्येक देश अपनी भौगोलिक तथा सैनिक शक्ति की सामर्थ्यानुसार संघ द्वारा की जाने वाली कार्यवाही में पूरा-पूरा योग देगा।

2 अक्टूबर 1924 को राष्ट्र संघ ने उपसन्धि के प्रारूप को सरकारों के पास भिजवा दिया। कूटनीतिक क्षेत्रों में इसका स्वागत किया गया और थोड़े ही समय में 17 राष्ट्रों ने इसको मान्यता भी प्रदान करदी। फिर भी यह योजना लागू न की जा सकी। इस समय तक इंगलैण्ड में मजदूर दलीय सरकार का पतन हो चुका था और सत्तारूढ़ अनुदार दलीय सरकार ने इसका अनुसमर्थन नहीं किया। उसके इस कार्य ने जेनेवा उपसन्धि के भविष्य को अन्धकारमय बना दिया। ग्रेट ब्रिटेन को यह आशंका थी कि उप सन्धि को स्वीकार करने से किसी भी समय संयुक्त राज्य अमेरीका से युद्ध छिड़ सकता था जो उसे स्वीकार्य नहीं था। इसके अलावा बहुत से अंग्रेजों का यह मानना था कि इस सन्धि को स्वीकार करने का अर्थ होगा—ब्रिटिश नौ-सेना को राष्ट्रसंघ के नियंत्रण में रखना। क्योंकि इंगलैण्ड का साम्राज्य विश्व-व्यापी था और विश्व के किसी भी क्षेत्र में युद्ध छिड़ने पर इंगलैण्ड को सहयोग के लिए कहा जा सकता था। ब्रिटेन के उपनिवेश भी इस सन्धि के विरुद्ध थे क्योंकि वे यूरोपीय समस्याओं से दूर रहना चाहते थे।

ब्रिटिश विरोध के अलावा कुछ अन्य कारणों से भी सन्धि में वर्णित अनिवार्य पंच फैसले की व्यवस्था ठीक नहीं थी। क्योंकि इससे संघ को राज्यों की सार्वभौम सत्ता में हस्तक्षेप करने का अवसर मिल जाता, जिसे राज्य सहन नहीं कर सकते थे। दूसरे, आक्रान्त देश पर युद्ध का खर्चा लादना भी बुद्धिमानी का काम नहीं था। अभी तक जर्मन क्षतिपूर्ति की समस्या से ही मुक्ति नहीं मिल पायी थी। आक्रान्ता के विरुद्ध लागू की जाने वाली अनुशास्तियों को भी स्पष्ट नहीं किया गया था। मार्च 1925 में ब्रिटिश सरकार ने अन्तिम रूप से जेनेवा प्रोटोकल को अस्वीकार कर दिया जिसके परिणामस्वरूप उसको लागू करना असम्भव हो गया। इस प्रकार सामूहिक सुरक्षा के लिए किया गया यह प्रयास भी विफल रहा।

लोकार्नो समझौता—जेनेवा प्रोटोकल की विफलता ने फ्रांस को पुन: निराश बना दिया। यद्यपि 1922–23 में जर्मनी ने राइन सीमान्त के सम्बन्ध में दो बार फ्रांस के सम्मुख प्रस्ताव रखे थे परन्तु फ्रांस ने उन प्रस्तावों को ठुकरा दिया। 1925 के प्रारम्भ से ही जर्मनी के साथ समझौते का नया वातावरण पैदा हो रहा था। डावस योजना ने एक नये युग की शुरुआत की जिसे राजनीतिज्ञों ने "शान्तियुग" का नाम दिया। फ्रांस के औपनिवेशिक साम्राज्य में उपद्रव और विद्रोह उठने लग गये थे और उन्हें दबाने के लिए यह जरूरी था कि वह जर्मनी की तरफ से निश्चित हो जाय। इसी समय फ्रांस के कट्टर प्रधान मंत्री पोइनकारे की सरकार का पतन हो

गया और उदारवादी एरिओं ने सरकार का गठन किया। वह जर्मनी के साथ समझौता करने को उत्सुक था। जर्मनी का विदेश मन्त्री स्ट्रेसमान और ब्रिटिश विदेश मन्त्री चेम्बरलेन भी समझौते के पक्ष में थे। इस प्रकार समझौते के लिए अनुकूल वातावरण तैयार हो गया था।

5 अक्टूबर, 1924 को स्विट्जरलैण्ड के लोकार्नो स्थान के रम्य वातावरण में बड़े समारोह के साथ समझौता सम्मेलन शुरू हुआ जिसमें ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, इटली, बेल्जियम, चेकोस्लोवाकिया और पोलैण्ड-इन, सात राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। दस-बारह दिनो के विचार विमर्श के बाद "सप्त सन्धि-समूह" का प्रारूप तैयार किया गया और 16 अक्टूबर को उस पर हस्ताक्षर कर दिये गये। वैसे विधिवत हस्ताक्षर तो 1 दिसम्बर, 1924 को लन्दन में ही किये जा सके। ये सन्धियाँ इतिहास में "लोकार्नो समझौता" के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन सात संधियों में एक सीमान्त प्रत्याभूति सन्धि, दो विशिष्ट प्रत्याभूतक सन्धियाँ और पंच निर्णय की संधियाँ थीं।

सीमान्त प्रत्याभूति संधि जिसे वास्तव में लोकार्नो संधि कहा जाता है, फ्रैंको-जर्मन और बेल्गो-जर्मन सीमान्तों की प्रत्याभूतक (गारन्टी) संधि थी। यह संधि फ्रांस, इंगलैण्ड, जर्मनी, इटली और बेल्जियम के मध्य हुई थी। इस संधि के द्वारा सभी राष्ट्रों ने सामूहिक तथा व्यक्तिगत रूप में जर्मनी और बेल्जियम तथा जर्मनी और फ्रांस के सीमान्तों की यथा स्थिति को बनाये रखने का आश्वासन दिया। जर्मनी और बेल्जियम तथा जर्मनी और फ्रांस ने एक दूसरे की सीमा का अतिक्रमण न करने तथा युद्ध का सहारा न लेने का भी वचन दिया।

पंच निर्णय की संधियाँ जर्मनी और फ्रांस, जर्मनी और बेल्जियम, जर्मनी और चेकोस्लोवाकिया तथा जर्मनी और पोलैण्ड के मध्य सम्पन्न हुई थी। इन सन्धियों के द्वारा जर्मनी ने सन्धियों से सम्बन्धित पक्षों के साथ उत्पन्न होने वाले किसी भी विवाद को पंच निर्णय को सौंपना स्वीकार किया। जर्मनी ने अपने पश्चिमी सीमान्त अर्थात फ्रैंको–जर्मन और बेल्गो–जर्मन सीमान्त को स्थायी स्वीकार कर लिया परन्तु उसने अपने पूर्वी सीमान्त को निर्णायक सीमान्त के रूप में स्वीकार नहीं किया। हालांकि उसने यह आश्वासन अवश्य दिया कि वह पूर्वी सीमान्त से सम्बन्धित किसी भी विवाद को हल करने के लिए सशस्त्र कार्यवाही का सहारा नहीं लेगा। यहाँ यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि जर्मनी के पश्चिमी सीमान्त की अखण्डता के लिए इंगलैण्ड और इटली ने भी गारन्टी प्रदान की थी परन्तु पूर्वी सीमान्त के बारे में उन्होंने चुप्पी साध रखी थी।

अन्तिम दो संधियों को विशिष्ट गारन्टी वाली संधियाँ कहा जा सकता है। ये फ्रांस और चेकोस्लोवाकिया तथा फ्रांस और पोलैण्ड के मध्य सम्पन्न हुई थी। इन दोनों संधियों के अनुसार सम्बन्धित पक्षों ने एक-दूसरे को "पारस्परिक गारन्टी

संधि और पंच निर्णय सम्बन्धी सन्धियों" की सुविधाएं देने का आश्वासन दिया। दोनों संधियों का मूल उद्देश्य जर्मन—चेकोस्लोवाकिया और जर्मन-पोलिश सीमान्तों की सुरक्षा का आश्वासन देना था।

इसके अलावा, लोकार्नो सम्मेलन में एक महत्वपूर्ण निर्णय लिया गया। वह था—जर्मनी को राष्ट्रसंघ में सम्मिलित करना और कौंसिल में उसे स्थायी स्थान देना।

विश्वशान्ति की स्थापना में लोकार्नो को एक महत्वपूर्ण कदम माना जाता है। महायुद्ध के बाद की जाने वाली सन्धियों में यह प्रथम संधि थी, जिसमें जर्मनी को स्वतन्त्रतापूर्वक विचार करने का अवसर दिया गया था। प्रथम बार उसे समानता का सम्मान दिया गया था और इस पर उसने स्वेच्छा से हस्ताक्षर किये थे। इससे फ्रांस को अपनी सुरक्षा का इतना भय नहीं रहा। युद्धों को टालने के लिए पंच-निर्णय की व्यवस्था शान्ति को बनाये रखने की दिशा में महत्त्वपूर्ण कदम थी। चर्चिल ने लोकार्नो की संधियों को "यूरोप के पुनर्निर्माण की चरम सीमा" माना तो हार्डी ने इसे युद्ध के वर्षों और शान्ति के वर्षों के मध्य वास्तविक विभाजक रेखा माना है। कार के शब्दों में, "जो कार्य डावस योजना ने प्रारम्भ किया था, वही कार्य इस सन्धि ने पूरा किया।"

फिर भी, इसमें कई कमियां रह गई थीं। ब्रिटेन और इटली ने जर्मनी के पश्चिमी सीमान्त की अखण्डता की तो गारन्टी दे दी परन्तु उसके पूर्वी सीमान्त पर चुप्पी रख कर अच्छा नहीं किया। इसका यह मतलब निकाला जाने लगा कि जर्मनी पूर्वी सीमान्त को बदल सकता है। पूर्वी सीमान्त अन्तिम नहीं है। इस परिस्थिति में रूस का यह सोचना स्वाभाविक ही था कि ब्रिटेन और फ्रांस अपनी सुरक्षा को तो दृढ़ करना चाहते हैं परन्तु रूस को जर्मनी से टकराना चाहते हैं। परिणामस्वरूप रूस ने जर्मनी के साथ पृथक संधि करली। लोकार्नो संधि ने प्रत्यक्ष रूप से वर्साय की संधि और राष्ट्रसंघ के प्रतिश्रव को भारी ठेस पहुंचाई। इस प्रकार की संधियों से सफलता की आशा नहीं की जा सकती थी क्योंकि इसके निर्माताओं में इसके प्रति निष्ठा की कमी थी। जिस भावना के साथ इन संधियों पर हस्ताक्षर किए गए थे, बाद में उस भावना का निर्वाह नहीं किया गया और लोकार्नो समझौता भी कागज का टुकड़ा मात्र रह गया।

केलॉग-ब्रियां अथवा पेरिस समझौता—27 अगस्त, 1928 को अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, इटली, जापान आदि 15 राष्ट्रों ने पेरिस में इस समझौते पर हस्ताक्षर किये। चूंकि हस्ताक्षर पेरिस में किये गये थे इसलिए इसे पेरिस समझौता कहा जाता है। परन्तु इस समझौते के निर्माणकर्ता थे—अमेरिका के विदेश सचिव केलॉग और फ्रांस के विदेश मन्त्री ब्रियां। इसलिए इसे 'केलॉग-ब्रियां समझौता' भी

कहा जाता है। धीरे धीरे 65 राज्यों ने इसे स्वीकार कर लिया जिसमें सोवियत रूस भी था।

इस समझौते में कुल तीन धाराएं थीं। प्रथम दो समझौते की व्यवस्था को प्रकट करती हैं और तीसरी धारा में संधि की कार्यान्विति का निर्देश और इसमें सम्मिलित होने वाले अन्य देशों के सम्बन्ध में व्यवस्था की गई थी। प्रथम धारा इस प्रकार थी—"उच्च संविदाकार पक्ष गम्भीरतापूर्वक अपने-अपने राष्ट्रों के नाम पर यह घोषणा करते हैं कि वे अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को सुलझाने के लिये युद्ध के आश्रय की भर्त्सना करते हैं और अपने एक-दूसरे के साथ सम्बन्धों में राष्ट्रीय नीति के एक यंत्र के रूप में इसका परित्याग करते हैं।" दूसरी धारा में कहा गया है, "उच्च संविदाकार पक्ष सहमत होते हैं कि सभी विवादों अथवा झगड़ों का समाधान अथवा निर्णय, जो भी उनसे उत्पन्न हों और चाहे वे किसी भी स्वभाव एवं किसी भी उद्‌गम के हों, शान्तिपूर्ण साधनों की अपेक्षा अन्य किसी भी प्रकार से नहीं होगा।"

राष्ट्रों के इतिहास में, राष्ट्रीय नीति के एक यंत्र अथवा साधन के रूप में युद्ध का अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर वहिष्कार एक महत्वपूर्ण घटना थी। इस समझौते ने सैद्धांतिक दृष्टि से परस्पर विरोधी राज्यों अमेरीका और रूस को एक संयुक्त खेमे में लाने का सफल प्रयत्न किया था। यह प्रयत्न राष्ट्रसंघ की सीमा के बाहर किया गया था, इससे इसका महत्व और भी बढ़ जाता है। कार के शब्दों में, "यद्यपि पेरिस समझौता अपूर्ण था, तथापि वह एक पर्यन्त सीमा चिन्ह था। राष्ट्रों ने मिलकर, कम से कम सैद्धांतिक तौर पर ही सही, यह तो स्वीकार किया ही कि अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के समाधान के लिए युद्ध एक सामान्य और वैध मार्ग नहीं है।"

उपरोक्त विशेषताओं के उपरान्त भी पेरिस समझौते में कई कमियां थीं जिनके कारण समझौता सिद्धांतों की घोषणा मात्र ही रह गया। इसमें ऐसी व्यवस्था नहीं थी जिसके द्वारा हस्ताक्षरकर्ता द्वारा पेक्ट का उल्लंघन करने पर उसके विरुद्ध कार्यवाही की जा सके। यदि पेक्ट को इस सम्बन्ध में कुछ अधिकार सम्पन्न बनाया गया होता तो शायद इसे अधिक सफलता उपलब्ध हो सकती थी। इससे एक बात स्पष्ट हो जाती है कि किसी भी समझौते का अस्तित्व केवल अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता पर ही नहीं टिक सकता। इसके लिए शक्ति का समावेश जरूरी है।

निःशस्त्रीकरण की समस्या

शस्त्रास्त्रों की अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता महायुद्ध के प्रमुख कारणों में से एक थी। यही कारण था कि युद्धोपरान्त सभी लोग निःशस्त्रीकरण की बात करने लगे थे। परन्तु यह कोई सरल समस्या नहीं थी। राष्ट्रीय सुरक्षा और निःशस्त्रीकरण में टकराव पैदा हो गया। प्रत्येक राष्ट्र निःशस्त्रीकरण की उपयोगिता को तो स्वीकार

करता था परन्तु उसे अपनी राष्ट्रीय सुरक्षा का भी भय बना रहता था और इस कारण चाहते हुए भी वह इस दिशा में कदम उठाने से हिचकिचाता था। यूरोप की राजनीतिक स्थिति युद्ध के बाद भी नाजुक बनी रही। अमेरीका यूरोपीय राजनीति से उदासीन हो गया था। ग्रेट ब्रिटेन को अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण सुरक्षा की विशेष चिन्ता नहीं थी। परन्तु फ्रांस, पोलैण्ड एवं चेकोस्लोवाकिया काफी चिंतित थे। जर्मनी पराजय और अपमान की ज्वाला में जल रहा था और गुप्त रूप से अपनी सैनिक शक्ति को मजबूत बनाने के प्रयत्न में जुटा हुआ था। साम्यवादी रूस यूरोप के प्रजातांत्रिक राज्यों में साम्यवाद का प्रसार करने की उधेड़बुन में था तो इटली और यूगोस्लाविया आपस में ही उलझ रहे थे। बाल्कन क्षेत्र भी विवादों का केन्द्र बना हुआ था। यूरोप की स्थिति ऐसी ही थी और किसी भी घटना से युद्ध का सूत्रपात हो सकता था। ऐसी स्थिति में निःशस्त्रीकरण के लिए राष्ट्रों को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से तैयार करना बहुत कठिन काम था। 1920 के आरम्भ में राष्ट्र संघ ने एक स्थायी मिश्रित आयोग की स्थापना की परन्तु आयोग के अथक प्रयासों का कोई लाभकारी परिणाम नहीं निकला।

वाशिंगटन सम्मेलन—1922 ई. तक निःशस्त्रीकरण के मामले में यूरोप कोई खास प्रगति नहीं कर पाया। परन्तु इसी वर्ष (1922) वाशिंगटन सम्मेलन ने नौसेना के निःशस्त्रीकरण के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण कदम उठाया। इस सम्मेलन का आयोजन अमेरीका के निमंत्रण पर हुआ था। यद्यपि मोटे तौर पर यह सम्मेलन प्रशान्त महासागर की समस्याओं को हल करने की दृष्टि से आयोजित किया गया था परन्तु इसमें नौ सैनिक शक्तियां—अमेरिका, इंगलैंड, फ्रांस, जापान और इटली तथा प्रशान्त महासागर से सम्बन्धित तीन शक्तियां—चीन, नीदरलैण्ड और पुर्तगाल एवं किसी अन्य कारणवश बेल्जियम ने भी भाग लिया था।

सम्मेलन की प्रथम बैठक नवम्बर 1921 में हुई। सम्मेलन में सम्मिलित सभी राष्ट्रों ने युद्धपोतों और भारी गश्ती जहाजों की संख्या में कमी करना तथा उनका कुल टनेज निर्धारित करना स्वीकार कर लिया। इस समझौते को 'पांच राष्ट्रों की संधि' कहा जाता है। इस संधि पर हस्ताक्षर करने वाले पांच देश थे—अमेरिका इंगलैण्ड, जापान, फ्रांस और इटली। इस सन्धि के अनुसार युद्धपोतों और भारी गश्ती जहाजों का कुल टनेज इस प्रकार निर्धारित किया गया था—अमेरिका और इंगलैण्ड प्रत्येक 5,25,000 टनेज, जापान 3,15,000 टनेज, फ्रांस और इटली प्रत्येक 1,75,000 टनेज। इस कुल वजन का अनुपात अमेरिका, इङ्गलैण्ड, जापान, फ्रांस और इटली में क्रमशः इस प्रकार था—5 : 5 : 3 : 1·67 : 1·67।

बहुत से विद्वानों की दृष्टि से वाशिंगटन सम्मेलन सफल रहा और इसने यह सिद्ध कर दिया कि निःशस्त्रीकरण केवल आदर्श और सिद्धांत की बात ही नहीं थी

स्तर के प्रतिनिधि न भेजकर और भी बुरा किया। इसके अतिरिक्त अब समूचा संसार 1930-31 की आर्थिक मन्दी से ग्रस्त था। जून 1932 में जर्मनी में सुयोग्य ब्रूनिग सरकार का पतन हो चुका था और उसके स्थान पर अड़ियल और क्रूर पापेन की सरकार ने सत्ता सम्भाली थी। इस समय मंचूरिया पर जापान के आक्रमण ने सुरक्षा के सवाल को पुनः सर्वाधिक महत्व प्रदान कर दिया था। ऐसी संकटपूर्ण परिस्थितियों में सम्मेलन की सफलता के बारे में बहुत कम आशा थी।

सम्मेलन के प्रारम्भ में फ्रांस, अमेरिका, इंगलैंड आदि देशों द्वारा कई प्रकार के प्रस्ताव रखे गये और कुछ में निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी ठोस सुझाव भी निहित थे, परन्तु उन सभी की काफी आलोचना की गई और सम्मेलन की कार्यवाही में कोई प्रगति नहीं हो पाई। आखिरकार 30 जुलाई 1932 को एक समझौते का प्रारूप तैयार किया गया। इसमें तीन बातों पर जोर दिया गया था—(1) हवाई बम वर्षा निषिद्ध करना, वायुयानों की संख्या सीमित करना तथा असैनिक वायुयानों का विनिमयन। (2) भारी तोपखाना और बड़े आकार के टैंकों को सीमित करना। (3) रासायनिक और कीटाणु युद्ध को निषिद्ध करना। 41 राज्यों ने इस समझौते का स्वागत किया। 8 राज्यों ने मतदान में भाग नहीं लिया, 2 राज्यों-जर्मनी और रूस ने विरोध किया और इटली सहित आठ राज्य अनुपस्थित रहे। 16 सितम्बर 1932 का दिन सम्मेलन के लिए दुर्भाग्यपूर्ण साबित हुआ। इस रोज जर्मनी सम्मेलन से पृथक हो गया। उसका कहना था कि जब तक राष्ट्रों में समानाधिकार को मान्यता नहीं दी जाती तब तक जर्मनी सम्मेलन में भाग नहीं लेगा। दिसम्बर मास में अमेरिका, इंगलैण्ड, फ्रांस, इटली और जर्मनी का जेनेवा में एक पृथक सम्मेलन हुआ और 11 दिसम्बर को एक समझौते पर हस्ताक्षर किये गये जिसके अनुसार "जर्मनी का यह दावा स्वीकार कर लिया गया कि उसे किसी भी समझौते में शामिल होने के समानाधिकार प्राप्त हैं जिसके अनुसार सभी देशों को सुरक्षा मिल सके।" यह समझौता जर्मनी की प्रथम विजय थी और वह पुनः सम्मेलन में आ गया परन्तु फिर भी फ्रांस के पास अब भी 'सुरक्षा' रूपी तुर्क का पत्ता था।

फरवरी 1933 में सम्मेलन का अधिवेशन फिर शुरू हुआ। इस समय तक यूरोप की परिस्थितियां बदल चुकी थीं। 30 जनवरी, 1933 को हिटलर जर्मनी का चांसलर बन चुका था। 24 फरवरी को जापान ने राष्ट्रसंघ की सदस्यता छोड़ने का नोटिस दे दिया था। इससे सम्मेलन का भविष्य अन्धकारमय हो गया। हिटलर के उत्कर्ष ने फ्रेंच सुरक्षा को और भी नाजुक बना दिया था और वह उस समय तक निःशस्त्रीकरण के पक्ष में नहीं था जब तक कि उसे जर्मन आक्रमण के विरुद्ध ठोस गारन्टी न दी जाय। 14 अक्टूबर 1933 को जर्मनी ने सम्मेलन तथा राष्ट्रसंघ से पृथक होने की घोषणा कर दी। इसके साथ ही सम्मेलन की गतिविधि को लकवा मार गया और कार्य ठप्प हो गया। 1934 के अन्त में सम्मेलन को विधिवत समाप्त कर दिया गया।

1919 से 1935 के मध्य निःशस्त्रीकरण की समस्या को हल करने के लिए राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत और इसके बाहर, कई प्रकार के प्रयत्न किये गये परन्तु वे असफल रहे। असफलता का सबसे बड़ा कारण दो परस्पर विरोधी सिद्धान्तों का टकराव था। सुरक्षा और निःशस्त्रीकरण में से एक को ही चुना जा सकता था। यूरोप की मौजूदा स्थिति को देखते हुए कोई भी राष्ट्र निःशस्त्र होने को तैयार नहीं था क्योंकि सभी को अपनी राष्ट्रीय सुरक्षा की चिन्ता सता रही थी। जर्मनी की मांग ने भी कठिनाई खड़ी कर दी। जर्मनी सार्वदेशिक निःशस्त्रीकरण या जर्मनी का पुनर्शस्त्रीकरण का अधिकार चाहता था। फ्रांस और उसके साथी देश दोनों में से एक भी मांग को पूरा करने के लिए तैयार नहीं थे। इसके अतिरिक्त एक कठिनाई यह भी थी कि कौन-कौन से शस्त्रों को सीमित किया जाय। प्रतिरक्षात्मक और आक्रमणात्मक शस्त्रों में भेद करना कठिन काम था। फिर अलग-अलग राष्ट्रों का अलग-अलग प्रकार के शस्त्रों में विशेष हित था और वे अपने इस विशेष हित को त्यागने के लिए तैयार नहीं थे। विश्वव्यापी आर्थिक संकट ने भी इस समस्या को प्रभावित किया। लाखों लोगों को काम देने का विकट प्रश्न था और इसे शस्त्रीकरण के द्वारा ही सुलझाया जा सकता था। निःशस्त्रीकरण को अमल में लाने से बेकारों की संख्या और अधिक बढ़ सकती थी। इस प्रकार, अनेक कारणों से निःशस्त्रीकरण के प्रयास सफल नहीं हो पाये।

चीन–जापान विवाद

मंचूरिया पर जापानी आक्रमण : कारण—सामूहिक सुरक्षा प्रणाली पर भयंकर प्रहार करने वाली प्रथम घटना थी—चीन के प्रान्त मंचूरिया पर जापान का आक्रमण। जापानी आक्रमण के लिये निम्न कारण उत्तरदायी थे—

प्रथम कारण बढ़ती हुई जनसंख्या के भरण-पोषण तथा बसाने की समस्या था। कृषि के द्वारा इस समस्या को हल नहीं किया जा सकता था क्योंकि कृषि योग्य एक इन्च भूमि भी बेकार नहीं पड़ी थी। उत्प्रवास (Emigration) के द्वारा भी इस समस्या का समाधान असंभव था क्योंकि अमेरिका, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड आदि पड़ोसी देशों ने जापानियों के बसने पर रोक लगा दी थी। जापान ने औद्योगिकरण के द्वारा इस समस्या को हल करने का प्रयत्न किया परन्तु इसमें भी कई कठिनाइयां आ खड़ी हुई। कोयला, लोहा तथा कच्चे माल की दृष्टि से जापान आत्मनिर्भर नहीं था। तैयार माल को खपाने के लिए भी उसे पश्चिमी साम्राज्यवादी देशों का मुँह देखना पड़ता था। इसलिए जापान स्वयं का एक विशाल साम्राज्य स्थापित करना चाहता था ताकि उसकी उपरोक्त सभी समस्याएं हल हो जाय।

दूसरा कारण जापान में पूंजीवाद का विकास था। पूँजीवाद साम्राज्यवाद को जन्म देने वाले कारणों में से एक कारण है। जापान के पूँजीवादी अपने

व्यवसाय तथा कारोबार की उन्नति के लिए जापानी साम्राज्य का प्रसार आवश्यक मानते थे और जब भी अवसर उपलब्ध होता वे अपनी सरकार को इसके लिए उकसाते रहते थे।

तीसरा कारण 1930–31 की विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी का प्रभाव था जिसने जापान में भी बेकारी की समस्या उत्पन्न कर दी, वस्तुओं के भाव बढ़ा दिये और आर्थिक जीवन अस्त-व्यस्त कर दिया था। जापानी नेताओं को इस आर्थिक संकट से मुक्ति का जो मार्ग दिखलाई पड़ा, वह था—साम्राज्य का प्रसार।

चौथा प्रमुख कारण सैनिक नेताओं तथा राजनीतिक नेताओं का आपसी मत-भेद था। जापान में एक विशेष बात यह थी कि सैनिक अधिकारी संसद अथवा मंत्रि-मण्डल के प्रति उत्तरदायी न होकर सीधे सम्राट के प्रति उत्तरदायी होते थे। वाशिंगटन सम्मेलन में राजनीतिज्ञों ने अमेरिका और इंगलैण्ड से कम अनुपात में नौ सेना रखना स्वीकार कर लिया था। इससे सैनिक अधिकारी उनसे काफी रुष्ट हो गये थे। आर्थिक मन्दी के समय राजनीतिक नेता सेना के खर्च में कटौती के सुझाव पर चर्चा करने लगे थे जिससे सैनिक अधिकारी और भी क्रोधित हो गये और उन्होंने जापानी सम्राट को विश्वास दिलाया कि इस संकट से मुक्त होने का एक मात्र मार्ग साम्राज्य-विस्तार की योजना ही हो सकती है।

अन्तिम कारण मंचूरिया में जापान के स्वार्थ थे। मंचूरिया खनिज पदार्थों की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण क्षेत्र था। कच्चे माल के अलावा इस क्षेत्र में कोयला, लोहा और तेल भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध था। जापानी लोग बहुत बड़ी संख्या में यहां बसे हुए थे और यहां की रेलवे तथा खानों में करोड़ों रुपये लगा चुके थे। मंचूरिया की सामरिक स्थिति भी महत्वपूर्ण थी। हार्डी के शब्दों में "जापान के लिए मंचूरिया का, प्रतिरक्षा और आक्रमण की दृष्टि से सामरिक महत्व इसकी स्थिति के कारण था।"

मंचूरिया प्रान्त की राजनीतिक स्थिति भी विचित्र थी। इस प्रान्त का सूबेदार नानकिंग की कुओमितांग सरकार के प्रति स्वामीभक्ति और निष्ठा रखता था। दूसरी तरफ, उत्तरी मंचूरिया में रूस का प्रभाव था और तीसरी तरफ जापान के अपने स्वार्थ थे। अर्थात् एक ही प्रान्त में तीन शक्तियों—चीन, रूस और जापान का प्रभाव सम्भव नहीं था। चीन की कुओमितांग सरकार 1915 ई. में जापान के साथ की गई सन्धि को महत्व दे रही थी, जिसके अनुसार लियोतुंग प्रायद्वीप और दक्षिणी मंचूरियन रेलवे 99 वर्ष की अवधि के लिए जापान को पट्टे पर दिये गये थे। चीन चाहता था कि जापान अपनी सेनाओं सहित दोनों स्थानों से हट जाय परन्तु जापान इसके लिए तैयार नहीं था। राष्ट्रवादी चीन ने मंचूरिया में हजारों चीनियों को बसाने तथा नया रेल मार्ग बनाने का काम शुरू कर दिया। उत्तर में रूस अपना प्रभाव बढ़ाने में लगा हुआ था। ऐसी स्थिति में जापान ने मंचूरिया में

अपने अधीन एक कठपुतली परन्तु स्वतन्त्र राज्य का निर्माण करने का निश्चय कर लिया।

संघर्ष और परिणाम—18 सितम्बर 1931 की रात्रि को मुकदन के निकट दक्षिण मंचूरियन रेलवे मार्ग पर बम-विस्फोट की घटना हुई। जापानियों ने इस घटना का दोष समीप में स्थित चीनी सैनिक छावनी पर लगाया और इस घटना के दूसरे दिन मुकदन नगर पर अधिकार कर लिया। चीन ने इस घटना को तत्काल राष्ट्रसंघ के सामने रखा। परन्तु राष्ट्रसंघ कागजी कार्यवाही के अतिरिक्त या जांच आयोग नियुक्त करने के अलावा कोई सक्रिय कदम नहीं उठा सका। उधर जापान ने फरवरी 1932 तक सम्पूर्ण मंचूरिया पर अधिकार कर लिया और इसे एक स्वतन्त्र राज्य घोषित करते हुए वहां अपनी कठपुतली सरकार स्थापित कर दी। इस पर राष्ट्रसंघ ने जापान को दोषी करार दिया। प्रत्युत्तर में जापान राष्ट्रसंघ से पृथक हो गया।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि पश्चिमी शक्तियां सामूहिक रूप से जापान के विरुद्ध कार्यवाही करतीं तो जापान को मंचूरिया से हटाने के लिए विवश किया जा सकता था। परन्तु इसके लिए एक जबरदस्त संघर्ष करना पड़ता जिसमें हजारों सैनिकों के बलिदान की आवश्यकता थी। पश्चिमी देश इस समय इतना बड़ा त्याग करने को तैयार नहीं थे। आर्थिक प्रतिबन्धों के द्वारा भी जापान को विवश किया जा सकता था। परन्तु विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी ने सभी देशों की आर्थिक रीढ़ पहले से ही तोड़ रखी थी। अतः इस समय यह भी सम्भव नहीं था। सोवियत संघ भी इस समय अपनी घरेलू समस्याओं में उलझा हुआ था। इसके अलावा कुछ अन्य कारण भी थे। प्रथम महायुद्ध के बाद चीन में यूरोपीय साम्राज्यवाद के विरुद्ध जबरदस्त आन्दोलन हुआ था, जो अब भी जारी था। पश्चिमी देश चीन को झुकाना चाहते थे। यह अवसर अनुकूल था। एक कारण साम्यवाद का भय था। जापान साम्यवाद का शत्रु था। अतः जापान की शक्ति को कुचलने का अर्थ था साम्यवाद को एशिया में आगे बढ़ने का अवसर प्रदान करना, जिसके लिए पश्चिमी देश कभी भी तैयार नहीं हो सकते थे।

परन्तु बाद में घटने वाली घटनाओं से स्पष्ट हो गया कि मंचूरिया के मामले में सामूहिक सुरक्षा को लागू न करना एक भयंकर भूल थी। क्योंकि पश्चिमी देशों की प्रसादन नीति से जापान की भावी योजनाओं में किसी प्रकार की कमी न आई और चीन में उसकी साम्राज्यवादी भूख कभी समाप्त नहीं हुई। वह धीरे-धीरे चीन के क्षेत्रों को हड़पता ही चला गया। पश्चिमी देशों की नीति से संसार का सामूहिक सुरक्षा से विश्वास उठ गया और जापान की कार्यवाही ने मुसोलिनी तथा हिटलर को अपनी आक्रामक योजनाओं को कार्यान्वित करने का प्रोत्साहन दिया जिसके फलस्व-

रूप संसार को अन्तर्राष्ट्रीय संकटों का सामना करना पड़ा। जापान के साम्राज्यवाद ने राष्ट्रसंघ की प्रतिष्ठा को भी धूल में मिला दिया और निःशस्त्रीकरण के प्रयासों को भी असफल बनाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

संतुष्टिकरण की नीति (Policy of Appeasement)

'संतुष्टिकरण', 'तुष्टिकरण' अथवा 'प्रसादन' नीति जिसकी चरम अभिव्यक्ति म्यूनिख समझौते में देखने को मिलती है, नवोदित अधिनायकों को संतुष्ट करके भावी महायुद्ध को टालने का प्रयास था। यह नीति चाहे असफल रही हो, इतना निश्चित है कि यह एक सुनिश्चित और विमर्शित नीति थी, न कि ब्रिटिश सरकार की सैनिक तैयारियों के अभाव के कारण छलावा मात्र थी।

ब्रिटिश नीति—ब्रिटिश तुष्टिकरण नीति के पक्षधर चेम्बरलेन थे। चेम्बरलेन का उद्देश्य युद्ध या बल प्रयोग की धमकी दिये बिना आपसी विवादों का आपसी बातचीत द्वारा समाधान करना था। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए चेम्बरलेन ऊंची कीमत अदा करने को तैयार थे क्योंकि उनका मानना था कि यह कीमत चाहे जितनी ऊंची क्यों न हो; महायुद्ध की कीमत की तुलना में बहुत कम सिद्ध होगी। चेम्बरलेन का विश्वास था कि मुसोलिनी और हिटलर की आकांक्षाएँ कुछ छोटी-बड़ी शिकायतों तक ही सीमित है और इन शिकायतों को दूर करके एक महायुद्ध को स्थगित किया जा सकता है। अतः संतुष्टिकरण की नीति का उद्देश्य भयंकर नहीं था। यह बात दूसरी है कि इस नीति को ठीक ढंग से कार्यान्वित नहीं किया जा सका जिसके कारण आज हमें इसका विकृत रूप दिखलाई पड़ता है।

ब्रिटेन की संतुष्टिकरण नीति का एक कारण साम्यवाद का भय रहा है। प्रथम महायुद्ध के बाद साम्यवादी विचारधारा धीरे-धीरे सम्पूर्ण यूरोप में फैलने लगी थी। पूर्वी यूरोप तो बुरी तरह से उसके प्रभाव में आने लग गया था। अतः इङ्गलैंड को यह आशंका उत्पन्न हो गई कि यदि साम्यवाद की प्रगति को नहीं रोका गया तो पश्चिम में भी इसके पैर जम जायेंगे। चूंकि पश्चिमी देश पूंजीवादी राष्ट्र थे अतः उन्हें साम्यवाद से सबसे अधिक खतरा था। अतः इंगलैंड की विदेश नीति का प्रथम आधार साम्यवादी प्रसार को रोकना बन गया। इस ध्येय की प्राप्ति में इंगलैंड इतना आगे बढ़ गया कि उस प्रत्येक राष्ट्र को जो साम्यवाद से संघर्ष करने को तैयार था, हर प्रकार की सहायता देने तथा उसे कार्य करने की छूट देने को तैयार हो गया चाहे इसके परिणामस्वरूप शान्ति सन्धियों का और प्रादेशिक व्यवस्थाओं का भी अतिक्रमण क्यों न हो। जापान, जर्मनी और इटली के अधिनायकों से इंगलैंड की यह कमजोरी छिपी न रही और उन्होंने इंगलैंड की इस कमजोरी का लाभ उठाकर अपनी आक्रामक योजनाओं को कार्यान्वित करना शुरू कर दिया और अपनी प्रत्येक कार्यवाही को किसी न किसी रूप में साम्यवाद के

विरुद्ध अथवा उसके विरुद्ध की जाने वाली कार्यवाही के लिए आवश्यक बतला कर अपनी स्वार्थ सिद्धि में संलग्न हो गये।

ब्रिटिश नीति का दूसरा आधार 'शक्ति संतुलन का सिद्धांत' था। 1930 के बाद यूरोप का शक्ति संतुलन बिगड़ने लग गया था। साम्यवादी रूस काफी शक्तिशाली हो गया था और जर्मनी तथा इटली भी सबल हो गये थे। इंगलैण्ड ने जर्मनी, इटली और जापान के त्रिगुट को साम्यवादी रूस के विरुद्ध, एक-दूसरे पर नियन्त्रक के रूप में रखने की सोची। उनका विश्वास था कि अधिनायक शक्तियां और साम्यवादी रूस एक-दूसरे से लड़कर समाप्त हो जायेंगे अथवा काफी कमजोर पड़ जायेंगे और पश्चिमी देश तटस्थ तथा सुरक्षित बने रहेंगे। परन्तु अनुमान के गलत निकलने पर यह एक आत्मघातक नीति सिद्ध हुई। संतुष्टिकरण की नीति का एक आधार इंगलैण्ड और फ्रांस में विद्यमान तीव्र मतभेद था। दोनों के स्वार्थों में भारी अन्तर था और स्वार्थों की पूर्ति के उपायों में भी काफी अन्तर था। राष्ट्रसंघ, सामूहिक सुरक्षा, निःशस्त्रीकरण, क्षतिपूर्ति आदि सभी प्रमुख विषयों पर दोनों देशों में इतना अधिक मतभेद था कि संयुक्त कदम उठाना सम्भव नहीं हो पाया। फ्रांस जर्मनी को हमेशा के लिए कुचल देना चाहता था परन्तु इंगलैण्ड अपने व्यापारिक हितों के लिए जर्मनी का औद्योगिक पुनर्निर्माण आवश्यक मानता था। इंगलैण्ड यह भी नहीं चाहता था कि यूरोप का नेतृत्व फ्रांस के हाथ में चला जाय। एक कारण विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी भी रहा। इसी मन्दी ने इंगलैण्ड की भी कमर तोड़ दी और उसकी विदेश नीति में अस्थिरता आ गई थी जिसके परिणामस्वरूप ठोस कदम उठाना असम्भव हो गया था। अन्तिम कारण अधिनायकों के चरित्रों तथा उनकी नीतियों को समझने में ब्रिटिश राजनीतिज्ञों की असफलता थी। वे उनका सही रूप नहीं पहचान पाये।

जर्मनी के प्रति तुष्टिकरण की नीति—प्रथम महायुद्ध के तुरन्त बाद से ही इंगलैण्ड ने जर्मनी के प्रति उदार रुख अपना लिया था। हिटलर के उत्कर्ष के बाद भी इंगलैण्ड की नीति में कोई खास परिवर्तन नहीं आया और जब हिटलर ने वर्साय की सन्धि का उल्लंघन करते हुए अनिवार्य सैनिक सेवा लागू की तो इंगलैण्ड चुप रहा। उल्टे 1935 में उसने जर्मनी के साथ नौ-सेना सन्धि सम्पन्न कर ली। जब जर्मनी ने लोकार्नो और वर्साय संधि का उल्लंघन करते हुए राइनलैंड का पुनः सैनिकीकरण करना शुरू किया तब भी इंगलैण्ड ने सक्रिय विरोध नहीं किया। 1936 में स्पेन के गृह-युद्ध में अधिनायकों ने जनरल फ्रांको को सहायता देकर प्रजातन्त्र का गला घोंट दिया, तब भी इंगलैण्ड चुप्पी साधे रहा।

आस्ट्रिया के सम्बन्ध में इंगलैण्ड की तुष्टिकरण नीति का एक नया मोड़ बिन्दु सिद्ध हुई। ब्रिटिश विदेश मंत्री ईडन ने आस्ट्रिया के संबंध में हिटलर के इरादों को चेम्बरलेन के सामने स्पष्ट कर दिया था परन्तु चेम्बरलेन ने उसे विदेशमन्त्री के

पद से हटा दिया । अमेरिका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने चेम्बरलेन के सामने एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाने का प्रस्ताव रखा जिसे भी चेम्बरलेन ने ठुकरा दिया। आस्ट्रिया के राष्ट्रपति ने चेम्बरलेन से सहायता की याचना की, परन्तु चेम्बरलेन ने यह कह कर कि यह जर्मन लोगों का घरेलू मामला है; तुष्टिकरण की हद कर दी ।

चेकोस्लोवाकिया का अंग-भंग इंगलैण्ड की तुष्टिकरण की नीति की पराकाष्ठा थी । इस सम्बन्ध में इंगलैण्ड ने शुरू से ही यह निश्चय कर रखा था कि वह चेक राज्य की सुरक्षा के लिए युद्ध का आश्रय नहीं लेगा । रूस ने चेक राज्य की सुरक्षा के लिए सामूहिक कदम उठाने का प्रस्ताव रखा था परन्तु इंगलैण्ड ने उसके प्रस्ताव को ठुकरा दिया । उल्टे उसने चेक सरकार पर हिटलर की मांगें स्वीकार कर लेने के लिए दबाव डाला । म्यूनिख समझौता इस नीति की सबसे बड़ी कीमत थी । परन्तु इसके उपरान्त भी अधिनायक संतुष्ट नहीं हुए और जब हिटलर ने सम्पूर्ण चेकोस्लोवाकिया हड़प लिया तब कहीं जाकर चेम्बरलेन को अपनी नीति के दोषों का पता चला और उसने हिटलर की प्रगति को रोकने का निश्चय किया । परन्तु अब स्थिति बदल चुकी थी और महायुद्ध के अलावा अन्य कोई मार्ग नहीं बच पाया था ।

इटली के प्रति—इटली के सम्बन्ध में भी इंगलैण्ड की तुष्टिकरण की नीति पूर्णरूप से असफल रही । मुसोलिनी भूमध्यसागर को अपने नियन्त्रण में रखना चाहता था । इथोपिया और अल्बानिया को हड़पना चाहता था परन्तु पश्चिमी देशों को यह स्वीकार नहीं था । परन्तु जब जर्मनी में हिटलर का उत्कर्ष हुआ तो उन्हें यह भय सताने लगा कि कहीं मुसोलिनी हिटलर का मित्र न बन जाय । अतः इंगलैण्ड ने इटली को संतुष्ट करने का प्रयत्न किया । उसकी नीति का मुख्य आधार रोम-बर्लिन धुरी को रोकना था । इसलिए यह जानते हुए भी कि इटली की इथोपिया विजय से राष्ट्रसंघ की नींव खोखली हो जायेगी, विश्वशान्ति खतरे में पड़ जायेगी और भूमध्यसागर पर इटली के नियन्त्रण से स्वयं इंगलैण्ड के हितों को भारी धक्का लगेगा, इंगलैण्ड ने तुष्टिकरण का आश्रय लिया और इटली-इथोपियन संघर्ष में चुप्पी साधे रहा । ब्रिटिश लोकमत को संतुष्ट करने के लिए राष्ट्रसघ में इटली का जोर-शोर के साथ विरोध किया गया परन्तु दूसरी तरफ मुसोलिनी को गुप्त रूप से आश्वासन दिये जाते रहे । इंगलैण्ड की इस दुरंगी नीति का परिणाम बहुत बुरा रहा । मुसोलिनी इंगलैण्ड के सार्वजनिक विरोध को नहीं भुला पाया और वह जर्मनी की तरफ झुकने लग गया । परिणामस्वरूप रोम-बर्लिन धुरी का निर्माण हो गया जिसको रोकने के लिए इथोपिया की बलि दी गई थी । इस प्रकार की शिथिल और उदासीन नीति के कारण इथोपिया-अल्बानिया के साथ-साथ राष्ट्रसंघ का भी पतन हो गया और इटली भी जर्मनी से जा मिला ।

फ्रांस की नीति—फ्रांस की प्रसादन नीति उसकी अवस्था की अपेक्षा से

सुलह नीति को जारी रखा और दूसरी तरफ पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, यूगोस्लाविय तथा रूमानिया के साथ सन्धियों का जाल बुना। तीसरी तरफ उसने राष्ट्रसंघ क शक्तिशाली एवं जीवित रखने का प्रयास किया। फिर भी, फ्रांस के प्रयत्नों का को ठोस परिणाम नहीं निकला। 1932 तक यूरोप की राजनीति का कायाकल्प ह गया। इटली और जर्मनी शक्तिशाली बन चुके थे, राष्ट्रसंघ की प्रतिष्ठा धूल मे मिल चुकी थी और साम्यवादी रूस भी महान् शक्ति का स्थान ले चुका था; अधि नायकों ने शान्ति सन्धियों का अतिक्रमण शुरू कर दिया था और इंगलैण्ड आंख मूंद कर सब कुछ सहन किये जा रहा था। ऐसी स्थिति में फ्रांस को भी इंगलैण्ड की नीति का अनुसरण करने के लिए विवश हो जाना पड़ा, क्योंकि वह स्वयं इतना शक्तिशाली नहीं था कि अकेले कोई कार्यवाही कर सके।

फ्रांस की इस विवशता के लिए कई कारण उत्तरदायी थे। महायुद्ध में फ्रांस को अपार जन-धन की हानि उठानी पड़ी थी और अब उसकी जनसंख्या की वृद्धि अचानक रुक गई थी जबकि उसके शत्रु जर्मनी की आबादी तेजी से बढ़ रही थी। इसके अलावा फ्रांस की आर्थिक स्थिति काफी शोचनीय बन चुकी थी और इस स्थिति ने फ्रांस में प्रजातन्त्र-विरोधी तत्वों को सक्रिय बना दिया था। मंत्रिमण्डलों की अस्थिरता के कारण भी कोई ठोस कदम उठाना और उसे कार्यान्वित करना सम्भव नहीं रहा। ऐसी स्थिति में फ्रांस के लिए इंगलैंड का अनुसरण करना जरूरी हो गया था और इंगलैंड ने तुष्टिकरण का मार्ग पकड़ रखा था। इंगलैण्ड की भांति फ्रांस को भी साम्यवाद से भय था और इस भय से प्रेरित होकर ही उसने अधिनायकों को संतुष्ट करने की नीति अपनाई थी। क्योंकि हिटलर और मुसोलिनी अपने आपको साम्यवाद-विरोधी घोषित कर चुके थे और साम्यवाद से संघर्ष की तैयारी में जुटे रहने की बात करते थे।

फ्रांस का झुकाव इटली की तरफ अधिक था। वह किसी भी कीमत पर मुसोलिनी की मित्रता चाहता था। क्योंकि यदि मुसोलिनी हिटलर की तरफ मिल गया तो फ्रांस के शत्रु जर्मनी की शक्ति बढ़ जाती है। इसी कारण फ्रांस ने मुसोलिनी के कार्यों की निन्दा नहीं की। इटली की मित्रता प्राप्त करने के चक्कर में फ्रांस को पोलैण्ड की मित्रता से हाथ धोना पड़ा, चेकोस्लोवाकिया से हाथ धोना पड़ा और उसके साथी उसे विश्वासघाती समझने लगे। म्यूनिख समझौते में सम्मिलित होकर फ्रांस ने रूस की सहानुभूति को खो दिया। ऐसी स्थिति में फ्रांस इंगलैण्ड की नीति का विरोध कर उसकी मैत्री से भी वंचित होने का साहस नहीं कर सकता था। अतः उसे तुष्टिकरण की नीति का आश्रय लेना पड़ा।

परिणाम—इस प्रकार, हम देखते हैं कि यूरोप की दो प्रमुख शक्तियों—इंगलैंड और फ्रांस ने जर्मनी, इटली और जापान को संतुष्ट करने का प्रयत्न किया। इसमें भी इंगलैंड की भूमिका अधिक महत्वपूर्ण मानी जाती है। परन्तु तुष्टिकरण

की यह नीति अपने ध्येय में बुरी तरह से असफल रही। इस नीति के परिणामस्वरूप ही फासिस्ट शक्तियों का इतनी तेजी के साथ विकास सम्भव हो पाया था। यदि प्रारम्भ में ही उनकी आक्रामक कार्यवाहियों के विरुद्ध सख्त कदम उठाया जाता तो वे इतनी सफलता अर्जित नहीं कर पाते। पं० नेहरू ने लिखा है कि "यदि फासिज्म का विकास हुआ है और उसने विश्व पर अपना प्रभुत्व जमाना प्रारम्भ कर दिया है तो इसका अधिकांश श्रेय ब्रिटेन को है।" इस नीति के परिणामस्वरूप यूरोप का शक्ति संतुलन भी विगड़ गया। इस नीति का ध्येय साम्यवाद का प्रसार रोकना था परन्तु द्वितीय महायुद्ध के बाद यूरोप में साम्यवाद का तेजी के साथ प्रसार हुआ और सोवियत रूस—इंगलैंड, फ्रांस आदि की तुलना में कहीं अधिक शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में उभर कर सामने आया। तुष्टिकरण की नीति ने निःशस्त्रीकरण की समस्या को हल नहीं होने दिया और राष्ट्रसंघ को कब्र में दफना दिया। केनेथ इनगाम ने स्पष्ट लिखा है कि इस नीति का अर्थ था—राष्ट्रसंघ के सिद्धान्तों का पूर्ण परित्याग। शूमेन ने लिखा है कि यह नीति प्रारम्भ से ही एक आत्मघाती मूर्खता के अलावा और कुछ नहीं थी। वस्तुतः इस नीति के कारण ही अधिनायकों के हौंसले बढ़ते गये और उन्हें कूटनीतिक उपायों से रोकना सम्भव न रहा और संसार को द्वितीय महायुद्ध का भयंकर विनाश सहन करना पड़ा।

अध्याय 24

द्वितीय विश्व युद्ध

(SECOND WORLD WAR)

प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति के ठीक बीस वर्ष बाद दूसरा विध्वंशकारी महायुद्ध प्रारम्भ हो गया। 1919 में लोगों ने यह आशा व्यक्त की थी कि भविष्य में पुरानी त्रुटियों को दोहराया नहीं जायेगा और कोई भी राष्ट्र पाशविक शक्ति का स्थान ग्रहण नहीं कर सकेगा। किन्तु ये सभी भविष्यवाणियाँ पूर्णतः मिथ्या प्रमाणित हुई। वर्साय की संधि पर विचार करते हुए मार्शल फौश नें कहा था, "यह शान्ति संधि नहीं है, यह तो बीस वर्ष के लिये युद्ध-विराम सन्धि है।" मार्शल फौश की यह भविष्यवाणी सत्य सिद्ध हुई। ठीक इसी प्रकार म्यूनिख समझौते के बाद चेम्बरलेन ने लन्दन हवाई अड्डे पर उसके स्वागतार्थ आये मित्रों को सम्बोधित करते हुए कहा था, "मैं आपके लिए सम्मानपूर्वक शांति लाया हूं।" इसके प्रत्युत्तर में चर्चिल ने कहा, "ब्रिटेन और फ्रांस के समक्ष दो मार्ग थे—युद्ध और अनादर, उन्होंने 'अनादर' को चुना, किन्तु वे युद्ध से भी नहीं बच सकते।" चर्चिल की यह भविष्यवाणी भी सत्य हुई। ये दोनों ही कूटनीतिक मनुष्य की प्रवृति से अनभिज्ञ नहीं थे। इसलिए उन्होंने अपनी दूरदर्शिता का परिचय दिया। प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति के पश्चात् जो घटनाचक्र चला वह पुनः दूसरे महायुद्ध की ओर ले गया। अतः उन तत्वों का विवेचन करना समीचीन होगा, जिन्होंने दूसरे विश्व युद्ध को अनिवार्य बना दिया। संक्षेप में द्वितीय विश्व युद्ध के निम्नलिखित कारण बताये जाते हैं—

(1) वर्साय की सन्धि के समय विजयी राष्ट्रों ने दूरदर्शिता से कार्य नहीं किया, केवल प्रतिशोध की भावना से प्रेरित होकर उन्होंने जर्मनी का दमन किया। अतः जर्मनी द्वारा अपने अपमान का प्रतिशोध लेना तो स्वाभाविक ही था। इसके अतिरिक्त मित्र राष्ट्रों की सहमति, उपेक्षा और विरोध से इस संधि के अनेक भाग भंग होते चले गये। उदाहरणार्थ इसके पहले भाग का संशोधन जर्मनी को राष्ट्र संघ का सदस्य बनाकर किया गया। 1935 में हिटलर ने संधि में जर्मनी की से—

सीमित रखने सम्बन्धी धारा को तोड़ दिया, किंतु मित्र राष्ट्रों ने इसकी उपेक्षा की। प्रादेशिक व्यवस्था सम्बन्धी धारा को भी हिटलर ने पश्चिमी राष्ट्रों की उपेक्षा और सहमति से भंग कर दिया। राइन को सेना रहित क्षेत्र रखने सम्बन्धी धारा का भी हिटलर ने उल्लंघन किया (1936 ई.)। 1 मार्च 1938 में आस्ट्रिया के साथ एकीकरण के निषेध की व्यवस्था को भंग किया और अन्त में जब उसने पोलिश गलियारे और डेन्जिग के प्रश्न पर वर्साय संधि की व्यवस्था को तोड़ना चाहा तो द्वितीय विश्व युद्ध का श्रीगणेश हो गया। वस्तुतः मित्र राष्ट्रों की परस्पर-विरोधी एवं सन्धि की शर्तों को कठोरतापूर्वक पालन न कराने की नीति के कारण जर्मनी का साहस बढ़ गया और उसने दूसरा विश्वयुद्ध छेड़ने की हिम्मत की। लैंगसम के अनुसार, "1918 में अपनी भीषण हार के केवल 21 वर्ष बाद ही जर्मनी को इतिहास का सबसे बड़ा युद्ध छेड़ने में समर्थ बनाने का एक महत्वपूर्ण कारण यह था कि शान्ति समझौते को बनाये रखने के लिए ब्रिटेन और फ्रांस ने विभिन्न नीति मार्गों का अवलम्बन किया।" इसलिए जर्मनी द्वारा संधि की विभिन्न शर्तों के उल्लंघन की दोनों उपेक्षा करते रहे, जिससे जर्मनी की हिम्मत बढ़ गयी और उसने वर्साय संधि के अपमान का प्रतिशोध लेने में कोई संकोच नहीं किया।

(2) **तानाशाहों का उत्कर्ष**—इस समय कई देशों में तानाशाहों का उत्कर्ष हुआ जिनके कार्यों और उग्र नीति ने द्वितीय विश्व युद्ध को अनिवार्य बना दिया। प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात जर्मनी में वाइमर गणतन्त्र की स्थापना हुई थी और अनेक विरोधी दलों का उत्कर्ष होने लगा था। इन दलों में नाजी दल प्रमुख था जो वर्साय संधि को भंग करके अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में जर्मनी की पुनः प्रतिष्ठा स्थापित करना चाहता था। 1933 में हिटलर जर्मनी का तानाशाह बन गया। इसी प्रकार इटली में भी मित्र राष्ट्रों के प्रति असन्तोष था, क्योंकि युद्ध की लूट में उसे उचित हिस्सा प्राप्त नहीं हुआ था। इसलिये इटली भी वर्साय की संधि का विरोधी हो गया। फलतः इटली में फासिस्टवाद का उत्कर्ष हुआ। 1922 में इस दल के नेता मुसोलिनी के हाथ में सत्ता आ गयी, और वह इटली का तानाशाह बन गया। मुसोलिनी के लिये युद्ध जीवन था और शान्ति मृत्यु। स्पेन में भी हिटलर और मुसोलिनी द्वारा समर्थित जनरल फ्रेंको की तानाशाही स्थापित हुई। जापान में भी साम्राज्यवादी भावनाएं पनप रही थीं। जापान ने राष्ट्रसंघ की उपेक्षा करते हुए मंचूरिया पर अधिकार कर लिया। रोम-बर्लिन-टोकियो धुरी ने यूरोप की राजनैतिक स्थिति को संकटमय बना दिया। वास्तव में यह संधि तानाशाहों का समझौता थी। इन सभी घटनाओं ने द्वितीय विश्व युद्ध को अनिवार्य बना दिया।

(3) **अल्प संख्यक जातियों का असन्तोष**—जिस प्रकार शान्ति समझौते द्वारा सीमाओं में परिवर्तन किया गया वहां जातियों का भी अदल-बदल होना स्वाभाविक था। बाल्कन प्रायद्वीप और मध्य यूरोप में यह स्थिति अत्यन्त ही जटिल थी।

आस्ट्रिया को जर्मनी से पृथक रखा गया, चैकोस्लोवाकिया को स्वतन्त्र राज्य स्वीकार किया गया तथा पोलैंड का विभाजन कर दिया गया। यद्यपि मित्र राष्ट्रों ने आत्म निर्णय का सिद्धान्त स्वीकार किया था, किन्तु इस सिद्धान्त को सभी जगह लागू करना सम्भव नहीं था। फलस्वरूप अनेक स्थानों पर एक दूसरे की विरोधी अल्प संख्यक जातियां बस गयीं और उनमें भयंकर असन्तोष फैल गया क्योंकि वे एक राज्य के अधीन असुरक्षा का अनुभव कर रही थीं। कुछ जर्मन जाति के लोग चैकोस्लोवाकिया में थे, कुछ पोलैण्ड में थे और कुछ आस्ट्रिया में। वे सभी अपने को विदेशी शासन के अधीन मानती थी। हिटलर ने उनमें व्याप्त असन्तोष का पूरा लाभ उठाया। उसने जिन जिन राज्यों में अल्प संख्यक के रूप में जर्मन जाति के लोग बिखरे हुए थे और असन्तुष्ट थे, उनकी सहायता करना आरम्भ किया ताकि उनमें तीव्र राष्ट्रीय भावना जीवित रहे। उसने पश्चिम की शक्तियों से सौदेबाजी की और अल्प संख्यकों पर कुशासन का बहाना बना कर आस्ट्रिया और सूडेटनलैण्ड का अपहरण कर लिया। तत्पश्चात उसने पोलैण्ड पर हमला कर दिया।

१৩. (4) **राष्ट्रों के विभिन्न स्वार्थ**—प्रथम विश्व युद्ध के बाद आर्थिक सम्पन्नता की होड़, अपने माल की बिक्री के लिये नये बाजारों की खोज, कच्चे माल प्राप्त करने की सुविधा आदि ने विभिन्न राष्ट्रों में पारस्परिक संघर्ष को प्रोत्साहन दिया। इस प्रकार प्रथम युद्ध की समाप्ति पर प्रत्येक राष्ट्र अपने स्वार्थों के वशीभूत हो चुका था और अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण का कोई स्थान नहीं था। वर्साय की संधि द्वारा जर्मनी से उसके सभी उपनिवेश छीन लिये गये थे और ये सभी उपनिवेश इंगलैंड, बेल्जियम और फ्रांस में बांट दिये गये थे। फलस्वरूप इंगलैण्ड, फ्रांस और बेल्जियम को इन प्रदेशों से कच्चा माल प्राप्त करने की सुविधा बढ़ गयी, किन्तु दूसरी ओर जर्मनी को भारी हानि उठानी पड़ रही थी। जर्मनी की भांति इटली भी कच्चा माल प्राप्त करने के लिए उपनिवेश स्थापित करने तथा तैयार माल के लिये बाजारों की खोज की फिकर में था। तेल, लोहे और कोयले की कमी ने तो इटली को साम्राज्यवादी नीति अपनाने के लिये विवश कर दिया था। इसी प्रकार जापान भी अपनी बढ़ती हुई जनसंख्या को बसाने के लिए, औद्योगिक विकास के लिये कच्चा माल प्राप्त करने और तैयार माल के लिये बाजार स्थापित करने हेतु चीन में अपने पैर फैलाने का प्रयत्न कर रहा था। इन विभिन्न स्वार्थों ने आर्थिक संघर्ष को जन्म दिया। 1929–30 के आर्थिक संकट ने तो एक नयी स्थिति उत्पन्न कर दी। प्रत्येक राष्ट्र ने अपने उद्योगों की रक्षा के लिये भारी कर-प्रणाली, आयात–निर्यात पर प्रतिबंध, आयातित माल पर भारी तटकर, विदेशी व्यापार पर प्रतिबंध आदि कार्यान्वित किये। इससे सम्पन्न देशों में तैयार माल एकत्रित होने लगा, क्योंकि उसके स्वयं के यहां तो इतने माल की खपत हो नहीं रही थी। सर्वाधिक समस्या तो उन देशों के समक्ष उत्पन्न हुई, जिनके पास न तो कच्चा माल था और न उपनिवेश थे। इस प्रकार की विषम स्थिति उन देशों में अधिक थी जिन्हें प्रथम

विश्व युद्ध में भारी हानि उठानी पड़ी थी। अतः जर्मनी, जापान और इटली अपनी साम्राज्यवादी आकांक्षाओं की पूर्ति के लिये एक दूसरे के निकट आने लगे। जापान ने मंचूरिया पर आक्रमण कर उस पर अपना प्रभाव स्थापित कर लिया, इटली ने अबीसीनिया पर अधिकार कर लिया और जर्मनी ने भी यूरोप में अपने खोये प्रदेशों का अपहरण करना आरम्भ कर दिया। ये सभी घटनाएं द्वितीय विश्व युद्ध की अग्रदूत बन गयीं।

(5) विश्व का दो गुटों में विभाजन—जिस प्रकार प्रथम विश्व युद्ध के पूर्व यूरोप दो परस्पर विरोधी गुटों में विभाजित हो गया था, उसी प्रकार द्वितीय विश्व युद्ध के पूर्व भी विश्व दो गुटों में विभाजित हो गया। 1937 तक अन्तर्राष्ट्रीय रंग-मंच पर दो शक्तिशाली गुटों का निर्माण हो चुका था। एक तरफ जर्मनी, इटली और जापान जैसे राष्ट्र थे जो वर्साय की सन्धि के विरोधी तथा अधिनायकवाद के समर्थक थे। अतः इन तीनों ने मिलकर रोम-बर्लिन-टोकियो धुरी का निर्माण कर लिया। दूसरी ओर मित्र राष्ट्रों का सुदृढ़ संगठन था। युद्ध आरम्भ होने पर रूस प्रथम गुट में था और उसने जर्मनी से अनाक्रमण समझौता भी कर लिया था, किन्तु युद्ध के दौरान जब जर्मनी ने विश्वासघात करके रूस पर आक्रमण कर दिया तो रूस भी मित्र राष्ट्रों के गुट में आ मिला। ज्योंही मित्र राष्ट्रों (ब्रिटेन और फ्रांस) ने पोलैंड को समर्थन दिया त्योंही द्वितीय महासमर भड़क उठा।

(6) राष्ट्रसंघ की निर्बलता—प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात आपसी झगड़ों को शान्तिपूर्ण तरीकों से सुलझाने के लिए तथा विश्व शान्ति बनाये रखने के लिये राष्ट्रसंघ का निर्माण किया गया था। किन्तु जिन आशाओं को लेकर इसका निर्माण हुआ उन आशाओं पर पानी फिर गया। इसके निर्माण के साथ ही अमेरिका द्वारा उसे अस्वीकार कर दिया गया। अमेरिका जैसे शक्तिशाली राष्ट्र ने भी जब राष्ट्र संघ से अलग रहने का निर्णय ले लिया तो दूसरे निर्बल राष्ट्र भी इसे सन्देह की दृष्टि से देखने लगे। इस प्रकार के सन्देह राष्ट्रसंघ के भावी जीवन के लिये हितकर सिद्ध नहीं हुए। आरम्भ में पराजित राष्ट्रों को राष्ट्रसंघ की सदस्यता से वंचित रखना इस बात का द्योतक हो गया कि राष्ट्रसंघ विजयी राष्ट्रों का गुट है। रूस भी आरम्भ में राष्ट्र संघ का सदस्य नहीं था। रूस, 'राष्ट्र संघ को पश्चिमी राष्ट्रों का साम्यवादी रूस के विरुद्ध एक षड़यन्त्र' मानता था। इस प्रकार आरम्भ से ही कई राष्ट्रों को राष्ट्र संघ के प्रति सन्देह उत्पन्न हो गया था।

यद्यपि 1925 से 1929 तक राष्ट्र संघ ने कुछ क्षेत्रों में सराहनीय कार्य किया, जिससे प्रभावित होकर 50 राष्ट्रों ने इसकी सदस्यता ग्रहण कर ली, किंतु यह स्थिति क्षणिक रही। ज्योंही बड़े राष्ट्रों के स्वार्थों का प्रश्न आया तो केवल आयोगों की नियुक्ति के अतिरिक्त राष्ट्र संघ 'विधवा स्त्री की तरह' हाथ पांव पीट कर रह गया। वस्तुतः इसके सदस्य राष्ट्र स्वयं इसकी नींवें खोदने में लग गये थे। इंगलैण्ड

रूस की साम्यवादी प्रवृतियों पर अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण रखना चाहता था। फ्रांस येन-केन-प्रकारेण शांति समझौते की शर्तों को बनाये रखना चाहता था ताकि इस समझौते द्वारा उसे जो लाभ प्राप्त हुये हैं उनसे वह वंचित न रह जाय। अनेक राज्यों ने तो राष्ट्रसंघ की खुली उपेक्षा की। मंचूरिया काण्ड के समय जापान राष्ट्रसंघ के प्रस्तावों को ठुकराते हुए राष्ट्रसंघ की सदस्यता से पृथक हो गया। अबीसीनिया युद्ध के बाद इटली ने राष्ट्रसंघ की सदस्यता त्याग दी। हिटलर का तो कहना था कि "खोये हुए प्रदेशों की पुनः प्राप्ति ईश्वर से प्रार्थना करने से अथवा राष्ट्रसंघ के प्रति पवित्र आस्था रखने से नहीं वरन् सैनिक शक्ति से ही हो सकेगी।" अन्तर्राष्ट्रीय संकटों के समय राष्ट्रसंघ कोई कारगर कदम नहीं उठा सका जिससे उसकी निर्बलता प्रकट हो गई। छोटे-छोटे राष्ट्रों को राष्ट्रसंघ से सुरक्षा पाने का विश्वास समाप्त हो गया। राष्ट्रसंघ के प्रति सन्देह और अविश्वास की भावना शीघ्र ही विस्फोटक बनकर युद्ध के रूप में परिणित हो गयी।

(7) निःशस्त्रीकरण की सफलता—निःशस्त्रीकरण वर्साय संधि के अन्तर्गत वह योजना थी जिसे जर्मनी को पूर्ण रूप से शक्तिहीन रखने के लिए प्रयुक्त किया गया था और इसी के अन्तर्गत यह सुझाव दिया गया था कि अन्य राष्ट्रों के लिए भी इस प्रयोग को उस सीमा तक लागू किया जाय जिससे सुरक्षा की सम्भावना स्थापित हो सके। सिद्धांत रूप से इस योजना का समर्थन किया जा सकता था, किन्तु इस संबंध में भिन्न-भिन्न राष्ट्रों द्वारा जो रवैया अपनाया जा रहा था उससे निशस्त्रीकरण की बजाय शस्त्रीकरण की भावना को ही बल प्राप्त हुआ। निशस्त्रीकरण के लिए जब-जब भी सम्मेलन हुए तो प्रत्येक राष्ट्र ने केवल इसी बात पर बल दिया कि वह स्वयं तो शस्त्रास्त्रों में कमी न करे, किन्तु दूसरे को ऐसा करने के लिए बाध्य करे। जर्मनी का भी यही कहना था कि यदि जर्मनी को शस्त्रहीन बनाया जाता है तो निशस्त्रीकरण का सिद्धांत दूसरे राज्यों पर भी लागू किया जाय। फ्रांस अपनी सुरक्षा के लिए अत्यन्त चिन्तित था अतः वह निशस्त्रीकरण को महत्व देने के लिए तैयार नहीं था। ब्रिटेन के अनुसार सुरक्षा और निशस्त्रीकरण दोनों अलग विषय थे और सुरक्षा के सन्दर्भ में निशस्त्रीकरण पर विचार करने को तैयार नहीं था। जब बड़े राष्ट्रों ने अपने यहां निशस्त्रीकरण करना स्वीकार नहीं किया तो हिटलर ने जर्मनी में निःशस्त्रीकरण करना हानिकारक समझा। उसका कहना था कि "शक्ति और राष्ट्रीय आकांक्षाओं की प्राप्ति के लिए पुनः शस्त्रीकरण ही एक मात्र उपाय है।" पश्चिमी राष्ट्र एक ओर निःशस्त्रीकरण की दुहाई दे रहे थे और दूसरी ओर अपने देश में अस्त्र-शस्त्र को जुटाने में लगे हुये थे। प्रतिवर्ष उनका युद्ध सम्बन्धी बजट बढ़ता जा रहा था। सभी देशों में सुरक्षा के नाम पर युद्ध की तैयारियां आरम्भ हो गयी। फ्रांस ने अपनी उत्तरी पूर्वी सीमा पर जमीन के नीचे किलों की शृंखला बनाई जिसे 'मैजिनो लाइन' कहा जाता था। इसी तरह जर्मनी ने भी

अपनी सीमा पर किले बन्दी की जिसे 'शीग्फीड लाइन' कहा जाता था। अब निःशस्त्रीकरण मात्र औपचारिक वार्ता रह गई थी। 1936 तक तो अनेक राष्ट्रों ने युद्ध की ऐसी तैयारी करली थी कि वे निःशस्त्रीकरण की बात सुनने को तैयार नहीं थे। चारों ओर ऐसा वातावरण उत्पन्न हो गया कि निकट भविष्य में युद्ध अनिवार्य दिखाई देने लगा।

(8) मित्र राष्ट्रों के आन्तरिक मतभेद—मित्र राष्ट्रों के पारस्परिक मतभेदों ने भी जर्मनी और इटली की शक्ति के विकास में बड़ा योगदान दिया। क्षतिपूर्ति की समस्या पर ब्रिटेन और फ्रांस के बीच मतभेद उत्पन्न हो गये थे। फ्रांस जर्मनी से क्षतिपूर्ति की रकम कठोरता से वसूल करना चाहता था। किन्तु ब्रिटेन का मत था कि क्षतिपूर्ति की रकम वसूल करने में पहले जर्मनी की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ होनी चाहिए। इस प्रकार ब्रिटेन और फ्रांस में तीव्र मतभेद उत्पन्न हो गये। ब्रिटेन 'शक्ति सन्तुलन' के सिद्धांत की नीति का समर्थक था, जबकि फ्रांस ने अपने को हर प्रकार से सुरक्षित करके यूरोप का सर्वाधिक शक्तिशाली राष्ट्र बनाने की नीति अपनाई। हिटलर के उत्कर्ष के बाद उसने साम्यवाद के विरुद्ध विषवमन करना आरम्भ किया और ब्रिटेन और फ्रांस साम्यवाद के हौवे से सशंकित थे ही, अतः दोनों ने हिटलर के प्रति तुष्टीकरण की नीति अपनाई। फलस्वरूप मित्र राष्ट्र उसके विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं कर सके। इसके अतिरिक्त वर्साय सन्धि के समय यह निर्णय लिया गया कि ब्रिटेन और अमेरिका दोनों फ्रांस की सुरक्षा का दायित्व ग्रहण करेंगे, किन्तु अमेरिका की सीनेट ने इस सन्धि को अस्वीकृत कर दिया। अमेरिका के अलग होने पर ब्रिटेन ने भी फ्रांस को सुरक्षा का आश्वासन देने से इन्कार कर दिया। फलतः फ्रांस ने निराश होकर पोलैण्ड, बेल्जियम और चेकोस्लोवाकिया से अलग-अलग सन्धियां कीं। दोनों के इस प्रकार के मतभेद और जर्मनी एवं इटली के प्रति तुष्टीकरण की नीति को देखकर तानाशाहों का हौंसला बढ़ता गया। इधर मित्र राष्ट्रों और रूस के बीच भी तीव्र मतभेद थे। ब्रिटेन, रूस के साम्यवाद की लहर को रोकने के लिए हिटलर को ढाल समझता था, इसलिए उसने जर्मनी की शक्ति बढ़ाने में भी रुचि ली। मित्र राष्ट्रों को तो साम्यवादी रूस पर विश्वास ही नहीं था। म्यूनिक सम्मेलन में मित्र राष्ट्रों ने रूस को निमन्त्रित ही नहीं किया। इस पर रूस ने अपनी नीति में परिवर्तन किया। रूस जानता था कि सूडेटनलैंड जर्मनी को देना रूस पर आक्रमण करने के लिए अग्रिम भुगतान था। अतः उसने मित्र राष्ट्रों के प्रबल शत्रु जर्मनी से अनाक्रमण समझौता कर लिया। इस प्रकार पारस्परिक अविश्वास के कारण मित्र राष्ट्रों का मोर्चा निर्बल हो गया तथा वे तानाशाहों की बढ़ती हुई शक्ति को रोकने में कठिनाई अनुभव करने लगे। इस गम्भीर स्थिति ने द्वितीय विश्व युद्ध को अवश्यम्भावी बना दिया।

(9) पोलैण्ड पर आक्रमण—उपर्युक्त गम्भीर कारणों में अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर बारूद का महल खड़ा हो चुका था, अब तो केवल एक चिनगारी लगाने

की देर थी। यह कार्य हिटलर ने पोलैण्ड पर आक्रमण करके सम्पन्न कर दिया जिससे बारूद के महल में एक भयंकर विस्फोट हो गया। 1 सितम्बर, 1939 को हिटलर ने पोलैण्ड पर अचानक चढ़ाई कर दी। 3 सितम्बर को ब्रिटेन और फ्रांस ने जर्मनी को युद्ध बन्द करने की चेतावनी दी, किन्तु हिटलर ने इस चेतावनी की उपेक्षा की। फलतः ब्रिटेन और फ्रांस ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। कुछ ही समय में युद्ध ने विस्तृत रूप धारण कर लिया और विश्व राजनीतिक मंच पर पुनः एक बार वीभत्स ताण्डव नृत्य आरम्भ हो गया।

द्वितीय विश्व युद्ध की गतिविधियां—1 सितम्बर, 1939 को जर्मनी ने पोलैण्ड पर आक्रमण कर दिया। ब्रिटेन और फ्रांस ने आक्रमण समाप्त करने की चेतावनी दी जिसका कोई परिणाम नहीं निकला। अतः 3 दिसम्बर 1939 को दोनों ने ही जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। जर्मनी काफी समय से युद्ध की तैयारी कर रहा था तथा युद्ध के नये तरीकों का सफल प्रयोग भी स्पेन के गृह युद्ध में कर चुका था। अतः जर्मन सेनाओं ने प्रबल आक्रमण करते हुए 5 सितम्बर को सम्पूर्ण साइलेशिया पर अधिकार कर लिया। दो सप्ताह की भीषण लड़ाई के बाद जर्मन सेनाओं ने पोलैण्ड की राजधानी वार्सा पर अधिकार कर लिया।

रूस यूक्रेनिया को अपने राज्य में मिलाना चाहता था। अतः 17 दिसम्बर को पीछे हटती हुई पोलैण्ड की सेना पर रूस की सेना ने अचानक हमला बोल दिया। पांच दिन की लड़ाई के बाद रूस ने यूक्रेनिया पर अधिकार कर लिया। एक तरफ जर्मनी का आक्रमण और दूसरी ओर रूस का आक्रमण होने से पोलैण्ड पस्त हो गया और विवश होकर उसने आत्म समर्पण कर दिया। 29 सितम्बर को जर्मनी और रूस ने पोलैण्ड का बंटवारा कर लिया। पोलैण्ड का पश्चिमी भाग जर्मनी को तथा पूर्वी भाग रूस को प्राप्त हुआ। फ्रांस में पोलैण्ड की सरकार का पुनर्गठन किया गया और युद्ध चलता रहा। अक्टूबर 1939 में रूस ने इस्टोनिया, लेटविया और लिथुनिया से पृथक संधियां कीं, जिसके अनुसार इन तीनों राज्यों ने अपने सामुद्रिक एवं हवाई अड्डे रूस को सौंप दिये। किन्तु फिनलैण्ड सन्धि के लिए तैयार नहीं हुआ। फलतः 30 नवम्बर 1939 को रूस ने फिनलैण्ड पर आक्रमण कर एक महीने में फिनलैण्ड के एक बड़े भूभाग पर अधिकार कर लिया। 12 मार्च 1940 को दोनों के बीच सन्धि हो गयी। रूस ने फिनलैण्ड के सभी सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण क्षेत्र अपने अधीन कर लिये।

पोलैण्ड पर अधिकार करने के बाद हिटलर ने एक कूटनीतिक चाल चली और ऐसी चाल वह हमेशा से खेलता आया था। उसने ब्रिटेन और फ्रांस से कहा कि युद्ध बन्द कर दिया जाय क्योंकि अब उसे अन्य किसी प्रदेश प्राप्ति की आकांक्षा नहीं है। ब्रिटेन और फ्रांस हिटलर की चाल से अनभिज्ञ नहीं थे और फिर वे इस शर्त पर

शान्ति स्थापित करने को तैयार नहीं थे कि हिटलर की विजयों को मान्यता प्रदान करदी जाय। पोलैण्ड विजय के बाद लगभग आठ महीने तक हिटलर ने कोई सैनिक कार्यवाही नहीं की। इस काल में एक ओर तो वह शान्ति स्थापित करने की अपीलें करता रहा और दूसरी ओर युद्ध की घोर तैयारी करता रहा। 9 अप्रेल 1940 को उसने डेनमार्क और नार्वे पर धावा बोल दिया। दोनों ने पराजित होकर जर्मनी का संरक्षण स्वीकार कर लिया। हिटलर की बढ़ती हुई शक्ति से मित्र राष्ट्रों में खलबली मच गयी। 10 मई को ब्रिटिश प्रधान मन्त्री चेम्बरलेन को त्याग पत्र देना पड़ा तथा चर्चिल के नेतृत्व में संयुक्त सरकार बनायी गयी। इसी दिन जर्मनी ने लेक्समबर्ग, बेल्जियम और हालैण्ड पर आक्रमण कर दिया। लेक्समबर्ग पर उसी दिन अधिकार कर लिया गया, पांच दिन बाद हालैण्ड पर अधिकार हो गया तथा 28 मई को बेल्जियम ने आत्म समर्पण कर दिया। यद्यपि बेल्जियम की सहायता के लिए लाखों की संख्या में ब्रिटिश सेना आई हुई थी, किन्तु वह स्वयं जर्मन सेनाओं से घिर गयी। ब्रिटिश सैनिक अधिकारियों ने अपने कुशल रणकौशल का परिचय देते हुए अपनी अधिकांश सेना को बचा लिया। 10 मई को ही हिटलर ने अपने पुराने शत्रु फ्रांस पर हमला कर दिया। फ्रांस की सेनाएं इस प्रबल आक्रमण के समक्ष टिक नहीं सकीं। 11 जून को इटली ने भी युद्ध की घोषणा करते हुए फ्रांस पर आक्रमण कर दिया। 14 जून को पेरिस नगर पर जर्मन सेनाओं का अधिकार हो गया। 22 जून 1940 को फ्रांस ने हथियार डाल दिये। फ्रांस व जर्मनी के बीच सन्धि हुई जिसके अनुसार उत्तरी फ्रांस जर्मनी के अधिकार में रहा तथा दक्षिणी फ्रांस को स्वतंत्र मान लिया गया। किन्तु बहुत से फ्रांसीसी जर्मनी के विरुद्ध युद्ध जारी रखना चाहते थे। अतः जनरल डिगॉल के नेतृत्व में कुछ फ्रांसीसी देशभक्त इंगलैण्ड पहुंचे तथा वहां आजाद फ्रांसीसी सेना और आजाद फ्रांसीसी सरकार गठित की। इस आजाद फ्रांसीसी सरकार ने जर्मनी के विरुद्ध अपना युद्ध जारी रखा।

अब नार्वे से लेकर दक्षिणी स्पेन तक समस्त समुद्री तट पर जर्मनी का अधिकार हो गया। इससे प्रोत्साहित होकर 18 जून 1940 को जर्मनी ने इंगलैण्ड पर भीषण हवाई हमला कर दिया। पांच महीने तक जर्मन हवाई जहाज इंगलैण्ड पर बम वर्षा करते रहे। अकेले लन्दन पर पचास हजार बम गिराये गये। किन्तु चर्चिल के नेतृत्व में इंगलैण्ड की सरकार ने बड़ी साहस से जर्मनी का मुकाबला किया तथा जर्मनी के तीन हजार से भी अधिक बम वर्षक विमानों को मार गिराया। ब्रिटेन ने हिटलर को बता दिया कि ब्रिटेन से टक्कर लेना आसान नहीं है। अतः धीरे-धीरे हिटलर ने अपने आक्रमणों को धीमा कर दिया। इधर इटली ने सोमालीलैण्ड, केनिया और सूडान पर अधिकार कर लिया। इटली ने उत्तरी मिस्र पर भी आक्रमण किया और तत्पश्चात् यूनान पर चढ़ाई की। यूनान ने अन्य राष्ट्रों की सहायता से इटालियन सेना को यूनान से बाहर निकाल दिया। इस पर जर्मनी ने इटली की सहायता की,

जिससे अप्रेल 1941 में यूनान पर जर्मनी का अधिकार हो गया। रूस भी निरन्तर बाल्टिक क्षेत्रों पर कब्जा करता जा रहा था। जापान भी पीछे रहने वाला नहीं था। वह सुदूर पूर्व में 'वृहत्तर पूर्वी एशिया' का निर्माण करना चाहता था। इसीलिये उसने जर्मनी और इटली से मैत्री करके सितम्बर 1941 में धुरी राष्ट्रों में शामिल हो गया और दो महीने बाद हंगरी, रूमानिया और स्लोवाकिया भी इस गुट में सम्मिलित हो गये। फरवरी 1941 में जर्मन सेना ने लीबिया से ब्रिटिश फौजों को खदेड़ दिया। 9 अप्रेल 1941 को यूगोस्लाविया पर हमला करके उसे भी रौंद डाला। जर्मनी ने ब्रिटिश साम्राज्य को समाप्त करने के लिये इराक, ईरान और सीरिया पर भी आक्रमण किया, किन्तु जर्मनी को ब्रिटिश शक्ति के समक्ष पराजित होना पड़ा। इससे अब जर्मनी के लिये पूर्वी रास्ता एकदम बन्द कर दिया गया।

यद्यपि रूस और जर्मनी के बीच अनाक्रमण समझौता हो चुका था, किन्तु हिटलर की महत्वाकांक्षा के समक्ष सभी सन्धि और समझौते महत्वहीन थे। वह रूस को पराजित कर पूर्वी सीमा के खतरे को समाप्त करना चाहता था। अतः 22 जून 1941 को जर्मन सेना ने रूस पर आक्रमण कर यूक्रेनिया, इस्टोनिया, लेटविया लिथुआनिया, फिनलैण्ड और पूर्वी पोलैण्ड पर से रूसी आधिपत्य समाप्त कर दिया तथा जर्मन फौजें लेनिनग्राद के निकट आ पहुंची। लेनिनग्राद और मास्को में रूसी सेनाओं ने घोर युद्ध किया। रूस की गली और घर घर में शत्रु के विरुद्ध मोर्चाबन्दी की गई और अन्त में रूसी सेनाओं ने जर्मन फौजों को खदेड़ना आरम्भ कर दिया। विजय पथ पर निरन्तर अग्रसर होने वाला जर्मनी रूस से पछाड़ खा गया।

पर्ल हार्बर अमेरीकन जल सेना का प्रधान केन्द्र था। जापान ने बिना युद्ध घोषित किये ही इस पर आक्रमण कर दिया (7 दिसम्बर 1940)। इस पर अब अमेरिका भी युद्ध में कूद पड़ा। इंगलैण्ड, नीदरलैण्ड, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, कनाडा आदि ने जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। जर्मनी, इटली, रूमानिया, हंगरी और बल्गेरिया ने अमेरिका के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। इस प्रकार युद्ध की लपटों ने सारे विश्व को अपनी चपेट में ले लिया। जापान बड़ी ही तीव्र गति से आगे बढ़ता गया। जापान, हांगकांग, श्याम, फिलिपाइन, स्याम, मलाया, सिंगापुर आदि को रौंदता हुआ आगे बढ़ता ही गया। भारत पर भी जापानियों ने भारी हमले किये। पूर्वी एशिया में जापान का प्राधान्य स्थापित हो गया।

इस प्रकार धुरी राष्ट्रों को निरन्तर विजय मिलती जा रही थी और मित्र राष्ट्रों की विजय के कोई चिन्ह दिखाई नहीं दे रहे थे। किन्तु 1942 के अन्त में धुरी राष्ट्रों की प्रगति रुक गई और वे हारने लगे। नवम्बर 1942 में ब्रिटिश व अमेरीकन फौजों ने संयुक्त रूप से उत्तरी अफ्रीका से जर्मन व इटालियन फौजों को खदेड़ना आरम्भ कर दिया और अन्त में उत्तरी अफ्रीका पर मित्र राष्ट्रों का अधि-

कार हो गया। 10 जुलाई 1943 को मित्र राष्ट्रों ने सिसली पर आक्रमण किया और अब इटली की बारी थी। मुसोलिनी ने हिटलर से सहायता मांगी, किन्तु इस समय जर्मन सेना रूस में बुरी तरह उलझी हुई थी, अतः हिटलर कोई सहायता नहीं भेज सका। 18 जुलाई को मित्र राष्ट्रों ने संयुक्त रूप से इटली पर आक्रमण किया। इस समय इटली का जनमत मुसोलिनी के विरुद्ध हो रहा था। अतः 23 जुलाई को इटली के सम्राट ने उसे पद से हटाकर गिरफ्तार कर लिया तथा युद्ध को जारी रखा। 3 दिसम्बर 1943 को इटली ने आत्म समर्पण कर दिया। इसी बीच जर्मनी के कुछ छतरीबाज सैनिक उस स्थान पर उतरे जहां मुसोलिनी नजरबन्द था और मुसोलिनी को छुड़ा ले गये। मुसोलिनी ने जर्मनी की सहायता से पुनः इटली को अपने प्रभाव में लाने का विफल प्रयत्न किया। 4 जून 1944 को रोम पर मित्र राष्ट्रों का अधिकार हो गया। इटली में छुटपुट स्थानों पर जर्मन सेना युद्ध करती रही, किन्तु 2 मई 1945 को उन्होंने भी हथियार डाल दिये। रूस में भी जर्मन सेनाओं की पराजय होती गई। 1944 की ग्रीष्म ऋतु तक रूस ने सभी क्षेत्रों में जर्मन सेनाओं को खदेड़ दिया। जर्मनी की पराजय का लाभ उठाते हुए मित्र राष्ट्रों ने जर्मनी के विरुद्ध पश्चिम में भी मोर्चा खोल दिया। 8 मार्च 1944 को दो हजार अमेरीकन बम वर्षकों ने बर्लिन पर भीषण बमबारी की। फ्रांस के उत्तर पश्चिम समुद्र के किनारे मित्र राष्ट्रों की फौजें उतारी गई। दिसम्बर 1944 तक तीन लाख सेना फ्रांस पहुंच गई। फ्रांस की सीमा पर जर्मन किलेबन्दी को ध्वस्त कर दिया गया। 15 अगस्त 1944 को फ्रांस के पूर्व भूमध्य सागरीय तट पर मित्र राष्ट्रों की सेना उतारी गई जिसने तूलो और मारसेली के बन्दरगाहों पर अधिकार कर लिया। 25 अगस्त को जर्मन अविकृत पेरिस का भी पतन हो गया और जर्मन सेना ने आत्म-समर्पण कर दिया। फ्रांस को मुक्त कराने के पश्चात मित्र राष्ट्रों की फौजों ने मध्य यूरोप में जर्मनी के अधीन राज्यों को मुक्त करवाया। रूस ने जिन क्षेत्रों पर विजय प्राप्त की थी और बाद में जिन पर जर्मनी का अधिकार हो गया था, अब रूस ने पुनः उन पर अधिकार कर लिया। बाल्कन प्रायद्वीप के लगभग सभी राष्ट्र मित्र राष्ट्रों के पक्ष में हो गये। नवम्बर 1944 में मित्र राष्ट्रों की फौजों ने हालैण्ड की ओर से जर्मनी में प्रवेश किया। जब मित्र राष्ट्रों की सेना राइन नदी पार कर गयी तब तो जर्मनी की अन्तिम घड़ी दिखाई देने लगी। जर्मनी की जनता हिटलर के विरुद्ध हो गई तथा उसकी हत्या करने के षड़यन्त्र आरम्भ हो गये। इसी बीच रूसी सेना पूर्वी क्षेत्र में जर्मनी के अधीन राज्यों को मुक्त करवाती बर्लिन की ओर तेजी से बढ़ने लगी। 22 अप्रेल 1945 को रूस ने बर्लिन पर प्रहार किया। इधर ब्रिटेन, फ्रांस व अमेरिका की फौजें भी आ पहुंची। अन्त में 2 मई 1945 को बर्लिन का पतन हो गया तथा 4 मई को जर्मन सेनाओं ने आत्म समर्पण कर दिया। हिटलर ने अपनी पत्नी इवाब्रान सहित आत्म हत्या कर ली और इटली के देशभक्तों ने मुसोलिनी और उसकी पत्नी को गोली से उड़ा दिया। 7 मई को जर्मनी ने आत्म

समर्पण दस्तावेज पर हस्ताक्षर किये तथा 8 मई को यूरोप में युद्ध बन्द हो गया।

अब केवल जापान ही ऐसा राष्ट्र बचा था जिसने आत्म समर्पण नहीं किया था तथा युद्ध को जारी रखे हुए था। अतः मित्र राष्ट्रों का ध्यान जापान को पराजित करने की ओर गया। ब्रिटिश फौजें सुदूरपूर्व में तेजी से बढ़ने लगीं और उन्होंने बर्मा को मुक्त करवा लिया। तत्पश्चात् मलाया, फिलिपाइन व सिंगापुर मुक्त करवाये गये। अन्त में जापान पर भीषण आक्रमण हुआ। 26 जुलाई 1945 को पोट्सडम सम्मेलन में मित्र राष्ट्रों ने जापान से बिना शर्त आत्म समर्पण की मांग की, किन्तु जापान ने इस मांग को ठुकरा दिया। फलतः 6 अगस्त 1945 को जापान के अत्यन्त ही समृद्ध नगर हिरोशिमा पर अमेरिका द्वारा पहला अणु बम डाला गया। हिरोशिमा जलकर लगभग भस्म हो गया, फिर भी जापान ने आत्म समर्पण नहीं किया। उधर रूस ने भी जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी, फिर भी जापान अभी झुकने को तैयार नहीं था। 9 अगस्त 1945 को अमेरिका ने जापान के एक अन्य नगर नागासाकी पर दूसरा अणु बम डाला। बस, जापान के प्रतिरोध का यहीं अन्त हो गया। 14 अगस्त 1945 को जापान ने बिना शर्त आत्म समर्पण कर दिया। जापान ने केवल सम्राट के विशेषाधिकारों को सुरक्षित रखने की शर्त लगाई। मित्र राष्ट्रों ने इस शर्त को स्वीकार करते हुए जापान को मित्र राष्ट्रों के सर्वोच्च सेनाध्यक्ष जनरल मैकार्थर के नियन्त्रण में रखने की मांग की जिसे स्वीकार करने के अतिरिक्त जापान के पास कोई अन्य चारा नहीं था। जापान की इस पराजय के बाद द्वितीय महासमर की विभीषिका की इतिश्री हो गयी।

शान्ति समझौता—युद्ध की समाप्ति पर अब यह आवश्यक हो गया कि युद्धोत्तर विश्व में स्थायी शांति की स्थापना के लिए विश्व में नयी व्यवस्था की जाय। किन्तु एक ही स्थान पर बैठकर एक समय में निर्णय लेना कठिन था। अतः इस बार परम्परागत तरीकों को त्याग कर अनेक भिन्न-भिन्न स्थानों पर बैठकें करके समझौते किये गए। ये बैठकें काहिरा, तेहरान, याल्टा, पोल्ट्सडम आदि स्थानों पर हुई और अनेक सम्मेलनों के पश्चात सर्वमान्य संधियां की गई। शांति स्थापित करने के मूलभूत सिद्धान्तों का प्रतिपादन मित्र राष्ट्र अटलाण्टिक चार्टर, कासाब्लांका, मास्को, तेहरान, याल्टा और पोट्सडम सम्मेलनों में पहले ही कर चुके थे। अतः प्रारम्भिक कठिनाइयों के निराकरण के पश्चात् संधि प्रपत्र तैयार कर लिये गये। तत्पश्चात् पेरिस में 29 जुलाई 1946 से 15 अक्टूबर 1946 तक 21 राष्ट्रों का एक सामान्य सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन में तैयार किये गये सन्धि प्रपत्रों को विजयी, पराजित और युद्ध में भाग लेने वाले अन्य राज्यों के समक्ष विचारार्थ रखे गये। दोनों पक्षों को अपने-अपने विचार प्रकट करने का अवसर दिया गया। अतः 1919 के शान्ति सम्मेलन की अपेक्षा इस बार पराजित राष्ट्रों के प्रति उदारता का व्यवहार किया गया, क्योंकि प्रथम युद्ध के पश्चात् सम्पन्न हुई सन्धि को पराजित

राष्ट्रों पर थोपा गया था जिसके बड़े अनिष्टकारी परिणाम हुए। 1919 में शांति सम्मेलन की समस्त कार्यवाही को गुप्त रखा गया तथा पराजित राष्ट्रों को अपमानित किया गया था। किन्तु इस वार विजयी राष्ट्रों के व्यवहार में शिष्टता थी तथा पराजित राष्ट्रों को विचार प्रकट करने की पूरी स्वतन्त्रता थी।

पेरिस सम्मेलन में काफी विचार विनिमय के पश्चात 10 फरवरी 1947 को मित्र राष्ट्रों एवं पराजित राष्ट्रों ने इन संधियों पर हस्ताक्षर किये। इन सन्धियों को विभिन्न राज्य सरकारों द्वारा पुष्टि करने हेतु 15 सितम्बर 1946 अन्तिम तिथि स्वीकार कर ली गई। फिर भी किसी पराजित राष्ट्र ने शान्ति सन्धियों को सन्तोषजनक, न्याय संगत और अच्छी नहीं माना और इन सन्धियों में संशोधन करने हेतु उन्होंने आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया। आस्ट्रिया, जर्मनी और जापान के साथ शांति सन्धियों के विषय में तीव्र मतभेद बने रहे। अन्त में 1946 में जर्मनी के साथ और 1951 में जापान के साथ सन्धि की गई। इटली ने तो 1943 में ही युद्ध विराम सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिये थे। आस्ट्रिया ने जुलाई 1955 में शांति समझौते पर हस्ताक्षर किये। अक्टूबर 1956 में रूस और जापान के बीच एक समझौता हुआ जिससे दोनों के बीच युद्ध की स्थिति समाप्त हो गयी।

प्रस्तुत पुस्तक के विवेचन की सीमा द्वितीय विश्व युद्ध तक ही सीमित है। अतः युद्धोत्तर शान्ति समझौते और विभिन्न सन्धियों की विस्तृत व्याख्या करना अनुपयुक्त होगा।

द्वितीय विश्व युद्ध के परिणाम—द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति से इतिहास के एक अध्याय का अथवा एक युग का अन्त हो गया। यह युद्ध मानव इतिहास का सर्वाधिक क्रूर, भयानक और विनाशकारी युद्ध था। युद्ध में संलग्न सभी राष्ट्रों ने अपने वैज्ञानिक अनुसंधानों का प्रयोग किया। फलतः युद्ध काल में दोनों ही पक्षों को अपार क्षति उठानी पड़ी। विनाश का सबसे अधिक वीभत्स दृश्य सोवियत रूस को देखना पड़ा, क्योंकि रूस के बार बार कहने पर भी पश्चिमी राष्ट्रों ने 1944 तक धुरी राष्ट्रों के विरुद्ध कोई दूसरा मोर्चा नहीं खोला, इसलिये जर्मनी का प्रहार सबसे अधिक लाल सेना को ही सहन करना पड़ा। इसी प्रकार ब्रिटेन और फ्रांस को भी भारी हानि उठानी पड़ी, किन्तु उनकी क्षति रूस की तुलना में कुछ कम थी। पराजित राष्ट्रों ने भी जो क्षति उठायी, उसकी तो कल्पना ही नहीं की जा सकती है। द्वितीय विश्व युद्ध के परिणामों से एक नवीन युग का सूत्रपात हुआ। द्वितीय विश्व युद्ध के निम्नलिखित परिणाम निकले—

(1) यूरोपियन प्रभुत्व का अन्त—द्वितीय विश्व युद्ध के पूर्व तक यूरोप, विश्व इतिहास का निर्माता था किन्तु द्वितीय विश्व युद्ध के बाद यूरोपियन राष्ट्र आर्थिक एवं राजनैतिक दृष्टि से अपाहिज हो चुके थे। विश्व समाज को अनुशासित

करने वाला यूरोप अब 'समस्या प्रधान' यूरोप बन गया। विश्व युद्ध के बाद जर्मनी पूर्णतः पंगु हो चुका था, इटली सर्वनाश के कगार पर खड़ा सिसक रहा था तथा ब्रिटेन और फ्रांस की स्थिति तृतीय श्रेणी के राष्ट्रों जैसी हो गयी थी। अतः विश्व में केवल दो ही महाशक्तियां रह गई थी—सोवियत रूस और संयुक्त राज्य अमेरिका। युद्ध के बाद ये दोनों ही प्रथम श्रेणी के राष्ट्रों के रूप में उभर कर सामने आये तथा विश्व के राष्ट्र तेजी से उनके प्रभाव क्षेत्रों में बंटने लगे। इस प्रकार विश्व राजनीति का नेतृत्व अब यूरोप के हाथों से निकल कर इन दो महाशक्तियों के हाथों में चला गया और ये दोनों ही परस्पर विरोधी विचारधाराओं के प्रतीक बन गये। रूस साम्यवादी विचारधारा का पोषक बन गया और अमरीका लोकतन्त्र एवं पूंजीवादी आकांक्षाओं के लिए सहारा बन गया। विश्व राजनीतिक शिखर पर रूस और अमरीका रूपी दो सितारे चमक उठे जिन्होंने विश्व नेतृत्व की कुंजी यूरोप के हाथों से छीन ली और इस प्रकार विश्व में यूरोपियन प्रमुत्व का अन्त हो गया।

(2) **राष्ट्रीयता एवं नव जागरण**—युद्ध के पश्चात् यूरोपीय देशों के साम्राज्य में राष्ट्रीयता की भावनाएं प्रज्ज्वलित हुई। एशिया और अफ्रीका के राष्ट्रीय जागरण ने तो यूरोपीय राष्ट्रों के अवशिष्ट प्रभाव को भी समाप्त कर दिया। यूरोपीय देशों के साम्राज्य में राष्ट्रीयता एवं नव जागरण की शक्तियां इतनी प्रवल हो उठी कि यूरोपीय राष्ट्रों के लिये अपने साम्राज्यों को बनाये रखना कठिन हो गया। पराजित राष्ट्रों जर्मनी, इटली और जापान के साम्राज्य तो छीन ही लिये गये थे किन्तु विजयी राष्ट्र भी अपने साम्राज्य की रक्षा नहीं कर सके। परिस्थितियों से विवश होकर महायुद्ध के बाद ब्रिटिश सरकार ने अपनी नीति में परिवर्तन किया जिससे भारत, बर्मा, पाकिस्तान, मलाया, मिस्र आदि देशों को स्वतन्त्रता प्रदान की गई। अफ्रीका के अनेक देशों को भी स्वतन्त्रता प्राप्त हुई। फ्रेंच हिन्द-चीन में फ्रांसीसी साम्राज्य समाप्त हो गया। कम्बोडिया, लाओस, वियतनाम आदि स्वतन्त्र हुए। हालैण्ड के उपनिवेशों जावा, सुमात्रा, बोर्नियो आदि ने हिन्देशिया नामक संघ-राज्य की स्थापना की और वह भी स्वतन्त्र हो गया। जर्मनी दो भागों में विभाजित हो गया, पश्चिमी जर्मनी मित्र राष्ट्रों के प्रभाव में आ गया और पूर्वी जर्मनी पर रूस का प्रभाव स्थापित हो गया। जापान में क्यूराइल द्वीपों एवं दक्षिणी सखालिन पर रूस ने अधिकार कर लिया। फारमोसा चीन ने ले लिया और कोरिया पर अमेरिका एवं रूस ने अपने अपने क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया और उन्हें उपयुक्त समय पर स्वतन्त्रता देने का आश्वासन दिया। यद्यपि पुर्तगाल और स्पेन आदि कुछ देश अफ्रीका के कुछ प्रदेशों में अभी तक जमे हुए थे, किन्तु अब यूरोप के साम्राज्य का सूर्य अस्त हो चुका था। वस्तुतः 1919 के बाद एशिया और अफ्रीका में यूरोपीय साम्राज्यवाद की पराजय आरम्भ हुई और 1945 के बाद इसका उन्मूलन हो गया। वास्तव में द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति और संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना के बाद एशिया और अफ्रीका में इतनी तीव्र गति से घटनाएं घटी कि वहां आर्थिक, सामा-

जिक तथा राजनैतिक क्रान्तियों का विस्फोट हो गया। 1945 के पश्चात् यूरोपीय साम्राज्यवाद को कितना गहरा आघात पहुंचा, इसका अनुमान इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि इस युद्ध के पूर्व विश्व की जनसंख्या का 33 प्रतिशत उपनिवेशों में निवास करता था, किन्तु आज उनकी संख्या केवल तीन या चार प्रतिशत रह गयी है।

(3) **दो शक्तिशाली गुटों का उत्कर्ष**—द्वितीय विश्व युद्ध का एक महत्वपूर्ण परिणाम यह भी निकला कि प्राचीन शक्ति सन्तुलन पूरी तरह से नष्ट हो गया। विश्व की दो प्रमुख फासिस्ट शक्तियों—जर्मनी और इटली का पूर्ण पराभव हो चुका था तथा फ्रांस अपने विनाश की दहलीज पर खड़ा था। ब्रिटेन आर्थिक, सामरिक और राजनीतिक दृष्टि से पहले की अपेक्षा अधिक क्षीण हो चुका था। यूरोपीय महाद्वीप पर, युद्धकालीन महाक्षतियों के वावजूद शक्तिशाली होकर निकलने वाला एक मात्र राष्ट्र रूस था। किन्तु युद्धकालीन क्षति उसके लिये वरदान सिद्ध हुई। रूस को विशाल प्रदेक्षों की उपलब्धि हुई तथा अनेक पड़ोसी देशों पर उसकी आर्थिक नीतियों का प्रभाव पड़ा। अब उसकी सीमाओं में वे सभी प्रदेश सम्मिलित हो गये जो किसी समय जारकालीन रूस में शामिल थे। प्रथम विश्व युद्ध के वाद रूस को जितना अपमान सहन करना पड़ा था अब उसका उतना ही सम्मान बढ़ गया। विश्व राजनीति में साम्यवादी सिद्धान्तों में लोगों की आस्था बढ़ने लगी। पोलैण्ड, रूमानिया, हंगरी, वल्गेरिया, चेकोस्लोवाकिया आदि की जो सरकारें बनी वे सोवियत रूस की मित्र वनी। आन्तरिक क्षेत्र में स्टालिन के शासन का पूर्ण प्रभुत्व स्थापित हो गया। रूसी नागरिकों में आत्म विश्वास और आत्मनिर्भरता की भावना का प्रादुर्भाव हुआ। अल्पकाल में हा रूसियों ने वड़े उत्साह और जोश के साथ नाजी आक्रमण के अवशेपों को मिटा दिया और शीघ्र ही वह विश्व की एक महाशक्ति वन गया।

विध्वंशकारी महायुद्ध से अस्त व्यस्त विश्व में केवल एक देश ऐसा था, जो सोवियत रूस का मुकावला कर सके। यह देश था संयुक्त राज्य अमेरिका। युद्ध में अमेरिका का कोई विशेप नुकसान नहीं हुआ था। अतः आर्थिक दृष्टि से विश्व का वह सर्वाधिक सम्पन्न राष्ट्र था तथा विश्व के सभी पूंजीवादी राष्ट्र अमेरिका की सहायता से अपनी अर्थ व्यवस्था ठीक करने का प्रयास कर रहे थे। इस प्रकार युद्ध के वाद विश्व में शक्ति के दो प्रमुख केन्द्र वन गये--सोवियत रूस और संयुक्त राज्य अमेरिका। इन दोनों महाशक्तियों के नेतृत्व में दो विरोधी गुटों का निर्माण होने लगा, जिसने भयानक शीत युद्ध को जन्म दिया। शक्ति के इन दो प्रमुख केन्द्रों के स्थापित हो जाने से अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर भी इसका प्रभाव पड़ा। । सोवियत रूस का अपेक्षा अमेरिका के प्रभाव में निरन्तर कमी होती गयी।

(4) **युद्धोत्तर विश्व में सिद्धान्तों का संघर्ष**—द्वितीय विश्व युद्ध के बाद विश्व में 'सिद्धान्तों एवं आदर्शों पर बल देने की प्रवृत्ति' एक प्रमुख विशेषता बन गयी। युद्धोत्तर विश्व में विभिन्न सिद्धान्तों एवं विचारधाराओं ने सिर उठाया जिनमें कुछ में तो साम्य था तो कुछ में परस्पर विरोध। युद्धोत्तर विश्व में विभिन्न विचारधाराएं पल्लवित होती गयी और अपनी शाखाओं और उप शाखाओं का विस्तार करती रही। युद्धोपरान्त अमेरिका ने उदारवादी नीति अपनायी तथा आर्थिक दृष्टि से पस्त राष्ट्रों को आर्थिक पुर्ननिमाण के लिये सहायता प्रदान की। दूसरी ओर उसने पिछड़े हुए एशियायी राष्ट्रों को भी सहायता देने की नीति अपनायी। इस विचारधारा का अमेरीकन उदारवाद की संज्ञा दी जाती है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद सोवियत रूस साम्यवाद का प्रमुख केन्द्र बन गया जिसका एकमात्र लक्ष्य विश्व में साम्यवाद का प्रसार करना हो गया। किसानों के समर्थन एवं पूंजीपतियों के विरुद्ध अपने आकर्षक विचारों से साम्यवाद की ओर जन साधारण का ध्यान आकर्षित हुआ। पराधीन राष्ट्रों को साम्यवाद ने स्वाधीनता का आश्वासन दिया, उनमें साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के विरुद्ध कटु प्रचार करके राष्ट्रीय भावनाओं को जागृत किया। अपने आकर्षक आर्थिक सिद्धान्तों से एशिया और अफ्रीका के अनेक देशों को अपने प्रभाव में लाने में सफलता प्राप्त की। साम्यवादी रूस, पूंजीवादी अमेरिका का कट्टर शत्रु है। अतः अमेरिका एवं अन्य पूंजीवादी देशों ने साम्यवाद के बढ़ते हुए प्रभाव का डट कर विरोध किया। इस प्रतिक्रिया के परिणाम स्वरूप आज सम्पूर्ण विश्व साम्यवादी और पूंजीवादी दो खेमों में विभाजित है और प्रत्येक एक दूसरे के प्रभाव को नष्ट करने के लिये प्रयत्नशील है। द्वितीय महायुद्ध के बाद 1947 में भारत की स्वतन्त्रता के साथ ही असंलग्नतावाद (Non-alignment) की विचारधारा का प्रादुर्भाव हुआ। यह विचारधारा न तो साम्यवाद की ओर आकर्षित होने को कहती है और न पूंजीवाद की ओर। इस प्रकार भारत, विश्व में तटस्थ देशों का नेता बन गया। साम्यवाद एवं पूंजीवाद के मध्य समन्वय स्थापित करने के लिये असंलग्नवाद की विचारधारा विकसित हुई थी। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीयवाद की विचारधारा को लोकप्रियता प्राप्त हुई। संयुक्त राष्ट्र संघ जैसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था को इस विचारधारा का प्रबल पोषक माना गया। इस प्रकार द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अनेक विचारधाराओं का विकास हुआ।

(5) **शीत युद्ध का श्रीगणेश**—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर रूस और अमेरिका जैसी दो महाशक्तियों का उत्कर्ष हुआ था। नाजी जर्मन को कुचलने की समान स्वार्थ भावना के कारण युद्ध काल में रूस तथा अमेरिका एवं पाश्चात्य शक्तियों में मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रहे, किन्तु युद्ध के बाद दोनों में मतभेद उग्र हो गये। दोनों पक्षों की विचारधाराओं में विरोध तो पहले से ही विद्यमान था और युद्ध काल में दोनों एक दूसरे को संदेह की दृष्टि

से देखते थे। साम्यवादी रूस युद्धकाल में निरन्तर अपना प्रभाव क्षेत्र बढ़ाता जा रहा था जिसे पाश्चात्य देश रोकने का प्रयत्न करते रहे। पाश्चात्य देशों ने भी रूस को युद्धकाल में उतना सहयोग नहीं दिया जितना देना चाहिये था। अतः युद्ध के पश्चात् दोनों पक्षों ने खुलकर एक दूसरे पर आरोप लगाये। साम्यवादी देशों का केन्द्र रूस बन गया तथा साम्यवाद विरोधी देशों का नेतृत्व अमेरिका करने लगा। दोनों के वाक् संघर्ष ने एक नये प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध को जन्म दिया जिसे 'शीतयुद्ध' के नाम से पुकारा जाता है। इस प्रकार के सम्बन्धों में विरोधी राष्ट्रों के बीच कूटनीतिक सम्बन्ध बने रहते हैं और प्रत्यक्ष संघर्ष नहीं होता, किन्तु उनका पारस्परिक व्यवहार शत्रुतापूर्ण होता है। दोनों पक्ष अपने भाषणों में एवं समाचार पत्रों के माध्यम से एक दूसरे के विरुद्ध विषवमन करते रहते हैं।

(6) **प्रादेशिक संगठन**—युद्ध के बाद कोई संतोषजनक शांति समझौता नहीं हो सका। संयुक्त राष्ट्रसंघ भी रूस व अमेरिका के बीच चलने वाले शीत युद्ध का अखाड़ा बन गया था। फलतः दोनों अपनी भावी सुरक्षा के लिये प्रादेशिक संगठनों के निर्माण की ओर अग्रसर हुए। फलस्वरूप अनेक ऐसी संधियों और संगठनों का विकास होने लगा जिनका उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा को प्रोत्साहित करके साम्यवाद के प्रसार को रोकना था। साम्यवादी रूस तथा उसके साथी राष्ट्रों में स्वाभाविक रूप से पाश्चात्य शक्तियों के इन प्रयासों की प्रतिक्रिया का परिणाम यह निकला कि एक ओर अमेरिका के नेतृत्व में पश्चिमी राष्ट्रों ने साम्यवादी राष्ट्रों के चारों ओर सुरक्षा संगठनों का घेरा डालकर साम्यवाद पर अंकुश लगाने की चेष्टा की तो दूसरी ओर रूस ने अपने और पश्चिमी राष्ट्रों के बीच साम्यवादी सरकारों की स्थापना करके सुरक्षा व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने का प्रयत्न किया। पश्चिमी राष्ट्रों के सुरक्षा संगठनों में 'उत्तरी अटलांटिक संधि संगठन' (NATO), दक्षिणी पूर्वी एशिया संधि संगठन (SEATO), बगदाद पेक्ट आदि उल्लेखनीय है। साम्यवादी सुरक्षा संगठनों में वारसा पेक्ट प्रमुख है।

(7) **निशस्त्रीकरण**—द्वितीय विश्व युद्ध के पूर्व भी निशस्त्रीकरण के प्रयास होते रहे थे, किन्तु द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् इस समस्या का महत्व अधिक बढ़ गया था, क्योंकि द्वितीय विश्व युद्ध में नये नये वैज्ञानिक अस्त्र शस्त्रों तथा अणु बम जैसे विनाशकारी शस्त्रों का प्रयोग हो चुका था, जिससे भावी विश्व में शान्ति बनाये रखना अत्यन्त ही आवश्यक हो गया था। क्योंकि विनाशकारी शस्त्रों के आविष्कार के कारण यदि अब विश्व में तृतीय युद्ध लड़ा गया तो विश्व मात्र राख का ढेर बन कर रह जायेगा। अतः युद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अस्त्र शस्त्रों को सीमित करने के प्रश्न पर गम्भीर रूप से विचार होने लगा। इस प्रश्न के समाधान के लिये सरकारी और गैर सरकारी दोनों स्तरों पर प्रयत्न किये जाने लगे। किन्तु रूस और अमेरिका के बीच इस प्रश्न के सम्बन्ध में गम्भीर मतभेद उत्पन्न हो गये। एक पूर्णतः

निशस्त्रीकरण का पक्षपाती है तो दूसरा आंशिक निशस्त्रीकरण चाहता है। इन मत-भेदों के कारण निशस्त्रीकरण के सभी प्रयास विफल हुए हैं। फिर भी द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद से लगातार आज तक किसी भी देश ने निशस्त्रीकरण के महत्व को अस्वीकार नहीं किया है और उसका महत्व आज भी है।

(8) **संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना**--द्वितीय विश्व युद्ध की विभीषिका से सभी राष्ट्र आतंकित थे। इस युद्ध के भीषण ताण्डव ने विचारशील राजनीतिज्ञों को मानव जाति की रक्षा के लिए शांति को सुरक्षित बनाए रखने वाले एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के निर्माण की तीव्र आवश्यकता अनुभव कराई। पश्चिमी यूरोप तथा अमेरीका पिछले राष्ट्र संघ से एक भिन्न संगठन बनना चाहते थे। अमेरिका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने कहा था, "राष्ट्रसंघ की असेम्बली जैसी संस्था के पुनर्निर्माण से अधिक निरर्थक कोई अन्य कार्य नहीं है।" युद्धकाल में ही इसकी स्थापना के प्रयत्न आरम्भ हो गये थे। अक्टूबर 1943 में मास्को सम्मेलन में सामान्य सुरक्षा के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठत स्थापित करने का विएार स्वीकार किया गया। तत्पश्चात् भिन्न भिन्न बैठकों में इसके संगठन एवं विधान का प्रारूप तैयार किया गया तथा अप्रेल जून 1945 में सेन फ्रांसिस्को सम्मेलन में इसे अन्तिम रूप दिया गया। इसके बाद 24 अक्टूबर 1945 को संयुक्त राष्ट्र संघ के विधान को लागू कर दिया गया।

निष्कर्षत: द्वितीय विश्व युद्ध के प्रभाव से विश्व का कोई भी राष्ट्र अछूता नहीं रहा। यहां तक कि जो देश इस युद्ध में तटस्थ रहे वे भी इसके प्रभावों से मुक्त नहीं रह सके। युद्ध के परिणामस्वरूप शक्ति सन्तुलन ब्रिटेन के हाथों से निकल कर अमेरिका के हाथों में आ गया। वैज्ञानिक आविष्कारों की दौड़ आरम्भ हुई। 'शांति को बनाये रखने' के नाम पर नये नये विध्वंशक अस्त्र शस्त्रों का निर्माण आरम्भ हो गया। यद्यपि नये नये आविष्कारकर्त्ता राष्ट्रों का कहना है कि वे इनका प्रयोग शांतिपूर्ण उपायों के लिए करेंगे। किन्तु वास्तव में इनका प्रयोग शांतिपूर्ण उपायों के लिये होगा या युद्ध के लिए कहना कठिन है।

अध्याय 25

संयुक्त राष्ट्रसंघ

(UNITED NATIONS)

सन् 1938 तक राष्ट्रसंघ की निर्बलता प्रकट हो चुकी थी। 1939 में द्वितीय विश्व युद्ध आरम्भ हो गया। द्वितीय विश्व युद्ध के भीषण विध्वंशकारी ताण्डव ने विचारशील राजनीतिज्ञों को मानव जाति की रक्षा के लिए शांति को सुरक्षित बनाये रखने वाले एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के निर्माण की आवश्यकता अनुभव करायी। अतः युद्धकाल में ही कुछ राजनीतिज्ञों ने यह अनुभव किया कि शांति एवं अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग विश्व के लिए अनिवार्य है। पश्चिमी यूरोप एवं अमरीका इसके लिए राष्ट्रसंघ से भिन्न संगठन बनाना चाहते थे। इसके कई कारण थे। प्रथम कारण तो यह था कि अमेरिका की सीनेट ने राष्ट्रसंघ की योजना को ही अस्वीकृत कर दिया था, अतः ऐसी संस्था को अमेरिका द्वारा अब स्वीकृत करना संभव नहीं था। दूसरा कारण यह था कि राष्ट्रसंघ की परिषद् ने 1939 में रूस को संघ से निष्कासित कर दिया था। रूस के लिए ऐसी संस्था में सम्मिलित होना संभव नहीं था जिसने उसको सदस्यता से ही पृथक कर दिया हो। तीसरा कारण राष्ट्रसंघ के साथ लगी हुई बदनामी और उसके संविधान की कुछ मौलिक त्रुटियां थी। अतः इनका निराकरण राष्ट्रसंघ से भिन्न एक नई और अधिक शक्तिशाली संस्था से ही सम्भव था। इसलिए नये विश्व संगठन के लिए प्रयत्न प्रारम्भ हुए।

प्रारम्भिक प्रयत्न—युद्ध काल में धुरी राष्ट्रों के विरुद्ध लड़ने वाले राष्ट्रों ने सहयोग से काम लिया। मित्र राष्ट्रों का यही सहयोग आगे चलकर संयुक्त राष्ट्रसंघ के रूप में प्रतिफलित हुआ था। किन्तु यह सब एकाएक नहीं हुआ था, अपितु इसकी एक लम्बी कहानी है। इस कहानी का सूत्रपात 7 फरवरी 1941 से होता है। अमेरिका के तात्कालिक राष्ट्रपति रुजवेल्ट ने, युद्ध के उपरान्त नये विश्व की रचना के सम्बन्ध में बताया था कि हम जिस नये संसार की स्थापना के लिए लड़ रहे हैं, उस संसार की आधारशिला 'चार स्वतन्त्रताएं' होंगी—(1) भाषण तथा अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता (2) धर्म एवं उपासना की स्वतन्त्रता (3) आर्थिक

अभाव और निर्धनता से स्वतन्त्रता, और (4) भय से स्वतन्त्रता। इसके बाद 14 अगस्त 1941 को इंगलैण्ड के प्रधान मन्त्री चर्चिल और अमेरिका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट अटलाण्टिक सागर में 'प्रिंस ऑफ वेल्स' नामक जहाज पर मिले और उन्होंने एक घोषणा पर हस्ताक्षर किये जिसे 'अटलाण्टिक चार्टर' कहा जाता है। इस घोषणा पत्र द्वारा यह आशा व्यक्त की गई थी कि युद्ध के उपरान्त ऐसी शान्ति स्थापित हो सकेगी जब विश्व के समस्त राष्ट्र अपनी अपनी सीमाओं में सुरक्षित रह सकें और सदैव के लिए शक्ति प्रयोग का अमानुषिक साधन समाप्त किये जा सकें। यह घोषणा पत्र शान्ति स्थापना तथा प्रभावशाली विश्व संगठन का अस्तित्व कायम करने की दिशा में एक सफल प्रयत्न माना गया है।

इस दिशा में अगला प्रयत्न सम्मिलित राष्ट्रों की घोषणा थी। 1 जनवरी 1942 को वाशिंगटन में 26 विभिन्न मित्र राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने इस घोषणा पत्र पर हस्ताक्षर किये थे। इसके द्वारा सम्पूर्ण विश्व-विजय की मांग की गई ताकि मानव अधिकारों एवं न्याय को सुरक्षित रखा जा सके। 1 दिसम्बर 1943 को तेहरान सम्मेलन में तीन प्रधान राजनीतिज्ञ—रूजवेल्ट, चर्चिल और स्टालिन ने पुनः यह घोषित किया कि हमें विश्वास है कि हमारा समझौता विश्व में चिर शान्ति स्थापित करने में सफल होगा। इसे 'तेहरान घोषणा' कहते हैं। अक्टूबर 1943 में रूस, इंगलैण्ड और अमेरिका के विदेश मन्त्रियों का एक सम्मेलन मास्को में हुआ। इसमें युद्ध समाप्ति की शर्तों की घोषणा की गई और साथ ही साथ एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था स्थापित करने के सम्बन्ध में भी विचार किया गया। उपरोक्त पृष्ठभूमि के आधार पर यह निश्चित सा था कि विश्वयुद्ध की ज्वाला शान्त होने के पश्चात पुनः एक संगठन स्थापित होगा और वह राष्ट्रसंघ की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली, प्रभावशाली और सफल होगा। अब इसके लिए प्रत्यक्ष रूप से और स्पष्ट प्रयत्न प्रारम्भ हुए।

निर्माण का इतिहास—उपरोक्त सभी प्रयत्न संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना के आरम्भिक प्रयत्न मात्र थे। किन्तु अभी तक किसी ठोस योजना पर विचार नहीं किया गया था। अब परिस्थितियां बदल चुकी थी। धुरी राष्ट्रों की पराजय नजदीक थी। इटली और जर्मनी घुटने टेक चुके थे और जापान भी शिथिल पड़ गया था। अतः विश्व संगठन के निर्माण की दिशा में ठोस कदम उठाना सम्भव हो गया। प्रथम प्रयत्न सितम्बर 1944 में हुआ। वाशिंगटन के निकट डम्बर्टन ओक्स में रूस, अमेरिका, इंगलैण्ड और चीन राज्यों के प्रतिनिधि एकत्र हुए। सभी प्रतिनिधि विश्व संगठन के निर्माण के लिए अपनी-अपनी योजनाएं लेकर आये। इन योजनाओं पर काफी विचार विमर्श हुआ और 7 अक्टूबर 1944 को सम्मेलन में स्वीकृत विश्व संगठन की रूपरेखा प्रकाशित की गई। इस पर समाचार पत्रों में काफी टीका-टिप्पणी की गई। 25 अप्रैल 1945 को सेनफ्रांसिस्को में एक विशद सम्मेलन आमन्त्रित करने का निर्णय भी लिया गया।

25 अप्रल से 26 जून 1945 तक सेन फ्रांसिस्को (अमेरिका) में यह सम्मेलन हुआ, जिसमें 51 राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इसमें वे सभी राष्ट्र सम्मिलित थे जिन्होंने धुरी राष्ट्रों के विरुद्ध युद्ध घोषित किया था अथवा 1 जनवरी 1942 की घोषणा पर हस्ताक्षर किये थे। इस सम्मेलन में 'संयुक्त राष्ट्र संविधान' (Charter) तथा 'अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय अधिनियम' तैयार किया गया। 26 जनवरी को सर्वसम्मति से संयुक्त राष्ट्रसंघ संविधान स्वीकृत किया गया और समस्त प्रतिनिधियों ने इस पर हस्ताक्षर किये। 24 अक्टूबर 1945 से यह संविधान लागू हुआ। उसी समय से 24 अक्टूबर 'संयुक्त राष्ट्र दिवस' के रूप में मनाया जाता है। 10 जनवरी 1946 को संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा की प्रथम बैठक लन्दन के प्रसिद्ध वेस्ट मिनिस्टर हॉल में हुई। इस प्रकार संयुक्त राष्ट्रसंघ अपने अस्तित्व को प्राप्त हुआ। आज संयुक्त राष्ट्रसंघ विश्व की कुल आबादी का 80 प्रतिशत से अधिक भाग का प्रतिनिधित्व कर रहा है।

उद्देश्य और सिद्धान्त—संयुक्त राष्ट्रसंघ का चार्टर राष्ट्रसंघ के प्रतिज्ञा पत्र की अपेक्षा अधिक विस्तृत है। इसमें दस हजार शब्द, 111 धाराएं और 19 अध्याय हैं। इसके आरम्भ में ही इसके उद्देश्यों का वर्णन है। संयुक्त राष्ट्रसंघ के घोषणापत्र में कहा गया है कि युद्ध के भय को सदा के लिए समाप्त करने, मानव के मौलिक अधिकार, प्रतिष्ठा, योग्यता, स्त्री व पुरुष तथा छोटे-बड़े समस्त राष्ट्रों के समानाधिकार की रक्षा करने, न्याय की स्थापना करने एवं सामाजिक उन्नति और जीवन स्तर को ऊंचा उठाने के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना की गई। घोषणा-पत्र की धारा में 'एक' संयुक्त राष्ट्रसंघ के निम्नलिखित उद्देश्य बताये गये हैं—

(1) मानव जाति की भावी सन्ततियों को युद्ध की विभीषिका से मुक्ति प्रदान करना, अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को बनाये रखना और इसके लिए शान्ति को संकट में डालने वाले सभी कार्यों के विरोध के लिए सामूहिक उपायों को ग्रहण करना तथा शान्ति को भंग करने वाले अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों का अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के आधार पर शान्तिपूर्ण उपायों से हल करना।

(2) विश्व के विभिन्न राष्ट्रों के बीच परस्पर मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों को बढ़ाना, इसका आधार सभी लोगों को समानाधिकार और आत्म निर्णय का अधिकार होना चाहिए।

(3) अन्तर्राष्ट्रीय सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक या मानवतावादी समस्याओं के हल करने में सभी देशों का सहयोग प्राप्त करना।

(4) मानव के मूल अधिकारों के प्रति सम्मान में वृद्धि करना तथा जाति, लिंग, भाषा या धर्म का भेदभाव किये बिना सभी को मौलिक स्वतन्त्रताएं प्राप्त करना।

(5) संयुक्त राष्ट्रसंघ को ऐसा केन्द्र बनाना जो इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए विभिन्न राष्ट्रों द्वारा किये जाने वाले कार्यों में साम्य स्थापित कर सके।

इस प्रकार संयुक्त राष्ट्रसंघ के उद्देश्यों को संक्षेप में चार शब्दों द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। (1) सुरक्षा (2) न्याय (3) कल्याण तथा (4) मानव अधिकार। किन्तु इसके साथ ही यह भी स्वीकार किया गया है कि जब तक कोई सदस्य राष्ट्र चार्टर के अन्तर्गत आचरण करता है, उसके आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं किया जायेगा।

इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए यह आवश्यक था कि इसके लिए कुछ सिद्धांतों को अपनाया जाय। इसलिए निम्नलिखित कुछ सिद्धान्त स्पष्ट रूप से चार्टर की दूसरी धारा में दिये गये हैं—

(1) सदस्य राष्ट्रों की सार्वभौमिकता और समानता अक्षुण्ण है। उदाहरणार्थ इसमें रूस और अमेरिका जैसे बड़े राज्यों तथा घाना जैसे हाल ही में स्वतन्त्र हुए राज्यों का दर्जा समान माना जाता है। उन्हें बराबर संख्या में प्रतिनिधि भेजने, इसकी सभी कार्यवाहियों में भाग लेने और वोट देने के अधिकार समान हैं।

(2) प्रत्येक सदस्य राष्ट्रसंघ के चार्टर के अनुसार उन पर लागू होने वाले सभी दायित्वो का पालन पूरी ईमानदारी से करेगा।

(3) सदस्य राष्ट्र आपसी विवादों को शान्तिपूर्ण ढंग से निपटाने के लिए वचनबद्ध हैं।

(4) सदस्य राष्ट्रसंघ के उद्देश्यों के प्रतिकूल कोई कार्य नहीं करेंगे। वे एक दूसरे के विरुद्ध न युद्ध करेंगे और न युद्ध की धमकी देंगे।

(5) कोई भी सदस्य राष्ट्रसंघ के चार्टर के प्रतिकूल कार्य करने वाले राष्ट्र की सहायता नहीं करेंगे और संघ की कार्यवाही में प्रत्येक प्रकार से सहयोग देंगे।

(6) शान्ति और सुरक्षा बनाये रखने के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ ऐसी व्यवस्था करेगा जो कि देश सदस्य नहीं हैं वे भी चार्टर के सिद्धान्तों के अनुसार आचरण करें।

(7) शान्ति की रक्षा के लिए जब तक आवश्यकता नहीं, संयुक्त राष्ट्रसंघ किसी भी देश के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेगा।

उपर्युक्त सिद्धान्त आदर्श के रूप में बहुत उपयुक्त है, किन्तु व्यवहार में बड़ी कठिनाई उपस्थित करते हैं। उदाहरण के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ दक्षिणी अफ्रीका की रंगभेद नीति का विरोधी है, किन्तु दक्षिणी अफ्रीका गैर-श्वेत लोगों पर अमानवीय अत्याचार कर रहा है और जब इस मामले को संघ में ले जाया गया तो उसने इसे अपना आन्तरिक मामला बताया। इसी प्रकार यद्यपि संयुक्त राष्ट्रसंघ का चार्टर ऐसे विषयों में हस्तक्षेप का अधिकार देता है जो विश्व शान्ति के लिए घातक हो या शान्ति भंग होने की सम्भावना हो। किन्तु यह कठिन प्रतीत होता है क्योंकि

सम्बन्धित राष्ट्र की स्वीकृति के बिना ऐसा कोई प्रयत्न सफल नहीं हो सकता है। इस प्रकार उपरोक्त सिद्धान्त आदर्श रूप में होते हुए भी कार्य रूप में पूर्ण सफल व प्रभावशाली नहीं हो पा रहे हैं।

सदस्यता—संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर पर हस्ताक्षर करने वाले राष्ट्र इसके आरम्भिक सदस्य थे। नये सदस्य के लिए सर्वप्रथम प्रस्ताव सुरक्षा परिषद में किया जाता है। सुरक्षा परिषद के पांच स्थायी सदस्यों सहित बहुमत से सदस्य बनाने की सिफारिश महासभा को की जाती है। जब महासभा अपने दो-तिहाई बहुमत से सुरक्षा परिषद की सिफारिश को स्वीकार कर लेती है तब कोई राष्ट्र सदस्य बन जाता है। सदस्य बनने के लिए किसी राष्ट्र का शान्तिप्रिय होना, चार्टर में उल्लेखित उद्देश्यों और सिद्धान्तों को स्वीकार करना तथा उन्हें पूरा करने के लिए समर्थ होना आवश्यक है। सुरक्षा परिषद के पांच स्थायी सदस्यों में से कोई भी किसी नये सदस्य को अपने वीटो (निषेधाधिकार) से संघ में प्रविष्ट होने से रोक सकता है। इसके सभी सदस्यों के अधिकार समान समझे जाते हैं और उनसे उपेक्षा की जाती है कि वे चार्टर के अनुसार अपने दायित्वों और कर्त्तव्यों का पालन पूरी ईमानदारी से करेंगे। यद्यपि इसका सदस्य न बनने वाले राज्यों पर चार्टर के दायित्व लागू नहीं होते, फिर भी यदि वे शान्ति भंग करते हैं तो संयुक्त राष्ट्रसंघ उनके विरुद्ध भी कार्यवाही कर सकता है। गैर सदस्यों को भी अपने अन्तर्राष्ट्रीय विवाद सुरक्षा परिषद के सामने ले जाने का अधिकार होता है।

विविध बातें—संयुक्त राष्ट्रसंघ का प्रधान कार्यालय न्यूयार्क में है जो 1952 में बनकर पूरा हुआ था। अक्टूबर सन् 1952 में वहां सर्वप्रथम महासभा की बैठक हुई थी। इस भवन में 29 मंजिलें हैं और लगभग 3,500 अधिकारी कार्य करते हैं। इस कार्यालय के बनने के पूर्व इसका अस्थायी कार्यालय लाग द्वीप के लेक सक्सेस में था। अंग्रेजी, फ्रेंच, चीनी, रूसी तथा स्पेनिश भाषाएं संयुक्त राष्ट्र-संघ की स्वीकृत भाषाएं हैं। किन्तु अधिकांश कार्य अंग्रेजी तथा फ्रेंच भाषा में ही होता है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ का आय व्यय लगभग 5 करोड़ डालर प्रतिवर्ष माना जाता है। प्रतिवर्ष इसमें वृद्धि की सम्भावना रहती है। यह राशि सदस्य राज्यों द्वारा दिये जाने वाले अंशदानों से पूरी की जाती है। इन अंशदानों का अनुमानित अनुपात इस प्रकार है—

संयुक्त राज्य अमेरिका	36.9%
इंगलैण्ड	10.59%
सोवियत रूस	9.58%
राष्ट्रीय चीन व फ्रांस	5.75% (प्रत्येक)
भारत	3.53%
कनाडा	3.35%

संयुक्त राष्ट्रसंघ के अंग—संयुक्त राष्ट्रसंघ में मुख्य छः अंग संगठित किये गये हैं जो क्रमशः (1) महासभा (2) सुरक्षा परिषद (3) आर्थिक व सामाजिक परिषद (4) संरक्षण परिषद (5) अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय और (6) सचिवालय हैं। प्रत्येक अंग का संगठन, अधिकार क्षेत्र तथा कार्यों आदि का विस्तार से अध्ययन करना अनिवार्य है।

(1) **महासभा** (General Assembly)—संयुक्त राष्ट्रसंघ की सबसे अधिक प्रतिनिधित्वपूर्ण और केन्द्रीय संस्था महासभा है। इसे साधारण सभा भी कहते हैं। संयुक्त राष्ट्रसंघ के सभी सदस्य राष्ट्र इस सभा के सदस्य होते हैं। साधारण सभा के सदस्यों में समानता का सिद्धांत स्वीकार किया गया है। अतः प्रत्येक सदस्य राज्य को 5 प्रतिनिधि तथा 5 वैकल्पिक प्रतिनिधि भेजने का अधिकार है। किन्तु एक राष्ट्र को एक ही मत देने का अधिकार है। इसका अधिवेशन वर्ष में एक बार सितम्बर महीने के तीसरे बृहस्पतिवार से प्रारम्भ होता है। किन्तु आवश्यकता पड़ने पर इसका विशेष अधिवेशन महामंत्री, सुरक्षा परिषद की अथवा संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्यों के बहुमत की प्रार्थना कर बुला सकता है। विशेष अधिवेशन 15 दिन की पूर्व सूचना देकर आमन्त्रित कर सकता है। महासभा अपने अधिवेशन के आरम्भ में ही एक अध्यक्ष एवं सात उपाध्यक्ष निर्वाचित करती है जो अधिवेशन की समाप्ति तक रहते हैं। इस अधिवेशन में कोई सदस्य राष्ट्र चार्टर की सीमाओं के अन्तर्गत किसी विषय को विचारार्थ प्रस्तुत कर सकता है, किन्तु वह निजी अथवा आंतरिक विषयों से सम्बन्धित नहीं होना चाहिये।

(क) **शक्तियाँ एवं कार्य**—संयुक्त राष्ट्रसंघ के संविधान की धारा 10 से 17 तक, महासभा के कार्यों का विवरण है। तदनुसार महासभा अपने अधिवेशनों में किसी भी ऐसे विषय पर विचार विमर्श कर सकती है जो इसके क्षेत्र में आता है और उन प्रश्नों को आवश्यकतानुसार संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्यों के पास अथवा सुरक्षा परिषद या दोनों के समक्ष भी उपस्थित कर सकती है। विश्व शान्ति और सुरक्षा की स्थापना से सम्बन्धित प्रश्न पर विचार करने के लिए यह सभा पूर्ण रूप से अधिकारिणी है। ऐसा प्रश्न सदस्य राष्ट्र की ओर से, सुरक्षा परिषद द्वारा अथवा गैर सदस्य राष्ट्र द्वारा भी प्रस्तुत किया जा सकता है। यद्यपि यह सभा विश्व की सार्वभौम संविधान सभा नहीं है, किन्तु फिर भी इसके द्वारा विचार किया हुआ विषय विश्व के जनमत को नैतिक रूप से प्रभावित करने के लिए पर्याप्त है। यही महासभा, स्थिति की गंभीरता को देखते हुए, यदि विश्व शान्ति को खतरा उत्पन्न होने की सम्भावना हो तो सुरक्षा परिषद का ध्यान भी आकर्षित कर सकती है और अन्य वैधानिक साधनों द्वारा पुनः संतुलन के लिए प्रयत्न कर सकती है। धारा 13 के अनुसार महासभा को निम्न विशेष कार्य करने को कहा गया है—

(1) शान्ति और सुरक्षा की स्थापना के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के सिद्धान्तों पर विचार करना तथा अपने सुझाव देना।

(2) निःशस्त्रीकरण तथा इससे सम्बन्धित समस्याओं पर शांति और सुरक्षा [illegible] से विचार करना।

(3) विश्व के राजनैतिक क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को प्रोत्साहन देना।

(4) विश्व के आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, शिक्षा सम्बन्धी तथा स्वास्थ्य के क्षेत्रों में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की वृद्धि करना।

(5) समस्त मानव मात्र के लिए जाति, लिंग, भाषा या धर्म का भेद न मानते हुए मानव अधिकार और मौलिक स्वतन्त्रताओं की प्राप्ति में सहायता करना।

(6) संयुक्त राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत सम्पूर्ण विभागों एवं संस्थाओं द्वारा वर्ष भर में किये हुए कार्यों का विवरण एवं प्रतिवेदन प्राप्त करना और उस पर विचार करना।

(7) संयुक्त राष्ट्रसंघ का वार्षिक आय व्यय विवरण (बजट) पर विचार करना एवं स्वीकृति देना तथा सहायक संस्थाओं की आर्थिक स्थिति पर विचार करना।

(8) निर्वाचन सम्बन्धी कार्य करना। इस कार्य के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीशों का निर्वाचन करना, सुरक्षा परिषद के अस्थाई सदस्यों को निर्वाचित करना, संरक्षण परिषद के कुछ सदस्य तथा आर्थिक एवं सामाजिक परिषद का निर्वाचन करना आदि मुख्य निर्वाचन कार्य हैं।

(9) महासभा ही, सुरक्षा परिषद की सिफारिश पर महामंत्री की नियुक्ति करती है तथा सचिवालय के सदस्यों की नियुक्ति के नियम बनाती है और संघ के किसी ऐसे सदस्य को जो चार्टर में प्रतिपादित सिद्धान्त का उल्लंघन करता हो, निष्कासित कर सकती है।

(10) संयुक्त राष्ट्रसंघ में नये सदस्यों को प्रवेश देना।

(11) आवश्यकतानुसार नई संस्थाओं को स्थापित करना।

(ख) मतदान पद्धति—संयुक्त राष्ट्रसंघ की इस महासभा में साधारणतया महत्वपूर्ण प्रश्नों पर, उपस्थित सदस्यों के दो तिहाई बहुमत से निर्णय किए जाते हैं। प्रत्येक राष्ट्र को केवल एक ही मत देने का अधिकार स्वीकार किया गया है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित प्रश्नों को महत्वपूर्ण माना गया है—

(1) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की व्यवस्था सम्बन्धी सिफारिश।

(2) सुरक्षा परिषद के अस्थायी सदस्यों का चुनाव।

(3) आर्थिक व सामाजिक परिषद के सदस्यों का चुनाव।

(4) संरक्षण परिषद के कुछ सदस्यों का चुनाव।

(5) नये राष्ट्रों को सदस्यता के लिए स्वीकार करना।

(6) सदस्यता के अधिकारों और विशेष सुविधाओं को निलंबित करना। इस प्रकार महत्वपूर्ण प्रश्नों को छोड़कर अन्य सभी विषयों पर उपस्थित सदस्यों में से मतदान करने वालों के साधारण बहुमत द्वारा निर्णय किये जाते हैं। वह सदस्य राष्ट्र जो अपना वार्षिक शुल्क संगठन में नहीं दे पाता, मताधिकार से वंचित रहता है।

(ग) **कार्य पद्धति**—संयुक्त राष्ट्रसंघ की यह महासभा अपना अधिकांश कार्य समितियों द्वारा सम्पादित करती है। ये समितियां मुख्य रूप में चार प्रकार की हैं—(1) प्रमुख समितियां (2) प्रक्रिया समितियां, (3) स्थायी समितियां, और (4) तदर्थ समितियां। प्रमुख समितियों की कुल संख्या छः है। प्रथम समिति का मुख्य कार्य राजनैतिक एवं सुरक्षा के क्षेत्र से सम्बन्धित है जिसमें शस्त्र नियन्त्रण भी सम्मिलित है। दूसरी समिति—आर्थिक एवं वित्त सम्बन्धी विषय। तीसरी समिति—सामाजिक, मानवीय तथा सांस्कृतिक विषय। चौथी समिति—संरक्षण तथा गैर स्वतन्त्र क्षेत्रीय विषय। पांचवीं समिति—प्रशासनीय एवं आय-व्यय वितरण सम्बन्धी विषय तथा छठी समिति—विधि से सम्बन्धित विषय। ये समितियां कार्यसूची में आये प्रश्नों पर विचार करती हैं और अपनी सिफारिशें सभा के पास भेजती हैं जो सभा के अधिवेशन में प्रस्तुत की जाती है। प्रत्येक सदस्य राष्ट्र को इन प्रमुख समितियों में प्रतिनिधित्व पाने का अधिकार है। प्रक्रिया समितियों का काम महासभा के कार्य, संगठन तथा विभिन्न समितियों के कार्यों में समन्वय स्थापित करना है। स्थायी समितियां मुख्य रूप से उन प्रश्नों को हल करने के लिए बनाई जाती हैं जो महासभा के सामने किसी न किसी रूप में चलते ही रहते हैं।

इस प्रकार महासभा "अणुबम से लेकर मानवीय कल्याण, भोजन, कपड़ा और आवास स्थान" तक की सभी समस्याओं पर विचार करती है। इसका क्षेत्राधिकार अधिक व्यापक होते हुए भी सुरक्षा परिषद की तुलना में अधिक प्रभावशाली नहीं है।

(2) **सुरक्षा परिषद** (Security Council)—संघ के चार्टर के पांचवें अध्याय में धारा 23 से 32 तक सुरक्षा परिषद् के संगठन, कार्यों, अधिकारों तथा मतदान पद्धति का वर्णन है। सुरक्षा परिषद् संयुक्त राष्ट्रसंघ का सबसे शक्तिशाली और सक्रिय अंग है। आरम्भ में इसके कुल 11 सदस्य थे। (अब अस्थायी सदस्यों की संख्या बढ़ादी गई है। पहले अस्थाई सदस्यों की संख्या छः थी, किन्तु दिसम्बर 1965 में अस्थाई सदस्यों की संख्या 10 कर दी गई); इनमें चीन, फ्रांस, इंगलैंड, रूस और अमेरिका, ये पांचों स्थाई सदस्य हैं। अस्थाई सदस्य दो वर्ष के लिये चुने जाते हैं। यह चुनाव महासभा द्वारा विभिन्न सदस्य राष्ट्रों में से उनके संयुक्त राष्ट्रसंघ को दिये गये सहयोग, शान्ति व्यवस्था में सहायता तथा भौगोलिक वितरण के आधार पर किया जाता है। कोई सदस्य राष्ट्र तत्काल पुनर्निर्वाचन के

योग्य नहीं माना जाता है। इस परिषद् में सदस्य संख्या निर्धारित हो जाने के कारण छोटे राज्यों द्वारा गुटबन्दी की सम्भावना नहीं रही। इस परिषद् में सदस्य राष्ट्र का एक ही प्रतिनिधि उपस्थित हो सकता है। विधान में यह भी दिया गया है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ का ऐसा सदस्य जो सुरक्षा परिषद् का सदस्य नहीं है, परिषद् की बैठकों में बिना मताधिकार प्राप्त किये सम्मिलित हो सकता है; यदि उस राष्ट्र के हितों पर प्रभाव डालने वाले प्रश्नों पर विचार किया जाय। इसी प्रकार ऐसा राष्ट्र जो न सुरक्षा परिषद का सदस्य है और न संयुक्त राष्ट्रसंघ का वह भी उससे सम्बन्धित विवादग्रस्त प्रश्नों पर विचार करते समय, विचार विमर्श में बिना मताधिकार, भाग लेने के लिये आमन्त्रित किया जा सकेगा। इस परिषद् की अध्यक्षता इसी परिषद् के सदस्यों की अंग्रेजी की वर्णमाला के क्रम से प्राप्त होती है। प्रत्येक अध्यक्ष का कार्यकाल एक पूरा महीना होता है। परिषद के सदस्य राष्ट्रों का एक-एक प्रतिनिधि सदैव संयुक्त राष्ट्रसंघ के केन्द्र स्थान (न्यूयार्क) पर रहता है। कोई भी प्रश्न सामने आने पर तुरन्त उस पर विचार करने की दृष्टि से परिषद की बैठक सप्ताह में सातों दिन हो सकती है। किन्तु साधारणतया इसकी बैठक प्रत्येक पखवारे में होती है। इसका संगठन इस प्रकार बनाया गया है कि यह लगातार काम करती रहे।

(क) **कार्य एवं शक्तियां**—संयुक्त राष्ट्रसंघ का सबसे अधिक महत्वपूर्ण और शक्तिशाली अंग सुरक्षा परिषद ही है। इसलिये इस परिषद की शक्तियां एवं कार्य भी अनेक हैं। कुछ अधिकार तो परिषद के स्वयं ही पूर्ण हैं और शेष महासभा के सहयोग से पूर्ण बन जाते हैं। विश्व शांति और सुरक्षा की स्थापना एवं व्यवस्था, इस परिषद का मुख्य कार्य है। साधारण रूप में इस संस्था को संयुक्त राष्ट्रसंघ की कार्यकारिणी कहा जा सकता है, जो संघ के समस्त महत्वपूर्ण कार्य करती है। धारा 25 के अनुसार समस्त सदस्य राष्ट्रों ने सुरक्षा परिषद के निर्णयों को स्वीकार करने तथा कार्यान्वित करने का आश्वासन दिया है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर में अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था कायम रखने के लिये परिषद के हस्तक्षेप की निम्नलिखित चार अवस्थाएं हैं—प्रथम अवस्था-विवादों की जांच पड़ताल करती है और शान्ति भंग करने वाली बातों के लिये कार्यवाही करती है। विवादग्रस्त दलों को आवश्यकता समझे तो आमन्त्रित कर सकती है, और विश्व शान्ति व सुरक्षा को खतरा होने की अवस्था में वार्ता, सोच-विचार, विचार-विमर्श, मध्यस्थ निर्णय, प्रादेशिक संस्थाओं की स्थापना या अपनी इच्छानुसार अन्य शांतिपूर्ण उपायों से तय कर लेती है। दूसरी अवस्था—जब वास्तव में शांति भंग हो जाय अथवा एक राज्य दूसरे राज्य पर आक्रमण करे तो परिषद झगड़ने वाले राज्यों को अपनी स्थायी शर्तें स्वीकार करने के लिए आह्वान करती है, किन्तु उस अवस्था में उन राज्यों के अधिकार तथा दावे अक्षुण्ण रहेंगे। तीसरी अवस्था-यदि दूसरी अवस्था

में सफलता न मिले तो परिषद सदस्य राष्ट्रों को आर्थिक प्रतिबन्ध लगाने, जिसमें रेल, डाक, समुद्र, वायु, तार, रेडियो तथा यातायात के अन्य साधनों की पूरी अथवा आंशिक या कूटनीतिक सम्बन्ध विच्छेद सम्मिलित हो, के लिए कह सकती है। चौथी अवस्था—अन्त में परिषद सैनिक कार्यवाही, सैन्य प्रदर्शन, अवरोध तथा वायु, जल या स्थल सेना का प्रयोग भी परिस्थितियों के अनुसार कर सकती है।

इस प्रकार सुरक्षा परिषद यह निर्णय करती है कि किस स्थान पर शान्ति को खतरा है, कहां शान्ति भंग हो चुकी है, कहां आक्रमण हो रहा है और उसी के अनुसार उपाय करने का यत्न या सिफारिश करती है। सुरक्षा परिषद ही ऐसी स्थिति में कार्य कर सकती है और परिषद में बड़ी शक्तियों को (स्थाई सदस्यों) पूर्ण निषेधाधिकार प्राप्त है, जिसका प्रयोग होने पर कोई निर्णय वैध नहीं होता।

सुरक्षा परिषद के अन्य कार्य भी महत्वपूर्ण हैं, जैसे—न्याय क्षेत्र, जो सैनिक दृष्टि से महत्वपूर्ण माने गये हैं, उनका नियन्त्रण व निरीक्षण भी सुरक्षा परिषद करती है और सदस्यों को प्रवेश, निलम्बन तथा निष्कासन, महामन्त्री की नियुक्ति, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति आदि भी महासभा, सुरक्षा परिषद की सिफारिशों पर ही करती है।

(ख) मतदान पद्धति—इस परिषद के प्रत्येक सदस्य को एक मत देने का अधिकार है। प्रक्रिया सम्बन्धी विषयों पर सुरक्षा परिषद नौ सदस्यों के स्वीकारात्मक मत से निर्णय करती है, किन्तु इन नौ मतों में पांच स्थाई सदस्यों का सम्मिलित होना अनिवार्य है। इन पांच स्थाई सदस्यों में से एक की भी असहमति होने पर निर्णय नहीं लिया जा सकता है चाहे अन्य या सभी सदस्य एक मत हों परन्तु निर्णय वैध नहीं हो सकता। स्थाई सदस्यों का यह अधिकार ही वीटो (Veto) या निषेधाधिकार कहलाता है। यह अधिकार पांच बड़ी शक्तियों को इसलिए दिया गया था, कि विश्व शांति और सुरक्षा का दायित्व प्रमुख रूप से इन्हीं पर रहेगा। भविष्य में छोटी शक्तियों के सहयोग से बहुमत बनाकर ये बड़ी शक्तियां परस्पर एक-दूसरे को न दबा सके, इसलिए इन्हें निषेधाधिकार दिया गया गया था। वास्तव में विश्व शान्ति की सुरक्षा के लिए यह प्रावधान रखा गया था, किन्तु यही प्रावधान सबसे अधिक, परिषद को निष्क्रिय बना रहा है। कैसी विडम्बना है! कई महत्वपूर्ण प्रश्न इसी स्थिति के कारण उपस्थित ही नहीं हो पाते। इन्हीं रुकावटों के कारण सन् 1945 से आज तक केवल थोड़े से राष्ट्र सदस्य बन सके हैं। आज भी उत्तरी कोरिया पूर्वी जर्मनी आदि अनेक देश इसकी सदस्यता की प्रतीक्षा कर रहे हैं। इसी अधिकार के दुरुपयोग के कारण नाटो (NATO), सीटो (SEATO) आदि संगठनों का जन्म हुआ है।

(ग) महासभा और सुरक्षा परिषद—उपरोक्त वर्णन द्वारा दोनों प्रमुख अंगों का सम्बन्ध ऐसा प्रतीत होता है जैसा एक राज्य में कार्यकारिणी और व्यवस्थापिका

का होता है। सुरक्षा परिषद में बहुत कुछ प्रशासन संस्था के रूप और लक्षण विद्यमान है और महासभा उसकी व्यवस्थापिका के रूप में। संयुक्त राष्ट्रसंघ का सम्पूर्ण कार्यक्षेत्र और विषय, जो विधान में वर्णित है, महासभा के सामने ही प्रस्तुत होते हैं। जबकि सुरक्षा परिषद का सम्बन्ध केवल उन्हीं प्रयत्नों से है जो अंतर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की स्थिति में बाधक या घातक सिद्ध हो सकते हैं। सुरक्षा परिषद की समस्त कार्यवाही की सूचना प्रतिवर्ष अपने प्रतिवेदन द्वारा महासभा के सामने प्रस्तुत होती है और महासभा में उस पर विचार और बहस भी होती है। परन्तु उस पर किसी प्रकार का आक्षेप अथवा उसमें किसी प्रकार का संशोधन नहीं किया जा सकता, जिससे महासभा की उच्चता और परिषद की हीनता प्रदर्शित हो। अधिकतम प्रश्नों के निर्णय में साधारणतया महासभा और सुरक्षा परिषद मिलजुल कर ही कार्य करती है, जैसे—नये राष्ट्र का प्रवेश, सदस्य राष्ट्रों का निष्कासन, महामन्त्री की नियुक्ति, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति आदि।

(3) **आर्थिक तथा सामाजिक परिषद** (Economic and Social Council) विभिन्न राष्ट्रों में शान्ति तथा मैत्रीपूर्ण व्यवहार और परस्पर कल्याण के लिए आर्थिक तथा सामाजिक परिषद का निर्माण किया गया है। यह सच है कि शान्ति और सुरक्षा केवल संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा प्रस्तावित सुझावों और उनके पालन पर ही निर्भर नहीं है बल्कि, उससे अधिक आर्थिक, सामाजिक तथा अन्य विषयों के उचित सन्तुलन पर भी आधारित है। इसी उद्देश्य से महासभा के अधिकारों के अन्तर्गत इस परिषद की स्थापना की गई। इस परिषद में महासभा द्वारा निर्धारित संयुक्त राष्ट्रसंघ के 18 सदस्य होते हैं (दिसम्बर 1956 से इसकी सदस्य संख्या 27 कर दी गई है)। इनमें से छः सदस्य प्रतिवर्ष तीन वर्ष की अवधि के लिए चुने जाते हैं। जिन सदस्यों की अवधि समाप्त हो जाय वे चुनाव के लिये पुनः खड़े हो सकते हैं।

इस परिषद को मुख्य रूप से निम्नलिखित उत्तरदायित्व सौंपे गये हैं—

(1) विश्व को अधिक समृद्धिशाली, स्थाई और न्याय परायण बनाना।

(2) अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा शिक्षा एवं स्वास्थ्य सम्बन्धी तथा इसी प्रकार के अन्य विषयों का अध्ययन करना तथा उनके लिए आवेदन तथा प्रतिवेदन प्रस्तुत करना और महासभा, संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यों तथा विशिष्ट समितियों को नवीन सुझाव देना।

(3) समस्त मानव मात्र के लिए मौलिक मानव अधिकारों एवं मूल स्वतन्त्रताओं का अध्ययन करना और इन पर अपना प्रतिवेदन तथा सुझाव प्रस्तुत करना।

(4) महासभा के समक्ष इन्हीं विषयों के सम्बन्ध में नियम बनाने के लिए प्रारूप तैयार कर प्रस्तुत करना, तथा

(5) अपने क्षेत्र के विषयों से सम्बन्धित अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाना और विचार-विमर्श के बाद निर्णयों को सर्वत्र भेजना।

इस परिषद में मतदान की साधारण पद्धति है। प्रत्येक सदस्य को एक मत प्राप्त होता है। बहुमत से निर्णय लिये जाते हैं। इस परिषद के तत्वावधान में 9 कार्यकारी आयोग स्थापित किये गये हैं जो इस प्रकार हैं—मानव अधिकार आयोग, महिला प्रतिष्ठा आयोग, सामाजिक समस्या आयोग, आर्थिक तथा वृत्ति आयोग, यातायात और संचार आयोग, सांख्यिकी आयोग, मादक औषधि आयोग आदि। इसी परिषद के अन्तर्गत विशिष्ट संस्थाएं भी कार्य करती हैं, जिनका उल्लेख आगे के पृष्ठों में पृथक रूप से किया जायेगा।

इस प्रकार संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर निर्माताओं ने, जिन्हें आर्थिक तथा सामाजिक कुप्रबन्ध से युद्ध छिड़ जाने की संभावना अनुभव हुई, मनुष्य मात्र को इस आवश्यकता से मुक्त करने का विचार किया और वास्तव में इन समस्याओं का हल विश्व में युद्ध की संभावनाओं को दूर ले जाता है।

(4) संरक्षक परिषद (Trusteeship Council)—प्रथम विश्वयुद्ध के बाद विश्व के पिछड़े हुए राष्ट्रों के संरक्षण के हेतु मेण्डेट प्रणाली की स्थापना की गई थी, किन्तु राष्ट्रसंघ की भांति मेण्डेट प्रणाली भी सफल नहीं हुई। उस अनुभव के आधार पर द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद पिछड़े हुए राष्ट्रों के कल्याण के लिए संरक्षण पद्धति अपनाई गई है। तदनुसार संयुक्त राष्ट्रसंघ के विधान में अविकसित तथा आधीन व्यक्तियों के कल्याण तथा विकास और स्वायत्त शासन की ओर उनकी उत्तरोत्तर उन्नति के लिए अग्रसर होते रहने की व्यवस्था करना, विश्व के उन्नत राष्ट्रों ने अपना कर्त्तव्य स्वीकार किया है। यह प्रणाली उन प्रदेशों पर लागू होती है जो पहले राष्ट्रसंघ के शासनादेश के अधीन कर दिये गये थे, जो द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात शत्रु से लिये गये हैं तथा वह प्रदेश जो स्वयं संरक्षक परिषद के अन्तर्गत आ गये हैं। उस प्रणाली को प्रचलित करने के मुख्य उद्देश्य निम्न हैं—

(1) अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को बढ़ाना।

(2) न्यास क्षेत्र (Trust Territory) के निवासियों को स्वशासन की ओर अग्रसर करना।

(3) मानव अधिकारों और मूल स्वतन्त्रताओं के प्रति आस्था बढ़ाना और विश्व में पारस्परिक सहयोग को मान्यता देना, तथा

(4) न्यायिक समानता को प्रतिष्ठित करना।

संरक्षण परिषद में वे लोग सम्मिलित हैं, जो संरक्षण प्राप्त प्रदेशों के शासक हैं, सुरक्षा परिषद के स्थाई सदस्य तथा जो महासभा द्वारा अपने सदस्यों में से तीन वर्ष की अवधि के लिए इस परिषद की सदस्यता के लिए चुने जाते हैं। इस परिषद के मुख्य कार्य महासभा के अन्तर्गत ही सम्पादित होते हैं। प्रशासकों द्वारा प्रस्तुत

प्रतिवेदनों पर विचार, प्रस्तुत प्रार्थना पत्रों की स्वीकृति तथा प्रशासकों से सम्पर्क स्थापित करते हुए उनका परीक्षण करना, विभिन्न क्षेत्रों का समय-समय पर निरीक्षण करना, संरक्षण सम्बन्धित समझौतों के अनुसार कार्यवाही करना आदि इस परिषद के कार्य हैं। इस परिषद में मतदान साधारण ढंग से होता है तथा निर्णय बहुमत से लिये जाते हैं। घाना, फ्रेंच, केमरून्स, टोगोलैण्ड, इटालियन सोमालीलैण्ड आदि संरक्षित प्रदेशों द्वारा स्वतन्त्रता प्राप्त करना संरक्षण पद्धति की बहुत बड़ी सफलता है।

(5) अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (International Court of Justice)—यह न्यायपालिका संयुक्त राष्ट्रसंघ के लिए अपने विधान की भांति अभिन्न तथा महत्वपूर्ण अंग है। राष्ट्रसंघ के तत्वावधान में बना पिछला अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय कोई महत्वपूर्ण कार्य नहीं कर सका था। अत: एक नये न्यायालय की स्थापना की गई। फिर भी संयुक्त राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत स्थापित इस न्यायालय को एक नया न्यायालय कहना उचित नहीं है। केवल नाम परिवर्तन को छोड़कर और पुराने न्यायालय के विधान में कुछ शाब्दिक परिवर्तन के अतिरिक्त नये न्यायालय में कोई नवनीता नहीं है। वर्तमान न्यायालय सर्वप्रथम अप्रेल 1946 को हेग में प्रारम्भ हुआ। चार्टर की धारा 92 के अनुसार यह न्यायालय संयुक्त राष्ट्रसंघ का प्रमुख न्यायिक अंग है।

इसके समस्त सदस्य स्वत: (Ipso facto) ही इसके न्यायाधीश हो जाते हैं। इस न्यायालय में कुल मिलाकर 15 न्यायाधीश होते हैं। ये सभी न्यायाधीश अपने सदस्यों में से ही एक अध्यक्ष तथा एक उपाध्यक्ष चुनते हैं। इन सभी न्यायाधीश की नियुक्ति संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा और सुरक्षा परिषद् द्वारा होती है। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीश पद के लिए उच्च नैतिक चरित्र एवं राष्ट्रीय कानून का विशेषज्ञ होना आवश्यक है। कोई दो न्यायाधीश एक ही राज्य के नहीं होने चाहिए। न्यायाधीशों का साधारण कार्यकाल नौ वर्ष का होता है और वे पुन: निर्वाचित हो सकते हैं। न्यायाधीशों की निर्वाचन प्रणाली कठिन है। राष्ट्रीय विधि विशेषज्ञों द्वारा चार प्रसिद्ध विधिशास्त्रियों के नाम मनोनीत किये जाते हैं और उनमें से दो से अधिक नाम अपने राष्ट्र से सम्बन्धित नहीं होने चाहिए। चुनाव की तिथि से कम से कम तीन माह पूर्व महामंत्री राष्ट्रीय कानून विशेषज्ञों के नाम पर एक लिखित प्रार्थना पत्र भेजता है तथा विभिन्न राष्ट्रीय दलों के पास भी इस प्रकार के नाम मनोनीत करने की सूचनाएं भेजता है। वे ऐसे लोगों के नाम भेजते हैं जो इस पद के उपयुक्त हों तथा न्यायालय के सदस्य बन सके। कोई भी दल चार से अधिक नाम नहीं भेजता। महामन्त्री इस प्रकार आये हुए सारे मनोनीत नामों की सूची वर्णमाला के अनुसार बनाता है और तत्पश्चात महासभा और सुरक्षा परिषद एक दूसरे से स्वतन्त्र होकर न्यायालय के सदस्यों का निर्वाचन करती

है। ऐसे प्रत्याशी जो महासभा तथा सुरक्षा परिषद में शुद्ध बहुमत प्राप्त करते हैं, निर्वाचित माने जाते हैं।

इस न्यायालय का न्याय क्षेत्र उन सभी राज्यों पर व्याप्त है जो न्यायालय की संविधि (Statute) को स्वीकार चुके हैं। न्याय क्षेत्र मुख्य रूप से तीन प्रकार के हैं—वैकल्पिक न्याय क्षेत्र, अनिवार्य न्याय क्षेत्र और परामर्शात्मक न्याय क्षेत्र। वैकल्पिक न्याय क्षेत्र में वे सभी विवाद सम्मिलित हैं, जिन्हें दोनों पक्ष सहमत होकर न्यायालय के समक्ष अपना विवाद प्रस्तुत करते हैं। अनिवार्य न्याय क्षेत्र के अन्तर्गत संविधि को स्वीकार करने वाला कोई राष्ट्र यह घोषित कर सकता है कि प्रस्तुत विवाद को वह अनिवार्य न्याय क्षेत्र के अधीन मानता है। इससे सम्बन्धित दूसरे राष्ट्र को भी सहमत होना पड़ता है, किन्तु इसके लिए दोनों की स्वीकृति आवश्यक है। किसी राष्ट्र की इच्छा के विरुद्ध कोई अभियोग न्यायालय में नहीं चलाया जा सकता। परामर्शात्मक न्याय क्षेत्र के अन्तर्गत यह न्यायालय महासभा तथा सुरक्षा परिषद को न्याय सम्बन्धी परामर्श देता है। किन्तु इसके परामर्श को मानने के लिए बाध्य नहीं है। इसके अतिरिक्त संयुक्त राष्ट्र संघ के अन्य अंग भी न्यायालय से किसी वैधानिक विषय पर परामर्श ले सकते हैं।

(6) **सचिवालय** (Secretariat)—संयुक्त राष्ट्र संघ के सम्पादन के लिए एक सचिवालय की स्थापना की गई है। इस संगठन के सुगम और व्यवस्थित कार्य करने पर ही संयुक्त राष्ट्रसंघ की सफलता निर्भर करती है। सचिवालय का मुख्य प्रशासन अधिकारी महामंत्री (Secretary General) होता है, जिसकी नियुक्ति सुरक्षा परिषद की सिफारिश पर महासभा द्वारा पांच वर्ष के लिए की जाती है। महामंत्री सचिवालय की सहायता से अपना सारा कार्य करता है। चार्टर के अनुसार महामंत्री के निम्नलिखित कार्य हैं—

(1) यदि महामंत्री यह समझे कि किसी विवाद के कारण अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा खतरे में पड़ सकती है तो वह उस विवाद की ओर सुरक्षा परिषद का ध्यान आकर्षित कर सकता है। इस प्रकार महामंत्री अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में व्यक्तिगत रूप से दिलचस्पी लेकर विश्वशांति बनाये रखने में अपना महत्वपूर्ण योगदान दे सकता है।

(2) संघ की सम्पूर्ण कार्यवाही के सम्बन्ध में प्रतिवर्ष महासभा के अधिवेशन में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत करता है।

(3) अपने पद के कारण महामंत्री महासभा, सुरक्षा परिषद, आर्थिक एवं सामाजिक परिषद तथा संरक्षण परिषद के अधिवेशनों में उपस्थित होता है तथा उनकी कार्यवाही में भाग लेता है।

(4) महामंत्री, महासभा द्वारा बनाये गये नियमों के अनुसार, संघ के पदाधिकारियों की नियुक्ति करता है। इन नियुक्तियों के समय उनकी कार्य निपुणता, योग्यता और ईमानदारी पर ध्यान दिया जाता है। जहां तक सम्भव हो, अधिकांश देशों को सचिवालय सेवाओं में प्रतिनिधित्व दिया जाता है। इस प्रकार के पदाधिकारियों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे संयुक्त राष्ट्रसंघ से बाहर किसी सत्ता से न तो कोई आदेश ही प्राप्त करेंगे और न उनके दबाव में आयेंगे। संघ के सदस्यों ने भी यह तय किया कि सचिवालय उत्तरदायित्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय होगा और वे उन दायित्वों के निर्वाह में पदाधिकारियों पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं डालेंगे। अतः यह कहा जा सकता है कि सचिवालय के कर्मचारी अपना राष्ट्रीय स्वभाव छोड़कर अन्तर्राष्ट्रीय विचार और व्यवहार करते हैं।

सचिवालय में महामंत्री का पद बड़े महत्व का है। इसकी सहायता के लिए सचिवालय में लगभग 3,500 कर्मचारी एवं पदाधिकारी हैं। महामंत्री को केवल प्रशासनिक कार्य ही नहीं वरन् राजनैतिक कार्य भी करने पड़ते हैं। राजनीतिक मामलों में महामंत्री बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकता है। महामंत्री को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित करने के अनेक अवसर मिलते हैं। विभिन्न देशों के प्रतिनिधि मण्डल के साथ उनका सम्पर्क बना रहता है। उसे इस बात की स्वतन्त्रता होती है कि वह सदस्य राज्यों के विदेश मन्त्रालय में जा सके। वह अपने वार्षिक प्रतिवेदन में यह भी सिफारिश कर सकता है कि संघ को कौनसी नीति अथवा कार्यक्रम अपनाना चाहिए।

चार्टर में संशोधन—चार्टर की धारा 108 के अनुसार किसी भी संशोधन के स्वीकृत होने के लिए साधारण सभा का दो तिहाई बहुमत होना तथा सुरक्षा परिषद के नौ सदस्यों का बहुमत होना चाहिए। इन नौ सदस्यों में पांच स्थायी सदस्यों की सहमति आवश्यक है। चार्टर की धारा 109 में कहा गया है कि जब कभी चार्टर में संशोधन की आवश्यकता अनुभव की जाय तो संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यों का एक सम्मेलन बुलाया जाय। किन्तु संशोधन का प्रस्ताव, चार्टर के लागू होने के दस वर्ष बाद साधारण सभा में पेश किया जा सकता है, अर्थात् चार्टर लागू होने के दस वर्ष की अवधि में चार्टर में कोई संशोधन सम्भव नहीं है।

विशिष्ट समितियां

आर्थिक और सामाजिक परिषद के तत्वावधान में अनेक विशिष्ट संस्थाएं (Specialised Agencies) भी कार्य करती हैं। इन संस्थाओं का क्षेत्र राजनीतिक नहीं है बल्कि सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं मानवीय है। इनकी अपनी कार्य प्रणाली और अपने कार्यालय हैं। ये संस्थाएं अलग-अलग विषयों के ज्ञाताओं

के हाथ में रहती है ताकि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की सामान्य कटुता से इन्हें परे रखा जा सके। संस्थाएं मुख्य रूप से निम्नलिखित हैं—

(1) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ (I.L.O.)
(2) खाद्य तथा कृषि संघ (F.A.O.)
(3) संयुक्त राष्ट्रीय शैक्षणिक, वैज्ञानिक तथा सांस्कृतिक संघ (UNESCO)
(4) अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास बैंक (I.B.R.D.)
(5) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (I.M.F.)
(6) विश्व डाक संघ (W.P.U.)
(7) अन्तर्राष्ट्रीय तार संचार संघ (I.T.U.)
(8) विश्व स्वास्थ्य संघ (W.H.O.)
(9) अन्तर्राष्ट्रीय शरणार्थी संघ (U.N.C.H.R.)
(10) अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक उड्डयन संघ (I.C.A.O.)

इनमें से कुछ संस्थाएं तो संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना के पहले से ही कार्य कर रही हैं, जैसे अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ। किन्तु इन सभी संस्थाओं की प्रगति का विशेष कार्य संयुक्त राष्ट्र संघ ने ही किया। संयुक्त राष्ट्र संघ ने इन विभिन्न संस्थाओं के द्वारा विश्व में भुखमर्र, बीमारी, निर्धनता और अज्ञानता को दूर करने का प्रयत्न किया है। ऐसी कुछ महत्वपूर्ण संस्थाओं का संक्षिप्त परिचय देना वांछनीय होगा।

(1) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ—प्रथम विश्व युद्ध के बाद स्थापित विशिष्ट संस्थाओं में यह सर्वाधिक प्राचीन संस्था है। इस संघ के विधान में जो सन् 1919 में बना था, घोषित किया गया है कि सामाजिक न्याय के आधार पर ही विश्व में शाश्वत शान्ति स्थापित की जा सकती है। संयुक्त राष्ट्र संघ में इस संघ का रूप एक विशेष महत्व रखता है। इस संघ में श्रमिकों के प्रतिनिधि और प्रबन्धकों के प्रतिनिधि एवं सरकार के प्रतिनिधि मिलकर नीति निर्धारित करते हैं तथा निर्णय भी। इस संघ के मुख्य सिद्धान्त निम्नलिखित हैं जो 1914 में फिलाडेलफिया सम्मेलन में घोषित किये थे—

(1) श्रम कोई वस्तु नहीं है, (2) किसी भी स्थान की निर्धनता अन्य सभी स्थानों का समृद्धि के लिए खतरा है, (3) निरन्तर प्रगति के लिए अभिव्यक्ति और समुदाय की स्वतंत्रता आवश्यक है, तथा (4) प्रत्येक देश को अभाव एवं दरिद्रता के विरुद्ध पूरे जोश के साथ युद्ध करना चाहिए। इन सिद्धान्तों की पूर्ति के लिए अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ ने निम्नलिखित कार्यक्रम निर्धारित किया—

(1) जीवन निर्वाह एवं पूर्ण रोजगार के लिए आवश्यक एवं पर्याप्त वेतन मिले।

(2) श्रमिकों की सामाजिक सुरक्षा का विस्तार हो।
(3) मजदूरों के लिए पर्याप्त भोजन, वस्त्र और निवास की व्यवस्था हो।

(4) मजदूरों को सामूहिक रूप से विनिमय (Bargain) का अधिकार हो।
(5) उन्हें अवसरों की पूरी समानता मिले।
(6) उनके स्वास्थ्य और सुरक्षा की अच्छी व्यवस्था हो।

यह श्रम संघ अपने सदस्य राज्यों को अनेक प्रकार से मदद पहुंचाता है। शिष्टमण्डल भेजना, श्रमिकों के शिक्षण की व्यवस्था करना, सामाजिक विषयों पर शोध की व्यवस्था करना, आर्थिक प्रतिवेदन तैयार करना, सांख्यिकी तथा पत्र-पत्रिकाएं प्रकाशित करना आदि इसके मुख्य कार्य हैं। यह श्रम संघ संयुक्त राष्ट्र संघ के तकनीकी कार्य में भी सहायता पहुंचाता है तथा विभिन्न राष्ट्रों को अपने यहां जीवन स्तर बढ़ाने में सहायता देता है। यह श्रमिकों को शिक्षा द्वारा, मालिकों को परामर्श द्वारा और सरकारों को नीति के सम्बन्ध में सुझाव द्वारा, उत्पादन की वृद्धि और सम्बन्धों को सुधारने में सहायता करता है। श्रमिकों की जनसंख्या को उचित स्थान पर भेजने तथा उनकी व्यवस्था का भी निरीक्षण करता है।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ तीन मुख्य अंगों द्वारा अपना सारा कार्य सम्पादित करता है—(1) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन, (2) प्रशासक संस्था और (3) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय।

(2) **यूनेस्को**—यह संस्था भी संयुक्त राष्ट्र संघ की प्रमुख संस्था है। विश्व संगठन को सफल बनाने में तथा लोकप्रियता एवं ख्याति प्राप्त करने में यह संस्था अद्वितीय है। इस संगठन का उद्देश्य है कि "संयुक्त राष्ट्र संघ के संविधान द्वारा स्वीकृति विश्व के नागरिकों के लिए बिना जाति, लिंग, भाषा अथवा धर्म का भेद किये शिक्षा, विज्ञान एवं संस्कृति के माध्यम से, न्याय विधिमय शासन (Rule of Law) तथा मानव अधिकार एवं मूल स्वतंत्रताओं के सम्मान की अभिवृद्धि के लिए, विभिन्न राष्ट्रों का सहयोग और समर्थन लेकर शान्ति और सुरक्षा की स्थापना में योग देना।"

इस संस्था का संगठन भी व्यापक एवं प्रभावशाली है। इसके भी तीन अंग हैं—(1) महा सम्मेलन, (2) कार्यपालिका मण्डल तथा (3) सचिवालय। महा सम्मेलन में यूनेस्को में प्रत्येक राष्ट्र का एक प्रतिनिधि सम्मिलित होता है। महा सम्मेलन में एक वर्ष में दो अधिवेशन होते हैं, जिनमें यह अपनी रीति-नीति तथा कार्यक्रम निर्धारित करता है तथा अपनी कार्यपालिका का निर्वाचन भी करता है। कार्यपालिका में 20 सदस्य होते हैं। यह मण्डल वर्ष में कम से कम दो बार बैठक करता है तथा महा सम्मेलन द्वारा निर्धारित कार्यक्रम का पालन करता है। सचिवालय एक विशाल कार्यालय है, जिसका अध्यक्ष, प्रधान निदेशक (Director General) होता है। उसके निरीक्षण में विश्व भर के विभिन्न राष्ट्रों के लोग कार्यालय में काम करते हैं। प्रधान कार्यालय पेरिस में स्थित है। इस कार्यालय में

मुख्य छः विभाग हैं—(1) शिक्षा (2) प्राकृतिक विज्ञान (3) सामाजिक विज्ञान (5) सांस्कृतिक कार्य (5) जन संचार, तथा (6) तकनीकी सहायता।

इस संस्था का मुख्य कार्यक्रम 8 विभिन्न शीर्षकों में विभाजित किया जा सकता है—(1) शिक्षा (2) प्राकृतिक विज्ञान (3) सामाजिक विज्ञान (4) सांस्कृतिक कार्यक्रम (5) व्यक्तियों का आदान प्रदान (6) जन संचार (7) पुनर्वास, और (8) तकनीकी सहायता।

उपरोक्त सभी शीर्षकों में से शिक्षा के क्षेत्र में यूनेस्को "मौलिक शिक्षा" अथवा "सामुदायिक विकास" के नाम से कार्य चलाता है और इसके अन्तर्गत जनता का अपना स्वास्थ्य, भोजन, उपज तथा जीवन स्तर सुधारने का ज्ञान प्रदान करता है। अध्ययन के लिए निरक्षर नागरिकों को वर्णमाला के ज्ञान के साथ-साथ स्वास्थ्य; कृषि तथा गृह सम्बन्धी अर्थ व्यवस्था के लिए भी प्रारम्भिक ज्ञान देने की व्यवस्था करता है। विज्ञान के क्षेत्र में यूनेस्को और भी अधिक महत्वपूर्ण कार्य करता है। विश्व में विज्ञान के विशेषज्ञों द्वारा जो भी नये प्रयोग अथवा योजनाएं चलायी जाती हैं उनका ज्ञान सर्वत्र उपयोगी एवं उपलब्ध बनाना इसका मुख्य कार्य है। इसके अतिरिक्त रेगिस्तानों के शोध कार्यालय के प्रसार एवं विकास का कार्य भी यह संस्था प्रगति से कर रही है। जहां इस प्रकार के काम हो रहे हैं वहां प्रोत्साहन देना, नई-नई ऐसी समस्याओं के अध्ययन की व्यवस्था करना इसी संस्था का काम है। सामाजिक अध्ययन के क्षेत्र में भी शोध कार्य को प्रोत्साहन देना तथा विभिन्न जातियों तथा राष्ट्रों में मिथ्यावाद अथवा असत्य धारणाओं को दूर करना भी इसी संस्था का कार्य है। सांस्कृतिक क्षेत्र में तो विभिन्न कलाएं, जैसे—नाटक, नृत्य, संगीत, चित्रकला, वास्तुकला, साहित्य, दर्शन आदि सभी इसी संस्था के सम्बन्ध के विषय हैं।

(3) **खाद्य एवं कृषि संगठन**—अक्टूबर 1945 में क्यूबेक (कनाडा) में खाद्य एवं कृषि संगठन की स्थापना हुई। इसके कार्यालय में अलग-अलग विभाग हैं। जैसे—कृषि वितरण, आर्थिक व्यवस्था, मछली उद्योग, ग्राम कल्याण आदि। इसकी ओर से विभिन्न राष्ट्रों की खाद्य पूर्ति, आवश्यकता और सम्भावना के संबंध में तथ्य मालूम किये जाते हैं और उपयोगी साहित्य प्रकाशित किया जाता है। संघ की ओर से अनेक देशों में विशेषज्ञ भेजे जाते हैं जो पशुओं और पौधों की बीमारी से रक्षा, कृषि की उन्नति, भोजन में पौष्टिक तत्वों की वृद्धि, वनों की रक्षा, भूमि के कटाव को रोकना और बाढ़ नियंत्रण करना आदि कार्यों में सहायता करते हैं। भूमि सुधार आदि कार्यों के लिए संघ की ओर से विशिष्ट सहायता दी गई है। विश्व में कृषि के उन्नत तरीकों का प्रचार करती है तथा मवेशियों की बीमारियों की रोकथाम के लिए कार्यक्रम बनाती है।

खाद्य एवं कृषि संगठन के मुख्य अंग एक सम्मेलन, एक परिषद तथा डायरेक्टर जनरल और उसके अन्य कर्मचारी हैं। सम्मेलन में प्रत्येक सदस्य राष्ट्र का

एक-एक प्रतिनिधि होता है। यह सम्मेलन संगठन की नीति निर्धारित करता है तथा बजट स्वीकार करता है। परिषद में सम्मेलन द्वारा चुने गये 24 सदस्य होते हैं। परिषद् सम्मेलन का अधिवेशन आरम्भ होने और समाप्त होने की अवधि में कार्य करती है। इसका प्रधान कार्यालय रोम में स्थित है। इस कार्यालय का प्रधान डाइरेक्टर जनरल होता है।

(4) **विश्व स्वास्थ्य संगठन**—विश्व व्यापी स्वास्थ्य समस्या के समाधान के लिये 7 अप्रैल 1948 को अन्तर्राष्ट्रीय स्वास्थ्य संगठन की स्थापना की गई। इसका उद्देश्य विश्व के लोगों के स्वास्थ्य को उच्च स्तर पर पहुंचाना और रोगों की रोक-थाम करना है। इस संघ ने विश्व की स्वास्थ्य संबंधी कई समस्याओं से संघर्ष किया है। 1947 में बहुत ही खतरनाक और उग्र रूप से फैलने वाले हैजे पर इस संघ ने अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग से छः सप्ताह के अन्दर पूरी विजय प्राप्त की। यह सफलता अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण और आश्चर्यजनक मानी गई थी। संघ विशेषज्ञों की समितियों द्वारा कई घातक रोगों के सम्बन्ध में अनुसन्धान करता है। संघ के तत्वावधान में मलेरिया, तपेदिक, जननेन्द्रिय संबंधी रोगों, मातृ शिशु स्वास्थ्य, पौष्टिक भोजन और स्वास्थ्यप्रद वातावरण के सम्बन्ध में अलग-अलग विभाग काम करते हैं।

इस संगठन के मुख्य रूप से तीन अंग हैं—(1) सभी सदस्य राज्यों के प्रतिनिधियों की असेम्बली, (2) असेम्बली द्वारा चुने गये चिकित्सा आदि का विशेष ज्ञान रखने वाले 18 व्यक्तियों की एक कार्यकारिणी, तथा (3) सचिवालय। इसका मुख्य कार्य जेनेवा में है।

(5) **अन्तर्राष्ट्रीय बाल संकट कोष**—बच्चों के स्वास्थ्य पर विशेष ध्यान देने के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ की साधारण सभा ने 11 दिसम्बर 1946 को अन्तर्राष्ट्रीय बाल संकट कोष की स्थापना की। इसका उद्देश्य विश्व के पिछड़े हुए देशों के बच्चों के स्वास्थ्य की ओर विशेष ध्यान देना है। एशिया, अफ्रीका तथा यूरोप के देशों में इस संस्था ने मानवीय दृष्टि से अत्यन्त ही सराहनीय कार्य किया है। इसके तत्वावधान में बच्चों और दूध पिलाने वाली माताओं को दूध इत्यादि पौष्टिक पदार्थों की व्यवस्था की जाती है। तपेदिक, मलेरिया, उपदंश एवं अनेक महामारियों के नियन्त्रण के लिए यह संस्था प्रयत्नशील है। इसके अतिरिक्त भूकम्प, बाढ़ आदि के समय यह संस्था प्रसूतिकाओं एवं शिशुओं की अपेक्षित सहायता करती है। भारत में डी.डी.टी. और पेनेस्लिन के उत्पादन के लिए इस संस्था से काफी सहायता मिली है तथा बच्चों के स्वास्थ्य के लिए दूध भी बांटा जाता है। स्कूलों एवं अस्पतालों में क्षय से बचाव के लिए बी. सी. जी. के टीके लगाने की व्यवस्था की गई है। इस प्रकार अनेक रूपों में भारत व अनेक अन्य देशों में इस संस्था द्वारा सहायता की जा रही है।

(6) **विश्व शरणार्थी संगठन**—इसकी स्थापना संयुक्त राष्ट्र संघ की साधारण सभा द्वारा 1 जनवरी 1951 को हुई थी। इस संगठन का सबसे बड़ा काम शरणार्थी समस्या का हल करना है अर्थात शरणार्थियों का पुनर्वास। जब तक यह कार्य सम्पन्न नहीं होता तब तक शरणार्थियों की देखरेख व भरण पोषण का काम भी होता था। स्वदेश लौटना चाहने वाले लोगों को इस बात के लिये संघ से प्रोत्साहन और सहायता मिली। संघ ने लगभग 60 लाख व्यक्तियों को बसाने में सहायता की। परन्तु इस संघ को असमय में ही समाप्त हो जाना पड़ा, क्योंकि अमेरीका ने, जो कि इसका आर्थिक दृष्टि से सबसे बड़ा सहायक था, पैसा देना अस्वीकार कर दिया। अपने अल्पकाल में, विश्व शरणार्थी संगठन ने द्वितीय विश्व युद्ध के परिणाम स्वरूप वेघर लोगों की बहुत सेवा की।

(7) **अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और बैंक**—विश्व युद्ध से जर्जरित विश्व का पुनर्निर्माण और विकास के क्षेत्र में दो संस्थाएं—अन्तर्राष्ट्रीय बैंक और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने अत्यधिक महत्वपूर्ण कार्य किया है। अन्तर्राष्ट्रीय बैंक का उद्देश्य उत्पादन के लिए तथा पुनर्निर्माण और विकास के लिए सदस्य राष्ट्रों को अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों की पूंजी सुलभ करना और सहायता पहुंचाना है। मुद्रा कोष की स्थापना अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा सहयोग को चालू रखने, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का विस्तार करने और विनिमय के प्रतिस्पर्द्धा भरे उतार चढ़ाव को रोकने की दृष्टि से हुई है। अन्तर्राष्ट्रीय बैंक अपने सदस्य राष्ट्रों को आर्थिक पुनर्निर्माण तथा प्राकृतिक साधनों और उद्योगों के विकास के लिए स्वयं ऋण देता है अथवा गारण्टी से दूसरी जगह दिलवाता है। अन्तर्राष्ट्रीय बैंक सामान्यत: किसी देश की सरकार को ही ऋण देता है या दिलवाता है; किन्तु यदि किसी देश की सरकार ऋण चुकाने की गारण्टी दे तो उस देश के निजी उद्योग धन्धों को भी बैंक ऋण दे सकता है।

मुद्रा कोष तथा बैंक से विभिन्न देशों को अपने आर्थिक विकास और सुधार कार्यों के लिये बहुत सहायता मिल रही है। फ्रांस, बेल्जियम, हालैण्ड, डेनमार्क आदि देशों को बहुत सा ऋण मिला है। भारत को रेलों के विकास, इस्पात के उत्पादन और बहुमुखी योजनाओं के लिए अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से बहुत ऋण प्राप्त हो चुका है।

(8) **तकनीकी सहायता कार्यक्रम**—संयुक्त राष्ट्रसंघ के तत्वावधान में एक 'संयुक्त राष्ट्रीय तकनीकी सहायता कार्यक्रम' चलाता है। इस कार्यक्रम का उद्देश्य आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुये राष्ट्रों को उनका जीवन स्तर ऊंचा उठाने में तकनीकी सहायता देना है। पिछड़े राष्ट्रों के लिये यह बड़ी ही उपयोगी व हितकर योजना है। यद्यपि संयुक्त राष्ट्र अमेरिका आदि विकसित देश पिछड़े हुए देशों की अनेक प्रकार से मदद करते हैं और कामनवेल्थ के देशों के लिए 'कोलम्बो योजना' जैसी योजनाएं इसी दिशा में काम कर रही हैं, किन्तु किसी देश विशेष या संघ विशेष से सीधी सहायता लेने में प्राय: यह डर बना रह सकता है कि उस आर्थिक सहायता के साथ

राजनीतिक बन्धन न लगा दिये जांय। संयुक्त राष्ट्रसंघ जैसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था से प्राप्त सहायता के लिये किसी भी प्रकार का भय नहीं रहता और आवश्यकता की पूर्ति भी हो जाती है। इस दृष्टि से यह कार्यक्रम अत्यन्त उपयोगी एवं सराहनीय है। इस कार्यक्रम के उल्लेखनीय प्रयासों में पाकिस्तान की 'आयरन फाउण्ड्री', ईरान में वायु सेना से फोटो लेकर कुओं के लिये भूगर्भ जल क्षेत्रों की खोज तथा इण्डोनेशिया में हवाई यातायात के विकास के लिये और लेटिन अमरीका में इस्पात के उद्योगों की स्थापना में महत्वपूर्ण योगदान आदि प्रमुख है।

(9) **मानव अधिकार आयोग**—वर्तमान युग में जैसे सत्य, शांति तथा अच्छाई का विरोध नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार मानव के मूल अधिकार भी सर्व सम्मति से स्वीकार किये जाते हैं। किन्तु उनके सम्बन्ध में कुछ समस्याएं हैं, जिनका प्रवेश संयुक्त राष्ट्र संघ के तत्वावधान में नियुक्त मानव अधिकार आयोग के विचार विमर्श के समय हो चुका है। वर्षों के निरन्तर प्रयास के फलस्वरूप अब जाकर ऐसे प्रलेख (Documents) प्रस्तुत हो सके हैं, जिनसे मानव के मूल अधिकारों का स्वरूप निश्चित हो सका।

चार्टर के अनुसार मानव अधिकार आयोग की स्थापना आवश्यक मानी गयी थी। इस संस्था का कार्य भी बहुत महत्वपूर्ण रहा है। संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना के बाद ही यह आयोग संगठित हुआ और कार्य आरम्भ कर दिया गया। इसमें 18 राज्यों के प्रतिनिधि होते हैं जो तीन वर्ष की अवधि के लिए चुने जाते हैं और पुनः निर्वाचन के योग्य माने जाते हैं। यह संस्था इस विषय के सभी पक्षों पर विचार करने की अधिकारिणी है। किन्तु मानव अधिकारों को यह प्राथमिकता देती है। श्रीमती रूजवेल्ट की अध्यक्षता में इस आयोग ने मानव अधिकारों का आदेश पत्र तैयार किया और 10 दिसम्बर 1949 को महासभा ने मानव अधिकारों का विश्व घोषणा पत्र स्वीकार किया। इस घोषणा पत्र में मानव के मूलभूत अधिकारों को अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता दी गई है। मानव के सम्मान और मूल्य को महत्व दिया गया है। घोषणा पत्र में उल्लिखित विभिन्न धाराओं द्वारा निम्न मौलिक अधिकार स्वीकार किये गये हैं—

(1) सम्मान और अधिकारों की दृष्टि से तथा स्वतन्त्र रहने के लिये सभी मानव समान हैं।

(2) घोषणा पत्र में सम्मिलित अधिकारों और स्वतन्त्रता के लिये सारे मानव अधिकारी हैं।

(3) जीवन, स्वतन्त्रता और सुरक्षा का अधिकार प्रत्येक मानव को प्राप्त है।

(4) कोई भी मानव दास नहीं रखा जा सकता एवं दासता और दास प्रतिबन्धित होगा।

(5) किसी भी मानव के साथ अत्याचार एवं अमानवीय व्यवहार नहीं किया जा सकता।

(6) कानून के समक्ष प्रत्येक मानव, प्रत्येक स्थान पर मानव के अधिकार की प्राप्ति का अधिकारी है।

(7) कानून के समक्ष सभी व्यक्ति समान हैं और समान रूप से कानून का संरक्षण प्राप्त करने के अधिकारी हैं।

(8) स्वीकृत मौलिक अधिकारों का उल्लंघन करना अथवा अनुचित लाभ उठाना नियम विरुद्ध है।

(9) किसी भी व्यक्ति को बिना उचित कारण के बन्दीगृह अथवा बन्धन में नहीं रखा जा सकता।

(10) व्यक्ति के निजी कार्यों अथवा जीवन में बाह्य हस्तक्षेप नहीं किया जायेगा।

इसी प्रकार आवागमन और निवास का समान अधिकार, राष्ट्रीयता का अधिकार, विवाह एवं परिवार का अधिकार, सम्पत्ति प्राप्त करने का अधिकार आदि अनेक अधिकार हैं, जो स्वीकार किये गये हैं। यह कहा जा सकता है कि घोषणा पत्र में किसी भी मानवीय अधिकार को नहीं छोड़ा गया है।

संयुक्त राष्ट्र संघ का मूल्यांकन

युद्धों के भय से मुक्ति के लिए, अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण उपायों द्वारा समाधान के लिए तथा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की वृद्धि के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना मानव इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना थी। इसके चार्टर में अन्त-राष्ट्रीय संगठन की उन सभी बुराइयों को समाप्त करने का प्रयत्न किया गया जिनके कारण राष्ट्रसंघ असफल हो गया था। इस संगठन का मूल्यांकन करने से पूर्व हमें यह स्वीकार करना होगा कि हम निष्पक्ष रूप से इसकी कार्यवाहियों का पर्यवेक्षण करेंगे। न तो हम उन्हें हीन दृष्टि से देखें और न अतिशयोक्ति द्वारा तिल का पहाड़ बनायें। यह व्यवहार अनिवार्य है।

सर्वप्रथम हम यह देखते हैं कि संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना के बाद विश्व में तीन प्रधान विकास हुए हैं—(1) पांच बड़ी शक्तियों में विरोध (2) परमाणु शक्ति का विकास, तथा (3) औपनिवेशिक प्रणाली का क्रमशः विसर्जन। इस प्रगति को देखते हुए यह एक सफल संस्था है। उपरोक्त नवीन परिस्थितियों के उत्पन्न हो जाने पर भी यह संगठन पर्याप्त रूप से सफल हुआ है। सन् 1946 में ईरान विवाद में मध्यस्थ बनकर रूस की सेनाएं वापस बुलवायी। हिन्देशिया में सहायता पहुँचाकर उसे स्वतन्त्रता दिलवाने में सहायता की और संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य बनाया। इजरायल और अरब राज्यों के आपसी विरोध को रोककर विराम सन्धि पर हस्ताक्षर करवाये। इसी संगठन ने कश्मीर में युद्ध विराम समझौता करवाया। यूनान की सीमा पर आयोग भेजकर शान्ति स्थापित की। 20 जून 1950 को जब उत्तरी कोरिया, दक्षिणी कोरिया पर आक्रमण करने लगा तब अन्तर्राष्ट्रीय सेना की

व्यवस्था के लिए कार्यवाही कर शान्ति बनाये रखी। 1954 में इंगलैंड व फ्रांस ने जब मिस्र पर आक्रमण किया तो संयुक्त राष्ट्रसंघ की सेना ने ही विदेशी सेनाओं से वह प्रदेश रिक्त करवाया। सीरिया और लेबनान, बर्लिन (ब्लोकेड) अर्थ प्रतिबन्ध तथा हिन्द चीन भी संयुक्त राष्ट्रसंघ की सफलता के प्रमाण हैं। इसके अतिरिक्त साम्राज्यवाद की समाप्ति की दिशा में भी संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रयत्न प्रशंसनीय हैं। अबीसीनिया की स्वतन्त्रता तथा इरीट्रिया का अबीसीनिया के साथ योग, द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात की एक महत्वपूर्ण घटना है। इटालियन सोमालीलैंड, बेल्जियम, कांगो, यूगाण्डा तथा अन्य अफ्रीकी देश अभी हाल ही में स्वतन्त्र हुए हैं। लीबिया जो अभी तक साम्राज्य का एक अंग था, इस संगठन के अन्तर्गत स्वतन्त्र बना दिया गया। मोरक्को एवं ट्यूनिशिया, जिसे फ्रांस नहीं छोड़ना चाहता था, और संयुक्त राष्ट्रसंघ के समक्ष कई बार विवाद का विषय रहा, अन्त में स्वतन्त्र हो गये। इसी प्रकार घाना, मलाया आदि देश भी स्वतन्त्र हुए हैं। इस प्रकार यह एक सफल संस्था है।

किन्तु अभावों की दृष्टि से देखा जाय तो कई ऐसे स्थल हैं जहां यह संघ असफल रहा है। ईरान का तेल विवाद, दक्षिणी अफ्रीका संघ तथा कश्मीर मुख्य रूप से गिने जा सकते हैं। तेल विवाद में यह संस्था इंगलैण्ड और अमेरीका के हितों को सुरक्षित बनाये रख सकी, वहां की जनता के हितों को नहीं बचा सकी। दक्षिणी अफ्रीका संघ ने भारत और पाकिस्तान के साथ किसी प्रकार का समझौता करने से इस आधार पर अस्वीकार कर दिया कि यह उनका घरेलू प्रश्न है और संयुक्त राष्ट्र संघ भी हस्तक्षेप नहीं कर सकता। कश्मीर के प्रश्न पर तो संघ बहुत अधिक असफल रहा। इसी प्रकार हंगरी और चेकोस्लोवाकिया पर साम्यवादी आक्रमण के समय भी यह संगठन कुछ न कर सका। हंगरी पर आक्रमण के समय जब विश्व लोकमत जाँच के लिये उत्सुक हुआ तो यह प्रस्ताव किया गया कि महामन्त्री श्री हेमरशोल्ड उसी स्थान पर जाकर जांच करे, किन्तु रूस द्वारा प्रेरित हंगरी ने आवश्यक अनुमति नहीं दी। बाद में महासभा ने प्रिंसवान पैथेको की नियुक्ति एक सदस्यीय आयोग के रूप में की और वहां जाकर जांच करने के पश्चात् प्रतिवेदन प्रस्तुत करने का आदेश दिया गया। इस आयोग ने अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया कि "यह आयोग सहयोग के अभाव में पूर्ण असफल रहा है।" इसी प्रकार लाल चीन की सदस्यता का मामला था। अमेरीका के षड़यन्त्र के कारण विशाल शक्तिशाली साम्यवादी चीन काफी लम्बे समय तक संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता प्राप्त नहीं कर सका था।

इस प्रकार विश्व में जगह-जगह घाव नजर आ रहे थे जिनकी चिकित्सा करने में संयुक्त राष्ट्रसंघ असफल रहा है। सुरक्षा परिषद की अपनी कोई सेना नहीं बनायी जा सकी है। निःशस्त्रीकरण के सम्बन्ध में भी कोई निर्णय नहीं हो पाया है। परमाणु शक्ति से अणुबम्ब, और उद्जन बम्ब तथा कृत्रिम उपग्रहों के बनाने के प्रयास जारी हैं और उनके परीक्षण जारी हैं। संयुक्त राष्ट्रसंघ अणु शस्त्रों के

नियंत्रण और उनके विनाशकारी परीक्षण रोकने में भी अभी तक कुछ नहीं कर सका है, वल्कि संरक्षण परिषद् के अन्तर्गत प्रशान्त महासागर स्थिति मार्शल द्वीपों के निवासियों की प्रार्थना को ठुकरा कर अमेरिका को उन द्वीपों में अणु शस्त्रों के परीक्षण की छूट दे दी गई है। संघ के चार्टर की ओट में उत्तर अटलांटिक सन्धि, दक्षिण पूर्व एशिया सन्धि, बगदाद समझौता (अब सेन्टो) आदि क्षेत्रीय सैनिक संगठन बन रहे हैं और इन संगठनों के कारण शान्ति को खतरा उत्पन्न हो गया है। किन्तु शक्ति की शतरंज के खेल में वह मृत राष्ट्रसंघ की भांति ही एक दर्शक की भांति तमाशा देख रहा है। कुछ कर भी तो नहीं सकता।

संयुक्त राष्ट्रसंघ केवल राजनैतिक क्षेत्र में ही काम नहीं करता, अपितु सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्र में भी गतिशील है। इसलिये संयुक्त राष्ट्रसंघ की सफलता पर विचार करते समय हमें चित्र के दूसरे पहलू पर भी नजर डालनी चाहिये। इस दूसरे क्षेत्र में संघ की विशिष्ट समितियों द्वारा किया गया काम सराहनीय है और इसकी सफलता में किसी प्रकार का सन्देह करना भारी भूल होगी।

दोनों पक्षों का अध्ययन करने पर यह कहा जा सकता है कि अब संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थिति कैसी है। बड़ी शक्तियां किसी भी विवाद को सत्यता के आधार पर न देखकर, राजनैतिक दृष्टि से देखती हैं। अपनी राष्ट्रीय भावनाओं के प्रसार के लिये यत्न करती हैं। इसलिये ये बड़ी शक्तियां स्वयं ही आदेश पत्र का उल्लंघन करती हैं और विश्व शांति को क्षति पहुंचाती हैं। दलबन्दी विशेष हो गयी है और 'नाटो', 'सीटो', 'बगदाद पेक्ट' द्वारा शान्त युद्ध को विकसित कर रही हैं। फिर भी इन सब बुराइयों को दबाते हुए यह संगठन बराबर आगे बढ़ रहा है। प्रत्येक स्थान पर संघर्षों को स्थानीय बना देना, एक बड़ी भारी बात है। यह संगठन अब एक बहुत बड़ी नैतिक सत्ता को प्राप्त कर चुका है जिसके साथ विश्व का ठोस लोकमत है। अतः कोई भी राष्ट्र सरलता से इसकी उपेक्षा नहीं कर सकता। यहां तक कि बड़ी शक्तियां जो प्रादेशिक संधियों और समझौते में सम्मिलित हैं, अपने को संधियां सम्बन्धी कार्य संघ के विधान के अन्तर्गत मानती हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ समस्त विपरीत परिस्थितियों और बड़ी शक्तियों के स्वार्थी व्यवहार के होते हुए भी सफल हो रहा है और होगा, क्योंकि विश्व का बहुमत वास्तव में शान्ति चाहता है और इस संगठन का आदर्श भी शान्ति स्थापना है। बड़ी शक्तियाँ भले ही अपनी दौड़ में लगी हुई हों, परन्तु वास्तव में वे भी युद्ध नहीं चाहती हैं। इसलिये वह शांति, जो सभी राष्ट्रों की आकांक्षा है, उसकी पूर्ति इसी संगठन मे होगी। ऐसी आशा है कि विश्व, युद्ध की भीषण विभीषिका से उस समय तक बचा रहेगा जब तक मानव में मानवता का बाहुल्य रहेगा।

राष्ट्रसंघ और संयक्त राष्ट्रसंघ की तुलना

राष्ट्रसंघ और संयुक्त राष्ट्रसंघ की तुलना से यह प्रतीत होता है कि दोनों में अनेक समानताएँ तथा अन्तर है। प्रोफेसर शूमा ने लिखा है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ पुराने

राष्ट्रसंघ का ही परिवर्तित रूप है। किन्तु शूमा महोदय का यह कथन पूर्णतः सत्य नहीं कहा जा सकता। यह सत्य है कि कुछ अंशों में संयुक्त राष्ट्रसंघ और राष्ट्रसंघ में बहुत ही कम मौलिक अन्तर है, फिर भी संयुक्त राष्ट्रसंघ, पुराने राष्ट्रसंघ की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट है। कुछ अंशों में राष्ट्रसंघ की व्यवस्थाएँ अधिक स्पष्ट और सुदृढ़ थी, किन्तु अधिकांशतः संयुक्त राष्ट्रसंघ की व्यवस्थाएँ राष्ट्रसंघ की व्यवस्थाओं की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट हैं और इसीलिये यह संगठन राष्ट्रसंघ की अपेक्षा श्रेष्ठ संगठन है। दोनों में निम्न अंशों में समानताएँ पायी जाती हैं—

(1) दोनों का उद्देश्य युद्ध की विभीषिका से मानव जाति को स्वतन्त्र कराना है।

(2) दोनों ही प्रभुसत्ता सम्पन्न स्वतन्त्र राज्यों के संघ हैं।

(3) दोनों सभी विवादों के निर्णय के सर्वोत्तम उपाय परस्पर बातचीत द्वारा समझौता करना समझते हैं।

(4) दोनों के विभिन्न अंग लगभग एक से हैं। यद्यपि संयुक्त राष्ट्रसंघ कई विशेष अंगों से युक्त है तथापि मौलिक रूप से दोनों के मौलिक अंग एक जैसे हैं।

(5) दोनों के क्षेत्राधिकार राज्य पर है, किसी को व्यक्ति से कोई मतलब नहीं है।

(6) दोनों का काम सदस्य राज्यों द्वारा दिये जाने वाले अंशदानों पर निर्भर है।

(7) दोनों की सफलता इसकी सत्ता और शक्ति पर नहीं, अपितु सदस्यों के स्वेच्छापूर्वक दिये जाने वाले सहयोग पर निर्भर है।

(8) सभी देशों में स्वास्थ्य सुधार, नशीली दवाइयों तथा स्त्रियों के अनैतिक व्यापार के विरोध के लिये सहयोग प्राप्त करने में दोनों संगठन बहुत साम्य रखते हैं।

इस प्रकार दोनों संगठनों में काफी अंशों में साम्यता दिखाई देती है। किन्तु यदि हम दोनों का तुलनात्मक अध्ययन करते हैं तो दोनों में अनेक अन्तर भी स्पष्ट दिखाई देते हैं। इन दोनों के मुख्य अन्तर निम्नलिखित हैं—

(1) दोनों का प्रादुर्भाव विभिन्न प्रकार से हुआ। राष्ट्रसंघ की स्थापना युद्ध के बाद हुई थी, जबकि संयुक्त राष्ट्रसंघ का जन्म युद्ध समाप्त होने से पूर्व हो चुका था।

(2) दोनों के विधान के आकार में भी अन्तर है। राष्ट्रसंघ के विधान में केवल 26 धाराएँ थीं, किन्तु संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर में 111 धाराएँ हैं।

(3) दोनों के संगठन में भी अन्तर है। राष्ट्रसंघ के मुख्य अंग केवल तीन थे—असेम्बली, कौंसिल और सचिवालय। किन्तु संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रधान अंग छः हैं—महासभा, सुरक्षा परिषद्, आर्थिक और सामाजिक परिषद्, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय और सचिवालय। इससे यह स्पष्ट होता है कि राष्ट्रसंघ का प्रधान कार्य राजनीतिक क्षेत्र तक सीमित था, किन्तु संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रधान कार्य केवल राजनीतिक ही नहीं वरन् आर्थिक, सामाजिक, मानवीय तथा सांस्कृतिक विषयों को भी बहुत महत्व दिया गया है। इस कार्य के लिये संयुक्त राष्ट्रसंघ में मानव व्यक्तित्व के विकास तथा व्यक्तियों के मानवीय अधिकारों के संरक्षण पर बहुत महत्व दिया गया है। इस कार्य के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत अनेक विशिष्ट समितियां हैं, किन्तु राष्ट्र संघ में इनका अभाव था। संयुक्त राष्ट्रसंघ इस भावना पर आधारित है कि युद्ध पहले मनुष्य के मन में उत्पन्न होता है, अतः शांति की आधारशिलाएँ मनुष्यों के मन में स्थापित की जानी चाहिये।

(4) दोनों के उद्देश्यों में भी अन्तर है। राष्ट्रसंघ का प्रतिज्ञा पत्र इस वाक्य से आरम्भ होता है—"अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को प्रोत्साहन देने तथा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की प्राप्ति के लिये......." किन्तु संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर के प्रारम्भ में कहा गया है, "भावी सन्तति को युद्ध की विभीषिका से मुक्त कराना"। इससे स्पष्ट है कि राष्ट्रसंघ अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग से शान्ति पर बल देता था, जबकि संयुक्त राष्ट्रसंघ विश्व शांति पर विशेष जोर देता है।

(5) राष्ट्रसंघ की तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ की असेम्बलियों में एक प्रधान अन्तर यह है कि राष्ट्रसंघ की असेम्बली के निर्णय का पालन सदस्यों के लिये अनिवार्य (Binding) होता था, जबकि संयुक्त राष्ट्रसंघ में ऐसी अनिवार्यता नहीं है। संयुक्त राष्ट्रसंघ की असेम्बली केवल सिफारिशें ही करती हैं।

(6) संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा में मतदान प्रणाली, राष्ट्रसंघ की प्रणाली से अच्छी है। राष्ट्रसंघ की असेम्बली में सभी निर्णयों के लिए उपस्थित तथा वोट देने वाले सदस्यों की सर्वसम्मति आवश्यक थी, किन्तु संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा के सभी महत्वपूर्ण विषयों के निर्णय दो तिहाई बहुमत से किये जाते हैं। राष्ट्रसंघ में 'सर्व सम्मति' का नियम होने के कारण कोई भी एक सदस्य राष्ट्र उसके कार्य में बाधा उत्पन्न कर सकता था, किन्तु संयुक्त राष्ट्रसंघ में ऐसी कोई बाधा उपस्थित नहीं की जा सकती।

(7) संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर में महासभा और सुरक्षा परिषद् के कार्यों का राष्ट्रसंघ की असेम्बली और कौंसिल के कार्यों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट विभाजन है। राष्ट्रसंघ में इसका अभाव था जिससे बड़ी अनिश्चितता और संदेह व्याप्त था और इस कारण राष्ट्रसंघ बड़ी निर्बल संस्था थी।

(8) संयुक्त राष्ट्रसंघ की सुरक्षा परिषद एक स्थायी संस्था है और हर पखवारे में इसकी बैठक होती है, किन्तु राष्ट्रसंघ की परिषद के साथ ऐसी बात नहीं थी। उसकी बैठक वर्ष में केवल तीन बार होती थी। यदि आवश्यकता हो तो सुरक्षा परिषद की बैठक अविलम्ब बुलाई जा सकती है।

(9) शांति भंग तथा आक्रमणों को रोकने के सम्बन्ध में संयुक्त राष्ट्रसंघ, राष्ट्रसंघ की अपेक्षा निम्नलिखित कारणों से अधिक शक्तिशाली है—

(i) राष्ट्रसंघ आक्रमण होने पर ही उसे रोकने की कार्यवाही कर सकता था, किन्तु संयुक्त राष्ट्रसंघ "शांति भंग होने की संभावना" पर भी कार्यवाही कर सकता है।

(ii) राष्ट्रसंघ में शान्ति भंग करने वाले के विरुद्ध मुख्य रूप से आर्थिक प्रतिबन्ध लगाये जाते थे, किन्तु संयुक्त राष्ट्रसंघ की सुरक्षा परिषद को स्थल, जल और वायु सेना के प्रयोग का भी अधिकार दिया गया है। इस प्रकार की कार्यवाही करने के लिये इसके पास एक सैनिक स्टाफ समिति भी है। किन्तु राष्ट्रसंघ के पास संकट में प्रयुक्त की जा सकने वाली इस प्रकार की सेना नहीं थी।

(iii) शांति के लिये एकता के प्रस्ताव ने संयुक्त राष्ट्र की महासभा को भी, सुरक्षा परिषद में वीटो के कारण गतिरोध होने पर शांति स्थापित करने के लिये सैनिक कार्यवाही करने का अधिकार प्रदान किया है। किन्तु राष्ट्रसंघ के प्रतिज्ञा पत्र में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं थी।

(10) संयुक्त राष्ट्रसंघ की संरक्षण व्यवस्था, राष्ट्रसंघ की संरक्षण व्यवस्था से भिन्न और श्रेष्ठ है। इसी प्रकार संयुक्त राष्ट्रसंघ का महासचिव राष्ट्रसंघ के महासचिव से अधिक शक्तिशाली है।

(11) घरेलू अधिकार क्षेत्र के सम्बन्ध में दोनों में मौलिक अन्तर है। राष्ट्र संघ के प्रतिज्ञा पत्र और संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर दोनों में यह व्यवस्था थी कि अन्तर्राष्ट्रीय संगठन सदस्य राज्यों के घरेलू मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेगा। राष्ट्र संघ में इस विषय पर निर्णय करने का अधिकार कि कौनसा मामला घरेलू है, सदस्य राज्यों पर नहीं छोड़ा गया था वल्कि इसका निर्णय कौंसिल करती थी। किन्तु संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर में प्रत्येक सदस्य राष्ट्र को इसका निर्णय करने की स्वतन्त्रता है। राष्ट्रसंघ का प्रतिज्ञा पत्र (Covenent) वर्साय संधि तथा अन्य सन्धियों का अनिवार्य भाग था और इसका सबसे बड़ा उद्देश्य इन सन्धियों द्वारा की गई व्यवस्था को बनाये रखना था। किन्तु संयुक्त राष्ट्रसंघ का सम्बन्ध पराजित राष्ट्रों पर थोपी गई ऐसी किसी सन्धि से नहीं था। संयुक्त राष्ट्रसंघ केवल मानव मात्र को युद्ध की विभीषिका से मुक्त कराने के दृढ़ संकल्प का मूर्त रूप है।

(12) आत्म रक्षा के अधिकार के सम्बन्ध में राष्ट्रसंघ के प्रतिज्ञा पत्र में कोई बात स्पष्ट रूप से नहीं की गई थी, केवल धारा 15 (7) में कुछ अस्पष्ट बातें

कही गयी थीं । किन्तु चार्टर की धारा 51 में संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा कार्यवाही करने से पूर्व आक्रमण का शिकार बने राज्यों को आत्म रक्षा का अधिकार बड़े स्पष्ट शब्दों में दिया गया है। धारा 52 के द्वारा शांति रक्षा तथा आत्म रक्षा के लिये सदस्य राष्ट्रों को प्रादेशिक संगठन बनाने का भी अधिकार दिया गया है। राष्ट्रसंघ के प्रतिज्ञा पत्र में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं थी ।

उपर्युक्त तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ का संगठन, उद्देश्य और कार्य प्रणाली राष्ट्रसंघ से अनेक अंशों में उत्कृष्ट एवं श्रेष्ट है । संयुक्त राष्ट्रसंघ आज विश्व शांति का प्रतीक है ।

अध्याय 26

यूरोप में धर्म निरपेक्षता

(SECULARISM IN EUROPE)

आधुनिक प्रगतिशील विश्व के सबसे अधिक लोकप्रिय शब्द 'लोकतन्त्र', 'समाजवाद', और 'धर्म निरपेक्षता' है। विश्व के कुछ धर्मावलम्बी राज्यों को छोड़कर प्रायः सभी राज्य इन आदर्शों को कार्यान्वित करने के लिए अपने आप को दृढ़-संकल्पबद्ध बताते हैं। धर्म निरपेक्षता का सिद्धांत न केवल विश्व में लोकप्रिय बन गया है, वरन् एक युग युगीन आवश्यकता बन गया है। लोकतन्त्र तथा समाजवाद के आदर्शों को भी उस समय तक प्राप्त नहीं किया जा सकता जब तक कि धर्मनिरपेक्षता के आदर्श को न अपना लिया जाय।

धर्मनिरपेक्षता का उद्भव एवं विकास—व्यक्ति के जीवन में धर्म का सदैव प्रमुख स्थान रहा है। अतः धर्म ने व्यक्ति के जीवन के प्रत्येक अंग को प्रभावित किया है। सर्वाधिक प्राचीन यूनानी सभ्यता के अन्तर्गत राजा को धार्मिक शक्तियां प्राप्त थीं तथा राजा को दैवी अवतार समझा जाता था। राजा की आज्ञा को ईश्वर की आज्ञा समझा जाता था और यह बात सर्वसामान्य थी कि राजा के आदेश की अवज्ञा करने वाला व्यक्ति ईश्वर के समक्ष पापी होता है। जब रोमन लोगों में ईसाई धर्म का प्रचार हुआ तो सम्राट ने ईसाई धर्म को राज्याश्रय दे दिया। सम्राट चर्च के प्रधानों की नियुक्ति और उन पर पूर्ण नियंत्रण रखता था, यद्यपि चर्च के प्रमुख के रूप में पोप को 'आध्यात्मिक प्रधान' समझा जाता था। रोमन साम्राज्य के पतन के बाद ईसाई धर्म का प्रभाव बढ़ता गया। धीरे-धीरे चर्च इतना शक्ति सम्पन्न हो गया कि वह लौकिक विषय में हस्तक्षेप करने लगा और पोप ने यह प्रतिपादित करना शुरू कर दिया कि राज्य की तुलना में चर्च की स्थिति श्रेष्ठ है। अगस्टाइन जैसे विचारकों ने भी पोप के कथन की पुष्टि करते हुए कहा कि चर्च राज्य की अपेक्षा श्रेष्ठ संस्था है यह ईश्वर की संस्था है। यह ईश्वर की इच्छा को अभिव्यक्त करती है और राज्य को इसके (चर्च के) द्वारा निर्देशित होना चाहिए। दूसरी ओर मार्सि-

गिलो ऑफ पेडुआ तथा दांते जैसे विचारकों के द्वारा धार्मिक सत्ता पर राजकीय सर्वोच्चता की बात कही गई। इन परस्पर विरोधी विचारों के कारण राजा और पोप के बीच संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होना स्वाभाविक था और यह स्थिति 11 वीं शताब्दी में सम्राट हेनरी चतुर्थ और पोप ग्रेगरी सप्तम के बीच उत्पन्न हुई। सम्राट हेनरी चतुर्थ ने पोप ग्रेगरी सप्तम को पद मुक्त करने का आदेश दे दिया और पोप ने सम्राट हेनरी चतुर्थ को धर्म बहिष्कृत कर दिया। अन्त में सम्राट को इटली के केनोसा नगर में जाकर पोप के समक्ष बड़े अपमानजनक ढंग से आत्म समर्पण करना पड़ा तथा क्षमा याचना करनी पड़ी। इस प्रकार चर्च और राज्य के बीच संघर्ष के प्रारम्भिक काल में पोप की स्थिति दृढ़ रही।

किन्तु 14 वीं शताब्दी में चर्च में फूट पड़ गई तथा चर्च बुराइयों का घर बन गया। उधर राजनीतिक क्षेत्र में राष्ट्रवाद की धारणा का उदय होने लगा। फलस्वरूप राष्ट्रवाद की शक्ति के बल द्वारा निरंकुश राजाओं ने चर्च को भी अपने अधीन कर लिया। राज्य और चर्च के इस गठबन्धन का बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा। इसके फलस्वरूप अब राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि स्वीकार कर लिया गया तथा राजा ने मनमाने तरीके से जनता पर अत्याचार करने आरम्भ कर दिये। राज्याज्ञा को ईश्वरीय आज्ञा कहा गया तथा भोलीभाली जनता से उचित अनुचित का विचार किये बिना इसका पालन कराया गया। व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अन्त कर उसे धर्म पर आधारित राज्य का एक साधन मात्र बना दिया गया। धर्म पर तो इसका प्रभाव और भी बुरा पड़ा। राजनीति ने धर्म की विशुद्धता को समाप्त कर समस्त कुटिलताओं का समावेश कर दिया। राजनीति के प्रभाव से चर्च का जीवन अत्यन्त वैभवपूर्ण बन गया। विलासिता, व्यभिचार और दुराचार चर्च के अंग बन गये तथा चर्च की विशुद्धता एवं पवित्रता पाप कर्म में बदल गई। पेट्राक (1304–74) ने एविग्नोन के चर्च का चित्रण करते हुए लिखा था, "यह वसुन्धरा का नर्क है, बुराइयों का कोष है और इस विश्व का गन्दा नाला है। यहां न श्रद्धा है और न दान का भाव, न धर्म है और न ईश्वर का भय। अनुदागमन, माता-बहिन आदि निकट के निषिद्ध सम्बन्धियों के साथ सहवास, बलात्कार, पर-स्त्रीगमन आदि पोप के दरबार की क्रीड़ाओं के कामुक आनन्द हैं।" चर्च की इन बुराइयों को दूर करने के लिये एक 'परिषदीय आन्दोलन' (Couciliar Movement) चला, किन्तु उसे भी अपने ध्येय में सफलता नहीं मिली।

15 वीं शताब्दी के अन्त तक विचारों की शृंखला में एक नयी प्रकृति का जन्म हुआ। बुद्धिजीवियों द्वारा यह अनुभव किया गया कि मानवीय स्वतन्त्रताओं पर धर्म का नियन्त्रण तथा धार्मिक अन्धविश्वास उनकी प्रगति में बाधक है। उन्होंने कहा कि धर्म का सम्बन्ध व्यक्ति के विश्वास और परलोक से है, इसलिये उसके द्वारा लौकिक जीवन की संस्था 'राज्य' के कार्यों में अनावश्यक रूप से हस्त-

क्षेप नहीं किया जाना चाहिये। अब तर्क और विवेक पर जोर दिया जाने लगा और उन चीजों को, जिन्हें तर्क और विवेक के आधार पर औचित्यपूर्ण सिद्ध नहीं किया जा सकता था, अस्वीकार किया जाने लगा। यह नवीन प्रवृत्ति पुनर्जागरण की प्रवृत्ति थी। इस नवीन प्रवृत्ति ने पोप और पादरियों की स्थिति को निर्बल बना दिया। अब नवीन बुद्धिवादी प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप राज्य तथा चर्च के पृथक्करण की बात सोची जाने लगी। मैकियावली प्रथम ऐसा विचारक हुआ जिसने राजनीति से धर्म को औपचारिक रूप से अलग करने की बात कही। मैकियावली इस मान्यता से सहमत नहीं था कि मनुष्य को ईश्वरीय कानून के निर्देशन की आवश्यकता है। उसकी मान्यता थी कि व्यक्ति के समस्त जीवन पर राज्य का नियन्त्रण होना चाहिये।

16वीं शताब्दी के धर्म सुधार आन्दोलन के फलस्वरूप व्यक्ति को धार्मिक अन्ध विश्वासों तथा धर्माधिकारियों के नियन्त्रण से मुक्ति मिल गई। अब यह मान लिया गया कि धर्म व्यक्ति के लिए निजी जीवन का विषय है। राजनैतिक एवं आध्यात्मिक विचारों की दृष्टि से 17 वीं शताब्दी धर्म निरपेक्षता की कही जा सकती है। अल्थूसियस, ग्रोशियस तथा हाब्स जैसे विचारकों ने प्राकृतिक कानून की तर्क संगत व्याख्या कर धर्म निरपेक्षता के लिये आधार तैयार कर दिया। ब्रिटिश विचारक जॉन लॉक के विचारों में धर्म निरपेक्षता की स्पष्ट झलक मिलती है। जॉन लॉक स्वतन्त्रता को व्यक्ति का प्राकृतिक अधिकार मानता था। उसके अनुसार धार्मिक विश्वास व्यक्ति की अन्तरात्मा का विषय है, अतः व्यक्ति को धर्म विशेष स्वीकार करने के लिये बाध्य नहीं किया जा सकता। व्यक्ति के धार्मिक मामलों में राज्य को हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। 18 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में प्रबुद्धवाद (Enlightenment) के विस्तार के साथ ही लोगों पर धर्म का प्रभाव कम हो गया। प्रबुद्धवाद का मूल विचार यह था कि समस्त विश्व का संचालन, शासन और नियन्त्रण ईश्वर द्वारा नहीं, वरन् निश्चित प्राकृतिक नियमों के आधार पर हो रहा है। प्राकृतिक घटनाचक्र को समझने के लिये बाईबिल और धर्मशास्त्र नहीं बल्कि विज्ञान और बुद्धिवाद की आवश्यकता है। इस प्रकार बौद्धिक क्रांति ने धर्म और राज्य को एक दूसरे से अलग-अलग कर दिया। संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान निर्माताओं, विशेषकर मेडीसन ने प्रारम्भिक काल में ही चर्च और राज्य के पृथक्कत्व पर जोर दिया था। इसी प्रकार फ्रांस की राज्य क्रांति के समय सरकार ने चर्च की सम्पत्ति तथा भूमि को जब्त कर लिया और पादरियों के विशेषाधिकार समाप्त कर दिये गये। पादरियों को सरकारी कोष से वेतन देने की व्यवस्था की गई तथा पादरियों को संविधान के प्रति भक्ति की शपथ लेने के लिये विवश किया गया। फलस्वरूप पादरियों ने सरकार के विरुद्ध हथियार उठा लिये। काफी रक्तपात के बाद नेपोलियन ने पोप के साथ समझौता (Concordat) करके समस्या का समाधान किया। लेकिन यह सम-

भौता शुद्ध राजनैतिक भावना से प्रेरित था न कि धार्मिक भावना से। स्वयं नेपोलियन को धर्म के प्रति कोई अनुराग नहीं था और इसलिए वह लोगों पर किसी धर्म विशेष को लादना भी व्यर्थ समझता था। फ्रांस की राज्य क्रांति के फलस्वरूप यूरोपीय देशों में धर्म निरपेक्ष राज्य की स्थापना का मार्ग प्रशस्त हो गया।

हॉलिग्राक (Holyoake) को पश्चिमी यूरोप में धर्म निरपेक्षता का जनक माना जाता है। उसने धर्मनिरपेक्षता से सम्बन्धित अपना अभियान लगभग 1846 में प्रारंभ किया था और अपनी पुस्तकें 'प्रिंसिपल ऑफ सिक्यूलरिज्म' तथा 'आरिजिन एण्ड दी नेचर ऑफ सिक्यूलरिज्म' में इसके सिद्धान्त प्रतिपादित किये। हॉलिग्राक ने लिखा है, "धर्म निरपेक्षता वह सिद्धान्त है जो जीवन के तत्काल कर्त्तव्य के रूप में सम्भावित उच्चतम बिन्दु तक मानव के नैतिक और बौद्धिक स्वभाव के विकास की खोज करना है।" धर्म निपेक्षता के सिद्धांत के प्रचार के फलस्वरूप अब यूरोपीय देशों में राष्ट्रीयता की भावना बलवती होने लगी और 1848 ई. में सम्पूर्ण यूरोप क्रांतियों से गूंज उठा। इन क्रांतियों ने प्राचीन एवं मध्यकालीन मान्यताओं को समाप्त कर दिया तथा लोकप्रिय प्रभुसत्ता तथा बौद्धिकता को प्रधानता प्राप्त हो गयी। अब प्रत्येक मान्यता को तर्क की कसौटी पर कसा जाने लगा तथा परम्परागत मान्यताओं को चुनौती दी जाने लगी। वस्तुत: 1848 की क्रांतियों के पश्चात यूरोप ने अपने अतीत से सम्बन्ध विच्छेद कर लिया था। जन समूह में राष्ट्रीयता की भावना दृढ़ होती गई। राष्ट्रीयता की इस भावना के फलस्वरूप ही जर्मनी और इटली का एकीकरण हुआ। इटली ने तो अपने एकीकरण का अन्तिम चरण पोप के राज्य रोम को जीत कर ही पूरा किया। तत्पश्चात् रोम में जनमत संग्रह कराया गया जिसमें रोम के नागरिकों ने इटली में सम्मिलित होना स्वीकार कर लिया। फलस्वरूप रोम को इटली में मिला लिया गया और उसे इटली की राजधानी बनाया गया। पोप के निवास स्थान (वेटीकन) और उसके चारों ओर का कुछ क्षेत्र पोप को दे दिया गया। किन्तु पोप नयी स्थिति को स्वीकार करने को तैयार नहीं था। उसने यूरोपीय राज्यों से हस्तक्षेप करने की अपील की तथा एक विशेष आज्ञा पत्र निकाला, जिसके अन्तर्गत सभी कैथलिकों को इटली की संसद के निर्वाचन में भाग लेने या इटली की शासकीय सेवा में पद ग्रहण करने का निषेध कर दिया। इस प्रकार पोप और राज्य का संघर्ष आरम्भ हो गया जो अगले 50 वर्षों तक चलता रहा। इटली के अधिकांश कैथोलिकों ने पोप के आदेश के बावजूद राज्य के साथ सहयोग किया। इससे स्पष्ट है कि अब धर्म का स्थान गौण हो चुका था।

1903 ई. में पोप लियो त्रयोदश की मृत्यु के बाद पोप पायस दशम नया पोप बना। नया पोप परिवर्तित परिस्थितियों से परिचित था तथा समयानुकूल चलने को तैयार था। इस समय यूरोप में समाजवाद का प्रभाव बढ़ रहा था जिसे पोप घृणा की दृष्टि से देखता था। अतः पोप पायस दशम के समय पोप और राज्य के

सम्बन्धों में उल्लेखनीय सुधार हुआ। 1904 ई. में पोप ने 1874 ई. में प्रसारित अपनी विशेष आज्ञा के कुछ अंशों को वापस ले लिया। फरवरी 1929 ई. में मुसोलिनी ने पोप के साथ "लेटरन समझौता" करके राज्य और चर्च के मध्य चले आ रहे संघर्ष को समाप्त किया।

अब हम फ्रांस और जर्मनी के सन्दर्भ में राज्य और चर्च के आपसी संघर्ष तथा उपर्युक्त देशों में धर्मनिरपेक्षता की सफलता का विस्तृत अध्ययन करेंगे।

फ्रांस का तृतीय गणतन्त्र और धर्मनिरपेक्षता

भूमिका—यद्यपि फ्रांस के तृतीय गणतन्त्र पर अनेक संकट आये, किन्तु इन संकटों पर विजय प्राप्त कर गणतंत्र और अधिक सुदृढ़ हो गया। फ्रांस का तृतीय गणतंत्र चर्च का विरोधी था, क्योंकि फ्रांस के कैथोलिक पादरी प्रारंभ से ही गणतंत्र के विरोधी थे और राजतंत्रवादियों के समर्थक थे। वे लोग अपनी पाठशालाओं एवं धार्मिक उपदेशों में गणतन्त्र के आधारभूत सिद्धान्तों की आलोचना करते थे और जनता को गणतंत्र विरोधी बनाने का प्रयास करते थे। 1875 ई. में गणतंत्रीय संविधान बन जाने के बाद राष्ट्रपति मेकमोहन ने, जो सच्चा कैथोलिक तथा अनुदारवादी था, गणतंत्रवादियों के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने का प्रयास किया। इस समय पोप अपनी शक्ति और अधिकारों को अक्षुण्ण बनाये रखने का प्रयत्न कर रहा था। उसने फ्रांस के कैथोलिक बिशपों को आदेश दिया कि वे अपनी सरकार से ऐसा कानून बनवाये जिसमें पोप को अपने अधिकारों का प्रयोग करने की पूर्ण स्वतंत्रता रहे और उस पर राज्य द्वारा कोई प्रतिबन्ध न लगाया जा सके। फ्रांस के कट्टर कैथोलिक बिशपों ने इसी आदेश के अनुसार सरकार के विरुद्ध आन्दोलन करना आरम्भ कर दिया और अपनी मांगें पूरी करने का आग्रह किया। गणतंत्रवादी चर्च के प्रभाव को बढ़ने नही देना चाहते थे और राष्ट्रपति मेकमोहन कैथोलिकों पर प्रतिबन्ध लगाने के पक्ष में नहीं था। 4 मई, 1877 को चेम्बर आफ डेप्यूटीज ने एक प्रस्ताव पास किया कि शासन को तुरन्त कैथोलिकों के आंदोलन पर कानूनी प्रतिबंध लगाना चाहिए। राष्ट्रपति ने इस प्रस्ताव को स्वीकार करने के बजाय साइमन मंत्रिमंडल को त्याग पत्र देने को बाध्य कर दिया तथा ड्यूक द् ब्रोगली, जो कैथोलिक एवं राजतंत्रवादी था, को नया मंत्रिमंडल बनाने को कहा। किन्तु चेम्बर में गणतंत्रवादियों का बहुमत था, अतः गणतन्त्रवादी नेता गेम्बेटा ने मांग की कि नया मंत्रिमंडल चेम्बर में बहुमत प्राप्त दल से बनाना चाहिए। राष्ट्रपति की मान्यता थी कि राष्ट्रपति को अपनी इच्छानुसार मंत्रिमंडल चुनने का अधिकार है। अतः राष्ट्रपति के अधिकार के प्रश्न पर जनता का निर्णय जानने के लिए राष्ट्रपति मेकमोहन ने चेम्बर ऑफ डेप्यूटीज को भंग कर नये निर्वाचन का आदेश दे दिया। निर्वाचन के समय राजतन्त्रवादियों को विजयी बनाने के लिए राष्ट्रपति ने शासन के समस्त साधनों का प्रयोग

किया तथा कैथोलिकों ने यह धर्म आज्ञा प्रसारित कर दी कि जनता अपना मत राजतंत्रवादियों को ही दे। फिर भी चुनावों में गणतंत्रवादियों को बहुमत प्राप्त हो गया, लेकिन राष्ट्रपति ने ऐसा मंत्रिमंडल बनाया जिसके अधिकांश सदस्य विधान मंडल के सदस्य नहीं थे। गणतंत्रवादियों ने इसका विरोध किया और कहा कि यदि चेम्बर में बहुमत प्राप्त दल से मंत्रिमण्डल नहीं बनाया जायेगा तो वे वार्षिक बजट पास नहीं होने देंगे। अतः राष्ट्रपति को झुकना पड़ा और दिसम्बर 1877 में उसने गणतन्त्रवादी दुफारे को मंत्रिमण्डल बनाने के लिए आमंत्रित किया। राष्ट्रपति मेकमोहन की पराजय संसदीय लोकतंत्र एवं धर्म निरपेक्षता की विजय थी। तत्पश्चात राष्ट्रपति मेकमोहन ने गणतन्त्रवादियों की नीति के विरोध में 30 जनवरी 1879 को अपना त्याग पत्र दे दिया। अतः नेशनल असेम्बली ने जूल्स ग्रेवी को, जो पक्का गणतंत्रवादी था, राष्ट्रपति निर्वाचित किया।

फेरी के सुधार—जूल्स ग्रेवी के काल (1879-1887) में जूल्स फेरी ने शिक्षा मंत्री के रूप में बहुत महत्वपूर्ण सुधार किये। उस समय गणतन्त्रवादी दल में शिक्षा प्रणाली में सुधार करने की मांग प्रबल हो रही थी। किन्तु शिक्षा के क्षेत्र में चर्च के प्रभाव को समाप्त किये बिना शिक्षा प्रणाली में सुधार सम्भव नहीं था। राजनैतिक दृष्टि से भी गणतन्त्रवादी चर्च के प्रभाव को समाप्त करना चाहते थे, क्योंकि कैथोलिक पादरी राजतन्त्र के समर्थक थे। अतः जूल्स फेरी ने 1882 ई. में एक कानून पारित कर शिक्षा को निःशुल्क और अनिवार्य कर दिया तथा उस पर पादरियों का नियन्त्रण पूर्णतः समाप्त कर दिया। उसने शासकीय शालाओं में धार्मिक शिक्षा बन्द कर दी। उसने शिक्षिकाओं के प्रशिक्षण की व्यवस्था की तथा इसके लिए नार्मल स्कूल स्थापित किये। देश भर में सरकारी स्कूलों का जाल फैला दिया गया। इन स्कूलों में वे ही पादरी शिक्षा दे सकते थे जिन्हें सरकारी मान्यता प्राप्त होती थी। उच्च शिक्षा के क्षेत्र में भी चर्च के प्रभाव को समाप्त करने का प्रयत्न किया गया। जूल्स फेरी ने यह भी प्रस्ताव रखा कि चर्च के ऐसे संघ (Congragations), जिन्हें राज्य द्वारा मान्यता प्राप्त नहीं है, किसी भी शिक्षण संस्था के संचालन अथवा प्रशिक्षण के कार्य में भाग नहीं ले सकते। कुछ स्थानों पर इस नियम का तीव्र विरोध हुआ। बहुत से कैथोलिक पादरियों ने सरकारी स्कूलों को परमात्मा हीन और नास्तिक कह कर निन्दा की और कुछ स्थानों पर दंगे भी हुए। इस पर सरकार ने 'सोसाइटी आफ जीसुस' को भंग करने की आज्ञा देकर उसे देश से बाहर निकल जाने की आज्ञा दे दी। साधुओं और साध्वियों के विरुद्ध सारे कानूनों को पुनः लागू कर दिया गया। यह भी आदेश दिया गया कि लोगों के विवाह सरकारी पादरियों द्वारा कराये जाने पर ही मान्य होंगे। अन्य कानूनों द्वारा दीवानी अदालतों को तलाक और विवाह-विच्छेद करने की आज्ञा देने का अधिकार दे दिया गया। यद्यपि कैथोलिक पादरियों ने इसका तीव्र विरोध किया, किन्तु सरकार ने अपनी नीति को दृढ़तापूर्वक कार्यान्वित किया।

बूलान्जे के उदय से जो गणतन्त्र पर संकट आया था, जिसका उल्लेख 12वें अध्याय में किया जा चुका है, उसमें भी गणतन्त्रवादी विजयी रहे तथा राजतन्त्रवादी और उनके समर्थक कैथोलिक पादरियों को पराजय का मुंह देखना पड़ा। इसी प्रकार ड्रेफस काण्ड में ड्रेफस के निर्दोष सिद्ध होने पर पादरीवाद को भारी धक्का पहुंचा और जनता में यह धारणा दृढ़ होने लगी कि पादरियों को राजनीति से पृथक रहना चाहिए।

चर्च और राज्य का सम्बन्ध विच्छेद—फ्रांस में तृतीय गणतन्त्र के इतिहास में वाल्डेक रूसो के मन्त्रिमण्डल (1899–1902) का महत्वपूर्ण स्थान है। प्रधान-मन्त्री वाल्डेक रूसो, प्रसिद्ध गणतन्त्रवादी नेता गेम्बेता का शिष्य था। गेम्बेता ने कहा था पादरीवाद ही राज्य का शत्रु है। वाल्डेक रूसो ने भी अनुभव किया था कि ड्रेफस के मामले में चर्च के पादरियों ने शासन के विरुद्ध विद्रोह को प्रोत्साहन दिया था, अतः उनकी शक्ति पर प्रतिबन्ध लगाना आवश्यक है। अक्टूबर 1900 ई. में वाल्डेक रूसो ने टूलसे में एक भाषण दिया, जिससे एक महत्वपूर्ण नीति का आभास होने लगा। उसने कहा था, "फ्रांस के समक्ष वास्तविक खतरा साधु और साध्वियों की बढ़ती हुई शक्ति से है। इस देश की आध्यात्मिक एकता शताब्दियों से इनकी शक्ति और महानता की परिचायक रही है। आज युवक और युवतियों के दो वर्ग एक दूसरे को बिना जाने पनप रहे हैं और वे इस खतरे से अनभिज्ञ हैं, जिसे वे, जब तक उसके पास पहुंच नहीं जाते, पहिचान भी नहीं पाते।" उसके कहने का अभिप्राय यह था कि फ्रांस का युवा वर्ग दो भागों में बंट गया है। जिसका जीवन के प्रति दृष्टिकोण, मानसिक विचारधाराएं और जिनकी राजनीति और सदाचार के विषय में विपरीत धारणाएं हैं और इस प्रकार देश की नैतिक एकता नष्ट हो गयी है। इसका एक कारण धार्मिक सम्प्रदायों और संगठनों की आश्चर्यजनक और खतरनाक वृद्धि तथा उनका दुष्परिणाम भी था। ये सम्प्रदाय राज्य के प्रतिद्वन्द्वी थे। यद्यपि शिक्षा पर चर्च का नियन्त्रण समाप्त कर दिया गया था, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं था कि चर्च द्वारा संचालित विद्यालय बन्द हो गये थे। अभिभावक अपने बच्चों को अब भी चर्च नियोजित स्कूल में भेज सकते थे, किन्तु उन्हें चर्च के धन से ही उन स्कूलों को चलाना पड़ता था। फिर भी चर्च नियोजित स्कूलों की संख्या पहले से भी अधिक बढ़ गई। कैथोलिक पादरी अपनी पाठशालाओं एवं धार्मिक उपदेशों में गणतन्त्र के आधारभूत सिद्धांतों की आलोचना करते थे और जनता को गणतंत्र विरोधी बनाते थे। गणतन्त्र का विरोध करने के लिए उनके पास अपार सम्पत्ति थी और धार्मिक प्रभाव भी था। 1900 ई. में चर्च के भिक्षु और भिक्षुणियों की 3,216 संस्थाएं कार्यरत थीं, जिनके सदस्यों की संख्या लगभग दो लाख थी। पादरी वर्ग की शासन विरोधी गतिविधियों से गणतन्त्र की रक्षा करना आवश्यक था। यह समस्या केवल राजनीतिक ही नहीं थी बल्कि आर्थिक भी थी, क्योंकि चर्च की अतुल सम्पत्ति का राष्ट्र के आर्थिक विकास में कोई उपयोग नहीं हो रहा था।

वाल्डेक रूसो ने चर्च की शक्ति और अधिकारों पर कानूनी प्रतिबन्ध लगाने का निश्चय किया । 1900 ई. में उसने एसम्पशनिस्ट संघ (Order of Assumptionists) के विरुद्ध कानूनी कार्यवाही की । एसम्पशनिस्ट संघ एक प्रभावशाली कैथोलिक संगठन था तथा उसके आर्थिक साधन भी पर्याप्त थे । उसकी ओर से एक समाचार पत्र भी प्रकाशित होता था, जिसका सम्पूर्ण फ्रांस में काफी प्रभाव था । उन्होंने संसद के चुनाव में कट्टर गणतन्त्र विरोधी उम्मीदवारों को भी आर्थिक सहायता दी थी । इसी कारण वाल्डेक रूसो ने उसे अवैध घोषित कर उसे भंग करने की आज्ञा दे दी । तत्पश्चात् वाल्डेक रूसो ने चर्च के संघों के अधिकारों को सीमित करने के उद्देश्य से संसद में एक बिल प्रस्तुत किया । अनेक संशोधनों के बाद यह बिल 1 जुलाई 1901 को 'लॉ ऑफ एसोसिएशन' के नाम से पारित हो गया । इस कानून के अन्तर्गत कैथोलिकों को धार्मिक संघ बनाने की स्वतन्त्रता दी गई, लेकिन प्रत्येक संघ को संसद से मान्यता प्राप्त करना अनिवार्य था । कोई भी धार्मिक संघ मान्यता प्राप्त किये बिना कार्य नहीं कर सकता था । इस कानून में यह भी प्रावधान किया गया कि जिन संस्थाओं को संसद की मान्यता प्राप्त नहीं होगी, उनका कोई भी सदस्य फ्रांस में शिक्षण का कार्य कहीं कर सकेगा । यद्यपि इस कानून का कड़ा विरोध हुआ, लेकिन सरकार ने इसे बड़ी कठोरता से लागू कर दिया । अनेक धार्मिक संघों को मान्यता नहीं दी गई तथा जिन्हें मान्यता नहीं दी गई, वे सभी भंग कर दिये गये और उनकी सम्पत्ति छीन ली गई । इसका परिणाम यह हुआ कि हजारों साधुओं एवं साध्वियों को अपने संघ छोड़ने के लिये विवश होना पड़ा तथा उन्होंने फ्रांस से भागकर बेल्जियम, स्पेन, ब्रिटेन और अमेरीका में शरण प्राप्त की । इसके अलावा चर्च विद्यालयों में से भी अनेक योग्य शिक्षकों को फ्रांस छोड़कर दूसरे देशों में चला जाना पड़ा । इसके बाद 1902 ई. में हुए संसदीय चुनावों में पादरियों ने संगठित होकर बहुमत प्राप्त करने का प्रयत्न किया, किन्तु वे सफल नहीं हुए । चुनाव के पश्चात कैथोलिक विरोधी भावना अधिक प्रबल हो गयी । वाल्डेक रूसो ने अपने बिगड़ते हुए स्वास्थ्य के कारण त्याग पत्र दे दिया । उसके स्थान पर कट्टर पादरी विरोधी एमिल कोम्स को प्रधान मन्त्री बनाया गया । उसने पादरी प्रथा विरोधी नीति को अपने शासन का प्रमुख अंग बनाया तथा 1901 ई. के धार्मिक संघों के कानून को कठोरता पूर्वक लागू किया । 1904 ई. में एक अन्य कानून पारित कर चर्च के सभी मान्यता प्राप्त संघों को दस वर्ष के अन्दर शिक्षण कार्य बन्द करने के आदेश दिये गये । पोप ने फ्रांस की सरकार की इस नीति का प्रबल विरोध किया, किन्तु कोम्स पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा ।

पोप के साथ संघर्ष—फ्रांस की सरकार की यह दृढ़ मान्यता थी कि राज्य को धर्म निरपेक्ष रहना चाहिये । प्रधान मन्त्री कोम्स की धार्मिक नीति के फलस्वरूप फ्रांस की सरकार और पोप के सम्बन्ध बिगड़ने लगे । 1903 ई. में पायस दशम

नया पोप बना जिसने फ्रांस की सरकार की तत्कालीन नीति का तीव्र विरोध किया। फलस्वरूप दोनों के बीच संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो गयी। अब तक पोप और राज्य के पारस्परिक सम्बन्ध 1901 ई. में पोप के साथ हुए समझौते (Concordat) पर आधारित थे। इस समझौते के अनुसार चर्च के समस्त उच्च पदाधिकारियों की नियुक्ति पोप की सहमति से राज्य द्वारा होती थी। चर्च के समस्त पदाधिकारियों को वेतन देने का दायित्व राज्य का था। पादरियों को राज्य के प्रति वफादारी की शपथ लेनी पड़ती थी। चर्च की समस्त इमारतें राज्य की सम्पत्ति समझी जाती थी, किन्तु चर्च को उनके प्रयोग करने का अधिकार था। प्रधान मन्त्री कोम्स ने पोप की पूर्वानुमति के बिना बिशपों को नियुक्त करने का दावा किया। लेकिन पोप ने फ्रांस की सरकार को सूचित किया कि यदि उसकी पूर्वानुमति के बिना बिशपों को नियुक्त किया गया तो वह उन्हें धार्मिक मान्यता नहीं देगा। इस प्रकार पोप और राज्य के बीच और अधिक तनाव उत्पन्न हो गया।

वस्तुत: गणतन्त्रवादी, राज्य को पूर्णत: लौकिक राज्य बनाना चाहते थे। बहुत से लोग भी 1901 ई. के समझौते को समाप्त कर देने पर जोर दे रहे थे। इन लोगों का कहना था कि धर्म एक व्यक्तिगत मामला है, अत: धर्म का राज्य से कोई सम्बन्ध नहीं होना चाहिये। राज्य को, एक ऐसे चर्च की सहायता के लिये, जिसके प्रति बहुत से लोगों की आस्था नहीं है, कर लगाने का कोई अधिकार नहीं है। राज्य को चर्च और सम्प्रदायों के बीच निष्पक्ष होना चाहिये। इस प्रकार 1901 ई. के समझौते का विरोध बढ़ने लगा तथा धर्म निरपेक्ष राज्य की मांग होने लगी। ऐसी परिस्थितियों में अप्रेल 1904 ई. में फ्रांस का राष्ट्रपति लोवे इटली के शासक से मिलने हेतु रोम की यात्रा की। यह तो सर्वविदित था कि इस भेंट से पोप क्रुद्ध होगा, क्योंकि 1870 ई. में इटली ने पोप के राज्य रोम पर अधिकार कर लिया था, इसलिये पोप ने इटली के शासक को अभी तक मान्यता नहीं दी थी। लोवे एक कैथोलिक राज्य का पहला अध्यक्ष था, जो रोम की यात्रा पर जा रहा था। अत: पोप ने कुछ राज्यों को, जिनसे उसके राजनैतिक सम्बन्ध थे, गुप्त पत्र लिखे जिसमें लोवे की यात्रा का विरोध किया गया और कहा कि, "सर्वाधिकार सम्पन्न पोप का अपमान किया जा रहा है।" जब फ्रांस में पोप के विरोध का पता चला तो वहां पोप के विरुद्ध उत्तेजना फैल गई। इसके कुछ ही समय बाद पोप ने फ्रांस के दो बिशपों को, जिनके विषय में गणतन्त्र के प्रति सहानुभूति रखने का सन्देह था, रोम (वेटिकन) बुलाकर उन पर अनुचित आचरण का आरोप लगाकर उन्हें डांटा। फलस्वरूप फ्रांस व पोप के बीच तनातनी चरम सीमा पर पहुंच गई। फ्रांस की सरकार ने पोप से राजनयिक सम्बन्ध तोड़ दिये।

चर्च और राज्य का पृथक्करण—पोप और फ्रांस के बीच राजनयिक सम्बन्ध समाप्त हो जाने के बाद राज्य और चर्च का पृथक्करण अवश्यंभावी हो गया। इस

समय संसद की एक समिति, जो पिछले कुछ समय से चर्च और राज्य के पारस्परिक सम्बन्धों पर विचार कर रही थी, ने सरकार को सिफारिश की कि चर्च को राज्य से अलग कर दिया जाय। तदनुसार प्रधानमन्त्री कोम्स ने 1904 ई. के अन्त में इस सम्बन्ध में एक बिल प्रस्तुत किया, लेकिन 1905 ई. के प्रारम्भ में, कुछ अन्य कारणों से कोम्स मन्त्रिमण्डल का पतन हो गया। अतः नये मन्त्रिमण्डल ने इस बिल को पारित करने का कार्य एक नये सदस्य ब्रियां को सौंपा। ब्रियां एक वकील एवं पत्रकार था। उसने अपनी वाक्पटुता से संसद को प्रभावित किया तथा अपने राजनैतिक चातुर्य से 1905 के अन्त में वह बिल पारित करवा दिया जो 'पार्थक्य कानून' (Law of Separation) के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस कानून के द्वारा 1801 के समझौते (Concordat) को समाप्त कर दिया। राज्य में धार्मिक स्वतन्त्रता के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया गया तथा किसी धर्म विशेष को राज्य द्वारा मान्यता प्रदान करना अथवा आर्थिक अनुदान देना बन्द कर दिया। राज्य द्वारा पादरियों को वेतन देना बन्द कर दिया और उनकी नियुक्ति से भी सरकार का कोई सम्बन्ध नहीं रहा। जिन पादरियों ने पर्याप्त सेवा की थी उन्हें चार वर्ष तक प्रतिवर्ष घटती हुई राशि के आधार पर वेतन तथा पुराने पादरियों को पेन्शन देने का प्रावधान किया गया। युवा पादरियों को कुछ हर्जाना दे दिया गया। 1789 ई. में चर्च की सम्पत्ति को राष्ट्रीय घोषित कर दिया गया था, किन्तु इस नये कानून के अन्तर्गत चर्च की सभी संस्थाओं तथा उनका सम्पत्ति एवं आर्थिक साधनों पर चर्च का अधिकार मान लिया गया, किन्तु उन पर नियंत्रण रखने के लिये प्रत्येक क्षेत्र में 'प्रार्थना सभाओं' (Association of Worship) का गठन करने का आदेश दिया गया। ये सभाएं प्रत्येक क्षेत्र में जनसंख्या के आधार पर बनाई जानी थी। इन सभाओं को दान, भेंट आदि से प्राप्त होने वाली सम्पत्ति का एक निश्चित अंश से अधिक रखने का अधिकार नहीं था।

पोप ने इस कानून का प्रबल विरोध किया तथा उसने प्रार्थना सभाओं को मान्यता नहीं दी। उसने फ्रांस के पादरियों को आदेश दिया कि वे न तो पार्थक्य कानून को स्वीकार करें और न प्रार्थना सभाओं का निर्माण करें। पोप के इस आदेश के कारण फ्रांस में अनेक स्थानों पर जहां कैथोलिकों का प्राधान्य था, सरकार की नीति का प्रबल विरोध हुआ और कुछ स्थानों पर संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो गयी, किन्तु सरकार ने शान्ति भंग नहीं होने दी। 1906 ई. के संसदीय चुनाव में पादरी प्रथा के विरोधियों को पुनः बहुमत प्राप्त हो गया। इन चुनावों से यह स्पष्ट हो गया कि फ्रांस का जनमत इस पार्थक्य कानून को स्वीकार करता है। चुनावों के बाद क्लीमेन्शू के नेतृत्व में नया मन्त्रिमण्डल बना जिसमें ब्रियां को शिक्षा और धार्मिक मामलों का मन्त्री बनाया गया। उस समय पोप के प्रबल विरोध के कारण फ्रांस के अनेक क्षेत्रों में प्रार्थना सभाओं का गठन नहीं हो पाया था। अतः

सरकार के समक्ष यह समस्या उत्पन्न हुई कि चर्च की सम्पत्ति किसे हस्तांतरित की जाय। ब्रियां ने चर्च की सम्पत्ति पर राज्य का अधिकार घोषित कर कुछ स्थानीय संस्थाओं को उसके प्रबन्ध करने का अधिकार दे दिया। चर्च, गिरजाघरों व उनकी इमारतों को स्थानीय नगरपालिकाओं के अधीन कर दिया गया, लेकिन पादरियों को इनके उपयोग करने का अधिकार दे दिया गया। इतिहासकार फिलिप्स ने लिखा है कि अब, "कैथोलिक चर्च का कोई कानून सम्मत अस्तित्व नहीं रहा, वह किसी प्रकार की सम्पत्ति नहीं रख सकता था; वस्तुतः वह विधि-वहिष्कृत हो गया।" इसके फलस्वरूप पादरियों की आर्थिक स्थिति विषम हो गयी और वे केवल जनता के दान पर आश्रित रह गये। कई क्षेत्रों के पादरियों को तो कठिन निर्धनता का जीवन व्यतीत करने के लिये विवश होना पड़ा। कई ग्रामीण क्षेत्रों में तो गिरजाघरों के लिये पादरी मिलना कठिन हो गया। परिवर्तित परिस्थितियों में केवल ऐसे लोग ही पादरी बनते थे, जिनकी धर्म के प्रति सच्ची निष्ठा थी और जो वास्तव में धार्मिक कार्य के लिये उत्सुक थे एवं उसके लिये निर्धनता का जीवन सहर्ष व्यतीत करने को तैयार थे।

फ्रांस के इतिहास में चर्च और राज्य का पृथक्करण एक महत्वपूर्ण घटना थी। इसका सबसे महत्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि फ्रांसीसी राज्य पूर्ण रूप से धर्म निरपेक्ष हो गया। कैथोलिक पादरियों को धार्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो गयी और वे धार्मिक कार्यों को अधिक निष्ठा से करने लगे। पादरियों को अब राजनीति में कोई विशेष दिलचस्पी नहीं रही और उन्होंने अपना ध्यान समाज के नैतिक उत्थान की ओर लगाया। इसका यह भी परिणाम हुआ कि राजतन्त्रवादियों की शक्ति और प्रभाव में पहले की अपेक्षा और अधिक कमी आ गयी, क्योंकि कैथोलिक पादरी उनके प्रबल समर्थक थे। राज्य के धर्म निरपेक्ष हो जाने के फलस्वरूप गणतन्त्रवादियों की शक्ति और प्रभाव में काफी वृद्धि हो गयी। पोप ने फ्रांस की धर्म निरपेक्षता की घोर निन्दा की। कुछ विद्वानों एवं इतिहासकारों ने भी इसकी आलोचना की है। प्रोफेसर रेकोली ने लिखा है कि राज्य और चर्च के बीच समझौता (Concordat) बुद्धिमानी और राजनैतिक दृष्टि से एक आदर्श उदाहरण था, अतः उसे पूर्णतः समाप्त कर देना समस्या का युक्ति संगत हल नहीं था। प्रो. रेकोली ने लिखा है कि पोप को समझा बुझाकर 1801 ई. के समझौते में ही मामूली संशोधन कर दिया जाता तो समस्या का समाधान हो सकता था। किन्तु कुछ अन्य लेखकों ने पार्थक्य कानून को देश के लिये हितकारी बताया है। प्रोफेसर बरी ने लिखा है कि 1905 का पृथक्करण दोनों पक्षों के लिये लाभदायक सिद्ध हुआ। इससे गणतन्त्रीय सरकार को चर्च के झगड़ों को निपटाने में व्यर्थ समय नष्ट न करना पड़ा और चर्च को भी राज्य के निरन्तर हस्तक्षेप से मुक्ति मिल गयी। प्रोफेसर कब्बन ने लिखा है कि यद्यपि पृथक्करण से अल्पकाल के लिये राज्य और चर्च के बीच तनाव उत्पन्न हो गया था,

किन्तु अन्त में यह तनातनी समाप्त हो गयी। कैथोलिकों ने नवीन व्यवस्था को स्वीकार कर लिया तथा गणतन्त्रवादियों में भी शनैः शनैः पादरी विरोधी उग्र भावना समाप्त हो गयी। 1907 ई. में एक नया कानून पारित किया गया, जिसके अनुसार 1905 ई. में रोमन कैथोलिक चर्च को दी गई सुविधाओं को समाप्त कर गिरजाघरों को सार्वजनिक धार्मिक संस्था का रूप प्रदान किया। चर्चों में होने वाली सार्वजनिक प्रार्थनाओं के मामलों को नगरपालिका के मेयर और पुजारियों के पारस्परिक समझौते पर छोड़ दिया। इस प्रकार आगे चलकर पादरियों और शासकीय अधिकारियों के बीच सम्बन्ध सामान्य हो गये। प्रोफेसर सेनोवास के मतानुसार, "चर्च को शासन से अलग कर देने पर फ्रांस ने यूरोप की पोप से समझौते (Concordat) करने की वह परिपाटी तोड़ दी जिसके अनुसार शासन औपचारिक रूप से धर्म को मान्यता देता था। उसने अमेरिका की प्रणाली का अनुसरण किया जिसके अनुसार चर्च की व्यवस्था जनता अपनी इच्छा से करती थी। फ्रांस के धार्मिक क्षेत्र में यह एक अभूतपूर्व क्रांति थी।" इसका अर्थ यह नहीं कि फ्रांस में अब कोई विरोधी दल नहीं रहा। राजतन्त्रवादियों के स्थान पर अन्य राजनैतिक दल प्रभावशाली हुए जैसे रेडीकल और समाजवादियों का गुट, जो रिपब्लिकन ब्लाक कहलाता था। 1906 ई. के बाद क्लीमेन्शू मन्त्रिमण्डल के समय, समाजवाद के प्रभाव के कारण श्रमिक वर्ग अधिक सक्रिय हो उठा और अनेक स्थानों पर मजदूरों की हड़तालें हुई।

जर्मनी की धर्म निरपेक्षता

भूमिका—जर्मनी के चांसलर बिस्मार्क को अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर तो अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई थी, लेकिन जर्मनी के गृह रंगमंच पर उसे अपेक्षित सफलता नहीं मिली। बिस्मार्क को अपने गृह रंगमंच पर सर्वप्रथम कैथोलिकों के साथ संघर्ष करना पड़ा। इस संघर्ष को 'कुल्तुर्कॅम्फ' या 'सांस्कृतिक संघर्ष' या 'सभ्यता के लिये संघर्ष' कहा जाता है। वीरकाओ (Virchow) नामक एक उग्रवादी नेता ने 'कुल्तुर्कॅम्फ' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग किया था।

बिस्मार्क के कार्यकाल में रायचस्टैग में मुख्य रूप से चार राजनैतिक दल थे—(1) नेशनल लिबरल पार्टी। इसमें उद्योगपति एवं बुद्धिजीवी थे तथा यह एक अत्यन्त शक्तिशाली राजनैतिक दल था। (2) दूसरा कंजरवेटिव दल था जो राजतन्त्र की दैवी शक्ति में विश्वास करता था और राजतन्त्र का कट्टर समर्थक था। (3) तीसरा कैथोलिक दल था, जो आगे चलकर केन्द्रीय पार्टी के नाम से संगठित हुआ था। इसके सदस्य कैथोलिक थे और ये पोप को अपना नेता तथा धर्मगुरु मानते थे। (4) चौथा समाजवादियों का दल था, जो श्रमिक वर्ग को राज्य में समस्त राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक अधिकार दिलवाना चाहता था। इन चारों दलों के अतिरिक्त और भी कई दल थे जिनके सदस्यों की संख्या रायचस्टैग में बहुत कम थी। बिस्मार्क की नीतियों की सबसे बड़ी समर्थक नेशनल लिबरल पार्टी थी, लेकिन सभी राजनैतिक

दलों में कैथोलिक दल या केन्द्रीय पार्टी के प्रति लोगों का अविश्वास था। इसका कारण यह था कि सभी राजनैतिक दलों के सदस्यों का विश्वास था कि कैथोलिक दल को जर्मनी के प्रति कोई विशेष प्रेम नहीं है और यह दल विदेशी शक्ति (पोप) को अपना नेता और गुरु मानता है। बिस्मार्क को रोमन कैथोलिकों से चिढ़ थी और उसका विचार था कि पादरियों को राजनीति से अलग रहना चाहिये।

संघर्ष के कारण—बिस्मार्क और रोमन कैथोलिक चर्च के बीच संघर्ष के अनेक कारण थे। बिस्मार्क की उनसे पुरानी शत्रुता थी, क्योंकि रोमन कैथोलिक आस्ट्रिया के नेतृत्व में 'वृहत् जर्मनी' के समर्थक थे। 1866 ई. में आस्ट्रो-प्रशा युद्ध के समय पोप ने खुले रूप से प्रशा के विरुद्ध आस्ट्रिया की विजय के लिये प्रार्थनाएं की थी। आस्ट्रिया की पराजय से रोमन कैथोलिकों को बड़ा दुःख हुआ था, क्योंकि वह प्रोटेस्टेन्ट प्रशा की, कैथोलिक आस्ट्रिया पर विजय थी। जर्मनी की जनता पर पोप का काफी प्रभाव था और वह जर्मन साम्राज्य का अब भी विरोध कर रहा था, अतः जर्मनी का कैथोलिक दल राष्ट्र का विरोधी बना रहा। इस दल की भक्ति केवल पोप के प्रति थी इसलिये वह पोप की ऐहिक शक्ति को पुनःस्थापित कर राज्य में धर्म को सर्वोपरि बनाना चाहता था। यह दल इटली और जर्मनी के बीच राजनैतिक सम्बन्धों में भी कठिनाइयां पैदा कर रहा था। बिस्मार्क जो राष्ट्रीय एकता के कार्य में जुटा हुआ था, इस प्रकार के राष्ट्र विरोधी दल या संस्था को किसी भी स्थिति में सहन नहीं कर सकता था। बिस्मार्क को इस बात का भी भय था कि कैथोलिकों को साम्राज्य के अन्य विरोधियों जैसे पोल तथा ग्वेल्फ दल (1866 ई. में हेनोवर के राज्य को जर्मन साम्राज्य में मिला लिया गया था, इसलिये वहां के कुछ लोगों ने साम्राज्य के विरुद्ध ग्वेल्फ दल संगठित कर लिया था) का भी सहयोग मिल गया तो सभी विरोधी संगठित हो जायेंगे जो बिस्मार्क के लिये कठिनाइयां उत्पन्न कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त इस काल में यूरोप के अन्य राज्यों में भी राज्य और चर्च के कार्य क्षेत्र को अलग करने की नीति अपनाई जा रही थी। इसलिये बिस्मार्क भी चाहता था कि चर्च और राज्य के कार्यक्षेत्र अलग होने चाहियें, ताकि चर्च को धार्मिक क्षेत्र में स्वतन्त्रता प्राप्त हो सके, किन्तु वह राज्य के मामलों में हस्तक्षेप न कर सके। जर्मनी के उदारवादी नेता भी चर्च के अधिकारों को, विशेष रूप से शिक्षा सम्बन्धी अधिकारों को कम करना चाहते थे। किन्तु रोमन कैथोलिक लोग न तो राज्य की सत्ता को सर्वोपरि मानने को तैयार थे और न अपने अधिकारों को छोड़ने को तैयार थे।

बिस्मार्क और चर्च के बीच संघर्ष का तात्कालिक कारण स्वयं कैथोलिकों के बीच सैद्धान्तिक मतभेद था। पोप अपनी धार्मिक सत्ता को सुदृढ़ बनाने में लगा हुआ था। 1864 ई. में पोप पायस नवम् ने एक विज्ञप्ति द्वारा 'आधुनिक काल की प्रमुख भूलों का विवरण' अथवा सेलेबस एरोरम (Syllabus Errorum) प्रसारित

किया। इसमें उन सभी मतों एवं विचारधाराओं का उल्लेख किया गया था, जो पोप की दृष्टि में अनुचित और धर्म विरुद्ध थी। पोप द्वारा प्रसारित यह विज्ञप्ति उदारवादी विचारों के विरुद्ध एक चुनौती थी। 1870 ई. में पोप की राजनीतिक सत्ता समाप्त हो गयी तथा प्रोटेस्टेन्ट प्रशा ने कैथोलिक फ्रांस को परास्त कर दिया। ऐसी स्थिति में वेटीकन कौंसिल ने जुलाई 1870 में पोप की अमोघता या पोप की त्रुटिहीनता के सिद्धान्त (Infalliblity) की घोषणा की। इस घोषणा में कहा गया था कि 'यह घोषणा दैवी इच्छा से की जा रही है कि उसके चर्च को धर्म और सदाचार की रक्षा का अधिकार सौंपा जाय, इसलिए पोप द्वारा दी गई आज्ञाएं त्रुटिहीन तथा चर्च की परिभाषाओं से पूर्णत: स्वतन्त्र है।" इस सिद्धान्त के अनुसार पोप सर्वोच्च व्यक्ति है और उसके वचन त्रुटिहीन हैं, इसलिए प्रत्येक धर्मावलम्बी को उसकी प्रत्येक आज्ञा का अक्षरश: पालन करना चाहिये। इसका अर्थ यह भी था कि रोमन कैथोलिक लोग, शासन की अपेक्षा पोप की आज्ञा मानने के लिये अधिक बाध्य हैं, क्योंकि घोषणा में यह भी कहा गया था कि जो इस आदेश का पालन नहीं करेगा उसे धर्म से बहिष्कृत कर दिया जायेगा। इस घोषणा से जर्मनी में बड़ी उत्तेजना फैल गई।

इस प्रकार की घोषणा को कोई भी राजसत्ता सहन नहीं कर सकती थी। विस्मार्क ने कहा कि, "राष्ट्र को केवल पोप की त्रुटिहीनता से भारी खतरा है। वह जो चाहता है धृष्टता से प्राप्त कर लेता है अर्थात वह हमारे कानूनों को अवैध बता देता है, कर लगा देता है। संक्षिप्त रूप से प्रशिया में कोई भी इतना बलवान नहीं है जितना कि यह विदेशी है।" जर्मनी के कुछ कैथोलिकों ने जिनका नेता प्रसिद्ध धर्मशास्त्री डॉ. कालिजर था, पोप की त्रुटिहीनता या अमोघता के सिद्धान्त का विरोध किया। किन्तु डॉ. कालिजर के अनुयायी बहुत कम थे, जबकि अधिकांश विशपों ने पोप की अमोघता के सिद्धान्त का समर्थन किया। परिणामस्वरूप कैथोलिकों में पारस्परिक संघर्ष आरम्भ हो गया। पोप की आज्ञा के समर्थकों ने विरोध करने वालों को धर्म से वहिष्कृत किया जाने लगा। जब कोलोन के आर्च विशप ने बॉन विश्वविद्यालय के चार प्राध्यापकों को वेटीकन कौंसिल की आज्ञा न मानने के कारण वहिष्कृत कर दिया तो राज्य को उनके अधिकारों की रक्षा के लिये हस्तक्षेप करना अनिवार्य हो गया। इस प्रकार राज्य और चर्च का संघर्ष प्रारम्भ हो गया।

चर्च और राज्य में संघर्ष—सन् 1872 ई. में बिस्मार्क ने चर्च के साथ संघर्ष का श्रीगणेश किया। विस्मार्क के समक्ष यह एक राजनैतिक समस्या के रूप में आया, क्योंकि 1871 ई. में जर्मनी के कैथोलिकों ने 'केन्द्रीय दल' के नाम से एक राजनैतिक दल का गठन कर रायचस्टैग में 63 स्थान प्राप्त कर लिये थे। इस दल को लुड़विग विन्डथार्स्ट जैसा योग्य एवं अनुभवी नेता भी मिल गया था, जो बिस्मार्क का सामना करने की सामर्थ्य रखता था। अत: बिस्मार्क ने चर्च और राज्य के संघर्ष

को राजनैतिक रूप देने का प्रयत्न किया। उसने कहा, "यह संघर्ष प्रोटेस्टेन्ट राज परिवार और कैथोलिक चर्च के बीच नहीं है और न यह धर्म और अधर्म के बीच है, वरन् यह तो उसी संघर्ष की पुनरावृत्ति है जो ईसा मसीह के जन्म से पहले से चला आ रहा है। यह वही संघर्ष है जिसे अगामिमनोन ने अपने राजगुरु के विरुद्ध किया था और जिसमें उसे अपनी पुत्री को खोना पड़ा था। यह वही संघर्ष है, जो मध्य काल में पोप और राजाओं के बीच भी होता रहा।" बिस्मार्क को जनता का समर्थन प्राप्त था। पुराने कैथोलिकों ने डा. कालिजर के नेतृत्व में बिस्मार्क का समर्थन किया। देश के उदार दलों ने तथा नास्तिक वैज्ञानिकों ने भी बिस्मार्क का समर्थन किया।

सर्व प्रथम केन्द्रीय संसद ने कैथोलिक पादरियों के शिक्षा सम्बन्धी अधिकार समाप्त कर दिये। तत्पश्चात 1872 ई. में रायचस्टैग में एक कानून पास करके जेसुइटों को जर्मनी से निष्कासित कर दिया, पादरियों द्वारा अपने धर्म मंच से राज्य की समस्याओं पर भाषण देना दण्डनीय अपराध घोषित किया और प्रशिया व वेटीकन के बीच कूटनीतिक सम्बन्ध समाप्त करा दिये। बिस्मार्क ने रायचस्टैग में कैथोलिक दल को 'साम्राज्य का शत्रु' घोषित किया। अब बिस्मार्क ने प्रशा में कैथोलिकों के विरुद्ध और अधिक कठोरता की नीति अपनाने का निश्चय किया, ताकि उनके अधिकारों को, विशेषकर शिक्षा सम्बन्धी अधिकारों को कम किया जा सके। इसी उद्देश्य से उसने आडालबर्ट फाक को प्रशा का शिक्षा मन्त्री नियुक्त किया। शिक्षा मन्त्री फाक ने 1873 ई. से 1875 ई. के बीच कैथोलिकों के विरुद्ध अनेक कानून बनाये। ये सभी कानून प्रशा के विधान मण्डल ने मई के महिने में पारित किये थे, इसलिये इन्हें 'मई कानून' कहा जाता है। इन्हें प्रशा के शिक्षा मन्त्री के नाम से 'फाक कानून' भी कहा जाता है। इन कानूनों के द्वारा सरकार के अधिकारों में विशेष रूप से वृद्धि हुई। इन कानूनों के अन्तर्गत प्रशा के समस्त कैथोलिक चर्च के अधिकारियों को, चाहे वह बिशप हो या साधारण पुजारी, जर्मन नागरिक होना तथा सार्वजनिक विद्यालय एवं विश्वविद्यालयों का स्नातक होना अनिवार्य कर दिया गया। साथ ही, यह भी नियम बना दिया गया कि सभी पादरी सरकार द्वारा निर्धारित पाठ्यक्रम के अनुसार परीक्षा पास करें। सभी पादरियों को सरकार द्वारा प्रमाणित तथा अधिकृत होना पड़ता था। रोमन कैथोलिक चर्च के अधिकार में चलने वाली समस्त शिक्षण संस्थाओं पर सरकार का नियन्त्रण स्थापित किया गया और सरकारी कर्मचारी चर्च की सभी शिक्षण संस्थाओं का निरीक्षण करने के लिये अधिकृत किये गये। पादरियों के धर्म बहिष्कार एवं धार्मिक दण्ड देने के अधिकार समाप्त कर दिये गये और उनको सिविल मेरिज (Civil Marriage) करना अनिवार्य कर दिया गया। सभी प्रकार की धर्म शिक्षा जर्मन भाषा के अतिरिक्त किसी भी अन्य भाषा में देना बन्द कर दिया गया। राज्य को यह भी अधिकार

दिया गया कि वह इन कानूनों का उल्लंघन करने वाले पादरियों को पदच्युत कर दे।

इन कानूनों को बड़ी कठोरता से कार्यान्वित किया गया। दूसरी ओर, पोप पायस नवम् ने इन कानूनों को अमान्य घोषित कर दिया और सभी कैथोलिकों को, इन कानूनों की अवज्ञा करने का आदेश दिया। जब कैथोलिक पादरियों ने कानूनों का उल्लंघन किया तो बिस्मार्क ने उन्हें कठोर दण्ड देने की नीति अपनाई। आर्च बिशप लेडोचवास्की पर पहले जुर्माना किया गया, फिर बन्दी बनाया गया और अन्त में पदच्युत कर दिया गया। अनाधिकृत व्यक्तियों के धार्मिक उत्सव का अधिकार छीन लिया गया। राज्य में प्रत्येक विवाह का रजिस्टर रखना अनिवार्य कर दिया। जिस भी प्रदेश का बिशप विद्रोही होता उसे सरकारी आर्थिक सहायता देनी बन्द कर दी जाती। धार्मिक दण्डों के विरुद्ध अपील करने की व्यवस्था कर दी गई। हजारों कैथोलिक पादरियों को फाक के कानूनों का विरोध करने के फलस्वरूप जेलों में ठूंस दिया गया अथवा धार्मिक पदों से पदच्युत कर दिया गया। राज्य और चर्च का यह संघर्ष देशव्यापी हो गया और अनेक नगर, ग्राम, शालाएं तथा विश्वविद्यालय इस संघर्ष के केन्द्र बन गये। बिस्मार्क कैथोलिकों के प्रति इतना कठोर हो गया कि 1874 ई. में कुलमान नामक एक कैथोलिक ने बिस्मार्क की हत्या करने का प्रयत्न किया। इस घटना को बिस्मार्क ने केन्द्रीय दल का षड़यन्त्र बताया और उसने स्पष्ट रूप से घोषणा की कि, "हम शरीर अथवा आत्मा से केनोसा नहीं जायेंगे।" बिस्मार्क के इस कथन का सम्बन्ध 1077 ई. की उस घटना से है जब सम्राट हेनरी चतुर्थ और पोप ग्रेगरी सप्तम् के बीच झगड़ा हो गया था। उस समय हेनरी चतुर्थ को पोप के सामने झुकना पड़ा था और केनोसा (इटली का नगर) जाकर पोप से क्षमा याचना करनी पड़ी थी। बिस्मार्क के इस कथन का आशय यह था कि वह किसी भी स्थिति में पोप के सामने नहीं झुकेगा। बिस्मार्क ने कैथोलिक चर्च के विरुद्ध कानूनों को इतनी कठोरता से लागू किया कि एक वर्ष में छः कैथोलिक बिशपों को कैद में डाल दिया गया, लगभग 1300 कैथोलिक चर्चों में पूजा बन्द हो गयी तथा 1877 ई. तक सारे जर्मन बिशप और सैकड़ों पुजारियों को या तो कैद में डाल दिया गया या देश से निष्कासित कर दिया। कैथोलिक मतावलम्बियों को राज्य-सेवा से अलग कर दिया गया।

कैथोलिकों के साथ समझौता—इस प्रकार 1877 ई. तक कैथोलिकों का दमन होता रहा, किन्तु इससे कैथोलिकों का विरोध शान्त होने की बजाय विरोध अत्यधिक प्रबल हो गया। लुडविग विन्डथार्स्ट के योग्य नेतृत्व में केन्द्रीय दल शक्तिशाली बनता गया। 1874 ई. संसद के चुनावों में केन्द्रीय दल के सदस्यों की संख्या 63 से बढ़कर 91 हो गयी। इस सफलता से कैथोलिकों का उत्साह और अधिक बढ़ गया। केन्द्रीय दल के नेता विण्डथार्स्ट ने रायचस्टैग के अन्य राजनीतिक दलों से गठबन्धन कर बिस्मार्क का संगठित विरोध करना आरम्भ कर दिया। यहां तक कि कंजरवेटिव पार्टी भी कैथोलिकों के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करने

लगी। विस्मार्क के एक पुराने मित्र हासवान क्लीस्ट ने प्रशा के उच्च सदन में विस्मार्क की नीति का विरोध किया। 1877 ई. के संसद के चुनाव में केन्द्रीय दल के सदस्यों की संख्या और भी बढ़ गई। अतः विस्मार्क ने राष्ट्रीय उदारवादी दल का अधिक सहयोग प्राप्त करने का प्रयत्न किया। उसने राष्ट्रीय उदारवादी दल के नेता वेनिगसन को प्रशा के मन्त्रिमण्डल में सम्मिलित होने के लिये आमन्त्रित किया। लेकिन वेनिगसन का कहना था कि अन्य उदारवादियों को भी मन्त्रिमण्डल में शामिल किया जाय तथा उत्तरदायी शासन स्थापित किया जाय। विस्मार्क इसे कदापि स्वीकार नहीं कर सकता था। विस्मार्क यह भी समझ गया कि कैथोलिकों के विरुद्ध संघर्ष जारी रखने का अर्थ उदारवादियों के समक्ष अधिकाधिक झुकना है। इसके अतिरिक्त चर्च और राज्य के इस संघर्ष से उत्पन्न परिस्थितियों में समाजवादी दल ने अपना काफी प्रभाव स्थापित कर लिया था तथा रायचस्टैग में उनके सदस्यों की संख्या में वृद्धि हो गयी थी। अनुदार दल भी अब बिस्मार्क का विरोधी हो गया था तथा राज्य की आर्थिक स्थिति भी शोचनीय हो गयी। स्वयं जर्मन सम्राट विलियम प्रथम तथा राज परिवार के अन्य सदस्य बिस्मार्क की इस नीति से असंतुष्ट हो गये, क्योंकि बिस्मार्क की इस नीति के फलस्वरूप राज्य में समाजवादियों का प्रभाव बढ़ रहा था। इधर 1877 ई. में अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन आ गया। रूस ने तुर्की को परास्त कर सेनस्टीफेनो की सन्धि कर ली थी तथा बाल्कन क्षेत्र में अपनी शक्ति बढ़ा ली थी। रूस की इस बढ़ती हुई शक्ति का आस्ट्रिया और इंगलैण्ड विरोध कर रहे थे और केन्द्रीय यूरोप का शक्ति सन्तुलन बिगड़ने की आशंका थी। बिस्मार्क ने अनुभव किया कि जर्मनी को शक्तिशाली राज्य बनाने के लिए उसे पूर्वी समस्या में सक्रिय भाग लेना चाहिये।

इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति को देखते हुए तथा राज्य में समाजवादियों के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने के लिये बिस्मार्क ने कैथोलिकों से समझौता करना ही उचित समझा। फरवरी 1878 में पोप पायस नवम् की मृत्यु से उसका कार्य सरल हो गया, क्योंकि उसके स्थान पर लियो त्रयोदश पोप बना, जो मध्यमार्गी तथा समझौतावादी था। बिस्मार्क ने नये पोप से समझौता वार्ता आरम्भ की, जिसके फलस्वरूप कैथोलिकों के विरुद्ध कठोर नीति समाप्त होने लगी तथा बिस्मार्क और पोप के मध्य सम्बन्ध समाप्त होते गये। प्रशा के शिक्षा मन्त्री फाक ने त्याग पत्र दे दिया तथा उसके स्थान पर पुत-केमर को मन्त्री नियुक्त किया गया। कैथोलिकों के विरुद्ध 'मई कानूनों' के प्रयोग करने में शिथिलता आ गयी। 1878 ई. के अन्त तक राज्य और चर्च का संघर्ष लगभग समाप्त हो गया। 1879 ई. में केन्द्रीय दल ने बिस्मार्क की आर्थिक एवं संरक्षणवादी नीति का समर्थन किया। 1887 ई. में बिस्मार्क ने पोप से विधिवत समझौता कर लिया जिसके अनुसार सिविल मैरिज तथा राज्य द्वारा शिक्षण संस्थाओं के निरीक्षण को छोड़कर कैथोलिकों के विरुद्ध सभी कानूनों को समाप्त कर दिया। इसके बदले में पोप ने रायचस्टैग में केन्द्रीय दल को

सरकार का समर्थन करने का आदेश दिया। बिस्मार्क ने स्वीकार किया कि उसका 'सभ्यता का संघर्ष' असफल रहा।

बिस्मार्क अपनी कुल्तुर्कैम्फ की नीति में पराजित हुआ। कैथालिक पादरियों की दृढ़ संकल्प शक्ति के सामने उसे झुकना पड़ा। वस्तुतः बिस्मार्क की असफलता का कारण यह था कि उसे अपनी शक्ति में असीम विश्वास था। चर्च के साथ संघर्ष आरम्भ करते समय उसने कैथोलिकों की शक्ति को नगण्य समझा, लेकिन संघर्ष छिड़ने पर उसने कैथोलिकों को अपनी आशा से अधिक शक्तिशाली पाया। जिन राजनैतिक दलों का प्राय: समर्थन उसे मिलता था, वह समर्थन भी इस संघर्ष काल में नहीं मिला। इसके विपरीत कुछ दलों ने तो केन्द्रीय दल के साथ सांठ-गांठ करके बिस्मार्क का जबरदस्त विरोध किया। जर्मन सम्राट विलियम प्रथम जो प्राय: बिस्मार्क का समर्थन किया करता था तथा एक बार बिस्मार्क द्वारा त्याग पत्र देने पर कहा था कि, "जर्मनी को मेरे से अधिक बिस्मार्क की आवश्यकता है।" लेकिन बिस्मार्क के इस धार्मिक-संघर्ष से स्वयं सम्राट भी असंतुष्ट हो गया। बिस्मार्क का संघर्ष दो दलों से था-एक थे जेसुइट्स जिन्हें ब्लेक इन्टरनेशनल कहा जाता था और दूसरा समाजवादी जिन्हें रेड इन्टरनेशनल कहा जाता था। इन दोनों दलों में बिस्मार्क कैथोलिकों से अधिक खतरनाक समाजवादियों को समझता था, क्योंकि बिस्मार्क की दृष्टि में वे पारिवारिक जीवन तथा साम्राज्य के शत्रु थे। समाजवादियों के विरुद्ध कार्यवाही करने से पूर्व कैथोलिकों से समझौता करना अनिवार्य हो गया था। बिस्मार्क शरीर से तो केनोसा नहीं गया लेकिन मन से उसे केनोसा की यात्रा करनी पड़ी।

इतिहासकार राबर्टसन इस मत को स्वीकार नहीं करते कि बिस्मार्क को कुल्तुर्कैम्फ में पराजित होना पड़ा। राबर्टसन ने इस विषय पर अपनी तीन टिप्पणियां प्रस्तुत की है। प्रथम, उदारवादी दल ने, जिसने फाक के कानूनों को पारित किया था, कभी अपनी नीति में परिवर्तन नहीं किया बल्कि जब बिस्मार्क कैथोलिकों के समक्ष झुक गया तब उसने विरोध एवं दुख प्रकट किया। दूसरे, पोप इस संघर्ष में इतना ही थक चुका था जितना कि बिस्मार्क। इस दीर्घकाल संघर्ष के बाद भी पोप, फाक के कानूनों में किसी प्रकार का संशोधन करवाने में असफल रहे और यदि संघर्ष अधिक समय तक चलता तो संभवत: पोप को भिन्न परिस्थितियों में समझौता करना पड़ता। तीसरा, बिस्मार्क ने अन्य महत्वपूर्ण समस्याओं को हल करने के लिये जान बूझ कर कुल्तुर्कैम्फ की सम्भावित विजय को त्याग दिया था। राबर्टसन की इन तीनों टिप्पणियों से स्पष्ट होता है कि बिस्मार्क को परिस्थितिवश झुकना पड़ा था। किन्तु यह तथ्य निर्विवाद है कि इस संघर्ष के परिणामस्वरूप केन्द्रीय दल राजनैतिक दृष्टिकोण से पहले की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली हो गया।
